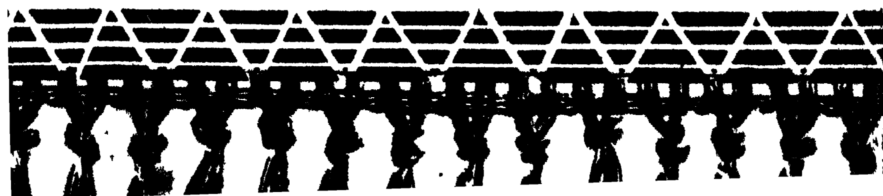
रवीन्द्रनाथ रचनावली

१

प्रवास (भारत)



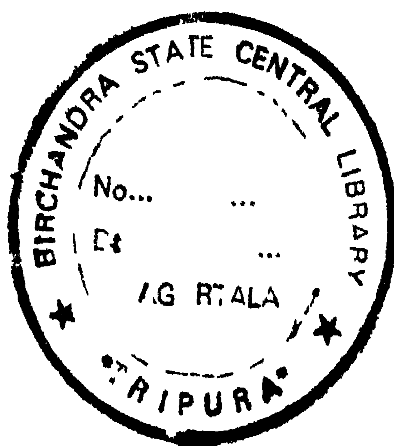


हिमालय-यात्री काका साहेब

काका कालेलकर ग्रंथावली

पहला खण्ड

प्रवास (भारत)



प्रकाशक

गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा

नयी दिल्ली-११०००२

संपादक मण्डल

भारत सरकारके मानव संसाधन विकास मंत्रालयके आर्थिक सहयोगसे प्रकाशित

प्रकाशक : कुमारी कुसुम शाह,
मंत्री, गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा,
१, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
सान्निधि, राजघाट, नयी दिल्ली-११०००२

मुद्रक : श्री रमेश चन्द्र अग्रवाल
संजय प्रिंटर्स,
जी-१/११५६, मानसरोवर पार्क,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

सहज-साहित्यके प्रणेता

स्वनामधन्य काका साहेब कालेलकर बहुमुखी प्रतिभाके धनी थे लेकिन उससे भी बढ़कर वे सहज-साहित्यके प्रणेता थे। साधारणतया साहित्यकी चर्चा करते समय उसकी तीन-चार विधाएं ही हमारे सामने रहती हैं, कविता, कथा, नाटक और ललित निबन्ध। कुछ दिनोंसे हम जीवनी, आत्मकथा, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज आदि को भी साहित्य माननेकी उदारता दिखाने लगे हैं। परन्तु काकासाहेबका मत इस सम्बन्धमें कुछ और ही था। वे मानते थे कि साहित्यकार बननेकी दृष्टिसे वे कुछ नहीं लिखते। ख्यातनाम कविश्री उमाशंकर जोशीके शब्दोंमें कहें तो, "उनके मनमें साहित्यके दो सहज प्रकार—पत्र-लेखन तथा वासरीके बारेमें विशेष आस्था थी। पत्र अन्य मानव बन्धुके साथका जो अप्रत्यक्ष वार्तालाप है तो, वासरी अन्तरात्माके साथकी या अन्तर्यामीके साथकी प्रत्यक्ष बातचीत हो सकती है। दोनों प्रकार काकासाहेबके हाथसे बहुत विकसित हुए। हजारों पत्र उन्होंने लिखे। वासरी भी अखंड न होते हुए भी काफी लिखी गयी।"

काकासाहेबका मूल्यांकन इसी दृष्टिसे हो सकता है। ऐसा नहीं कि उन्होंने आत्मकथा नहीं लिखी या ललित निबन्ध नहीं लिखे। समकालीन व्यक्तियोंके रेखाचित्र सरीखे रोचक और मार्मिक संस्मरण भी लिखे। उनके यात्रा-वृत्तोंको तो 'अद्भुत'की ही संज्ञा दी जा सकती है। नहीं लिखी तो आधुनिक कहानियां नहीं लिखी, नाटक नहीं लिखे, कविताओंका सृजन नहीं किया।

सन् १९३१में श्री बलवन्त राय ठाकरेने दस श्रेष्ठ गुजराती गद्यकारोंकी सूचिमें काका कालेलकरका उल्लेख किया है। क्या यह बात आश्चर्यजनक नहीं है कि जिस व्यक्तिकी मातृभाषा मराठी हो वह गुजरातीका श्रेष्ठ गद्यकार माना जाये। भाषाविद् कहते हैं कि मनुष्य सपने केवल अपनी मातृभाषामें ही देखता है। उनके सपनोंकी भाषा भी मराठी बनी रही लेकिन इसके साथ-साथ उन्होंने गुजरातीमें भी सपने देखे। ऐसा कैसे हो सका। इसलिए हो सका कि उन्होंने छोटे बच्चोंके साथ गहरी आत्मीयतासे भाषा व्यवहार चलाया। वे गुजराती भाषाकी नसको पहचान गये थे। श्रद्धेय उमाशंकरजीने लिखा है, "बालकोंकी चेतनाका

शब्दों, वाक्यों और उक्तियोंके साथका लेन-देन अत्यन्त रसप्रद और प्रबोधक होता है। काकासाहेबकी गद्य शैलीका एक मुख्य आकर्षण भाषाके साथ बाल-सहज वृत्तिसे चलाये हुए उनके सहज खेलमें नजर आता है। अनेक नये शब्द वे लीलासे बनाते हैं और पारिभाषिक पर्यायोंकी तो मानों उन्होंने टकसाल ही खोल रखी हो।"

शास्त्रमें लिखा है कि "ब्राह्मणः पाडित्यं निर्विघ्न बाल्येन तिष्ठासेत।" विद्वानों को अपनी विद्वता भूलकर बालकके समान रहना चाहिये। इसका मूर्तरूप थे काकासाहेब। यह खूबी विरले व्यक्तियोंमें होती है। तभी तो मातृभाषा न होते हुए भी गुजराती भाषाके सौन्दर्यमे चार चांद लगानेवाले और अपनी सारस्वत मोहिनीसे गुजरातके सस्कार-जीवन पर छा जानेवाले काकासाहेबको गांधीजीने 'सवाई गुजराती'का खिताब दिया।

ऐसा होने पर वे हिन्दीसे कैसे जुड़े? यद्यपि हिन्दीमे उन्हें गुजराती जैसी मान्यता नही मिली फिर भी अपने उत्तरकालमे विशेष रूपसे सबसे अधिक उन्होंने हिन्दीमे ही लिखा। प्रारम्भमे इस भाषाके प्रति उनका कोई विशेष लगाव नही था। जब वे कॉलेजमे पढते थे तब उनका एक साथी, लोकमान्य तिलकके सुप्रसिद्ध पत्र 'केसरी'का हिन्दी सस्करण मगाता था। इसलिए मंगाता था क्योंकि उत्तर भारतमे सर्वत्र हिन्दी चलती थी। ऐसी भाषाका कुछ ज्ञान अच्छा भी है और आवश्यक भी।

काकासाहेबको तब पहली बार हिन्दीकी उपयोगिताका पता चला। वे जानते थे कि महाराष्ट्रके अनेक सन्तोने हिन्दीमे पद्य रचना की है। बड़ौदाके सयाजीराव गायकवाड़ने अपने राज्यमें गुजरातीको प्रजाकी भाषा माना और हिन्दीको सारे देशकी भाषा स्वीकार किया। उसे प्रोत्साहन दिया। यह सब उन्हे मालूम था पर स्वयं उन्होंने इस विषय पर कुछ नही सोचा था।

लेकिन एक दिन सोचना पड़ा। गाधीजी जब दक्षिण अफ्रीकासे लौटे और शान्तिनिकेतन गये तो वहा उनकी भेट दत्तू बाबू[1]से हुई। काकासाहेब तब इसी नामसे जाने जाते थे। उनको देखते ही गाधीजी पहचान गये कि यह मेरा आदमी है। उन्होने शायद तब यह भी सोच लिया था कि इनसे क्या काम लेना है।

आगेकी बात काकासाहेबके शब्दोंमे इस प्रकार है, "१० अप्रैल, १९१७के दिन चम्पारन जाते हुए रास्तेमे बड़ौदा स्टेशन पर पूज्य बापूजी मुझे मिले और बोले, 'अभी-अभी मैने आश्रम खोला है। इसलिए मुझे सारा समय आश्रमको देना चाहिए था किन्तु सेवा-कार्यके लिए अन्य स्थानोसे निमंत्रण आते है; उनको मना कैसे करूं? इसलिए मै चम्पारन जा रहा हू। आप अनुभवी है। शान्तिनिकेतनमें

१. पूरा नाम है 'दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर'।

आश्रमवासियोंके साथ आप ठीक-ठीक मिल-जुल गये हैं, इसलिए पूरे घरके ही हैं। आप यदि आश्रम आकर रहेंगे तो मैं निश्चित रहूंगा। मैं मान गया और आश्रमका हो गया तथा सब कामोंमें रस लेने लगा।"

संयोगसे इसी वर्ष भड़ौचमें गुजरात शिक्षा-परिषद्का दूसरा अधिवेशन हुआ। गांधीजी उसके अध्यक्ष चुने गये। उन्होंने काकासाहेबसे कहा कि इस शिक्षण परिषद्में आप जरूर उपस्थित रहिये और इसके लिए एक निबन्ध भी लिखिये, "हिन्दी ही इस देशकी राष्ट्रभाषा हो सकती है।"

उन्होंने गांधीजीका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और इस प्रकार एक और महाराष्ट्रीय, एक गुजरातीके कहने पर हिन्दीके प्रति समर्पित हो गया। काकासाहेबने लिखा है, 'उस समय मुझे कल्पना भी नहीं थी कि यह निबंध मेरे भाग्यमें महत्त्वका परिवर्तन करनेवाला है। यह लेख लिखा गया था सन् १९१७ के आखिरके दिनोंमें।'

उस समय उनकी आयु बत्तीस वर्षकी थी और देहावसानके समय वह छियानबे वर्षके थे। पूरे चौंसठ वर्ष तक वे हिन्दीका अलख जगाते रहे और अपनी अनुपम अनुभवजन्य वृत्तियोंसे राष्ट्रभाषाको समृद्ध करते रहे।

काकासाहेबकी शैलीकी एक और विशेषता यह है कि उनका लगभग साराका सारा साहित्य दूसरोंके हाथसे लिखा गया है यानी उन्होंने जो कुछ लिखाया, बोलकर लिखाया है। इसलिए उसमें एक प्रकारकी सहज सम्प्रेषणीयता है। उनका अद्भुत यात्रावृत्त "हिमालयकी यात्रा" शब्दबद्ध होनेसे पहले अनेक बार बच्चोंको सुनाया गया था। 'स्मरण यात्रा'के प्रसंग भी जिन्होंने सबसे पहले सुने थे वे थे, पाठशालाके छोटे-छोटे विद्यार्थी। अगर काकासाहेब कहानी लिख पाते तो वे 'किस्सा-गोई'की शैलीमें ही लिखते। इस शैलीका अपना एक महत्त्व है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि काकासाहेब गहरे नहीं उतरते थे। बहुत गहरे उतरते थे पर इस खूबीसे उतरते थे कि जटिलसे जटिल बात भी सहजबोधगम्य हो रहती थी और यह इसलिए होता था क्योंकि उन्होंने 'मनीषा' को ओढ़ा नहीं था उसे जिया था। उनके लिए विश्वास करनेका अर्थ ही विश्वासको जीना था। वह मात्र साहित्यके प्रणेता ही नहीं थे, 'जीवित साहित्य' भी थे। उनका सारा जीवन एक कर्मयोगीका जीवन था। गांधीजीकी हर प्रवृत्तिसे वे जुड़े थे। मात्र जुड़े ही नहीं, उनमें ओत-प्रोत भी हो गये थे। तभी तो वह खगोल विद्यामें गांधीजीकी रुचि जगा सके। प्रारम्भसे ही वे राष्ट्रीय शिक्षाके प्रति समर्पित रहे। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायनकी तरह वे मात्र घुमक्कड़ शास्त्रके पण्डित ही नहीं थे, उनकी यात्राएं मात्र प्रकृतिका रम्य चित्रण ही नहीं हैं बल्कि राहुलजीकी तरह ही वे भारतीय संस्कृतिकी खोजकी यात्राएं हैं। नदियोंके उद्गमकी खोज संस्कृतिके उद्गमकी खोज है। उन्होंने निश्चय किया था कि वह भारतके स्वतंत्र होने तक

विदेश यात्रा नही करेंगे पर स्वतन्त्रता प्राप्त हो जानेके बाद अपनी जीवन सन्ध्या में उन्होने नाना देशोंकी इतनी यात्राएं की कि नवयुवक भी लजा जाये पर वे यात्राएं भारतीय संस्कृतिके सही स्वरूपको स्पष्ट करनेवाली यात्राएं थी। कितना प्यार, कितना आदर अर्जित किया भारतके लिए संस्कृतिके इस परिव्राजक आचार्य-की इन यात्राओंने !

श्री उमाशंकर जोशीके शब्दोंको फिर उधार लेकर कहें तो, "स्वराज्य मिलने तक काकासाहेबका प्रिय मंत्र था 'जीवन'। स्वराज्योत्तर कालमें उनका मंत्र रहा 'समन्वय'। समन्वय मंत्रकी दीक्षा उन्होंने विविधतासे समृद्ध बनी हुई अनोखी भारतीय संस्कृतिसे ग्रहण की थी। वे कहते थे कि भारत तो भिन्न-भिन्न वंश संस्कारको एक रूप, एक रस करनेके लिए प्रयोगशाला है। भारतमे समन्वयका प्रयोग सफल होने पर सारे जगतमें भी यह सफल होगा।"

स्वयं काका साहेबने लिखा है, "जीवन व्यक्तिका हो, राष्ट्रका हो या समस्त मानव जातिका, संघर्ष टालकर उत्कर्ष-सिद्धिपद समन्वय ही उसे समर्थ और कृतार्थ करेगा। संस्कृतिका पूर्वार्ध हैं संघर्ष और सहयोग। उत्तरार्ध है समन्वय।" और अन्तत: 'सर्वधर्म समभाव' भी उनके लिए 'सर्वधर्म ममभाव' बन गया था। उनके सारे कार्योमे एक अनोखापन है। गहरी और दूर तक देखनेवाली दृष्टि, गाम्भीर्यके पीछे अटपटा चाचल्य, साधनाके साथ गुदगुदाने वाली विनोद वृत्ति। अनेक संस्मरणों और ललित निबधोमे ये विशेषताएं खूब उभरी हैं। "उनके समस्त जीवन और कृतित्व पर, युगीन दायित्वों और महान् चुनौतियों पर जब हम नजर डालते हैं और उनके आजीवन एकनिष्ठ प्रयासका सिंहावलोकन करते है तो विदित होता है कि व्यक्तिकी अपनी साधनाका महत्त्व सिद्धांतकी सामूहिक अभिव्यक्तिके मुकाबले किसी प्रकार कम नही होता।"

राष्ट्रभाषा हिन्दीका प्रचार करनेकी उनकी अपनी अनोखी पद्धति थी। उसकी गन्ध उनके लेखोंमे सर्वत्र मिलती है। हिन्दी क्यो, अंग्रेजी क्यों नहो इसका विवेचन करते हुए वे कहते हैं, "अंग्रेजी जाननेवाले अपनी एक अलग जाति बनाते है, दूसरी भाषाएं सीखते नही। अपनी-अपनी जन-भाषा तो बचपनसे ही सीखनी पड़ी, नही तो उसे भी नही सीखते।"

हिन्दीको स्वीकार करनेके दो प्रमुख कारण मानते थे। एक तो उसकी लिपि नागरी है जो संस्कृतकी लिपि होनेके कारण सर्वत्र भारतमें फैली हुई है। दूसरा कारण यह है कि सभी प्रान्तोके सन्तोंने उसे अपनाया है। उन्होने लिखा है, "चीन जापान, बर्मा, श्रीलंका, इंडोनेशिया आदि देशोंके साथ हमारा सम्पर्क आज अंग्रेजी के द्वारा बढ़ रहा है। इसमे सहूलियत चाहे जितनी हो, एशियाके लिए यह शाप रूप ही है। एशियाई संस्कृति जैसी चीज पर अग्रेजीके कारण हमारा विश्वास ही नही बढ़ेगा।"

बहुत गहरे डूबे थे काकासाहेब। हिन्दीके माध्यमसे वे 'एकात्म' साधना चाहते थे। समन्वयकी भाषा हिन्दी ही हो सकती है इसलिए वे जुड़े थे हिन्दीसे या उन्हीके शब्दोंमें कहें, 'इसीलिए हिन्दी उनसे चिपक गयी थी।'

हिन्दी जगतने उन्हें नहीं पहचाना। उनका उचित सम्मान तब वे कैसे करते ! उन्होंने हिन्दीको नया शब्द भण्डार दिया। मुहावरे दिये, मौलिक उद्भावनाएं दी। उनका विपुल साहित्य शिक्षा, संस्कृति, धर्म, राजनीति, भाषा, भूगोल, खगोल और इतिहास सभी मौलिक चिन्तनसे ओत-प्रोत है। उनकी एक और विशेषता है, किसी भी वस्तुको व्यापक सन्दर्भमें देखनेकी दृष्टि। यही समग्रता है। समग्रता में ही किसीको उसके सही रूपमें समझा जा सकता है।

निबन्धोंके विषयकी कोई सीमा नहीं होती। किसी भी बौद्धिक विषयको रोचक भंगिमामें प्रस्तुत करने पर वह ललित निबन्ध बन जाता है। काकासाहेब तो इस रोचक भंगिमाके आचार्य हैं। हिन्दीके यशस्वी निबन्धकार श्री कुबेरनाथ रायने कहा है, 'ललित निबन्धकी भंगिमामें लेखक और पाठकोंके बीच एक सहज आत्मीयता होनी चाहिये। वह फतवा दे सकता है पर एक बन्धुकी शैलीमें गम्भीर, उपदेशात्मक भंगिमा ललित निबंधमें वर्जित है। ललित निबन्धकारके लिए आवश्यक है कि उसका मानसिक और बौद्धिक क्षितिज विस्तृत हो। जितना ही वह विस्तृत होगा उतना ही वह सबल ललित निबंधकार होगा। तभी तो वह पाठकोंके मानसिक क्षितिजका विस्तार कर सकेगा।"

और ललित निबन्ध ही क्यों, उनकी आत्मकथा, उनके सस्मरणात्मक रेखा-चित्र और यात्रा वृत्तान्त, उनकी टीकाएं और उनके पत्र किसी भी साहित्यके लिए गौरवका विषय हो सकते है।

अपराजेय कथा-शिल्पी शरतचन्द्रकी तरह काकासाहेबका एक और रूप था जो अनौपचारिक और आत्मीय गोष्ठियोंमें प्रगट होता था। काश किसीने उन अंतरंग वार्तालापोंको सुरक्षित कर लिया होता। कोंकणी भाषाके सुपरिचित साहित्यकार भाई रवीन्द्र केलेकरने एक प्रयत्न अवश्य किया है। वह विवरण 'काकासाहेबके साथ विविध वार्तालाप'के नामसे काकासाहेबकी पत्रिका 'मंगल प्रभात'में प्रकाशित हो रहा है। शीघ्र ही वह पुस्तकाकारमें प्रकाशित होगा। इसलिए वे साधुवादके अधिकारी हैं।

हमें बहुत खुशी है कि ऐसे सहज साहित्यके प्रणेता और संस्कृतिके परिव्राजक आचार्यकी वाणी ग्रंथावलीके रूपमें प्रकाशित हो रही है। श्री उमाशंकरजीके शब्दोंमें इसमें, "भारतमें जन्म लेकर भारतकी सर्व प्रकारकी आत्मलक्ष्मी—निसर्गलक्ष्मी तथा अध्यात्म लक्ष्मी—को व्यक्तित्वके तार-तारमें अनुभव करनेवाले एक विरले भारत-पुत्रकी आन्तर-समृद्धि इस तरहसे कुछ सुरक्षित रहेगी। भारतके आधुनिक प्रबोधकाल तथा पुरुषार्थकालके कई संस्मरण, चिंतन, निरीक्षण भी सुरक्षित रहेंगे।'

इसलिए हमें विश्वास करना चाहिये कि हिन्दी भाषी मनीषी और पाठक अपनी भूलका परिमार्जन करते हुए इस ग्रंथावलीका मुक्त मनसे स्वागत करेंगे। जीवन-समन्वयके मन्त्र-दृष्टाके प्रति उनकी यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

—विष्णु प्रभाकर

८१८ कुण्डेवालान,
अजमेरी गेट,
दिल्ली-११०००६

संपादकीय

काकासाहेबके निर्वाणके बाद उनके अनुयायियोंने उनका साहित्य ग्रंथावलीके रूपमें प्रकाशित करनेका विचार किया। उनके निर्वाणके कुछ ही वर्षों बाद उनका जन्म-शताब्दि वर्ष मनाया गया तब यह विचार जोरोसे उभरा। भारतकी भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा रचित आचार्य काकासाहेब जन्म-शताब्दि राष्ट्रीय ममितिकी सिफारिशसे भारत सरकारके मानव संसाधन विकास मत्रालयने एक लाख रुपयेकी उदार सहायता दी और ग्रंथावलीके कुछ सेट खरीदनेका वादा किया। अत: काका साहेबकी संस्था गाधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभाने काकासाहेबके करीब ७००० पृष्ठोंके हिन्दी साहित्यको ११ खंडोमें प्रकाशित करनेका बीडा उठाया और १५४० रुपयोंके एक सेटको पेशगी ग्राहक बनाकर रु० ११०० मे देने की योजना बनाई। इसके अनुसार भारत प्रवास वर्णनका यह पहला खंड प्रकाशित करते हुए हम प्रसन्नता अनुभव करते हैं। काकासाहेबने तो जीवन भर समाज, देश और दुनियाको अपने उदार हृदयसे बहुत कुछ दिया है लेकिन उनकी जैसी कद्र करनी चाहिए थी हमने नही की। उनकी स्मृति कायम रखनेके लिए हम जितना भी करें, कम ही है।

काकासाहेब जीवनभर लिखते रहे उनकी लेखनीने कभी आराम नही लिया गांधीजीकी सूचनासे राष्ट्रभाषा हिन्दीके प्रचार-प्रसारका काम हाथमे लिया तब से अंत तक अधिकतर हिन्दीमें ही लिखते रहे, उसमें प्रवास-वर्णन प्रकृति-चित्रण समाज-निरीक्षण, शिक्षण-मीमांसा, साहित्य-आस्वाद, धर्म-संस्कृति, चिंतन, पत्र, डायरी, स्मृति-चित्र, चरित्र-कीर्तन आदि बहुत कुछ आ जाता है।

अपने सार्वजनिक जीवनके प्रारंभमें उन्होंने हिमालयकी २५०० मीलकी पैदल यात्रा की। उसके बाद देश सेवा करते हुए पूरे भारतकी और स्वतन्त्रताके बाद विदेश-यात्राएं भी कीं। प्रस्तुत खंडमें हमने उनकी हिमालयकी यात्रा तथा भारतमे ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक स्थानोकी की हुई यात्राओंका वर्णन दिया है। जो उनकी पूर्व प्रकाशित पुस्तकें हिमालयकी यात्रा, जीवनलीला, प्रकृतिका संगीत, यात्राका आनन्द आदि पुस्तकोंमे प्रकाशित हो चुके हैं। विदेश यात्रा

संबंधी उनके कुछ लेख हमने जीवनलीलासे निकाल दिये है और भारतके नद-नदी, तालाब, सरोवर, समुद्र तथा पहाडोकी यात्रा सबधी अग्रथस्थ लेख जोड़ दिये हैं। उत्तरमे हिमालय, मसूरी, अलमोडा, कौसानी, गगोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ, काचनजघा (पचहिमाकर) सिक्किम, करमियाग, पूर्वमे असम, नेफा, मणिपुर-इफाल, मध्य-भारतमे विंध्यसातपुडा, सह्याद्रि दक्षिणमे ऊटी, नीलगिरि, दक्षिणकी दिल्ली, महाराष्ट्रकी दिल्ली, पुराने महाराष्ट्रकी खडहर राजधानी, अद्वैताचार्यकी जन्मभूमि-कालडी, गोवाकी झाकी आदि लेख 'प्रकृतिका संगीत' पुस्तकके लेखोके साथ जोडकर उन सुदर लेखोका समावेश भी इस खडमे कर दिया है और उस विभागका नाम 'प्रकृतिका सगीत और पहाडोका सान्निध्य' रख दिया है। आशा है कि पाठकोको यह विभागीकरण पसद आयेगा।

काकासाहेबकी लेखन शैली सहज, प्रभावशाली और सरल है। वह सस्कृतमय होने पर भी आसान और बोधगम्य है। अतः आदरणीय श्री गंगाबाबू कहते है कि यदि यही शैली हिन्दुस्तानी है तो हमे राष्ट्रभाषा, राजभाषा या सम्पर्क भाषा हिन्दी के लिए वह मान्य है। काकासाहेब कठिनसे कठिन विषयको भी ऐसी सरल और प्रवाहित भाषामे रखते है कि आम आदमी भी उसे समझ लेता है। प्रवास वर्णनमे और प्रकृति-चित्रणमे काकासाहेबकी साहित्य-सृजनता पूर्ण रूपसे खिलती है, और उनकी चिंतनशीलता व विद्वताका दर्शन कराती है। काकासाहेब प्रवास-वर्णन या प्रकृति-चित्रण करते हुए पाठकोको भी साथ ले चलते है और मानो उनको भी उस स्थानका या कुदरतका हूबहू दर्शन कराते है, जैसे बीचके पहाड़को पार करके राहीको एक नया ही दृश्य दिखता है और जैसे वह नई दुनियामे ही प्रवेश करता है वैसे काकासाहेब सामान्य बात कहते-कहते गहन ज्ञान-सागरमे प्रवेश करवाते हुए पाठकको भाव-विभोर कर देते है, और वह बोल उठना है, अद्भुत, अद्भुत, अद्भुत!

एक बार इन प्रवास वर्णनोको पढना शुरू करे तो उन्हे छोडनेका मन नही होता। पाठकोको उनमे काव्यपाठन-सा आनन्द मिलता है। ऐसी सुन्दर रचना-निर्मितिका कारण यही है कि काकासाहेब देश-दर्शनको देवदर्शनका ही एक प्रकार मानते थे। केवल कुतूहलकी दृष्टिसे, कलाकी रसिकतासे या वैज्ञानिक जिज्ञासासे ही प्रेरित होकर नही बल्कि इन तीनोको कृतार्थ करनेवाली शक्तिसे प्रेरित होकर उन्होंने भारतवर्षका प्रवास किया है और यात्रा-वर्णन लिखे है और यात्रानंदमे ही जीवनान्द प्राप्त किया है।

भारतके ऐतिहासिक, धार्मिक, सास्कृतिक और प्राकृतिक उद्यानोके सुन्दर रग-बिरगी फूलोका काकासाहेब द्वारा रचित यह गुलदस्ता हिन्दी जगत्के समक्ष रखते हुए धन्यता अनुभव करते है। आशा है कि हिन्दी जगत् उसे सहर्ष अपनाएगा।

अनुक्रमणिका

हिमालयकी यात्रा (१-१७३)

जीवनलीला (१७५-४४४)

प्रकृतिका संगीत और पहाड़ोंका सान्निध्य (४४५-६४०)

हिमालयकी यात्रा

प्रिय सुहृद्
ब्रह्मचारी अनन्तबुआ मरढेकरकी
पवित्र स्मृतिमें

१. जीवनकी ताजगी

मनुष्य स्वभावसे स्थावर है या जंगम ?

थोड़ा विचार करनेसे ज्ञात होता है कि उसमें ये दोनों वृत्तियां वर्तमान हैं। यदि मनुष्यको जंगली दशासे उन्नति करते-करते आजकी स्थिति प्राप्त हुई है, तो असलमे मनुष्य जंगम ही होना चाहिये। जहां अन्न और पानी मिले, वहां जानेकी प्राणिमात्रकी स्वाभाविक वृत्ति है। जब तक मनुष्य शिकारीका जीवन बिताता था, तब तक उसे भटकना ही पड़ता था। महाभारतमें भी यह वर्णन मिलता है कि एक जंगलमें शिकार खतम होते ही पांडवोंके जैसे आरण्यकोंको दूसरा जंगल खोजना पड़ा था। शिकारी जीवन त्यागकर जब मनुष्यने गड़रिये और चरवाहे (गो-पाल) का जीवन पसंद किया, तब भी एक जंगल या बीरकी घास खतम होते ही उसे दूसरी जगह जाना पड़ता था। श्रीकृष्णके ग्वाल-पूर्वज ऐसा ही करते थे। आगे चलकर मनुष्यके मनमें विचार आया कि जहां अन्न हो वहां जाकर रहनेकी बनिस्बत जहां रहते हैं वहीं अन्न उत्पन्न किया जा सके तो क्या ही अच्छा हो। मनुष्यने जंगलों और बीरोंमें मारे-मारे फिरना छोड़कर खेती करना शुरू किया और वह आर्य* बना। खेती शुरू हुई और मनुष्यके जीवनमें बहुत ही बड़ा परिवर्तन हो गया। संस्कृति बढ़ी और स्थावरता आयी। स्थावरताके साथ मनुष्यकी कार्यशक्ति तो बढ़ी, लेकिन उसकी वीर्यशक्ति (Vitality) कुछ कम हो गयी होगी। एक दिशामें कुछ-न-कुछ त्याग किये बिना मनुष्य दूसरी दिशामें तरक्की कर ही नहीं सकता।

परंतु मनुष्य तो लोभी ठहरा। उसे दोनों स्थितियोंका लाभ चाहिये था। उसने देखा कि अगर प्रकृतिने वनस्पति-सृष्टिको स्थावर बनाया है, तो उनकी शादियां करनेके लिए तितलियोंके जैसे पुरोहित भी पैदा किये हैं। अमुक बड़ा वर्ग स्थावर रहकर वैभवकी वृद्धि करे और उसे जंगमताका लाभ पहुंचानेवाला दूसरा एक वर्ग भटकता रहे, यह व्यवस्था मनुष्यके लिए अनुकूल सिद्ध हुई। मनुष्यने गृहस्थाश्रमके साथ साथ घुमक्कड़ोंके एक-दो आश्रम कायम किये। ब्रह्मचारीने जहां अध्ययन पूरा किया कि वह घूमने निकलता ही था। तीर्थयात्रा पूरी होने पर ही उसे ब्याह करनेकी इजाजत मिलती थी। दूसरी तरफसे जहां गृहस्थाश्रमकी प्रवृत्ति कुछ ढीली पड़ी, स्थावरताका जंग चढ़ा कि धर्मशास्त्र कहता है—"अब बहुत भोग लिया, चलो, फिर वनकी तरफ।" जहांसे आये वहां लौटनेमें एक तरहका आनंद, एक तरहका विश्राम होता है। सवेरे उठकर घूमने गये हुए लड़के शाम होते ही मांकी

*अर् = खेती करना।

सुखदायी गोद खोजेंगे ही। मनुष्य जिस जंगलको छोड़कर बस्तीमे आया, और गृहस्थ एव नागरिक बना, उसके उसी जंगलमे लौटकर परिव्राजक बननेकी तैयारी करनेमे यही आनंद भरा हुआ है और इसमे प्रगति भी है। प्रगति हमेशा पेचदार कीलके पेचो जैसी होती है। एक चक्कर पूरा करके मूल स्थान पर आनेके साथ ही हम एक सीढ़ी ऊपर चढते हैं।

पुरानी व्यवस्था यह थी कि गृहस्थाश्रमी लोगोको भी कभी-कभी यात्रा पर जाना ही चाहिये, ताकि मनुष्य देश-देशांतरकी स्थिति देख सके, समझ सके, नये-नये संबध कायम कर सके और स्थावरताकी वजहसे जीवन पर चढे हुए जगको हटा सके।

यदि समाजशास्त्रका विकास करनेवाले धर्मकारोने ऐसी व्यवस्था न की होती, तो भी मनुष्य-स्वभाव किसी-न-किसी रीतिसे इसे ढूढ ही लेता। मनुष्यमात्रमे जो प्राकृतिक या ईश्वरीय प्रेरणा विद्यमान है, धर्मकार उसीको शास्त्रीय रूप देनेका काम करते है। निरी प्राकृतिक वृत्ति नीचे भी गिरा सकती है या ऊपर भी उठा सकती है। जो प्राकृतिक वृत्ति मनुष्यको ऊपर उठाती है, उसीको ईश्वरीय प्रेरणा कहते है। जो ईश्वरकी ओर ले जाय, वही ईश्वरीय। यही कारण है कि स्वतत्र रूपसे विकसित धर्मोमे भी सर्वत्र लगभग एक-सी ही व्यवस्था पाई जाती है। तीर्थ-यात्रा करनेकी योजना जापानके शिंटो या बुशीडो धर्ममे भी पाई जाती है, और हिंदुओकी आश्रम-व्यवस्थामे भी। हजका सवाब बतलानेवाले इस्लाममे भी इसे स्थान है, और पटसनके कपडे पहनकर यरूसलेमकी पवित्र भूमि तक यात्रा करने वाले ईसाई भक्तजनोको भी यह चीज प्रिय है।

यात्राको ही प्रधान धर्म माननेवाले परिव्राजक तो हमारे यहा थे ही, परतु इसके सिवा हरएक वर्णके लिए भी यात्राका थोडा-बहुत धर्म बतलाया गया था। ब्राह्मण पहले ब्रह्मचारीके नाते विद्यायात्रा करता था, बादमे यज्ञसत्रोमे जाता था, चौमासा छोड़कर बीचमे तीर्थयात्राए तो होती ही थी। और ऐन बुढापेमे भी मरनेके लिए एक जगह बैठे रहनेके बदले, जहा तक पैर ले जाये वहा तक ईशान्य दिशामे चलते जानेका विधान है।

यदि क्षत्रिय आखेटके लिए हर साल न निकले तो खेतीकी रक्षा कैसे हो? और खेतिहर राज्यको पैदावारका छठा हिस्सा कैसे दे? यदि राजामे शक्ति हो तो वह घोडा छोडकर अश्वमेधके लिए भी प्रस्तुत होता ही था। जो राज्य दिग्विजय न करे, वह कमजोर समझा जाता था।

वैश्य यानी सौदागर। जब वे अपने काफिले लेकर जगल पार करते, एक राज्यमेसे दूसरे राज्यमे प्रवेश करते, यहाका माल वहा पहुचाते और वहाका यहा ले आते, तभी सार्थवाहका उनका जीवन सार्थक माना जाता था। अपनी नयी दुलहनको भी घर पर छोड़कर सुदूर समुद्रकी यात्रा करनेवाले वाणिज्य-वीरोंकी

ढरों कथाएं हमारे साहित्यमें विद्यमान हैं।

बौद्ध साधु अर्थात् प्रबल प्रचारक। उन्होंने समुद्र-यात्राके निषेधकी परवाह न करके सुदूर देशों तक संस्कृतिका विस्तार किया, और देश-देशांतरके लोगोंको भी वे इस देशमें ले आये। जिस तरह जंगलमें गैंडा निडर होकर अकेला घूमता है, उसी तरह श्रमणको सर्वत्र विहार करना चाहिये। बुद्ध भगवानकी यह सिखावन थी। और स्वयं उन्होंने तो इस तरह विहार कर-करके एक समूचे प्रांतको ही अपनी इस प्रवृत्तिका नाम दे दिया। बौद्ध धर्मको स्वीकार करनेके बाद सम्राट् अशोकने दिग्विजय छोड़ धर्मविजयको अपनाया और प्रतिवर्ष नयी-नयी दिशामें धर्मयात्राएं शुरू कीं।

वृद्धश्रवा इंद्रने वैदिक संस्कृतिके प्रारंभमें ही आदेश दिया था कि जो बैठा रहता है, उसका नसीब भी बैठा रहता है। जो चलता है, उसीका भाग्य चलता है। 'चराति भरतो भग:' यह प्रेरणा लेकर गड़रिये चले, खलासी चले, भक्त चले, सैनिक चले और परिव्राजक भी चले। इस संसारमें जो कुछ जीवित है वह सभी चलता है, और जब मनुष्य चलते-चलते ऊब जाता है, तब स्थावर बनकर रहनेके बदले इस संसारको ही छोड़कर चल देता है।

यदि मनुष्यको यात्राकी दीक्षा किसीसे मिली है, तो वह आकाशके तारोंसे नहीं बल्कि जीवनके अखंड प्रवाहका वहन करनेवाली नदियोंसे। उसमें भी दो प्रकारकी वृत्तियां पाई जाती हैं। जिस प्रकार प्राचीन कालमें कुछ लोग सूरजके उदय-स्थानका पता लगानेके लिए उत्तरोत्तर पूर्वकी तरफ चलते जाते थे और दूसरे कुछ लोग उसके विश्राम-स्थानकी खोजमें पश्चिमकी तरफ जाते थे, उसी तरह कुछ लोग स्वयं यह देखनेके लिए कि इन नदियोंका यह उमड़ता हुआ इतना पानी कहांसे आता है, उनके उद्गमकी तरफ बढ़ते जाते थे, तो दूसरे कुछ इस सारे पानीका विसर्जन कहा होता है, किसमें होता है, हमें वहां क्या दीखेगा, इसका अनुभव करनेके लिए नाविक बनकर समुद्रकी तरफ जाते थे। गंगोत्रीकी तरफ जानेवाले गड़रिये और गंगासागरकी तरफ दौड़नेवाले मल्लाह दोनों भाई-भाई ही हैं। नदीमुखसे ही समुद्रमें प्रवेश करनेकी सिफारिश करनेवाले कविके वंशजोंने कितनी समुद्र-यात्रा की है, इसकी जांच करने पर केवल निराशा ही पल्ले पड़ेगी। आज यह बतलाना कठिन है कि वेदकालके तुग्र और भुज्यु जो जलयात्रा करते थे, वह नदीकी थी या समुद्रकी। जातक-कथाओंमें जिन वणिकोंका वर्णन आता है, वे एक तरफ जावा, बाली और स्याम-चीन तक जाते होंगे, और दूसरी तरफ अफ्रीकाका सारा पूर्व किनारा छानते होंगे। लेकिन उनमेंसे एकने भी प्लीनीकी तरह पूर्व या पश्चिम सागरका 'पेरीप्लस' नहीं लिखा है। जावा पहुंचनेके बाद जिन्होंने लौटनेकी आशा ही छोड़ दी, उनके वंशज समुद्र-यात्राका निषेध करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या? और यह निषेध किसलिए? तो कहते हैं कि खाने-पीनेमें पवित्रता-अपवित्रताका ध्यान नहीं रहता। आचार-

धर्मका ठीक-ठीक पालन नहीं हो सकता। इस संकटसे बचनेका यह एक अनूठा उपाय खोजा गया। एक आदमीको धूपमें जानेसे पित्तप्रकोप होता था। उसने वैद्य-से इलाज पूछा। सयाने वैद्यने सनातनी बुद्धिमानीसे कहा—"भले मानस, धूपमें जाना ही गलत है। छायामें ही बैठे रहो न, फिर देखें पित्तप्रकोप कैसे होता है?" इस डरसे कि कही किसीकी बुरी निगाह मेरी स्त्री पर न पड़ जाय, बुरे आदमीको सुधारनेके बदले अपनी स्त्रीको ही सिरसे पैर तक परदेमें 'पैक' कर देनेकी बात जिन लोगोंको सूझी और जिन्होंने स्त्रियोंको अंतपुरमे ही बंद कर देना पसंद किया, यदि उन लोगोने समुद्र-यात्राका निषेध करके अपनेको अपने ही देशमे बद रखनेका फैसला किया तो वह यथायोग्य ही हुआ। अरे, इन डरपोक व्यवस्थाकारोंने वैराग्य-धन संन्यासियोको भी यह आदेश दिया कि जहा खानेको अच्छा न मिलता हो, लोग श्रद्धा-भक्तिसे खिलाते न हों, दंगा या मारपीट हर घड़ी चलती रहती हो, उस देशमें जाना ही नही चाहिये। उन्होने यह भी लिख रखा है कि जिस मनुष्यको यात्राका शौक हो, उसके साथ अपनी बेटीका ब्याह नही करना चाहिये! उनके निकट सुरक्षितता ही प्रथम धर्म है!

इतना करने पर भी, और जीवनका अच्छे-से-अच्छा सत्त्व सुखा डालने पर भी जिसकी रक्षा हम करना चाहते थे, क्या उसकी रक्षा कर सके? जिनके संसर्गसे बचनेके लिए हमने समुद्र-यात्रा छोड़ी, वे सब मधुमक्खियोके छत्तेकी तरह हम पर टूट पड़े और उन्होंने हमारे राज्य, हमारे व्यापार, हमारी शिक्षा और हमारे भाग्य—सभी पर कब्जा कर लिया और यहा अपना डेरा जमा लिया। 'जो बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठा ही रहेगा।'

२

सच तो यह है कि जीवनका उत्थान ढीला पड़ जाता है, तो मनुष्यके हृदयमे अज्ञातका डर घुस जाता है। यदि जीवनमे यौवनपूर्ण प्राण हो, तो उसी अज्ञातका आमंत्रण टाले नहीं टलता। अज्ञातका पीछा करना, उसका अनुभव करना, उसपर विजय पाकर उसे ज्ञात बनाना ही जीवनका बड़े-से-बड़ा आनंद और अच्छे-से-अच्छा पौष्टिक अन्न है। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अज्ञात पर एक प्रकारकी विजय प्राप्त की जा सकती है, और यात्रा द्वारा दूसरे प्रकारकी।

जब मनुष्य घोड़े पर चढ़ता है तो उसका हृदय इस तरह फूलता है, मानो घोड़ेकी शक्तिका भी उसमे संचार हो गया हो। और शक्तिके इस साक्षात्कारके कारण मनुष्यका व्यक्तित्व भी उस हद तक परिपुष्ट होता है। अस्सी मीलकी रफ्तारसे दौड़नेवाली मोटरका अंकुश-चक्र हाथमें आने पर मनुष्यको लगता है कि यह सारा वेग मेरा ही है। किसी संस्था या राज्यके संचालनका फल—उसका व्यक्तिगत आनंद इसीमें है कि उसके कारण अमुक लोगोंके साथ मेरा तादात्म्य हो

जाता है, अमुक शक्तिका मैं अमुक मात्रामें उपयोग कर सकता हूं, और अमुक व्यक्तियोंको इकट्ठा करके एक विराट शक्ति पैदा कर सकता हूं। व्यक्तित्वका विकास, शक्तिका संचय और भावीका नियंत्रण ही मनुष्यके लिए बड़े-से-बड़े आनंद का विषय है। यात्रामें मनुष्य जितने भूमिभागको आंखों द्वारा अपना कर लेता है, जितना अंतर पादाक्रान्त करता है, जितना अनुभव जुटा सकता है, उतने दरजे तक उसका जीवन समृद्ध होता है। कोठार-भंडारमें भरा हुआ धन बाहरी रूप से भार-रूप होता है। अनुभवके द्वारा संचित ज्ञान, अर्जित संस्कार और विकसित शक्ति भीतरी होने से उनका भार नही लगता, उलटे उनके आ मिलनेसे जीवनमे दूसरा बहुत-सा बोझ उठानेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। जो मनुष्य यात्राके लिए निकलता है, उसे बहुत-सी वस्तुओंके परिग्रहका त्याग करना ही होता है। जो हलका नहीं हो सकता, वह यात्रा कर ही नही सकता, चाहे वह बादल हो या आदमी। और यात्रा द्वारा प्राप्त ज्ञान, सस्कार या कौशल इतना आत्मसात् हो जाता है कि उसका परिग्रह या भार मालूम ही नहीं होता।

यात्रा द्वारा प्राप्त ज्ञानमे और आजकी शिक्षा-संस्थाओंमे प्रचलित प्रणाली द्वारा प्राप्त किये ज्ञानमे बड़े-से-बड़ा फर्क यही है। आजकलकी शिक्षा-प्रणाली द्वारा प्राप्त किया ज्ञान भाररूप होता है, क्योंकि वह व्यवहारमें लाया हुआ या हजम किया हुआ नही होता। इसलिये छोटे बालकोंको पाठशालाकी शिक्षा देनेके बदले यदि यात्राकी शिक्षा दी जाय, तो आखिरकार वह कम खर्चीली और अधिक फल-दायी होगी।

यात्री ज्यों-ज्यों यात्रा करता जाता है, त्यों-त्यों वह अपने चातुर्यका विकास करता है, धीरज और उदारताका विकास करता है और अंतमे अच्छेसे-अच्छा समाजशास्त्री बनता है। यात्रा अर्थात् कष्ट सहनेका बादशाही तरीका। यात्राकी असुविधाओंसे मनुष्यको यह नही लगता कि वे उसके दारिद्र्यकी प्रतीक हैं, बल्कि वह सोचता है कि अपनी सूझ-बूझको बढ़ानेका यह एक अच्छा मौका उसे मिला है। एक दृष्टिसे यात्रा व्यक्तित्वके विकासका साधन है, जबकि दूसरी दृष्टिसे देखा जाय तो वह अनुभवसे ओतप्रोत देशभक्तिका ही एक प्रकार है। हम अपने देशको जितना देख चुकते हैं, उसके जितने भागका निरीक्षण कर चुकते हैं और जितनेको अपना लेते हैं, उतने देशके प्रति हमारी एक विशेष धारणा बनती है, उससे आत्मीयताका सम्बन्ध जुड़ जाता है, उसके लिए मनमे अभिमान अथवा भक्ति पैदा होती है, और हम उसके भक्त बन जाते हैं। किसी भी प्रांतकी यात्रा कर चुकनेके बाद अखबारों-में उस प्रांतके समाचार पढ़ते समय हमारे दिलमें उनके लिए कितनी सारी दिल-चस्पी होती है?

लेकिन ऐसी यात्राके मूलमें दुनियाको लूटनेकी वृत्ति नहीं होनी चाहिये। जहां दुनियाका सत्त्व चूस लेनेकी, उससे अधिक-से-अधिक फायदा उठानेकी वृत्ति रहती

है, वहा ऊपर कहे गये उच्च लाभोमेसे बहुत ही थोड़े लाभ हाथ आते है। स्वार्थी प्रवृत्तिसे प्राप्त होनेवाले लाभोकी बहुत बड़ी मर्यादा होती है। जब कोई भक्त या सेवक यात्राके लिए निकलता है, तो अंतर्बाह्य सारी शक्तियां अपना संघ लेकर उसके साथ हो नेती है। दुनियाको चूसनेवाला मनुष्य आखिर इन्द्रिय-परायण ही होगा। और चूकि इन्द्रियानुभव एक हद तक ही आवश्यक होते है, इसलिए जैसे-जैसे उनकी मात्रा बढती है, वैसे-वैमे वे अधिकाधिक स्वादहीन होते जाते है और अतमे उनका छिछलापन प्रकट हो जाना हे। इन्द्रियानुभवसे मिलनेवाला आनंद परिमित होता है। मानव-जाति उसका अन देख चुकी है।

किन्तु मनुष्यने आज भी हृदयानुभवमे होनेवाले विकासका अंत नही देखा है। उसकी विविधता अभी नष्ट नही हुई है। मनुष्य जितना अधिक नि.स्पृह, निराग्रही और नि.स्वार्थ होता है, यात्रा द्वारा वह उतनी ही अधिक सस्कारिता प्राप्त कर सकता है। जब भक्त या सेवक यात्राको निकलता है, तो उसमे आत्मानुभव, आत्म-विकास और आत्मैक्य तीनोकी मात्रा बढती जाती है। प्रतिदिन विकसित होने-वाले विश्वको देखकर भोगैश्वर्यके पीछे पडे हुए मनुष्यके जीमे आता है कि "यह विश्व मेरा हो, मेरे अधीन हो!" इसके विपरीत भक्त-सेवक चाहता है कि 'मै ही इसका सेवक बनू, इसका अश बनू, और अपनेमे अभेदका विकास करके यही बन जाऊ।' जीवनका यही यथार्थ और परम उत्कर्ष है।

३

कोई मुझसे पूछे कि यात्रा करनेसे क्या-क्या लाभ है, तो मै उसका जवाब आसानीसे दे सकूगा। लेकिन लोग मुझमे पूछते है कि तुम किस उद्देश्यसे यात्रा करने निकल थे? यह प्रश्न ही बिलकुल दूसरा है और इसका जवाब देना सहज नही है। खाना, सोना, शादी करना, सतान उत्पन्न करना, आदि विश्वजनीन क्रियाए मनुष्य किस उद्देश्यसे करता हे, सो बतलाना आसान नही है। प्राय. मनुष्य यही कहेगा कि मुझसे रहा नही जाता, इसलिए मै इन सार्वजनिक प्रवृत्तियोमे भाग लेता हू। इनसे जितन लाभ प्राप्त होते है, वे सब हमारे इच्छित लाभ तो है; परतु किस लाभके लोभसे प्रेरित होकर हम प्रवृत्त हुए है, सो हम ठीकसे नही कह सकेगे। भीतरकी एक अदम्य प्रेरणा बेचैन कर डालती है, इसलिए चुपचाप उसके अधीन होना ही पड़ता है। प्रकृतिकी अपनी यह रचना है, योजना है कि जो चीज जीवनके लिए नितात उपयोगी है, उसके लाभालाभका अधिक विचार करके उसे पसद करना मनुष्यके लिए जरूरी होता ही नही। 'नहाना या न नहाना' मनुष्यकी अपनी इच्छा का विषय हो सकता है लेकिन 'सोने या न सोनेके' विषयमे प्रकृति मनुष्यकी इच्छा के लिए कोई गुजाइश नही रखती। नीदका आमत्रण होते ही मनुष्य विवश भावसे उसके अधीन हो जाता है।

जिस मनुष्यकी वृत्तियां विकृत नही होती, उसके लिए यात्राकी प्रेरणा भी उतनी ही स्वाभाविक होती है। जिस प्रकार बारिशके शुरू होते ही साड अपने सीगोसे जमीन खोदकर उसे सूघने लगता है, उसी तरह यात्राका अवसर प्राप्त होते ही अपने-आप मनुष्यके पैर बिना पूछे चलने लगते है। यदि कोई उससे पूछे कि 'तुम कहा चले' तो वह कहेगा—"मुझे कोई पता नही। जहा जा सकूगा, चला जाऊंगा। जाना, चलना, स्थानातर करना, एक जगह बैठे न रहना, नये-नये अनुभव प्राप्त करना—बस यही मै जानता हूं। आंखे प्यासी है, सारा शरीर क्षुधित है, इसलिए पैर चलते हैं। इससे अधिक मै कुछ नही जानता।"

शायद पहाड़के रहनेवालोंमे चलनेकी आदत अधिक होती है, परंतु मैदानके निवासी भी कुछ कम घुमक्कड़ नही होते। काशीके गगाजलको रामेश्वर ले जाकर, रामेश्वरके सेतुकी बालू काशी या हरिद्वार तक पहुचानेवाले सभी मनुष्य पहाड़ी नही होते।

मेरे छुटपनके बहुतसे सस्मरण यात्रासे सम्बंध रखते है। शाहपुरसे हम बेलगुदी जाते और वहा विही, अमरूद, आम या करौदे खाया करते थे। सतारासे जरडा या परली जाकर वहा रामदास स्वामीका मठ या हनुमानजीका मदिर देखते थे। बेलगामसे तिनईघाट उतरकर गोआकी अप्रतिम वनश्रीका अवलोकन करते, या फिर आबोलीघाट पार करके सावंतवाड़ीके मोती तालाबके किनारे होनेवाले लकड़ीके रंगीन कामका निरीक्षण करते थे। जहाजमे बैठकर कारवार जाते वहाके समुद्र-तट पर बालूके महल बनाते; पूना जाकर सगम, पर्वती या चतुःश्रृंगीके दर्शन करते; मिरज, जत, रामदुर्ग, मुधोल, सागली और सावनूर जैसे देशी राज्योंके मेहमान बनकर मध्ययुगीन भारतवर्षकी झाकी देखते और कृष्णाके तीर पर नाचते और कूदते हुए हाथी-से बैल-गाय देखकर आनंदित होते थे। यही मेरे छुटपनके सस्कार है। गाड़ीमे घास और गदेला बिछा हो, उसे खीचनेवाले बैलोंके गलेमे बंधी घण्टियोकी आवाज रातकी शांतिको भेदती हो; कहीसे चोर न आ जाये, इस डरसे जागते रहनेका कर्तव्य स्वीकारने पर भी आंख बीच-बीचमें झपकती हो और हड़-बड़ाकर फिर खुलते ही 'देखो, हम सारी रात किस तरह जागते रहते हैं', यों कहने-वाले तारे माथे पर चमकते हों—यह सारा दृश्य मेरे बचपनके जीवनके साथ गुंथा हुआ है। यात्राके लिए मुझे किसी उद्देश्य या प्रयोजनकी आवश्यकता ही नही होती। गाधीजीके साथ विलायत जानेका सुयोग होते हुए भी मै क्यो न गया? हिमालयकी यात्रा करने पर भी मैं उस पार कैलाश क्यों नही गया? अफगानि-स्तानके रास्ते रूस जानेका संकल्प ऐन वक्त पर क्यों तोड़ दिया? या जावा, बाली, स्याम और सुमात्रा मैं कब जाऊंगा? मॉरिशियससे आये हुए निमंत्रण मैं कब स्वीकार करूंगा? यदि कोई ऐसे सवाल मुझसे पूछे तो वह स्वाभाविक है। न जानेका कुछ कारण हो सकता है, पर जानेके लिए कारणकी क्या जरूरत? कभी

नदीसे किसीने पूछा है कि तू क्यो बहती है ? जब उसका बहना रुक जाता है, तभी सबको अचरज होता है।

हिमालयकी यात्राके लिए मै किस प्रकार गया और उससे क्या-क्या पाया, इसका कुछ वर्णन तो इस यात्रा-वृत्तातमे शुरूसे आखिर तक जगह-जगह आया ही है। हिमालय जानेकी वृत्ति हिन्दूमात्रमे स्वाभाविक रूपसे होती है। सिन्धु, गगा, ब्रह्मपुत्र, और उनकी सखिया सभी हिमालयकी पुत्रिया हैं। इसलिए हरएक नदी-भक्तको कभी-न-कभी अपने ननिहालमें मौज करने जाना ही है। हिमालयका वैभव संसारके सभी सम्राटोके समस्त वैभवसे भी बढ़कर है। हिमालय ही हमारा महादेव है। अखिल विश्वकी समृद्धिको समृद्ध करता हुआ भी वह अलिप्त, विरक्त शात और ध्यानस्थ है। हिमालयमे जाकर उसीको हृदयमे धारणकर लेनेकी शक्ति जिसमे है, उसीने जीवन पर विजय पाई है। ऐसे विजयीको अनत प्रणाम।

पूना, २७-५-'३५ — दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

इतिहास

असलमे यह लेखमाला छपानेके इरादेसे लिखी ही नही गयी थी। आश्रमके साथियो और विद्यार्थियोके सतोषके लिए आश्रमके एक हस्तलिखित मासिकपत्रमे इसे शुरू किया था। इसमे जिस यात्राका वर्णन है, उसमे हम तीन जन थे · स्वामी आनद, मै और हम दोनोके आत्मीय मित्र अनन्तबुवा मरढेकर। हमारी इस त्रिपुटी ने हिमालयकी यात्रामे जो आनन्द और अनुभव प्राप्त किया, उसके वर्णनका पार नही आ सकता।

० ० ०

दिल्ली दरबारके बाद जो दमन-चक्र शुरू हुआ, उसके कारण राष्ट्रीय शिक्षा-की प्रिय प्रवृत्ति असम्भव हो गयी। इसलिए मुझे यात्रा करनेकी सूझी। १९१२ के शुरूमे मैने घर छोड़ा। मुझे ऐसा स्मरण है कि जिस दिन मैने बड़ौदा छोडकर प्रयाग यानी इलाहाबादका रास्ता लिया, वह दिन अक्षयतृतीयाका दिन था। प्रयाग, काशी और गया, इन तीन तीर्थोकी यात्राको त्रिस्थलीकी यात्रा कहते है। वह पूरी करके मुझे पितृऋणसे मुक्त होना था। उसके बाद मुझे बेलुड़ मठ देखने और 'श्री रामकृष्ण कथामृत' लिखनेवाले श्री महेन्द्रनाथ गुप्तके दर्शन करनेका अपना संकल्प पूरा करना था। सौभाग्यसे हम बेलुड़ मठमे वैशाख पूर्णिमाको पहुचे। इसलिए मठाधिपति स्वामी प्रेमानन्द और दूसरे मठवासियोंके साथ वहा बुद्ध भगवानकी पूजा कर सके। उसी दिन खरडह नामके गांवमे हम चैतन्य-सकीर्तन सुनने गये थे। भगिनी निवेदिताने अपने एक लेखमे इस स्थानका माहात्म्य

बतलाया है। मेरे मित्र बाबा मरढेकर वंश-परम्परासे रामदासी सम्प्रदायके थे। अयोध्याजीके दर्शन करनेका संकल्प था। उसे पूरा करके हम स्वामी आनन्दसे मिलने अलमोड़ा गये। वैशाखका महीना हमने वहीं बिताया। वहांसे स्वामी आनंदको लेकर हम लौटे, और हरिद्वारसे बाकायदा यात्रा शुरू कर दी। वह गंगा-दशहरेका दिन था। ज्यों-ज्यों हम अपनी यात्रामें आगे बढ़ते गये, त्यों-त्यों यात्राका सकल्प भी बढ़ने लगा। और अंतमें हम उत्तराखण्डके चारों धामोंकी—जमनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ और बदरीनाथकी यात्रा पूरी करके वापस अलमोड़ा पहुंचे। इसी यात्राका वर्णन यहां किया गया है।

संसारमें प्रायः ऐसा माना जाता है कि पैदल यात्रा करना मुश्किल है। मैं समझता हूं कि यात्रा करनेकी अपेक्षा उसका वर्णन लिखनेके लिए समय निकालना ज्यादा मुश्किल है। यहां हिमालयकी जिस यात्राका वृत्तांत दिया गया है, वह चालीस दिनमें समाप्त हुई थी। सन् १९१९ में अर्थात् यात्राके सात वर्ष बाद उसका वर्णन लिखना शुरू किया। पुराने संस्मरण सभी समान रूपसे ताजे नहीं रह सकते, और जो संस्मरण ताजे न हों उनका वर्णन करनेमें कभी मजा नहीं आता।

कई तरहकी परिस्थितियोंके कारण थोड़ी-थोड़ी करके मेरी यह लेखमाला पन्द्रह साल तक लिखी जाती रही। फिर इसमे एकरूपता कहांसे आ पाती? अगर पाठक उसे ध्यानसे देखेंगे, तो उन्हें इसमे जीवन-रसकी बदलती हुई वृत्तियां दिखाई देंगी। अंतिम पांच-सात अध्याय जल्दी-जल्दीमें लिखे गये थे, इसलिए उनमें वर्णनोंका विस्तार कम दिखाई देगा। एक तो ये संस्मरण बहुत कुछ मिट गये थे, और दूसरे यात्राका अंतिम भाग भी कुछ थकावटमें ही पूरा हुआ था। अतः उस थकावटका असर भी इन अंतिम अध्यायों पर पड़ा है। पाठकोंने जो अपेक्षा रखी थी और जिस अपेक्षाके लिए मैं जवाबदेह हूं, वह अगर यहां पूरी न हुई हो तो आशा है वे उदार हृदयसे मुझे क्षमा करेंगे।

इन पन्द्रह वर्षोंमें गुजरातके नवयुवकोंने कई यात्राएं की हैं। मैं आशा करता हूं कि गुजरात और सारे भारतके युवक यात्राका महत्त्व उत्तरोत्तर अधिक समझेंगे; चारों दिशाओंमें घूमकर देश तथा देशबन्धुओंका अवलोकन करेंगे; और भारत-भक्तिसे लबालब अनेक यात्रा-वर्णन लिखकर स्वभाषाको सुशोभित करेंगे। मातृ-भूमिका और उसके असंख्य बालकोंका अनेक प्रकारसे दर्शन करके उनका वर्णन करना भी एक प्रकारकी पूजा ही है। इस पूजाके प्रथम पुष्पके नाते इस लेखमाला-का स्मरण थोड़े दिन तक भी रहा, तो यह सार्थक मानी जायगी।

दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

विनय

हिमालयका यह प्रवास सन् १९१२ के अरसेमें किया था। पांच-छह बरसके बाद इस प्रवासका वर्णन साबरमतीके सत्याग्रह आश्रममें बैठकर लिखना शुरू किया; और खण्डशः उसे सन् १९३० के करीब पूरा किया। जब कभी समय मिला और किसी स्नेहीने प्रेरणा दी, एक-दो प्रकरण लिख दिये। इस ढंगसे यह किताब लिखी गयी है। गुजरातके जनसमुदायमें मैं इतना घुलमिल गया था और गांधीजीके 'जनजीवन'के द्वारा लोगोंके इतने सम्पर्कमें आया था कि लोगोंने इस प्रवास-वर्णनको बड़े चावसे पढ़ा। गुजरातीमें इस किताबकी छह आवृत्तियां हो चुकी हैं। बादमें इसका मराठी अनुवाद हुआ। महाराष्ट्री होनेके कारण वहांके लोगोंने भी एक परिचित व्यक्तिके प्रवास-वर्णनके तौर पर इसका स्वागत किया।

अब यही प्रवास-वर्णन हिन्दीमें प्रकाशित होने जा रहा है। मुझे पता नही हिन्दीभाषी जनता इसका कैसा स्वागत करेगी। हिन्दी-जनता मुझे राष्ट्रभाषा-प्रचारककी हैसियतसे ही पहचानती है। जबसे महात्माजीने नागरी और उर्दू दोनों लिपिके स्वीकार पर जोर दिया और मैने उसका प्रचार किया, तबसे हिन्दी-भाषी जनता कुछ अप्रसन्न-सी हुई है। मेरे सनातनी संस्कारोंसे वह परिचित नही है। परिचित होती तो शायद चन्द लोग मेरे उर्दू लिपिके स्वीकार पर अधिक नाराज हो जाते!

जब मेरे मित्र दादा धर्माधिकारीजीने बड़े प्रेमसे हिमालयके प्रवासका हिन्दी अनुवाद करना स्वीकार किया, तब हिन्दुस्तानी प्रचारका प्रारम्भ हुआ था। मैंने उनसे कहा कि इस पुस्तकका सारा वायुमण्डल केवल हिन्दू समाजके सामाजिक-धार्मिक जीवनसे सम्बंध रखता है। इसके पाठकगण भी उसी ढंगके होगे। इसलिए इसे हिन्दुस्तानी शैलीमे उतारनेका प्रयत्न न करें। जैसी मेरी शैली गुजरातीमे है वैसी ही हिन्दीमें प्रतिबिम्बित हो जाय, यही इस किताबके लिए इष्ट है।

दादा धर्माधिकारीजी हिन्दीके सिद्धहस्त लेखक तो हैं ही, शब्द-रसिक भी पूरे-पूरे है। इसलिए उनके अनुवाद पर मेरा पूरा भरोसा है। श्री काशीनाथजी त्रिवेदी ने भी यत्र-तत्र अपनी कलम इसमें चलाई है।

धार्मिक जीवनके आदर्शके बारेमें मेरे ही नही, देशके बहुतसे चिंतकोंके भी विचार वेगसे बदल रहे हैं। यहां जिस विचारप्रणालीका पुरस्कार किया गया है, वह सनातनी धार्मिक दृष्टिके प्रति सहानुभूति और आदर रखते हुए भी मौलिक सुधार चाहती है। तो भी स्वधर्म-निष्ठाका विकास करके सर्वधर्म-निष्ठा तक वह इसमें नही गई है। लेकिन पाठकोंके लिए यह बात सोचना आवश्यक नही है। हिमालय स्वयं पार्वती-जैसी भारत-भूमिका पिता है। वह 'नत नयने अनिमेषे' अपनी पुत्री-का कल्याण-चिंतन करता रहता है। उसका दर्शन करना हरएक भारतवासीका

कर्तव्य है। उस दर्शनके प्रति आकर्षित करनेवाला यह शब्ददर्शन पाठकोंको प्रिय हो !

करा‌ड़ी
अक्षय तृतीया, ११-६-'४८ काका कालेलकर

१. संकल्प

गच्छति पुरः शरीरं
धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।

हिमालय जानेकी मेरी बड़ी इच्छा थी; मैं हमेशा हिमालय जानेकी बात तो सोचा करता था; लेकिन कैसे जा सकूंगा, इसकी कोई कल्पना भी मेरे दिमागमें नहीं थी। आखिर एक दिन अनसोचे ढंगसे मेरे लिए हिमालय जानेका रास्ता खुल गया।

परिवारके लोगोंको घर पहुंचानेके लिए मैं बेलगाम गया। वहांसे कहां जानेवाला हूं, इसकी कोई खबर किसीको दिये बिना ही मैं काशीयात्राके बहाने रवाना हुआ। अनंतबुवा मेरे साथ थे।

हम चले, रेलगाड़ीके वेगसे चले। लेकिन हमारी कल्पनाएं तो पवनवेगसे—पवनवेग ही क्यों, मनोवेगसे—दौड़ती थी। मेरे दिलमें विचार आया, मैं महाराष्ट्र छोड़कर जा रहा हूं। शायद लौट भी न सकूं। अब मराठीकी मीठी बातें फिर कहां सुननेको मिलेंगी ? एक तरफ हिमालय खींच रहा था। दूसरी तरफ महाराष्ट्र का मोह छूटता नहीं था। हृदय आगे दौड़ता था, लेकिन पैर उठते ही न थे। आखिर विचार किया कि गोआकी रमणीय निसर्गश्रीका निरीक्षण करनेमें आठ-दस दिन बिताये बगैर तो हरगिज न जाऊंगा। चैत्र प्रतिपदासे रामनवमी तक गोआमें रहा, और उदास अंतःकरणके साथ गोआसे रवाना हुआ।

समुद्रके रास्ते हम बंबई आये। बंबईमें मुझे कोई खास काम तो नहीं था, लेकिन मुझसे किसी तरह बंबई छोड़ी नहीं जाती थी। बंबई महाराष्ट्रका अंतिम दर्शन था। मुझे महाराष्ट्रसे इतना अनुराग होगा, मराठी भाषा मुझे इतनी प्यारी होगी, इसकी कल्पना भी इतने दिनों तक मुझे नहीं थी। मैं महाराष्ट्रीय हूं, यह भावना भी जब मैंने बंबई छोड़ी, तभी यथार्थमें जाग्रत हुई। बंबईसे मैं बड़ौदा आया। भूत बनने पर जीवात्मा जिस प्रकार अपनी मृत देहको अनेक मिश्रित भावोंसे देखता है, उसी प्रकार, वैसे ही मिश्रित भावोंसे, गंगनाथ विद्यालयका मकान आदि सब कुछ मैंने अंतिम बार देख लिया। गुरुजनोंसे आशीर्वाद लिया और

शिव-जयंतीके दिन (?) सीमोल्लंघन किया। (वह दिन शिवाजी जयंतीका होगा जो वैशाख शुक्ल द्वितीयाको होती है—संपा०)

२. प्रयागराज

बैसाखका महीना था। गरमी सख्त पड़ रही थी। हमारी गाड़ी मध्य हिन्दुस्तानके विस्तीर्ण प्रदेशमें से दौड़ने लगी। डिब्बे इतने गरम हो गये थे, मानों डबल रोटीकी भट्टियां हों। हरएक स्टेशन पर पानी पीने पर भी गला सूखा जाता था। जी बेचैन रहता था। फिर भी, एक चीजके कारण कलेजेको ठंडक पहुचती रहती थी। हरएक स्टेशन पर मराठी भाषा सुनाई देती थी, और पुंडलीक धामके रास्ते जाते हुए जिस तरह दोनों तरफ बबूलके पेड नजर आते हैं, उसी तरह यहां भी नजर आ रहे थे। मराठी भाषा और बबूलके पेड़ जहां तक थे वहां तक मैं महाराष्ट्रमे ही हूं, इस विचारसे चित्तको शांति मिलती थी। लगभग जबलपुर तक यही सिलसिला रहा।

जबलपुरमे मेरे एक मित्र रहते थे। उन्हें खोजकर मैं उनसे मिला, और उनके यहां भोजन किया। मेरे दिलमें विचार आया कि यही मेरा आखिरी महाराष्ट्रीय भोजन है। विचित्रता यह रही थी कि मुझे यह भोजन भी गुप्तवेशमे ही करना पड़ा। कई वर्ष पहले मेरे ये मित्र एल०-एल० बी० की तैयारी कर रहे थे; उस वक्त मैंने उन्हें यह समझानेकी कोशिश की थी कि वकालतका धंधा गदा है, उसकी अपेक्षा राष्ट्रीय शिक्षक होना कही अच्छा है। मैं अपने इस षड्यंत्रमें सफल हुआ, इसलिए मेरे मित्रके सभी आत्मीय और सगे-सम्बंधी मारे क्रोधके मुझसे जलते थे। उन्होंने मुझे देखा तो न था, लेकिन मेरा नाम सुना था। मुझे देखकर मेरे मित्रने मुझसे अंग्रेजीमें कहा—"भाई, अगर मेरी मांको यह पता चल जाय कि तुम कौन हो, तो तुम पर तुरन्त फूल बरसने लगेंगे। तुम्हें आध घण्टेमें लौटना है। इतनी-सी देरके लिए व्यर्थका बखेड़ा क्यों मोल लिया जाय?" मैंने भी उनकी बात मान ली, और चोरकी तरह चुपचाप नहा-धोकर भोजन कर लिया। नाम और रूपका संयोग नहीं हुआ था, इसलिए बेचारी मांने बड़े प्रेमसे रसोई पकाकर मुझे गरमागरम महाराष्ट्रीय भोजन खिलाया। विदा होते समय मैंने उनके सामने अपना माथा नवाया, और प्रेमल माताके सारे शुभ आशीर्वाद पाकर मैं रवाना हुआ।

हमारी यात्राका पहला धाम था प्रयागराज। इतिहास-पुराणोंमें प्रसिद्ध गंगा-यमुनाका रमणीय संगम यहीं है। एक तरफसे दोनों किनारोंकी सफेद बालू उछालती हुई स्वर्धुनी दौड़ती आती है। दूसरी तरफसे यमराजकी बहन अपना

महत्त्व और प्रतिष्ठा संभालती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। संगमसे दूर तक इन नदियोंके धवल और श्याम प्रवाह इस प्रकार बहते हैं, मानों वे अलग-अलग ही हों। प्राचीन कालसे हमारे कवियोंने इस संगमके काव्यमय स्थान पर अपनी सरस्वती बहाई है। हमारी धर्मनिष्ठ जनताने अति प्राचीन कालसे असाधारण उत्साहके साथ इस त्रिवेणी-संगमकी पूजा की है। गंगाका नाम लेते ही हरिद्वार और ब्रह्मावर्त्त याद आते हैं। और यमुनाका नाम सुनते ही कभी तो कुंजबिहारीका मथुरा-वृन्दावन याद आता है, और कभी शाहजहांके दिल्ली और आगरेका स्मरण होता है। हिन्दू और मुसलमान संस्कृतिकी एकताकी थोड़ी झांकीभर करनेवाले सम्राट् अकबरने इसी संगम पर अवस्थित सनातन अक्षयवटके आसपास एक मजबूत किला बनवाया है।

हम किला देखने गये। किलेमें गोरोंकी फौज रहती है। किलेके संगमकी तरफवाले दरवाजे पर जब यात्रियोंकी बहुत भीड़ हो जाती है, तो अंदरसे एक सिपाही आकर सबको भीतर ले जाता है, और अक्षयवटका दर्शन कराकर दूसरे दरवाजेसे बाहर निकाल देता है। अक्षयवट तो एक तहखाने-जैसी गुफामे है। वट तो क्या, एक जबरदस्त तना-भर है। श्रद्धालु लोग कहते है कि वृक्षका तना यहा है, और उसकी डालियां बुद्धगयामे हैं। इसका अर्थ क्या है, सो समझना मुश्किल है। क्या इसका यह मतलब किया जाय कि किसी समय बौद्ध धर्म बुद्धगयासे इलाहाबाद तक फैला हुआ था? ऐसा कहा जाता है कि हिमालयमे भी महादेवके महालिगका एक छोर केदारनाथमे है, और दूसरा नेपालमे पशुपतिनाथके रूपमे है। लेकिन उसका अर्थ क्या? अरे, हिन्दू तो यह भी कहते नही हिचकते कि गदाधर श्रीविष्णुका एक पैर गयामे है, और दूसरा मक्केमे! कल्पनाके साम्राज्यमे सयमसे क्या मतलब? अक्षयवटकी गुफा काफी लबी-चौडी है और उसमे अनेक मूर्तिया है। किसी समय गंगा-यमुनाका प्रवाह अक्षयवटसे करीब-करीब लगा हुआ ही था। उस जमानेमे कई हिन्दू इस अक्षयवटसे प्रवाहमे कूदकर देहत्याग करते थे। ऐसा माना जाता था कि इस प्रकार अक्षयवटसे कूदकर आत्महत्या करना पाप नही है, बल्कि उसमे मुक्ति है। मानो लोगोंकी इस अघोर साधनासे तंग आकर ही संगमने अपना स्थान बदल दिया, और अकबरने बरगदके आसपास किला बनवाकर इस आत्महत्याकी संभावनाको सदाके लिए मिटा दिया। सैनिक दृष्टिसे तो किलेका महत्त्व है ही।

इस किलेमे बौद्धधर्मीय सम्राट् अशोकका एक शिलास्तंभ है। उस पर अशोककी धर्मलिपि खुदी हुई है। समुद्रगुप्तके राजकवि हरिषेणके लिखे हुए कुछ श्लोक भी इसी स्तंभ पर खुदे हुए हैं। इतिहासवेत्ता इन दोनों आलेखोंको बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

साथके सिपाहीकी थोड़ी खुशामद करके मैंने अशोकके इस शिलास्तंभके पास

जाने की इजाजत पाई। सिपाही बेचारा पंजाबी था। कहने लगा—'यहां दर्शनके लायक कोई चीज नहीं है। दर्शन तो उस गुफामें है।' बेचारा भोला पंजाबी! वह क्या जाने कि मेरे लिए दर्शन क्या है? इस पत्थरके गोल खंभे पर दिग्विजय और धर्मविजयके दो स्वतंत्र और अमर लेख हैं, इसका बोध उसे कब होगा? क्या जब हिन्दुस्तानमें शिक्षा अनिवार्य और सार्वत्रिक होगी तब? राष्ट्रीयताकी उमंग घर-घर पहुंचेगी तब? या कोई लोककवि जनताकी विभिन्न बोलियोंमें उसकी महिमा गायेगा तब?

किलेके सामने ही संगमके पास एक विस्तीर्ण रेतीला मैदान है। उसमें प्रयागके पंडे अपने-अपने डेरे लगाकर बैठे होते हैं। तबुओंकी इस घनी बस्तीमें यात्री अपने पंडेका तंबू पहचान सकें, इसके लिए हरएक तंबू पर विशिष्ट चिह्नांकित ध्वजा होती है। कोई कपिध्वज, कोई मकरध्वज, तो कोई नौकाध्वज। नये जमानेकी सूचक 'हवाई-गाड़ियां' (मोटरें) और रेलगाड़ियां भी ध्वजा पर दिखाई देती हैं।

हर बारहवें साल यहां प्रख्यात कुंभमेला लगता है। हर साल माघमेला तो लगता ही है। इन मेलोंमें प्रांत-प्रांतके साधु, संन्यासी, तपस्वी और संत-महन्त आते हैं। धर्मचर्चा होती है, तत्त्वज्ञानके दंगल होते हैं, नई-नई दलीलोंका लेन-देन होता है। आतुर शिष्योंको गुरु मिलते हैं, और शिष्योंके दीवाने गुरुओंको चेलोंकी प्राप्ति होती है। हरएक वाद-विवादमें कितने प्रमाण मिलने चाहिये, इसकी चर्चा तो घंटों चलती रहती होगी। कोई प्रत्यक्ष तथा अनुमानको ही मानते हैं। बहुतेरे उपमान और शब्द-प्रमाणको मानते हैं। नंगे साधुओंमें जब शास्त्रार्थ होते हैं, तो न्यायशास्त्रमें बताये हुए प्रमाणोंके अलावा लाठी और गालीके दो अतिरिक्त प्रमाणों का अधिक प्रयोग होता है। ये लोग मौतसे नही डरते, लेकिन पुलिससे बहुत डरते हैं। क्योंकि अगर पुलिस इन्हें पकड़कर हिरासतमें ले ले, तो वहां ये अपने धर्मका पालन नहीं कर सकेंगे! अगर डंडेबाजीमें पांच-दस साधु खप जायं, तो पुलिसके आनेसे पहले उनके मुर्दोंको रेतमें दबाकर और रेतकी सतह बराबर करके वे उसपर बैठ जायेंगे। चाहे वहां हजारों बाबा क्यों न खड़े हों, पुलिसको एक भी गवाह न मिलेगा। अपराधियोंको सजा देनेसे समाजमें अपराध कम नहीं हुए हैं, और ऐसे साधुओं को सजा न होनेसे उनमें अपराध बढ़े नही हैं, यह बात विचार करने योग्य है।

मुझे प्रयागराजमें पिताजीके फूलों (अस्थियों) का त्रिवेणी-संगममें विसर्जन करना था। वह काम पूरा करके मैंने श्राद्ध किया। नदी-किनारे मूंछें मुंडवाये हुए लोग बहुत दिखाई देते थे, इस कारण ऐसा लगता था मानो मद्रासी लोगोंने उत्तर हिन्दुस्तानमें अपनी एक बस्ती ही बसा ली हो। आम तौर पर हम जब सिंधियोंको देखते हैं, तो वे नीम-अंग्रेज और नीम-पारसी जैसे लगते हैं; लेकिन तीर्थक्षेत्रमें अत्यंत श्रद्धाशीलता दिखानेवाले और भक्तिसे गद्‌गद होनेवाले यात्रियोंमें सिंधका

पहला नंबर आयेगा। महाराष्ट्रीय थोड़े खर्च और थोड़े समयमें अधिक-से-अधिक कैसे देखा जाय, और पुण्यका संचय कैसे हो, इसी पर ज्यादा ध्यान देते हैं। गुजराती हमेशा खाने-पीनेकी सुविधाकी फिक्रमें घूमते हुए नजर आते हैं। और बंगाली इस बातकी अधिक चिंता रखते हुए दिखाई देते हैं कि उनकी भक्तिके भावावेशको सारी दुनिया अच्छी तरह देख सके। मद्रासी चेहरे परसे तो होशियार मालूम होते हैं, लेकिन हिन्दी न जाननेके कारण और अपने विचित्र रिवाज और अपनी पोशाकके कारण रोझों (जंगली घोड़ों) के समान यहां-वहां भटकते दिखाई देते हैं। मजदूरों और गाड़ीवालोंसे तो उनकी कभी बनती ही नहीं।

युक्तप्रांत (उत्तर प्रदेश) के लोगोंके लिए प्रयाग कोई परदेश नहीं है। वे तो बाकायदा रुईकी मिरजई पहने, सिर पर कुछ तिरछी टोपी लगाये, मुंहमें पान दबाये, सजे हुए सांडोंके समान घूमते-फिरते हैं। उन्हें देखकर हर कोई कह सकता है—'आत्मन्येव च संतुष्टः अस्य कार्यं न विद्यते।' अंग्रेजी पढ़ा-लिखा आदमी चाहे किसी प्रांतका क्यों न हो, उसकी एक अलग जात बन ही जाती है। ऐसे तीर्थस्थानमें आनेसे मेरी शिक्षा पर कोई धब्बा तो नहीं लग गया है, ऐसी मुखमुद्रा बनाकर वह सबसे दूर, अलग-थलग घूमता है। और इन सबके चित्र-विचित्र स्वभावों, पोशाकों, और रिवाजोंकी तरफसे बिलकुल उदासीन रहकर गंगा और यमुनाका सनातन प्रवाह अमरपुरी वाराणसीकी ओर अखण्ड, अविरत बहता ही रहता है।

३. अमरपुरी वाराणसी

मैं पहले भी एक बार काशीजी गया था। तो भी परिचयसे उत्पन्न होने वाली अवज्ञा मुझमें पैदा नहीं हुई थी। जब रेलमें बैठकर मैं गंगाजीके पुल परसे जा रहा था, तब काशीका वह अद्भुत दृश्य देखकर मैं गद्गद् हो उठा था। काशी में दूरसे ही हमेशा एक ऐसी आवाज सुनाई देती है, मानो शहदके छत्ते पर बैठी हुई मधुमक्खियां गुनगुना रही हों। 'वारणा' नदीसे 'असी' नदी तकके दृश्यमें सबसे अधिक ध्यान तो औरंगजेबकी मसजिदकी गगनस्पर्शी दो मीनारें ही आकृष्ट करती हैं। उन मीनारोंको देखकर एक विचार-परम्परा मनमें जाग्रत हुई। मैंने मन-ही-मन कहा—इन दो मीनारोंके पीछे हिन्दुस्तानके इतिहासका परम रहस्य—चरम रहस्य—छिपा हुआ है। औरंगजेबने धर्मान्धताके जोशमें आकर काशीके केन्द्र, हिन्दू धर्मके तिलक, विश्वेश्वरनाथके मन्दिरको तुड़वा दिया और उसकी जगह एक मसजिद बनवायी। आज भी इस मसजिदके पिछले हिस्सेमें मूल मंदिर का अवशेष दीख पड़ता है। औरंगजेबकी मृत्यु हुई। मुगल साम्राज्यका पतन हुआ। हिन्दूपदपादशाहीकी स्थापनाकी इच्छा करनेवाले मराठोंकी धाक दिल्ली पर जम

गई। मराठा सरदार हरिद्वारके पण्डोंको भूमि दान देने लगे। फिर भी, इन हिन्दुओंको काशी जैसे पवित्र धर्मक्षेत्रमें इस्लामकी पताकाके समान विराजती हुई औरंगजेबकी मसजिद तोड़ डालनेके विचारने स्पर्श तक नही किया। आज यह मसजिद इस्लामके विजयकी पताका नही रही है। लेकिन जब हिन्दुओंका साम्राज्य लगभग पूरे देशमें फैल गया था, उस समय प्रकट की हुई उनकी सहिष्णुताकी ध्वजा है। हिन्दू जातिके इस प्रेममंत्रको अंग्रेज समझ ही नहीं सकते, फिर वे इसे ग्रहण तो कैसे करते? इसीलिए कानपुरके कुएं पर लिखे हुए अपने द्वेष-लेखकी हिफाजतके लिए सरकारने वहां गोरोंका पहरा बैठा दिया है, और दिल्ली शहरके सामने तलवार उठाकर खड़े हुए सेनापतिका पुतला खड़ा करनेमें बड़ा पुरुषार्थ माना है।"

इन विचारोंके प्रवाहमे मै जाने कहां बहता चला जाता; लेकिन पुलके नीचे बहते गंगाजीके शान्त प्रवाहने मुझे भी शान्त कर दिया। पर यह शान्ति देर तक टिकने नही पाई। स्टेशनके पास आते ही मेरी छाती धड़कने लगी। पण्डोंका झुण्ड मेरे पीछे पड़ेगा, इस खयालसे मेरे गात्र ढीले पड़ गये। रूसके जंगलका कोई मुसाफिर भेड़ियोंके झुण्डको अपना पीछा करते देखकर भी इतना घबराया न होगा। डरते-डरते मैं ट्रेनमे उतरा, और एक गाड़ीवानके पास जाकर उससे कहा—'भाई, जितना किराया लेना हो ले लो, लेकिन मुझे फौरन यहांसे दुर्गाघाटीकी तरफ ले चलो।" गाड़ीवानने गाड़ी तो हांकी, लेकिन फिर भी दो पण्डे अपने-अपने पोथे बगलमे दबाकर मेरे पीछे दौड़े। मै उनके चंगुलसे ज्यों-त्यों छुटकारा पाकर अनन्त भट्टके घर जा पहुंचा।

अनन्त भट्ट बड़े भले आदमी थे। अपना कर्मकाण्ड भलीभांति निबाहते थे। यजमानोकी आव-भगत अपने कुलकी प्रतिष्ठाके अनुरूप करते और अपनी आय बढ़ाते थे। साहूकारीका धन्धा भी करते थे। सोनेसे पहले मुझे पण्डोंका खयाल आया। मैंने सोचा, अनन्त भट्ट भी तो एक तरहके पण्डे ही हैं। अगर वे यहां न होते, तो मेरी यात्रा सुचारु रूपसे न हो पाती। विलायतके हर बड़े शहरमे होटल होते है। 'हाउस-एजेण्ट्स्' होते है। टॉमस कुक जैसी कम्पनियां होती हैं। हर बन्दरगाह पर 'शिपिंग-एजेण्ट्स' भी मिलते हैं। क्या ये पण्डे वही काम हमारे जीवनके अनुरूप ढंगसे नही करते? पण्डेको चिट्ठी लिखते ही वह हमें लेनेके लिए स्टेशन पर आता है। घर ले जाकर रहनेका प्रबन्ध करता है। दर्शनीय मंदिर और स्थान दिखाता है, उन सबका माहात्म्य भी बताता है, हमारे साथ बाजारमें भी आता है, और इन सबके लिए लेता क्या है? जो कुछ हम दे दें। इतनी सस्ती और सादी व्यवस्था दुनियामें और कहीं न मिलेगी।

तब हमें इन पण्डोंसे घबराहट क्यों होती है। इसका कारण यही है कि पण्डों को अब तक इस बातका पूरा भान नहीं हुआ है कि वे अब गुरु या पुरोहित न रह-

कर 'हाउस-एजेण्टस्' या 'हॉटेल-कीपर' ही रह गये हैं। दो आदर्श संभालनेकी कोशिशमे उनकी यह दशा हो गई है। सच पूछिये तो ये पण्डे यात्रियोंके गुरु कहलाते हैं। अपनी भलमनसाहत और आतिथ्य-धर्मके अनुसार शुरू-शुरूमें इन्होंने अपने यजमानोंकी खातिरदारी की होगी। बादमे धनवान यात्रियोको देखकर ब्राह्मणोंका हृदय लोभमे विचलित हो उठा होगा। ब्राह्मण कहते हैं कि पण्डोंका लोभ सीताजीका शाप है। धन्य है इन ब्राह्मणोंको, जो अपने भद्दे-से-भद्दे दोषके लिए भी व्यास या शौनक ऋषिके नामसे पौराणिक प्रमाण उत्पन्न कर सकते है। इन गंगापुत्रोंमें से कुछ आधुनिक पद्धति स्वीकार करके 'हाउस-एजेण्ट' और 'ट्राव्हलर्स गाइड' बन जायं और इस तरह अपनी प्रतिष्ठाकी रक्षा करें, तो भी वे खूब कमायेगे और यात्रियोंके आशीर्वाद भी पायेंगे।

दूसरे दिन हम मणिकर्णिका घाट पर नहाने गये। वहा गगाजीका ही पानी लेकर गंगाजीका अभिषेक किया। फिर चक्रपुष्करिणी तीर्थ पर पहुचे। पास खडे हुए एक गंगापुत्रने कहा—"आइए महाराज, स्नान कीजिये।" मैने उसे मना कर दिया। बाबा चौक गये उन्होंने पूछा—"क्यों इस तीर्थका ज्यादा माहात्म्य नही है?" मैने जबाब दिया—'क्यों नही? अगर आदमी इसमे एक बार नहा ले तो फिर उसे नरकमे जानेकी जरूरत न रह जाए।" बाबा समझ गये। फिर भी उनका कुतूहल तृप्त करनेके लिए हम तीर्थके पास गये। तीर्थ पर एक संगमरमर का पत्थर था। उस पर अग्रेजीमे विक्टोरिया रानीका नाम और दूसरी कुछ बातें लिखी थी। और तीर्थमे ? पाच फुट चौड़ा और पच्चीस-तीस फुट लम्बा एक गड्ढा। पानीका रग हम देख न सके, क्योंकि उस कुण्डमे रोज नहाने वाले हजारों यात्रियों के पसीनेकी मोटी पर्त पानी पर जम गई थी। तो भी सैकड़ो यात्री मृत्युके बादके नरकसे बचनेके लिए इस नरकमे बड़े शौकसे गोते लगा रहे थे। मुझे लगा, ईश्वर मारे शर्मके इन लोगोको नरक-वाससे मुक्त कर देता होगा। क्योंकि इस कुण्डमें स्नान करनेवाले भी जिसे देखकर घिनाये, वैसा कुण्ड ईश्वर नरकमे भी कहा से लायेगा?

हम स्मशान-घाटकी तरफ चले। वहां कटी हुई लकड़ियोंका ढेर करीनेसे रखा था। मैने सोचा, कही मेरे लिए ही तो यह ढेर नही रचाया गया है? जो मनुष्य काशीमे मरता है, उसके कानमें स्वयं महादेव तार स्वरसे मन्त्र पढ़ जाते है, और काशी-विश्वेश्वर हमेशा अपने शरीर पर उसकी चिताभस्मका लेप करते है।

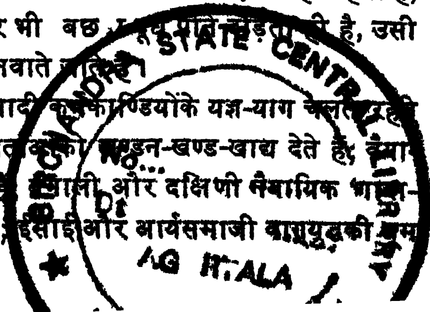
आगे चलकर हमने बिन्दुमाधवका दर्शन किया। सिन्धिया-होलकरके अन्नसत्र देखे। पुण्यश्लोका अहल्याबाईका स्मरण हुआ। उनकी व्यवस्थाके अनुसार रोज काशीसे रामेश्वर जानेवाली बहंगीका चित्र दृष्टिके सामने आया। हमने विश्वनाथ जीके दर्शन किये। वहांकी वह भीड़, वह कीचड़, और सड़े हुए बिल्वपत्रोंकी वह गंध, ये सब कैसे ही क्यों न हों, तो भी काव्यमय प्रतीत होते थे और भक्तिभावमें

वृद्धि ही करते थे। बिश्वेश्वरके दरबारमें कोई भेदभाव नहीं है। सब समान हैं। दर्शनोंके लिए चाहे जो जाए, चाहे जब जाए। 'मत जाओ' का नाम न मिलेगा। मन्दिरके गर्भगृहकी दीवारमें एक तिरछा छेद बनाया गया है। इस छेदको बनानेका कारण मेरी समझमें नहीं आया। लेकिन मन्दिरकी परिक्रमा करते वक्त मैंने देखा कि दुनियाकी यात्रा करनेवाले गोरे 'ग्लोब ट्रॉटरों' (तुरग-यात्रियों) के लिए विश्वेश्वरके दर्शनोंका प्रबन्ध करनेके विचारसे ही यह छिद्र बनाया गया है। जिस वक्त हम गये, उस वक्त वहां टॉमस कुकका एक एजेण्ट दो तीन मेमोंको मन्दिरके विषयमें जानकारी दे रहा था। किसीने मुझसे कहा कि मन्दिरके गुम्बद पर मढ़ी हुई सोनेकी चद्दर पंजाब-केसरी रणजीतसिंहकी श्रद्धाका एक चिह्न है। पास ही औरंगजेबकी मसजिद है और बीचमें ज्ञानवापी है। कहते हैं कि जब यवन पुराने मन्दिरको भ्रष्ट करने आये, तब कलियुगकी महिमा जानकर विश्वेश्वरकी मूर्ति एक कुएंमें कूद पड़ी थी। यह कुआं ठेठ पाताल तक गया है!

वहासे हम मठ देखने गये, जिसमें बैठकर एकनाथ महाराजने अपना 'नाथ-भागवत' नामक ग्रंथ पूरा किया था। इसी स्थान पर यह सिद्ध हुआ था कि संस्कृत भाषाका सामर्थ्य और पावित्र्य मेरी मराठीमें भी है। इस विचारके आते ही हृदय में भक्ति उमड़ आई। मैने उस स्थानको दण्डवत् प्रणाम किया, एकनाथ स्वामीका स्मरण किया, और हम त्रिलिग स्वामीकी मूर्तिके दर्शन करने गये। त्रिलिंग स्वामी एक सुविख्यात दक्षिणी संन्यासी थे। उन्होंने काशीमें अनेक मन्दिरों और मकानों का जीर्णोद्धार कराया था। लेकिन वे एक भी नया मन्दिर या नया मकान बनवाने को तैयार न होते थे। इसका कारण स्पष्ट है। काशीके छोटे-मोटे मन्दिरों और मूर्तियोंकी गिनती की जाए, तो उनकी संख्या इतनी मालूम होगी कि वह काशीजी की जनसंख्यासे बहुत कम तो नही होयी। वहा और नये मन्दिर बनवाने की जरूरत ही क्या है?

हिन्दुस्तानमे अनेक साम्राज्य हो गये। अनेक राजधानिया हो गई। आज वे राजधानियां या तो नामशेष हो गई हैं, या छोटे-छोटे गांवोंमें रूपान्तरित हो गई है। लेकिन यह देवनगरी अनेक साम्राज्योंके अभ्युत्थान और पतनकी साक्षी होकर भी आज तक ज्यों-की-त्यों बनी है। यदि भूतकालको सजीव देखना हो, तो काशीमें देख सकते है। गंगाजी अपने घाटरूपी बन्धनोंको बार-बार तोड़ती ही रहती है, और जिस तरह अपनी मांकी लात खाकर भी बछ[illegible] दूध पीने [illegible] है, उसी तरह लोग भी फिर-फिर नये-नये घाट बनवाते [illegible] हैं।

वाराणसीमें आज भी पूर्व मीमांसावादी [illegible]काण्डियोंके यज्ञ-याग [illegible] हैं; वेदान्ती द्वैत-अद्वैतका झगड़ा करके श्रोता[illegible] [illegible]डन-खण्ड-खाद्य देते हैं; [illegible] करणी एक-एक शब्दकी खाल निकालते हैं; [illegible] और दक्षिणी नैयायिक '[illegible]-धरी' का अर्थ करनेकी कोशिश करते हैं; ईसाई और आर्यसमाजी वाग्युद्धकी [illegible]



मचाते हैं; वेदाभ्यासी दश-ग्रंथोंका घोष करते हैं; कारीगर टांकी चला-चलाकर पत्थरको देवता बनाते हैं; और कई भूदेव अन्नक्षेत्रमें खाकर निठल्ले बैठे-बैठे जीवित पत्थर बन जाते हैं।

इसी नगरीमें अग्रजों और अन्त्यजोंने विश्वामित्रके ऋणसे मुक्त होनेमें सत्य-सन्ध हरिश्चन्द्रकी मदद की थी। इसी नगरीमें तुलसीदासने रामकथाका गान किया था। और यहीं कबीरजीने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियोंको एकसूत्रमें पिरोया था।

कुछ लोग बनारसको 'The city of the dead and the dying'—मृतकों और मरणोन्मुखोंकी नगरी कहते हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दुस्तानकी अनेक नगरियां नामशेष हो गईं; पर वाराणसी आज भी अमरपुरी ही है, क्योंकि काशीजीमे सनातन धर्मका निवास है।

एक दिन हम दशाश्वमेघ घाटसे पुल तक नावमें घूमने गये। गंगाजीके स्पर्शके कारण शीतल और पावन पवन मन्द-मन्द बह रहा था। नाना प्रकारके मंदिर 'मुझे देखो, मुझे देखो कहते हुए आंखके सामने खड़े होते जाते थे। मैं सबको श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम करता था। जिस प्रकार चकमक (पत्थर) के टेढ़े-मेढ़े पहलू सुहावने लगते हैं, उसी प्रकार काशीके मकानोंकी विशृंखल शोभा दृष्टिको आकर्षित करती है। सांझ-सवेरे असंख्य स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध गंगामैयाकी गोदमें खेलते हुए नजर आते हैं।

दशाश्वमेघ घाट पर एक परमहंस रहते थे। वे नग्न रहा करते थे। जब मैं पहली बार बनारस गया था, तो मैने उनका फोटो लेने का प्रयास किया था। परंतु वह निष्फल हुआ। मैं जिधर मुड़ता था, उधर ही वे अपनी पीठ फेरते जाते थे। उस दिन मैं बहुत खिन्न रहा, लेकिन बादमें मुझे यह विचार आया कि ऐसे परम-हंस का फोटो लेना जंगलीपन है। अबकी बार मैं फिर उनके दर्शन करने गया, तो देखा कि वे वहां नहीं थे। किसीने कहा, गंगाजीमें कुछ दिन पहले बाढ़ आई थी, उसीमें वे बह गये। कुछ लोगोंने उन्हें बचानेका प्रयत्न भी किया, लेकिन उन्होंने लौटनेसे साफ इनकार कर दिया, और गंगाजीमें जल-समाधि ले ली।

काशीमें जिस प्रकार अनेक धर्म और अनेक सम्प्रदाय है, उसी प्रकार वहां स्थापत्य और शिल्पकलाके भी अनेक प्रकार हैं। दूसरे दिन हम उन्हें देखने निकले। सब देख-दाखकर शामके वक्त थियॉसॉफिस्ट लोगोंके सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेजमें पहुंचे। वहां सरस्वतीका एक छोटा-सा मन्दिर देखा। एक-दो बंगाली विद्यार्थी चद्दर ओढ़कर नंगे सिर घूम रहे थे। पास थियॉसॉफिकल लॉजमें श्रीमती बेसेण्टका व्याख्यान था। 'भविष्यका मनुष्य-प्राणी कैसा होगा?' इस विषय पर विवेचन हो रहा था। व्याख्यानके बाद हम लोग रामकृष्ण-सेवाश्रम पहुंचे। वहां ब्रह्मचारी चन्द्रशेखरं नामक एक साधु थे उन्होंने हमारा स्वागत किया। कई ब्रह्मचारी

संस्कृत पढ़ते थे। पासवाले रुग्णालयमें चारुबाबू रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा करते थे। सेवाश्रमका प्रबन्ध देखकर मैं खुश हुआ। इतनेमें दो-तीन बंगाली शहरसे तम्बूरा और तबला लेकर आये। उन्होंने तम्बूरे और तबलेके साथ गाना शुरू कर दिया। सन्त कवि रामप्रसादका गीत था। गायक अद्भुत थे। शामको जब घर लौटे, तो उसी गायनका स्वर कानोंमें गूंज रहा था।

आखिरी दिन हम कालभैरवके मंदिरमें गये। वहां हमने अपने हाथमें और गलेमें रेशमका काला धागा बांधा। मंदिरमें जाकर

तीक्ष्णदंष्ट्र महाकाय कल्पान्तदहनोपम।
भैरवाय नमस्तुभ्यं, अनुज्ञां दातुमर्हसि ।।

कहकर काशीजीके इस कोतवालसे आज्ञा ली, और त्रिस्थलीकी यात्रा पूरी करनेके उद्देश्यसे गयाजीके लिए रवाना हुए। मैं जानता था कि गयाके पण्डे यात्रियोंको बहुत तंग करते हैं, इसलिए गयाकी सारी विधियोंकी दक्षिणा और खर्चका पैसा अनंत भट्टजीको देकर हमने उनसे रसीद ले ली थी। इसमें उतनी ही सुविधा थी, जितनी टॉमस कुक कपनीको प्रवासका सारा खर्च देकर कूपन-बुक लेनेमे होती है।

हरएक हिन्दुस्तानीको जीवनमे एक बार वाराणसीके दर्शन अवश्य करने चाहिये।

४. गयाका श्राद्ध

दुनियाकी हरएक वस्तु मरती है, मरता नही अकेला एक भूतकाल। भूतकाल चिरंजीव है। महासागरोंमें भाटा आता है, चंद्रका क्षय होता है, कुबेर निर्धन होता है, पर्वत घुल जाते हैं, साम्राज्य स्मृति-पटलसे मिट जाते हैं, लेकिन लोकक्षय-कृत् भूतकालका क्षय नही होता। भूतकाल दिन-दिन समृद्ध ही होता जाता है। लेकिन आप उसका संग्रह नहीं कर सकते, क्योकि आप तो वर्तमानमें ही रहते हैं। यदि भूतकालका वृक्ष आपको अपने आंगनमें रखना हो तो आपके पास उसे सीचनेके लिए अमित स्मृतिजल होना चाहिये।

हरएक मनुष्यकी यह इच्छा होती है कि उसकी जड़ें भी भूतकालमें हों। अपनी संततिके द्वारा वह भविष्यमें तो पैर पसार सकता है, लेकिन भूतकालमें प्रवेश करनेके लिए पैर, भूतोंके समान, उलटे होने चाहियें। लेकिन मनुष्यने एक हिकमत खोज ली है। वह सालमें एक बार भूतकालमें बसनेवाले अपने पिता, पितामह और प्रपितामहका स्मरण करके उन्हें श्रद्धांजलि अर्पण करता है, और भूतकाल पर अपनी विरासतका अधिकार साबित करता है।

यों तो भूतकाल सर्वत्र रहता है; परंतु जिस प्रकार विष्णु वैकुण्ठमें रहते हैं, अथवा महादेव कैलाशमें रहते हैं उसी प्रकार भूतकाल गयाजीमें रहता है। आज इतने वर्षों बाद भूतकालमें आसानीसे प्रवेश करनेके विचारसे ही मैं फिर गयामें प्रवेश कर रहा हूं। हरएक हिन्दू गयाजी जाकर अपने पूर्वजोंका श्राद्ध करता है। पर आज मेरा जी गयाका ही श्राद्ध करना चाहता है।

हम रातको गया पहुंचे। मैं पहले एक बार वहां हो आया था, इसलिए वहां पहुंचने पर किसी तरहकी असुविधाका कोई डर न था। गया तीर्थस्थान है, इसलिए वहां हजारों या लाखों मनुष्य भी एक साथ आ जावे, तो भी असुविधाकी कोई आशंका नही रहती। हरएक घरमें कितने मनुष्य रह सकते हैं, इसका हिसाब म्युनिसिपैलिटीकी ओरसे कर लिया गया है। हमारे लोगोंको ज्यादा सुविधाओंकी जरूरत नहीं होती। इसलिए अगर दक्षिणाके विषयमें किसी प्रकारकी चख-चख न हो, तो यात्रा सुखसे हो सकती है। स्टेशन पर पहुंचते ही गयावाल पण्डोंके आढ़तिये आपके सामने हाजिर हो जाते है, और आप कहांके है? कहांसे आये है? वगैरा सवाल हिन्दुस्तानकी हरएक भाषामें पूछ लेते हैं। आप जिस भाषामें जवाब देते हैं, उसी भाषामें वे सम्भाषण शुरू कर देते है। ये आढ़तिये हिन्दुस्तानके किसी भी विश्वविद्यालयके स्नातक नही होते, फिर भी वे हिन्दुस्तानकी सभी भाषाएं जानते हैं, और यदि आपको उनके व्याकरण-ज्ञान पर आपत्ति न हो, तो वे सभी भाषाओंमें अस्खलित बोल भी लेते हैं।

मुझे याद नही पड़ता कि मेरे हिस्से कौनसा पण्डा आया था। मैं समझता हूं कि मैंने उसका दर्शन भी नही किया। उसके मुनीमका मुनीम मुझे स्टेशन पर मिला, और वहांसे एक उतारे पर ले गया। इस डरमें कि कहीं मै उसकी वाचालताका शिकार न हो जाऊं, मैंने पहले ही उससे कह दिया—"देखो भाई, मैं पहले एक बार यहां आ चुका हूं। यात्राके लिए आवश्यक सारा धन मैने अनंत भट्टको बनारसमें ही दे दिया है। उनसे तुम्हें मिल जायगा। अब यहां मुझे इन-इन सुविधाओंकी जरूरत है। उनके लिए ये पैसे लो। मुझे कल श्राद्ध करना है; लेकिन वह मैं कर्नाटकके नृसिंहाचार्यसे ही करवाऊंगा। उन्हें कल सवेरे आठ बजेसे पहले यहां भेज देना। दोपहरमे श्राद्ध खतम होनेके बाद तुम अपनी बही ले आना। मैं उसमें दस्तखत कर दूंगा। अब अधिक कुछ कहनेकी जरूरत नहीं है। जाओ, जो काम मैंने बतलाये हैं, सो करो और मुझे आराम करने दो।" मेरा यह मिजाज देखकर वह बेचारा चकरा गया, और बिना एक शब्द बोले मेरे कहे अनुसार इंतजाम करने चला गया। अगर मैं उसे अपना यह उग्र रूप न दिखाता, तो वह भलामानस अपनी आशाभरी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें मेरा कम-से-कम आधा घंटा तो जरूर ही बरबाद करता!

दूसरे दिन मैं फल्गु नदीके किनारे श्राद्ध करने गया। फल्गु नदी जमीनके नीचे बहती है। उसे सीताजीका शाप है। रेत खोदने पर पानी मिलता है। नदीमें हमेशा

यात्रियोंकी भीड रहती है, और उस भीड़मे हृष्ट-पुष्ट और रूपवान पण्डे सांड़ोंकी तरह दक्षिणाकी आशासे घूमते-फिरते दिखाई देते हैं। मैने नदीमे स्नान किया। उपले लाया। उन पर चरु तैयार किया। नृसिंहाचार्य आये। वे सब मंत्र जानते थे, उनके उच्चारण भी अच्छे थे, इसलिए मैने उन्हें पसंद किया था।

नदीके पाटमे बैठकर करने योग्य सारी क्रियाएं समाप्त करके मैं पिण्डके साथ गदाधरके मंदिरमे गया। वहा सैंकडों यात्री जगह-जगह कई कतारोमे बैठे हुए थे, और श्राद्धकी कवायद कर रहे थे। श्राद्ध-सदृश अत्यंत पवित्र भावनावाली धार्मिक क्रियाका जैसा यांत्रिक स्वरूप यहा देखनेको मिला, वह मुझे बहुत बुरा लगा। पग-पग पर दक्षिणाके लिए लड़नेवाले और अगर कोई गरीब, अज्ञानी यात्री मुहमागी दक्षिणा न दे पाये, तो उसके मरे हुए पुरखोको गालिया देनेवाले गयावालोंको देखकर यदि किसीको हिन्दू धर्मकी तरफसे निराशा हो जाय, तो उसे ज्यादा दोष नही दिया जा सकता। हम पिण्डदानके लिए धर्मशिलाके पास जा बैठे। धर्मशिला पर श्री विष्णुका पदचिह्न है। इस विष्णुपद पर लोग पिण्ड चढाते जाते हैं, और गाये आकर उन्हे खाती जाती है। यह सिलसिला बराबर जारी रहता है। पिण्ड-प्रदानकी क्रिया समाप्त होने पर गयापुत्रोसे यात्राका सुफल प्राप्त करना बाक़ी रह जाता है। इस वक्त गयापुत्र मनमानी दक्षिणा ऐंठ सकते है। हम उनके सामने हाथ जोडकर खड़े रहते है, और वे फूलोंकी मालासे हमारे हाथ बाध देते है, फिर जब तक उन्हे मनचाही दक्षिणा न मिले, तब तक हाथोंका बंधन छोडनेसे इनकार करते है। जेब गरम हो जाने पर माला तोड डालते है, तथा हमारी पीठ थपथपाकर यात्राकी सफलता घोषित करते है, और हमे विश्वास दिलाते है कि हमारे सभी पूर्वज सीधे स्वर्गको पहुच गये !

मै बनारसमे ही सारी दक्षिणा दे चुका था, इसलिए यहा साफ बच गया। हमारे मुनीम एक गयापुत्रको ले आय, और उसे मेरे सामने लाकर खड़ा कर दिया। गयापुत्र कोई बीस सालका रहा होगा। वह पीताम्बर पहने था। बदन पर रेशमी कमीज और जाकेट थी। बाल इंग्लिश तर्जके थे, और पोमेड लगाकर चमकदार बनाये गये थे। मैने बहुत यत्नपूर्वक अपनी सारी श्रद्धा एकत्र की, उसके सामने दोनों हाथ जोड़े और उन्हे मालामे बंधने दिया। गयापुत्र रूठनेकी तैयारीमे ही था कि इतनेमे मुनीमने कहा—"दक्षिणाके पैसे जमा करा दिये गये है।" गयापुत्रने माला तोड़ दी और वह चलता बना। वह गयापुत्र तो शायद मुझे भूल गया होगा, लेकिन मै उसे अभी तक नही भूला हू।

हमारे उपाध्यायने कहा—"गयामे आकर श्राद्ध करना मनुष्यके गृहस्थ जीवनका अंतिम कर्तव्य है। वह कर्तव्य सम्पन्न हुआ है। अब तुम्हे काम, क्रोध, लोभ, मोह मद, मत्सर, इन षड्रिपुओंका त्याग करना चाहिये। लेकिन इस कलियुगमे यह बात किसीसे होती नही। इसलिए उसके बदले किसी एक वस्तुका त्याग करना

चाहिये।" मैंने पूछा—"शक्कर छोड़ दूं तो?" आसपास खड़े हुए दस-पंद्रह आदमी यह सुनकर चकित रह गये। उन्होंने कहा—"शक्कर क्यों छोड़ी जाय?" मैंने कहा—"आज पांच सालसे मैं शक्कर खाता ही नही हूं।" उपाध्याय महाराजने सुझाया—"करेला या कद्दू-जैसी कोई चीज छोड़ दो।" मैंने कहा—"धर्मके साथ ऐसा कपट मैं नहीं करूंगा। मैं तो क्रोधका ही त्याग करनेका प्रयत्न करूंगा।" और, मन ही मन इसमें एक बात और जोड़ते हुए कहा—"और अंध-श्रद्धाका भी।"

गदाधरका मंदिर सुंदर है। नदीके पाटसे बहुत ऊंचाई पर होनेके कारण उसकी शोभा और भी बढ़ गई है। दोपहरमें हमने नृसिंहाचार्यके घर भोजन किया। गया-महात्म्यका श्रवण किया, और तुरंत ही बोधिगया जानेका निश्चय किया। गया-माहात्म्यका हिन्दू धर्म-शास्त्रोंमें एक अद्भुत प्रकरण है। निष्काम भावसे परोपकार करनेवाले गयासुरके तेजसे डरकर देवोंने षड्यंत्र रचा और उसमे साक्षात् श्रीविष्णुने भाग लेकर अत्यंत निर्दयतासे—और दगाबाजीसे भी कह सकते हैं—उसका खून किया। इस आशयकी एक कथा इस माहात्म्यमें है।

तो अब वह कथा सुनिये।

४-अ. गयाकी ख्याति

लोक-पितामह ब्रह्मदेवने असुर-वृत्तिसे असुर उत्पन्न किये, और सद्भावसे देव उत्पन्न किये। इन असुरोमें गयासुर महाबलवान और पराक्रमी था। उसका शरीर बहुत ही स्थूल था। असुरका नाम लेते ही महापापी, क्रूर, सबको सतानेवाले इन्द्र पर धाक जमानेवाले, अप्सराओंको उठा ले जानेवाले किसी मायावी और कपटी राक्षसका ही खयाल दिलमे आता है। लेकिन सभी असुर ऐसे नही होते। दानशूर बलिराजा भी असुर था। गयासुर भी इसी कोटिका असुर था। हमें यही देखना है कि उसके सामने देव कैसे दिखाई देते थे।

गयासुरको पवित्रताकी लगन लगी, और उसने कोलाहल पर्वत पर दारुण तप शुरू किया। हजारों वर्षो तक सांस थामकर तप करता रहा। इससे देव हमेशाकी तरह बहुत ही घबराये। अपनी परिपाटीके अनुसार सारे देव ब्रह्मदेवके पास गये। ब्रह्मदेव शंकरके पास, और शंकर विष्णुके पास। देवोंने अपने सनातन रिवाजके अनुसार विष्णुकी स्तुति की। विष्णुने उनकी घबराहटका कारण पूछा।

उन्होंने दुहाई देते हुए कहा—"गयासुरके संकटसे हमारी रक्षा करो।"

"तुम चलो, मैं अभी आकर गयासुरको वरदान देता हूं, और उसके तपका अंत करता हूं।" विष्णुने वचन दिया।

सबने मिलकर गयासुरसे वरदान मांगनेको कहा। गयासुरने मांगा—"मैं देव, ब्राह्मण, यज्ञ, तीर्थ, ऋषि, मुनि, ज्ञानी, ध्यानी, सबसे बढ़कर पवित्र होऊं।

देवोंने खुशीसे 'तथास्तु' कहकर वरदान दिया, और सब अपने-अपने घर गये।

लेकिन वहां तो 'लिखत सुधाकर लिखिगा राहु' वाली कहावत चरितार्थ हुई। गयासुरका पवित्र दर्शन करके उसका स्पर्श करके, सभी वैकुण्ठधामको जाने लगे। तीनो लोक खाली हो गये। यमपुरी उजड़ गई। इसलिए यम, इन्द्र आदि अधिकारी ब्रह्मदेवके पास जाकर शिकायत करने लगे—"यह लीजिये, हमारा त्यागपत्र! आप अपना दिया हुआ अधिकार लौटा लीजिये। अब हमारा कोई काम नही रहा।"

देवोंका समुदाय फिर विष्णुकी सेवामे पहुंचा। विष्णु गयासुरको सनद दे चुके थे, इसलिए उन्होंने देवोंको एक युक्ति सुझाई—"गयासुरके पास जाकर उसकी पवित्र देह यज्ञके लिए माग लो, और उस देह पर ही यज्ञ करो!"

ब्रह्मदेवको अपना अगुआ बनाकर सब देव गयासुरके पास गये। गयासुरने उनकी आवभगत करके उनके कुछ कहनेसे पहले ही उनका काम करनेका वचन दे दिया। ब्रह्मदेवने कहा—"यात्राके निमित्त मै काफी घूमा हूं, लेकिन तुम्हारे शरीरसे अधिक पवित्र स्थान मैने कही नही देखा। मुझे यज्ञ करना है। तुम अपना शरीर दो।"

गयासुर कृतकृत्य हो उठा। उसने ब्रह्मदेवसे कहा—"मेरे माता-पिताके दोनो वंश आज धन्य हो गये। तुम्हीने यह देह उत्पन्न की है, और तुम्हीने इसे पवित्र बनाया है। इसमें संदेह नही कि तुम्हारा यज्ञ सबके उपकारके लिए होगा। 'सर्वेषा-मुपकाराय यागोऽवश्यं भविष्यति'।"

ऐसे निर्मल भावसे प्रेरित होने पर गयासुर देह देनेमें क्यों देर करने लगा? वह आड़ा लेट गया। सृष्टिके रचयिता ब्रह्मदेवने यज्ञकी सामग्री और यज्ञके ऋषि वहीके वही उत्पन्न किये। इतने अधिक ऋषि उत्पन्न किये कि उनकी नामावलियो का पार न रहा! गयासुरके शरीर पर बडा भारी यज्ञ हुआ। ब्राह्मणोको दक्षिणा दी गई। यह समझकर कि गयासुर मर चुका, सबने उठाकर उसे एक बडे सरोवरमे डाल दिया। वहां तो वह हिलने लगा। हे भगवान! अब क्या करे? विस्मित ब्रह्म-देवने चिल्लाकर धर्मराज यमसे कहा—"तुम्हारे घरमे वह बड़ी भारी धर्मशिला पड़ी है उसे लाकर फौरन इसके सिर पर पटक दो। मेरी आज्ञा है। अब पाप-पुण्यका विचार न करो!"

यों माथे पर पत्थर रखे जाने पर भी असुर हिलने लगा। तब सब देवोने उसे अपने पैरोंसे अच्छी तरह रौंदा। तो भी असुर ठंडा न हुआ। अब ब्रह्मा व्याकुल हो उठे। विष्णु क्षीरसागरमें सो रहे थे। वे वहीं जा पहुंचे। द्वारपालने विष्णुको खबर दी। श्रीविष्णुने ब्रह्माको अंदर बुलाकर आनेका कारण पूछा। ब्रह्माने कहा—

"हमने यज्ञ किया, देवरूपिणी धर्मशिला उसके ऊपर पटक दी, रुद्र वगैरा सब देव उस पर बैठे, तो भी वह निश्चल नहीं होता। अब आप ही हम पर दया कर सकते हैं।"

विष्णुने अपने शरीरमे मूर्ति निकालकर ब्रह्मदेवको दी। उसका बोझ काफी न हुआ। आखिर क्षीरसागरसे विष्णु खुद आये और शिला पर खड़े हो गये। उनके हाथमें पुराण-प्रसिद्ध गदा थी। विष्णुके साथ गायत्री, सावित्री, सरस्वती, लक्ष्मी, सीता, यक्ष, गंधर्व, इंद्र, बृहस्पति आदि सब देवी-देवता आकर गयासुरके शरीर पर खड़े हो गये। तब कहीं वह असुर स्थिर हुआ!

जिसने 'सर्वेषामुपकाराय' अपनी देह-सहित सर्वस्व दे दिया था, उसके हृदयको इस कपटमे आघात पहुंचा। आंतरिक वेदनाके साथ उसने देवोंसे पूछा—"तुमने मुझे ऐसा धोखा किसलिए दिया? मैने अपना निर्मल शरीर ब्रह्मदेवको यज्ञके लिए अर्पण किया था। क्या विष्णुके वचनमात्रसे ही मैं निश्चल न हो जाता, जो तुमने और विष्णुने अपनी गदासे मुझे इतनी पीड़ा पहुंचायी! खैर, मुझे पीड़ा पहुंचानेका ही तुमने निश्चय कर लिया हो तो वही सही। मेरी यही इच्छा है कि उससे तुम सबको सदा संतोष हो।"

उचे गयामुरो देवान् किमर्थं वंचितो ह्यहम्?
यज्ञार्थं ब्रह्मणे दत्तं शरीरममलं मया॥
विष्णोर्वचनमात्रेण किं न स्यां निश्चलो ह्यहम्?
यत्सुरैः पीडितोऽत्यर्थं गदया हरिणा तथा।
पीडयश्च यद्यहं देवाः प्रसन्नाः संतु सर्वदा॥

देव लज्जित हुए या नहीं, इस संबंधमें माहात्म्य चुप है। लेकिन उन्होंने गया-सुरसे कहा—"हम तुझ पर प्रसन्न हैं। वरदान मांग।" गयासुरने वरदान मांगा—"जब तक यह पृथ्वी, ये पर्वत, ये चंद्र, सूर्य और तारे हैं, तब तक ब्रह्मा, विष्णु, महेश और दूसरे सारे देव, त्रिलोकके सारे तीर्थ, गंगादि समस्त नदियां सब मेरे मस्तक पर रखी हुई इस शिला पर रहें, और मेरे लिए लोगोंका कल्याण करें। यहां जो लोग स्नान, तर्पण और श्राद्ध करें, उनकी हजार पीढ़ियोंका उद्धार हो। उनके सब पाप धुल जायं। सभी तीर्थ लोगोंके लिए कल्याणकारी हों। इससे अधिक मैं और क्या मागूं? तुममेंसे एक भी देव यहांसे कहीं न जाय। यह वचन अवश्य निबाहना। 'समयः प्रतिपाल्यताम्।"

देवोंने 'तथास्तु' कहा। दैत्य हर्षित हुआ, और सदाके लिए निश्चल हो गया।

० ० ०

इस महत्कृत्यके बाद ब्रह्मदेवने देवोंकी उपस्थितिमें वह सारी भूमि और पांच-पांच गांव ब्राह्मणोंको दे दिये। उनके लिए सब प्रकारके साज-सामानसे सजे हुए घर बनवा दिये। कामधेनु दी, कल्पवृक्ष, पारिजातक आदि वृक्ष दिये, दूधकी

नदियां दीं, घीके तालाब दिये। शहदके कुएं दिये, दहीके सरोवर दिये, अन्नके पर्वत दिये, भक्ष्य-भोज्य फलोंकी सुविधा कर दी, और ब्राह्मणोंसे कहा—"अब तुम किसीसे कुछ न मांगना।" गदाधरको प्रणाम कर ब्रह्मदेव ब्रह्मलोकको सिधारे।

लेकिन ब्राह्मणोंसे रहा न गया। उन्होंने धन लेकर यज्ञ करना शुरू किया। यज्ञका धुआं स्वर्ग तक पहुंचा, तब ब्रह्माने आकर उनसे सब कुछ छीन लिया।

'तुम लोग हमेशा लोभी ही रहोगे,' यह कहकर ब्रह्माने उन्हें शाप दिया। ब्राह्मण रोने लगे—"हमारी गुजर-बसरका कुछ प्रबंध कीजिये।" ब्रह्माने दयाभावसे कहा—"अब तो तुम भीख मांगोगे, तभी मिलेगा। हमेशाके लिए तुम्हारे भाग्यमें तीर्थका पौरोहित्य ही रहेगा। तुम्हारी पूजाके द्वारा ही लोग मेरी पूजा करेंगे। ऐसे उन ब्राह्मणोंके वंशज हैं ये गयावाल पण्डे!

० ० ०

और संकटके अवसर पर ब्रह्मदेवको जिस धर्मशिलाका स्मरण हुआ, उसका माहात्म्य क्या है, सो भी सुन लीजिये।

एक पवित्र साधुके धर्मव्रता नामकी एक कन्या थी। वह सर्वलक्षण-संपन्न थी। गुणोंमें लक्ष्मीसे भी बढ़ी-चढ़ी थी। ब्रह्मदेवके परम तपस्वी पुत्र मरीचिसे वह ब्याही गई थी। बुढ़ापेमें एक दिन मरीचि जंगलमे फल-फूल लाने गया। वहांसे वह थककर आया। धर्मव्रताने अपने थके हुए पतिके पैरोंमें घीकी मालिश शुरू की। थकावट जैसे-जैसे उतरती गयी, वैसे-वैसे ऋषिको नीद आने लगी। इतनेमें वहां ब्रह्मदेव आ गये। अपने ससुरको देख सती उठ खड़ी हुई; क्योंकि वे गुरुके गुरु थे। उन्हें पांव धोनेके लिए पानी देकर बहूने ससुरकी पूजा की, और एक सुंदर बिस्तर उनके लिए लगा दिया। इतनेमे मरीचि जागे। स्त्रीको पास न देख वे गुस्सेमें अपनी पत्नीको शाप दे बैठे—"मुझसे बिना पूछे तू मेरे पैर दबाना छोड़कर चली गई, इसलिए जा, तू पत्थर बन जा!" सतीको सहज ही बात बुरी लगी। वह बोली—"घरमे पिताके आने पर उनकी सेवा-पूजा करना आपका कर्तव्य था। आपकी धर्मपत्नीके नाते मैंने वह किया। इसमें मेरा क्या दोष?" मरीचि मुनिके ध्यानमें अपनी भूल आ गई। दोनों मिलकर हरिकी शरणमें गये, और उनसे प्रार्थना की कि हमारी रक्षा करो। इतनेमें ब्रह्मदेव भी निद्रासे जागे। सबने सतीके तपकी मुक्तकठसे प्रशंसा की; लेकिन साथ ही यह भी कहा—"तेरे पतिके शापका निवारण करनेकी शक्ति हममेसे किसीमें नही है। अतः तू ऐसा कोई दूसरा वरदान मांग ले, जिससे धर्मकी रक्षा हो।" सतीने वरदान मांगते हुए कहा—"यदि मेरे पतिके शापका निराकरण करनेकी शक्ति आपमें नही है, तो मुझे यह वरदान दीजिये कि नदी, नद, सरोवर, तीर्थ, देव, ऋषि, मुनि, मुख्य-मुख्य देवता और सभी यज्ञक्षेत्र मुझमें आकर बसें। सारे ब्रह्माण्डकी पावनी शिला मैं बन जाऊं। मुझे देखते ही सब लोग पातकों और उप-पातकोंसे मुक्त हो जायं। शिला पर जो लोग श्राद्ध करें, उन्हें और उनके

कुलको विष्णुलोक मिले। और जब तक यह ब्रह्माण्ड रहे, तब तक यह शिला भी रहे।" देवोंने यह वर दे दिया। परंतु वे फिर पछताये। क्योंकि सभी लोग उस शिला को छू-छूकर वैकुण्ठ जाने लगे। यमराज घबराये। उन्होने अपना अधिकार और अपना यमदंड ब्रह्मदेवको सौपते हुए कहा—"अब मेरा कोई काम रहा ही नही।" ब्रह्माने यमराजसे कहा—"उस शिलाको उठाकर अपने घरमे रख लो, और निश्चित हो जाओ।" तब यमराज फिरसे लोगो पर शासन करने लगे, और धर्म-शिलाकी केवल कीर्ति ही रह गई।

गयासुरके शरीर पर यज्ञ करनेके पश्चात् भी जब गयासुर हिलता रहा, तो ब्रह्मदेवने यमराजसे यही शिला मागी थी। उस शिलामे सारे तीर्थोंकी अवस्थिति होनेके कारण वह अत्यंत भारी और अत्यंत पवित्र हो गई थी।

० ० ०

विष्णु जिस गदाको हाथमे लेकर गयासुरकी देह पर खड़े हुए थे, उस गदाकी एक कथा है। वज्रसे भी दृढ और मजबूत गद नामक असुरसे ब्रह्मदेवने उसकी हड्डिया माग ली थी, और विश्वकर्मासे उन हड्डियोकी एक वज्रगदा बनवाई थी। यह गदा हेति नामक एक महा बलवान राक्षसको मारनेके लिए श्रीहरिको दी गयी थी। क्योकि देवोके शस्त्रास्त्रोसे उसका वध नही हो सकेगा, ऐसा वरदान उसे स्वयं ब्रह्मदेवने ही दिया था।

० ० ०

ऐसे-ऐसे पुण्य प्रसगोसे प्रसिद्ध हुई भूमि पर—

लोकानां रक्षणार्थाय जगतां मुक्ति-हेतवे।

श्री आदिगदाधर लक्ष्मीके साथ खडे हैं। वहा जो कोई यात्राके लिए जाते है, उनकी मनोकामनाये पूर्ण होती है। लेकिन शास्त्रोमे लिखा है कि वहा जानेवालेको ब्रह्मचारी और सयमी रहना चाहिये; शुद्ध और संतुष्ट रहना चाहिये; दान नही लेना चाहिये; अहंकारसे निवृत्त रहना चाहिये; जितेंद्रिय और दानशील होना चाहिए; तभी उसे तीर्थफल मिलेगा।

कामं क्रोधं तथा लोभ त्यक्त्वा य. सत्यवाक् शुचिः।
सर्वभूतहिते रक्तः स तीर्थफलमश्नुते ॥
तीर्थान्यनुसरन्धीरः पाखण्डं पूर्वतस्त्यजेत्।
पाखण्डं तच्च विज्ञेयं यद्भवेत्कर्म कामतः ॥

धर्मव्रताको शाप देनेवाले मरीचिको महादेवने यह शाप दिया कि—'जा, तू दुःखी हो।' लेकिन इसका पश्चात्ताप देखकर उसे यह उःशाप दिया कि 'गयामे तेरी मुक्ति होगी।' मरीचिने शिलाके पास बैठकर दुष्कर तप आरंभ किया। ऐसा तप बहुतेरे पश्चात्ताप-दग्ध पतियोंको नसीब होता होगा! महादेवके शापसे जो

मरीचि काला पड़ गया था, तप द्वारा वह शुक्ल हो गया, और हरिके वरदानकी बदौलत स्वर्गलोकको गया।

'इति श्रीवायुपुराणे श्वेतवाराहकल्पे गयामाहात्म्यं संपूर्णम्।'

जो कोई यह पुण्य गयाख्यान विचारपूर्वक और मननपूर्वक पढ़ेगा या सुनेगा, उसे अच्छी गति मिलेगी।

५. बोधिगया

बोधिगया कोई ऐसा-वैसा तीर्थ नही है। बोधिगयाका नाम सुनते ही माथा भक्तिसे झुक जाता है। पुराने जमानेमे इस स्थानको 'उरुवेला' कहते थे। आजसे ढाई हजार वर्ष पहले नेरंजरा नदी के तीर पर इस वनमे एक पीपलके पेडके नीचे एक युवक बैठा था। उसका शरीर सूखकर काटा हो गया था। दोनो आखे दो आलोके समान गहरी हो गई थी। परतु उनसे दया, तप और तेजका अमृत टपकता था। छाती की एक-एक पसली गिनी जा सकती थी। दाढी, मूछ और बाल बढे हुए थे। लंबे-लंबे नख दीर्घ उपवासके कारण सफेद पड़ गये थे। बाहरमे वह युवक बिलकुल शात दिखाई देता था। परतु उसके अभ्यंतरमे महायुद्ध चल रहा था। भारतीय युद्ध तो दिन डूबते ही वद हो जाता था, पर इसका युद्ध अहोरात्र चलता था। भारतीय युद्ध अठारह दिनमे समाप्त हो गया। इसका युद्ध तो अठारह दिन बाद रग लाया। यह युद्ध किसी व्यक्तिके विरुद्ध नही, मनुष्यके सनातन शत्रु मार (काम) के विरुद्ध था। इस युद्धमे मनुष्य-जातिके हितके लिए लडनेवाला वह एकाकी वीर दृढ निश्चय करके बैठा था : "मनुष्य-जातिका दु.ख अब मुझसे देखा नही जाता। क्या मनुष्य अनंत काल तक इस तरह दु.ख सहनेके लिए ही पैदा किया गया है? इस दु.खकी दवा कही न कही तो होनी ही चाहिये। अगर हो तो इस जीवनकी इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है कि यह उस औषधिकी शोधमे बिताया जाये? और, अगर उस औषधिका मिलना ही असभव हो तो फिर इस जीनेमे ही क्या धरा है?"

वहां वह नौजवान ही नही बैठा था, बल्कि भारतकी सनातन श्रद्धा सजीव होकर बैठी थी। नवयुवकोके कुलगुरु, आस्तिकताके सागर, निर्भयताकी मूर्ति, भगवान नचिकेताका अवतार था। अक्षय्य धाम मांगनेवाले राजपुत्र ध्रुवकी परंपराका वह अनुयायी था; कारण उसकी निष्ठा भी उतनी ही ध्रुव थी। युवकने यह प्रण कर लिया था कि चाहे इसी आसन पर शरीर सूखकर काठ हो जाय, मांस और चमड़ी हवामें मिल जाय, परन्तु जब तक इस भवरोगकी पीड़ाका नाशक बहु-

कल्पदुर्लभ बोधि (ज्ञान) नही मिलेगा, तब तक यह शरीर यहांसे टस-से-मस नहीं होगा ।

आज तक ऐसा एक भी उदाहरण देखनेमें नहीं आया, जिसमें सत्य संकल्प विफल हुआ हो। युवकको संतोष हुआ। सिद्धार्थका नाम सार्थक हुआ। राजपुत्र गौतम, गौतमके बदले अब बुद्ध हो गया। उसी क्षण एक श्रद्धावान साध्वी थालीमें पायस (खीर) लेकर वहां आई, और उसने वह बरान्न उस वनदेवको अर्पण किया ।

यही स्थान बोधिगया है। जिस पुरातन अश्वत्थ (पीपल) वृक्षके नीचे भगवान बुद्धने यह अंतिम साधना की, उसके सामने आज एक भव्य मंदिर खडा है। बगलमें चंक्रमण* का स्थान है । आसपास प्राचीन ऋषियोंके समान बड़े-बड़े वृक्ष हैं। इन वृक्षोंने कितनी ऋतुएं सही होंगी, कितने प्राणियोंकी सहायता की होगी, और कितने साधकोंकी श्रद्धा-भक्तिके ये साक्षी रहे होंगे !

हम पहले एक पेड़के नीचे बैठे। कुएंसे पानी निकालकर हाथ-पैर धोये। पानी पिया। फिर अंत:करणसे मंदिरमें दर्शन करने गये। मंदिरके भीतर बुद्ध भगवानकी भव्य मूर्ति थी। उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके हम मंदिर पर चढ़े और गुम्बद के आसपास घूमे। कारीगरीमे भव्यता है, लेकिन मार्दव या नवीनता नही। नीचे उतरकर मंदिरकी परिक्रमा की। ज्यों-ज्यों मैं परिक्रमा करता था, त्यों-त्यों मेरा भाव बदलता था। सारा जीवन दृष्टिके सामने खड़ा हो गया। और तुरन्त दृष्टि शून्य हो गई। पानीमे तैरनेवाला तैराक डुबकी लगाकर जब गहरा और गहरा पैठता जाता है, तब जिस प्रकार निर्भय होते हुए भी वह भयभीत-सा हो जाता है, कुछ वैसी ही इस क्षण मेरी स्थिति हुई । जीवनके पृष्ठभाग (सतह) पर तो मैंने खूब विचरण किया था। खूब तैरा था। परंतु इस बार मैं गहराईमे उतरा। ऐसी स्थिति पहले एक ही बार ध्यानमे हुई थी । परंतु इसकी तुलनामे वह स्पर्शमात्र थी। मेरी परिक्रमाएं पूरी होने पर मै पिछवाड़ेके अश्वत्थको वंदन करने गया। घरका त्याग कर मै हिमालयकी ओर जा रहा था। भविष्य मेरे सामने अज्ञात था। मैंने अपनी नावकी सारी रस्सियां काट डाली थी। सारी पतवारें चढ़ा दी थी। मेरी नौका फिरसे अपने पुराने बंदरगाहमें लौटेगी, यह धारणा उस समय नही थी। उस समयकी मनोवृत्तिका वर्णन कैसे हो सकता है? मै बाहरसे शांत था लेकिन भीतर मनोज्वालामुखी धधक रहा था। मुझे यह भान था कि मैं कोई त्याग कर रहा हूं। मैं जानता था कि यह भान आध्यात्मिक उन्नतिमे बाधक होता है। परंतु फिर भी वह मिटता नहीं था। इतनेमें अन्दरसे एक आवाज आई—"त्याग करना सहज है । लेकिन किये हुए त्यागके योग्य बननेमें ही पुरुषार्थ है।" अहंकारके

* चंक्रमण=धर्मचिंतन करते हुए चक्कर लगाना।

लिए इतनी फटकार बस थी। मैं उठा और पासवाले तालाबके किनारे जा बैठा।

तालाबमें असंख्य फूल खिले थे। लेकिन उनकी तरफ मेरा चित्त—हमेशाका कला-रसिक चित्त—आकर्षित नहीं हुआ। वहांसे उठकर पासकी एक गढ़ीको देखने चला गया। उसमें कई साधु रहते थे। वह किसी महन्तके अखाड़े-जैसी दीख पड़ी। लेकिन उसके विषयमें पूछताछ करनेका मन न हुआ। मैं खूब घूमा, हिमालयमे रहकर साधना की, और समाधान प्राप्त किया; परन्तु बोधिगयाका उस दिनका अनुभव कुछ और ही था।

६. बेलुड़ मठ

बोधिगयासे हम बंगालको चले। बंगालमे हम पहले-पहल जा रहे थे। रेतमे रात बिताकर सवेरे जागते ही 'सुजला सुफला मलयजशीतला' बगभूमि का दर्शन हुआ। बंगाल यानी छोटे-बड़े तालाबोंकी भूमि। वहांके लोग उन्हे पुकुर कहते है। पुकुर यानी पुष्कर। बंगालका मेरा प्रथम परिचय बहुत आनन्ददायक सिद्ध नही हुआ। रातको सोते समय दिलमे यही विचार आते थे कि रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्दकी बंगभूमि देखनेका मौका मिलेगा। विपिन पाल और अरविंद घोषकी पुण्यभूमिके दर्शन होंगे। खुदीराम बोस और कन्हैयालाल दत्तका बंगाल मैं सवेरे उठकर देखूंगा। 'आनन्द मठ' और 'देवी चौधरानी' मे वर्णित भूमिका साक्षात्कार होगा।

इस तरहके मधुर विचारोंमें डूबा हुआ मैं सो गया। बैसाख का महीना था, इसलिए बाबाजीने अपने कपड़े उतारकर डिब्बेके ऊपर टांग दिये और वे भी सो गये। सवेरे उठकर देखते हैं, तो कपड़े गायब! बंगालके दारिद्रय पर दया आई। दिलमें यह विचार आया कि कपड़े ले जानेवाले व्यक्तिको मै उसी वक्त देख पाता, तो अपने कपड़े भी उतारकर उसे दे देता। मैने कलकत्ते जाकर कपड़े उतारे और हरिद्वार पहुंचकर वहांके रामकृष्ण सेवाश्रमको अपने सारे कपड़े दे डाले। लेकिन उसका कारण दूसरा था।

ट्रेन लिलुआ स्टेशन पर ठहरी। हम उतरे। वहां जाकर हमने विवेकानन्दके बेलुड़ मठकी पूछ-ताछ की। लेकिन किसीको बेलुड़ मठका पता न था। चारों खण्डोंमें विख्यात विवेकानन्दके मठका पता लिलुआ स्टेशन पर कोई भी नही जानता था! कितने अफसोसकी बात है? भटकते-भटकते हम बेलुड़ गांवमें जा पहुंचे। वहां एक वृद्ध 'भद्र पुरुष' मिले। उन्होंने सज्जनतापूर्वक कहा— "चलिये, मैं आपको बेलुड़ मठ तक पहुंचा दूं।" सवेरेसे अब तक मिले जवाबोंके बाद मैंने किसीसे इतनी सज्जनताकी आशा नहीं की थी। हम उनके पीछे-पीछे चले। लेकिन

वाह रे दुर्दैव ! वृद्ध महाशयका वेग चींटीके वेगसे बढ़ता ही न था। समय नष्ट होनेके दु:खकी अपेक्षा हमारे लिए इस वृद्ध मनुष्यको इतनी तकलीफ उठानी पड़ रही है, इसीका मुझे ज्यादा दु ख हुआ। मैने कहा—"महाशय, मैं अपना रास्ता खोज लूंगा। आपको तकलीफ नही देना चाहता।" उन्होंने कहा—"नहीं, नहीं; मुझे भी मठमें ही जाना है।" फिर क्या था ? अब तो हमें भी चींटीकी चालसे रेंगनेके सिवा चारा ही न रहा।

बेलुड मठमें रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्दकी समाधियां हैं। मठ गंगानदीके तट पर है। एक छोर पर दीपस्तंभकी तरह लाल दीया भी है। हमने जाकर मठपति स्वामी प्रेमानन्दजीको प्रणाम किया। 'आओ बैठो', कहकर वे अपने काममें मशगूल हो गये। इतनेमें एक-दो ब्रह्मचारी हमारे पास आये। उनमेसे एकने मुझसे पूछा—"आप वापस कब जायेंगे ? यहां कितने दिन रहना चाहते हैं ?" मै कबूल करता हूं कि इस प्रकारके स्वागतके लिए मैं तैयार नही था। मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो मैं एक अनचाहा पाहुना हूं ! मैने कहा—"भाई, मैं तो कल ही जानेवाला हूं।" इतना अभयदान देनेके बाद मैं समझा कि अब बात करनेमें हर्ज नही है। एक सज्जनसे मैंने पूछा—"स्वामी विवेकानन्दकी समाधि कहा है ?" उन्होंने कहा—"समाधि अभी बन रही है। स्वामीजी महाराजकी संगमरमरकी मूर्ति तैयार है, जो अभी समाधिके कमरेमे रखी है। वह मै आपको दिखा सकता हूं।"

मै काशी और गयाकी त्रिस्थलीकी यात्रा करके आया था। किन्तु जिनके धर्म-ग्रंथोंके कारण मुझमें फिरसे धर्मश्रद्धा स्थापित हुई, उन स्वामी विवेकानन्दकी समाधिका दर्शन मेरी दृष्टिमे एक महायात्रा थी। पग-पग पर मेरे हृदयमे श्रद्धा और भक्तिकी उमंगें उठने लगी। बस, चालीस-पचास कदम चलनेके बाद ही मेरे वर्षोंके चिरसचित मनोरथ पूर्ण होंगे, यात्राका सुफल मिलेगा, संशयवादकी सुषुप्तिमें गाफिल पड़े हुए भारतवर्षको अमेरिकाकी सर्वधर्म-परिषद्के व्यासपीठ परसे जगानेवाले स्वामी विवेकानन्दके, प्रस्तर-मूर्तिके रूपमें ही क्यों न हों, दर्शन होंगे, यह मेरे अधीर और व्याकुल हृदयके लिए कम महत्त्वकी बात न थी। हम समाधिवाले कमरेमें पहुंचे। मैंने अत्यंत-भक्तिभावसे साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया, और एक क्षणके लिये बेसुध-सा हो गया।

मैं वापस लौटा। नदीके घाट पर नहाया। घाटके पास पानीकी बड़ी-बड़ी कोठियां एक कतारमें रखी हुई थी। उस तरफ ध्यान जाने पर मैंने वहांके एक ब्रह्मचारीसे उनका प्रयोजन पूछा। उन्होंने कहा—"गंगा यहां समुद्रसे बहुत दूर नही है; इसलिए जब समुद्रमें ज्वार आता है, तब नदीका पानी खारा हो जाता है। और जब भाटा आता है, तो पानी मीठा रहता है। इस कारण भाटेके वक्त हम पीनेका पानी इन कोठियोंमें भरकर रखते हैं।"

नहा-धोकर मन्दिरमें प्रवेश किया। वहां ऊपरकी मंजिलमें रामकृष्ण परमहंसकी अस्थियां तांबेके एक डिब्बेमें रखी हुई हैं, और उस डिब्बे पर रामकृष्ण परमहंसका एक छोटा-सा फोटो रख दिया गया है। उसकी पूजा होती है। पीछे की तरफ ध्यानके लिए छोटी-सी कोठरी है। यह व्यवस्था मुझे बहुत पसन्द आई। ध्यानकी कोठरीमें हमेशा शान्ति रहती है। चाहे जितने लोग ध्यान करें, तो भी एक के कारण दूसरेके ध्यानमें बाधा नहीं पड़ती। लोग बिना आवाज किये अन्दर आ कर बैठते हैं; और उसी तरह चुपचाप बाहर चले जाते हैं।

आमतौर पर बंगाली इस बातका खास ध्यान रखते हैं कि सभामें उनके आने-जानेसे दूसरोंको तकलीफ न हो। अगर बहुतसे लोग बैठे हों, और उनके बीचमें जाना पड़े, तो नीचे झुककर जिस दिशामें जाना है उसकी सूचनाके लिए हाथ बढ़ाये हर एकसे माफी चाहनेका-सा भाव धारण किये मनुष्य उस भीड़मेसे निकल जाता है।

ध्यान मन्दिरमें बैठकर हमने ध्यान किया। परमहसकी समाधिके सामने बैठकर गीता और उपनिषदोंका पाठ किया। मैने देखा कि मेरे इस स्वाध्याय और संस्कृतके शुद्ध उच्चारणके कारण वहांके ब्रह्मचारियोंमे मेरी प्रतिष्ठा कुछ बढ़ी।

मन्दिरसे वापस मठमें गये। वहां दुतल्ले पर स्वामीजी महाराजका कमरा था। इस कमरेकी जो स्थिति स्वामी विवेकानन्दके वक्त थी, वही ज्योंकी त्यों आज तक कायम रखी गई है। स्वामीजी महाराजके सोने की गद्दी, उनका साफा, 'अलखल्ला' (अंगरखेकी-सी कफनी) और कनटोपी तथा उनका बड़ा भारी कमण्डलु, हुक्का वगैरा सारी चीजें बड़े जतनसे एकत्र रखी गई हैं। मेरे जैसे प्रेक्षकोंको कमरे के अन्दर जानेकी इजाजत नही मिल सकती। दरवाजेमें ही आड़ा 'खटका' लगा हुआ था; वहांसे मैंने झांक-झांककर देखा और हम लौटे। जब एक अज्ञात भिखारी की तरह वे सारे देशमें घूम-घूमकर हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाजकी आधुनिक स्थितिका निरीक्षण करते थे, उस वक्त उनके साथ जो बड़ा कमण्डलु भी घूमता था, उसीने मेरा ध्यान अधिक खींचा। मैं विचार करने लगा कि इस कमण्डलुके पेटमे कितने कीमती अनुभव समाये हुए होंगे?

दोपहरमें भोजनका समय हुआ। मैं जानता था कि बंगाली लोग मछली खाते है इसलिए मैंने मठपतिको खासतौरसे सूचित कर दिया कि मै शाकाहारी हूं। उन्होने कहा—"तुम डरो मत। तुम्हें यहां शाकाहार ही मिलेगा।" हम भोजन करने बैठे। बंगाली भोजन चखनेका यह मेरा पहला ही मौका था। बंगालियोंका मुख्य आहार भात और शाक ही हे। खाते समय शाक इतने प्रकारके और इतने विपुल देखे कि मेरे मनमें सहज ही यह शंका उठी कि शाकके लिए भात है या भात के लिए शाक! एक वर्षसे मैंने मिर्च-मसाले छोड़ दिये थे, और यहां तो शाकमें मिर्चका उपयोग उदारतासे किया गया था। हरएक निवालेके साथ मुझे पानी पीना

पड़ता था। इतनेमें मैंने देखा कि मेरी पत्तल पर, यानी केलेके पत्ते पर घीके जैसा कुछ जमा है। मैं समझा, अब मिर्चकी दवा मिल गई। परन्तु दुर्भाग्यसे वह भी भूने हुए आलूओंका कचूमर निकला, जिसमें हरी मिर्चें पड़ी थीं।

प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः।

भोजनके बाद मैं बगीचेमें हाथ धोने लगा। मैंने सोचा, हाथ धोनेका पानी चाहे जहां डाल देनेके बदले फलवाले पेड़ोंको मिले तो अच्छा हो। ज्यों ही मैंने हाथ धोना शुरू किया, दो-तीन ब्रह्मचारियोंने हाहाकार मचा दिया। वे मुझे अंग्रेजीमें ठीक-ठीक समझा न सकते थे, और मैं उनकी बंगला भाषा समझ नहीं सकता था। निदान मुझे यह पता चला कि इस पेड़के फूल ठाकुरजीको चढ़ाये जाते हैं, इसलिए उसे जूठा पानी नही देना चाहिए।

मैं अनजान आदमी था, और मेरा यह पहला ही अपराध था, इसलिए एक भाईने मुझे क्षमा कर देनेका प्रस्ताव पेश किया। और मैंने देखा कि उनमेंसे कुछने तो उदारतामे और दूसरोंने सजा करनेका कोई उपाय न सूझनेके कारण यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

दक्षिणी स्वच्छताका मेरा अभिमान चूर-चूर हो गया। सच ही तो है कि पूजाके फूलके पौधोंको जूठा पानी कैसे दिया जा सकता है? कर्नाटकमें लिंगायत लोग अपनी जातिके लोगोंके हाथोंका ही पानी पीते हैं। यही नहीं, चुस्त लिंगायत जिस गायका दूध पीता है, उस गायके लिए घास और पानी भी लिंगायतका ही लाया हुआ होना चाहिए! शास्त्रमें लिखा जो है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।

दोपहरमें ब्रह्मचारियोंको फुरसत थी। इसलिए उनके साथ बातचीत करनेमें समय बिताया। ब्रह्मचारियोंमें एक मुसलमान था। वह भी कालीका उपासक बन गया था, और परमहंसके उपदेशका अनुवाद करनेमें समय व्यतीत करता था। उसने मुझसे पूछा—'क्या तुमने गुरु महाराजका उपदेश पढ़ा है?' मैंने कहा—'जी हां।' मेरी परीक्षा लेनेके लिए उसने एक सवाल पूछा—'बताओ काली का वर्ण श्याम क्यों है?' मैंने कहा—'श्यामवर्ण आकाशका है, आकाश अनन्त है, काली भी अनन्त है, इसलिए काली भी श्याम है। उसने कहा—'ठीक है।' चूंकि मैं पास हुआ था, इसलिए उनके वाद-विवादमें शरीक होनेके लायक माना गया। उनसे प्रतिप्रश्न पूछनेकी मुझे इच्छा हुई। मैंने कहा—'स्वामी विवेकानन्द की 'काली द मदर' (काली माता) नामक कविताका रहस्य मुझे समझाइये।' उन्होंने कहा—'चलो, स्वामी प्रज्ञानन्दके पास चलें; वे समझायेंगे।' मेरी बाजी बिगड़ गयी। देर तक परिहास करनेकी मेरी वृत्ति नहीं थी। परन्तु स्वामी प्रज्ञानन्दके पास जाने पर मुझे गम्भीर मुँह बनाकर जिज्ञासु बनना ही पड़ा। उन्होंने मुझसे कहा—'तुम उस कविताका क्या रहस्य समझे हो? मैंने संक्षेपमें कह दिया। उन्होंने

कहा—'ठीक है।' इस तरह मैंने छुटकारा पाया।

ये स्वामी प्रज्ञानन्द जानने योग्य व्यक्ति थे। उनका असली नाम था देवव्रत बोस। वे एक प्रसिद्ध ब्राह्मो थे। उनके मित्रोंमें उनकी बहुत ख्याति थी। वे अलीपुर बमकेसमे पकड़े गये थे, परन्तु अन्तमें छोड़ दिये गये। उनका मुकदमा कई दिनों तक चलता रहा। उतने समयके लिए उन्हें जेलमें रहना पड़ा था। कई लोगों को जेलमें ही पहली बार एकांत मिलता है, और वहां आत्म-परीक्षण करके वे अपने जीवनका सारा प्रवाह ही बदल डालते हैं। देवव्रत बोसके साथ ऐसा ही हुआ। वे ब्राह्मोंसे वेदांती हो गये, और संन्यासकी दीक्षा लेकर प्रज्ञानन्द बन गये। बेलुड़ मठमें आनेके बाद उन्होंने 'उद्‌बोधन' नामक बंगला मासिक पत्रिकामे 'भारतेर साधना' शीर्षक एक सुन्दर लेख माला लिखी थी, जिसमे इस बातकी बहुत सुन्दर चर्चा की गई थी कि हिन्दुस्तानके लिए ईश्वरने कौनसा काम नियोजित किया है। कुछ दिनों बाद ये स्वामी हिमालयमें मायावती मठके मठपति बने, और 'प्रबुद्ध भारत' मासिक पत्रका संचालन करते रहे। कुछ वर्षो तक यह काम करनेके बाद वे समाधिस्थ हुए।

मुझे 'गॉस्पेल ऑफ श्रीरामकृष्ण' (श्रीरामकृष्ण-कथामृत) के लेखक श्री 'एम' से मिलना था। और हो सके तो रामकृष्ण परमहंसकी धर्मपत्नी और शिष्या श्री शारदामाताका भी दर्शन करना था। 'एम' को यहां सब लोग मास्टर महाशय कहते थे। मैने मठपति स्वामी प्रेमानन्दकी इजाजत ली। उन्होंने मेरे साथ एक ब्रह्मचारी दिया। हम एक छोटे-से डोंगेमें बैठकर उस पार गये, और वहांसे एक छोटी अगनबोटमें बैठकर कलकत्ता पहुंचे। रास्तेमें ब्रह्मचारीसे खूब बातचीत हुई। वे बहुत मिलनसार थे। बंगालके अनेक युवकोंकी तरह वे भी पहले आतंकवादी पक्षमे थे। बादमें धार्मिक वृत्ति बढ़ने पर राजनीतिमें रुचि कम होती गई, और वे रामकृष्ण मिशनमें शामिल हो गये। मैंने उनसे पूछा—'आपका आदर्श क्या है?' उन्होंने जवाब दिया—'हमें जो दीक्षा मिली है, वह यह है कि 'आत्मनो हिताय' और 'जगतः सुखाय' जीवन बिताना चाहिये। स्वामी महाराजने मठके ब्रह्मचारियोंको यह उपदेश दिया है कि तुम्हारी जिंदगी सिपाहीके समान कठिन होनी चाहिये। तुम्हारी बुद्धि इतनी तीव्र और तेजस्वी होनी चाहिये कि तुम तत्त्वज्ञानके कूट-से-कूट प्रश्नोंकी चर्चा कर सको। तुममें इतनी सादगी होनी चाहिए कि दिनभर खेतमें काम करके शामको शाकभाजी लेकर तुम बाजारमें बेच सको। तुममें परिश्रमशीलता और व्यवहार-कुशलता होनी चाहिये।' इस ब्रह्मचारीने दो ही दिनमें खूब ममता दिखाई। बंगाली भावना-प्रधान होते हैं, इस कथनकी जो कल्पना इस ब्रह्मचारीने मुझे दी, उसे मैं भुला नहीं सकता।

हम मास्टर महाशय—महेन्द्रनाथ गुप्त—के मकान पर पहुंचे। वे पूजामें बैठे थे, इसलिए जरा इंतजार करना पड़ा। मैं राह देखता बैठा था। इतनेमें उनकी

भव्य मूर्ति बाहर आयी। वे श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे। लंबी दाढ़ी छातीको सुशोभित कर रही थी। गंभीरता और नम्रता उनकी मुखाकृतिकी विशेषता थी। वे जमीन पर ही बैठे। मेरे मित्र गुणाजीने 'गॉस्पेल ऑफ श्रीरामकृष्ण' का भाषांतर मराठीमें किया था। उसमें मेरा हाथ था। इसलिए उसीके विषयमें बातें शुरू हुईं। मेरा परिचय पानेके बाद संतोष दर्शाते हुए उन्होंने कहा—'तो गॉस्पेलका भाषांतर करनेवाले शुष्क पंडित ही नहीं, साधु भी हैं।'

मास्टर महाशयके साथ अधिक बातचीत नहीं हुई। हम 'उद्बोधन' कार्यालयमें श्री श्रीमांके दर्शन करने गये। श्री श्रीमांसे मतलब है, श्री शारदामातासे। कार्यालयमें दरवाजेके सामने ही एक कमरा था। उसमें स्वामी शारदानन्द बैठे थे। स्वामी शारदानन्द सारे रामकृष्ण मिशनके संचालक हैं। सारी दुनियामें जहां-जहां रामकृष्ण मिशनकी संस्थाएं चलती हैं, उन सब पर उनकी देखभाल है। इसलिए उनके ऊपर कामका भारी बोझ है। वे अपने आसन पर पांव पसारे बैठे रहते हैं, और सारे दिन काम करते हैं। उनके शरीर पर कोई वस्त्र न था, और पेट बहुत ही बड़ा था। हमेशा एक ही जगह बैठकर काम करने और सदा बंगाली आहारके सेवनका यह एक परिणाम था। 'साधु चलता भला' इस कहावतका रहस्य यहां मैंने एक नये अर्थमें समझा।

'नमो नारायण' कहकर मैंने उन्हें वन्दन किया। 'नारायण' कहकर उन्होने आशीर्वाद दिया। यह हमारी पुरातन प्रथा है। संन्यासीको इन्हीं शब्दोंमें वन्दन किया जाता है। वन्दन करके हम भीतर गये। थोड़ी देर इन्तजार करने पर दर्शन की आज्ञा मिली। रामकृष्ण परमहंसके अनुयायी शारदामाताको दुर्गाका अवतार मानते हैं। वे महत्त्वका कोई भी कार्य उनसे पूछे बिना नहीं करते। मैंने शारदामाताका दर्शन अत्यन्त भक्तिपूर्वक किया। पतिको ही गुरु मानकर ईश्वरके समान आजीवन उनकी शुद्ध सेवा करनेवाली और उनके समाधिस्थ होने पर चौबीसों घण्टे रामकृष्ण परमहंसके ध्यान-पूजनमें जीवन व्यतीत करनेवाली इस तपस्विनी, ब्रह्मचारिणी और आदर्श पत्नीके दर्शनको मैं अपने जीवनका एक अद्वितीय अहोभाग्य मानता हूं। मैंने साष्टांग प्रणाम किया। दोनोंके लिए सामान्य भाषाके अभावमें बातचीत करना तो संभव न था। मैंने भक्ति और आर्जवपूर्वक उनके चरणोंमें दृष्टिपात किया। उन्होंने मातृ-वात्सल्यसे आशीर्वाद दिया और हम लौटे।

दूसरे दिन बैशाखी पूर्णिमा थी। मठमें बोधि-उत्सव था, और गंगा नदीके तट पर खरडह नामक एक गांवमें चैतन्यका उत्सव था। उसमें उपस्थित होनेके लिए मठको निमंत्रण था। स्वामी प्रेमानन्दने उस निमंत्रणमें मुझे भी शामिल कर लिया। दूसरे दिन हम वहां गये।

७. भक्तिके धाममें

खरडहका नाम बंगालके धार्मिक इतिहासमें प्रसिद्ध है। गौरांग प्रभु श्रीचैतन्यके कृपा-प्रसादसे नेड़ानेड़ी लोग इसी स्थानमें शुद्ध हुए थे। ये नेड़ानेड़ी लोग असलमे कौन थे, वे अशुद्ध क्यों माने गये, यह कौन कह सकता है? कोई मानते हैं कि वे मुसलमान थे, और कोई कहते हैं कि मलिक काफूरने जिन बौद्ध लोगोका नाश किया था, उनमेसे बचे हुए ये लोग थे। मुमाफिर इतिहास और दन्तकथाएं सुनते थे, लेकिन वे उनकी चर्चा करते नही बैठते। हां, फुरसत मिलने पर वे कल्पना-तरगसे काम ले सकते है। जिस वक्त नेड़ानेड़ी लोग शुद्ध किये गये थे, उस वक्त उन्हें पता न था कि वे कौन हैं। उन्हे इसका भान न था कि वे क्यो बहिष्कृत किये गये थे? वे इतना ही जानते थे कि समाजको उनका सहवास प्रिय नही है। यदि वे तिरस्कारका कारण जानते, तो समय पर सुधरनेका प्रयास भी करते। जो उनका तिरस्कार करते थे, उन्हें भी तिरस्कारके कारणका पता कहा था? परपरा चली आई है, इसलिए तिरस्कार करना चाहिये। यदि नही करेंगे तो अधर्म होगा। हमारे ऋषि-मुनियोने यह सारी परिपाटी बना दी है। वे सर्वज्ञ थे। हम अल्पज्ञ हैं, और अल्पज्ञ ही रहनेवाले हैं। कारणकी छानबीन करनेमे धृष्टता है, नास्तिकता है, इसलिए जो चलता आया है वही चलाना चाहिये। यह वृत्ति समाजकी है। और नेड़ानेड़ी लोग? वे तो यही मानते थे कि ईश्वरने हमे अस्पृश्य ही उत्पन्न किया है। हमारे पूर्वकर्म बुरे होंगे, इसलिए हम इस जातिमें जन्मे हैं। उच्च वर्णोंने पुण्य किया है, इसलिए उन्हें हमारा तिरस्कार करनेका, तुच्छ समझकर हमें गालियां देनेका, अधिकार है।

दोनोंको यह संतोष था कि इस स्थितिमें कोई अन्याय नही है। इसी समय बंगालमे चैतन्य महाप्रभुकी भक्ति जाग्रत हुई। उन्हें यह स्थिति अच्छी नही लगी। भक्तिने नेड़ानेड़ी लोगोंसे कहा—'परमात्माके यहां नसीबका राज नही है। ईश्वरका नाम लो। तुम पवित्र हो।' नेड़ानेड़ी पावन हुए और वैष्णव बन गये।

यह शुद्धि बिना विरोधके तो होने नही पाई होगी। सनातन धर्मका अभिमान धारण करनेवाले धर्म-संरक्षकोंने इस अधर्मको रोकनेकी चेष्टा करनेमें कुछ भी उठा न रखा होगा। लेकिन उनके नाम भी अब हम नही जानते। सनातन हिन्दू धर्मंमे अपने अंधभक्तोंके शिकंजोंसे बचनेकी शक्ति है, इसलिए वह आजतक जीवित रह सका है।

नावमें बैठकर नदीके प्रवाहमें यात्रा करनेके समान काव्यका अनुभव और शायद ही कहीं होता हो। हम दोपहरको भोजनके बाद रवाना हुए, और कोई तीन

बजे खरडह पहुंचे। बैशाख पूर्णिमाका दिन था, इसलिए कड़ी धूप पड़ रही थी। परंतु गंगामैयाके शीतल स्रोत परसे बहनेवाली हवा धूपकी सख्तीको भी कुछ नरम किये डालती थी। ईंट और चूनेके बने हुए इस तरफके घाट दर्शनीय होते है। देहातकी स्त्रियां जब पानी भरने आती है, तो उन्हें देखकर दया उमड़े बिना नही रहती। उनकी साड़ी बहुत ओछी और इसीलिए तंग होती है। मालूम होता है, उन्हें साड़ी पहनकर इधर-उधर घूमने-फिरनेमें बड़ी असुविधा होती होगी। लेकिन उनके मुंह पर दुःखका जरा-सा भी चिह्न दिखाई नही देता। खरडहमें मुख्य मंदिरके प्रांगणमे कई लोग भजन कर रहे थे। झांझ, मंजीरे, करताल, मृदंग आदि वाद्य बज रहे थे। और हरएक भक्त भक्तिरसमें इतना मतवाला हो गया था, मानों हरएकको कोई जबरदस्त भूत लग गया हो!

महाराष्ट्रमें पंढरपुरमें मैने लोगोंको भजनमत्त होते देखा है। लेकिन उसमे कुछ सौम्यता होती है। यहां तो ऐसा दीख पड़ता था, मानो लोग भक्तिकी मस्तीमें एक-दूसरेसे प्रतिस्पर्द्धा कर रहे हों। अनेक वाद्योंके स्वर-सम्मिलनसे और बे-होशीके-से हावभाव व्यक्त करनेसे एक तरहका भक्तिरस तो अवश्य पैदा होता है, परन्तु मुझे नही लगता कि उससे स्वाभाविक भक्तिको पुष्टि मिलती होगी। उसे तो एक तरहका नशा ही समझना चाहिये।

इसके बाद हम बेलुड़ मठके संन्यासियों और ब्रह्मचारियोंको निमंत्रित करने-वाले अपने मेजबानके पास गये। उन्होंने फलाहारका आग्रह किया। मैं शक्कर नहीं खाता था और दिनमें एक बार ही अन्न ग्रहण करनेका मेरा नियम था, इसलिए मैंने लाल तरबूज खाना ही पसंद किया। खानेके आग्रहकी तो कोई कमी नही थी। जब हमारे साथके संन्यासी अधिक लेनेमे इन्कार करते, तो हमारे मेजबान कहते— अगर आपको न भाये, तो थालीमें रहने दीजिये। हमें उतना ज्यादा प्रसाद मिलेगा। मैंने शिष्टाचारका विचार छोड़कर कहा—'मेरे विचारमे दूसरेका उच्छिष्ट खानेमें धर्मकी हानि है। मैं स्वीकार करता हूं कि उच्छिष्ट खानेमें प्रेमकी एकता है, परंतु न खानेमें धार्मिक संयम है।' जिस समय मैं यह आलोचना कर रहा था, उसी समय बायें हाथमें प्याला लेकर पानी पी रहा था। यह देख एक बंगाली युवकने कहा— 'यह क्या? आप बायें हाथसे पानी पीते है?' मैंने जवाब दिया—'दाहिना अंगूठा जूठा है। जूठे हाथमे बरतन क्यों बिगाड़ा जाय?' वह हंसा। उसके हंसनेमें तिर-स्कार था। वह सोच रहा था कि इस जंगली मनुष्यको शिष्टाचारका बोध कैसे हो? दायें-बायें हाथका भेद यह क्योंकर समझे? बायां हाथ तो सवेरे शरीर-शुद्धिके लिए काममें लाया जाता है; उस हाथसे पानी कैसे पिया जाय? मैं सोचता था कि जब दोनों हाथोंसे आटा गूंधना पड़ता है, तब इन लोगोंकी बायें हाथकी घृणा कहां हवा हो जाती है?

हिन्दुस्तानमें स्वच्छता, पवित्रता, लज्जा, सिद्ध और निषिद्ध, स्वच्छ और

उच्छिष्ट आदिके विषयमे हरएक जगहकी कल्पना निश्चित हो गयी है। परंतु दो प्रात अथवा दो जातियोकी कल्पनामे कोई मेल नही है। काश्मीरमे हाथको जूठा होनेसे बचानेके लिए कुरतेकी लंबी आस्तीनमे रोटी पकड़कर खानेवाले लोग मुझे बूट पहनते समय हाथका उपयोग करते देख हंसते थे, और खुद कसाईकी दुकानसे फल खरीदकर बिना धोये खा लेते थे! अगर हमारे देशके धर्मध्वजी लोग दूसरे प्रातोमे जाकर दो-दो महीने वहावालोंका आतिथ्य स्वीकारनेका व्रत ले, तो मै समझता हू कि हमारी धर्म-विषयक कल्पनाये बहुत-कुछ सुधर जाय।

फलाहारके बाद सगीत शुरू हुआ। मैने रविबाबूका 'अयि भुवनमनमोहिनी' सुनानेका अनुरोध किया। वहा बहुत-से नवयुवक एकत्र हुए थे, लेकिन उनमे कोई 'मनमोहिनी' गानेको तैयार न दीख पडा। एकने कहा—'हम यहा सिर्फ धार्मिक गीत गाते है।' आखिर दूसरे नवयुवकने आतिथ्य-धर्म निबाहनेके लिए 'मनमोहिनी गाकर सुनाया, और सबने उसे सहन किया। मुझे शका है कि युवकोके उस समुदाय मे कई क्रातिवादी भी अवश्य रहे होगे। एकने मुझसे पूछा—'बगालियोके स्वास्थ्यके विषयमे आपकी क्या राय हे?' मैने कहा—'आम तौर पर वे निर्बल दीख पडते है।' वह मेरे शरीर पर दृष्टि डालकर तिरस्कारसे हसा। मै समझ गया और मैने जवाब दिया—'आप मुझे महाराष्ट्रका प्रतिनिधि तो नही समझते है न?' हम दोनो हंस पडे। उसने कहा—'हमे अपनी खुराकमे परिवर्तन करना चाहिये। गेहूके बिना शक्ति नही बढेगी।'

बगालका ग्रामीण जीवन सादा और सुन्दर है। बगाली झोपडियोके छप्पर सुडौल और सुन्दर होते है। उनकी दीवारे उम्दा और मिट्टीसे पुती होती हे। जहा जाइये, गायन-वादन सुनायी देता है। लेकिन मेरा यह ख्याल हे कि जातिभेदकी सख्तीके कारण गावोमे एकताका विकास सुचारु रूपसे नही हो सकता। खरडह जैसे छोटेसे देहातमे भी बडे-बड़े पडित रहते है, और बिना प्रतिष्ठाकी इच्छा किये विद्याकी उपासना करते है।

लौटते समय सूर्यास्त होनेको था। अब नदीके प्रवाहके साथ जाना था। हम नदीके प्रवाहमे बहने लगे। हमारे साथके ब्रह्मचारी रामप्रसादके भजन गा रहे थे।

८. रामकी राजधानी

मेरे साथ मरढेकर बाबा थे। वे रामदासी सम्प्रदायके थे। जबसे शकराचार्यने संन्यासियोके दस नाम यानी प्रकार निश्चित किये, चार मठ स्थापित किये और ब्रह्मचारियोके भी चार प्रकार निश्चित किये, तबसे हिन्दुस्तानके साधुओके जीवनमे

एक तरहकी सुव्यवस्था आ गयी। धर्मक्षेत्रमें शंकराचार्य, समुद्रगुप्त या नेपोलियन की टक्करके विजेता थे; राजा टोडरमल या शिवाजीकी जोड़के व्यवस्थापक थे; तुलसीदास-सदृश कवि थे; बुद्ध भगवान-जैसे आत्म-विश्वासी थे और ज्ञानेश्वरके मुकाबलेके साहित्याचार्य थे। उन्होंने सनातनी हिन्दुओंकी जो व्यवस्था कर दी, उसके अवशेप आज तक कायम हैं। सचमुच शंकराचार्य हिन्दुधर्म-सम्राट माने जा सकते हैं।

उनके निश्चित किये हुए संन्यासियोंके दस नाम गिरी, पुरी, भारती, तीर्थ, सरस्वती आदि हैं। ब्रह्मचारियोंके चार विभागोंमें स्वरूप सम्प्रदाय भी एक है। उसका एक मठ अयोध्यामें है। ऐसा माना जाता है कि महाराष्ट्रमे धार्मिक पुन-र्जीवनको सुव्यवस्थित स्वरूप देनेवाले श्री समर्थ रामदास इसी अयोध्या मठके और स्वरूप सम्प्रदायके थे।

अयोध्या जाते हुए मरढेकर बाबाके दिलमे आनंद और भक्तिका इतना उद्रेक हो रहा था कि उन्हें देखकर कोई भी यह समझ सकता था कि उनकी दृष्टि स्वा-भाविक स्थितिमे नही थी।

आमुचे कुळी हनुमन्त
हनुमन्त आमुचें कुळदैवत
स्वरूप संप्रदाय अयोध्या मठ.

(हनुमान हमारे कुलमें है। हनुमान हमारे कुल देवता है। हमारा सम्प्रदाय स्वरूप और मठ अयोध्या है।)

ऐसा एक सकल्प रामदासी पंथके लोग रोज सुबह-शाम पढ़ते है। ऐसे अयोध्या मठका दर्शन बाबाके लिए एक अपूर्व लाभ था।

मेरी यात्रामे तीन तीर्थस्थानोकी तरफ मेरा ध्यान विशेष आकर्षित हुआ है। अयोध्या, हरद्वार और अमृतसर। तीनों जगह, जाने क्यों मेरा चित्त विशेष प्रसन्न रहा है। तीनों जगह कोई मेरी जान-पहचानका या मुलाकाती नही था। तो भी इन तीनो स्थानोंके दर्शन और वहाके वातावरणके अनुभवसे मुझे विशेष प्रसन्नता हुई, आह्लाद हुआ। तीनों भिन्न-भिन्न समयके हैं, परंतु हैं एक ही जातिके।

काशी जानेके पहले मनुष्य अपने मनमे उसका जो कल्पना-चित्र खीच लेता है, उसकी तुलनामे काशीका प्रत्यक्ष दर्शन कभी निराशाजनक सिद्ध नही होता। गगाके प्रवाह पर, नावमें बैठे-बैठे, घाटके बाद घाट देखनेके पश्चात् मनुष्यके मुंहसे हठात् आश्चर्यके ये उद्गार निकलते हैं—'मुझे कल्पना भी न थी कि काशीका दृश्य इतना मनोहर और इतना भव्य होगा!'

अयोध्याकी स्थिति इससे उलटी है। अयोध्या तो रामराज्यकी राजधानी है। अयोध्याका नाम सुनते ही कल्पनाके सामने एक अतिविशाल मनोहर नगरीका दृश्य खड़ा होता है। जब मनुष्य इस भव्य कल्पनाके साथ अयोध्या जाता है, तो

पहले वहांका स्टेशन देखकर ही निराश हो जाता है। जहां हमेशा लाखों यात्रियों-का आवागमन होता है, वहां उनकी सुविधाका कोई खयाल नहीं रखा जाता। यह देखकर ऐसा विश्वास हुए बिना नहीं रहता कि (अंग्रेजोंका) वर्तमान राज्य देशी जनताके लिए है ही नहीं, और खासकर गरीबोंके लिए तो बिलकुल ही नही है।

अयोध्यामें नदीका प्रवाह घाटसे बहुत दूर चला गया है। नदीका पाट खूब चौड़ा और रेतीला है। गाड़ियोंको रेतमें चलते समय बड़ी दिक्कत होती है। इस-लिए वहाके लोगोंने पहियोंके नीचे लकड़ीके दो-दो पटिये बिछानेकी तरकीब ईजाद की है। गाड़ीका रास्ता नदीके पाटमेंसे तिरछा जाता है, इसलिए वह खूब लंबा है। इस सारे रास्तेकी लीक पर लंबे-लंबे पटिये रेलकी पटरियोंकी तरह बिछा दिये गये हैं। गाड़ियां इन पटियों पर चलती है, लेकिन गाड़ियोंकी विडम्बनाओंका अंत यही नही होता। आंधी आते ही ये पटिये रेतमें दब जाते हैं। फिर रास्तेकी ओर पटियोंकी शोधके लिए एक पुरातत्त्व-विभाग खोलनेकी नौबत आ पड़ती है। परंतु लोगोंने इसका भी एक उपाय खोज लिया है। वे रास्तेके दोनों तरफ कांटे, कंटीले पौधे और घासकी एक हाथ ऊंची बागुर लगा देते है, जिससे आंधीके साथ आने-वाली रेत वही रुक जाती है। रेतके बोझसे बागुर भीतरकी तरफ झुक न जाय, इसके लिए अंदरकी तरफ रेतका ढेर लगाकर उसे सहारा दिया जाता है। नदीमें बाढ़के आने और उतर जाने पर फिर यह रास्ता बनाना पड़ता है। यदि सहाराके मरुस्थलमे प्रकृतिने ऊंटकी सुविधा नही की होती, तो वहा भी लोगोको इसी ढंगकी जबरदस्त व्यवस्था करनी पड़ती।

नदीमें नहाकर पीछे मुड़ते ही सहसा अयोध्या नगरी और उसके घाटोंके दर्शन होते है। अयोध्यामें सर्वत्र चूनेका ही काम है, इसलिए सब मंदिर सुधाधवल (सुधा=चूना; धवल=सफेद) दिखाई देते हैं। जिस समय हम नहाकर नगरमें प्रवेश करते हैं, उस समय सामनेवाले मंदिरोंमें घंटारव होता है; यात्री भांति-भांति के चमकीले लोटे और घड़े हाथमें लिये आते-जाते हैं; बहुतोके हाथमें चन्दन, कुकुम और पुष्पकी थालियां होती हैं, ओर हरएक रामराजा, सीतारानी और बजरंगबली हनुमानकी जयके नारे लगाता जाता है। ऐसा प्रसंग मनुष्यके चित्त पर सदाके लिए अंकित हुए बिना कैसे रह सकता है? यदि मनुष्यकी स्मृति पत्थरकी तरह जड़ हो तो भी इस प्रकारकी स्मृति उस पर अशोकके शिलालेखोंकी तरह हमेशाके लिए अंकित हो जायगी।

नहा-धोकर हम दर्शन करने निकले। यह कैसे हो सकता है कि अयोध्यामें बन्दर न हों? सुनते हैं कि वानरोंकी मददसे रामचंद्रजीने सीताजीका पता लगाया और लंका जीती। इसके बदले उन्होंने अपने बाद अयोध्याका राज्य वानरोंको सौप दिया। आज भी वहां वानरोंका निष्कंटक राज्य जारी है। इतिहासकार कहते हैं कि अति प्राचीन कालमें दक्षिण हिन्दुस्तानसे जो माल विदेशोंको जाता था, उसमें

मोर और बन्दरोंका भी निर्यात होता था। यदि रामचंद्र भी दक्षिण हिन्दुस्तानसे बन्दरोंका एकाध दल यहां बसानेके लिए ले आये हों, तो उसमें आश्चर्य क्या? मानववंशशास्त्रियोंका कथन है कि नयी बस्ती बसानेवालोंकी संख्या बड़े वेगसे बढ़ती है। इसी सिद्धांतके अनुसार मथुरा-वृन्दावनके वानरोंकी बस्ती बढ़ी होगी। आज अयोध्यासे भी मथुरामें उनकी बस्ती अधिक तरक्की पर है।

अयोध्यामें मंदिर और मूर्तियां तो कई हैं, परंतु राजमहलमें गोविंद या विष्णु-का जो मंदिर है उसकी मूर्ति असाधारण है। यह मूर्ति है तो काले पत्थरकी, लेकिन उसके काले रंगमे गहरे हरे रंगकी छटा है। अतः उसकी शोभा और भी बढ़ गई है। रसिक भक्तोंने श्रीकृष्णको श्याममुंदर मानकर कौनसा कला-विधान सिद्ध किया है, इसकी कल्पना इस मूर्तिके दर्शनसे स्पष्ट हो जाती है।

जब हम मंदिर देखने गये थे, उस वक्त दोपहरके कोई ग्यारह-बारह बज रहे होंगे। मंदिरके सेवक यानी ब्राह्मण आरतीके लिए एकत्र हुए थे।

सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यमनाकाशं परमाकाशम्।

स्तोत्र बहुत ही मीठे, सुस्वर रागमें और मधुर आलापों सहित गाया जा रहा था। राजमहलके हरएक विभाग पर उस विभागके नामकी तख्ती लगी हुई है। ये सारे नाम संस्कृतमे लिखे गये है, इस बातकी तरफ मेरा ध्यान गये बिना न रहा।

अयोध्यामे मुख्य दर्शन तो हनुमानगढ़ीके हनुमानजीका है। वहां यात्रियोंकी अधिक-से-अधिक भीड होती है। कोई नारियल लेकर जाते हैं, तो कोई पेड़े लेकर पहुंचते हैं। कोई हनुमानजीको पंखेसे हवा करते है। बड़े पखेकी रस्सीका छोर मंदिरके बाहर रखा गया है। जिसे श्रद्धा हो, वह पंखा झले और धन्य हो! मैं इसी उधेड़बुनमें पड़ गया कि पवन-कुमारके सिर पर पंखा झलना उचित है या अनुचित? मरढेकर बाबाके साथ चर्चा करना असंभव था, क्योंकि वे तो भक्तिसे मतवाले हो रहे थे। जब उनका दिया हुआ भोग हनुमानजीको चढ़ाया गया, तब तो उनके नेत्रों-से धन्यताके आंसुओंका प्रवाह बहने लगा। वे तो धन्य हुए ही, लेकिन उनकी उस भक्तिके दर्शनसे मै भी धन्य हुआ!

गढ़ीसे नीचे उतरकर हम रामजन्मका स्थान और इसी प्रकारके अन्य रामायण-प्रसिद्ध स्थान देखने गये। मैने वहां सुना कि ये सारे स्थान मुसलमान भाइयोंकी धर्मान्धताके शिकार हुए हैं। आज वे स्थान इस योग्य नही रहे कि अपनी प्राचीन दशाकी जरा-सी भी झांकी दर्शकोंको करा सकें।

जिस प्रकार श्री भैरव काशीके कोतवाल हैं, उसी प्रकार श्री मत्तगजेन्द्र अयोध्याके कोतवाल हैं। इनकी कथा या माहात्म्य मुझे वहां सुननेको नही मिला। दर्शन समाप्त करके हम एक ब्राह्मणके घर भोजन करने गये। पहले तो उसके घर-की स्वच्छता देखकर ही हम अघा गये। घरके आंगनमें एक बालिश्त लंबा और एक बालिश्त चौड़ा एक पत्थर पड़ा हुआ था। जिस समय हम वहां पहुंचे उस समय

यानी ठीक मध्याह्नमें ब्राह्मणकी लड़की उस पत्थर पर बैठकर दतौन कर रही थी। थोड़ी देरके बाद एक बालकने पास ही प्रातर्विधि पूरी की। मांने बच्चेको उसी पत्थर पर बैठाकर धोया। और उस पानीके सूखनेसे पहले ही उस शिलाको धोकर उस पर कैंथेलीकी चटनी पीसी। घरमें कपड़े और बरतनोंका चौपट राज था। चूल्हेसे धुआं निकल रहा था, और ब्राह्मणके मुंहसे गालियां। आखिर उसके यहां जितना खाया जा सका, खाया; जितनी उचित जान पड़ी उतनी ही दक्षिणा दी, और हम अयोध्यामे रवाना हुए।

अयोध्यामें सरकारी कचहरियां वगैरा कुछ नहीं है। क्योंकि नजदीकका फैजाबाद शहर जिलेका सदर मुकाम है। सब प्रतिष्ठित लोग वहीं रहते हैं। अयोध्याकी बस्ती तो खासकर यात्रियोंकी, और उन पर गुजर करनेवाले पंडों और साधुओंकी बस्ती है। साधु भी विशेषकर नागा बाबा हैं। ये लोग जबरदस्त कर्मकांडी और स्वयंपाकी होते हैं। खुद पकाकर खाते हैं, और सारा दिन चिलम पीते हैं। कमरमें लगोटी और गलेमें काठकी बड़ी-बड़ी गुरियोंकी माला पहने रहते हैं। दिनभर रामजीकी बातें करते हैं, तुलसी-रामायणके दोहे और चौपाइयां बेसुरे रागमें गाते हैं, और जहां बैठते हैं वहां शांति एवं संगीतका तो खून ही करते हैं। फिर भी इन लोगोंकी कई बातें सीखने योग्य हैं। ये बहुत साफ रहते हैं। आम तौर पर तंदुरुस्त होते है। जहां जाते हैं, एक छोटासा, कामचलाऊ मंदिर बना लेते हैं। लोगोंको उपदेश करते हैं, और सांझको आरतीके समय तालबद्ध घंटा बजाते हैं। साधारणत: ये लोग झगड़ालू नहीं होते, परंतु जब कभी इन पर झगड़नेकी धुन सवार हो जाती है, ये बगैर खून किये नहीं मानते। ये लोग पुलिससे बहुत चिढ़ते हैं। दो पक्ष चाहे जितने लड़-झगड़ रहे हों, पुलिसके आते ही दोनों फौरन एक हो जानेका स्वांग रचते हैं। यह हिन्दुस्तानकी एक ऐसी पुरानी संस्था है, जिसका न तो हम उपयोग ही कर सकते हैं, और न जिसे नई चमक या 'ओप' ही दे पाते हैं।

गुजरातमें जो स्वामीनारायण सम्प्रदाय इतना फैला हुआ है, उसके आद्यगुरु श्री सहजानंद स्वामी अयोध्यासे ही गुजरात आये थे।

तीन वर्ष बाद मैं फिर एक बार अयोध्या गया था। उस बार भी मैंने पहले जितनी ही प्रसन्नताका अनुभव किया। मोक्षदायिका सप्तपुरियोंमें हमारे पूर्वजोने अयोध्याको प्रथम स्थान दिया है।

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

९. अलमोड़ाकी ओर

रामकृष्ण परमहंसने कहा है—'जिसे मोक्षका रास्ता लेना हो, उसे छोटी-छोटी फुटकर और निर्दोष वासनाओंकी तृप्ति कर लेनी चाहिये। और बादमें बड़ी वासनाओंका सामना करनेके लिए कमर कसकर तैयार हो जाना चाहिये।' एक दृष्टिसे हमने मोक्षके पथ पर पदार्पण किया था। हम दोनोंको सांसारिक प्रवृत्तियों और उनकी विविध उपाधियोंके प्रति घृणा उत्पन्न हो गई थी। परन्तु मेरे मनमें त्रिस्थली की यात्रा और रामकृष्ण-मिशनके पुण्यपुरुषों तथा पवित्र स्थानोंका दर्शन करनेकी लालसा रह गयी थी। मरढेकर बाबाको अयोध्या-दर्शनकी साध लगी हुई थी। अब वह तृप्त हो गयी। अतः हम दोनों बरसातके बादके बादलोंकी तरह हलके हो गये, और हिमालयकी तरफ चल पड़े। संकल्प-पूर्तिसे गयाके श्राद्धके समान ही आनंद होता है। उस आनंदको प्राप्तकर हम दोनोंने अयोध्यामें आखिरी रात मानों योग-निद्राके अनुभवमें बिताई। मनमें न कोई वासना उठती थी, न कोई विचार आता था; फिर स्वप्नमें भी वे क्यों आने लगे? सवेरे उठते ही ऐसा मालूम होने लगा, मानो हम कोई बिलकुल नये आदमी बन गये हैं! अब तक हम इस दुनियाके साधारण मनुष्योंके जैसे मनुष्य ही थे। दूसरे तीर्थयात्रियोंकी तरह तीर्थयात्रा करते थे। पर अब हिमालयका चित्र कल्पनाके सामने तैरने लगा था।

ट्रेनमें बैठे। भीड़ गजबकी थी। लोगोंको जगहके लिए लड़ते देख मैं मनमें कहने लगा—'जरा सब्र करो भाई! यह हमारी आखिरी यात्रा है। फिर हम भीड़ करने नहीं आयेंगे।' लेकिन लोगोंको मेरे मनोगत विचारोंका क्या पता? न जाने कितने लोग हर साल मेरी तरह इस दुनियासे इस्तीफा देकर वैराग्य खंडमें चले जाते होंगे! बहती दुनियाको न तो उसका कोई हर्ष-विषाद है, और न उसमे कोई लाभालाभ। परन्तु जानेवालेकी दृष्टिमें यह कितना गम्भीर काम होता है! जब बूढ़े टॉलसटॉय अन्तिम बार घर छोड़कर निकले होंगे, तब उनके मनमें क्या-क्या विचार नहीं आये होंगे?

उत्तर हिन्दुस्तानमें रेलको शुरू हुए पौनसौ साल तो आसानीसे हो चुके होंगे। मगर अब तक लोग रेलके आदी नहीं हुए। इस डरसे कि कहीं रेलका 'टेम' न चूक जाय, लोग पांच-पांच, छह-छह घंटे पहले स्टेशन पर आकर उम्मीदवारी करते हैं। टिकटघरकी खिड़कीके पास अपना पहला नम्बर लगानेके लिए लोग वहां सिपाही को घूस देकर और आसपासके मुसाफिरोंको धक्के मारकर आगे जानेका हक खरीदते हैं। स्टेशन पर गाड़ी आनेके बाद जब तक उतरनेवाले मुसाफिर उतर न जायं, तब तक तीसरे दरजेके मुसाफिरोंको स्टेशनके चबूतरे (प्लेटफॉर्म) पर आने

नहीं दिया जाता, यह बात अब तक उनके ध्यानमें नही आती ! तो फिर उतरने वाले और बैठनेवाले मुसाफिरोके लिए इसमें कितना सुभीता है, यह खयाल उन्हे कहांसे आवे ? इसलिए फाटक खुलनेसे पहले ही कठहरे पर चढ़कर प्लेटफॉर्म पर कूदनेका प्रयत्न कोई न कोई मुसाफिर जरूर करेगा। और, ट्रेनमें कुछ जबरदस्त लोग दिन-दहाड़े पैर पसारकर जरूर सोयेंगे। बैठनेवाले लोग भरसक ज्यादा जगह रोकनेके लिए पलथी मारे, अधिक-से-अधिक फैलकर बैठनेकी कोशिशमे, पैरोंकी नसोंसे खूब व्यायाम करायेंगे। डिब्बेका दरवाजा अगर अन्दरकी तरफ खुलता हो, तो दरवाजेमें ही सामान रख देंगे और रेलवे जितना कष्ट देती है, उसे अपनी तरफसे यथासम्भव बढ़ानेकी कोशिश बड़ी लापरवाहीसे करते रहेंगे।

ऐसी गाड़ीमें यात्रा करना एक भारी तपस्या ही है। गाड़ीमें प्रवेश मिलनेसे पहले ही डार्विनके जीवन-कलहके एक-एक सिद्धान्तकी पुनरावृत्ति हो जाती है। परन्तु गाड़ी चलते ही प्रिन्स क्रोपाटकिनका राज्य शुरू हो जाता है। बादमें खड़े होनेवालोंको बैठनेकी जगह मिल जाती है; प्यासेको, अगर जात-पांत अनुकूल हो, पानी भी मिल जाता है। पान-सुपारी, बीड़ी, और दोहोंका लाभ तो होता ही है। स्टेशन दूर हो, तो गपशप चलने लगती है। ज्यादातर मेघराजकी अकृपा और अकालकी जानमारीकी बातें सुनाई देती है। प्रसिद्ध डाकुओंके साहस-पराक्रमके किस्सोंमें सभीको मजा आता है। हमारे डिब्बेमें एक शख्स मुरादाबादकी तरफके किसी डाकूका किस्सा सुना रहा था, और डाकुओंके प्रति समभाव रखते हुए सब कोई उसे सुन रहे थे। डाकू यानी मनुष्य-समाजके शत्रु। उनके नामसे ही मनुष्य मात्रको नफरत होती है। परन्तु फिर भी लोग डाकुओंके लिए इतनी सहानुभूति कैसे रख सकते है, यही विचार उस दिन मेरे मनमे आता रहा। ज्यों-ज्यों डाकू-पुराण आगे चलता गया त्यों-त्यों मुझे अपने प्रश्नका उत्तर मिलने लगा। डाकुओं में भी खानदानियतके अंश होते है। शरीफ (!) डाकू गरीबोंको तंग नही करते। स्त्रियोंको नही छेड़ते। अंधेरी रातमें कोई स्त्री अकेली जाती हो, तो वीरोंकी परि-पाटीके अनुसार उसे घर पहुंचाने जाते हैं। मरीजोंको दवा-पानी देनेमे मदद करते हैं। सत्यनारायणकी कथा करनेवाले ब्राह्मणोंको मुक्त हस्तसे दक्षिणा देते है। और प्रजाको तंग करनेवाले पुलिसवालोंसे सदा बैर रखते हैं। आम लोगोंका यह ख्याल होता है कि डाकू लोग उन्ही लोगोंको परेशान करते हैं, जो मुकदमेबाज हैं, जो जालसाजी करते हैं, अकालमें भी रियायत नही देते, मनमाना ब्याज लगाकर खेत हड़प कर लेते हैं, और अकालके समय तेज भाव की आशासे गल्ला बेचनेसे इनकार करते हैं; इसलिए डाकुओंके प्रति लोगोंका कुछ सहानुभूतिशील होना स्वाभाविक है। जनता न्याय, कानून; नागरिकताके अधिकार और कर्तव्य कुछ नही जानती। खुशकिस्मतीसे कभी-कदास मिलनेवाले सुख और नित्य नसीब होनेवाले दुःखसे ही वह परिचित है।

डाकुओंके किस्से खत्म होने पर एक बाबाने अपने पूर्वजन्मके कर्मका वेदान्त छांटना शुरू किया। संसार असार है, काया झूठी है, माया झूठी है, एक रामनाम ही सत्य है(और सत्य है बाबाबैरागियोंको दी जानेवाली रोटी और लंगोटी), बाकी सब मायाका जंजाल है। जैसा उस जन्ममें किया होगा, वैसा इस जन्ममें भुगतान होगा, उसमें हमारा कोई वश नही चल सकता—यह उनके वेदान्तका सार था। मैं भी साधु होने जा रहा था। मनमें सोचने लगा — 'क्या मैं इन्हीं लोगोंकी बिरादरी में मिलने जा रहा हूं? इस प्रकारके वेदांतमे क्या मुझे मोक्ष मिलनेवाला है या हिन्दुस्तानको स्वराज्य मिल सकता है?'

इतने में बरेली स्टेशन आया। यहां हमें कुछ घंटों तक काठगोदामकी गाड़ीका इन्तजार करना था। इस स्टेशन पर मुसाफिरोंके भोलेपनका एक अजीब नमूना देखा। एक बूढ़ा गाजियाबादकी तरफ जाना चाहता था। उसकी स्त्री और दो लड़के उसे पहुंचानेके लिए स्टेशन तक आये थे। हलवाईके चीथड़े जैसी मैली-कुचैली धोतीका कच्छ लगाये एक नौकर भी साथ था। बूढ़ेने स्टेशन पर अपनी एक चौकोन दोहर बिछा दी थी। उस पर दो-चार धोतियां, एक मिरजई, एक लोटा, बिछाने ओढ़नेके दो-चार कपडे, एक पानदान आदि कई चीजोंका ढेर लगा दिया था। बाद मे दोहरके आमने-सामनेके छोर मिलाकर गांठ लगायी। दूसरे दो छोर किसी तरह हाथमें नही आते थे। आखिर नौकरकी मददसे उन दोनों हठीले छोरोंका किसी तरह गठबंधन किया और पोटलीको गोल आकार प्राप्त हुआ। इस प्रकारकी पोटली देखकर ही शायद कुछ पुराणोंमें पृथ्वीको चौकोन कहा गया हो। इस सर्व-संग्रह-पोटली पर एक ध्वज या पताकाके तौर पर बूढेने एक कोनेमें अपना प्रौढ़ हुक्का खोंस दिया। पोटलीमें हुक्का तो मौन लेकर ही बैठा था, लेकिन उसका रोब देखकर यह स्पष्ट मालूम होता था कि जब वह बोलता होगा, तब अच्छे-अच्छे हुक्का बहादुरोंके हृदय हिलानेकी वाचासिद्धिका परिचय देता होगा। थोड़ी देरमें बूढ़ेकी गाड़ी आई। गठरी सिर पर रखकर वह एक डिब्बेकी तरफ दौड़ा। गाड़ीके दरवाजे कितने बड़े होते हैं, इसका अन्दाजा करनेकी कला सतयुगसे आज तक किसीने खोजी ही न थी। इसलिए किसी तरह पोटली अन्दर घुसती ही न थी। बूढा अपनी सारी ताकत लगाकर पोटली अन्दर ढकेलने लगा। लेकिन इतनेमें एक मुसाफिरको अपने हकका खयाल हो आया। उसने पोटली बाहर फेंक देनेका प्रयत्न शुरू किया। इन्द्र और विश्वामित्रकी खींचातानीमें बेचारे त्रिशंकुकी जो दुर्दशा हुई थी, वही यहां बेचारी इस पोटलीकी हुई। पोटली पलटा खाकर अधोमुख हुई। हुक्केकी चिलम नीचे गिरकर शतधा विदीर्ण हो गई। तब बूढ़ेका नौकर वीरभद्रके वेगसे दौड़कर आया और उसकी मददसे वह वृद्ध तथा उसकी पोटली दोनों डिब्बेके अन्दर दाखिल हुए। नौकरने गालियोंकी गर्जना जारी रखी। और बेचारा वृद्ध चिलमके अभावमें गरीब गायकी तरह दीन-हीन दिखायी देनेवाले

हुक्केकी हालत पर तरस खाता हुआ एक कोनेमें बैठ गया।

इस उपाख्यानका रस खूब चावसे चख चुकनेके बाद भी हमारी गाड़ीके छूटने का वक्त नहीं हुआ। हम बिलकुल उकता गये। आखिर मरढेकर बाबाने भोजन बनानेका प्रस्ताव पेश किया। मेरी समझमें न आता था कि स्टेशन पर भोजन कहां बनाया जाए? लेकिन बाबा पुरुषार्थी ठहरे। वे कहींसे एक कोरा मटका ले आये। स्टेशनकी बगलमें एक झाड़के नीचे तीन पत्थर इकट्ठा किये और लकड़ियोंकी खोजमें गये। लौटनेमें काफी देर लगी, लेकिन लकड़ियां भी खूब आयी। फिर जा कर खिचड़ीका सामान ले आये। इतनेमें एक बड़ी तोंद और छोटी आंखोंवाला सिपाही वहां आया, और जैसी सभ्य भाषा वह जानता था, वैसी सभ्य भाषामे उसने कहा कि हम वहां रोटी नही बना सकते; क्यों कि वह जगह रेलवे कम्पनीकी थी, और रेलवे कम्पनीमें हमारे पिताजीकी कोई साझेदारी नही थी। मुझे ऐसे प्रसंगों का अनुभव न था, इसलिए मैं तिनक उठा। परन्तु हमारे बाबाजी किसी कारण हार माननेवाले जीव न थे। इधर इसी रगड़-झगड़में गाड़ीका वक्त हो गया, और हम वह सीधा और हमें मिली हुई गालियोंकी विरासत एक साधुको सौपकर गाड़ी पर सवार हुए। साधुने बाबाको आशीर्वाद देते हुए कहा—'तुम कुछ फ़िक्र मत करो। उस सालेको मै ठीक करूंगा।'

गाड़ीमें इतनी सख्त गरमी थी कि हमारी खिचड़ी पक रही थी। एक साधु हिमालयकी यात्रा करके आया था। उससे जितनी जानी जा सके उतनी सब बातें जाननेमे ही हमने अपना वक्त बिताया। वह कहने लगा—"हिमालयमे एक किस्म की मक्खी होती है। अगर वह पिंडलीमे काट ले, तो उसका इतना बड़ा और विषैला फोड़ा हो जाता है और ऐसी जलन होती है कि एक कदम भी नही चला जाता। दो-दो तीन-तीन दिन तक आदमी घायल पड़ा रहता है। उस साधुके हाथमे तेजबलकी एक लकड़ी थी। उस लकड़ीके अद्भुत गुणधर्मसे भी उसने हमे परिचित कराया—"यदि कोई इस लकड़ीका ठीक-ठीक पालन करे, तो इसे रखनेवाला रात-को अंधेरेमे भी देख सकता है।" मैने पूछा—क्या करनेसे "लकड़ीका पालन होगा?" उसने कहा—"लकड़ीकी छालमें ये जो आंखें-सी दिखाई देती है, उन्हें हमेशा साफ रखना चाहिये। लकड़ी कभी जमीन पर टेकनी नही चाहिये। रातको सोते वक्त उसे कही ऊंची जगह रख देना चाहिये। और दिशा-जंगलसे आनेके बाद बगैर हाथ-पैर धोये लकड़ीको छूना नही चाहिये। इस लकड़ीसे सांप या बिच्छूको नही मारना चाहिए। इन नियमोंका पालन करनेसे लकड़ीका पालन होगा, और तभी लकड़ी अपने अद्भुत गुण दिखायेगी।"

जीवन-भर यात्रा करनेवाले और रोज नया अनुभव लेनेवाले इस साधुमें इतना वहम देखकर मेरे मनमें विचार आया कि हिन्दूधर्मकी सारी शक्ति यों ही फिजूल जाती है। समाजके लिए यह साधु-समाज बोझरूप हो गया है। या तो इसका अंत

करना चाहिये, या अच्छे-अच्छे विचारवान लोगोंको इन वैरागियोंकी जमातमें शामिल होकर धैर्यसे इन्हें सुधारना चाहिये। इन दो मार्गोंमेंसे कौनसा सम्भव और कौनसा असंम्भव है, सो कौन कह सकता है ?

हम ज्यों-ज्यों बरेलीसे दूर-दूर जाने लगे, त्यों-त्यों भीड़ छंटती गयी और हमें स्वाधीनताका—स्थान और विचारकी स्वाधीनताका—आनंद मिलने लगा।

१०. नगाधिराज

विदेशमें रहनेवाले मनुष्य-मात्रमें अपनी जन्मभूमिका स्मरण, जन्मभूमिका विरह और वापस जन्मभूमिमे पहुच जानेकी इच्छा हमेशा जाग्रत ही रहती है। बाबरको हिन्दुस्तानकी जबरदस्त शहंशाहत मिली और अमृत-सा मीठा आम खानेको मिला, फिर भी उसे मध्य-एशियाके अपने तरबूजोकी याद बार-बार आया करती थी। साथ ही, उसकी यह इच्छा भी रही कि चाहे जीतेजी अपनी जन्मभूमिके दर्शन करना उसके भाग्यमें न हो, फिर भी आखिर उसकी हड्डियां तो उस जन्मभूमिमें ही गिरनी चाहिये। हिन्दुस्तानमें आकर नवाबी ठाठसे रहनेवाले अंग्रेजको भी तब तक चैन नही पड़ता, जब तक छह महीनोंकी छुट्टी लेकर वह स्वदेश नही हो आता। कुछ इसी तरहकी उत्कंठा हिमालयके प्रति हिन्दुओंके मनमें रहती है। इतिहास-लेखक आर्योके मूलस्थानके रूपमें उत्तर ध्रुवकी कल्पना चाहे करें, और भाषाशास्त्री इसका गौरव मध्य-एशियाको चाहे दें, और देशाभिमानी लोग चाहे हिन्दुस्तानको ही आर्योकी आद्यभूमि सिद्ध करे तो भी अगर राष्ट्रके हृदयमें विराजी हुई प्रेरणाका अपना कोई ऐतिहासिक महत्त्व है, तो हिमालय ही हम आर्योका आद्यस्थान है। राजा हो या रंक, बूढा हो या जवान, पुरुष हो या स्त्री, हरएक यह अनुभव करता है कि जीवनमें अधिक नहीं तो कम-से-कम एक बार तो हिमालयके दर्शन अवश्य ही किये जायं, हिमालयका अमृत-सा जल पिया जाय. और हिमालयकी किसी विशाल शिला पर बैठकर क्षणभर ईश्वरका ध्यान किया जाय। जब जीवनके सभी करने लायक काम किये जा चुके हों, इंद्रियोंकी सब शक्तियां क्षीण हो जायं, जीर्ण देह और शेष आयुष्य भाररूप लगने लगे, तब इस दुनियारूपी पराये घरमें पड़े न रहकर अपने घरमें पहुंचकर मरना ही ठीक है। इस उद्देश्यसे कई हिन्दू अन्न-जलका त्याग करके देहपात होने तक हिमालयमें ईशान्य दिशाकी ओर बराबर बढ़ते ही चले जाते हैं। हमारे शास्त्रकार यही मार्ग लिख गये हैं। किसी राजाका राज-पाट गया नही कि वह हिमालयमें पहुंचा नही। भर्तृहरि-जैसोंको कितना ही वैराग्य क्यों न उत्पन्न हुआ हो, फिर भी हिमालयके विषयमें उनका अनुराग अणुमात्र भी कम न होगा। उल्टे, वह अधिकाधिक बढ़ता ही

जायगा। किसी व्यापारीका दिवाला निकलनेकी घड़ी आ पहुंचे, किसी सौदागरका सबकुछ समुद्रमें डूब जाय, किसीकी स्त्री कुलटा निकले, किसीकी संतान या प्रजा गुमराह हो जाय, बागी हो जाय, किसीके सिर कोई सामाजिक या राजनैतिक संकट आ पड़े, किसीको अपने अधःपतनके कारण समाजमें मुंह दिखाना भारी हो जाय—हालत कैसी भी क्यों न हो आस्तिक हिन्दू कभी आत्महत्या नही करेगा। हिन्दुओंके मनमें परम दयालु महादेवके प्रति जितनी श्रद्धा है, उतनी ही श्रद्धा हिमालयके प्रति भी है। पशुपतिनाथकी तरह हिमालय भी अशरण-शरण है। चंद्रगुप्तने राष्ट्रोद्धारका चिंतन हिमालयमें जाकर ही किया था। समर्थ रामदास स्वामीको भी राष्ट्रोद्धारकी शक्ति हिमालयमे ही बजरंगबली रामदूतसे प्राप्त हुई थी। यदि पृथ्वीकी सतह पर ऐसी कोई जगह है, जहां हिन्दू धर्मका रहस्य अनायास प्रकट होता हो तो वह हिमालय ही है। श्री वेदव्यासने अपना ग्रंथसागर हिमालयकी ही गोदमें बैठकर रचा था। श्रीमत् शंकराचार्यने अपनी विश्व-विख्यात प्रस्थानत्रयी हिमालयमें ही लिखी थी। और स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थने भी हिमालयमें ही इस बातका विचार किया था कि सनातन धर्मके तत्त्व आधुनिक युग पर किस तरह घटाये जायं।* हिमालय—आर्योंका यह आद्यस्थान, तपस्वियोंकी यह तपोभूमि—पुरुषार्थी लोगोंके लिए चिंतनका एकांत स्थान, थके-मांदोका विश्राम-स्थल, निराश बने हुओंका सांत्वना-धाम, धर्मका पीहर, मुमूर्षुओंकी अंतिम दिशा, साधकोंका ननिहाल, महादेवका धाम और अवधूतकी शय्या है। मनुष्यको तो ठीक, पशु-पक्षियोंको भी हिमालयका अपूर्व आधार है। सागरसे मिलनेवाली अनेक नदियोंका वह पिता है। उसी सागरसे उत्पन्न बादलोंका वह तीर्थस्थान है। कविकुल-गुरुने 'देवतात्मा नगाधिराज' को पृथ्वीका मानदंड जो कहा है, सो अनेक अर्थोंमें यथार्थ है। हिमालय भूलोकका स्वर्ग और यक्ष-किन्नरोंकी निवासभूमि है। वह इतना विशाल है कि उसमें संसारके सभी दुःख समा सकते है; इतना शीतल है कि सब प्रकारकी चितारूपी अग्निको वह शात कर सकता है; इतना धनाढ्य है कि कुबेरको भी आश्रय दे सकता है; और इतना ऊंचा है कि मोक्षकी सीढ़ी बन सकता है। हम ठेठ अपने बचपनसे हिमालयका नाम सुनते रहते है। बालकथा, बालगीत, प्रवास या यात्रा-वर्णन, इतिहास या पुराण, कही भी क्यों न देखे, सर्वत्र अंतिम आश्रय तो हिमालयका ही मिलेगा। बचपनसे जो आदर्श रमणीय स्थान कल्पना-सृष्टिमें प्रत्यक्ष हुआ होगा, उसकी कल्पना हिमालयसे ही आई होगी।

अरे, इस हिमालयने क्या-क्या नही देखा? पृथ्वीके असंख्य भूकंपों और आकाशके हजारों धूमकेतुओंको उसने अपलक भावसे देखा है। महादेवके विवाह

*यहां इस बातका स्मरण हुए बिना नहीं रहता कि गांधीजीने गीताका अपना अनुवाद ·अनासक्तियोग—भी हिमालयमें ही पूरा किया था।

उसीने करवाये है। सतीके विहारका और कुमारसंभवका कौतुक उसीने अपत्य-वात्सल्यसे किया है । भगीरथ तककी रघुकुलकी अनेक पीढ़ियोंकी कठिन तपस्याओं का वह साक्षी है । पांडवोंकी महायात्रा उसने सफल की है। लेकिन ये पुरानी बातें क्यों दोहराई जायं ? सन् सत्तावनके पराक्रमने पराजित होनेके कारण जो वीर और मुत्सद्दी हताश और निराश हो गये थे, उन्हें आश्रय देनेवाला हिमालय ही है । यदि भूस्तर-शास्त्रकी दृष्टिसे देखना हो, प्राणिशास्त्रीकी दृष्टिसे विचार करना हो, ऐतिहासिक दृष्टिसे शोध करनी हो, भव्यताके दर्शन करने हों, धर्मतत्त्वोकी गांठ सुलझानेका प्रयत्न करना हो, तो हिमालय ही वह जगह है जहां सब प्रकारसे आपका समाधान हो सकता है; क्योंकि हिमालय आर्यावर्त्तके एक-एक युगके पुरुषार्थोंका साक्षी रहा है—वह यह सब जानता है ।

यह कहना कठिन है कि हिमालय जानेकी इच्छा मेरे हृदयमे कब पैदा हुई। शायद मेरे जन्मके साथ ही वह जन्मी होगी। जैसा कि ऊपर कह चुका हूं, बहुत सम्भव है कि वह वंश-परंपरागत राष्ट्रीय भावना रही हो। जब यात्राका विचार करते है, तो मनमें यह खयाल पैदा होता है कि हम अपना घर छोडकर परदेश जा रहे है। पर जब-जब भी मैने हिमालय जानेका विचार किया है, तब-तब मेरे मनमें यही भावना प्रबल रूपसे उठी है कि मैं स्वदेश जानेवाला हूं, नही-नही, स्वगृह जानेवाला हू, और इस विचारने मेरे मनको हमेशा गुदगुदाया है । आज भी जब कोई हिमालयकी बात छेड़ता है, तो मुझे उतना ही आनद होता है, जितना ससुराल-में रहनेवाली बहूको मायकेकी बात सुनकर हुआ करता है। लडकी जब मायकेसे दूर जा पड़ती है, तो वह दिन-रात अपने मायकेको और मायकेवालोको ही बिसूरा करती है । इस बिसूरनेका नतीजा यह होता है कि मायकेका प्रत्यक्ष चित्र एक ओर रह जाता है, और वह अपने मनमे एक प्रेमचित्रका निर्माण कर लेती है। उसके अपने लिए यह प्रेमचित्र ही एक यथार्थ वस्तु बन जाता है। बिसूरनेका, चिंतनका, गुण ही यह है कि दिल जिस चीजको जैसी देखना चाहता है, दिलकी भावना कुछ ऐसी बन जाती है कि वह चीज वैसी ही मालूम होने लगती है। दुनियामे किसीको यथार्थ—यथातथ—ज्ञान होता हो तो भले हो; पर जिसे हम अनुभवका प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है, उस पर भी हमारी इन्द्रियोका रग चढ़ा ही रहता है, वह निरा ज्ञान नही होता । प्रेमचित्रमे रंग इन्द्रियोका नही, हृदयका होता है, आदर्श भावनाओका होता है । और, इसी कारण वह चित्र हमारे जीको विशेष निकटका और विशेष रूपसे सच्चा प्रतीत होता है। तर्कवादी चाहे इस चित्रको खोटा मानें, पर ससारका अनुभव और संसारका रहस्य सभी कुछ तर्ककी छलनीमे चाला नही जा सकता। तर्क सोचता है कि मैने जो व्यवस्था बांध दी है, जो क्रम तय कर दिया है, दुनियाको वह मानना ही चाहिये; जो मेरे गले नही उतरता वह सत्य हो ही नहीं सकता। अस्तु ।

आगे हिमालयके जो शब्दचित्र मैं देनेवाला हूं, वे प्रेमचित्र ही होंगे। जिस वस्तुसे प्रेम हो जाता है, उस वस्तुका प्रेम-रहित विचार हो ही नही सकता। इस-लिए मुझसे प्रेमचित्र छोड़ दूसरी किसी चीजकी अपेक्षा कोई रखे ही क्यों ?

११. भीमताल

हिमालयके पाच विभाग माने गये है। काश्मीर, जालंधर, गढ़वाल (उत्तरा-खंड), कुमाऊं (कूर्मांचल) और नेपाल। उत्तराखड परम पवित्र समझा जाता है। ग गोत्री, जमनोत्री, केदारनाथ, बदरीनारायण, पंच-प्रयाग और पाच-केदारनाथ, उत्तरकाशी, ज्योतिर्मठ तथा तुगनाथ इत्यादि प्रख्यात तीर्थस्थान इसी विभागमे हैं। सन्त-महन्त इसी विभागको तपस्याके लिए पसंद करते थे। परन्तु कहा जाता है कि यात्राके मार्ग और साधन सुगम हो जानेसे आजकल वहा तीर्थयात्री बहुत जाते है। इसलिए अच्छे-अच्छे साधु प्रायः उत्तराखंडको छोड़कर चले गये है। वे ज्यादातर अप्रकट रूपसे कुमाऊं मे रहते हैं। कुमाऊंप्रात रमणीय और उपजाऊ है। इसी प्रांतमे स्वामी विवेकानन्दका मायावती मठ बना हुआ है।

मायावती अलमोड़ासे कोई पचास मील दूर होगा। प्रवृत्तिमे डूबे हुए हमारे-जैसे लोगोंको चौबीसों घंटोंकी निवृत्ति मिले, तो उसे भी हम पचा नही सकते। शायद इसी उद्देश्यसे स्वामी विवेकानन्दने मायावतीमे एक छापाखाना चलाया, और वहासे हिन्दुस्तानको जगानेके लिए अथवा जागे हुए हिन्दुस्तानका संदेशा दुनियाको सुनाने के लिए, वे मद्राससे निकलनेवाले 'प्रबुद्ध भारत' नामक मासिक पत्रको मायावती ले गये। वहा वे आध्यात्मिक पाठशाला स्थापित करना चाहते थे। अलमोड़ा जानेके लिए रेलसे काठगोदाम तक जाना पडता है। वहासे अलमोड़ा सैंतीस मील है।

बरेली जंक्शन तक खचाखच भीड़ थी। बादमे भीड़ छटने लगी। हलद्वानी स्टेशन पर कुछ मुसाफिर उतर गये। काठगोदाम स्टेशन 'टर्मिनस' है। वहा पहु-चने तक तो बहुत ही थोडे आदमी रह गये थे। इसलिए कुछ उदासी-सी मालूम होती थी। न जाने क्यों मुझे 'बरियल ऑफ सर जान मूर' नामक कविताकी सहसा याद आयी। मैंने कहा—"बाबा, स्वर्गारोहणके समय पाण्डवोके दिलमे भी इसी तरहके भाव उठे होंगे। भीड़ तो पीछे रह गई, और हम अकेले हिमालय पर चढ़ रहे है।" पाण्डव ही क्यों, हरएक जीवके लिए यही बात लागू है। स्नेहियोंका समूह और इन्द्रिय-कलाप एकके बाद एक छोड़ते चले जाते हैं, और आखिर धर्म-कर्मको साथ लेकर ही मनुष्य यमघाट चढ़ता है।

परंतु यह उदासी क्षणजीवी थी। हम कोई मील-डेढ़-मील ही गये होंगे कि हिमालयका असर मालूम होने लगा। पास ही रामगंगा बह रही थी। रामगंगाने

कहा—"बच्चा तू अपने दुनियावी विचारोंसे रुखसत ले ले। यहां अनगिनत पेड़ उगते है, सूखते है, और सड़ जाते है। बहुत-से पत्थर बनते हैं, और फूट जाते हैं। पहाड़ियां ढह जाती हैं, और गाव घाटियोंमे समा जाते हैं। लेकिन यहा न कोई हसता है, न रोता है। यहां इफरात हे, उड़ाऊपन है, बेफिक्री है। यहां जो पछतावा या चिंता करता है वह पापी हे।"

रामगंगा ऐसा उपदेश न करती, तो भी मेरी उदासी काफूर हो गई होती। क्योंकि आसपासके पेडों पर वनस्पतियोंके असंख्य बालक खिल रहे थे। उनकी सुगंध उन्मादकारी थी पर विलास-प्रेरक न थी। हम आगे बढ़े। पहाड़ चढ़ने लगे। ज्यों-ज्यो हम ऊपर जाते त्यों-त्यों पहाड़की शोभा और प्रकृतिकी भव्यता बढ़ती ही जाती थी। छोटे बच्चे जब समुद्रके किनारे जाते है, तो चांदीकी-सी सीपें देखकर सबकी सब सीपे जेबमें भर लेनेको उनका जी ललचा उठता है। लेकिन एकाध घंटा घूमनेके बाद असंख्य सीपें देखकर वे अघा जाते हैं और जेबोमे भरी हुई सारी सीपें निकालकर फेंक देते हैं। बहुत हुआ तो यादगारके लिए एकाध सीप रख लेते है। पाच मीलकी चढ़ाईके बाद एक बहुत ही सुन्दर पहाड़ आया। उसके टूटे हुए अचलमें रंग-बिरगे पत्थरोंके ऐसे मजेदार स्तर थे, और हमारा रास्ता इतना टेढ़ा-मेढा था (जिससे पहाड़के सभी पहलुओंकी सुन्दरता हम देख सकते थे) कि जी चाहने लगा—कही इस पहाड़को महाराष्ट्रमे ले जा सकता तो कितना अच्छा होता? दूसरे ही क्षण मनमे विचार आया, क्या कोई राजा अपने ही महलकी सुन्दर लगने-वाली कोई चीज एक कमरेमे दूसरे कमरेमें कभी ले जाता है? सभी कमरे राजाके ही हैं। और जो चीज नियोजित है, वही यथायोग्य है। यदि महाराष्ट्रके लोग इस सुन्दरताका अनुभव करना चाहे, तो उन्हे यहां आना चाहिये। हम लोग पैसा कमानेके लिए या किसी तरहके दूसरे सासारिक हेतुसे थोड़ा-बहुत स्थलांतर करते हैं। सृष्टिकी शोभा देखनेके लिए अथवा देव-दर्शनोंके लिए बाहर नही निकलते। हमें वह स्वच्छंदता जैसा मालूम होता है। क्या देव-दर्शन करना हमारा कर्तव्य नही है? हमारे जिन ऋषि-मुनियोने चार धामोंकी यात्राको पुण्यकी परिसीमा कहा, वे सच्चे देशभक्त थे। आज हम लोगोंमें देशाभिमान है, पर देशभक्ति बहुत कम है। उन्मादमे मैंने कहा—"पहाड़ भैया! तुम यही सुखसे रहो! मै तुम्हें खिसकाऊंगा नही, बल्कि अपने महाराष्ट्रीय भाइयोको यहां भेजूंगा। वे जब आये तो तुम अपने अमृत-जलसे और सुगंधित पवनसे उनका इसी तरह सत्कार करना! यह लो मेरे प्रणाम!"

हिमालयके पहाड़ बहुत विचित्र हैं। सामने एक गगनस्पर्शी पर्वत दिखाई देता है, और ऐसा जान पड़ता है कि उसके ऊपर पहुंचनेके बाद वहासे नीचे उतरना पड़ेगा। लगभग ऊपर पहुंचने तक यही धारणा रहती है। लेकिन ऊपर पहुंचते ही क्या देखते हैं? हम अपनेको दूसरे एक प्रचण्ड पहाड़की तलहटीमें पाते हैं। हरे

राम ! अब इस पहाड़ पर भी चढ़ना होगा। अगर ज्यादा थक नही गये है, तो दूसरे ही क्षण विचार आता है : खैर, अधिक ऊचे जायेंगे तो अधिक दूर तक देख सकेंगे; प्रकृतिकी विशालता दृष्टिगोचर होगी, और अगर आज ही हमारे भाग्य खुले तो शायद बर्फके दर्शन भी हो जायं !' माथे पर हिमका किरीट धारण करके वानप्रस्थ दशामे ध्यान करने बैठे हुए नगाधिराजके दर्शन करनेकी लालसा अब दुर्निवार हो गई थी। लेकिन उस दिन बर्फके दर्शन करना हमारे भाग्यमे लिखा न था। ज्यो-त्यो अभी दूसरे पहाड़ पर चढे ही थे कि तीसरा हाजिर ! अब तो हमारा धैर्य छूट गया। क्या हरएक पहाड़ इस स्वर्गारोहणकी एक-एक सीढी बनेगा ? धूप तपने लगी; हम भी तप गये, और प्रकृतिने रुद्रावतार धारण किया। आखिर हम भीमताल आ पहुचे।

मैने सचमुचके या कल्पनाके सुदर-सुदर सरोवर देखे ही न हो, सो बात नही। सर वॉल्टर स्कॉटकी 'सरोविहारिणी' (लेडी ऑफ दी लेक) मे तो एक सुन्दर सरोवरका हृदयस्पर्शी शब्दचित्र देखा था। परतु भीमतालका प्रत्यक्ष दर्शन कुछ और ही था। इस प्रदेशका प्राचीन नाम 'षष्टिखात' है; क्योकि आसपास छोटे-बडे साठ सरोवर है। उनमे भीमताल और नैनीताल ये दो ही सुविख्यात है। और इन दोमे भी नैनीतालकी छवि न्यारी ही हे। नैनीताल भीमतालसे कोई बारह-पद्रह मील दूर ह। अब वह एक यूरोपियन शहर बन गया है। उसका वर्णन यथास्थान आयेगा। भीमताल एक बहुत ऊचे पर्वतकी समतल भूमि पर तीन पहाड़ोके बीच बने हुए गड्ढेके कारण बना है। इसलिए वह बहुत गहरा है। पानी स्फटिककी तरह निर्मल है। सरोवरका आकार एक आडे-टेढे त्रिकोणके समान हे और इस सरोवरके सौदर्यकी पूर्ति करनेके लिए इसके बीचोबीच प्रकृतिने एक छोटा-सा द्वीप बना दिया है। वहा पहुचते ही हमे इतनी ठण्डी हवा लगी कि एक क्षणमे हमारा सारा ताप और थकान दोनो उतर गये। सरोवरका किनारा कुछ ऊबड़-खाबड़-सा था। किनारे पर जहा-तहा पत्थर बिछे हुए थे; और उसे सीधे पार करके पानी तक पहुचना आसान न था। फिर भी किसकी हिम्मत थी कि वह इतना सुन्दर पानी छोड दे ? मै साहस करके उतरा और पानीमे जा गिरा। अररर ! यह पानी है या हजारो बिच्छुओका समूह ? मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो मेरे दुबले-पतले शरीरकी परिधि भी पानीकी ठण्डकसे सिकुड़कर दो-तीन इंच कम हो गई हो ! जान बचानेके लिए मैने जोरसे हाथ-पैर मारे। बादके आनद का मै क्या वर्णन करूं ? किनारे पर बैठे हुए बाबा झल्लाये न होते, तो मुझे वापस किनारे पर आनेकी बात सूझती भी नही। मैं सोचने लगा—'क्या बाणभट्ट द्वारा वर्णित अच्छोद सरोवर ऐसा ही रहा होगा ? मै कादंबरीमय हो गया। सामनेवाले द्वीपके पीछेसे नौका-विहार करती हुई कादंबरी या महाश्वेता अभी निकलेगी—इस तरहकी कल्पना-तरगमे मैं मग्न ही था कि इतनेमे सचमुच पीछेसे एक श्वेत

नौका आयी। लेकिन हाय रे हाय! गया—मेरा सारा काव्य काफूर हो गया! बोटमे तो हाथमें मछली पकड़नेकी बंसी लिये हुए दो सोल्जर बैठे थे! अगर मै वाल्मीकि होता, तो उन झख मारनेवाले (झख-झष-मछली—रामचरितमानस) अरसिक गोरोंको शाप देता।

जब काव्य-गगनमे उतरा, तो पता चला कि पेटमें चूहे उछल-कूद मचा रहे है। पेटभर खाया, आखभर सो लिया, हाथ-पैर-भरकर थकावट उतारी, रामसिंहको जगाया, सामान उसके सिर पर चढ़ाया और रामगढ़के लिए प्रस्थान किया। इस प्रकार आधे दिनमे हिमालयकी चौदह मीलकी यात्रा पूरी हुई।

१२. हिमालयकी पहली सिखावन

भीमतालसे आगे चले। रास्ता समतल था। दूर बायी तरफ एक कतारमे रावटियां दिखाई देती थी। दरियाफ्त करने पर मालूम हुआ कि वहा बीमार सिपाही रहते है। आखिर पहाड़की चोटी पर पहुचे। अपार आनंद हुआ; और चिर-परिचित समतल भूमि पाकर हम तेजीमे चलने लगे।

परंतु हिमालयने तो मानो एक ही दिनमें सारे सबक सिखानेकी ठान ली थी। उसने फिर हमारे अभिमान पर आघात किया। अरेबियन नाइट्समें अथवा पचतत्रमे जिस प्रकार एक कहानीमेंसे दूसरी नयी कहानी निकल पड़ती है, उसी प्रकार इस पर्वत-शिखर पर चौड़ा होकर बैठा हुआ एक नया पहाड़ आ धमका। चार मजदूरोके कंधो पर आरामकुर्सीमे बैठे हुए किसी अमीरके जैसी गभीर भव्यतासे और अपनी महत्ताके परिपूर्ण भानका परिचय देनेवाली स्वाभाविकतासे यह पर्वत विराजमान था। अगर वह खड़ा होता तो? तो मेरे खयालमे आकाशका चंदोवा फट ही जाता।

हमे इस बड़े भारी पहाड पर चढ़ना था। इसलिए हमने अपने पासके सामान-असबाबका सारा बोझ मजदूरोको दे दिया, अभिमानका बोझ तलहटीमे ही छोड़ दिया, बादलोकी तरह बिलकुल हलके होकर हम चढ़ने लगे और ठेठ सांझ तक चढ़ते ही चले गये।

रास्तेमे एक तरहके फूल खिल रहे थे। उनका आकार बारहमासीके फूलो जैसा था, और रंग खूब उबाले हुए दूधकी मलाईकी तरह कुछ पीला। सुगंधकी मधुरताकी तो बात ही क्या?,सुगंध गुलाबसे मिलती-जुलती; पर गुलाबके समान उग्र नही। इन लज्जा-बिनय-सम्पन्न फूलोको देखकर मैं प्रसन्न हुआ। मेरा अध्वखेद नष्ट हो गया। ऐसे सुदर और आतिथ्यशील फूलोंका नाम जाने बिना मुझसे कैसे रहा जाता? लेकिन रास्तेमें कोई आदमी ही न मिलता था। मजदूर तो अपने मजदूर-

धर्मके प्रति वफादार रहकर पिछड़ गया था। उसकी राह देखनेके लिए समय न था। और नाम जाने बिना आगे बढनेकी इच्छा न थी। इतनेमे पहाड़की एक पग-डडी परसे कोई पहाड़ी उतरता हुआ दिखाई दिया। हिमालयकी पगडडिया इतनी विकट हैं कि आदमीकी कमर ही तोड़ दे। उस पहाडीसे मैने हिन्दीमे—या सच पूछिये तो उस समय जिसे मैं हिन्दी समझता था उस भाषामे—उन फूलोके विषयमे कई प्रश्न पूछे। उसने पहाड़ी हिन्दीमे जवाब दिया। परंतु मुझे विश्वास नही कि वह मेरे प्रश्नोको समझ सका होगा। मै तो उसके जवाबका एक ब्रह्माक्षर भी न समझ सका। किन्तु इस सभाषणसे (मै नही जानता, इसे सभाषण कह सकते है या नही) फूलका नाम तो मुझे मिल ही गया। असीरियाकी शरशीर्ष लिपिमे लिखे हुए शिला-लेख पढकर कोई विद्वान उनका अर्थ लगानेके लिए जितना प्रयास कर सकता है, उतने ही प्रयाससे मैने पता लगाया कि फूलका नाम 'कूजा' था। मालूम होता है, पहाडी भाषामे यह शब्द बहुत सुललित समझा जाता होगा, लेकिन खुद मुझे उस नामने बिलकुल मोहित नही किया !

दूर, बहुत दूर, अब क्षितिज दिखाई देने लगा। वहा बहुत घने बादल थे। बादलो पर सगमरमरके पर्वत-शिखर-जैसा कुछ दिखाई देता था। तलहटीका हिस्सा बादलोसे ढक जानेके कारण ऐसा जान पडता था, मानो मैनाक पर्वतका एक बच्चा आकाशमे उड़ रहा हो। दूसरे दिन मुझे पता चला कि वह पवित्र नदादेवीका शिखर था।

कुछ उतरकर हम रामगढ आ पहुचे। वहा एक छोटी-सी धर्मशाला थी। अथवा धर्मशाला कैसी ? पाच फुट ऊचे कमरोंकी वह एक ऐसी कतार थी, जिनमे एक-एक छोटे दरवाजेके सिवा किसी जगह छिद्र नामकी कोई चीज नजर नहीं आती थी ! गधे भी उनमे लोटनेको राजी न होते। बनियेमे दाल, चावल और आलू खरीद लिये। बनियेने दो-तीन बरतन भी दिये। हमने सोचा—'कैसा भला बनिया है; रसोईके बरतन भी देता है !' बादमे मालूम हुआ कि पहाडमे तो यह दस्तूर ही है। आटा-चावलके दामोमे बनिया बरतनोका किराया भी लगा लेता है। फिर भी वहा-का यह रिवाज बेशक अच्छा है। ज्यो-त्यो पकाकर थोडा-बहुत खाया, क्योकि हमारी रसोई ठीकसे पकी नही थी।

धर्मशालाकी सूरत देखकर हमने बाहर खुलेमे सोनेका विचार किया और बिछौना बिछाया। इतनेमे हिमालयने कहा—'लो, नया सबक सीखो ! इतनी सख्त ठंड लगने लगी कि मंत्रमुग्ध सांप जिस प्रकार अपने-आप पिटारीमे घुस जाता है, उसी प्रकार हम भी बिस्तर लेकर अब खूबसूरत मालूम होनेवाली उस गरम कोठरीमें जा घुसे। हमे यह विश्वास हो गया कि कमरेमे एक भी खिड़की न रखकर धर्मशाला बनानेवाले शिल्पीने मयासुरसे भी अधिक कौशलसे काम लिया है।

सारा दिन चलते ही रहे थे। पहली ही बार इतनी लबी बीस मीलकी यात्रा

की थी। रातको पेटभर खाया भी न था। तिस पर ठंड नाम पूछ रही थी। इसलिए बहुत मनाने पर भी नींद तो पास फटकी तक नहीं। जब निद्रादेवी न आई, तो उनकी सदाकी बैरिन चिंता और कल्पना हाजिर हो गई। मै सोचमे पड़ा। घरबार छोड़कर, समाजकी सेवासे मुह मोड़कर, पुस्तकें पढ़ना भूलकर, अखबारोंमे लेख लिखनेसे विरत होकर मैं किसलिए यहां आया? ईश्वरने मुझे जिस स्थानमें नियुक्त किया उस स्वाभाविक स्थानको छोड़कर इस अनजाने प्रदेशमें मै क्यो आया? चूकि मैं विरक्त हो उठा था, और चूकि हिमालय वैराग्यका ननिहाल है, क्या इस विचार से मैं यहां आया हूंगा? अगर हिमालयमें वैराग्य होता, तो वे गोरे भीमतालमे जाकर मछली क्यों मारते? रामगढ़का वह बनिया ग्राहकोमे ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा लेनेकी कोशिश क्यों करता? नीचे—मैदानमें—जिस तरहके लोग रहते हैं, उसी तरहके लोग इस पहाड़ पर भी हैं। यहां भी स्त्री अपने पतिसे झगड़ती है; यह पोस्टमास्टर शिकायत करता है कि मेरा यह लड़का मेरा कहना नही मानता; और लोग पशुओंसे उनकी ताकतसे कही ज्यादा काम लेते हैं। निस्संदेह, पहाड़ोंमें व्यापार नही बढ़ा है, रेल नहीं पहुंची है, बस्ती घनी नही है, और इन कारणोंमे समाजमें जो सड़ांध पैठती है, वह यहां नहीं पैठी है।

इस पराये देशमे न कोई मेरी भाषा जानता है, न कोई मुझे पहचानता है; न कोई मेरा सगा-सम्बन्धी यहां है। और, जिस वैराग्यके लिए मैं यहा आया उसका यहां नाम-निशान नही है। इस खयालसे दिल परेशान होने लगा। इसलिए बाहर कड़ाकेका जाडा होते हुए भी मै एक कंबल ओढ़े बाहर निकला। मैंने निश्चय किया था कि हिमालयकी अपनी यात्रामें मैं सुईसे सिला हुआ कोई कपड़ा नही पहनूगा। दिनमें तो धोती, चादर और कान ढंकनेके लिए मफलर भर इस्तेमाल करता था। रातको बिछानेके लिए एक चटाई और कंबल रखता था, और ओढनेके लिए एक दोहर तथा बैंगनी रंगका एक मुटका। जब बाहर निकला, तो आकाश निरभ्र था। नक्षत्र अद्भुत कांतिमे चमक रहे थे। हिमालय आनेसे पहले मेरे एक रसिक मित्रने नवसारीमें तारोंसे मेरी जान-पहचान करा दी थी। तारे मेरे दोस्त हो गये थे। पूर्णिमाके चंद्रसे भी न डरनेवाले सभी तारोंको मैं पहचानता था। मैंने उनकी तरफ देखा। उन्होंने कहा—"भाई घबराते क्यों हो? यह परदेश कैसा? क्या यहां तुम्हारा अपना कोई सगा-संबंधी नहीं? देखो, हम इतने सारे दोस्त यहा ज्यो-के-त्यों मौजूद हैं। दो घड़ी सुस्ताओगे, तो दूसरे भी कई उस पहाड़की ओटसे जल्दी ही ऊपर आयेंगे। क्या तुम हमें भूल गये हो? क्या अपने और हमारे सिरजनहारको भूल गये हो? कहां गया तुम्हारा प्रणवमंत्र? कहां गया तुम्हारा गीतापाठ?

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः।

यह सब तुम्ही कहते थे न ? आज ही सवेरे उस नदीने तुमसे क्या कहा था ? इस पहाडको देखकर तुम्हारे दिलमे कौनसे विचार आये थे ? क्या उन कूजा-कुसुमोंकी विश्वसेवाका तुम पर कोई असर नही हुआ ? क्या नंदादेवीका दर्शन निष्फल हुआ ? छोड दो, इस हृदयदौर्बल्यको ! मनके उद्वेगको त्याग दो !" मेरी यह अश्रद्धा कि हिमालयमे भी वैराग्य नही है, गायब हो गयी। बाह्यसृष्टि और अंत सृष्टिमे तादात्म्य हो गया और मुझे शांति मिली। मै आसानीमे सो गया।

सवेरे उठकर आगे चले। आज तो उतरना था। जितना चढे थे उतना ही उतरना पडा। रोमके लोगोको अपना महासाम्राज्य गवाते समय भी इतना दु.ख न हुआ होगा। कितनी मुश्किलसे चढे थे। लेकिन फिर भी आखिर उतरना पडा। हिमालयमे चलनेका एक नया अनुभव हुआ। ऊपर चढते समय थकावट तो होती है, लेकिन वह क्षणिक होती है। पर सीधे उतार परसे उतरते वक्त जो कष्ट होता है, उससे आदमीकी हड्डी-पसली नरम हो जाती है। ऐसे उतारका अनुभव होते ही मै बोल उठा—"स्वर्ग तक चढना पडे तो वह बेहतर है, लेकिन हे विधाता, ऐसे उतारे परसे उतरनेकी सजा तो कदापि मेरे 'शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख' !"

यहाका यह प्रदेश भी बहुत रमणीय था। हमारे यहाके सरोके पेडोके समान चीड और देवदारके भव्य वृक्षोकी झाडिया अनुपम छायाका विस्तार करती थी। लेकिन सच्चा मजा तो तब आता था, जब नीचे गिरकर सूखे हुए सलाइयो—जैसे पत्तो परसे पैर फिसलते थे। उस वक्त यही समझमे न आता था कि हसे या रोये।

इस प्रदेशमे थोडी-सी खेती होती हुई मालूम पडी। क्योकि रास्तेमे एक छोटा-सा पहाडी गाव आया, जहा दो-चार किसान नया अनाज पछोर रहे थे। हवाका नाम भी न था, इसलिए दो आदमी एक चादरसे हवा झल रहे थे।

रास्तेमे चीडके बडे-बडे फूल बिखरे हुए दिखाई दिये। इन फूलोका वर्णन करना असभव है। ये फूल नारियलसे भी बड़े होते है। इनकी पखुड़िया बबूलकी लकडीसे भी सख्त होती है। फिर भी ये फूल आकारमे बहुत ही सुदर होते है। ऐसा लगता है मानो हरएक डठलके माथेमेसे अगुलीके बराबर असख्य पखुड़ियोका एक फव्वारा ही फूट पडा हो। लेकिन रग या सुगधका तो नाम ही न लीजिये। लकड़ीका ही रग और लकडीकी ही बास। देवदार और चीड़-जैसे वृक्ष हिमालयको ही शोभा देते है। प्रकृतिका विशाल वैभव देखकर मैं दिङ्मूढ़ हो गया और गाने लगा :

रामा दयाघना, क्षमा करुनि मज पाही,
रामा दयाघना०
कोठिल कोण मी, न जाणिला हा पत्ता
आजवरि अज्ञानें, मिरविली विद्वत्ता,

देहात्मत्वाची स्थिति झाली उन्मत्ता.
येउनि जन्मा रे ! व्यर्थ शिणविली आई,
हेचि मनि खाई—
रामा दयाघना०

अर्थात्—हे दयाघन राम, मुझे क्षमा करके मेरी रक्षा करो ! मै कहांका कौन हू, यह न जानते हुए आज तक अज्ञानसे विद्वता बघारता रहा। देहात्मत्वकी स्थिति उन्मत्त हो गयी। मैने पैदा होकर माको व्यर्थ ही कष्ट दिया। यही बात दिलको चुभती है।

सचमुच ही निकम्मा जीवन बिताकर मैने अपनी माताको अपने भारसे मार ही डाला था। केवल जननीको ही नही, जन्मभूमिको भी। मुझे अपने अतीत जीवनसे मन-ही-मन घृणा हुई। अज्ञानवश मै विद्वताकी शेखी बघारता था, खुद अंधकारमे रहकर लोगोके सामने प्रकाशकी बाते करना था।

मैं अपना भजन आगे गाने लगा :

करुणा-सागरा ! राघवा रघुराजा !
विषयी पागळा नका करू जीव माझा
... ...
भुलुनि प्रपंचा रे, भ्रमुनि भ्रमुनि ठायी ठायी,
हरुनि वय जाई—
रामा दयाघना०

अर्थात्—हे करुणासागर राघव रघुराज, विषयोमे मेरे प्राण अपग न बनाइये।...अरे इस प्रपचमे फंसकर जगह-जगह भ्रमिन और भ्रमित होकर आयु क्षीण होनी जाती है। हे दयाघ ा राम...।

भजनकी धुन सवार हो गई। मै उच्च स्वरसे ललकार रहा था। आगे यह चरण आया :

सच्चित्सुख तो तू परब्रह्म केवळ,
सच्चित्सुख तो तू पर बस केवळ.

सामनेवाले पहाड़ने एकाएक गर्जना की :

सच्चित्सुख तो तू परब्रह्म केवळ.

हिमालयकी वह मेघ-गभीर गर्जना मुझे तो अशरीरिणी वाणी प्रतीत हुई। सचमुच ही मैं सच्चित्सुखात्मक परब्रह्म हूं। मै इसे भूलता हू, इसलिए पामर बन जाता हू। जरा देखो तो यह धीर-गभीर हिमालय किस प्रकार सच्चित्सुखकी समाधिका उपभोग कर रहा है ! इस बर्फको देखो। गरमी और जाड़ा दोनों इसके लिए बराबर है ! देखो, इस विशाल आकाशको देखो। कितना शांत और अलिप्त है ! क्या मै इससे भिन्न हू ?

मुझ पर अद्वैतकी मस्ती सवार हो गई। इसलिए पीउड़ा कब आ गया, इसका मुझे भान भी न रहा। पीउडाके पानीकी बड़ी तारीफ सुनी जाती है। क्षयरोगी यहाका पानी खास तौर पर मगाकर पीते है। पीउड़ामें हमने भोजन बनाकर खाया, थोड़ा आराम किया और आगे बढ़े। फिर उतार। मेरे घुटनोमे चमके आने लगी और दर्द होने लगा। इसलिए फिर यह वृत्ति जाग्रत हुई कि मै देहधारी हू। धीरे-धीरे मैं फिर आसपासकी सुदरता निहारने लगा।

हिमालयकी खेती देखने लायक होती है। जहा बैठी और चौडी पहाडी होती है, वहा चोटीसे तलहटी तक दो-दो, चार-चार हाथ चौडी सीढियोके समान क्यारिया बनाते है और उनमे हाथसे खोदकर अनाज बोते है। इन खेतोका दृश्य नदीके पक्के घाटके समान दीख पडता है।

जहा उतार खत्म हुआ, वही एक झूलता पुल आया। उस पुलको लोधियाका पुल कहते है। पुलके नीचेके पत्थर देखने लायक है। नदीके प्रवाहमे घिसे हुए पत्थरोका आकार बहुत सुहावना दिखाई देता था। जहा पानीके भवर पड़ते है वहा तलेके घूमते पत्थर भी गोल-गोल चक्कर काटकर तलेके पत्थरोमे जो गहरे-गहरे गढे बनाते है उनका दृश्य मनोरंजक होता है।

इस पुलके नीचे मैंने एक साप देखा। यहा उसका उल्लेख इसलिए कर रहा हू कि हिमालयके घने जगलोमे और दूसरे भिन्न-भिन्न प्रदेशोमे मैने जो दो-तीन हजार मीलकी यात्रा की, उसमे सिर्फ दो साप देखनेमे आये। एक यहा और दूसरा गगोत्रीके पास। अब फिर चढाई शुरू हुई। दूर पर एक पहाडी शहर दिखाई देने लगा। यह शहर अल्मोडा था या मुक्तेसर इसका मैं निश्चय न कर सका। शाम होने लगी। और आखिर हम अलमोडाके पास पहुचने लगे। वहा एक चुगीघर था। वही हमने एक बैलगाडीकी लीक देखी। हिमालयमे बैलगाडीकी लीक सभ्यताकी परिसीमा समझी जाती है। हमारे यहाकी किसी राजधानीमे सगमरमरका कोई रास्ता हो, तो उसके विषयमे लोग जिस उमग और अदबके साथ बोलते है, उसी उमग और अदबसे पहाडी लोग इस 'कार्ट रोड' के विषयमे बोलते है। बगलमे ही मुसलमानोका कब्रिस्तान था। पर्वतकी वन्य शोभामे ये सफेद-सफेद कब्रे भोडी नही लगती थी। अक्सर मुसलमान कुदरतकी शोभाको बिगाड़ते नही। साझके समय ये कब्रे ऐसी लगती हैं, मानो चरागाहसे लौटी हुई गाये आराममे बैठी-बैठी जुगाली कर रही हो। ३७ मीलकी यात्रा कुशलपूर्वक की; लेकिन आखिर हम रास्ता भूल गये। हमने अलमोडाकी आधी परिक्रमा की। रास्ता छोडकर लोगोके आगनोमेसे होते हुए और अनेक घूरे खूदते हुए अतमे हम सात बजे बाजारमे पहुचे। बाजारका रास्ता पत्थरोसे पटा हुआ है। वहा 'हिल बॉइज स्कूल' का रास्ता पूछते-पूछते हम अपने एक मित्रके मकान पर पहुचे। वे घरमे न थे। कही टहलने गये होगे। हरख देव नामका एक लड़का अंदरसे बाहर आया। उसने हमारा स्वागत किया और

कहा—"आइये, भीतर आइये; इस खटिया पर विराजिये। मैं स्वामीजीका शिष्य हू। वे बाहर गये है। अभी आते ही होंगे। कह रहे थे कि काकाजी आनेवाले है। आप दोनोमेसे काकाजी कौन है?" थोडी देरके बाद स्वामी आये। बड़ौदेमे स्वामीको जैसा देखा था वैसे अब वे न थे। लबी-लबी दाढी, लंबी-सी चोटी, उस पर एक फीके गेरुए रंगका मफलर और लंबी सफेद कफनीवाली मूर्ति एक लंबी नोकदार लकडी हाथमे लिये मेरे सामने आकर खडी हुई। प्रेमवश हम एक-दूसरेसे लिपट गये। बाबा प्रेमके उद्रेकसे रोने लगे। मैने देखा कि स्वामी मराठीमे आसानीसे बोल नही सकते थे। हरएक वाक्यके साथ बरबस आनेवाले हिन्दी शब्दोको हटानेकी उन्हे कोशिश करनी पडती थी।

रातको हमने क्या खाया, कितनी रात तक बातचीत करते बैठे रहे, और कब आख झपकी, इसका मुझे बिलकुल स्मरण नही है। सिर्फ इतना याद है कि उस वक्त स्वामी पुरश्चरण करते थे, इसलिए दूध पर ही रहते थे। कुछ खाते नही थे। यहा तक कि पानी भी नही पीते थे। नींद ऐसी आई, मानो निर्विकल्प समाधि हो!

१३. अलमोड़ा

अलमोडा हिमालयकी एक शाखा पर बनाया हुआ मनुष्योका घोसला है। अलमोडाकी हवा खास तौर पर मशहूर है। दूर-दूरके क्षयरोगी अप्रैलसे अक्तूबरके बीच यहा आकर रहते है। यहा वे चीडके शानदार और ऊचे-ऊचे पेडोकी राह सन सन-सन बहनेवाली हवाका सेवन करते है, और रानी नौला नामके एक झरनेका पानी पीते है। इस मौसममे चाहे जिस रास्तेसे टहलने निकलिये, इन मरीजोका एकाध समूह जीनेकी इच्छासे बडी मेहनतके साथ हाफता हुआ और फेफडोमे प्राण भरता हुआ जरूर नजर आयेगा। राजयक्ष्माकी इस निस्तेज प्रजा और आसपासकी लावण्यवती प्रकृतिके बीचका अतर तो स्वतत्रता और परतंत्रताके भेद-सा जान पडता था। यह [illegible] जिलेका और कुमाऊ परगनेका सदर मुकाम है। यहा ब्रिटिश अदालत है, छावनी है, पादरियो द्वारा चलाया जानेवाला एक कॉलेज भी है। ये लोग यहा अपना एक खासा उपनिवेश-सा बनाकर रहते है। यहासे ३७ मील पर नैनीताल नामकी एक गंधर्व-नगरी है। इसलिए अलमोडा गोरोके आक्रमणसे बच गया है।

दूसरे दिन सवेरे उठकर हम घूमने गये। गरमियोके दिन थे, फिर भी हमारे यहांके शीतकालसे भी वहाकी ठंड अधिक थी। आसपास हरएक घाटीमे सफेद-सफेद बादल आलसी लोगोकी तरह सोये हुए थे। ऊपर आकाश निरभ्र था। उत्तर

की तरफ नन्दादेवीका शिखर सूर्यकी तरुण किरणोंमे सुवर्ण-मंदिरकी तरह जगमगा रहा था। जहा अब तक सूर्य-किरणें नही पहुंच पायी थी, वहांकी अरुण-सदृश रक्तिमा उषाको भी लजाती थी। हिमालयके घरमे शिखरोका दारिद्र्य नही है। तो भी नन्दादेवीकी सुदरता इतनी अधिक है कि ऐसा मालूम होता है, मानो हिमालयको भी उस पर गर्व हो। और इसीलिए इस शिखरकी प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिए एक अनुचरकी तरह नन्दाकोटाका शिखर उसकी सेवामे उपस्थित है। नन्दा-देवीका वर्णन मै क्या करू ? पूर्वमन्वन्तरके ऋषि मार्कण्डेयने इस देवीका जो वर्णन किया है उसीको यहा दे दू, तो क्या वह बस नही होगा ?

कनकोत्तमकान्तिस्सा सुकान्तिकनकाम्बरा।
देवी कनकवर्णाभा कनकोत्तमभूषणा ।।

इस देवीकी उपासनामे ऋषिको इतनी श्रद्धा है कि वह कहता है·

नन्दा भगवती नाम या भविष्यति नन्दजा ।
सा स्तुता पूजिता ध्याता वशीकुर्याज्जगत्त्रयम् ।।

हमने नन्दादेवीकी दिशामे ही टहलने जाना 'दुरुस्त' समझा। हिमालयमे जगह-जगह देवियोके निवास-स्थान है। शाईदेवी, धूरादेवी, शीतोलीदेवी और पातालदेवी, ये चार अलमोडाकी चार दिशाओंकी रक्षा करती है। हिन्दू समाजके नेताओकी दृष्टि कुछ अद्‌भुत है। जीवनके हरएक अगके साथ वे किसी-न-किसी तरह धर्मका सम्बन्ध जोड देते ह। अगर अलमोडा शहरको स्वतत्र रखना हो, तो आसपासके ये चार स्थान अलमोडा-वासियोके हाथमे रहने चाहिये। यह बात फौजी दृष्टिसे देखनेवालेके ध्यानमे आसानीसे आ सकती है। अब यही बात इन धर्मकारोने लोगोके सामने किस प्रकार पेश की है, सो देखिये। भक्ति और मुक्ति-दायिनी ये चार देविया चार कोनोमे विराजमान है। इनके मंदिरोकी रक्षा करो और इन स्थानोको पवित्र रखो तो—

सैषा प्रसन्नवरदा नृणा भवति मुक्तये ।

मुक्ति यानी आजादी।

और इस ऋषि-वचनका अनुभव लोगोको हर जमानेमे हुआ है। शत्रुकी चढाई होते ही सब मर्द जवान घरसे बाहर निकलकर इन चार मंदिरोमे इकट्ठा होते थे। और जब तक ये चार स्थान उनके हाथमे हो, तब तक शत्रुकी क्या ताब कि वह अलमोडेके चीड़ या देवदारके सीकरूपी बालको भी बाका कर सके ?

हम अस्कोटके रास्ते चीडका जंगल देखने गये। बीचमे एक छोटी-सी पहाडी पर जेल दिखाई दिया। स्वामीने मुझसे कहा—'बंगालके सुप्रसिद्ध नेता अश्विनी-कुमार दत्त इसी जेलमे रखे गये थे।' चीड़का जंगल पार करके आखिर हम बल-ढौटी नामक पर्वत पर पहुचे। किसी समय अंग्रेज सरकारने इसी जगहको शिमला बनानेका विचार किया था। जब स्वामी बिवेकानन्द अमेरिकासे लौटे, तो उन्होंने

इस जगह अद्वैताश्रमकी स्थापना करनेका निश्चय किया था। लेकिन सुनते हैं कि जिस दिन उन्होने सरकारसे उस जगहकी मांग की, उसी दिन वहांके कमिश्नरने वह स्थान पादरियोंको दे दिया। यहां ईसाई बने हुए पहाड़ी लोगोंकी बस्ती है। हरखदेवने कहा—"काकाजी, देखिये इन पादरियोंकी चालाकी! ये अब यहांके लोगोंको ईसाई बना लेते हैं, तो उन्हें दूसरे प्रांतोंमें ले जाते हैं, और दूसरे प्रांतोंके ईसाई बनाये हुए लोगोंको यहां लाकर रखते हैं, ताकि समाजके साथ उनका सम्बन्ध टूट जाय और लोगोंमें भी इन पादरियोंके खिलाफ द्वेष पैदा न हो। हमारे प्रांतके कितने लोग इस तरह ईसाई बना दिये गये हैं, इसका कोई पता नहीं। दूसरे प्रांतके अनेक लोगोंको ईसाई बनते देखकर उस प्रांतके लिए भी हमारे दिलमें नफरत पैदा होती है।" हरखदेवकी यह मार्मिक आलोचना सुनकर मुझे बहुत मजा आया। वहांसे हम नीचे पातालदेवीकी तरफ उतरे। साढ़े सातका वक्त था।। और, जब हम उतर रहे थे, तब घाटीमें ऊघते हुए बादल स्कूली लड़कोंकी तरह आंखें मलते हुए उत्तरके हिम-प्रदेशकी पाठशालाकी ओर जाने लगे थे। पातालदेवीका स्थान साधुओंके रहनेके लिए विशेषरूपसे अनुकूल है। वहां खूब एकांत है। पानीका सुंदर झरना है, और कलेजेको ठिठुरा देनेवाले पहाड़ी झंझावातसे यह स्थान सुरक्षित है। यहीं पहाड़के इस तरफ एक एकाकी वृक्ष है, और वह इतना बड़ा है कि दूर-दूरके पहाड़ों परसे दिखाई देता है। सिंहगढ़ पर तानाजीकी घाटीका जो महत्त्व है, वही यहां पातालदेवीके इस स्थानका है। पातालदेवीसे आगे चढते-चढ़ाते हम अपने डेरे पर लौटे। मुझे भूख तो ऐसी कड़ाकेकी लगी थी कि अगर मैं मुलायम कंकड़ बीन-कर खाता तो वे भी हजम हो जाते, इसमें मुझे कोई शक नहीं।

घर पर नेपाली भिश्तीने पानी तैयार रखा था। उसमें हम नहाये। सारी थकान उतर गयी, और शरीरमें फिर दस मील चल सकने लायक उत्साह आ गया। हमने अपना नित्यपाठ समाप्त किया। इतनेमें हरखदेव खाना ले आया। उसमें 'ओगल' नामके एक जंगली बीजके आटेका हलुवा भी था। दोपहरको हम 'हिल बॉइज स्कूल'के संचालक श्री हरिराम पांडे वकीलसे मिलने गये। हरिराम पांड़े एक सात्त्विक और संस्कारी सज्जन हैं। साधारण शिष्टाचारी प्रश्नोत्तरके बाद उन्होंने मुझसे यह सलाह पूछी कि 'हिल-स्कूल' सरकारी ग्रांट ले या न ले। मैंने कहा—"ग्रांट बिलकुल न लेनेमें ही बुद्धिमानी है। थोड़ीसी मददके लिए हम अपनी स्वतंत्रता गंवा देते हैं, और जब इंस्पेक्टरको खुश करनेकी वृत्ति एक बार हममें पैदा हो जाती है, तो फिर जनहित किस बातमें है इसका विचार हमें नहीं रहता। सरकारकी नीति तो स्पष्ट है—'युवर मनी, अवर कंट्रोल' (धन तुम्हारा, सत्ता हमारी)।" पांडे साहबको यह अंतिम सूत्र बहुत ही पसंद आया। और उन्होंने ग्रांट न लेनेका निश्चय किया। फिर उन्होंने अत्यन्त विनयपूर्वक मुझसे कहा—"आप लोग साधु बनकर घूमते फिरते हैं, इसके बदले समाज-सेवा करें तो

क्या हर्ज है ? साधु लोग नाहक यहांसे वहां भटककर समाजके लिए भाररूप क्यों हों।" उन्हें क्या पता कि समाज-सेवाका भूत उनकी बनिस्बत मुझपर ज्यादा सवार था, और उससे छुटकारा पानेके लिए ही मैं यहां हिमालयमें आया था ?

समाज-सेवा करनेके लिए भी अधिकार चाहिये आज अनधिकारी लोग सेवा-कार्यकी जिम्मेदारी लेकर समाजमे जो गड़बड़ी पैदा करते हैं, उससे वे मुंह मोड़ लें तो भी बड़ी-से-बड़ी समाज-सेवा हो सकती है। डर यह है कि कही यूरोपकी तरह यहां भी समाज-सेवा एक पेशा न बन जाय। विलायतमें किसी समय बैरिस्टर एक बहुत निरपेक्ष समाज-सेवक था। वही आज जोंककी तरह अपने मुवक्किलोंका खून चूसनेवाला बन गया है। मैने वकील साहबसे पूछा—"आप जो समाज-सेवा कर रहे है, क्या उसके सिलसिलेमे आपको यह अनुभव नही हुआ कि कुछ निकम्मे लोग बीचमे नाहक टांग न अड़ायें, तो आपका काम थोड़ी मेहनतसे ज्यादा अच्छा हो ? उन्होने उत्तर दिया—"अजी साहब, यह अनुभव तो पग-पग पर होता है। सारी शक्ति इन नालायकोंके विरोधका सामना करनेमे ही खर्च हो जाती है। और आखिर आदमी निराशावादी बन जाता हे।" मैंने कहा—"तब इस बारेमे हम लोग आपको अभयदान दे रहे है, यह क्या कम है ? आत्मोन्नति और समाज-सेवा में विरोध नही है। फिर भी इस काल्पनिक विरोधको स्वीकार करके मै कहता हूं कि आत्मोन्नतिकी साधना करना हरएकका कर्तव्य है। समाज-सेवाके लिए यह नही कहा जा सकता। समाज-सेवाके लिए बहुत कुछ कुशलताकी जरूरत है। वह एक तरहकी कसरत है। हमारा अपना पतन न हो, और समाज भी परावलम्बी तथा निष्प्राण न बने, इस आदर्शको संभालते हुए ही समाज-सेवा करना उचित है। नही तो धर्म करनेमें अधर्मको पोषण मिलेगा।" पाडेजी कुछ वोले नही। कदाचित् उन्हें संतोप हो गया होगा। अलमोड़ाकी हवाके बारेमे उन्होंने कहा—"आप अपने मैदानवाले लोगोंसे कहिये कि तपेदिकके इलाजके लिए यहां आना हो, तो बीमारीके शुरू होने ही यहा आनेमे फायदा है। बहुतेरे लोग बिलकुल आखिरमें यहा आते हैं, और यहाकी तीक्ष्ण हवा वरदाश्त न कर सकनेके कारण नाहक मौतके शिकार होते हैं। मेरा यह संदेशा आप 'देश' के लोगों तक जरूर पहुंचाइयेगा।" पुस्तकोंसे मै ऊब गया था, फिर भी उनके यहा 'शब्दकल्पद्रुम'की मोटी-मोटी जिल्दे देखकर मेरी लालची नजर उन पर पड़े बिना न रही।

लौटते समय हम आशाबाबू नामक एक बंगालीके घर गये। वे ब्राह्मो थे। उनके साथ वेदांत, तंत्र, शक्तिपूजा और ब्राह्मधर्म पर खूब चर्चा हुई और सांझ होते ही हम 'ग्रेनाइट' पहाड़ी पर पहुंचे। वहांसे चारों ओरका दृश्य भव्य और मनोहर लगता था। नंदादेवीने संध्याका पीत वस्त्र परिधान किया था, और संध्या-को आशीर्वाद देकर वह उसे विदा कर रही थी। तारे चमकने लगे थे, आकाश-गंगामें हंस नहा रहा था। बहुतसे देवता भी जल-विहार कर रहे थे। उनके दर्शनसे

पावन होकर हम धीरे-धीरे घर आये।

घर पर भिश्ती भक्तिभावपूर्वक स्वामीसे गीता सीखनेकी राह देखता बैठा था। सुबहके नौकरको शामके वक्त प्रिय शिष्य बना हुआ देखकर मेरा हृदय हर्षसे उमड़ उठा। थोड़ी देरके बाद श्रद्धाधन दरजी साईंजी भी आया। इस आदमीने अपनी जिंदगी जुएमें तबाह कर दी थी। स्वामीके सम्पर्कसे उसके दिलमें उपरति उदय होने लगी थी। मैंने स्वामीसे कहा—"आज 'अपि चेत्सुदुराचारो' पर प्रवचन कीजिये।"

अपि चेन्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।

जब स्वामीने इस श्लोकका रहस्य हिन्दीमें समझाया, तो साईंजीका कंठभर आया। उसने कहा—"नहीं सामीजी, हम अभी शुद्ध नही हुए। हमको अब भी कभी-कभी मोह होता है। पाप हमारे दिलमें घुस आता है।" मेरे दिलमें विचार आया—"हमारे धर्मोपदेशक दक्षिणाके पीछे मरते हैं। इन गरीब लोगोंको धर्मका प्रसाद कौन बांटेगा? कौन इन्हें आश्वासनके वचन सुनायेगा? पतितोंको अस्पृश्य मानकर हमारे धर्मगुरु स्वयं अस्पृश्य बन गये हैं, और हिन्दूधर्मका पतित-पावनत्व खो बैठे हैं। गुहक और शबरीको अपने आत्मीय माननेवाले रामचंद्रकी अब यह भरतभूमि नही रही।" इस प्रकार विचार करता हुआ मैं बिस्तर पर लेटा। बाहर सन-सन करता हुआ पवन मेरे विचारोके साथ ताल दे रहा था।

१४. खाकीबाबा

हिमालयसे लौटकर आये हुए मनुष्यसे सब कोई एक ही सवाल पूछते हैं—"वहां आपको कोई साधु-महात्मा मिले?" लोगोंका क्या खयाल है, सो मैं जानता नहीं। क्या लोग यह समझते हैं कि हिमालयमें पेड़ोके बदले साधुओंका ही वन उगता है? जिस तरह मैं हिमालय गया था उसी तरह बहुतसे साधु हिमालय जाते हैं। जैसे वह होटलवाला विशारद वहां जा बसा है, वैसे ही कई साधु भी हिमालयमें रहते हैं। लेकिन लोगोंको ऐसे साधुओंकी तलाश नहीं। ऐसे साधु तो उनके घर भी भीख मांगने आते हैं। उन्हें तो चाहिये त्रिकाल-ज्ञानी, चमत्कार-पटु और बिना कुछ खाये जी सकनेवाले महात्मा, जिनके चरणभर छूनेसे मोक्ष प्राप्त हो जाय, या कोई अजीब कीमिया मिल जाय, अथवा और कुछ नही तो कम-से-कम किसी बीमारीकी अद्भुत जड़ी-बूटी ही अनायास हाथ लग जाय! राजनीतिमें दिलचस्पी रखनेवाले लोग पूछते हैं—"हिन्दुस्तानके भविष्यके विषयमें आपको हिमालयके साधुओंसे कुछ मालूम हुआ है?"

इन सब प्रश्नोका जवाब मैं एक ही वाक्यमे दे डालता हूं। मैं साधुओंकी तलाशमे गया ही न था। उपदेशके रूपमे मुझे जो कुछ मिला था, वह मेरे लिए काफी था। मुझे तो अपनी साधना स्वतः ही करनी थी। जिस प्रकार परान्नजीवी रहकर दूसरेका आश्रित बनना लज्जास्पद है, उसी प्रकार किसी साधुकी तपश्चर्यामे से भीखका टुकड़ा पानेकी और उसके भरोसे सुखी होनेकी इच्छा भी आध्यात्मिक दरिद्रताकी द्योतक है। साधुओंके दर्शनसे हमारा हृदय पवित्र हो उनका वैराग्य हमारे अदर उद्भूत हो, उनकी ईश्वर-निष्ठा हममे पैदा हो, और उन्हीके जैसी तपस्या करनेकी निश्चय-शक्ति हमे भी प्राप्त हो, यह इच्छा उचित है। लेकिन उनके प्रसादके रूपमे हमे कुछ मिले और हम अनायास, सेतमेतमे, सुखी बन जाय, ऐसी इच्छामे तो पामरता ही भरी हुई है। बाजारसे साग-तरकारी खरीदते वक्त पूरा तुलवानेके बाद भी दो-चार आलू या मिर्च और मागनेवाला ग्राहक, देशसेवामे एक सामान्य सैनिककी योग्यता रखते हुए भी अपनी सेवासे ही राष्ट्रको स्वातत्र्य मिलता हो, तो उसी एक शर्त पर अपनी बलि देनेकी इच्छा रखनेवाला देशसेवक; अग्रेज लोगोसे माग-मागकर और उन्हे तग कर-करके स्वराज्य प्राप्त करनेकी उम्मीद रखनेवाले लोग; और महात्माओके चरण-स्पर्श या वस्त्रस्पर्शसे या उनकी जूठन खाकर यह आशा रखनेवाले कि उनकी तपस्याका कुछ अश बिजलीकी तरह हमारे अदर भी सहज ही दाखिल हो जायगा—ये सभी रंक है। बिना मेहनतके मोक्ष भी मिले, तो उस मोक्षका मूल्य ही क्या ? और इस पिशाच-बाधाको मोक्ष कहा भी कैसे जाय ?

साधुओके विषयमे हम लोगोंमे बहुत ही अजीब खयाल पाये जाते है। कुछ लोग तो साधुको एक जीती-जागती जडी-बूटी या मत्र ही समझते है। कुछ लोगोका खयाल है कि वे ससारको ठगनेवाले, ढोगधतूर चलानेवाले और मुफ्तका माल उडाकर मसजिदमे सोनेवाले आलसी ठग हैं, क्यो कि वे न तो कोई समाज-सेवा करते है, और न द्रव्योपार्जन ही। एक राष्ट्रभक्तने मुझ पर अपनी यह इच्छा प्रकट की थी कि इन सारे साधुओ को पकड़कर उनकी एक फौज बनाई जाय और उसे कवायद सिखाकर अंग्रेज सरकारसे लड़नेके लिए भेज दिया जाय। आज सब कोई जानते है कि हिन्दुस्तानमे साधुओंकी संख्या बावन लाख है; और अर्थशास्त्र जाननेवाले हमारे विद्वान लोग राष्ट्रकी शक्तिका इतना अपव्यय भला कैसे सह सकते हैं? इसलिए इन बावन लाख साधुओंके साथ क्या किया जाय, इसी चितासे कितने ही देश-चितक सूखकर काटा हो रहे है ? संसार असार है, उसमे एक रोटी और दो लंगोटीकी जरूरत रखकर निर्लेप रहो, और हरिनाम लो अथवा आत्म-चिंतन करो—यों कहनेवाले साधुओंको खाकी पोशाक पहनाकर हाथमे बंदूक और संगीन देकर और कमरबंदमे प्राण-घातक बारूदके कारतूस बंधवाकर 'लेफ्ट, राइट, लेफ्ट' करानेका दृश्य क्या हिन्दू-धर्मकी विजयका सूचक होगा ?

यह कोई नहीं कहता कि आजके साधु आदर्श साधु हैं। खाकीबाबा हमेशा कहा करते—'जैसा जुग वैसा जोगी।' जोगी न तो आसमानसे टपकते हैं और न जमीनमें से पैदा होते हैं, बल्कि वे तो अपने जमानेके समाजमेंसे ही उत्पन्न होते हैं। अपने ही दोषोंको साधुओंमे उतरा हुआ देखकर सांसारिक लोगोंको इतना अचरज क्यों होता है? यदि साधुवर्गको सुधारना है, तो समाजको ही सुधारना पड़ेगा। अर्थात् हरएक अपने-आपको ही सुधारे। हमने तो सभी साधुओंको एक-सा ही माना है। साधुओंमें घुल-मिलकर उन्हें परखा किसने है? कुछ साधुओंमें आपके संसारी लोगों-की अपेक्षा अधिक कुलीनता, अधिक भूतदया और अधिक उद्यमशीलता होती है! उन्हें दुनियाका जो ज्ञान होता है, उतना प्राप्त करनेके लिए आप अपनी सारी लायब्रेरियां उलट डालें, तो भी वह पर्याप्त न होगा।

एक दिन सवेरे हम जल्दी उठकर 'ग्रेनाइट' पहाड़ी पर टहलने गये थे, और वहां एक देवदार वृक्षके नीचे बैठकर इमर्सनके 'सर्कल्स' पर बातचीत कर रहे थे। इतनेमें दाहिनी तरफ दूर बादलोंसे ढंका हुआ एक छोटा-सा किला दिखाई दिया। मैंने स्वामीसे पूछा—"यह एक छोटे टापू-जैसा क्या दिखाई देता है? कोई मंदिर या साधुओंका अखाड़ा तो नही है?" स्वामीने कहा—"यही तो खाकीबाबाका खगमरा कोट है। हम दोपहरमें वहां चलेंगे। खाकीबाबा एक दिव्य पुरुष हैं। मैं अक्सर उनके पास जाया करता हूं। एकादशीके दिन उनके यहां सारी रात भजन होता है। वहां एक बंगाली साधु भी आता है वह जितना भक्त है, उतना ही अप्रतिम गायक भी है।"

अपने निश्चयके अनुसार हम दोपहर खाकीबाबाके दर्शनोंको गये। अलमोड़ेकी गोदसे उतरकर हम एक नौए (झरने) के पास पहुंचे। वहां मिसरी-सा मीठा पानी पिया और खगमरा पहाड़ी चढ़कर 'थानक' में पहुंचे। बाबा लोगोंका 'टाउन-प्लैनिंग' देखने लायक होता है। वे एक-दूसरेकी फैशनका अनुकरण करनेवाले शहरियोंके समान भेड़चाल चलनेवाले नही होते। उनके अखाड़ोंकी रचनामे प्रयोजन होता है। उनका हरएक भाग साभिप्राय बना होता है। सारी रचना उपयुक्त, प्रमाणबद्ध और काव्यमय होती है। ऐश-आरामकी सुविधाके बिना मकानमें कितनी सुंदरता पैदा की जा सकती है, इसका एक प्रदर्शन ही वहां मौजूद रहता है। खुद खाकीबाबा जिस झोंपड़ीमें रहते थे, वह एक अठकोनी झोंपड़ी थी। ऊपर लकड़ीके लंबे-लंबे तख्तोंका छप्पर था, जो ऊपरकी तरफ बरसातसे और भीतर धूनीके धुएंसे विवर्ण हो गया था। बीचमें एक बड़ी धूनी जल रही थी। धूनीमें लोहेके दो-चार चिमटे और एक-दो त्रिशूल खोंसे हुए थे। पास ही लकड़ीका एक लंबा, चौड़ा और मोटा तख्ता था, और उस पर खाकीबाबाकी भव्य मूर्ति विराजमान थी। आसपास पहाड़ी शिष्यवृन्द बैठा था। धूनीके पास एक लुटियामें पानी गरम हो रहा था। हम अंदर गये। झुककर बाबाको प्रणाम किया और बैठे।

बाबाने बड़े प्रेमसे हमारा स्वागत किया। स्वामीने उन्हें हम दोनोंका परिचय कराया। यह सुनते ही कि मैं बेलगामसे आया हूं, वे बोल उठे—"आप बेलगामके हैं या शाहपुरके?" मैं दंग रह गया। बेलगाम और शाहपुर पास-पास बसे हैं। उनके बीच पूरा एक मीलका भी फासला नही है। अच्छा, तो हिमालयके इस साधुको बेलगाम और शाहपुरके भेदका भी पता है! "मैं शाहपुरका हूं।" खाकीबाबा बोले—"आपका शाहपुर तो सांगलीकी हदमे है। वह ब्रिटिश राज्यमे नहीं। आपके यहां मारवाड़ी लोगोने बालाजीका जो मंदिर बनवाना शुरू किया था, वह पूरा हुआ?" मैंने वहांका सारा हाल सुनाया। बादमें, मैने क्या-क्या किया, कहां-कहां घूमा, सो सब उन्होंने मुझसे पूछ लिया। मैं कुछ कम घूमा न था। फिर भी मै जिस गांव या शहरका नाम लेता, वहांकी सारी तफसील सुनाकर वे इस तरह सवाल पूछने लगते, मानो वे वहींके बाशिंदा हो।

उसके बाद मरढेकर बाबाकी बारी आई। बाबा रामदासी सम्प्रदायके थे। इसलिए उनके मठ, उनके सम्प्रदाय आदि सभी चीजोके बारेमे पूछताछ की। घड़ीभरमे ही हमने देख लिया कि हिन्दुस्तानके भूगोल और धार्मिक इतिहासके बारेमे खाकीबाबाका ज्ञान 'इंपीरियल गैजेटियर्स' से बढ़कर था; और यह सब स्कूल या कॉलेजमें बिना गये और बिना 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' के सदस्य बने प्राप्त किया गया था! खुद हमारे ज्ञानको लगभग समाप्त होते देख उन्होंने हमें ज्यादा सवाल पूछकर लज्जित नही किया।

बादमे हमने कहा—"हम गंगोत्री, जमनोत्री, केदार, बदरी आदि तीर्थस्थानोंकी यात्रा करना चाहते है। और स्वामीको तो कैलाश भी जाना है।" फिर क्या था। उन्होंने हिमालयके सभी तीर्थोंका वर्णन करना शुरूकर दिया! हमे परेशानसा देखकर उन्होने अपनी बगलमे पड़ी हुई लकड़ीकी एक तख्ती उठायी और सफेद मिट्टीकी एक डली लेकर चटसे एक कामचलाऊ नक्शा बना दिया। उसमे बदरीनारायण जानेके चार रास्ते दिखाये गये थे। वे कहने लगे—"ज्यादा-से-ज्यादा रेलकी यात्रा करके कम-से-कम पैदल चलना हो तो यह रास्ता है; खाने-पीनेका सुभीता चाहते हो तो यह रास्ता है; जल्दी पहुंचना हो तो यह तीसरा रास्ता है। लेकिन इस रास्तेके लिए आपको अपने साथ काफी खुर्दा (चिल्लर) रखना होगा। आपके 'नोट' वहां नही चलेंगे, और गरीब लोगोके पास काफी चिल्लर भी नही मिलेगी।" चौथा रास्ता उन्होंने अपने रास्तेके नामसे बतलाया। उसमें जंगल और सृष्टिशोभा अधिकसे अधिक थी। यह रास्ता बिलकुल निर्जन था, और किन्ही दो बस्तियोके बीच कम-से-कम चालीस मीलका फासला रहता था।

मैंने पूछा—"महाराज, आप बदरीनारायण कब पधारे थे?" उन्होंने कहा—"कुल मिलाकर सत्रह बार गया हूं!" स्वामीको कैलाश जाना था इसलिए मैंने बाबाजीसे पूछा—"आप कैलाश भी गये होंगे?" उन्होंने कहा—"आठ बार!"

और, वे इस तरह वहांका वर्णन करने लगे, मानों सारे रास्तेका चित्र ही उनकी आंखोंके सामने मौजूद हो ! इसके बाद कैलाशके रास्ते पर रहनेवाले मोरपंखीबाबा नामक एक साधुका वर्णन शुरू हुआ, जो हर साल कैलाश-यात्रा करते थे। बादमें हमने आसपासके प्रदेशमें रहनेवाले सोमवारगिरि बाबा जैसे दूसरे सत्पुरुषोंके विषयमें पूछताछ की । हिन्दुस्तानके भिन्न-भिन्न प्रांतोंकी आबोहवा, खान-पान, रहन-सहन और स्वभावका अपना अनुभव उन्होंने सुनाया। गुजरातकी धर्मश्रद्धा-की उन्होंने बड़ी तारीफ की महाराष्ट्रका आदरातिथ्य उन्हें बहुत अच्छा लगा था। बंगालकी गंदगीऔर जलाशयोंकी स्वच्छताके विषयमें वहांवालोंकी लापरवाहीकी उन्होंने शिकायत की। रामेश्वरकी तरफके मंदिरोंकी व्यवस्थामें क्या-क्या त्रुटियां हैं, सो भी उन्होंने बताया।

इसके बाद उन्होंने हमसे चाय पीनेका आग्रह किया। हिमालयकी चाय लिप्टनकी चाय नही होती; वहींकी पैदावार होती है। और वहां उसे बनानेका तरीका भी और ही होता है । वहांवाले कहते हैं कि हिमालयकी सख्त ठंडमे यह चाय बड़ी उपयोगी होती है। हमने चाय पीनेसे इनकार किया। इस पर उन्होंने बगलमें रखी हुई एक टोकरीमेंसे पेड़े देनेके लिए अपने एक सेवकसे कहा। मैंने कहा—"मैं खांड नहीं खाता।' उन्होंने कहा—"यह खांड तो देशी होती है। मैं हर साल कानपुरसे खास अपने लिए मंगाता हूं ।" (बादमें मुझे मालूम हुआ कि खाकीबाबाके यहां जो शक्कर बरती जाती थी, वह हर साल पीलीभीतके राजा ललिताप्रसादकी तरफसे भेजी जाती थी, जो गुमाश्तेकी देखरेखमें खासतौरसे कानपुरके कारखानेमें बनवायी जाती थी और बादमें बोरोंमें भरकर एक ही खेपमें पहाड़ पर पहुंचा दी जाती थी।) मैने कहा—"मुझे माफ कीजिये। छह साल तक शक्कर बिलकुल ही न खानेका मेरा व्रत है।" लेकिन बाबा यों सहज ही छोड़नेवाले न थे। तुरंत ही मुझे बादाम और छुहारे दिये गये, और फिर बातोंका सिलसिला चल पड़ा।

बाबाने पीनेके लिए लोटेमेंसे गरम पानी लिया, लेकिन पीनेसे पहले उसकी दो-चार बूंदें अग्निको अर्पण कीं। मुझे इस पर कुछ आश्चर्य हुआ। यह देख स्वामी ने मुझसे कहा—"खाकीबाबा जो भी कुछ खाते या पीते हैं, उसे पहले अग्निको अवश्य अर्पण करते हैं।" खाकीबाबा बोले —"अपने राम तो दिनमें एक ही बार एक 'बाटी' बनाकर 'पा' लेते हैं। आज दोपहरको जो पाया सो फिर कल दोपहरमें पायेंगे।" मैंने मन-ही-मन कहा—"तो फिर क्या ये पेड़े और बादाम और छुहारे हम-जैसे अतिथियोंके लिए ही हैं ? धन्य है इस साधुको !" खाकीबाबाकी कमरमें मुंजकी एक मोटी रस्सी पड़ी थी, और उस पर एक बित्ताभर चौड़ी कोपीन; सारा शरीर भस्म-चर्चित था। दाढ़ी और मूंछके लम्बे-लम्बे बाल तप-तपकर लाल हो गये थे।

बादमें आजकलके साधुओंके धर्मोपदेशोंके बारेमें बातचीत चली। कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग साधु हो जाते हैं। वे अंग्रेजीमें पुस्तकें लिखते हैं, व्याख्यान देते फिरते हैं और समाज-सेवाके पाठ सिखाते हैं—यह सब देखकर खाकीबाबाकी हंसी रोके न रुकती थी।

वे बोल उठे—"आप अंग्रेजी पढ़े-लिखे साधु गरीबोंकी क्या सेवा करते हो? दुखियोंको कौनसा दिलासा देते हो?" और फिर अचानक शून्य दृष्टिसे सामने-वाली धर्मशालाकी तरफ टकटकी बांधकर देखते हुए उद्वेगपूर्वक वे स्वगत कहने लगे:

"साले-ससुरे लेक्चरबाजी करते हैं। उनमें भी और कोई विवेकानन्द बननेकी तो ताकत नही; खाली ट्रांसलोचन करते हैं! भगवानका नाम लो, कुछ तप करो। बन सके तो भूखेको अन्नदान दो; और अपना काम करो। ये क्या खाली बकबक लगाई है?"

स्वामीने पूछा—"क्या आप इस साल बदरीनारायण जानेवाले है?" बड़ी-बड़ी दरारोंवाले अपने तलवे दिखाते हुए उन्होने कहा—"ईश्वरने मुझे यह सजा दी है। यह बच्चा यात्राका बेहद शौकीन बन गया है, इसलिए इसे एक जगह जकड़कर रखना जरूरी है, ऐसा सोचकर ईश्वरने ही मेरे पैरोंकी यह हालत कर डाली है। अब अगर मुझे जाना हो, तो टाटके जूते पहनने होंगे।"

खगमरेमें रहकर खाकीबाबा जो मूक समाज-सेवा करते थे, उसका हिसाब कौन लगा सकता है? वे बीमारोंको दवा देते थे; व्यवहार-कुशल और निस्पृह तो थे ही; इसलिए दुविधामें पड़े हुए संसारी लोगोंको सलाह-मशविरा देते थे; भूखे-प्यासे सब खगमरेमें आकर अघा जाते थे; भाई-भाईके जिन टंटोंका निपटारा अदालतमें नही हो सकता था, उनका तसफीया खाकीबाबाके उपदेशसे हो जाता था। वे स्वयं योगमार्गी थे, और आखिरी घड़ीमें पद्मासन लगाकर प्राणोंको ब्रह्मांड-में ले जानेकी उनकी अभिलाषा थी। संसारके द्वन्द्वोंसे वे निवृत्त हो गये थे, फिर भी उस निवृत्तिमेंसे उन्होने सात्त्विक प्रवृत्तिका निर्माण किया था और उस सात्त्विक प्रवृत्तिमे भी कमल-पत्रकी तरह अलिप्त रहनेका अद्‌भुत योग उन्होंने साध लिया था।

धर्मकी चर्चा करनेवाले हमारे आधुनिक विद्वानों, नीति-निपुणों, समाज-सेवकों और अर्थशास्त्रियोंको साधुओंकी टीका करनेसे पहले पूर्वग्रहरहित निर्मल वृत्तिसे उनके जीवनका अध्ययन करना चाहिये। और कुछ नही तो कम-से-कम इतना तो हम साधुओंके जीवनसे सीख ही सकते हैं कि इस देशमें किस तरहके रहन-सहनसे स्वास्थ्य-रक्षा भली-भांति हो सकती है। इस विषयमें उनकी सेवा देशके लिए इतनी आदर्शरूप है कि उस हद तक साधुओं पर खर्च होनेवाला पैसा सार्थक माना जा सकता है। क्या घर-गिरस्तीमें रहकर व लोगोंकी अधम वृत्तियों

का पोषण करके धन कमानेवाले और मरते समय बेजान और बेशऊर बालबच्चों-की फौज अपने पीछे छोड़ जानेवाले लोग समाजके हितकारी हैं, और ये साधु 'मुफ्तका खानेवाले' है ? वाह रे न्याय !

जरा अपनी समाज-सेवाकी संस्थाओं पर तो दृष्टि डालिये। वे कितनी खर्चीली होती हैं ! उनके व्यवस्थापकोंको कितनी बड़ी-बड़ी तनख्वाहें देनी पड़ती हैं ! उनकी रिपोर्टें छपवानेके लिए भी पैसोंका और सत्यका कितना व्यय करना पड़ता है ! और तिस पर भी बहुत सारे मामलोंमें पैसोंका जो गोलमाल और गड़बड़ होता है, सो तो देखते ही बनता है। दूसरी तरफ, साधुओं द्वारा चलनेवाली संस्थायें अज्ञात होती हैं, उनके विवरण कभी नही छपते। न कोई उनके 'लाइफ मेम्बर' होते हैं, न 'पैट्रन'। लेकिन फिर भी सारा खर्च बहुत हद तक किफ़ायतसे किया जाता है, और पाई-पाई काम आती है।

हिन्दुस्तानका अप्रतिम लोक-साहित्य इन साधुओंकी कृपासे अब तक जिन्दा है, और भविष्यमें भी जिन्दा रहेगा। धार्मिक संस्कृतिकी रक्षा, अभिवृद्धि, विस्तार और सुधारके लिए दुनियामें इतनी उन्नत, सस्ती और विश्वासपात्र व्यवस्था और कही नही मिलेगी।

ऐतिहासिक एवं भौगोलिक प्रमाण उपस्थित करके पुस्तकें लिखनेवाले विद्वानोंने हिन्दुस्तानकी राष्ट्रीय एकता भले ही साबित की हो, लेकिन उस राष्ट्रीय एकताके निर्माणका श्रेय तो साधुओंको ही है। पुराने जमानेमे हरएक प्रजाहित-दक्ष राजा अपनी राजधानीमें किसी साधुके पधारते ही दर्शनोंको जाता था, और दूर-दूरके प्रदेशोंका क्या हाल है, लोगोंकी कैसी स्थिति है, वगैरा बातोंकी पूरी-पूरी जानकारी उससे प्राप्त करता था। और वह साधु भी राजधानीसे बिदा होते समय राजाको आशीर्वाद देने जाता था, और उसके राज्यमे जो कुछ देखा-भाला हो सब साफ-साफ कह देता था। इस प्रकार दीन-रंक प्रजाकी पुकार और फरियाद भी ऐसे निःस्वार्थ से-निःस्वार्थ वकीलकी मारफत राजाके कानों तक पहुंच जाती थी; राजाके अहल-कारो पर यह एक जबरदस्त अंकुश रहता था; और कीर्तिका अभिलाषी हरएक राजा भी साधुकी धर्मबुद्धिको जचने और संतोष देनेवाली राज्य-व्यवस्था बनाये रखनेकी चितामे रहता था।

साधु जब गांवमें विचरण करता, तो ग्राम्य-देवताके मन्दिरमें या किसी पेड़ तले अपनी धूनी रमाता। वहां उससे गांवके लड़के किस्से-कहानियों द्वारा लोक-जीवन और भूगोलका ज्ञान हासिल करते थे; व्यापारियोंको व्यापारकी जानकारी मिलती थी; शूरवीरोंको यह मालूम हो जाता था कि उनकी बहादुरीकी कद्र कहा हो सकती है; गावकी पुरखिनोके दवा-दारू-सम्बन्धी ज्ञानमे वृद्धि होती थी; दुखियोंकी बीमारी दूर होती थी; और कई दफा गांवके पुराने मंदिर या धर्म-शालाका जीर्णोद्धार भी हो जाता था। तितली जिस तरह एक फूलसे दूसरे फूल पर

फुदककर सारे पौधोंको सुफलित करती है, उसी तरह साधु भी एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें भ्रमण करके संस्कृतिका लेन-देन करनेवाले बनजारे बनते हैं, और देश-देशमें संस्कृतिकी मण्डियां खोल देते हैं। समाजके उच्च और संस्कारी वर्गके लोग गृह-लोलुप बन गये, उनमें संयमका स्वाद न रहा और उसके फलस्वरूप साधुओंमें भी अच्छे लोगोंकी संख्या कम होने लगी। समाज निठल्ला, विषयासक्त और लालची बन गया; साधुओंका पालन सिर्फ इसी गरजसे होने लगा कि उनकी कद्र किये बिना धर्मका पुण्य पल्ले पड़ता रहे। फलतः समाजके साथ-साथ वह वर्ग भी गिर गया। अब हम दूसरोंकी टीका-टिप्पणीसे प्रभावित होकर उस वर्गका नाश करने पर उतारू हो गये हैं।

इस तरह हमने अपनी संस्कृतिकी प्रत्येक उच्च और उदात्त संस्थाको प्राणोंके अभावमें सड़ने-गलने दिया है, और आज उसे सुधारनेके बदले उसे नष्ट करके हम असंस्कारी और असंगठित स्थितिसे ही चिपटे रहना चाहते हैं। यूनान, रोम, मिस्र आदि राष्ट्र मिट चुके हैं; अकेला हिन्दुस्तान जिन्दा है; इस बात पर गर्व करनेवाले हम लोगोंको याद रहे कि हिन्दुस्तानके जिन्दा होनेका अर्थ यह है कि अब तक हिन्दुस्तान अपनी पुरानी मगर ताजी संस्कृतिसे पैदा हुई संस्थाओंको टिकाये हुए है और उन्हें सुधार रहा है। ये संस्थायें टूटीं कि समझिये हिन्दुस्तानने कब्रिस्तानमें प्रवेश किया !

मेरे मनमें इसी तरहके विचारोंकी धमाचौकड़ी मच गयी। फलतः हम खग-मरा पहाड़ीसे वापस कब आये, रास्तेमें लाला बदरीनाथने क्या पूछा, पोस्ट-मास्टरके साथ और कौन-कौन थे, वगैरा बातोंकी तरफ मेरा ध्यान बिलकुल ही नहीं गया। हिमालयकी हवा ध्यानके लिए अनुकूल है, लेकिन उस ध्यानका भंग करनेवाली दो बड़ी जबरदस्त चीजें वहां हैं—एक ठण्ड और दूसरी भूख। दोनोंने मुझ पर एकसा हमला किया था, इसलिए उन दोनोंसे एक साथ अपनी रक्षा करने के लिए हम दौड़ते दौड़ते अपने रसोईघरमें दाखिल हुए।

१५. पदमबोरी

साधुओंमें भी जीवनके दो आदर्श होते हैं। लेक्चरबाजीके लिए हमें फटकार सुनानेवाले खाकीबाबा गरीबोंको अन्नदान करके, मरीजोंको दवा-पानी देकर और दूसरे कई प्रकारसे समाज-सेवा करते थे। कुछ साधु इन दोनों कामोंको भी उपाधि रूप मानते हैं। उनके विचारमें साधुओंको तो केवल आत्मनिष्ठ रहना चाहिए, परोपकारके लिए भी किसी तरहका परिग्रह नहीं करना चाहिये। उनका सूत्र है :

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥

दान करनेके लिए वित्तकी इच्छा रखनेकी अपेक्षा बेहतर यह है कि उसका नाम ही छोड़ दें। कीचड़में हाथ डालकर फिर उसे धोनेकी अपेक्षा कीचड़से दूर रहना क्या बुरा है ?

यह नही कि ऐसे लोग समाजके प्रति उदासीन होते हैं, या उनमें दयाका अभाव होता है। वे कहते है : "आप प्रवृत्तिको भलीभांति पहचान नही पाये हैं। प्रवृत्तिमात्र बन्धनकारी है। और वह जितनी सात्त्विक उतनी ही बन्धनकारी होती है, क्योंकि उसका बन्धन बन्धनके रूपमें प्रतीत ही नहीं होता, और जल्दी छूटता भी नहीं। प्रवृत्तिके ही साधनों द्वारा आप दुनियाका भला किस तरह कर सकेंगे ? केवल उपदेश करनेके लिए न जानेमें भी दयाका अभाव नही। प्रवृत्तिमें फंसे रहनेके कारण आप इस बातको देख नही पाते कि आपका उपदेश अधिकतर निष्फल होता है। जिस आदमीको आपके उपदेशकी जरूरत होगी, वह खुद आपके पास चला आयेगा। यह ईश्वरी योजना है। आपके उपदेश देते फिरनेमे अथवा समाज-सेवाका पेशा लेकर बैठ जानेमें अनादि-कालसे विश्वकी यथातथ रचना करनेवाले प्रभुके विषयमें कितनी अश्रद्धा है, सो आपकी समझमें क्यों नहीं आता ? प्रसंगवश जो उपदेश करना पड़ जाय या किसीकी जो सेवा करनी पड़ जाय, उसे सुचारु-रूपसे करके छुट्टी पानी चाहिये। लेकिन जब तक आप त्रिगुणोंमें फंसे हैं, तब तक स्नेह, दया आदि सात्त्विक गुणोंके विकासके लिए चाहे थोड़े दिन समाज-सेवा करे। लेकिन यह साधन है, चित्तशुद्धिका उपाय है। याद रहे कि उसके द्वारा हमें मोहसे मुक्ति नहीं मिल सकती।" अपने सौभाग्यसे ऐसी वृत्तिवाले एक साधुके दर्शन हमे हुए। यहां वह प्रसंग देता हूं।

अलमोड़ेमें हम लगभग पंद्रह दिन रहे। पंद्रह दिनोंमे हमने खूब देखा, कई अच्छे-अच्छे आदमियोंसे मिल और कुदरतसे भी बातचीत की। स्वामी विवेकानन्द यहां जिनके पास रहते थे, उनसे मिलकर स्वामीजीके विषयमें बहुत-सी बातें जानीं। लेकिन वह सब यहां नही लिखा जा सकता।

'साधु चलता भला'; इसी तरह यात्रा-वर्णन भी झट-झट आगे-आगे न बढ़, तो तबियत उकता जाती है। हमे भी उत्तराखण्डकी यात्रा करनेकी जल्दी थी, इसीलिए अनुकूल समय देखकर हम अलमोड़ेसे रवाना हुए। अलमोड़ेसे वापस काठगोदाम जाकर वहांसे रेल द्वारा हरद्वार और हरद्वारसे उत्तराखण्डकी यात्रा; यह क्रम हमने अपने लिए निश्चित किया था। लौटते हुए मुक्तेसर होकर जानेका हमारा विचार था, क्योंकि मुक्तेसरके पास सोमवारगिरि बाबा नामक साधु रहते थे। उनके दर्शन करनेकी मनीषा थी।

सोमवारगिरि बाबा जहां रहते थे, उस स्थानको पदमबोरी कहते हैं। यह जगह

सब तरहसे काव्यमय है। तीनों तरफ बड़े-बड़े पहाड़ और बीचमें बहती हुई नन्हीं-सी नदी। ये तीनों पहाड़ इतने ऊंचे और इतने सटे हुए हैं कि नदीके किनारे बैठकर ऊपर देखिये, तो आकाशकी विशालता नष्ट होकर वह एक त्रिकोणाकृति छत-सा प्रतीत होता है।

सांझ होते-होते हम पदमबोरी पहुंचे। रास्तेमें हम उस घुमक्कड़ लड़के हरखदेव, गीता सीखनेवाले भिश्ती, भले वकील हरिराम पांडे, बूढ़े बदरीशा, गद्‌गद कण्ठ-वाले साईंजी दरजी, और बुढ़ापेमें पुत्रप्राप्तिके आनंदमें दीवाने बने हुए पोस्ट-मास्टर आदिके विषयमें बातें करते गये। इतनेमें हमारे घोड़ेवालेने (हमारा सामान-असबाब उसके घोड़े पर लदा था) कहा—"यह जो सामने नदीके उस पार छोटा-सा मंदिर दिखाई देता है, वहीं महाराज रहते हैं।" हम पहले तो धर्मशालामे गये। वहां सारा सामान तरकीबसे जमा दिया और फिर बाबाजीके दर्शनोंको निकले।

बाबाजीका नियम था कि दर्शनार्थीको हाथ-पैर धोकर व शुद्ध होकर दर्शनोंको जाना चाहिये। लेकिन चूंकि वे नदीके उस पार रहते थे, इसलिए इस नियमका पालन अनायास ही हो जाता था। हम हाथ-पैर धोकर नदीके प्रवाहमें ही एक बड़ी-सी चट्टान पर बैठ गये। संध्या-वंदन थोड़ेमे निपटा लिया और आगे बढ़े। सामनेवाला किनारा चढ़कर बाबाजीके दर्शन करने गये। बाबाजी तो प्रकृतिकी ही मूर्ति थे। उनके शरीर पर एक लंगोटीके सिवा कुछ भी न था। सिरके बालोंकी जटाएं बन गयी थी, और उनकी छोटी-छोटी लटें आखों और माथे पर खेल रही थीं। हाथमे एक चिलम थी।

हमने जाते ही भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। बाबाने भी उतनी ही नम्रतासे प्रति प्रणाम किया और मंदिरके अहातेकी दीवार पर जाकर बैठ गये, और हम लोगोंको भी अपने पास आकर बैठनेको कहा। हम उनके साथ समान आसन पर कैसे बैठते? नीचे एक सीढ़ी थी, उसी पर जाकर हम लोग बैठ गये। यह ऊंचनीच-भाव बाबाजीसे सहा न गया। वे तुरंत सीढ़ी पर आकर बैठ गये। इस पर हम लोग नीचे पड़ी हुई चटाई पर जाकर बैठे। मगर बाबाजी यों हार माननेवाले न थे। वे बिलकुल खाली जमीन पर जाकर बैठ गये। अब क्या किया जाय? हमने चटाई हटा दी। इस पर बाबाजी बोले—"हे प्रभु, मैं तो तुममें ईश्वरको देख रहा हूं। मैं सवेरेसे राह देख रहा हूं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश—तुम मुझे दर्शन देने आये हो!"

सोमवारगिरि बाबासे हमारी जान-पहचान तो थी ही नही। हमारे आनेकी खबर उन्हे किसीने नही दी थी। तिस पर उस दिन सवेरेसे ही वे अपने पास बैठे हुए लोगोंसे कह रहे थे—"*आज कुछ लोग मुझसे मिलने आनेवाले हैं। मैं उनकी राह देख रहा हूं।*" हमसे वहांके एक किसानने कहा कि उस दिन दोपहरसे ही अपनी जगहसे उठ-उठकर दूर तक देखते और निराश होकर अपनी जगह आकर बैठ

जाते। निराश होने पर भी कहते—"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। आज तो उनको आना ही चाहिए।" हमने कहा—"महाराज, हमारा घोड़ेवाला देरसे आया, वरना हम यहां कबके पहुंच गये होते।" बादमें यात्राकी बातें चलीं। सोमबारगिरि बाबाने कई यात्रायें की थीं। इसलिए खाकीबाबाकी तरह वे भी जीते-जागते विश्व-कोष थे। चाहे जिस प्रांतका जिक्र कीजिए, वे वहांका ब्यौरेवार वर्णन सुना देते थे। भाषा शुद्ध हिन्दी ही होती थी, इसलिए वे साधु कहाके निवासी थे, इसका अन्दाजा कोई लगा नही पाता था।

फिर भी खाकीबाबा और सोमगिरि बाबामें उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुवका-सा अंतर था। दोनों एक ही जून खाते, दोनोंको लगोटीके अलावा दूसरे कपड़ेकी जरूरत ही न पड़ती थी। लेकिन दोनोंके जीवन और जीवनके आदर्शोमे बहुत फर्क था। खाकीबाबा अपना एक मठ बनाकर रहते थे; इधर सोमबारगिरि बाबा किसी जगह ज्यादा दिन तक रहते ही न थे। वे कहते—"एक जगह रहनेसे उस स्थानके प्रति और वहांकी परिस्थितियोंके प्रति एक तरहकी आसक्ति पैदा हो जाती है।" खाकीबाबा तरह-तरहकी जड़ी-बूटियां अपने पास रखते थे। अतिथि, अभ्यागत और पथिकोंको खिलाते-पिलाते थे; लेकिन सोमबारगिरि बाबा पूरे अपरिग्रही थे। न तो कुछ लेते थे, न देते थे। वे मानते थे कि यह प्रवृत्ति उनके जैसे विरक्तोंके लिए है ही नही। जब हम खाकीबाबाके पास गये थे, तो उन्होने पहले हमे मिठाई दी थी, और मेरे यह कहने पर कि मै चीनी नही खाता, उन्होने मेवा दिया था। यहां सोमबारगिरि बाबाने अपनी बाटीका एक-एक टुकड़ा हमे दे दिया। इतना पवित्र अन्न खानेका भाग्य हमेशा थोड़े ही प्राप्त होता है? उसका स्वाद कुछ और ही था। सचमुच इतनी स्वादिष्ट रोटी मैने और कही नही खायी। सोमबारगिरि बाबा उसी दिन सवेरे आसपासके दो-चार गांवके निष्पाप किसानोसे भिक्षा मागकर ताजा आटा लाये थे। उसमे शुद्ध घी और शुद्ध पानी मिलाकर जंगलकी लकड़ियों पर बाबाने खुद अपने हाथों वह बाटी बनायी थी। उस बाटीकी पवित्रता और उसकी मिठासका बखान कौन कर सकता है? अपने ही आहारमेसे अतिथिको हिस्सा देनेकी वृत्ति सोमबारगिरि बाबामे थी, जबकि खाकीबाबामे अतिथिके अनुकूल साधन रखनेकी वृत्ति थी। खाकीबाबा देशी शक्करके बोरे खास कारखानेसे मंगाते थे; और इधर जिस वक्त हम सोमबारगिरि बाबाके पास पहुचे थे, उस वक्त वे चोरीसे विदेशी शक्करका उपयोग करनेके अपराधके लिए एक हलवाईको खूब खरी-खोटी सुना रहे थे।

जब हमने खाकीबाबाका उल्लेख किया, तो उनका नाम सुनते ही सोमबारगिरि बाबाने उनके नामको श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और कहा—"वे तो श्रेष्ठ साधु हैं। तपस्वी हैं। खूब लोक-कल्याण करते हैं।" बादमें फिर कहा—"हां, वे राजयोगी हैं। खूब प्रवृत्तिमे पड़ते हैं। हम तो निःसंगी आदमी ठहरे। यह

एक व्याघ्रचर्म और यह कमण्डलु—बस यही मेरा परिग्रह है। अगर यहां मिलने-जुलनेवाले ज्यादा आने लगेंगे तो यहांसे भी गायब हो जाऊंगा। जी चाहता है कि इस परिग्रहको भी फेंक दूं।" इसके बाद उन्होंने अपनी पहचानके अनेक साधुओंकी चर्चा की। उनके कार्योंका परिचय कराया, और अप्रत्यक्ष-रूपसे यह भी बता दिया कि साधुओंमें भी अलग-अलग आदर्श होते हैं।

मैंने उनसे कहा—"आप लोगोंको धर्मोपदेश देते हैं; मैं भी जब पाठशालामें काम करता हूं, तो लड़कोंको धार्मिक शिक्षा देता हूं। फर्क इतना ही है कि मैं पढ़ी हुई बातें कहता हूं और आप अनुभवकी। मुझे भी कुछ सूचनाएं दीजिए।"

उन्होंने कहा—"मैं जानता हूं कि तुम लड़कोंको भगवद्गीता सिखाते हो, और उसका अर्थ समझा देते हो। लेकिन इसमें श्रेय नहीं है। भगवद्गीता जो निवृत्ति-धर्म सिखाती है, उसके लायक तो बड़े-बूढ़े भी नहीं होते, तो फिर भला लड़के कहांसे हों? 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः' जैसे अथवा—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

जैसे श्लोक लड़कोंको तुम किस तरह समझा सकते हो? लड़कोंके सामने निष्काम कर्मकी बातें करनेसे पहले उन्हें सकाम कर्तव्य कर्मकी अच्छी शिक्षा दो। तुम्हारे वेदांतसे लड़के निकम्मे हो जाते हैं। उनकी संकल्प-शक्ति नष्ट हो जाती है। वे जिस बातका इरादा करते हैं, उसे अंजाम नहीं दे पाते और नाहक सारा दिन बकझक ही किया करते हैं। गीताजीका उपदेश तो योग्य व्यक्तियोंको ही करो।"

यह तो मुझे एक नयी दिशाका दर्शन हुआ। मैं विचारमें डूब गया। मैंने पूछा—"तो क्या लड़कोंको गीता पढ़ायें ही नहीं?" उन्होंने कहा—"नहीं, मैं ऐसा नहीं कहता। लड़के गीताजीके श्लोक कण्ठ जरूर करें। मैं सिर्फ यह कहता हूं कि उन्हें निवृत्ति-धर्मकी दीक्षा न दो।"

इसके बाद उत्तराखण्डकी यात्राके विषयमें हमने उनसे खूब पूछ लिया। जैसे-जैसे बातें होने लगीं, वैसे-वैसे हमें प्रतीत होता गया कि बाबाजी कितने अधिकारी पुरुष हैं। बड़ी रात तक हम वहां बैठे और आखिर उन्हें वन्दन करके धर्मशालाको लौटे। धर्मशालामें इतनी भीड़ हो गयी थी कि अगर हम पहलेसे ही अपने बिस्तर लगाकर न गये होते, तो हमें सोनेकी जगह भी न मिलती।

सबेरे जल्दी उठकर फिरसे महाराजके दर्शन करके उनकी आज्ञा लेने गये। बाबाजी ध्यान-विसर्जन करके उठ रहे थे कि हम लोग पहुंचे। बातचीत शुरू करने ही वाले थे कि इतनेमें वहां एक नेवला आया। बाबाजीने कहा—"यह भगवद्-दर्शन है।" फिर बाबाजीने हमें चाय दी। मैंने कहा—"मैं तो चाय नहीं पीता।" जवाब मिला—"यह कोई तुम्हारे मुल्ककी चाय नहीं है। यह हिमालयकी चाय है। उसमें न शक्कर है, न दूध। यह थोड़ी-सी पी लो, यात्रामें फायदा करेगी।"

चायके साथ उन्होंने एक बादामके तीन टुकड़े करके प्रसादके रूपमें हरएकको एक-एक टुकड़ा दिया। दूसरी भी एक विचित्र बूटी (भग नही) चायमें डाली। हमने श्रद्धापूर्वक प्रसाद मानकर चाय पी ली; महाराजको प्रणाम किया और आज्ञा मांगी। उन्होंने प्रेमसे हमारे कन्धों पर हाथ रखा और कहा—"सर्वत्र परमात्मा है!"

१६. गोहत्या

पदमबोरीसे मुक्तेसर। कितना अतर है! उन्नति और अवनति! जैसा कि पहले कह चुके हैं, पदमबोरी तीन पहाड़ोके बीच एक पहाड़ी नदीके किनारे बसा हुआ महादेवजीका स्थान है। वहासे हमे मुक्तेसर जाना था। मुक्तेसर कम-से-कम सात हजार फुटकी ऊचाई पर है। उसे मुक्तेसर क्यो कहते है, इसकी हमने चर्चा की। मैने कहा—"मुक्तीश्वर अथवा मुक्तिकेश्वर परसे यह नाम पड़ा होगा।" बाबाजीने कहा—"वहां मोतीके समान कोई तालाब होगा; उस परसे मोतीसर नाम पड़ गया होगा। या मौक्तिकेश्वर भी हो सकता है।" हमारे साथ अलमोड़ाके भट्टजी थे। उन्होंने कहा—"अक्सर नाम तो सादे ही होते है। बादमे आप-जैसे भाषाकोविद उसी नामको कोई-न-कोई सुन्दर रूप दे देते है।" मूल नाम क्या रहा होगा, हम नही जानते। यहा तालाब तो नही है, सिर्फ मुक्तेश्वर महादेव है। ठेठ पर्वतकी चोटी पर बिराजे है। यहां भैरव घाटी भी हे। मुक्तेसरके प्राकृतिक दृश्यको 'स्वर्गीय' कहनेमे कोई अत्युक्ति तो है ही नही, उल्टे अल्पोक्ति हो सकती है। लेकिन—आजकल हिमालयमे भी 'लेकिन' कहनेका प्रसग आता है—आज यह स्थान नरकसे भी अधिक बुरा हो गया है! नीचे स्वर्ग और ऊपर नरक—अलंकारशास्त्री इसे कौनसा अलंकार कहेगे?

मुक्तेसरमे सरकारी बैक्टेरिओलॉजिकल डिपार्टमेण्ट (जन्तुशास्त्र-विभाग) है। इस विभागके अंतर्गत भयानक गोहत्या होती है। इसका क्या कारण है? गोरी फौजकी गोमासकी माग पूरी करना? नही। हिन्दुस्तानकी गरीब गायो और बैलो पर क्रूर मानवका आहार बननेके अलावा तरह-तरहकी बीमारियोकी दवा करनेकी जिम्मेदारी आ पड़ी है। यूरोपियन लोगोंने देखा कि उनके बहुतसे घोड़े 'रिण्डर पेस्ट' नामकी बीमारीसे मरते है। उसका उपाय उन्हें यह मिला कि बैलके बदनसे उसका खून लेकर उसका 'सीरम' बनाया जाय और वह घोड़ेके बदनमें दाखिल किया जाय। ऐसे फालतू पशु तो हिन्दुस्तानमे ही मिल सकते है! वहां मैंने एक व्यक्तिसे सुना कि शुरूके सोलह वर्षोंमे 'रिण्डर पेस्ट'के टीकेकी सारी दुनियाकी मांग पूरी करनेके लिए ४० हजार बैलोंका खून निकाला गया था। खून निकालने-

की यह प्रक्रिया बहुत ही क्रूर होती है। पहले बैलको खूब खिला-पिलाकर पुष्ट करते हैं। फिर उसकी एक नस काटकर एक-दो डोल खून निकाल लेते हैं। बादमें मरहम-पट्टी करके जानवरको दुरुस्त करते हैं। थोड़े दिन बाद फिर पहलेकी तरह खून निकाल लेते हैं। तीसरी बार सारा खून निकाल लिया जाता है, क्योंकि उस वक्त तक जानवर इतना निःसत्त्व हो जाता है कि चौथी बारके लिए उसके शरीरमें खून ही नहीं रह जाता!

हम सांझके समय मुक्तेसर पहुंचे। वहां एक सज्जनके घर रातको आराम किया। भोजनका प्रबंध उन्होंने बहुत भक्तिपूर्वक और अच्छे ढंगसे किया था, परंतु भात बिलकुल पका नही था। बातचीतमें मालूम हुआ कि पहाड़ी लोग ऐसा ही भात पसंद करते हैं। अगर हमें पहाड़ी भूख न लगी होती, तो इतना चावल चबानेकी मेहनत करनेसे दांतोंने इनकार कर ही दिया होता। भुज्जी (भाजी) बड़ी मजेदार बनी थी। उन सज्जनके दीवानखानेकी चारों दीवारोंका निचला हिस्सा काठका था। सो भी तकियेकी तरह तिरछा। अगर इस ठंड़े प्रदेशमे दीवारसे टिककर बैठना हो, तो ऐसी कोई-न-कोई तरकीब आवश्यक है।

दूसरे दिन सवेरे हम पहले जन्तुशास्त्रका महकमा देखने गये। हमारे यजमान हमें वहांकी सारी बातें समझाते थे। मै शून्यमनस्क होकर सुन रहा था। मेरी दृष्टिके सामने तो गोहत्याका कल्पना-चित्र ही खड़ा होता था। एक पहाड़ी पर एक बुर्ज था। उस पर एक बड़ा भारी घन्टा टंगा हुआ था। मैने पूछा—"यह किसलिए है?" उन्होंने कहा—"यदि जंगलमें आग लग जाये, कोई दुर्घटना हो जाय या दूसरा कोई सकट आ पड़े, तो इस घटेको बजानेसे सब लोग इकट्ठा होते है।" जहां चालीस हजार गोकुलका संहार होता है, वहा दूसरे किसी संकटकी जरूरत ही क्या है। जी चाहा कि उस बुर्ज पर चढ़कर और उस घंटेको बजाकर मैं बाईस करोड़ हिन्दुओंको वहां जमा करूं, और यदि वे न सुनें तो हिमालयमे अदृश्य रूपसे विचरनेवाले तैंतीस करोड़ देवताओंको गोमाताका आर्तनाद सुनाऊं।

मनमे यह विचार चल रहा था, इतनेमें हम मुक्तेश्वर महादेवके पास जा पहुंचे। वहां मनको कुछ आराम अवश्य मिला। मुक्तेश्वर महादेवके पास भैरव घाटीवाला स्थान है। पहाड़ पर जहां ऊंचे-से-ऊंचा शिखर हो और पास ही नीचे एकदम सीधा कगार हो, उस स्थानको भैरव घाटी कहते है। प्राचीन कालमें और आज भी भैरव सम्प्रदायके लोग प्रायः ऐसे स्थान पर भैरवजीका जप करते-करते ऊपरसे नीचे कूद पड़ते है। माना यह जाता है कि इस तरह आत्महत्या करनेमें पाप नही, अपितु पुण्य है। यह मान्यता आजके कानूनके अनुसार भले ही गलत हो, परंतु मानसशास्त्री उसके आधारभूत तत्त्वको सहज ही समझ सकते हैं। दुनियासे सब तरह निराश होकर कायरतावश किसी मनुष्यका आत्महत्या करना और प्रकृतिके विशाल, उच्च, उदात्त तथा रमणीय सौंदर्यको देख तदाकार होकर प्रकृतिका

वियोग सहा ही न जाना, और ऐसे वक्तमें किसी मनुष्यका इस क्षुद्र देहके बन्धनको भूलकर साम्य प्राप्त करनेके लिए अनन्तमें कूद पड़ना—ये दो बातें नितान्त भिन्न हैं। दोनोंका परिणाम चाहे एक ही हो। हर तरहके विनाशको हम मृत्युके एक ही नामसे पुकारते हैं; परन्तु वस्तु एक ही नहीं होती। कई बार मरण-जीवन-रूपी नाटकका विष्कम्भक होता है, और कई बार वह उस नाटकका भरत-वाक्य—जीवन-साफल्य—होता है।

मनुष्यकी आशा दुरन्त कहलाती है। सचमुच मनुष्यकी आशाका पार नहीं है। मनुष्यकी हरएक आशाको सफल बनानेकी शक्ति जीवनमें नहीं है। जीवनकी समृद्धिकी भी मर्यादा होती है। मनुष्यकी आशाके सामने जीवन दरिद्री है। लेकिन मरणकी समृद्धि आशाको तृप्त करनेमें समर्थ होती है। जहां जीवन हार जाता है, वहां मरणकी जीत होती है। जीवन असंख्य बार मनुष्यको निराश करता है। मरणके पास निराशा है ही नहीं।

हम भैरव घाटी पर चढ़े। वहां भी गोहत्यावाली बात मनको व्यग्र कर रही थी। बेचारे बैल नाहक मारे जाते है। एक दृष्टिसे देखने पर इन बैलोंका आत्म-यज्ञ स्वात्मार्पणकी पराकाष्ठा सूचित कर रहा था। हिन्दुस्तानके जानवर मरे और दुनियाके—सारी दुनियाके—घोड़े, खच्चर आदि अनेक प्रकारसे प्राणी भयंकर रोगोंसे बचें, यह कोई साधारण पुण्य नही कहा जायगा। परंतु यह कौन-सा स्वेच्छापूर्वक किया गया बलिदान है? आज मेरा भारत भी अमर्याद आत्माहुति दे रहा है। भारतके भरोसे ब्रिटिश साम्राज्य टिका हुआ है। भारत स्वय मरकर असंख्य लोगोंको जिलाता है। परंतु इसका पुण्य भारतके पल्ले नही पड़ता। दुर्बलता और अज्ञानवश किया गया त्याग किस कामका? 'न च तत् प्रेत्य नो इह'।

बाबाजीने भैरवके छोटे-से मन्दिरका घंटा बजाया और लौटनेकी सूचना दी।

१७. धर्मशालामें ऋषिकुल

मुक्तेसरसे हम काठगोदामके अपने पुराने रास्ते पर आये। भीमतालके फिर दर्शन किये, और हिमालयके पहाड़से उतरकर मानवी सृष्टिमें प्रवेश किया। रास्तेमें पूर्व परिचित स्थान देखकर मनमें कुछ और ही भाव उत्पन्न होते थे। अलमोड़ा जाते समय हिमालयका प्रथम दर्शन हुआ था। इतनी विशालता और उत्तुंगता पहली बार ही देखी थी। लौटते वक्त यह सब परिचित-सा लगता था। फिर भी उसका रस कुछ कम नहीं हुआ था। पहलेका रस अपूर्वताका था, अबका रस परिचयका था। जाते समय जिन-जिन झरनों और वृक्षोंने हमारा सत्कार किया था, उनसे फिर मिलते समय हृदयमें कृतज्ञताकी उमंग उठे बिना

कैसे रहती ? मैं परिचित वृक्षोसे मिला । परिचित झरनोंका, स्वाभाविक तृष्णासे नही, किंतु प्रेमतृष्णामे पान किया । जाते वक्त जिन पुलों पर बैठकर हमने थकावट दूर की थी, उन पुलोंके फिर आने पर उन पर एक-दो मिनट न बैठते, तो अपनेको कृतघ्नता-दोषके पात्र समझते ।

रास्तेमें स्वामीके साथ संस्कृत साहित्यकी चर्चा शुरू हुई । मैंने कहा—"गगनचुंबी पेड़ोंके झुंडोंकी यह घनी झाड़ी देखकर मुझे बाणभट्टकी साहित्य-शैली-का स्मरण हो आता है । हर स्थानमें अपूर्वता और उदारता भरी हुई है । परन्तु वह अतिशयताके कारण अपना सौंदर्य छिपानेमें ही खप जाती है ।" इसके बाद संस्कृत कवि और राजाश्रयका सवाल छिड़ा । कालीदास राजाश्रयी कवि था, परंतु भवभूति लोकाश्रयी कवि हुआ । कालिदास पुष्पक विमानमे बैठकर अथवा मेघका वाहन बनाकर विहंगम दृष्टिसे भारतवर्षका अवलोकन करता है । लेकिन भवभूति वल्कलधारी राम, लक्ष्मण और जनक-तनयाके साथ दण्डकारण्य और पंचवटीके अरण्योंमे से रास्ता निकालता हुआ धीरे-धीरे पैदल चलता है । दोनोकी शैलीमें यही भेद है । भवभूतिकी शैली राजकुमारकी तरह 'धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम' है, जबकि कालीदासकी वर्णन-शैली शकुतलाके भावकी नाई 'न विवृतो मदनो न च संवृतः' जैसी है । वनश्रीको देखकर सस्कृत कवियोकी याद आयी । और उस प्रसंगसे लोकाश्रयका विचार करते हुए राजाश्रयकी निन्द्य रीतिसे निन्दा करनेवाले बिल्हणकी याद आयी । परन्तु उसी क्षण स्मरण हुआ कि ससारमे विरक्त साधकोको संस्कृतका ऐसा काव्यरस शोभा नही देता । दोपहर हो गयी थी । सूर्यनारायणने और एक आंख खोल दी थी । बाबाजीने कहा—"पिपासितैः काव्यरसो न पीयते ।" नीचे घाटीमे रामगंगा प्रचण्ड गडगड़ाहट करती हुई दौड़ रही थी । परंतु उसका पानी हमारे लिए तो शरत्कालके मेघके समान दुष्प्राप्य ही था । स्वामी बोले —"इस जंगलकी शोभा देखकर मुझे बाणभट्टकी कादम्बरीका स्मरण नही होता, बल्कि मुझे तो रामगगाकी यह गर्जना सुनकर कुलाबा स्टेशनके दस-बीस एंजिनोंका कोलाहल याद आता है ।"

एंजिनका नाम सुनते ही तुरन्त स्मरण हुआ कि प्राकृतिक सृष्टि छोडकर हम मानवी सृष्टिकी तरफ अग्रसर हो रहे हैं । यदि वहां अग्निरथके समयका ध्यान न रखा तो काम न चलेगा । मैंने अण्टीसे घड़ी निकालकर देखी और बाबाजीसे कहा—"बाबाजी दौड़ लगाओ, नही तो हम समय पर काठगोदाम नही पहुंच पायेंगे ।" तीनों दौड़े, और मुश्किलसे स्टेशन पहुंचे ही थे कि इतनेमे रेलगाड़ीने सीटी दी और वह हमारे देखते-देखते हंसती-हंसती निकल गयी । जरा-सी देरके लिए गाड़ी चूक गये । हमें रेलगाड़ीके निकल जानेका कुछ भी बुरा न लगा । लेकिन हमें परेशानीसे बचानेके विचारसे हमारा जो कुली आगे दौड़ता आया था उसका मुंह उतरा देखकर हमें दुःख हुआ । फिर भी हम हंस पड़े और उससे कहा—"चलो

भाई, अभी तो काफी दिन है। यहां पड़े रहनेसे तो बेहतर है कि हलद्वानी चलकर रात वहीं बितायें।" हलद्वानी काठगोदामसे पहला स्टेशन है। व्यापारकी छोटी-सी मण्डी है। वहां पैदल जा पहुंचे। 'खाया-पिया और (स्वप्नसृष्टि पर) राज किया।'

स्वप्नसृष्टिमें जानेसे पहले कल्पना-सृष्टिमे जानेका एक प्रसग आया। हम धर्मशालामे जगह प्राप्त करके रसोई बना रहे थे। धर्मशाला यानी विविध जन-समाज। वहां तीनों लोकोंकी चर्चा चलती है। धर्मशालामे वैरागी आते हैं, व्यापारी आते हैं, सरकारी अफसर आते है, वे पुराने जमीदार घोड़े पर पुराना जीन कसकर तीर्थयात्रा करने आते है जिन्हें यह सुध नही कि पुराने जमाने-जैसी कोई चीज थी भी या नही; भिखारी भी आते हैं, और भिखारियोंसे भी गये-बीते पुलिसवाले आते हैं। मुसाफिर आपसमे अथवा अपने कुलियोंसे, ग्राहक दुकानदारों-से, दुकानदारकी स्त्री अपने लड़कोसे, पुलिसके जवान भिखारियोसे, और कुत्ते एक-दूसरेसे आठ बजे तक लड़ लेते हैं। आठ बजने पर पहले क्षुधा शान्त होती है, बाद मे चूल्हे शान्त होते हैं। अधिकाश दीये भी शान्त होते है; (क्योंकि एक पैसेमें दीया, बत्ती और तेल देनेवाले दुकानदारके पास आठ बजे तकका ही बजट होता है।) और इसके पश्चात् विरोध शान्त होकर वार्तालाप शुरू होता है। धर्मशालाका यह आन्तर्राष्ट्रीय कानून है कि आठ बजेके बाद एक बार सुलह हो जाने पर कोई किसीके साथ न लडे।

तुरन्त ही मुसाफिर-मुसाफिरमें वार्तालाप शुरू हो जाता है। बाबा लोग देश-देशान्तरका हाल और उसके साथ अपनी टीका-टिप्पणिया पेश करते हैं। जहां लडके हों, वहां बादशाह और बीरबल तो जरूर होंगे ही। स्त्रिया हमेशा यात्राकी ही बातें करेंगी, और अगर एक ही गांवकी हों, तो सास-बहूके सनातन संग्रामकी बाते करेगी। हिन्दुस्तानके किसी भी प्रान्तकी स्त्रियां दूसरे किसी भी प्रान्तकी स्त्रियोसे धर्मशालामे बातचीत कर सकती है। भाषाकी अड़चन तो सुशिक्षित लोगोंके लिए होती है। स्त्रियां यानी पुरानी दुनिया। यहां विचार, भावनाएं, वहम, रीति-रिवाज और आदर्श सब एक ही होते हैं। फिर बातचीतमें कौनसी बाधा हो सकती है? जब दो अंग्रेज मिलते है, तो वे उस दिनकी हवाके बारेमें चर्चा करने लगते हैं, इसी प्रकार जब दो स्त्रियां मिलती हैं, तो तुम्हारे बालबच्चे कितने है, लड़कियां कहां-कहां ब्याही है, उन्हें ससुरालमे सुख है या दुःख, घरकी पुरखिनने तीर्थयात्रा की है या नहीं, आदि बातें होने लगती हैं। दुकानदारकी स्त्री इस चर्चामें शामिल होकर अपने दुःखकी कहानी पांच हजार छह सौ बारहवीं बार सजल आंखोंसे सविस्तर, ज्योंकी त्यों सुनाती है। और अधिकतर उसका वर्णन अकारथ नहीं जाता। प्रेमल यात्री—दुष्ट दुकानदार द्वारा ठगे गये यात्री—दुकानदारकी स्त्रीका दुःख देखकर और मनमें इस बातका सन्तोष मानकर कि

वह भी उन्हीकी तरह दुकानदारसे द्वेष करते हैं, बिदा होते समय उसे कुछ-न-कुछ दे जाते हैं। दुकानदारोंकी भी हरएक प्रान्तके विषयमें अपनी राय बनी होती है, और वे भी उसे ठीक बाबा-बैरागियोंकी तरह ही स्पष्टतासे प्रकट कर देते है; क्योंकि पीनल कोडकी कोई भी धारा बाबा-बैरागियों तथा दुकानदारोंके लिए नही है।

जब देशी रियासतोंके रईस धर्मशालामें टिकते हैं, तो रियासतोंके तारतम्यकी चर्चा छिड़ती है, और दरबारके भीतरी षड्यंत्रों तथा प्रपंचोंका भेद वे 'सिर्फ आपसे' कहते हैं। वे इतने बेवफा नही होते कि चाहे जिससे दरबारकी किंवदन्तियां कहते फिरें, लेकिन 'आप' तो खानदानी आदमी ठहरे। 'आपसे' ऐसी बाते कहनेमे भला क्या हर्ज हो सकता है?

हमें एक देशाभिमानी और सनातन-धर्माभिमानी व्यापारीसे पाला पड़ा। हस्तिनापुरकी तरफ उनका अपना एक 'गुरुकुल' था—नही, नही, 'गुरुकुल' नही 'ऋषिकुल'। 'गुरुकुल' तो आर्यसमाजियोंके होते हैं। अतःएव सनातनियोके तो ऋषिकुल ही हो सकते हैं, और वैष्णवोंके आचार्यकुल। बाबा-वैरागी हों तो उनके 'मुनि-मण्डल' या 'साधु-आश्रम' होते हैं। और गगापुत्रोंकी संस्था हो, तो वह होगी 'पण्डाकुमार महाविद्यालय'। परन्तु यह सब ज्ञान मुझे हरद्वार जाने पर हुआ। हस्तिनापुरके व्यापारीने कहा—"पार साल ही हमारा ऋषिकुल स्थापित हुआ था। पर अब तक हमे कोई अध्यापक नही मिला है। एक ब्राह्मण फिलहाल काम चला रहे है; परन्तु लड़के ऐसे हैं कि उनके कान काट लें। आपके जैसा कोई अंग्रेजी पढ़ा-लिखा—ग्रेज्युएट—साधु वहा आवे, तो लोगों पर असर पड़े और प्रचारके लिए जाने पर फण्ड भी अच्छा इकट्ठा हो। आप आ जाएं तो हमे रोज आपके दर्शनोंका लाभ हो, 'भव-बन्ध' कट जाएं, और सिड़ी आर्यसमाजी अदरक खाये हुए चूहेकी तरह चुप हो जायं। हमने ऋषिकुल इसीलिए स्थापित किया है। हमारे यहां दो आर्यसमाजी प्रचारक आये थे। उन्होंने सनातन धर्मकी निन्दा करना शुरू किया। हमारे ऋषिकुलमें ऐसा कोई पंडित न था, जो उन्हें जवाब देता। इसलिए हमने अर्जण्ट तार देकर हरद्वारसे तीन सनातनी उपदेशक बुलवाये और उन्हें इस कदर लड़वाया कि कुछ न पूछिये! तीन दिन तक शास्त्रार्थ हुआ!" मैंने बीचमें पूछा—"किस खास विषयको लेकर?" उन्होंने कहा—"अजी साहब, आपके शास्त्रकी बाते हम क्या जानें? हम थोड़े ही संस्कृत पढ़े हैं? लेकिन आखिर आर्यसमाजियों-को ही चुप होना पड़ा और हमारी जीत हुई। विपक्षी तो नाहक कहते रहे कि जीत तो हमारी ही हुई। लेकिन आप ही बताइये कि अगर उनकी जीत हुई होती, तो भला उनके पंडित चुप बैठते?"

इस महायुद्धका वर्णन मैंने उदासीनतासे सुना, यह देख उनका मजा कुछ किर-किरा हो गया। उन्होंने पूछा—"आप आर्यसमाजी तो नही हैं?" मैंने कहा—

"जी नहीं, मैं तो कट्टर सनातनी हूं।" उन्होंने कहा—"तब तो आप जरूर हस्तिनापुर आइये। हम आपके लिए बढ़िया कुटी बनवा देंगे, अलग रसोइया रख देंगे, और अंग्रेजी समाचार-पत्र मंगवा देंगे। आपके व्याख्यानोंका लाभ हमें मिलेगा।" मैंने कहा—"दूसरा कोई संकल्प न होता, तो शायद मैं आ जाता; परन्तु मुझे तो उत्तराखण्डकी यात्रा करनी है और तदुपरान्त पुरश्चरण करना है।"

अपने सारे विचार उन पर प्रकट करनेकी हिम्मत मुझे कहांसे होती ? और अगर प्रकट करता भी, तो वे कौन उन्हें समझनेवाले थे ?

दूसरे दिन हम रेलमें बैठे और चले। हिमालयकी यात्राके बाद रेलकी यात्रा केवल नीरस ही नही, असह्य भी हो जाती है। एक-एक खेतके अन्तरसे चलनेवाले हम तीनों आधी बेंच पर सिकुडकर बैठे थे। जंगलके वृक्षोंकी खरखराहटके बदले डिब्बेके भीतर मुसाफिरोंका शोर सुनाई दे रहा था! बरेली होकर हम लुक्सर गये, और वहां गाड़ी बदलकर आधी रात बीते हरद्वार पहुंचे।

१८. रामकृष्ण-सेवाश्रम

तीर्थयात्रासे पुण्य होता है, लेकिन चाहे जिस ढंगसे यात्रा करनेसे नही। जो पैदल चलकर जाता है, उसे पूरा सौ फीसदी पुण्य मिलता है। जो आदमीके कन्धे पर या पालकीमें बैठकर जाता है, उसे आधा पुण्य मिलता है। जो पशुकी सवारी पर 'तीरथ' करता है, उसका पुण्य लगभग नहीके बराबर होता है; और (आजकी स्थितिमें इतना और जोड़ देना चाहिये कि) रेल या मोटरमें बैठकर जो तीर्थ करे, उसे पुण्यके बदले पाप ही लगेगा। रेलकी यात्रामें किसी तरहकी उच्च या धार्मिक भावनाका परिपोष नही होता। और आज तो रेलकी यात्राका अर्थ है, स्वाभिमानका नाश। हम पैसे देकर एक 'चिट' खरीदते हैं, और उसे लगाकर पार्सल की तरह डिब्बेमें दाखिल हो जाते हैं। फर्क इतना ही है कि दूसरे पार्सल मुकाम आने पर बाहर फेंक दिये जाते हैं और हम अपने-आप बाहर निकल आते हैं! गाड़ीमें बैठे-बैठे हम भविष्यकालकी तरफ नहीं जाते, बल्कि बाहरकी दुनिया ठंडी सांसें भरती हुई भूतकालकी तरफ दौड़ती जाती है। जहां संयोगवशात् दो आदमियों के निकट आने पर भी उनमें प्रेमभाव पैदा नही होता, उस स्थानको नरक ही कहना चाहिये। तीर्थस्थान तक रेलगाड़ी ले जाना असुरोंका काम है। रेलमें बैठकर यात्राका पुण्य अर्जन करना गयासुरके दिये हुए मोक्षके समान है। गुजरातने डाकोर और सिद्धपुरको तो भ्रष्ट किया ही है, अब पश्चिमी धाम श्री द्वारकाजीको भी भ्रष्ट करनेका प्रयास शुरू हुआ है। कलियुग जो ठहरा! रवीन्द्रनाथ कहते हैं—"कलियुग यानी कल (यंत्र) युग।"

हरद्वार अर्थात् गंगाद्वार। भागीरथी गंगा गंगोत्रीमे निकलकर महादेवकी जटा में अर्थात् हिमालयके अरण्योंमें फंस गयी। फिर दो पहाड़ों या पहाड़ियोंके बीचसे ज्यों-त्यों रास्ता निकालकर आगे बढ़ी है। जब टिकट लेनेके लिए लोग संकरे रास्तेसे निकलते हैं, तब जैसी भीड़ और अड़चन होती है, उसी तरहकी अड़चन पहाड़ोंमें गंगाजीको होती है। जब कोई बड़ा भारी जुलूस तंग गलीसे निकलकर विशाल मैदानमें प्रवेश करता है, तो लोग छुटकारेकी सांस लेते हुए स्वतंत्रतासे दसों दिशाओंमें बिखर जाते हैं। वही दशा हरद्वारके पास श्री गंगाजीकी हुई है। जिस तरह गोशालासे छूटे हुए बछड़े केवल स्वतंत्रताका अनुभव करनेके लिए ही इधर-उधर चौकड़ी भरते हैं, उसी तरह यहां गंगा अनेक धाराओंमें दौड़ती है। उसके प्रत्येक प्रवाहका उल्लास भी बालवृत्ति ही प्रकट करता है। नीलधारा कुछ गम्भीर जरूर है, लेकिन जिस तरह छोटे-छोटे लड़के अपने दादाकी पगड़ी बांधकर, हाथमें लकड़ी लिये, गम्भीरतासे चलते हैं, कुछ उसी तरहकी यह कृत्रिम गम्भीरता है। नीलधारा अपनी गम्भीरताको निबाह भी नहीं सकती। हरद्वार जिस प्रकार गंगाजीके लिए पहाड़ छोड़कर मैदानमें प्रवेश करनेका प्रथम द्वार है, उसी प्रकार यात्रियोंके लिए हिमालयकी यात्राके आरम्भमें तराई छोड़कर पहाड़में प्रवेश करनेका भी द्वार है। उत्तराखंडकी यात्रा यहींसे आरम्भ हुई मानी जाती है। हरद्वार तक रेल है, फिर भी यह तीर्थस्थान अपेक्षाकृत बहुत स्वच्छ है। भले इसका एक कारण यहाकी म्युनिसिपैलिटीकी स्थायी आमदनी हो, परन्तु मुख्य कारण तो यह है कि हरद्वार साधुओंका स्थान है। बाबा और संन्यासियोंमें दूसरी तरहकी गन्दगी चाहे जितनी हो, लेकिन इसमें शक नही कि वे शारीरिक स्वच्छता खूब रखते हैं।

हम रातको दो बजे हरद्वार पहुंचे। वहां हम किसीको जानते न थे, और न किसी पंडेके मेहमान ही बनना चाहते थे। इसलिए हमने पहलेसे ही पत्र लिखकर हरद्वारके पास कनखलके रामकृष्ण-सेवा आश्रममें ठहरनेका प्रबन्ध कर लिया था। रातको दो बजे हमें स्टेशनसे आश्रम तकका रास्ता कौन बताये? हमने एक कुली लिया, उसे चार आने देना कबूल किया और अंधेरेमें चल पड़े। हमें आपसकी बातचीतमें अंग्रेजी शब्दोंका प्रयोग करते सुनकर वह कुली बोला—"Oh, Sir, you are gentlemen. I knows English, Sir. I am gentleman coolie. Sir, I have ten years live in Dehradun, Sir." हम हंस पड़े। उसका अंग्रेजी वाक्-प्रवाह बराबर चलता रहा। फिर भी हमने उससे हिन्दीमें ही बोलनेकी अरसिकता या असभ्यता दिखायी। पर यह बात तो अब कैसे छिप सकती थी कि हम अंग्रेजी जानते हैं? वह हमसे अंग्रेजीमें ही बोलता था।

जब सेवाश्रमके पास पहुंचे, तो हमारा 'जैंटलमन कुली' बोला—"give me four anna bit, Sir. Copper is very heavy, Sir.' स्वामीके मुंहसे जवाब निकल पड़ा—'Oh I see. But certainly it is not heavier then the

luggage you brought."

रातके ढाई बजे किसे जगाते ? आश्रमके रुग्णालयके एक चबूतरे पर हम सो गए। सवेरे किसीके उठनेसे पहले ही चोरोंकी तरह इधर-उधर घूम-घामकर शौच हो आये, मुंह धोया और मठपति स्वामी कृष्णानन्दजीसे मिलने गये। उन्होंने प्रेमसे हमारा स्वागत किया और हमें अपना सामान रखनेके लिए एक कमरा दिखाया।

जब स्वामी विवेकानन्द सारे भारतवर्षकी और बादमें सारी दुनियाकी यात्रा करके लौटे, तो उन्हें यह बात सूझी कि इस नये युगमें साधुओंके लिए नयी उपासनाकी ज़रूरत है। जीते-जागते परन्तु भूख-प्याससे दीन, अपंग या रोगी नारायण की सेवा करना ही आज मोक्षका उत्तम मार्ग है—दयाभावसे नहीं, किन्तु सेवाभाव से; किसी पर उपकार करनेके लिए नहीं, किन्तु सेवा करनेके सुयोगके लिए निहोरा मानकर। स्वामीजीके गुरुभाइयोंने और शिष्योंने काशी, प्रयाग, पुरी, हरद्वार, मायावती, वृन्दावन आदि तीर्थस्थानोंमें रुग्णालय अथवा सेवाश्रम स्थापित किये हैं।

हरद्वारका सेवाश्रम ब्रह्मदेवकी सृष्टिकी तरह शून्यमेंसे उत्पन्न हुआ है। मायावतीवाले स्वामी स्वरूपानन्दजीने कहींसे दो सौ रुपये जमा किये थे। उन्हें लेकर स्वामी कल्याणानन्द हरद्वार आये। वे न तो हिन्दी जानते थे और न वैद्यक। सरस्वतीका भी उनपर कृपा-प्रसाद नहीं था। इसलिए आज भी वे 'मुख-दुर्बल' ही हैं। लेकिन उनकी श्रद्धा अडिग थी। देवदारके एक सन्दूकचेमें कुछ 'होमियोपैथिक' दवाइयां रखकर एक झोंपड़ीमें उन्होंने अपना धन्धा शुरू कर दिया। धीरे-धीरे धन्धेमें बरकत हुई। किसी मारवाड़ीने दस हजारका एक मकान बनवा दिया। कल्याणानन्दजीने वैद्यकका अध्ययन किया। उनके हाथको यश मिला, और काम भी धड़ल्लेके साथ चल निकला। निश्चयानन्द नामके एक महाराष्ट्रीय संन्यासी उनके सहायक हैं। ये स्वामी विवेकानन्दके शिष्य हैं। स्वयं मराठी ठीक-ठीक बोल नहीं पाते। लेकिन उन्हें बंगला अच्छी तरह आती है। ये सज्जन भी मितभाषी ही हैं। सुबहसे लेकर शाम तक काम ही करते रहते हैं। थकान-जैसी कोई चीज वे जानते ही नहीं। अलबत्ता, दस-पांच सवालोंका जवाब देना पड़ जाए तो थक जाते हैं। उनके गुरुजीने उनके लिए नाम भी यथार्थ ढूंढ़ निकाला है।

सेवाश्रममें सैकड़ों रोगी—क्या साधु और क्या गृहस्थ—रोज आते हैं। उनमें जो ज्यादा बीमार होते हैं, उन्हें रुग्णालयमें रखा जाता है। तपेदिकके लिए अलग मकान है। धनवान लोग कितनी ही फीस क्यों न दें, पर कल्याणानन्दजी गरीबोंको छोड़ पहले धनवानोंके यहां कभी नहीं जाते। जिस समय हम सेवाश्रममें गये, उस समय रामकृष्ण-मिशनके अध्यक्ष और श्री रामकृष्ण परमहंसके प्रिय शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द वहां आए हुए थे। उन्हें 'राखल राजा' अथवा 'राजा महाराज' भी कहते

हैं। हमें उनके दर्शनोंका अपूर्व लाभ मिला। दूसरे साधु काशीके अद्वैताश्रमके मठपति शिवानन्दजी थे। स्वामी विवेकानन्दने इनका नाम 'महापुरुष' रख दिया था। उनसे श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और उनके संघ (मिशन) के विषयमें बहुत-सी तफसीलें सुननेको मिली। कॉलिजमें स्वामी विवेकानन्दके लेख पढ़कर ही नास्तिकताका मेरा ज्वर और संशयवादका गर्व उतर गया था। रामकृष्ण परमहंसको मैं इस युगके अवतारी पुरुषके रूपमें पूज्य मानने लगा था। ऐसी स्थितिमें जो रामकृष्ण परमहंसके प्रत्यक्ष सहवासमें रह चुके थे, उन पुरुषोंका दर्शन मेरे लिए बहुत प्रभावोत्पादक हुआ हो तो उसमें आश्चर्य क्या ? मैंने स्वामी ब्रह्मानन्दसे एकान्तका समय मांग लिया। उनसे मुझे बहुत आश्वासन मिला। मैं रामकृष्ण मिशनमें शामिल नही हुआ, फिर भी वे मुझे अपना ही मानने लगे। मुझ घुमक्कड़को भी मानो घर मिल गया। हिमालयकी यात्रा करनेका अपना संकल्प मैंने स्वामी ब्रह्मानन्दको बतलाया। उन्होंने आशीर्वाद दिया और हमने यात्राकी तैयारी शुरू की।

१९. तैयारी

हमे बदरीनारायणकी यात्रा करनी थी। हरद्वारसे बदरीनारायण कितनी दूर है, किस रास्तेसे जाना पड़ता है, बीचमें कितने 'पड़ाव' आते हैं, साथमे क्या-क्या रखना चाहिए, सामान उठानेके लिए कुली कहां मिलेंगे, वे कितनी मजदूरी लेगे, रास्तेमें देखने लायक क्या-क्या है, यह सब हमे जान लेना था। कनखलके पास सरकारने एक बाध बनवाकर गंगा नदीका प्रवाह रोका है। यहासे गंगाजीकी प्रख्यात नहर कानपुर तक जाती है। रुड़कीके पास सोलाना नामकी एक नदी इस नहरके रास्तेमें आती है। परन्तु इंजीनियर लोगोंने सोलाना नदी पर एक भारी पुल बनाकर यह सारी नहर इस पुल पर से निकाल दी है। इस भागीरथ-कार्यका वर्णन मै अन्यत्र कर चुका हूं।[1]

कनखलके पासवाले बांधके परे एक टापू पर 'दाम्पार' नामका आश्रम है। वहांके स्वामी केशवानन्दसे कुछ सहायता मिलनेकी संभावना थी, इसलिए हम वहां गये। वहां केशवानन्द तो नहीं मिले, पर झाड़ीमें पीपलके चबूतरे पर बैठे हुए दूसरे एक संन्यासी मिले। उनके शरीरकी गठन और अंगकान्तिसे साफ मालूम होता था कि वे 'खुशहाल' यानी खा-पीकर सुखी रहनेवालोंमें हैं। वे चबूतरे पर आरामसे बैठे थे। अपनी लम्बी चादर घुटनों और कमरके चारों ओर लपेटकर

१. देखिये 'जीवनलीला' का प्रकरण ३५।

उन्होंने अपने शरीरकी 'रॉकिंग ईझी चेयर'(झूलती आराम-कुरसी) बना रखी थी। उनकी फलश्रुति यह है कि इस आसनसे बैठकर मनुष्य घंटों बातें करता रहे तो भी वह थकता नहीं। उनसे हमें कोई खास जानकारी नही मिली। उलटे रास्ता विकट है, जाना मुश्किल है, जानेवालोंमेंसे बहुतसे वापस आते ही नहीं, जिस तरह उन्होंने हमें खूब डराया और यात्राका विचार छोड देनेकी बुद्धिमानीपूर्ण सलाह दी। तिस पर भी जब उन्होंने हमारा अटल निश्चय देखा तो एक उर्दू-शेर सुनाया, जिसका अर्थ यह था कि जब कमर कसकर कोई काम उठा लो, तो फिर उसे कभी न छोड़ो—चाहे मौत ही क्यों न आ जाय।

इस कीमती सलाहके लिए उनका आभार मानकर हम लौटे, और हरिद्वारके बाजारकी ओर मुड़े। उस समय कोट, कुरता आदि कपडे पहनना मैं छोड़ चुका था। सिला हुआ कपड़ा मेरे काम नही आ सकता था, और ओढ़नेके लिए मेरे पास काफी न था। इसलिए मैंने एक कानपुरी शाल और दो मफलर खरीद लिये। एक पतला-सा तवा, एल्युमीनियमकी एक पतीली, एक ढक्कन, एक रकाबी, पीतलकी एक मोटी लुटिया और एक छोटी-सी थाली, इतनी चीजें और खरीद ली। (यात्रासे लौटते वक्त इसी बाजारमें नमदेकी दो बढ़िया 'घुग्घी' मिल गयीं। हमने वे घुग्घियां ली। 'घुग्घी' यानी माथेसे कमरके नीचे तक शरीर ढंकनेवाली नमदेकी लम्बी टोपी। यह सिली हुई नही होती।) इतनेमें मनमें विचार आया कि चौमासेके दिन है, अपने पास मोमजामा हो तो अच्छा। मेरा यह विचार बहुत ही उपकारक साबित हुआ। कपड़े, बिस्तर सब बांध लेनेके बाद हम उस पर मोमजामा लपेट लेते थे। फिर चाहे जितनी बारिश हो और हम चाहे जितने भीगे हों, तो भी रातको हमें बिलकुल सूखा बिछौना मिलता था। कुनैनकी शीशी तो मेरे पास थी ही। मोमबत्तियां, दीयासलाई, साबुन, कामके लायक चिल्लर और बाबाजीके लिए ठोस बांसकी लम्बी लाठी, ये चीजे हमने रख लीं और यात्राके लिए सज्ज हो गये।

सुना कि हरद्वारके बाहर भीमगोड़के पास कुलियोंका अड्डा है। वहां जाकर कुलियोंका भी इन्तजाम कर लिया। एक दिन और हरद्वार तथा कनखल देखनेमें बिताकर यात्राके लिए प्रस्थान किया। हमें यात्रा पर जानेकी जल्दी थी, पर पाठकोंको तो उसका वर्णन सुननेकी उतावली हो ही नही सकती। वे हरद्वार और कनखलका सविस्तर वर्णन सुने बिना मुझे छोड़ेंगे नहीं, इसलिए पहले शान्तिपूर्वक इनका वर्णन करना ठीक होगा।

२०. गंगाद्वार

हरद्वार, कनखल और ज्वालापुर तीनोंकी अपनी एक समष्टि है। हरद्वार

तीर्थयात्रियोंका नगर है, ज्वालापुर पण्डोंका धाम है, और कनखलको संन्यासियोंका स्थायी शिविर कह सकते हैं। तीनों पास-पास होने पर भी अलग-अलग है। तीनों स्थानोंमें मिश्र बस्ती है। तीनों जगह बड़ी-बड़ी धर्मशालाएं हैं, सदावर्त हैं, और विद्यालय भी हैं। तीनोंमें कनखल और हरद्वार दो पुराने हैं, और पुराणोंमें दोनोका माहात्म्य बहुत वर्णित है। कनखलसे थोड़ी दूर नदीके उस पार आर्यसमाजियोका गुरुकुल है। (एक बहुत बड़ी बाढ़में यह गुरुकुल बह गया था। इसलिए अब यह संस्था गंगाजीके इस पार कनखलमें आ गयी है।) हरद्वार और ज्वालापुरके बीच सनातनियोंका ऋषिकुल है, और खास ज्वालापुरमें ऋषिकुलके समान सनातनी ढंगका, परन्तु आर्यसमाजी मतका, ज्वालापुर महाविद्यालय है। तीनों संस्थाओका उद्देश्य अपने-अपने मतके अनुसार स्वधर्मका उद्धार करनेवाले, कट्टर धर्मप्रेमी और धर्मोपदेशक तैयार करना है। तीनों संस्थाओंको प्रभावोत्पादक धर्मोपदेश करनेके लिए अंग्रेजी भाषा और लौकिक विद्याके ठोस ज्ञानकी आवश्यकता जान पड़ती है। जब मैं पहले-पहल तीनों संस्थाएं देखकर लौटा, तो मेरे मन पर यह छाप पड़ी कि तीनों संस्थाओंमें संस्थापकों या अध्यापकोंकी अपेक्षा विद्यार्थियोंमें धार्मिक आग्रह (धर्मोन्माद) कम था। उनमें मताग्रहकी अपेक्षा स्वदेश-प्रेम अधिक था। आर्यधर्मया हिन्दूधर्मकी अपेक्षा राष्ट्रधर्मका प्रभाव उन पर कही अधिक पड़ा था। एक यात्रीके नाते मैं केवल अपने दिल पर पड़ी हुई पहली छाप ही यहां बतला रहा हूं। उसके बाद, अर्थात् यात्रा समाप्त होने पर, इन तीनों संस्थाओंसे मेरा परिचय बढ़ा। उनके विषयमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु यात्रा-वर्णनमें उसका समावेश नहीं हो सकता।

एक संस्थाने मेरा ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित किया। वह है 'मुनि-मंडल-आश्रम'। यह संस्था हरद्वार स्टेशन और ऋषिकुलके बीचमें है। 'मुनि-मंडल-आश्रम' विद्यालय नही है। वह एक प्रकारका धर्मतत्त्व-संशोधन-मन्दिर है। वहांका ग्रन्थ-भंडार सुन्दर है। एकान्तमे बैठकर धर्म-चिन्तन और अध्ययन करनेवालोंके लिए वह बहुत उपयोगी हो सकता है। इस संस्थामें हरिवंशकी एक बड़ी पोथी है। पोथीके हरएक पन्ने पर एक या अधिक सुन्दर चित्र और उसके आसपास तरह-तरहकी सुनहरी बेल-बूटी है। अक्षर बिलकुल मोतीके दाने-जैसे हैं। चित्रकारी जयपुरी पद्धतिकी अत्यन्त मनोहारी है। प्रत्येक चित्रके नीचे उसका परिचय दिया गया है। ग्रंथ मराठी भाषामें होते हुए भी उसकी लिखावट मराठी ढंगकी नही है। इसलिए मैं समझता हूं कि यह अपूर्व ग्रंथ किसी मराठा सरदारने जयपुरी कारीगरों-से लिखवाया होगा। मैंने बड़ौदा, जयपुर और बांकीपुरकी खुदाबख्श लायब्रेरीके चित्र-संग्रह देखे हैं। काशीनरेशके महलके भीतरकी दीवारों पर, 'रामचरितमानस' के अनेक प्रसंगोके जो चित्र बने हैं, वे भी देखे हैं। परन्तु फिर भी हरिवंशमें दिये गये चित्र और विविध प्रसंग देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

कौन जाने भारतीय कारीगरीकी 'आला दरजेकी चीजें' कहां-कहां पड़ी होंगी, कहां-कहां सड़ रही होंगी, और उनमेंसे कितनी देशसे निर्वासित हो चुकी होंगी! मन इस विचारसे उद्विग्न हो उठा। कितने ही ग्रंथ लन्दन म्यूजियममें या बर्लिनके म्यूजियममें पहुंच गये हैं। कितने ही चित्र और मूर्तियां आज बोस्टन-म्यूजियमकी शोभा बढ़ा रही हैं। अपनी ऐसी विडम्बना होती देख भारतकी कला फूट-फूटकर रोती होगी। मनमें इस विचारके आते ही मुंहसे सहसा सुविख्यात मराठी कवि केशवसुतकी यह पंक्ति निकल पड़ी—

'देवारे! मग ती स्फुन्दे
एवढा तरी लाभूं दे।"[1]

वहांके साधु लायब्रेरियन मुझसे पूछने लगे—"आपने क्या कहा?" मैंने जवाब दिया—"कुछ नही, स्वामीजी! मैं यही चाहता हू कि ऐसे रत्न देशके देशमे ही रहें। जैसे यशोदा मैया श्रीकृष्णका जतन करती थी, वैसे ही आज इस हरिवंशका जतन होना चाहिये।"

ये हुई थोड़ी-बहुत आधुनिक पद्धतिकी संस्थाएं। पुरानी पद्धतिके अखाड़े, गुफाएं और साधुओंकी कोठियां तो यहा चाहे जितनी हैं। सिक्खोंकी धर्मशालाएं, उदासी-पंथके मकान, और शांकर-मतके दशनामी अखाड़े तो ऐसे क्षेत्रोंमें होते ही हैं। अन्नसत्र देखनेके लिए मैं खास तौर पर गया। अहल्याबाई अर्थात् महाराष्ट्रका धर्मश्रद्धा, महाराष्ट्रका दान-नैपुण्य! अहल्याबाई अर्थात् महाराष्ट्रकी नारी-प्रतिष्ठा! इस पुण्यश्लोक रानीने अपनी प्रजाका मातृवत् पालन किया। वैराग्य-साधनामें जीवन व्यतीत किया, कुशलतासे राज्यकी रक्षा की, और आसेतु-हिमाचल तीर्थ-तीर्थमें अन्नसत्र खोलकर अपनी कीर्तिको अजरामर बनाया। आज भी अहल्याबाईके नामसे काशीसे गगाजलकी एक कांबड़ भरकर प्रति दिन रामेश्वर जाती है। परन्तु अहल्याबाईने इनमेंसे एक भी काम अपने नामके लिए नही किया। एक ब्राह्मणने अहल्याबाईकी स्तुतिमे एक सुन्दर ग्रंथ लिखा और वह उन्हें दिखाने गया। उस साध्वीने ब्राह्मणको दक्षिणा दी, और वह ग्रथ लेकर पानीमे डुबा दिया।

बाबाजीने मुझसे पूछा—"तुमसे किसने कहा कि हरद्वारमे अहल्याबाईका अन्नसत्र है?" मैंने कहा—"किसीके कहनेकी जरूरत ही नही हैं। मुझे अपने-आप लगा कि यहां अहल्याबाईका अन्नसत्र जरूर होगा।" मुझे छुटपनकी एक बात याद आ गयी। बाबाजीसे मैंने कहा—"जब मै छोटा था, तो एक बार गोकर्ण-महाबलेश्वर गया था। वहां भी अहल्याबाईका एक अन्नसत्र था। हम उसके पास ही ठहरे थे। दोपहरको बारह बजे एक भूखा यात्री अन्नसत्रमें आया। वहांका

---

१. अर्थात् फिर वह सिसकती हुई कहती है—'हे भगवान, कम-से-कम इतना तो नसीब होने दे!'

व्यवस्थापक इतना श्रद्धालु न था कि वह उतरा हुआ मुटका फिर पहनकर उस अतिथिको भोजन कराता। इसलिए उसने मेरी मारफत अतिथिको भोजन करानेकी युक्ति निकाली। मैं मुश्किलसे आठ बरसका रहा हूंगा। तब मेरा जनेऊ भी नही हुआ था। इसलिए मैं तो आठों पहर पवित्र ही था। मैने तुरन्त कपड़े फेंक दिये और अन्नसत्रकी रसोईमेसे एक पत्तल परोस लाया। पत्तल अतिथिके सामने रख दी, और फिर कपडे पहनकर मांके पास आ गया। मैंने मासे पूछा—"यह मन्दिर किसका है?" जवाबमें मांने अहल्याबाई पर रचित एक लम्बा गीत गाया। उस दिनसे मैं अहल्याबाईको पूज्य भावसे देखता आया हूं। अहल्याबाई धनगर (गडरिया) जातिकी थी। परन्तु आज गोकर्णमे कट्टर ब्राह्मण भी अहल्याबाईकी मूर्तिकी पूजा करते है।"

अरे! लेकिन मैं हरद्वारकी बात छोड़कर गोकर्ण कहा जा पहुचा? यात्रा करनेवाला मनुष्य हमेशा स्थानान्तर करता रहता है। उसी तरह उसे विषयांतर करनेकी भी आदत पड़ जाती है। प्रवासी बातूनी तो होता ही है। आप हरद्वारके किमी भी अखाडेमे चले जाइए। वहा आपको देश-देशान्तरकी बाते सुनानेवाले सन्यासी मिलेगे। ज्वालापुरमे आप ऐसे पण्डे पायेगे, जो एक भी लम्बी यात्रा किये बिना आपको सारे हिन्दुस्तानका हाल सुना सकते है। सन्यासी आपसे निरपेक्ष भावसे बात करेगे। पर पण्डे तभी बात करेंगे, जब देखेंगे कि आप मालदार है। परन्तु उनकी बातोमे माल (तथ्य) होता ही है, सो माननेकी कोई वजह नही।

शामको धूप कम हो जाने पर गंगाजीके घाट पर हजारों, बल्कि लाखों, यात्री इकट्ठा होते हैं। बम्बईमे जिस प्रकार चौपाटी पर भीड़ लगती है उसी तरह हरद्वारमे 'हरकी पैडी' के पास लोगोकी भीड़ लगती है। जगह-जगह साधु-सन्त और धर्म-प्रचारक व्याख्यान देते हैं, भजन-कीर्तन करते है, फेरीवाले अपना व्यापार करते हैं, और स्त्रिया मंगतो तथा साधुओंसे होनेवाला सारा उपद्रव सहकर भी अपनी प्रसन्नता कायम रखती हुई गंगाजीके प्रवाहमे दीपदान करती है।

दीपदान मुग्ध स्त्री-संसारका एक अनुपम काव्य है। असख्य जीव जीवन-स्रोतमे पडकर, सुख:दु:खकी लहरों पर उतरते हुए, भाग्य-पवनके झोंकों पर इधर-उधर नाचते है; कुछ शुरूमें ही डूब जाते हैं, कुछ दूसरे बिना किसी तरहका अनुभव प्राप्त किये ही उस पार पहुच जाते है, कुछ दो-दोकी जोड़ीमे चलते है, और कुछ तो अपनी छोटी-सी नैया ही जला डालते हैं, और इस प्रकार दो क्षणोंकी दीप्ति दिखाकर लुप्त हो जाते है। कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपने सौम्य तेजके आसपास पर्याप्त स्नेहका संग्रह रखकर बहुत दूर तक सही-सलामत जाते हैं, और दूसरोंके लिए दिशा-दर्शक बन जाते हैं। दीपदान इसका एक प्रतीक है। एक ओरसे असंख्य दीपोंकी विश्रृंखल पंक्ति भाग्यस्रोतमे बहती जाती है, और दूसरी ओर मन्दिरोंमे असंख्य घंटोकी तालबद्ध झंकार हवाकी लहरों पर होती हुई अनन्तके

हृदयमें प्रवेश करती है, और गंगामैया एक-दूसरेसे लड़-भिड़कर चिकने, सुन्दर और अहिंसक बने हुए कंकरोंके साथ खेलती तथा हंसती हुई यह सब सुनती रहती है। कैसा काव्यमय दृश्य है! आकाशमें तारे भी एक क्षणके लिए स्तब्ध होकर यह दृश्य देखते हैं। अपना सनातन संगीत स्थगित करके तारे यह घंटानाद सुनते होंगे, और अपना दिव्य नर्तन स्थगित करके वे इस दीपमालाकी शोभा निहारते होंगे! गंगामैया अपने कलरव द्वारा कहती होंगी—"हिन्दुस्तानमें आयी हुई देश-देशान्तरकी सन्तानें मेरे प्रिय कंकरोंकी तरह सहिष्णु और अहिंसक बनकर, एकत्र व हिल-मिलकर रहेंगी, इसे सिद्ध करनेवाली मैं भारतकी संस्कृति हूं।"

चन्द्रमा अस्त हुआ और हम गंगाजीके किनारे-किनारे चलते हुए कनखल आ पहुंचे। रास्तेमें घासकी चटाइयोंके बने हुए कुछ झोंपड़े देखे। झोंपड़ोंकी रचना, उनकी सादगी, सुन्दरता और साफ-सुथरापन देखकर मैं खुश हुआ। साधुओंमें मकानोंके विषयमें उच्च कोटिकी अभिरुचि होती है, और अपनी कुटीके आसपासकी स्वच्छता वे बहुत परिश्रमपूर्वक रखते हैं। यदि आधुनिक तिरस्कार-भावनाको छोड़कर आप उनसे मिलें, तो आप उनमें पर्याप्त मात्रामें कुलीनता, बहुश्रुतता, तितिक्षा आदि गुण पायेंगे। जिस प्रकार साधुओंकी यह झूठी धारणा होती है कि मोजे, जूते, टोप पहनने और चश्मा लगानेवाले लोग नास्तिक एवं धर्मभ्रष्ट होते हैं, उसी प्रकार आधुनिक सुधारवादियोंकी समझमें प्रत्येक गेरुई कंथेके अन्दर एक निठल्ला, धूर्त, अकर्मण्य और पाखंडी व्यक्ति छिपा होता है। यदि बाह्य आकारकी पूजा अज्ञानकी द्योतक है, तो बाह्य आकार परसे कायम की हुई तिरस्कार-भावना भी उतनी ही अज्ञानका द्योतक है।

मुझे यह देखकर थोड़ा विषाद हुआ कि हरद्वारमें भी अंग्रेजी बोल सकनेवाले साधुओंकी प्रतिष्ठा ज्यादा है। परन्तु हमें तो अंग्रेजीदां साधुओंकी अपेक्षा हमारा सामान ढो सकनेवाले कुलीकी ही चिन्ता अधिक थी, इसलिए दूसरे दिन हम कुलीकी तलाशमें कनखलसे भीमगोड़की तरफ गये।

२१. प्रस्थान

हरद्वारसे गंगाके किनारे-किनारे चलकर गंगोत्रीकी खोजमें जो सबसे पहला यात्री निकला होगा, क्या हमें उसका इतिहास कहीं मिल सकता है? मेरी धारणा है कि गंगोत्री, जमनोत्री, केदार, बदरी, अमरनाथ, खोजरनाथ, मानस-सरोवर, राकसताल, अमरकंटक, महाबलेश्वर, त्र्यम्बक आदि सारे तीर्थस्थान नदीका उद्गम खोजनेकी प्राकृतिक जिज्ञासाके ही परिणाम हैं। उत्तर ध्रुवके आसपास रहनेवाले आर्य लोग इस बातकी शोध करनेके लिए बाहर निकले कि हमें उष्णता देनेवाला

सूर्य कहांसे उदय होता है और कहां अस्त होता है, और चारों महाद्वीपोंमें फैल गये। उसी प्रकार हिन्दुस्तानकी सन्तानें अपने-अपने ढोर-बछेरू लेकर या अकेले ही नदीके उद्गमकी शोध करती हुई घूमीं हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

मैं एक बार कह चुका हूं कि यात्राका उद्देश्य धार्मिकके अतिरिक्त सैनिक भी हो सकता है। हमारे आद्यपुरुषोंने सोचा होगा कि सैनिक दृष्टिसे आसपासके प्रदेशकी रक्षा करनेमें समर्थ कोई ऊंचा स्थान, अथवा बहुत बड़ी संख्यामें एकत्रित लोगोंके उपयोगमें आने लायक कोई जलाशय, किसी योग्य अथवा अयोग्य राजाके हाथोंमें रहनेकी अपेक्षा धर्मनिष्ठ प्रजाकी श्रद्धाका केन्द्र बन जाय तो अधिक सुरक्षितता रहेगी। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' सूत्रका प्रत्यक्ष प्रमाण वहां मिल जाता होगा। केदार और बदरी तिब्बतके साथ व्यापारके नेतिघाटवाले रास्ते पर हैं। यह रास्ता साल भरमें आठ-नौ महीने तो बर्फ ही से ढका रहनेके कारण बन्द ही रहता है, और सिर्फ़ चौमासेमें खुला रहता है। उन्हीं दिनों शान्तिमय व्यापार या अशान्तिमय आक्रमण हो सकता है। अगर इन चार महीनोंमें ही हजारों यात्री इस रास्ते आवागमन करेंगे, तो इसका स्वाभाविक रीतिसे रक्षण होगा और व्यापार भी सहज गतिसे बढ़ेगा। यही बात कैलाश और मानस-सरोवरकी है। लेपूघाट और ऊंटाधुरा घाट हमें मानस-सरोवर और राकसतालके बीचसे ग्यानिमा और गड़तोक-जैसी तिब्बती मंडियोंकी तरफ ले जाते हैं। मानस-सरोवर और कैलास जानेवाला यात्री यदि वहीं 'कैलासवासी' न हो जाए, तो अवश्य यात्राके पुण्यके साथ-साथ तिब्बतके अमूल्य गालीचे और दूसरी चीजें लेकर आयेगा।

अगर पहेलीके साथ उसका जवाब भी दिया गया हो, तो उसे बूझनेके प्रयत्नका आनन्द जाता रहता है। यही बात आज यात्रियोंकी हो गयी है। आज हिमालयकी यात्रामें भी यात्राके मार्ग बहुत बड़े अंशमें सरल हो गये हैं। पुराने जमानेमें गंगोत्री या बदरीनारायणकी यात्रा करनेवाले अपनी जायदाद अपने बेटे-बेटियोंमें बांट देते, सब सगे-सम्बन्धियोंसे मिलकर बिदा मांगते, और लड़ाई पर जानेवाले सिपाहीकी तरह मौतका न्यौता स्वीकार करके ही प्रस्थान किया करते थे। अगर उन्हें मौत न आयी, तो उसमें उनका कोई कसूर नहीं होता था। इसे तो मृत्युकी लापरवाही कहना चाहिये! आज बदरीनारायणसे भी यात्राके दिनोंमें तार भेज सकते हैं, और मनीऑर्डरसे पैसा मंगा सकते हैं। गंगोत्री-जमनोत्रीकी तरफ इतनी सुविधा नहीं है। इसीलिए अभी वहां पुण्यांश शेष रह गया है।

*   *   *

भीमगोड़से जरा आगे आने पर हमें कुलियोंका ठिकाना मिला। हमें जरूरत तो एक ही कुलीकी थी, पर हमें दो भाई मिल गये। उन्होंने कहा—"आपका बोझा तो एक ही कुलीके लायक है, लेकिन हम दो जने उसे उठायेंगे। बस, आप हमें एक ही आदमीकी मजदूरी दीजिये।" वे हमारी भाषा नहीं जानते थे, इसलिए स्वामीने

मराठीमे कहा—"काका, अच्छा तो है। हम इन्ही कुलियोको ठीक कर ले। हमे एकके बदले दो कुली मिल रहे है। रास्तेमे हम दोनोको अच्छी तरह खिलायेंगे, तो दोनो जीव खुश रहेगे। हम हर मुकाम पर इन्हे खिचडी खिलायेंगे। ये लोग खिचडीको हलुवा-पूडीसे भी अधिक राजविलासी भोजन समझते है।" हमने अपना बोझा कैरसिंह और बहादुरसिंहके सिर पर चढाया और अपना भाग्य साथ लेकर रवाना हुए। 'चराति चरतो भग: !'

२२. हृषीकेशके रास्ते पर

बायी तरफ घनी झाडीमेसे होकर रेलकी पटरिया देहरादूनकी दिशामे इस तरह जा रही थी, मानो जंगलमे कोई नागिन चल रही हो। जब तक रेलकी ये पटरिया दीखती रही, तब तक बहुत चाहने पर भी मनमे यह भाव पैदा नही हो पाता था कि हम किसी पवित्र यात्राके लिए रवाना हुए है। परन्तु थोडी देर बाद ही हमारे रास्तेने रेलवे लाइनसे असहयोग कर दिया, और एक सुन्दर पुलकी राह जगलमे प्रवेश किया। हमे रवाना होनेमे थोडी देर हो गई थी, इसलिए सत्य-नारायण पहुचनेसे पहले ही प्राय: दोपहर हो चुकी थी।

यहाका मन्दिर सुन्दर है। मन्दिरके भीतर लक्ष्मीनारायणकी सगमरमरकी मूर्तिया इतनी आकर्षक है कि बरबस मनमे प्रेमभाव उपजाती है। मन्दिरके पुजारी महाराज दक्षिणाकी आशासे हमारी तरफ ताक रहे थे। क्या लक्ष्मीपति सत्य-नारायणसे भी हमारे वदन-सरोज अधिक आकर्षक थे? बिलकुल नही। परन्तु मन्दिरमे खडी सगमरमरी लक्ष्मीकी अपेक्षा हमारी गिरहमे छिपी हुई रौप्य लक्ष्मी पुजारीके लिए अधिक आकर्षक थी। हमने कुए पर जाकर हाथ-पैर धोये और जरा विश्राम करनेके लिए मन्दिरमे जा बैठे। वहा इस चिर-परिचित गानका स्फुरण हुआ :

आजिचा सुदीन रे सुदीन
    आमुचा उदयला भाग्याचा
आमुचा उदयला भाग्याचा
    आमुचा उदयला भाग्याचा
लक्ष्मीनारायण पाहिला,
    दयाघन देव वैकुंठिचा
दयाघन देव वैकुंठिचा
    दयाघन देव वैकुंठिचा

लोकगीतकी रागमे तार स्वरसे गानेवाले मुझ-जैसे सगीत-शत्रुकी पुकार सुन

कई लोग वहां इकट्ठा हो गये। मेरा स्वर-तार टूट गया, और लज्जासे कुछ झेंपता-सा मुंह लेकर मैं वहांसे खिसक गया।

इस स्थानसे कुछ ही दूर पर एक छोटा-सा झरना बह रहा था, और उसके आसपासकी झाड़ीमें कई लोग पाकक्रिया सिद्ध कर रहे थे। हमने भी एक पाकानुकूल स्थान खोज लिया और चुल्लिकाकी उपासना आरम्भ कर दी। रसोई बनानेका जिम्मा बाबाजीने लिया, क्योंकि वे 'स्वयंपाकी' थे। वे स्वामीके या मेरे हाथका भोजन नहीं कर सकते थे। दक्षिणी देशस्थ ब्राह्मण जो ठहरे। इसलिए हमें सदाके लिए भारी राहत मिल गयी थी। स्वामी ईंधन-पानीका इन्तजाम करते थे। मैं चूल्हा सुलगाकर तैयार कर देता था। जरूरत होने पर बाजारसे सौदा लानेका काम भी स्वामीके ही सुपुर्द था। हर मुकाम पर सामान खोलने और उसे फिरसे बांधनेके कौशलमें मैं सबसे प्रवीण था। (इसमें भी कौशल होता है।) और जब तक बाबाजी रसोई बनानेमें लगे रहते थे, हम दोनों उन्हें कोई-न-कोई सुन्दर लेख पढ़कर सुनाते थे।

स्वामीके पास थोरोके निबन्ध थे। आज उन्होंने उनमेंसे प्राकृतिक मनुष्यका वर्णन पढ़नेके लिए चुना था। पत्थर पर घासकी एक हाथ चौड़ी मेरी चटाई बिछाकर स्वामी उस पर विराजमान हुए। घासकी चटाई जंगलके पत्थर पर ठहरनेमे रही। जब मैंने देखा कि स्वामी प्राकृतिक मनुष्य बनकर मेरी प्यारी चटाईके प्रति क्रूरताका व्यवहार कर रहे हैं तो मैं चिढ़ गया। मैंने उनसे उठनेको कहा। लेकिन जो स्वामी होते हैं, वे क्यों किसीकी मानने लगे? मैं बहुत खीझ उठा था। मैंने उनकी टांग पकड़कर उन्हें खींचनेका विचार किया; इतनेमें एक सिड़ी-सा आदमी हमारे पास आया। उसने पासके झरनेका पानी लेकर हमारे पैर पखारे और बोलने लगा—'अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलाः क्रियाः'। स्वामीने उसे कुछ देकर बिदा किया और हम लोग भोजन करने बैठे। बाबाजी जब परोसते, तो मांकी तरह प्रेमसे परोसते थे। हमने भोजन किया, कुछ देर आराम किया; और फिर आगे प्रस्थान किया।

रास्तेमें कैरासिंहने हमसे गंभीरतापूर्वक कहा—"आप इस रफ्तारसे चलेंगे, तो हमारी नहीं निभ सकती। इस तरह चार महीनोंमें भी यात्रा पूरी न होगी। मजदूरीके सारे पैसे खानेमें ही खर्च हो जायेंगे। फिर हम सालभरकी कमाई लेकर घर क्या जायेंगे?" उस बेचारेको क्या पता कि कुछ दिनों बाद हमारी गति इतनी ज्यादा बढ़ जायेगी कि हमारे पीछे दौड़ते-दौड़ते उसका दम निकल जायगा! सांझ होते-होते हम हृषीकेशमें बाबा काली-कमलीवालेकी धर्मशालामें आ पहुंचे।

२३. साधुओंका पीहर

एक संन्यासीने किसी निराश व्यापारीको आशीर्वाद और प्रोत्साहन देकर फिर धन्धेमें प्रवृत्त किया। धन्धेमें व्यापारीके भाग खुले। संन्यासीने व्यापारीकी कृतज्ञताकी भेंट स्वीकारनेसे इनकार किया और कहा—"तुम्हें पैसा ही खर्च करना है, तो हिमालयके यात्रियोंका कष्ट दूर करके उनके लिए सब तरहकी सुविधाएं कर देनेमें भले ही खर्च करो।" व्यापारीने हृषीकेशसे बदरीनारायण तक यात्रियोंके लिए बहुत बड़ी सुविधाएं कर दी। संन्यासीने उनकी देखरेखका भार अपने ऊपर लिया। सन्यासी स्वयं इतने विरक्त थे कि अपनी देखरेखमें चलनेवाले किसी भी 'अन्नसत्र' मे भोजन करनेसे पहले कुछ घड़े पानी लाकर 'सत्र' के हौजमें डाले बिना न रहते थे। इन संन्यासीने 'पक्षपात-रहित अनुभव-प्रकाश' नामक एक ग्रंथ भी लिखा है। संन्यासीकी कफनी काले कम्बलकी बनी हुई थी। इसलिए उनका नाम 'बाबा काली-कमलीवाले' पड गया।

शामको हृषीकेशमें हम इन्हीं काली-कमलीवालेकी धर्मशालामें पहुचे। महाराष्ट्रमें भी धर्मशालाएं होती हैं। परन्तु वहां मकानकी रखवाली करनेके अतिरिक्त रखवालोंका कोई और काम नही होता। पजाबकी तरफ 'धर्मशाला' संस्था ही कुछ और तरहकी है। सिक्खोंका ग्रंथसाहब जहां रखा और पढ़ा जाता है, उस स्थानको 'धर्मशाला' कहते हैं। वास्तवमें यही यथार्थ है। ऐसे गुरुद्वारों अथवा धर्मशालाओंमें यात्री और अतिथि सुखसे रह सकते हैं। धर्मशालाके साधु अथवा व्यवस्थापक उनकी सुविधाका विशेष ध्यान रखते है।

इस आतिथ्यकी मात्रा हमारी धारणा अथवा इच्छासे कही अधिक होती है। इसलिए पहले अनुभवके अवसर पर मैं बिलकुल दंग रह गया। धर्मशालामें पहुंचते ही हमारा स्वागत आमन्त्रित मेहमानोंकी तरह बड़े प्रसन्न वदनसे किया गया। दाहिनी तरफके छज्जे पर हमें एक कमरा दिया गया। एक आदमी आकर वहां चिराग जला गया। दूसरेने आकर पूछा—"कौन-कौनसे बरतन-बासन चाहिये?" हम लेनेको तैयार होते, तो वह हमें सीधा भी दे देता। पर इस तरहके स्वागतके लिए हम तैयार न थे, इसलिए मैं हैरान होकर एक कोनेमे जा बैठा। अनजान समाजके साथ घुल-मिल जानेकी कला स्वामी अच्छी तरह जानते हैं। बाबाजीकी और मेरी एक और कठिनाई थी। हमें हिन्दी नही आती थी। इसलिए घूमने-फिरने के काम सहज ही स्वामीको करने पड़ते थे। वही हमारे 'मुखिया' बने। सारी यात्रामें उन्होंने अपना काम बड़ी योग्यतासे किया। कभी-कभी उनके उत्साहके कारण हमें कुछ कष्ट भी सहना पड़ता था। लेकिन कुल मिलाकर उनके नेतृत्वके कारण हमारी सुविधाकी योजना और शान्तिका निर्वाह सुचारु रूप से होता था।

बाबाजीने रसोई बनाई। लकड़ियोंके धुएँने अपना 'सासपना' अच्छी तरह किया, इसलिए बेचारे बाबाजीको गूगी बहूकी तरह खूब रो लेना पडा। तीनोने मिलकर भोजन किया। मुख्य व्यवस्थापक सन्यासी जब हमारी कुशल और आवश्यकताए पूछने आये, तो उन्हे जवाब देनेका मुख्तारनामा स्वामीको सौपकर मै चैनसे सो गया। धर्मशालामे इसने अधिक यात्री इकट्ठा हो गए थे कि वहा तीसरे दरजेके मुसाफिरखानो-जैसी ही भीड़-भाड़ थी। इसलिए आसपास घूमने या निरीक्षण करनेको जरा भी जी न चाहा।

सवेरे उठते ही स्वामीने हमारे सामने वह सादी जानकारी पेश की, जो उन्होने रातमे जुटाई थी। यहा इतनी धर्मशालाए है, इतने सदावर्त है; पास ही 'झाड़ी' नाम का एक 'बेर-बन' है, उसमे साधु लोग मढैया डालकर रहते है, पजाब धर्मशालाकी आय बहुत कम है, आदि-आदि सारी बाते सुनायी। उठकर शौच हो आये, तो हाथ-पैर धुलानेके लिए भी एक आदमी तैयार था! इतनी आवभगत यात्रियोके लिए अच्छी नही, यह विचार उस समय जो मनमे आया, सो आज भी कायम

८

हमारे काव्यो, पुराणो अथवा आजकलकी अद्भुत कथाओंमे शौचविधिका उल्लेख कही आता ही नही। स्मृति-वचनोके बाहर मानो इनके लिए कही स्थान ही नही। इस धर्मशालाके आसपास भी इस आवश्यक क्रियाके लिए कोई नियत स्थान या किसी प्रकारकी व्यवस्था नही है। दूसरी सारी सुविधाए तो आवश्यकतासे कही अधिक है। परन्तु प्राकृतिक आवश्यकता प्रकृतिके हवाले ही छोड़ दी गई है। इसलिए मै मन-ही-मन सोचने लगा, "अगर मै सन्यासी होऊ और मेरे आशीर्वादसे कही कोई हताश व्यापारी करोडपति बने, तो उसे मै पुण्यका यही मार्ग सुझाऊ कि वह एक भी नयी धर्मशाला न बनवाये, बल्कि भारतमे जहा-जहा धर्मशालाए हो, वहा-वहा शौचक्रियाके लिए आदर्श स्थान बनवा दे। ऐसा करनेसे वह स्वय तो स्वर्गको जाएगा ही, पर साथ ही इस देशके लाखो यात्रियोको सवेरेके नरकसे उबार लेगा।" मुझे काशीके त्रैलिग स्वामीका स्मरण हो आया।

जान पड़ता है कि हृषीकेशकी भूमि पर रामचन्द्रजीके भाई भरतजीका स्वामित्व है। साधुओको मढ़ैया बनाना हो, तो भरत-मंदिरके व्यवस्थापकोकी इजाजत लेनी पड़ती है। भरतजीके दर्शन करके हम आगे बढ़े। जब हम किसी स्थानमे अनेक बार जाते है, तो उसके प्रथम दर्शनका कौमार्य नष्ट हो जाता है। परन्तु काली-कमलीवालेकी धर्मशालामे उसके बाद कई बार जाने पर भी पहले दिनका स्मरण मेरे मनमे आज भी उतना ही ताजा और नया है।

एक ओर पर्वतकी वृक्षराजि और दूसरी ओर गंगाजीके पुलिनकी शोभा देखते हुए हम आगे चले। बायीं तरफ धनराजगिरिकी कोठी आयी। वैसे उसका रखा

हुआ नाम तो 'कैलाश-कीर्ति-आश्रम' है लेकिन वह 'धनराजगिरिकी कोठी' के नामसे ही पहचानी जाती है। यानि उसे विद्वान संन्यासियोंका कॉलेज कहा जाय, तो उसके स्वरूपकी पूरी कल्पना आ सकती है। अत्यन्त प्राचीनकालसे संन्यासियों ने इस गंगातटको ध्यान तथा अध्ययनके लिए चुना है। वहां अन्नसत्र (सदावर्त)की स्थापनासे पहले यहांके साधु प्रातःकालकी साधना समाप्त करनेके पश्चात् ग्यारह मील चलकर भिक्षाके लिए हरद्वार जाया करते थे और वहांसे उतने ही मील लौटकर अपनी गुहामें प्रवेश करते थे। उनकी यह मुसीबत देखकर हृषीकेशमें अन्नसत्र खोला गया। वहांसे झाड़ीमें घूम-घूमकर साधुओंके पास साग-रोटी पहुंचायी जाती थी। बादमें यह व्यवस्था की गयी कि साधु लोग ही अन्नसत्रमें आकर भिक्षा ले जायें। कुछ अन्नसत्रोंमें एक निश्चित मात्रामें ही भोजन दिया जाता है, और कुछमें साधु जितना चाहें उतना। यदि कोई साधु बीमार हो या बंगाली हो, तो उसे भात मिलता है। पेटू इन दोमेंसे किसी एक वर्गमें घुसकर भात प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे अन्नसत्रमे जाकर दाल-रोटी लेते हैं, और गंगाजीके तट पर बैठकर उसे आरोगते है। रोटीकी किनारों पर तो गंगाजीकी मछलियोंका ही अधिकार होता है।

हृषीकेशकी झाड़ीमे साधु लोग सुन्दर कुटिया बनाते हैं। जंगलसे जो घास लाते हैं, उसीमेसे थोड़ी घास लेकर रस्सियां बना लेते हैं। लकड़ीके लिए दूर जाना ही नहीं पड़ता। गंगाजीमें कितने ही शहतीर चिकने हो-होकर बहते आते हैं। उन्हीको बेगारमे पकड़ लेनेसे मुफ्तमें मतलब निकल आता है। एक दिनमें एक मढ़ैया तैयार! दस-बीस मढ़ैयोंके बीचमें एकाध व्याख्यान-मण्डप भी बना होता है। वहां बैठकर कोई विद्वान आचार्य रोज संध्या-समय प्रस्थानत्रयीका विवरण करता है, और साधुओंके छोटे-बड़े दल 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सिद्धान्त अनेक प्रकारसे समझ लेनेका प्रयत्न करते हैं। वहां निरा चर्वित-चर्वण ही होता हो, सो भी नही। नयी-नयी शंकाएं उठती हैं, और उनके जवाबमें नयी-नयी दलीलें दी जाती हैं। कुछ अर्द्धदग्धोंका पाश्चात्य विचारोंसे समन्वय करनेका बेढंगा प्रयत्न भी यहां चला करता है। कुम्भमेलेके अवसर पर ऐसे नये-नये विषयोंका विनिमय होता है, और शास्त्रार्थमें रुचि बढ़ती है। इस प्रकार हमारे साधुओंने हमारे अध्यात्म-शास्त्रको जीता-जागता और गूंजता रखा है।

कहते हैं एक बार औरंगजेब अध्यात्मके इस विद्यापीठ पर अपनी फौज लेकर आया। साधुओंने अपनी झोंपड़ियां जला डालीं और खुद जंगली गांवोंमें लापता हो गये। सैनिक उनके पीछे कहां तक दौड़ते? औरंगजेब हारकर लौट गया, और तीन ही दिनोंमें वह विद्यापीठ फिर ज्यों-का-त्यों तैयार हो गया। जो लोग अपरिग्रह-व्रतका पालन करते हैं, वे परतन्त्र या परास्त कैसे हो सकते हैं?

यहांसे आगे जाने पर मार्गमें रामाश्रम मिला। यह छोटी-सी संस्था स्वामी रामतीर्थकी स्मृतिमें आगरेके लाला बैजनाथने स्थापित की है, और इसमें उन्होंने

अपनी एक छोटी-सी लायब्रेरी भी रखी है। लाला बैजनाथने हिन्दू धर्मका गहरा अध्ययन किया था। उनकी 'प्राचीन और अर्वाचीन हिन्दू धर्म' नामक अंग्रेजी पुस्तक मैंने पढ़ी थी। जब यह सुना कि लालाजी आश्रममें ही हैं, तो उनसे मिलनेकी इच्छा हुई। उनके साथके वार्तालापसे मेरे मन पर यह छाप पड़ी कि रामतीर्थके इस शिष्यके मनमें कुछ ऐसा खयाल है कि रामतीर्थके निर्माणमें उसका भी कुछ हाथ या हिस्सा था। और, यह सच भी हो सकता है। उन्होंने हमें भोजनके लिए निमंत्रित किया। हमने उनके यहां भोजन किया। फिर उनकी रुचि-अरुचिका विचार किये बिना ही उनके दीवानखानेमें थोड़ा सो भी लिया। फिर कुछ बाते की, और उसके बाद रवाना हुए।

आजकलके साधु शास्त्राध्ययन नही करते। जीवनमें उन्हें जो अवकाश मिलता है, उसे वे यों ही नष्ट कर देते हैं। यदि उन्हें उचित शिक्षा दी जाय, तो देशका सर्वांगीण उद्धार हो। बस, कुछ ऐसी ही धुन लालाजी पर सवार थी। इसलिए शिक्षित विरक्त युवकोंका संग्रह करके इस प्रकारके आश्रमों द्वारा नये-नये स्वामी रामतीर्थोंका निर्माण करनेके लिए वे उत्कण्ठित थे। मुझसे यह छिपा न रहा कि हमारी तरफ वे कुछ लोभकी दृष्टिसे देख रहे थे। लेकिन हम किसी जगह ठहरनेके लिए आये ही न थे। हम तो चलनेकी धुनमे थे। इसके कई साल बाद इन्ही लाला बैजनाथसे मैं आगरेमें मिला। अकबरकी मशहूर कब्रके रास्ते पर यमुनाजीके किनारे उन्होंने जो एक निवृत्ति-स्थान बनवाया था वह मुझे दिखाया, और उस वक्त भी मुझे वहा रहनेका प्रलोभन दिया। इस निवास-स्थानकी रचना बड़े मजेकी थी। एक पहाड़ी पर एक कमरा बना था। यह कमरा पुस्तकालयके लिए बनाया गया था। इस कमरेके नीचे पहाड़ीके गर्भमें एक दूसरा कमरा था। उस कमरेमें जमनाजीकी तरफसे आनेवाली शीतल वायु सदा मिलती थी। प्रकाश भी उसी रास्ते आता था। पास ही एक कोठरी रसोइयेके लिए बननेवाली थी। उनकी सूचना थी कि इस स्थानमें रहकर संस्कृत तथा अंग्रेजी धर्मग्रंथोंका गहरा अध्ययन किया जाय, और देश-विदेशमें धर्मका प्रचार किया जाय।

रामाश्रमके बाहर निकलते ही दाहिनी ओर चट्टानकी बगलमें बहनेवाली गंगाजीके किनारे हमने बढ़इयोंको बांसोंका बेड़ा बनाते देखा। मुझे तुरन्त रातकी मुसीबत याद आयी। मैं एक बढ़ईके पास गया, और उससे कहा—"भैया, इन बांसोंमेंसे हमें एक बित्ता लम्बी फूकनी बना दोगे?" उसने दो फूंकनी बना दी। इससे बाबाजीको चूल्हा सुलगानेमें बड़ी आसानी हुई। इस 'वेणु-धमनी' ने सारी यात्रामें हमारे लिए ईंधन प्रदीप्त करनेका काम किया। आखिर बाबाजीकी गफलतसे एक फूंकनी आधी जल गई, और बची हुई किसीके पैरों तले कुचली गयी। दूसरीका क्या हुआ, याद नही। बांसकी फूंकनी साथ रखनेकी यह कल्पना मुझे सूझी, इस कारण बाबाजी और स्वामी पर मेरी सूझशक्तिका खूब सिक्का जम गया, और

आज तक उसमें वृद्धि ही होती गयी है।

यहांसे हम लक्ष्मणझूला पहुंचे। हृषीकेशसे लक्ष्मणझूले तक क्रमशः राम, भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मणके चार मन्दिर हैं। राम-मन्दिरके चारों तरफ बाजार है, और सामने छोटा-सा त्रिवेणी-संगम है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भरतजी यहां-की सारी भूमिके मालिक हैं। शत्रुघ्नजीके सामने टेहरी दरबारकी ओरसे यात्रियों और मजदूरोंमें इकरारनामा लिखवाया जाता है। और लक्ष्मणजी गंगा पार करने-वाले यात्रियों पर निगाह रखते हैं।

कुलीके साथका करार महत्त्वकी चीज है। टेहरी राज्यमें शिक्षाका ज्यादा प्रचार नहीं है। ये 'जंगली' कुली यात्रियोंके जान-मालको अक्षरशः 'शिरोधार्य' करके भयावने अरण्य पार करते हैं। उन पर राज्यका पूरा-पूरा नियंत्रण रहता है। इसका कोई भरोसा नहीं कि धूर्त दुनियामें दूर, पापके प्रायश्चित्तके लिए तीर्थयात्रा करने-को आने पर भी, अपनी आदतसे बाज न आनेवाले यात्री बेचारे मजदूरोंको ठगेंगे ही नहीं। इसलिए करारके बिना मजदूर एक कदम भी आगे चलनेसे इनकार करते हैं। गंगोत्री, जमनोत्री और केदार तथा बदरी, इन चार स्थानोंकी यात्रा करके यात्री रामनगर, अलमोड़ा या काठगोदाम पहुंचते हैं। लेकिन मजदूर वहां तक नहीं आते। बदरीनारायणसे लौटते समय मिलचौड़ी अथवा गणाई नामका एक गांव आता है, वहीं तक टेहरी राज्यकी सीमा है। इसलिए टेहरीके मजदूर शायद परराज्यमें न्याय न मिल सकनेके डरसे आगे नहीं जाते। मिलचौड़ीमे नये मजदूर लेनेके सिवा दूसरा चारा नहीं रहता।

लक्ष्मणझूलेका वर्तमान पुल लोहेकी रस्सी और सीखचोंका बना है, और झूलता हुआ है। दानवीर सेठ सूरजमलजीने उसे बनवाया है, और यह नियम बना दिया है कि उस पर यात्रियोंसे कर न लिया जाय। पहले गंगाजी पार करनेके लिए यहां छीकोंका पुल था। एक छीकेपरसे दूसरे पर जानेमें जानका खतरा तो रहता ही था। साथ ही, नीचे गहराईमें प्रचण्ड वेगसे बहती हुई गंगाजीकी तरफ देखनेसे चक्कर आकर बिना खतरेके भी मनुष्य नीचे गिर सकता था। स्थिर दृष्टिसे प्रवाह-की तरफ देखनेसे ऐसा ही मालूम होता है, मानो पुल महान वेगसे प्रवाहकी विरुद्ध दिशामें दौड़ रहा हो। ट्रेनमें बैठे-बैठे जिस प्रकार हमें पेड़ दौड़ते हुए दिखाई देते हैं, कुछ-कुछ उसी तरहका भास यहां होता है। कलकत्तेके दानशूर सेठने यह सुरक्षित पुल बंधवाकर बहुत बड़ा पुण्य कमाया है, इसमे सन्देह नहीं। परन्तु साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि इस तरह यात्राका खतरा कम हो जानेसे यात्रियोंका पुण्य भी घट गया है। जब तक छीकोंके पुलसे गिरकर जल-समाधि मिलनेका पूरा-पूरा भय था, तब तक उस पारके प्रदेशका 'स्वर्गाश्रम' नाम 'अन्वर्थक' था। अब तो अकेले धर्मराजका ही नहीं, बल्कि कोई भी देहाती कुत्ता इस पुल परसे स्वर्गको जा सकता है।

लक्ष्मणझूलेके पास गंगाजीकी शोभा कुछ निराली है। आमने-सामने ऊंचे कगार हों, उनके बीचसे स्वच्छ हरा जल बन्धमुक्त होनेके आनन्दमे दौड़ रहा हो, और आसपासके पहाड़ों पर खड़े छोटे-बड़े वृक्ष यह दृश्य देख रहे हों, तो कौन किसकी शोभा बढ़ाता है, यह कहना मुश्किल हो जाता है।

कुछ स्थानोंका प्रभाव अद्‌भुत होता है। जितनी बार मैंने लक्ष्मणझूला पार किया उतनी ही बार यह विचार मनमें अचूक आया कि सृष्टि चैतन्यमय है, अन्तरात्माने ही ये भांति-भांतिके आकार धारण किये हैं; और जिस प्रकार लाखों बरसोंमे बहते रहने पर भी गंगाजीके पानीका अन्त नहीं आता, उसी प्रकार अन्तरात्माकी विभूतियोंका भी कोई अन्त नही। नदीका जल और उसमे खेलनेवाली मछलियां, वृक्षोके पत्ते और उन पर गानेवाले पंखी, पठारकी घास और उस पर चरनेवाले पशु, और इन सबका द्रोह करते हुए भी परमपिताकी विरासत प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य, सब एक ही हैं; द्रोह और पाप केवल माया है; अभेद और प्रेम ही वास्तविक हैं। इस प्रकारके विचार, जाने कहांसे, जब-जब लक्ष्मणझूले पर पैर रखा, मेरे मनमे आये है, और बाबाजीके साथ मैने उनकी चर्चा की है।

हिमालयकी सारी यात्रा पूरी करनेके पश्चात् बाबाजीके साथ मैं कुछ समय तक इस झूलेके पड़ोसमे ही रहा था। उस समय सुना था कि वहांसे नीचेकी तरफ कोई दो-एक मील पर, कई साल पहले, एक साधु रहते थे, जो 'सोऽहम्' का जप किया करते थे। एक दिन एक भूखा शेर उन पर झपटा। उस समय भी 'सोऽहम्' का उनका घोष चलता ही रहा। 'सोऽहम्' का अर्थ ही अभेद है। इस साधुको मृत्युके समय भी बाघके भय या क्रोधकी बाधा न हुई। उसी स्थान पर अति प्राचीन कालमे हमारे धार्मिक ग्रंथ लिखे गये थे; इसकी दन्तकथा भी मैंने यहां सुनी थी। परन्तु वह कथा भगवान व्यासके विषयमें थी या आद्य शंकराचार्यके विषयमें, सो आज याद नही।

यहां बेरके पेड़ बहुतायतसे है, और नजदीक ही धानके जो खेत हैं, वे आसपासके सारे प्रदेशमे प्रख्यात हैं। इस तपोवनके 'बासमती चावल' का भात खानेके लिए अमीरों और फकीरोंका तो कहना ही क्या, देवताओं और पितरोंका भी जी ललचायेगा।

२४. नये-नये अनुभव

मस्तिष्कमें यात्राके चित्र इतने भरे पड़े हैं कि जिनका कोई पार नही। परन्तु उनके नीचे या पीछे स्थल-काल लिखकर नहीं रखे। इसलिए उनका क्रमबद्ध चित्र-

संग्रह (अलबम) तैयार नहीं होता, और यह डर बना रहता है कि कहीं एक स्थान का वर्णन किसी दूसरे स्थान पर न जड़ जाय। इसलिए जितना स्पष्ट रूपसे याद है उतनेकी ही मर्यादामें रहना उपयुक्त है। कल्पनाके रंग तो चाहे जितने भरे जा सकते हैं परन्तु कम-से-कम मूल रेखाचित्र यथादृष्ट होना चाहिये, तभी वह यथार्थ यात्रा-वर्णन माना जायगा। स्वामीकी लेखमाला पढ़ता हूं, तो धुंधली होनेवाली स्मृतियां ताजा होनेके बदले और उलझ जाती है।

इस स्थितिका अनुभव करने पर एक नया ही विचार मनमे आया। जो यात्रा हमने साथ-साथ की, उसके वर्णन पढ़ने पर भी यदि उस समयके चित्र दृष्टिके आगे उपस्थित नहीं होते, तो जिन्होने यात्रा की ही नही है उन्हें कोरे शब्दात्मक वर्णनसे कितनी कल्पना करा सकूगा? यदि सारा वर्णन एक शब्दजाल ही बन जाय, तो उससे उत्पन्न होनेवाला आनन्द सृष्टिका आनन्द नही, बल्कि शब्दोका ही आनन्द होगा। उसे कभी शुद्ध या उच्च आनन्द नही कहा जा सकता। किसीको गुदगुदाकर हसानेके समान ही यह प्रवृत्ति होगी। इसमेसे तत्त्वकी बात कितनी मिलेगी?

परन्तु इस तरहके विचार बोलनेवालों और सुननेवालोंको विषण्ण बना देते हैं, उन्हें विरस कर देते है। इसलिए सयानोंको ऐसे विचार अपने पास ही रखने चाहिये। व्यक्तिगत दु:खके लिए जिस प्रकार प्रकट रूपसे रोना नही चाहिये, उसी प्रकार निर्मोह दशा भी प्रकट नही करनी चाहिये। इसलिए आइये, यह सब यहीं छोड़कर हम अपनी यात्रा पर आगे बढें।

लक्ष्मणझूले तक हम सभ्य संसारमें थे। हमने लक्ष्मणझूला पार किया, दाहिनी तरफका स्वर्गाश्रमवाला रास्ता छोड़ दिया, और वनमे प्रवेश किया। यहांसे रास्ता बहुत ऊंचा-नीचा होने लगा। भयसे अपरिचित होनेके कारण जंगलके कुछ जानवर जिस तरह कभी-कभी मनुष्यके बिलकुल पास आ जाते हैं, उसी तरह पेड़ और लतायें बहुत नजदीक आने लगी। और हमे भी ऐसा मालूम होने लगा कि अब हम भी आरण्यक हैं। झम्पानमें बैठनेवाले लोग आसपासके दृश्यसे विसदृश (बेमेल) और विश्री (बेढब) दिखाई देने लगे। 'झम्पान' एक तरहकी पालकी होती है। इसे उठानेवाले कहार चौकोन बनाकर नही चलते, किन्तु चारो आदमी एकके पीछे एक सीधी कतारमें चलते हैं। क्योंकि संकडे रास्तेकी विकट पगडण्डी पर उन्हें चलना होता है, जहां दो आदमी बराबरीसे खड़े भी नही रह सकते। कही एक तरफके ऊंचे पहाड़से टकरा जायं, तो चारो कहार, उनकी झम्पान, और झम्पानमें रखा हुआ जीवित बोझ, सभी दूसरी तरफकी गहरी खाईमे गिरकर स्वर्गको पहुंच जायं!

कण्डीमें बैठनेवाले लोग इतने बेडौल नही लगते। जंगली बेतके बने हुए, पानी पीनेके लम्बे गिलासके-से आकारवाले, एक बडे टोकनेमें आधे तक सामान भरकर यात्री उस पर बैठ जाते हैं। पांव बाहर निकालनेके लिए टोकनेके ऊपरके हिस्सेमें दरारें बनी रहती हैं और पांव लटके-लटके थक न जायं, इसके लिए एक काम-

चलाऊ रकाब लगी होती है। एक मजदूर इस तरहका टोकना (कण्डी) अपनी पीठ पर कन्धोंसे बांध लेता है। इससे जाकट पहननेके बाद जिस तरह हाथ खाली रहते हैं, उसी तरह मजदूरके हाथ खाली रहते हैं। कण्डीका सारा बोझ अकेले कन्धोंको ही उठाना न पड़ जाय, इसके लिए एक पट्टा मजदूरोंके सिर पर लगा रहता है। जब मजदूर चलता नहीं होता, उस वक्त अपने कन्धों और माथेको आराम पहुंचानेके लिए वह T के आकारकी कुबड़ीनुमा एक लकड़ी अपने साथ रखता है। कण्डीके नीचे इस कुबड़ीको रख देने पर मजदूर उसके बोझसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार एक मजदूरके सिरपर एक आदमी जान-मालके साथ चलता है लेकिन उसका मुंह पीछेकी तरफ होता है। शुरू-शुरूमें यह सारा दृश्य हास्यास्पद मालूम होता है, परन्तु इसे देखते रहनेका अभ्यास हो जाने पर यह जंचने लगता है कि इस प्रदेशमें यही ठीक है। जब पड़ाव पर पहुंचकर मजदूर आपसमें बातें करते हैं, तो कौन कितने मनकी 'लाश' उठा रहा है, इसका उल्लेख किये बिना नहीं रहते। यहांकी यह रीति है कि यदि आपका मजदूर आपके लिए, आपके सामने, 'लाश' शब्दका प्रयोग न करे तो समझिये कि उसने मर्यादा निबाह ली।

जिन दिनों यात्राका मौसम पूरे जोर पर था, उन्हीं दिनों हमने अपनी यात्रा शुरू की थी। इसलिए हमें रास्तेमें कहीं कोई स्थान निर्जन नहीं मिला। चीटियोंकी कतारकी तरह हम लोग चलते थे। हमारे साथ अहमदनगर या बरारकी तरफके एक सज्जन 'झम्पान' में बैठकर यात्रा कर रहे थे। उनके साथ आश्रितोंका परिवार भी कम न था। बादमे मालूम हुआ कि दो पत्नियोंके स्वामी होने पर भी उनके कोई सन्तान न थी। इसलिए वे बदरीनारायणके दर्शनको जा रहे थे।

झम्पानमें बैठनेवालोंकी मुद्रा पर दो तरहके भाव देखनेमें आते है। कुछ लोगोंके चेहरों पर शर्मका भाव होता है। मानो वे यह कहते-से मालूम होते है—हम स्वयं चल नहीं सकते, इसलिए हमें जीते-जी मनुष्यके कन्धे पर बैठना पड़ता है।" दूसरी कोटिके लोग इस शानमें रहते हैं कि "क्या हम कंगले हैं, जो पैदल चलेंगे?" अपने चेहरों पर इस शानका भाव दिखाकर वे अपना कल्पना-दारिद्रय ही प्रकट करते है।

हमारा प्रवासी साथी इस दूसरी श्रेणीका था। वह झम्पानमें मुर्गेकी तरह अकड़कर बैठा था, और ऊंटकी तरह इधर-उधर देखता था। उसकी स्त्री पैर बढ़ाये उसकेपीछे-पीछे चलती थी। उस भले आदमीसे यह सहा न गया। बादशाह-जैसी आवाजसे उसने हुक्म दिया—"जरा आगे चली जायगी, तो तेरा क्या बिगड़ जायगा? जा, चट्टी पर कुछ पहले पहुंचकर रसोई बनाना शुरू कर दे; तब तक हम भी आते ही हैं।" उस बेचारीका उस समयका संभ्रम आज भी मेरी आंखोंके सामने आता है। कद कुछ छोटा, दोहरी हड्डी, फीकी हरी साड़ी, माथे पर पुराने ढबकी बड़ी बिन्दी, नाकमें बड़ी-सी नथ, घुंघराले बाल, जिनमेंसे कुछ उड़ रहे हैं

और कुछ पसीनेके कारण माथे पर चिपक गये हैं, ऐसी अवस्थामें वह सती हिमालयके रास्ते पर, चाहे चढ़ाव हो या उतार, हांफती हुई चल रही है। घड़ीमें पीछे देखती है, घड़ीमें कहीं हमारी नजरमें उसकी फजीहत तो नहीं हो रही है, इसकी जांच करती है; और फिर सिर झुकाकर आगे चलने लगती है, मानो हिन्दू समाजकी विडम्बना प्रायश्चित करने जा रही हो। अरबस्तान अथवा मध्य-एशियाके जंगली पुरुष नारी-प्रतिष्ठा जानते ही नही। जब जोरोंका तूफान चलता होता है, तो पुरुष खेमोंमें बैठ जाते हैं और खेमोंको उड़नेसे बचानेके लिए अपनी स्त्रियोंसे कहते हैं कि वे उनकी रस्सियां पकड़कर बाहर बैठें। उनके ऐसे वर्णन पढ़कर हम उन लोगों पर तरस खाते हैं, परन्तु जब हमारे ही यहां नौजवान मर्द खुद आराम करते हैं, और स्त्रियोंसे मनमानी मेहनत-मशक्कतके काम लेते हैं, तो हम यह सब चुपचाप सह लेते हैं।

यह बहन उस यात्रीकी पहली स्त्री थी। इसे सन्तान न होने पर इसके मर्दने दूसरी शादी की थी। अतः यह स्त्री तो उसके प्रेमकी अपात्र मजदूरिन ही हुई न? उसे जल्दी पड़ाव पर पहुंचना ही चाहिये, उस अपरिचित प्रदेशमें रसोईके लिए जगह प्राप्त करनी ही चाहिये, और चट्टीवालेसे बरतन-भांडे मांगकर रसोईकी तैयारी भी कर लेनी चाहिये। एक दिन न जाने क्या हुआ, चट्टीमें हम लोग भोजन कर रहे थे, इतनेमें वह नरपशु आपेसे बाहर हो गया—वह अपनी स्त्री पर बिगड़ पड़ा। स्त्री बेचारी हाथ जोड़ने लगी। किन्तु उसने उसके माथे पर प्रहार कर ही दिया। वह जमीन पर गिर पड़ी। फिर क्या पूछना था? उसने उस बेचारीकी पीठ पर अपने पैरोंकी खुजली मिटाई। साथवाले आश्रित पत्तल पर बैठे-बैठे यह सारा दृश्य टुकुर-मुकुर देख रहे थे। आखिर वह नर-बैल मारते-मारते थका या भूखसे व्याकुल हो गया, कहना मुश्किल है। परन्तु उस दिन उसने खूब डटकर भोजन किया, और बादमे उस स्त्रीकी तरफ देखकर बोला—"अब आरामसे बैठ-कर भोजन कर ले!" बेचारीने कहारोंके साथ भोजन किया, और सबके जूठे बरतन उठाकर मांजने ले गयी।

आर्य परिवारके झगड़ेमें बाहरी आदमीका बीच-बचाव करना ठीक नहीं, इस विचारसे हमने यह सब सह लिया। आज मुझे अपनी उस कायरता पर घृणा आती है। उस समय भी मनमें विचार उठा था कि क्या यह हमारा आर्यधर्म है? जब मनुने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' लिखा था, क्या उस समय उसने इसी तरहकी 'पूजा' की कल्पना की होगी? माना कि पति पत्नीका देवता है, लेकिन क्या स्त्री पतिकी गुलाम है? या मवेशी है? किसी सनातनी शास्त्रीसे पूछा जाय तो वह इसके लिए भी शास्त्रसे कोई-न-कोई प्रमाण अवश्य निकाल देगा। उपनिषद्में लिखा है कि मनुष्य देवोंका पशु है। पति देव है। अतः पत्नी उसका पशु ही हुई न? यदि उप-निषत्कालीन ऋषि यह तर्कशास्त्र सुनें, तो बेचारे अपनी निर्दोष काव्य-रचना परे

असंख्य बार पछतायें। पतिकी सेवा करना पत्नीका धर्म है। ऐसा एकांगी धर्म चाहे मान भी लिया जाय, परन्तु सेवा, और सो भी इस तरहकी सेवा, लेनेका पतिको अधिकार है, ऐसा तो कही भी लिखा नही है।

बात यह है कि हमारा धर्म आर्य आदर्शों और अनार्य वृत्तियोका विचित्र मिश्रण बन गया है। और हीन वृत्तिके संस्कृतज्ञ तार्किकोंने धर्मको शुद्ध रखनेके बदले हर एक रिवाजका बचाव करनेका बीड़ा उठाया है। व्याकरणकार जिस प्रकार 'छन्दसि बहुलम्' कहकर काम चला लेते है, उसी प्रकार हमारे ज्ञातिभिन्न समाजने यह तय किया है कि कोई किसीके काममे दखल न दे। इसका परिणाम यह हुआ कि आखिर नामर्द जबरदस्त शहजोर बन गये है। शास्त्रियोके मनमे यह विचार नही आता कि अगर धर्मके शुद्ध स्वरूपकी रक्षा न की गयी, तो सारे धर्मकी दुर्दशा हो जाती है, जीवन विकृत बन जाता हे, और परधर्मियोकी जीत हो जाती है। जब-जब हिन्दू धर्म पर परधर्मियोने विजय प्राप्त की है, तब-तब उस विजयकी जडमे हमारे लोगोका रूढि-दास्य और असावधानी ही रही है। सामना करनेमे हम हमेशा कायर साबित हुए है। अन्याय सहनेमे हम जिस धीरज और बहादुरीसे काम लेते है, उसका उपयोग अन्यायका मुकाबला करनेमे करे, तो हमारे सभी दुःख दूर हो जायं।

मन-ही-मन इस तरहकी बाते सोचते हुए हमने भोजन समाप्त किया, और बिना आराम किये ही आगे बढे। एक-दो दिनके ही अनुभवसे हमे पता चल गया था कि चट्टी पर देरसे पहुचनेमे लाभ नही। जिस प्रकार स्टीमर पर पहले पहुचनेवाला मीर होता है, वह जितनी जगह रोक ले सब उसीकी हो जाती है, उसी तरह चट्टी पर भी होता था। यह चट्टी है क्या चीज? यात्रियोके लिए जगलमे दुकानदारोकी बनाई हुई कामचलाऊ दुकाने। यहा ऐसा कोई कानून नही कि घरकी फर्श गीली न रहे या दीवाले ऊची हो। छप्पर पर घास-फूस या पत्ते छाये होते है। और यह सारी कारीगरी 'पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट' की न होनेसे पहाडमे जैसा रास्ता वैसा दुकानका आकार होता है। इस प्रकारका स्थापत्य शहरी आखोको शुरू-शुरूमे भले ही अच्छा न लगे, परन्तु जंगलकी सपूर्ण शोभासे मेल खानेकी दृष्टिसे वहा इसकी अपेक्षा दूसरी कोई पद्धति उपयुक्त न होगी।

इस चट्टीके एक कोनेमे दुकानदार अपना माल जमाकर रखता है। मालमे क्या-क्या होता है? गेहूका आटा, नमक, मिर्च, घी, आलू और अगर दुकान बड़ी हो तो दाल और चावल भी। दुकान बडी हो या छोटी, उसमे तम्बाकू तो होती ही है। परन्तु वह उस किस्मकी नही होती, जो हमारे यहा मिलती है। हिमालयमे वह तम्बाकूका पौधा नही होता, इसलिए वहा गुडमे बनाया हुआ गुड़ाकू अधिकतासे बिकता है। फिर, एक बोरेमे रसोईके बरतन भरे होते हैं, जिनसे यात्रियोंको बहुत बड़ा सुभीता होता है। यदि यात्री अपने-अपने बरतन साथ लेकर यात्रा करने लगे, तो

मनुष्यकी अपेक्षा बरतनोंका ही पुण्य बढ़ जाय, और उनके बोझसे दबकर यात्री असमयमें ही स्वर्ग पहुंच जायं !

हिमालयके ग्रामीणोंकी रसोईमें विलक्षण स्वावलम्बन होता है। उनके पास बोहरोंकी टोपी-सी एक मोटे लोहेकी पतीली या तसली होती है। पहले वे उसमें आटा गूंध लेते हैं, फिर गूंधे आटेको पत्थर पर रख देते हैं। बादमें तीन पत्थरोंका एक चूल्हा बनाकर उसकी आंच पर उसी तसलेमें रोटियां सेंक लेते हैं। फिर उन सारी रोटियोंको गमछे पर रखकर उसी तसलेमें शाक बना लेते हैं। चूंकि तसला लोहेका होता है, इसलिए उसमें हर तरहके शाकका एक ही रंग आता है। इससे अधिक उन्हें और क्या चाहिये ? वे डटकर साग-रोटी खाते हैं, और तसला मांज लेते हैं। फिर वही तसला पानी पीनेके काम आता है। भोजनके बाद वे दोपहरमें जरा देर वामकुक्षी (आराम) कर लेते हैं, और फिर उसी तसलेको सिर पर रखकर उसके ऊपर साफेकी तरह पिछौरा बांध लेते है। अब यदि आकाशसे आमकी गुठलीके बराबर ओले गिरें, तो भी उनका सिर सलामत समझिये। इनमें इतनी सूझ और हिकमतके रहते भी शहरी यही कहते हैं कि पहाड़ी लोग जंगली होते हैं। जंगली नही तो और क्या ? जो जंगलमें रहते है वे अपंग नहीं होते। और अपंगता तो सभ्यताकी नीव और शिखर भी है। असंख्य साधनोंके बिना जिनका निर्वाह नहीं हो सकता वे तो सभ्य, और जो थोड़े-से साधनोंसे गुजर करनेकी सिफत रखते हैं वे जंगली—क्या यह व्याख्या ठीक नही है ?

हम जरा कदम बढ़ाकर सबसे पहले मुकाम पर पहुंच जाते, अच्छी-से-अच्छी चट्टी खोज लेते, और साफ चूल्हा बनाकर रसोई शुरू कर दिया करते। यहां 'हम' से मतलब स्वामीसे है, क्योंकि उनकी चाल घोड़ेकी चाल थी। दूसरे नम्बर पर बाबाजी पहुंचते। मैं हमेशा आखिरमे पहुंचता। क्योंकि मेरे सिर पर सबसे ज्यादा भार था—रास्तेमें जितने भी पेड़-पौधे मिलते उन सबकी कुशल पूछना मेरा काम था। जितने फल, फूल, पक्षी नजर आते वे सब मुझे बुलाते। जहा ये सब न होते वहां आकाशके बादल तो होते ही थे। फिर उन दिनों मुझे हाथमें छोटी-सी माला लेकर जप करनेकी भी आदत पड़ गयी थी, इसलिए जगत और जगदम्बाके बीच मेरा ध्यान इतना बंट जाता था कि मैं बिना चूके तीसरे नम्बरसे ही पहुचता था। पहुंचने पर मैं उठता न था, बैठे-बैठे सारा काम करता था। सामान बांधना, खोलना, जमाना यह सब मेरा काम था। जब लकड़ियां गीली होती, तो बाबाजी-का चूल्हा भी सुलगा देता था। भोजनके बाद बरतन भी मैं ही मांजता था। मेरे मांजे हुए बरतन देखकर पहाड़ी दुकानदार खुश-खुश हो जाते थे। स्वामीके पैरोंमें और वाणीमें असाधारण बल था। इसलिए वे सर्वत्र पहुंच जाते थे। इस प्रकार हमारा संघ चलता था। जल्दी-जल्दी चलनेका निश्चय करनेके कारण हमने उस दो गायों-वाले बलीवर्दकी संगतिसे भी छुटकारा पाया।

ज्यों-ज्यों हमारी यात्रा बढ़ती गयी, त्यों-त्यों हमारी भूख भी बढ़ती गयी। एक पतीली भरकर दाल बनाते थे, और उसे तीनों एक-दूसरेका मुंह देखते-देखते खा जाते थे। बादमें रातकी दो-चार रोटियां रख छोड़ते, और उन्हें सवेरे गुड़के साथ खा लेते। देखते-ही-देखते हमारे गाल गाजरकी तरह लाल दीखने लगे। वजन तो बेचारा बढ़ता ही कैसे? रोजाना बीस-तीस मीलकी रपटके साथ वजनका मेल नही बैठता। वह बेचारा राह देखता बैठा होगा कि कब अवकाश मिले और कब बढ़ूं। हमने जो कुछ आराम लिया, वह इस तरह हमारे लिए बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ।

२५. देवप्रयाग

रेलकी यात्रामें जब गाड़ी किसी सुरंगमे डुबकी लगाती है, तो पांच-दस मिनट तक अंधेरेके सिवा और कुछ दिखाई ही नही देता। उसी प्रकार पुरानी स्मरण-यात्रा मे विस्मरणकी सुरंगे आ जाती हैं। बम्बईसे पूना जाते समय खंडाला घाटकी या बेलगामसे गोआ जाते समय तिनई घाटकी लम्बी-लम्बी सुरंगोंके बीच-बीचमे कुछ झरोखे आते हैं, जिनमे प्रकाश जरा-सी झांकी दिखाकर लुप्त हो जाता है। विस्मरणमे भी इस तरह स्मृतिकी एक किरण—केवल एक ही किरण—चमककर विस्मृतिको और भी घनी बना देनेका काम करती है।

जिस दिनका वर्णन आज लिख रहा हूं, वह दिन इसी प्रकार विस्मृतिमे डूब गया है। महादेव चट्टीका रूप जरा भी याद नहीं आ रहा है। संसार नाम-रूपका बना है। उसमेंसे यदि रूप जाता रहे, तो नाम ही शेष रह जाता है। मेरे लिए महादेव चट्टी 'नामशेष' हो गयी है।

मुकाम पर पहुचते ही मै आरामसे बैठ गया; नही, मै बिलकुल पैर फैलाकर लेट गया। यह एक मेरी सुभीतेकी आदत थी। मौका पाते ही मैं यथेष्ट आराम कर लिया करता था। इसलिए सारी शक्तिका उपयोग चलनेके काममे होता रहता था। स्वामीको आगे जाना था। मुझे लेटते देखकर पूछा—"क्या थक गये हो? मैं आगे जाना चाहता था।" मैंने कहा—"उठकर फिजूल इधर-उधर टहलना ही हो, तो यह मुझसे न होगा; लेकिन अगर पांच-दस मील चलकर नयी चट्टी पर पहुंचना हो, तो मै जरा भी थका नही हू। यह देखो, मै चला।" कहकर मैं उठ खड़ा हुआ और चल पड़ा।

हम नयी चट्टी पर पहुंचे। पर वह बहुत ही छोटी निकली। रेलवे टाइम-टेबलमें गोरे लोगोंके लिए भोजनका स्टेशन, चायका स्टेशन, वगैरा स्टेशन मुकर्रर ही होते है। यात्रामें भी सोनेकी चट्टियां हमेशा बड़ी होती हैं। हर रोज अमुक मील

चलनेका यात्रियोंका क्रम बंधा होता है। उसके अनुसार सुविधाएं प्रस्तुत हो जाती हैं। और बादमें फिर सुविधाके कारणसे भी यात्राके पड़ाव तय हो जाते हैं। दिन-बाली चट्टीमे हमने रात बिताई। दिनके दुकानदारको रातके यात्री बहुत कम मिलते हैं। इसलिए वे ऐसे अवसर पर यात्रियोंका विशेष ध्यान रखते हैं।

यहांसे हम आगे चले। चलते-चलते देवप्रयाग नजदीक आया। मेरी अंटीमें घड़ी थी। वह मुझसे उम्रमें बड़ी और समय-पालनमे वफादार थी। परन्तु मैंने ही उसे कई दिनोंका उपवास कराया था। इसलिए समयकी बात तो सूर्यनारायणसे ही दरियाफ्त करनी पड़ती थी। रास्तेके किनारे एक डाकघर मिला। उसे देखते ही स्वामीको वहांसे समय लाकर मेरी घड़ीमें भरनेकी सूझी। घडीको जीवित और चालू करके हमने देवप्रयागमें प्रवेश किया। अगर मेरी स्मृति ठीक है, तो यहां माधवानन्द नामके बंगाली साधु हमें पहले-पहल ही मिले। इनके विषयमे बहुत कुछ लिखने योग्य है। उसमेंसे थोड़ा-बहुत यथास्थान लिखा जायगा।

देवप्रयाग पंच-प्रयागोंमेंसे एक है। वह एक पहाड़ी चट्टान पर बना पक्षियोंका घोंसला-सा लगता है। उसके दो हिस्से पड़ते हैं। नदीके इस तरफ अंग्रेजी (खालसा) है, और उस पार टेहरी राज्य है। बीचमे केदारनाथसे आनेवाली अलकनन्दा पीली मिट्टी लिये बहती है। और नीचे भोडलकी बिलकुल महीन रेतसे चमकती हुई भागीरथी गंगोत्रीसे आकर अलकनन्दासे मिलती है। बाबाजी कहने लगे—"यात्रा-में अपने साथ एक लोटा जरूर होना चाहिये। चौड़े मुहका हो तो हाथ डालकर अन्दरसे साफ किया जा सके। किसी दिन दूध मिल जाय, तो वह भी गरम किया जा सके।" स्वामी बाजारमे गये और एक लोटा लेकर मुकाम पर लौटे। क्योंकि अब जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे हमे बाजार न मिलेंगे, और मिले भी तो वहां लोटे कहांसे आयेंगे? मैने लोटेमें पानी भरकर देखा। लोटा फूटा निकला। बाबाजीने स्वामीसे कहा—"इसे तुरन्त वापस करो, और दूसरा ले आओ।" लोटेमें पानी भरकर स्वामी दूसरी बार बाजार गये। दुकानदार भला आदमी था। जिस प्रकार हमारे यहां दुकानदार भोले ग्राहकको धमकाते हैं, उस तरह धमकाना वह सीखा न था। उसने दूसरा लोटा निकालकर दे दिया। बगैर देखे-दाखे लोटा लानेके लिए हमने स्वामीको दोष दिया था, इसलिए इस बार स्वामी वही भूल कैसे करते? उन्होंने नये लोटेमे पानी भरा। पानी चूने लगा। दुकानदारने तीसरा लोटा निकाला। उसमेंसे भी गंगा बह निकली। चौथा, पांचवां, छठा, इस प्रकार बेचारेने कितने ही लोटे निकाले। हरएककी दशा पहले लोटे-जैसी ही थी। वामना-वतारके दिनोंमें बहनेवाली झारीको बन्द करनेका सामर्थ्य एक ब्राह्मणने दिखाया था, परन्तु कलियुगमें सभी लोटोंको चूनेवाला बना देनेकी अद्भुत शक्ति तो देव-प्रयागमें स्वामी आनन्दने ही दिखलाई। बेचारा दुकानदार हक्का-बक्का रह गया। उसने समझा, हो-न-हो, स्वामी कोई जादूगर है! वह गिड़गिड़ाकर स्वामीसे अपनी

माया समेटनेके लिए अनुनय-विनय करने लगा। स्वामी बड़े परेशान हुए। निदान लोटेके दाम वापस लेकर वे मुकाम पर लौट आये। मध्यकालीन लोकसाहित्यमे इन्द्रजालकी अनगिनत कहानियां प्रचलित हैं। उनमेसे अधिकांशकी तहमे कुछ इसी तरहके किस्से तो नही होंगे ?

सवेरे उठकर मै अकेला ही अलकनन्दाके तीर पर जा बैठा। बहुत नीचे उतरना पड़ता था। अलकनन्दाकी वह शान्त शोभा देख मै तो सुध-बुध भूल गया, और न जाने कितनी देर तक वही बैठा रहा। आखिर जब बाबाजी या स्वामी बुलाने आये, तब सुध हुई कि हम यहा यात्राके लिए आये है, और तीन जने एक साथ है।

शामको स्वामीने कहा—"चलो, हम संगम पर चले।" पुल पार करके हम मन्दिरकी ओर गये। वहांसे उतरकर संगम तक पहुंचे। यहा चट्टानमे लोहेकी जजीरे जडी गयी है; उद्देश्य यह है कि यात्री गगाजीमे नहाकर स्वर्गके अधिकारी तो बने, पर तुरन्त स्वर्गको न जाये; क्योकि भागीरथीका प्रवाह यहा बहुत वेगवान है। यहा 'गगातरगकणशीकरशीतलानि' वाला श्लोक मैने स्वामीको समझाया। शाम का समय था। हम दोनों भागीरथीके किनारे बैठ गये। एक छोटा-सा पक्षी उस पारके किनारे पर बैठा था। बीचमे पानीकी धारा जोरसे बह रही थी। हम दोनो उस पक्षीकी तरफ देखने लगे। शुरूमे वह पक्षी अपनी गरदन घुमाता था, सिर हिलाता था। पर थोड़े ही समयमे प्रकृतिने उस पर अपनी मोहिनी डाली, और वह भी एकटक देखने लगा। वह हमारी भाषा नही जानता था। उसका हृदय हम नही जानते थे। फिर भी भागीरथीने हम तीनोका हृदय एक बना डाला था। ऊपर मन्दिरका घंटा भक्तोको दर्शनका निमन्त्रण दे रहा था। हमे तो यही आत्मौपम्य द्वारा भगवानके दर्शन हो रहे थे।

हम तो आदमी ठहरे; अंधेरेमे चिराग जलाकर भी चलेंगे, और रात घरके भीतर सोयेंगे। परन्तु उस पार बैठा हुआ हमारा वह भाई अधेरा होने पर रात किस तरह बितायेगा ? भारी पैरोंसे या भारी पखोंसे वह उठा और अनन्त आकाशमे न जाने कहा चला गया। हम हर रोज हजारों पक्षी देखते है। उनकी दुनिया जुदी, हमारी जुदी। उनके और हमारे बीच खेतोके अनाज और पेडके फलोके बटवारेकी तकरार होती है। उनका हमारा इतना ही सम्बन्ध है। परन्तु देवप्रयागका वह द्विजराज आज भी मेरे हृदयमे अपना स्थान बनाकर बैठा है। विषादके समय मनमे विचार आता है कि यदि वह पक्षी लौट आये, तो हम तीनोके हृदय एक हो जायं।

मन्दिरका जीर्णोद्धार अमुक व्यक्तिने अमुक समय किया था, इस आशयका कोई लेख स्वामीने वहा खोज निकाला। हम दर्शन करके लौटे। रातमे उस पक्षीके ही सपने आये। वह पूर्वजन्मका कोई साथी होगा, भाई होगा, या प्रेमी होगा। वह फिर मिलनेवाला नही। किस कारण वह हमारी मानस-पूजाका अधिकारी बना, सो कौन बता सकता है ? पर यदि मानस-पूजामें कोई शक्ति है, तो वह

अवश्य फिर आयेगा। यदि उसे मालूम हो जाय कि हम उसे कितना चाहते हैं, तो वह जहां कहीं होगा वहांसे उड़कर आये बिना न रहेगा।

सवेरे उठकर हमने बदरीनारायणका रास्ता छोड़ दिया। और चूंकि हमें गंगोत्री जाना था, इसलिए हमने टेहरीका रास्ता लिया। जिधर पैर ले जाय उसी तरफ जानेकी हमारी आदत थी। अलकनन्दाकी दोनों तरफसे दो रास्ते जाते थे। नदीकी बायीं तरफ, या उद्‌गमकी ओर जानेवाले यात्रियोंकी दृष्टिसे देखा जाय, तो दाहिनी तरफ बदरीनारायणका रास्ता है। इसलिए बायीं तरफवाला रास्ता टेहरी का ही होना चाहिये, ऐसा स्थिर करके हम आगे चले। हम काफी दूर निकल गये थे। इतनेमें नदीके उस पारसे एक दिनकी पहचानवाले कुछ मजदूर जोर-जोरसे चिल्ला-कर इशारे करने लगे। पहले स्वामीने उनकी पुकार सुनी। उनके इशारोंका अर्थ भी स्वामी ही समझ सके। हम गलत रास्ते चल पड़े थे भूल मालूम होने पर उसे सुधारनेमें देर ही कितनी लगती है? हम जहां थे वहींसे, बगैर रास्तेके, सीधे ऊपर ही ऊपर चढ़ते चले गये, और आखिर टेहरीके रास्ते पर जा पहुंचे। रास्तेमें कुछ झुरमुटों पर नारंगी रंगके राईके बराबर छोटे-छोटे फलोंके गुच्छे लगे थे। आठ-दस दानोंका एक गुच्छा बड़े चनेके बराबर होता था। प्रत्येक दानेके बीचमें बाल-सा कुछ दिखाई देता था। मैंने वे दाने तोड़कर चखे। ठीक नारंगीके रसका स्वाद था। फिर तो पूछना ही क्या था? मैं दोनों हाथसे फल आरोगने लगा। फिर विचार आया कि मैं कोई जंगली लुटेरा नहीं हूं, जो एक-एक पेड़को बिलकुल निष्फल बनाकर छोड़ जाऊं। सच्चा राजा जो करभार लेता है, उससे प्रजा निःसत्त्व नहीं होती। मुझे भी एक ही पेड़के पास खड़े न रहकर चलते जाना चाहिये, और चलते-चलते सहजमें जितने फल हाथमें आयें उतने उदरस्थ करने चाहिये।

कई दिनों तक वह स्वाद चखनेको मिलता रहा।

२६. श्रीनगर नहीं गया

देवप्रयागसे हम टेहरी जा रहे थे। स्वामी, बाबाजी और मैं। हम हिमालयकी प्राणदायिनी वायुका मजा लूटते, आनन्द मनाते, जा रहे थे। परन्तु मेरे मनमें एक गुप्त विषाद घर कर बैठा था। मैं घरसे जो चला था वह इसलिए नहीं कि हिमालय के सारे तीर्थोंकी यात्रा करता हुआ मारा-मारा फिरूं। मेरा विचार था कि इस प्रदेशमें बसे हुए पुराण-प्रसिद्ध श्रीनगरमें साधनाके लिए बैठूं। काश्मीरका श्रीनगर अलग है, और केदारके रास्ते यह श्रीनगर अलग है। यह श्रीनगर सिद्धपीठ कह-लाता है। वहां की हुई साधना व्यर्थ नहीं जाती, और शीघ्र फलदायी होती है।

देवीभागवतमे इस स्थानका माहात्म्य बहुत बतलाया है।

पहले यहा एक पत्थर पर श्रीचक्र खुदा हुआ था, जिसकी पूजा हुआ करती थी। कहते है, प्राचीन कालमे इस जगह हर रोज एक नरमेघ होता था। आद्य शकराचार्य जब श्रीनगर आये, तो मनुष्य-वधका यह अनाचार देखकर उनकी धर्म-भावना अकुला उठी। उन्होने एक सब्बल लेकर श्रीचक्रवाले पत्थरको औधा कर दिया और आज्ञा दी कि आजसे नरमेघ बन्द !

प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर और नितान्त रमणीय स्तोत्र बनाकर शंकराचार्यने हिन्दू धर्मकी जो सेवा की है, उसकी अपेक्षा नरमेघ बन्द करनेकी यह सेवा कही उत्कृष्ट है। क्या इसके विषयमे कोई शका हो सकती है ? भाष्य लिखनेके लिए बुद्धि-वैभव चाहिये। स्तोत्रोके लिए भक्ति न हो, और केवल कल्पनाका उल्लास ही हो, तो भी काम चल सकता है। परन्तु धर्मान्ध समाजका विरोध सहकर परम्परागत घातक रूढिको बन्द करनेके लिए तपस्तेज, धर्मनिष्ठा और हृदयसिद्धिकी जरूरत होती है।

जबसे नरमेघ-प्रतिबन्धका यह किस्सा सुना है, तबसे शकराचार्यकी वह ठिंगनी और भरी हुई मूर्ति—गेरुए वस्त्र, रुद्राक्षकी माला और भस्मलेपसे मडित तथा 'आगलात् मुडित'—दृष्टिपथसे हटती ही नही। कर्मकाडी, निर्दय शाक्त चारो तरफ हा-हा-कार कर रहे है, और सामने सब्बल लिये उस संन्यासीकी तेजस्वी मूर्ति खडी है। एक भी कर्मवीरकी ताब नही कि नजदीक आये। और वह तपस्वी, ज्ञानवीर फडकते हुए ओठोंसे एक-एकको अथवा एक साथ सबको शास्त्रार्थके लिए ललकार रहा है। लेकिन किसीकी बुद्धिप्रभा उस धर्ममूर्ति, दिग्विजयी सन्यासीके आगे प्रकाश नही डाल सकती। उपनिषत्कालीन याज्ञवल्क्यकी तरह श्री शकराचार्य ने भी शास्त्रार्थके लिए ललकारा होगा—'ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु, सर्वे वा मा पृच्छत, यो वः कामयते त व· पृच्छामि, सर्वान् वा वः पृच्छामीति।' परन्तु 'ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः।'

श्रीनगर जानेसे पहले 'स्वामीसे मिल लेनेकी' एक फुनगी मूल सकल्पमे फूटी और मैं अलमोड़ा चला गया। वहांसे लौटते समय हरद्वारमे गंगोत्री जानेका सकल्प पक्का हुआ। और देवप्रयागसे केवल अठारह मीलकी दूरी पर बसे हुए श्रीनगरकी तरफ जाना छोड़कर मैं गंगोत्रीकी ओर चला। मनमें यह आनन्द तो था ही कि हिमालयके नये-नये पुण्यधाम देखनेको मिलेंगे। परन्तु मै मूल संकल्पसे दूर जा रहा हूं, इसका पछतावा कुछ भी किये दूर नही होता था।

टेहरीके रास्ते पर चीड़के वृक्षोकी बहुतायत है। इन वृक्षोंके लम्बी-लम्बी सलाइयों जैसे हरे-हरे पत्ते जब जमीन पर बिछ जाते हैं, तो उन पर चलनेमें पैर सहज ही फिसल जाता है। यहां मैंने एक सुन्दर आविष्कार किया। बहुत चलनेसे और ठंडकी वजहसे मेरे पैर फट जाते, और उनमें नदीके पानीसे जमीनमें पड़नेवाली

दरारों-जैसी दरारें पड़ जाती हैं। चिन्ता यह थी कि अगर इनका कोई इलाज न मिला, तो यात्रा किस तरह पूरी होगी ? कोकमका थोड़ा-सा मोम हमारे साथ था, परन्तु मैंने उससे कोई फायदा होते नही देखा। संकटमे पड़ने पर मनुष्य आविष्कार करता है। चीड़के पेड़से निकलनेवाला ताजा गोंद पैरोंकी बिवाईमें भर दिया, और दूसरे ही दिन उसका सुन्दर परिणाम अनुभव किया। चमड़ी ऐसी भर गयी, मानो कभी फटी ही न हो। उस दिनसे मैं दियासलाईकी एक डब्बी भरकर चीड़का गोंद अपने साथ रखने लगा। इसी गोंदसे राल बनती है, और टरपेंटाइन भी इसी पेड़से निकलता है।

२७. श्रद्धाभक्तिका स्पर्श

देवप्रयागसे हम कोई सात मील आये होंगे। दोपहरका वक्त था। भूखने हकदारकी तरह पेटमें डेरा जमा लिया था। बाबाजीने रसोई बनाई। पास ही खड़े एक पीपलके पेड़के पत्ते बटोरकर स्वामीने या मैने पत्तलें बनाई। बस, इस पर हममें शास्त्रार्थ छिड़ गया। बाबाजी कहने लगे—"पीपलके पत्तोकी पत्तल नही बनाई जाती। इस पर भोजन करना पाप है।" मैं भी यह मर्यादा जानता था। पीपल प्रत्यक्ष परमात्माकी विभूति है—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' बाबाजीने दलील दी कि पीपलके पत्तोंकी पत्तल बनाकर उन्हें जूठा करना नास्तिकता है। मैंने कहा—"पीपलकी पत्तल पर गृहस्थाश्रमी भोजन न करें, ऐमा प्राचीन दंडक है। पर जिसने घर-बार छोड़ दिया, जो विरक्त हो गया, वह पीपलकी पत्तलका अधिकारी है। उसके लेखे तो सर्वत्र परमात्मा ही भरा हुआ है। अन्न भी ब्रह्महै, पत्तल भी ब्रह्म है, और खानेवाला भी ब्रह्म है। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'"

'मतलब-सिन्धु' की पद्धतिसे दी हुई यह दलील भूखकी मददसे गले उतरी, और मैंने तथा स्वामीने 'ब्रह्मार्पणम् ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' श्लोक पढ़कर भोजन शुरू कर दिया। रमोई बनानेका काम बाबाजीका था, इसलिए आर्य-परिपाटीके अनुसार वे हमें भोजन करानेके बाद आप खाने बैठे। बाबाजी कट्टर कर्मकांडी सनातनी थे। पवित्र और अपवित्रका विवेक बहुत किया करते थे। स्वामी इसे समझ नहीं पाते थे। मैं यह सब समझता तो था, लेकिन इसका पालन नही करता था। अतःएव बाबाजीके लिए यही सुरक्षित मार्ग था कि वे पवित्र वस्त्र पहनकर अलग स्वतंत्र रूपसे भोजन करें। वे हमारे लिए परोसकर रखते, और हमें खानेके लिए बुलाते। हमारे खा चुकनेके बाद आप निश्चिन्त होकर भोजन करते। इस तरह बाबाजीका मातृ-हृदय भी सन्तुष्ट होता था। आज जब बाबाजी पीपलकी पत्तल पर भोजन कर रहे थे, तभी अगले दिन देवप्रयागमें जिस मारवाड़ी वणिक् यात्रीसे भेंट

हुई थी वह वहां आया जहां हम बैठे हुए थे। प्रेम-भक्तिकी उमंगमें उसने हम तीनोंका चरणस्पर्श किया। बाबाजी एकाएक चौंक उठे। उधर उस मारवाड़ीकी आंखें भक्तिके आनन्दसे छलक रही थी। बाबाजीकी वह लम्बी दाढ़ी, बड़ी-बड़ी जटायें, नहानेसे शुचिर्भूत काया, पास ही पड़ा हुआ दासबोध ग्रंथ और भजनकी माला, यह सब देखकर मारवाड़ीने सोचा—"मैं कितना बड़भागी हूं, जो ऐसे पावन ब्राह्मणके फिर दर्शन पा रहा हूं!" और बाबाजीके जी मे क्या चल रहा था?

साधारणत: मै बाबाजीकी रूढ़िनिष्ठ धार्मिकताका हमेशा आदर किया करता था। उनके कारण मुझे कई बार असुविधा सहनी पड़ती थी। लेकिन वह सब मैं सन्तोषपूर्वक सह लिया करता था। एक बार जब हम गंगाजीमे नावसे यात्रा कर रहे थे, बाबाजीने मुझसे पूछा—"मेरे कारण तुम्हें कितनी असुविधा होती है! मैं पवित्रता-अपवित्रताके ये नियम छोड़ दू? यात्रामे चाहे जिस तरह निबाह लूगा।" इस पर मैंने उनसे कहा था—"नही, ऐसा नही होगा। जब मुझे विश्वास हो गया कि यह पावित्र्यवाद निरर्थक है, तभी मैंने इसका त्याग किया है। 'मार्गे शूद्रवदाचरेत्' इस वचनके अनुसार आप भी पावित्र्यका विचार छोड़ सकते हैं, लेकिन मुझे यह अच्छा न लगेगा। जिस दिन आपकी अन्तरात्माको विश्वास हो जायगा, उसी दिन ये विधि-निषेध अपने-आप छूट जायेंगे। तब तक उन्हें निबाहते रहनेमे ही आपका श्रेय है।"

मारवाड़ी यात्रीका स्पर्श होते ही बाबाजी मेरी ओर देखने लगे। एकाध दिन भूखों रह लेना बाबाजीके लिए कोई आपत्ति न थी। उन्हें वैसा अभ्यास भी था। बेचारा मारवाड़ी चौका बनानेके लिए इधर-उधर जगह तलाशने लगा। इतनेमे मैंने बाबाजीसे कहा—"आज आप पत्तल परसे उठ न सकेंगे। आप निश्चिन्त होकर खाइये। आज आपको किसी मारवाड़ी वैश्यने नही, बल्कि मूर्तिमन्त श्रद्धा-भक्तिने स्पर्श किया है। भक्तिके आगे कर्मकांडकी क्या चलाई? उसे एक ओर रखना ही चाहिये। जरा सोचिये कि अगर आप खाना छोड़ देंगे, तो इस भक्त-हृदयको कितना आघात पहुंचेगा? और हिचकिचाते हुए नही, बल्कि प्रसन्न मनसे खाइये।" बाबाजीकी आखें डबडबा आयी; संकोचसे नही, किन्तु भावनाके उद्रेकसे। बाबाजीने भोजन ऐसे भक्तिभावसे पूरा किया, मानो मन्दिरका प्रसाद पा रहे हों।

यहां ज्यादा आराम किये बिना ही हम आगे चले। आसपासकी वनशोभा तो 'प्रतिपर्व रसावहम्' न्यायसे बढ़ती ही जाती थी। चीड़के पेड़ गये और बांझके आये। बांझ ओककी एक जाति है। जिसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है। शाम को हम चट्टी पर आ पहुंचे। दुकानके बाहर एक सुन्दर छोटा-सा पेड़ था। मैं वहां जा बैठा। स्वामी जगहकी तलाशमें गये। दुकानदारने जगह नहीं दी। इसलिए

पास ही झाड़ोंके एक मंडपमें रात बितानेका निश्चय किया। इस मंडपमें हम जरा बैठे ही थे कि इतनेमे हमारे दोनों कुली आ पहुंचे। दो कुलियों और उनके साथके सामान-असबाबके कारण दुकानदारकी दृष्टिमे हमारी प्रतिष्ठा बढ़ी, और उसने हमे रातमे सोनेके लिए ठडसे सुरक्षित एक जगह दे दी। स्वामीने स्टोव सुलगाया। इस अद्भुत यज्ञको देखनेके लिए आसपासके लोग इकट्ठा हो गये।

हम लोगोंके मंडपमे घड़ीभर बैठनेका मेरे यात्राक्रम पर भारी असर हुआ। इस मडपमें एक दक्षिणी साधु बैठा था। उसने काश्मीरके अमरनाथका जिक्र किया। कहा—"वहा निर्जन और निर्वन पर्वतमे एक गुफा है। उस गुफामे हर पूर्णिमाके दिन बर्फका एक शिवलिंग अपने आप बन जाता है, और अमावस तक पिघल जाता है।" उस साधुसे सृष्टि-चमत्कारकी यह बात सुनकर मेरे मनमे यह दृढ संकल्प हुआ कि किसी-न-किसी दिन अमरनाथ जाना चाहिये। इस संकल्पके परिणामस्वरूप मैं बाबाजीको साथ लेकर अमरनाथ कैसे गया, इसका अपना एक स्वतत्र इतिहास है।

मनमे काश्मीर जानेके संकल्पका सेवन करते-करते मैने भोजन किया और थकी हुई हड्डियोंको चटाई-कम्बलकी गरमी दी। परन्तु उस रात हमारे दुकानदारके यहा कोई जलसा था। शायद कोई पहाड़ी चारण आया था। सारी रात पहाड़ी कानोंको आनन्द देनेवाला संगीत हमारी नीदमें खलल पहुंचाता रहा। इस सगीत-की गति इतनी विलक्षण थी कि बीच-बीचमें जो सपने आते उनमे भी वह प्रवेश कर जाता।

२८. टेहरी

जब-जब हिमालयके पहाड़ी लोगोंका संगीत सुननेकी बात याद करता हूं, तब-तब वर्ड्सवर्थकी 'दि सॉलिटरी रीपर' कविता याद आती है। क्योंकि पहली ही बार मैंने पहाड़ी पोशाकवाली एक भरे बदनकी कन्यकाको हाथमें हंसिया लिये घास काटते और गाते हुए देखा। हिमालयकी शुद्ध, तेजस्वी हवा, गेहूंकी खुराक और कड़ी मेहनत; फिर भला मुंहकी लालीका पूछना ही क्या था? उसकी वह विचित्र पहाड़ी पोशाक देखकर मेरे मुंहसे कालिदासका वचन निकल पड़ा—'किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्।' मैं एक चन्द्राकार घाटी पार कर रहा था, और नीचेसे उसका गाना बराबर सुनाई दे रहा था। मेरे मनमे वर्ड्सवर्थकी ये सतरें आयी—

"Will no one tell me what she sings?—
Perhaps the plaintive numbers flow

For old, unhappy, far off things,
And battles long ago :
Or is it some more humble lay,
Familiar matters of to-day ?
Some natural sorrow, loss, or pain
That has been, and may be again ?

मुझे भी लगा कि इस कन्यकाके गीतका अन्त आयेगा ही नही। वही एक सुर बराबर निकल रहा था; दूर-दूरके वृद्ध पर्वत उसे प्रतिध्वनित करके उसके साथ खेल रहे थे। वर्ड्सवर्थकी तरह मैं निश्चेष्ट खड़ा तो न रहा, फिर भी आज तक उसकी वह झंकार हृदयमें सहेज रखी है।

पहाड़ी संगीतमें विशेष विविधता नही होती। उत्तराखंडकी यात्रा समाप्त करके जब हम बदरीनारायणसे गणई पहुंचे, तो वहां भी सारी रात गीत सुने थे। उनमें भी ऐसा ही लगा मानो रातभर एक ही पंक्ति चलती रही हो। लगता है, सामवेदके समयसे इन पहाड़ी लोगोने बहुत थोड़ी प्रगति की है, नही तो इस एक-श्रुति संगीतमे उन्हे इतना मजा न आता। दूसरे दिन सोलह मीलकी यात्रा कर हम टेहरी पहुंचे। रास्तेमे वनश्रीकी शोभा कुछ अपूर्व थी। परन्तु उसका वर्णन किस प्रकार किया जाय? सुललित शब्दोंके लम्बे-लम्बे वाक्य लिखनेसे न तो लेखकको सन्तोष होगा, और न पाठकको कोई बोध होगा। इसलिए यह मिथ्या प्रयास छोड़ देनेमें ही औचित्य है। किसी ऊंचे पहाड़की पगडंडीसे नीचे आनेवाले बन्दरोंकी तरह पहाड़ उतरकर हम टेहरीमें दाखिल हुए। पहाड़ी लोगोंकी दृष्टिमें टेहरी एक बड़ी सौन्दर्य-नगरी है, और क्लॉक-टॉवर (घटिगोपुर) उसका सबसे बड़ा आभूषण है। परन्तु 'टेहरीके रास्ते पर गाड़ियां चलती हैं', यह कहनेमें उसकी प्रशंसाकी परिसीमा है।

हमने कड़ी भूख लेकर टेहरीमें प्रवेश किया। जाते ही एक सिक्ख धर्मशाला पर नजर पड़ी। धर्मशाला यानी मुसाफिरखाना नही, बल्कि धर्मग्रन्थ—ग्रन्थ-साहब—रखने, पढ़ने और श्रवण करनेका स्थान। इसमें मन्दिर और मसजिद दोनोंके गुणोंका समावेश होता है। इसका प्रबन्ध करनेवालेको ग्रन्थी कहते हैं। टेहरीकी धर्मशालाका ग्रन्थी भला आदमी था। उसने हमें सब प्रकारकी सुविधाएं कर दी। सीधा-सामग्री जुटानेका काम स्वामीने किया था। बाबाजीने रसोई बनाई। श्रम-विभागमें मेरे हिस्से तो ऊंचा घाट उतरकर भागीरथीमें नहाने और फिर भोजन कर लेनेका परिश्रम ही आया। उस दिन मैं बहुत थक गया था। टेहरीमें डाकखाना था, इसलिए स्वामीको बहुत-सी चिट्ठियां लिखनी पड़ी थी। मुझे विश्वास है कि डाकखानेके अस्तित्वको कृतार्थ करनेके लिए ही स्वामीने उस दिन अनेक पत्र लिखे थे। मैं उनके पत्र पढ़ता ही न था, इसलिए मुझे अपने विश्वास पर सन्देह करनेका कभी मौका ही न मिला। बाबाजीने धर्मशालाके

ग्रन्थीके साथ सिक्ख धर्मकी चर्चा छेड़ दी। दोनोंने माना कि वे हिन्दीमें बातचीत कर रहे हैं। ग्रन्थीकी भाषा हिन्दी चाहे न हो, पर शुद्ध पंजाबी थी। बाबाजीने कुछ मराठी और गुजराती शब्द बटोरकर उनमें दस-पांच हिन्दी प्रत्यय लगा दिये, और राष्ट्रीय ऐक्य साध लिया। मेरे जैसा चुस्त साधु ऐसी प्रवृत्तिमें क्यों पड़ने लगा? मैंने तो दोपहरकी धूपकी सहायतासे खासी एक घंटेकी 'समाधि' लगायी।

हिमालय आनेसे पहले मैं भारत-धर्म-महामंडलके स्वामी ज्ञानानन्दसे मिला था। उन्होंने टेहरीके एक हाकिम पंडितका नाम बतलाया था। हम लोग उनसे मिलने गये। हमें यात्रा-सम्बन्धी जानकारी हासिल करनेका शौक था, और उस पंडितको अपना पांडित्य प्रकट करनेकी अभिलाषा थी। स्वामी जबरदस्त इश्तिहारबाज ठहरे। जब उस पंडितको मालूम हुआ कि मैं ग्रेज्युएट हूं, तो उसने मुझे जमीनसे उठकर कुरसी पर बैठनेको कहा। स्वामीने छूटते ही कहा कि हमारे काकाने सारे धर्मग्रन्थोंका अध्ययन किया है। पंडितने मुझसे सवाल किया कि समाधिमेंसे मनुष्यका व्युत्थान किस कारण होता है? मैं अपनी दोपहरकी समाधिमेंसे व्युत्थान करके ही उनके यहां गया था। पर जानेका प्रयोजन तो गंगोत्रीके रास्तेकी जानकारी प्राप्त करना था। शास्त्रार्थकी इस चुनौतीसे मैं काफी असमंजसमें पड़ गया। यदि कहता हूं कि मैंने कुछ पढ़ा-गुना नहीं है तो स्वामी झूठे पड़ते हैं, और यदि जवाब देता हूं तो शास्त्रार्थ छिड़ जाता है। इसलिए मैंने कलिविडम्बना प्रकरणमें सूचित युक्तिका प्रयोग किया। मैंने कहा—"मैंने जो कुछ भी पढ़ा है, सो सब अंग्रेजीमें पढ़ा है। अगर आप अंग्रेजीमें प्रश्न करें, तो सारा विवरण भलीभांति कर दूंगा।" बेचारा पंडित निराश हो गया और मेरी जान बची; अन्यथा मेरा अदृष्ट मुझे इस शास्त्रार्थमेंसे व्युत्थान न करने देता।

यहांसे हम स्वामी प्रज्ञानन्द नामक एक दक्षिणी साधुके दर्शन करने गये। कहते हैं, ये दक्षिणी पंडित सन् सत्तावनके गदरमें ठीक-ठीक फंसे थे। वहांसे साधुके भेसमें हिमालयमें भटकते-भटकते आखिर यहां आ पहुंचे थे। जिन दिनों यहां टेहरीमें हैजेका जबरदस्त प्रकोप हुआ था, उस वक्त इन साधुने कोई साधना करके और पंचमुखी हनुमानकी स्थापना करके विलक्षण रीतिसे उसका निवारण किया था। फलस्वरूप राजाको उन पर बड़ी भक्ति हुई, और स्वामी राजगुरु बने। उनके प्रखर पांडित्यकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली थी, इसलिए दूर-दूरके विद्यार्थी उनके पास संशय-निवृत्तिके लिए आते थे। हमें कोई शंका तो थी ही नहीं, कुतूहलभर था। इसलिए हमने सांझका थोड़ा समय उनके पास बिताया। उनकी कोई विधवा शिष्या तांबेकी चद्दर पर खुदे हुए श्रीचक्रकी पूजा करती थी। मेरा ध्यान उस ओर गये बिना न रहा। इस बहनने चिराग जलाकर हमें स्वामीजीके सामने बैठाया। हमने स्वामीजीसे खूब बातें कीं, बहुत-सी बातें जानीं और पंचमुखी हनुमानके व सुन्दर मन्दिरके दर्शन करके लौट आये।

टेहरीकी मुख्य शोभा तो भागीरथी पर बना तारका झूलता पुल है। इस पुलके इस छोर पर बने बरगद और पीपलके चबूतरे विशेष रूपसे ध्यान आकर्षित करते हैं। यात्रियों और साधुओंके लिए छांहकी यह जगह धर्मशालासे भी ज्यादा सुभीतेकी है। जहां बड़ और पीपलकी छांह एकत्र पड़ती है, वह स्थान पवित्र समझा जाता है। वह जप वगैरा विशिष्ट साधनाके लिए उपयुक्त होता है।

वटवृक्ष हमारे गृहस्थाश्रमके आदर्शका सूचक है। उसकी जटायें बार-बार जमीनमें प्रवेश करके एक विशाल अविभक्त कुटुम्ब बनाती हैं, और पीपल हर साल अपने सब पत्ते झाड़ डालता है। वह अपनी छाल पर पपड़ी भी नहीं जमने देता। यह संन्यास-धर्मका सूचक है। उसके पत्तोंकी अखंड जाग्रति भी संन्यास-धर्मकी ही द्योतक है। जहां इन दो आश्रमोंका मिलाप होता हो, वहां हिन्दू समाजको विशेष पावित्र्य दिखाई दे तो आश्चर्य क्या ?

टेहरी एक प्रसिद्ध पहाड़ी रियासत है। किसी जमानेमें इस राज्यका विस्तार और इसकी प्रतिष्ठा इतिहास-प्रसिद्ध थी। हिमालयके उस पार तक यहांके राजाओं-की हुकूमत चलती थी। आज तो यह सिर्फ जंगलोंकी अपनी आमदनीके लिए विख्यात है। इसकी दूसरी ख्याति यहांकी जनताका अज्ञान और भीरुता समझी जा सकती है। शिक्षाके लिए यहांके राजाके मनमे तनिक भी उत्साह नही। वह समझता है कि शिक्षासे प्रजामे असन्तोष जड़ पकड़ता है। अंग्रेजी पाठशालाके एक शिक्षकसे हमे यह बात मालूम हुई। मैने सोचा, तो फिर यह शिक्षक यहां क्यों बेगार ढोता है ?

हम राष्ट्रीय संस्थाओंके लिए साधन और सुविधाएं खोजते फिरते हैं। हम सोचते हैं कि अगर पैसोकी इफरात होती, तो यह करते और वह करते। पर तनिक पराक्रमी पूर्वजोंके इन राजवंशीय उत्तराधिकारियोंको देखिये। इनके पास सब प्रकार की सुविधाएं होते हुए भी ये किसी बातका विचार ही नही करते, और करते भी हैं तो आड़ा-टेढ़ा। चूंकि सन् सत्तावनका प्रयत्न व्यर्थ हो गया, इसलिए उपर्युक्त पंडित गेरुआ वस्त्र धारणकर घटत्व और पटत्वके अवच्छेदकावच्छन्नत्वकी चर्चामें डूब गये। राजा लोग किन-किन बातोंमें मग्न हो गये है, इसकी तो गिनती करते भी जी उकताने लगता है। अरे, एक बार हार गये तो क्या हुआ ? हरएक हारको नये प्रयत्नके लिए जरूरी खाद समझना चाहिये। हारसे मिलनेवाली शिक्षा कम महत्त्वकी नही होती। विज्ञानशास्त्रियोंके सफल प्रयत्नोंके वर्णन हम पढ़ते हैं, परन्तु हम यह क्यों भूल जाते है कि इन सफल प्रयत्नोंसे सौगुने निष्फल प्रयोग उन्होंने धैर्यपूर्वक किये होंगे ? एकके बाद एक असंख्य पराजयोंको जो सह सकता है वही पुण्यवान् है। सन् सत्तावनमें पराभूत होनेके बाद बुद्धिमान और पुरुषार्थी लोगोंको तुरन्त एकत्र होकर सोचना चाहिये था कि हम क्यों हारे ? किन-किन राष्ट्रीय दुर्गुणोंकी बदौलत हमने अपनी जीत पर पानी फेर दिया ? हमारी पद्धतिमें कौन-सी

त्रुटि थी ? अब अपनी समाज रचनामें क्या हेरफेर करने चाहिये ? नये प्रयत्नमें सारी प्रजाको एक दिलसे सम्मिलित करनेके लिए क्या करना चाहिये ? जिन लोगों-ने हमें परास्त किया उनका देश कैसा है ? वहांकी प्रजाका स्वभाव कैसा है ? उस स्वभावकी सिद्धिके लिए उन लोगोंने क्या-क्या किया है ? हममें भी ऐसे तत्त्व भिन्न रूपमें गुप्त स्थितिमें हैं या नहीं ? इन तत्त्वोंको हम कैसे पहचानें, कैसे विकसित करें ?

. इस प्रकारका सोच-विचार करनेके बदले राजाने संन्यासी पंडितके लिए वृत्ति नियत कर दी, संन्यासी पंडितने राजाको आशीर्वाद दिया, और दोनोंने मिल-कर प्रजा को पंचमुखी हनुमान दिये ! और राष्ट्रीय जीवनके पचास बरस यों ही बीत जाने दिये ।

परन्तु जिस तरह पूर्वजोंकी कीर्ति पर ही निभनेवाला नामर्द है, उसी तरह जो मौके-बेमौके पूर्वजोंके दोषोंको ही गिनते बैठते हैं वे भी नामर्द हैं । मैं हिमालय आया हूं । यहां आकर अन्तर्मुख बना हूं । न कोई बन्धन है, न जवाबदेही है । फिर मुझी-को इन सारी बातोंका विचार क्यों नही करना चाहिये ? मुझे अवश्य ही यह सब सोचना चाहिये । ऐसे अनेक विचार मनमें चक्कर काट रहे थे और थके हुए गात्रों पर निद्रादेवीकी सत्ता स्थापित हो रही थी ।

सवेरे उठकर हम धरासुकी ओर चल पड़े ।

२९. बादरूका गांव

हिमालयकी यात्रा खतम करनेके बाद फिर एक बार मैं दूसरे रास्तेसे टेहरीकी तरफ आया था, और पासके मालदीवल नामक गांवमें स्वामी रामतीर्थके मठमें एक नियत समय तक साधनाके लिए रहा था । उस समयका अनुभव केवल काव्य-मय ही नहीं, अपितु दो-तीन बातोंमे मेरी मनोवृत्तिमें स्थायी परिवर्तन करनेवाला सिद्ध हुआ । जिस यात्राका वर्णन हो रहा है उस मूल यात्राके समय इस छोटे-से गांवके विषयमें हमने कुछ भी नहीं सुना था । परन्तु स्मरण-यात्रामें टेहरीके बाद मालदीवल और वहांका अत्यन्त भीड़वाला एकान्त यथाक्रम आता ही है । यदि इस अनोखे अनुभवका संक्षेपमें वर्णन किया जा सकता, तो वह सारा-का-सारा यहीं दे दिया जाता । स्मरण-यात्रामें यही उचित होता । परन्तु जिस तरह इत्रकी शीशी खोलते ही उसकी सुगन्ध पूरे वेगसे बाहर निकलकर कमरेमें भर जाती है, उसी तरह मालदीवलका नाम लेते ही कषाय-मधुर संस्मरणोंके इतने अधिक फुहारे छूटते हैं कि उन्हें एक-दो लेखोंके प्यालोंमें भर देना अशक्य नहीं, तो कठिन अवश्य है । इसलिए स्मृतिकेकिवाड़ बन्दकर धरासुका रास्ता लेनेके सिवा दूसरा चारा नहीं है ।

टेहरीके राजाकी तालीम पाये हुए पंडित हाकिमने गंगोत्री-जमनोत्रीकी जानकारी देते-देते एक प्रश्न छेड़ा। जमनोत्रीकी तरफके लोग शौच हो आने पर पानीका उपयोग नही करते। उनकी ऐसी धारणा है कि गंगा-यमुना सरीखी पवित्र नदियोंका—माताओंका—जल अपवित्र कामके लिए बरतनेमे अधर्म होगा। हम कभी-कभी उन्हें स्वच्छताके बारेमें उपदेश देते है। पर अक्सर मनमें शंका होती है कि चाहे यह श्रद्धा अज्ञान-जन्य ही क्यों न हो, क्या इसे नष्ट करनेका हमें कोई अधिकार है? जमनोत्रीकी तरफके लोग झूठ क्वचित् ही बोलते हैं। वहां चोरी नही होती। उन्हें झूठसे काम लेना आता ही नही। सच कहनेमे चाहे हिचके, पर उसके बदलेमें दूसरा कुछ कहा जा सकता है, यह बात उनके स्वप्नमे भी नही आयेगी। उस हाकिमके ठीक शब्द मुझे याद नही हैं, पर उनका आशय और अत्युक्ति ऐसी ही थी। उन्होंने मुझसे पूछा—"तो बतलाइए हम क्या करे? उन लोगोंका यह धन्य अज्ञान दूर करें और उन्हे अपने समान बनावें, या उन्हे जैसे-के-तैसे निर्बुद्धि और निर्दोष रहने दे?" मैने जवाब दिया—"मै ऐसी किसी स्थितिको ईर्ष्याकी चीज न मानूंगा। गाय इसलिए पवित्र नही है कि वह झूठ नही बोलती। चूंकि पत्थर बोलता ही नही इसलिए उसकी गिनती मुनियोंमे नही होती। और ये मछलिया गंगाका अखंड स्नान करती रहती हैं, इस कारण ये स्वर्गको जानेवाली नही हैं।" वे सज्जन कुछ बोलना चाहते थे। पर इससे पहले कि वे कुछ बोले, मैने फिर कहा—"हां, वह स्तोत्र मुझे याद है, लेकिन वह कविकी कल्पनामात्र है। मछलियां जिस दशामे रहती हैं, उसे आप स्वर्ग भले ही कह लें। परन्तु गंगास्नानके पुण्य-प्रतापसे उन्हें वह स्वर्ग नही मिलनेवाला है, जिसे आप सदाचार-पालनके बल पर मरनेके बाद प्राप्त करना चाहते है। आपको चाहिये कि आप इन लोगोंको ज्ञानसे कदापि वंचित न रखें। इनकी जड़ता श्रद्धा नही है। मनुष्यमें झूठ बोलनेकी शक्ति है, उस शक्तिका वह प्रयत्नपूर्वक त्याग करता है, और अन्तमें झूठ बोलनेकी शक्ति होने पर भी अपने लिए झूठ बोलना असम्भव कर देता है, तब कही उसे सत्य-पालनका आनन्द, उससे होनेवाली वाचासिद्धि और क्रिया-फलाश्रयत्व प्राप्त होता है। मनुष्यका स्वयं अज्ञानी रहना बड़े ही दुर्दैवका विषय है। अज्ञान-जन्य सुरक्षितता भयानक है, अनर्थकारी है। जो सुना सो सच मान लिया यह वृत्ति श्रद्धा नही; भोलापन है, बुद्धूपन है।"

टेहरीसे आगे चढ़ाव-उतार बहुत कम था। इसलिए हम जरा फुर्तीसे चलने लगे। रास्ता कैसा ही क्यों न हो, अपने कुलियोंसे हमारी चाल तेज रहती थी। पर आज देखते क्या हैं कि हमारे कुली हमसे आगे-आगे चलते थे। इस असाधारण घटनाकी तरफ मेरा ध्यान गया। मैंने स्वामीसे कहा—"मालूम होता है, बादरू और कैरासिंह आज कुछ विशेष जवान हो गये हैं। हमसे भी आगे चलते हैं।" स्वामी कहने लगे—"आज रास्तेमें इन लोगोंका गांव पड़नेवाला है। घर जानेकी उत्कंठा

से ये लोग आज इतने तेज चल रहे हैं।" फिर स्वामीने इन मुग्ध पहाड़ी लोगोंकी इस गृहनिष्ठ-वृत्ति का खूब बखान किया। "होम! स्वीट होम!" वाली अंग्रेजी कविता स्वामीको याद आयी। हमने यह भी चर्चा की कि हमारे यहां यह भाव क्यों नही है? मैंने कहा—"देशाभिमान शब्द नया है। हम अभिमानको दोष समझते हैं। देशभक्ति शब्द कुछ अच्छा है, पर हमारा पुराना शब्द तो है जन्मभूमि-वात्सल्य। वह कितना सुन्दर लगता है! यह ठीक है कि इस वात्सल्यका बयान कुछ कवियोंने दुर्बलताके रूपमें किया है। परन्तु श्रीकृष्णके जीवनमें गोकुल-वृन्दावन सम्बन्धी जो उत्कट भावना प्रौढ़ वयमे भी दिखाई देती है, वह इस देशभक्तिका ही घरेलू सस्करण है।"

मैं सोचने लगा कि यदि पहलेसे मालूम होता कि बादरूका घर आज आनेवाला है, तो टेहरीसे ही उसके बाल-बच्चोंके लिए थोड़ी मिठाई रख लेते। स्वामीको मेरी यह सूचना अच्छी लगी, पर जंगलमें मिठाई कहांसे आती? इतनेमें हमें एक धर्मशाला मिली। वहां मिठाईकी एक दुकान थी। बादरू वहां तक जाकर रुक गया था—वह सिर्फ यह विश्वास कर लेना चाहता था कि हम उस धर्मशालामें नहीं ठहरेंगे। उसने कहा—"अभी दिन बहुत बाकी है। जरा और तेज चलेंगे तो हमारा गांव आ जायगा। यात्राके रास्तेसे बहुत दूर भी नहीं है।" और वह गिड़गिड़ाने लगा। स्वामीने मिठाई खरीदी और हंसते-हंसते उसे आश्वासन दिया—"आज रातको हम तुम्हारे घर ही भोजन करेंगे।"

यात्राकी पगडंडी छोड़कर हम तेजीसे अपने कुलियोंके गांवकी ओर चले। शबरी या विदुरको जितना आनन्द हुआ होगा, उतना आनन्द हमारे इन कुलियोंको हुआ। रास्तेमें एक जगह मैंने सुना कि वहां एक साल पहले एक आदमीको घास काटते समय सांपने काटा था और वह आदमी मर गया था। सांपकी चर्चा छिड़ते ही अक्सर वह बड़ी देर तक चलती रहती है। कुछ विषय विशेष रूपसे मनुष्यको प्रिय होते हैं। चोरोंका उपद्रव, अकालका अनुभव, भूत देखनेके प्रसंग आदि जैसे अक्षय विषय हैं, वैसे ही सांपकी दुनिया भी बहुत लम्बायमान है। सांपकी-सी वक्र-गतिसे खेतके किनारे-किनारे जानेवाली अपनी पगडंडी हम काटते चले और बादरू हमें अपने घरकी बातें कहता चला। रास्तेमें खेतोंके बीच पत्थरोंके ऊंचे-ऊंचे बांध देखकर मैंने कुछ सवाल पूछे। मैं ज्यों-ज्यों सवाल पूछता था त्यों-त्यों बादरू खिलता था। यों करते-करते बादरूका गांव आ लगा। फिर उसे हमसे बात करनेमें कोई मजा न रहा। सांझ हो चुकी थी। किसान खेतसे घर जा रहे थे। बादरू जिसे देखता उसीसे अपने स्त्री-बच्चोंके बारेमें पूछता। सगे-सम्बन्धियोंकी याद करता। वह तो बिलकुल मतवाला हो गया था। आखिर हमने उसके घरके सामने खलिहानमें ही बैठकर रसोई बनाई, भक्तिभावपूर्वक दिये हुए घी-दूध-दहीका भोग लगाया, और वहां एकत्रित लोगोंके साथ गपशप लड़ाने बैठे।

कैरासिंह और बादरू शहरी मजदूरोंकी तरह भुक्कड़ मजदूर नहीं थे। वतन, बाड़ी, ढोर, खेती और सामाजिक प्रतिष्ठा उनकी स्थितिके अनुरूप उन्हें पर्याप्त मात्रामें प्राप्त थी। पर्वतीय लोगोंके पास दुर्भिक्ष होता है पैसेका। इसलिए यदि यात्राके मौसममे एकाध महीने कुलीका काम करके पचास-पौनसौ रुपये कमा लें तो उनका सारा साल सुखमें बीतता है, और हाथ पैसेसे तंग न होनेके कारण घर-का माल चाहे जिस भावसे बेचनेकी नौबत आनेका डर नहीं रहता।

हमने उन्हें बताया कि हमारे प्रान्तमें ऐसे बड़े-बड़े पहाड़ नही होते। रास्ते सीधे होते हैं। उन पर गाड़ियाँ दौड़ती हैं। गांवकी बूढ़ी औरतें पूछने लगी—"एक-दम सीधा रास्ता? थोड़ा भी चढ़ाव-उतार नही? अफसोस, तब तो तुम्हारे पैर थक जाते होंगे। और वहां धूप भी कड़ी पड़ती होगी! तुम लोग कैसे चल पाते होंगे?" पर जब मैंने कहा कि हमारे यहां ढाई-तीन पैसोंमें नारियल मिल जाता है, तब तो उस गांवके बालक-बूढे सभीका जी हमारे प्रदेशमें आनेके लिए ललचाया। हिमालयमें छोटे-से-छोटा नारियल भी चार आनेसे कम दाममे नही मिलता। उसे कोई फोड़ता नही। लोग खरीदकर मन्दिरमें चढ़ा देते हैं। मन्दिरका पुजारी फिर वही नारियल बाजारमें लाकर बेचता है। इस प्रकार एक ही नारियलके नसीबमें सालमें असंख्य बार चढ़ाया जाना बदा होता है। इसकी कोई गारंटी नही कि फोड़ने पर उसके भीतर खोपरा निकलेगा ही।

फिर घरमें पानी लानेका विषय छिड़ा। मैंने कहा—"हमारे देशमे दूरके किसी तालाब या झीलसे पानी नहीं लाना पड़ता। वहां घर-घर कुएं होते हैं।" उस गांवकी मुग्ध कन्याएं तो इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकती थीं कि कुआं कैसा होता होगा? सयानी औरतें दया खाती हुई कहने लगीं—"हाय-हाय तुम्हारे यहां स्त्रियोंको यह कितना बड़ा कष्ट है? इतनी गहराईसे पानी खीचकर निकालनेकी हिम्मत तो तुम्हारी स्त्रियां ही कर सकती हैं। हमारे यहां ऐसी कोई मुसीबत नही। तालाबमें गगरिया भरकर सिर पर धरी और चले।" लेकिन यह चलना कैसा होता है? कहीं-कही तो खासा आधा मील पहाड़ चढ़ना या उतरना पड़ता है। इन लोगोंके लेखे उसकी कोई बिसात नहीं, जबकि जमीनके अन्दरसे रस्सीके जरिये बीस-पचीस हाथ गहरे पानीको ऊपर खींचना उनके खयालसे एक बड़ी झंझट या कड़ी सजा ही समझी जाएगी।

दूसरे दिन बादरू बोला—"अब मैं यहीं रह जाऊंगा। मेरा लड़का आपके साथ जाएगा। बहुत तगड़ा है। आपके खूब काम आयेगा।" वैसा सब प्रबन्ध भी हुआ। परन्तु ऐन वक्त पर उस बाईस सालके बालक (!) की मां उसे 'परदेश' भेजनेकी हिम्मत न कर पायी, और आखिर हमारा बादरू ही हमारे साथ झल्लाता और बकता-झकता लदा।

३०. राढ़ीकी सीमा पर

बादरूके गांवसे धरासु तकका रास्ता कुछ भी किये याद नही आता। जब तक हमने बादरू और कैरासिंहके आतिथ्यका स्वीकार नहीं किया था तब तक उनका हमारा सम्बन्ध सेठ-नौकरका सा था। उनके घरका घी-दूध खानेके बाद और उनके आंगनमें एक रात निवास करनेके बाद हमारे बीच समान भाव जाग्रत हुआ। विश्रामके दिनकी खिचड़ी और रोजके चने-चबैने यानी गेहूंकी फूलीके लिए चखचख करनेकी बात फिर उन्हें कभी न सूझी। हम भी उनसे अधिक बोलने-बतलाने लगे; और इस बातकी चौकसी रखने लगे कि उन्होंने कब और क्या खाया-पिया? यों हमारे हृदय कुछ अधिक निकट आने लगे। यह भी नही कि इस परिचयके कारण उन्होंने हमारी सेवा पहलेसे कुछ कम की हो। उलटे इस विश्वाससे कि हम नाराज न होंगे, अपनी बुद्धि चलाकर हमारी सुविधाका ध्यान रखनेकी ही वृत्ति उनमें बढ़ती गई। नौकरों और मजदूरोंके साथ सख्ती करके काम लेनेकी अपेक्षा प्रेम और सद्भावसे काम लेनेसे काम अधिक अच्छा होता है। सेवा अधिक मिलती है। पर इससे भी बढ़कर लाभ तो यह होता है कि नौकरोंकी घबराई हुई बुद्धि आश्वासन पाकर विशेष खिलती है और नौकर भी बुद्धिमान जीव बन जाते हैं।

धरासुमें रातको मजदूरोंमें खूब चर्चा चल रही थी। बंगालकी तरफका कोई बड़ा जमींदार वहां पड़ाव डालकर ठहरा था। उस राजाके मुनीम और मजदूरोंमें बहुत चखचख चला करती थी। घंटों शान्ति नामको भी न मिलती थी। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि यहीं हमें कुछ गुजराती यात्री मिले थे। स्वामीने उनके साथ बातें की थी। आगे ये लोग हमें गंगोत्रीमें मिले थे, और वहां मुझे इनके रसोइयेको खाने-पीनेके धार्मिक नियमोंके सम्बन्धमें 'व्यवस्था' देनी पड़ी थी।

धरासुसे जमनोत्री जानेवाला रास्ता फूटता है। वहां पहुंचने तक हमने जमनोत्री जाने या न जानेके बारेमे कुछ भी निश्चय नहीं किया था। आखिर तय हुआ कि जाना चाहिये। वहीं हमने अपने कुलियोंसे अधिक मजदूरीका करार किया। और हम आगे चले। कैरासिंह बोला—"हम जमनोत्रीके प्रदेशमें शायद ही कभी जाते हैं। इस राढ़ी पहाड़के उस पारका मुल्क अच्छा नहीं है। वहां बहुत खतरा है।"

यह पहाड़ी लोगोंकी मनोदशाका द्योतक है। जब कोई बड़ा पहाड़ सामने आ जाता है तो वे सोचते हैं कि संसार का अन्त आ गया। वैसे, पहाड़ लांघना उनके लिए खेल है। पर उस पारकी दुनिया जुदी और अपनी जुदी। उधरके लोग कुछ और, हम कुछ और; ऐसी कोई गांठ उनके मनमें बंध जाती है। मैं हाईस्कूलमें था तब कवि कूपरकी एक कविता कंठ की थी। यहां उसकी दो पंक्तियां याद आती हैं:

Lands intersected by a narrow firth
Abhor each other. Mountains interposed
Make enemies of nations who had else
Like kindred drops been mingled into one.

जमना मैयाका नाम लेकर हम चल पड़े। माधवानन्दजीने भी हमारा साथ देनेका निश्चय किया। यहासे हमने एक घने जंगलमे प्रवेश किया। जिधर देखिये, छाया ही छाया थी। न कोई पेड हिलता था, न डोलता था; मानो ध्यानस्थ ऋषियो का सम्मेलन हो। हम उत्साहसे आगे बढे जा रहे थे। बेचारे माधवानन्द हमारी बराबरी कैसे करते? वे पिछड-पिछड जाते थे। उन्हे बंगालीके सिवा दूसरी कोई भाषा भी नही आती थी। इसलिए स्वामी बोले—"यदि इस जंगलमे ये कही रास्ता भूल गये, तो बाघ-बघेरुओका भक्ष्य बन जाएंगे। हम जरा ठहरे और उनकी राह देखे।" भला, यात्रामे ठहरनेकी सूचना किसे नही भाती? पर मै बैठनेसे इनकार कर देता। नागबेतकी अपनी लकडी पर शरीरका सारा भार डालकर मै खडे-खडे ही आराम ले लिया करता। एक बार बैठे और पैरोंमे रक्तका अभिसरण होने लगा कि पैर फूल जाते और चलना मुश्किल हो जाता इसलिए मै मुकाम पर पहुचकर ही बैठना श्रेयस्कर समझता था।

क्या किसी भी लडाईके लिए यही नियम सही नही है?

माधवानन्द धीरे-धीरे रास्ता काटते आ रहे थे। मुझे प्रणव-गर्जनाकी सूझी। एक ऊचे शिखर परसे ऊची आवाजमे मै चिल्लाया—"ॐ शान्ऽऽऽतिः शान्ऽऽऽतिः शान्ऽऽऽतिः।" दूरसे माधवानन्दका जवाब आया—"ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।"

इस तरह ठहरनेमे हमारा बहुत-सा वक्त बीत गया। रात हो गयी और हम पहाड उतरनेके बदले अभी पहाडके माथे पर ही पहुचे थे। घनघोर अंधेरा था। बीचमे एक छोटी-सी पगडंडी पास ही चरवाहोके एक गावकी तरफ जाती थी। उसने भी हमारा समय लिया। कौन-सा रास्ता मोक्षकी ओर ले जानेवाला था और कौनसा गलत रास्ते ले जाकर 'सिद्धि' के फेरमे डालनेवाला था? हमने आसपास देखा, ऊपर देखा, नीचे देखा, और प्रवासकी सहज बुद्धिसे अचूक निर्णय किया कि पगडंडी वाला रास्ता छोड देना चाहिए। अंधेरेमे तो भगवानके भरोसे ही चलना पडता है। शान्तिकी गर्जना करते हुए हम शिखर पर पहुचे। इतनेमे रजनीकान्त प्रकट हुए, और आसपासका अंधेरा कुछ-कुछ छंटने लगा।

ऐसेमे खानेको क्या मिलेगा? यह सवाल तो मनमें उठता ही कैसे। तकदीर से रहनेकी जगह भी मिल जाए तो बडी बात हो! हमने सुन रखा था कि जगली विभागका एक दफ्तर रास्तेमें पडता है। हम उसीको लक्ष्य करके चले; वह दफ्तर तो आता ही न था। इतनेमें बाबाजीको ऐसा लगा मानो कही कुछ निठल्ले लोग

बैठे गपशप लड़ा रहे हैं। जिधरसे उन्होंने यह आवाज सुनी थी उस दिशामें जाकर स्वामी समाचार लाए कि जरा और ऊंचे पर जंगलके सिपाहियोंका एक थाना है और वहीसे यह आवाज आ रही है। हम वहां पहुंचे। पर जंगलके द्विपाये बाघ भला हमें अपने पास कैसे फटकने देते? वे गुर्राये, बर्राये हमारी तरफ झपटे, पर हम टस-से-मस न हुए। अंधेरेमें भी स्वामीकी वाणीकी मोहिनी काम कर गयी। और वे द्विपद बाघ कुछ नरम पड़े। उन्होंने हमें चबूतरे पर भी न आने दिया। फिर बातें होने लगी। पहले तो उन्होंने जंगलके कानूनकी कड़ाई और उसका महत्त्व समझाया। कहा—"कोई गलतीसे बीड़ी फेंक दे, तो समूचा जंगल जल जाय, लोगोंकी जान जोखिममें पड़ जाय, और इससे भी बढ़कर बात यह है कि सरकारका बेहद नुकसान हो जाय।"

इतनेमें माधवानन्द भी आ पहुंचे और उनकी बंगाली वाग्धारा बहने लगी। मैंने उनसे दो-तीन बार कहा कि मैं बंगालीका ब्रह्माक्षर भी नहीं जानता। हां, 'आनन्दमठ' के कुछ पन्ने पढ़े थे; लेकिन आखिर बंगाली उच्चारण तो बंगाली उच्चारण ही है। उनका ज्ञान तो गुरुमुखसे ही हो सकता है। मैंने उनसे मराठीमें कहा, हिन्दीमें निवेदन किया, निष्काम कर्मके रूपमें अंग्रेजीमे भी अनुनय किया, परन्तु माधवानन्दजीकी वाग्धारा किसी उपायसे कुण्ठित नहीं होती थी। किसी कविने कहा है—"आई सिंग बिकॉज आइ मस्ट" (मैं गाता हूं, क्योंकि बिना गाए मैं रह नही सकता।) माधवानन्दकी प्रतिभा इसी तरहकी थी। मैं समझूं या न समझू उनकी बलासे! उनके लिए यह काफी था कि मेरे कान मनुष्यके कान थे। उन्होने अपने श्रवणांजलिपुटपेय वाचामृतका पान मुझे बरबस कराया। मैं भी जी कड़ा करके निष्काम कर्म समझकर शान्तिसे सब सुनता रहा, मानो भैंसेकी पीठ पर वृष्टि हो रही हो।

चन्द्रमा उगा तो, पर आकाश जितना चाहिये उतना स्वच्छ न था। और हम थके-मांदे थे। इसलिए किसी प्रकारकी छेड़छाड़ किये बिना ही सो गये।

स्मृति धोखा दे रही है। परन्तु बहुत करके यह अद्भुत अनुभव धरासुसे रवाना होनेके दिन ही हुआ था। रास्ता चलते-चलते एक स्थान आया जहां पहुंचते ही हृदयमें ऐसा भाव पैदा हुआ कि यह तो कोई पूर्व परिचित स्थान है। मानो किसी समय मैं यहां रह चुका हूं। वह भाव कैसे और क्यों पैदा हुआ, कुछ समझमें नहीं आया। कई बार कई प्रकारसे इस पर विचार किया, पर कोई निर्णय न हो पाया। निश्चय ही ऐसी किसी जगहमें पहले कभी मैं गया नहीं था। तो फिर हृदयमें ऐसा भाव क्यों उत्पन्न हुआ? क्या इस रमणीय स्थानको देखकर कोई अस्पष्ट कल्पना या वासना भूतकी तरह इससे चिपट गयी? कालिदास होते तो तुरन्त कहते:

तच्चेतसा स्मरति नूनम् अबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि।

जो भी हो, पर जी चाहने लगा कि आगे-पीछे का सारा विचार छोड़ कर यहीं रह जाऊं। परन्तु क्या मनुष्य-निवाससे शून्य उस महारण्यसे केवल काव्यमय कल्पनाके भरोसे रहना सम्भव होता?

३१. यामुन ऋषि

सवेरे उठकर हमने गंगाजीका रास्ता लिया। बर्फके दर्शनसे चित्त प्रसन्न हुआ ही था। उसे अप्रसन्न करनेवाली एक भी चीज प्रकृतिके इस प्रान्तमें न थी। हां, एक मुश्किल जरूर थी। पहाड़ पर चढ़ते समय जितना सृष्टि-निरीक्षण हो सकता है, उतना उतरते समय नहीं हो सकता। चढ़नेमें हम धीरे-धीरे बढ़ते हैं। चारों तरफ देख सकते हैं। और, शरीरको कितना ही जोर क्यों न लगाना पड़े तो भी उसकी तरफ ध्यान नहीं देना पड़ता। पर उतरते समय पहाड़का उतार ही हमसे जल्दी कराता है। आसपास देखनेके बनिस्बत पैरके नीचेकी जमीन देखना बहुत जरूरी हो जाता है। हर कदमके साथ सारे शरीरका भार घुटनों और टकनों पर आ पड़ता है, और पैर संभालनेकी कसरत तो कई प्रकारसे करनी पड़ती है। पर महादेवजीकी तीसरी आंखकी तरह हमारे पास लकड़ीका तीसरा पैर था, इसलिए हम सुरक्षित थे।

जंगलमें देखने योग्य तो बहुत-कुछ होता है। तरह-तरहके वृक्ष और पत्ते, छोटी-बड़ी पहाड़ियोंकी व्यूहरचना, और ऊंचे-ऊंचे शिखरोंकी चढ़ा-उतरी। परन्तु इन सबकी अपेक्षा मेरा मन तो वृक्षोंके तनोंकी तरफ ही अधिक जाता है। छुटपन से मुझे पेड़ देखकर विश्वामित्र आदि ऋषियोंका स्मरण होता है। ऐसा लगता है, मानो अखाड़ेबाज बैरागी मलखम कर रहे हों, और उनके पैरोंमें अनेक प्रकारकी आंटियां पड़ रही हों। पेड़की ऐसी डालियां देख मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। पेड़ों के तने और डालियोंके आकार, उनकी छाल और रंग देखकर मैं उनमेंसे हरएकके स्वभावकी कल्पना कर सकता हूं। कुछ पेड़ स्वयं अपने प्रति कठोर होनेसे जीवन की सार्थकता मानते हैं। कुछ खा पीकर सुखसे बैठनेवाले लोगोंकी तरह गोलमटोल होते हैं। कुछ बिलकुल झुकी हुई शाखाओंवाले पेड़ ऐसे लगते हैं, मानो मराठा इतिहासके राजाराम-कालीन वीरोंकी तरह विपत्तिके कारण असहाय होने पर भी अविचल भावसे लड़ रहे हों। और कुछ ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो सारे वनका इतिहास प्रस्तुत करने; सामग्री जुटाने और उसे संभालनेका काम कर रहे हों! कुछ पेड़ोंकी त्वचा इतनी सुकुमार होती है कि उन्हें देखकर शकुन्तलाको तपस्या करते देख जिस प्रकार दुष्यन्त बेचैन हो उठा था उसी प्रकार हमारा मन भी अस्वस्थ हो जाता है। और दूसरे कुछ पेड़ोंके कोटर देखकर ऐसा मालूम होता है, मानो वे पेड़

मधुमक्खियों या तोतों-जैसे पक्षियोंको आश्रय देनेके लिए अपना हृदय चीरकर खोल रहे हों। पेड़ोंकी असली शोभा देखनी हो तो वर्षाके बादकी धूपमें देखनी चाहिये, या फिर उस समय कि जब पक्षियोंके झुण्डके झुण्ड फूलोंकी तरह पेड़ों पर आकर बैठे हों। चीड़के पेड़के तनेमें रस्सीके बलकी-सी रेखाएं होती हैं। इससे यह भास होता है, मानो इस तनेको मजबूत बनानेके लिए प्रकृतिने कुछ विशेष मेहनत की है।

इस प्रकारकी विविध सुन्दरता देखता-देखता मैं नीचे उतर रहा था, इतनेमें निगाह ऊपरसे नीचे गयी और जमुनाके दर्शन हुए। जमुनाजीको पहचाननेमे देर न लगी। हो न हो यही वह काली कालिन्दी है, जिसके जलमें मैं प्रयागराजमे नहाया था, जिसके कछुओंको वृन्दावनमे बन्दरोसे जूझते देखा था, जिसके दर्पणमे ताज-महलका प्रतिबिम्ब देख मैं आश्चर्यचकित हुआ था, और जिनके नामके साथ छुटपनसे मेरे मनमें कालियामर्दनके चित्र संलग्न थे। इस स्थान पर जमुनाजी ऐसी लगती है, मानो कोई दोहरे हाड़की मजबूत काठीवाली सोलह-सत्रह वर्षकी सुन्दर, निरागस बाला यौवनके भानके अभावमें दौड़ती, उछलती-कूदती, पैजनियों और घुघरुओंके नादकी धुनमें सारी दुनियाको भूल रही हो। जब हम पहाड़ उतरकर नीचे आये तो उनके विविध रंगोंवाले निर्मल जलका दर्शन हुआ। कभी वह नीली-काली स्याही सरीखा दिखाई देता है, तो कभी जब पत्थरों परसे बहता है, नीलेथूथे-के रगका हो जाता है। जब लहरें पत्थर पर टूक-टूक होकर हस पड़ती है; तब वह बिलकुल शुभ्र बन जाता है, और तिस पर उसे पुनः नील-गम्भीर होते भी देर नही लगती। निर्मल जलकी इन अठखेलियोंसे तपोवृद्ध और महाकाय पत्थर मानो धन्य-धन्य हो रहे थे। पानी अपनी एक तरहकी मस्तीमे नाच रहा था, और पत्थर दूसरी तरहकी मस्तीमें चूर थे। भला, उनके मनमे क्या चल रहा होगा? और मेरे मनमें जो कुछ चल रहा था, उसका उन्हें पता होगा? कुछ दूर तक सफेद बालू पर चलकर हम जमुनाजीके किनारे जा बैठे। इतनेमें कुछ पर्वतीय लड़कियां उधरसे गुजरी। उन्हें यह देखकर अचम्भा-सा हुआ कि हम वहा बैठे-बैठे क्या देख रहे हैं। जिधर हमारी दृष्टि दौड़ती उधर ही वे यह जाननेके लिए देखने लगती कि आखिर वहां ऐसी कौनसी खास चीज है। जब कुछ न मिला तो अपनी आंखोंसे यह संकेत-सा करती हुई कि वहां तो कोई खास चीज नही दीखती, चली गईं। भला, वे भी कैसे जानती कि मेरे मनमें क्या उधेड़-बुन चल रही है?

यह स्थान गंगाणी कहलाता है। गंगाणीका अर्थ क्या गंगा-आनी (लायी गयी) है?

एक ऋषि था। वह गंगा और यमुना दोनों लोकमाताओंकी निर्विशेष भावसे भक्ति करता था। दोनोंके दर्शन किये बिना उसका एक भी दिन न जाता था। वह जमुनाजीके तीर पर रहता और खाता, पर रोज नहाने गंगाजी पर जाता। बीचमें

राक्षसके समान राड़ी पर्वत खड़ा था। उसने कभी एक क्षणके लिए भी उसकी परवाह न की। पन्द्रह-बीस मीलका अन्तर काटना उसके लिए खेल था। जब तक शरीरने साथ दिया, उस व्रतनिष्ठ ऋषिने इस नियमका बराबर पालन किया। पर जब शरीर नितान्त क्षीण हो गया, तो उसने गंगाजीकी स्तुति की। गंगाजीको उस पर दया आयी। फल यह हुआ कि जमुनाजीके तीर पर उसके आश्रमके निकट श्वेत जलके झरनेके रूपमें गंगाजी प्रकट हुई। ऋषि कृतार्थ हुआ। इस नूतन गगामें नहानेके लिए ऋषि कितने दिन जिया, 'माहात्म्य' में इसका कही उल्लेख नही है। हम उस झरनेको देख आये। मेरे मनमें ऋषिके लिए ऐसी भक्ति पैदा हुई, मानो वह मेरे ही गोत्रका कोई पूर्वज रहा हो। वह जितना बड़ा तपस्वी था, उससे भी बढ़कर कवि था। कविकी यह व्याख्या कि 'जो काव्य लिखता है वह कवि है' अव्याप्त भी है और अतिव्याप्त भी। पर यथार्थ व्याख्या यह है कि 'जिसका जीवन ही काव्य है, वही कवि है।' उस ऋषिने अधिक नहीं, तो कम-से-कम तीस-चालीस वर्षों तक गंगा और यमुनाकी उपासना अवश्य की होगी। इसे अपने जीवनका एक नियम बनाते समय उसके हृदयमें कैसे-कैसे भाव उद्भुत हुए होंगे? और उस नियमके पालनमें प्रतिदिन उसे कितना आनन्द आया होगा? चारों धामोंकी यात्रा करते हुए प्रतिदिन नये-नये अनुभव करनेमें एक प्रकारकी संस्कारिता निहित है, परन्तु प्रतिदिन दो बार उसी रास्तेका चक्कर लगाने पर भी उससे रोज नये-नये आनन्दका अनुभव करनेमें एक-दूसरे प्रकारकी, निश्चित स्वरूपकी और गहरी संस्कारिता निहित है। प्रतिदिनके इस क्रमके कारण इस ऋषिका उस पहाड़के पेड़ोंसे ही नहीं बल्कि एक-एक बादलसे भी परिचय हो गया होगा। उसके सामने न जाने कितने पौधे पेड़ बन गये होंगे। उसने न जाने कितनी बार जमुनाका जल घटते और बढ़ते देखा होगा। और कुतूहलके योग्य कुछ भी न रह जानेके कारण उसकी रोजकी यात्रा उसे अपने चित्तको अन्तर्मुख बनानेमें सहायक हुई होगी। यह एकाग्रताका फल है। संसारका अनुभव है कि बड़ी-से-बड़ी व्यावहारिक और आध्यात्मिक समस्या हल करनेमें ऐसी एकाग्रता पत्थर फोड़नेवाली सुरंगसे भी अधिक परिणामकारी सिद्ध होती है।

उन यामुन ऋषिका ध्यान विसर्जन कर ज्यों ही मैं अपने आसपास देखने लगा, तो न स्वामी दिखाई दिये और न बाबाजी ही। वे कुछ दूर एक झोंपड़ीमे ताजा मक्खन खरीदनेमें मशगूल थे। मैं भी वहीं पहुंच गया। उस गोरसको हमने उन ऋषिका ही प्रसाद समझा, और उसी भावनासे उसे 'पाकर' हम आगे बढ़े।

३२. राणागांव

गंगाणीको छोड़ हम आगे चले। नित्यकी तरह स्वामी तेजीसे सबके आगे चल रहे थे। बाबाजी उनके पीछे-पीछे उनकी बराबरी पर आनेकी कोशिश करते हुए चल रहे थे और स्पर्धामें विश्वास न होनेके कारण मैं अपनी चालसे धीरे-धीरे रास्ता तय कर रहा था। फुर्ती और थकावट दोनोंसे मेरी दोस्ती कम-से-कम थी। कुछ आगे जाने पर हमने विचित्र पोशाकवाले पहाड़ी स्त्री-पुरुषोंकी एक छोटी-सी छावनी देखी। यह कोई स्थायी गांव न था। किसी खानाबदोश टोलीका कामचलाऊ निवास था। इन बनजारा जातियोंकी स्त्रियोंकी पोशाकमें, हाव-भावमें और आंखोंमें एक प्रकारकी उग्रता और लुटेरापन होता है। 'अबला' या 'ललना' नाम इनके लिए होता ही नहीं। इस जातिकी स्त्रियोंके पाससे होकर गुजरते समय मनमें एक तरहका डर-सा बना रहता है। बनजारोंकी दूसरी विशेषता है उनका आलस्य। जो कुछ करना होता है, सो अचूक कुशलतापूर्वक फौरन कर डालते हैं और फिर आलस्यमें मग्न हो जाते हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है, मानो वे इस चिन्तामें हों कि ईश्वरने इतना सारा फालतू समय क्यों पैदा किया है? आखिर ऊबकर जम्हाइयां ले-लेकर वे उसकी पूर्ति करते पाये जाते हैं। इस छावनीके पाससे रास्ता यकायक दाहिनी तरफको मुड़ता था। इसलिए सही रास्तेका निश्चय करनेके लिए हमें वहां ठहरना पड़ा, और जबरदस्ती इन लोगोंका निरीक्षण करना पड़ा। आगे चलकर रास्ता बहुत विकट आया। स्वामी, बाबाजी और मैं तीनों इकट्ठे होकर इस विचारमें डूब गये कि आखिर रास्ता किस दिशामें हो सकता है। आगेका प्रदेश बड़े-बड़े बिखरे हुए, हड्डी होकर पड़े हुए पत्थरोंसे भरा हुआ था, मानो पांच-दस पहाड़ोंके बीच घमासान युद्ध हो गया हो, और अब रणभूमि पर विनाश-के अवशेषोंके सिवा कुछ भी न बचा हो! जिधर नजर दौड़ाइये पत्थर ही पत्थर! दूर नजर डालने पर एक पहाड़ीकी बाजू दीखती थी, मगर वह भी पत्थरोंके ढेरोंकी ही बनी थी। हम सहज ही अनुमान कर सके कि पृथ्वीके पेटमें कोई उत्पात हुआ होगा और किसी पहाड़के चूर-चूर हो जानेसे पत्थरोंकी बाढ आ गयी होगी।

अब इस पहाड़ी रणक्षेत्रमेंसे रास्ता किस तरह निकालें? रणनदी-सी जमुना बीच-बीचमें 'मत जाओ' कहती थी। आखिर स्वामीने एक जगह एक कामचलाऊ पुल खोज निकाला। हरएक पहाड़ी मनुष्यको पुल बांधना आना ही चाहिये। फौजमें कामचलाऊ पुल बांधनेमें कुशल लोगोंकी एक अलग टुकड़ी ही होती है। पहाड़ी लोगोंके लिए पुल बांधनेकी कला एक जीवन-कला है। उस पुल परसे अपने शरीरको भलीभांति साधते हुए हम आगे गये। आगे चलकर एक पत्थरके नीचे दबा हुआ कागजका एक टुकड़ा मुझे मिला। उस पर अंग्रेजीमें जो कुछ छपा था उसे ध्यानसे देखा, तो त्रिकोणमितिके कुछ अंक एक कोष्ठकमें लिखे हुए दिखाई दिये।

मैंने उस कागजसे उसकी जीवन-कथा बार-बार पूछी, परन्तु त्रिकोणमितिके अंकोंके कोष्ठकोंकी पुनरावृत्तिके सिवा और कुछ बतलानेसे उसने इनकार किया। उसने सोचा होगा, 'जो गणित नहीं जानता, उससे क्या बात करें?' कोई सरकारी अधिकारी अथवा साहसी यात्री इस रास्ते गया होगा। वह बर्फमें दब गया होगा, या बाघ-भेड़ियेका शिकार बना होगा—कौन जाने क्या हुआ होगा? उसका सामान आंधी और पानीसे तितर-बितर हो गया होगा या गल गया होगा, और उसके कागजोंमें से यह एक अवशेष उड़ता-उड़ता आकाशमें विहार करता रहा होगा। 'यों बार-बार क्यों उड़ता फिरता है? चुपचाप बैठा रह न भाई।' ऐसा कहकर कोई पत्थर उसकी छाती पर सवार हो गया होगा, और अब यह कागज किसी उद्धारके आगमनकी राह देखता यहां पड़ा होगा। यहांके 'लेण्डस्लिप' के स्मृतिचिह्नके रूपमें कई दिनों तक मैंने कागजके उस टुकड़ेको संभालकर रखा था। परन्तु बादमें उसका क्या हुआ, कुछ पता नही। अगर कागजका वह टुकड़ा मुझसे बोला होता, तो कदाचित् मैंने उसे किसी पदार्थ-संग्रहालयमें रख दिया होता। घन-घोर जंगलमे, जहां मनुष्यकी बस्तीका नाम-निशान नहीं, जहां पर्वतके उत्पात और जल-प्रवाहके प्रपातकी ही लीला छाई हो, वहां मनुष्यके दिमागसे पैदा हुई त्रिकोणमितिके कागजका टुकड़ा मिल जाय, तो किसे इसका विस्मय न होगा?

बड़ी मुसीबतसे रास्ता निकालते-निकालते हम आगे चले। इतनेमें दो पहाड़ोंके बीचसे निकलकर गूढ़ भावसे आती हुई जमुना हमें दिखाई दी। पानीका रंग और स्थिरता देखकर मनमें निश्चय हुआ कि यहां गहरा दह है। आगे जानेका कोई रास्ता न था। दाहिनी तरफ खड़ा पहाड़ था और बायीं तरफ पर्वतके पैर पखारनेवाला पानी। जब निश्चय हो गया कि पानीमें पैर डाले बिना आगे बढ़ा ही नही जा सकता, तो पहाड़ी पगडंडी पकड़कर हम पानीके किनारे-किनारे पानी काटते हुए आगे बढ़े। इस तरह पानी ही पानीमें बहुत दूर तक जानेकी बात नही थी, फिर भी पानीने हमारी खासी खातिरदारी की। पानीकी ठण्डक घुटनों और कमरसे ऊपर चढ़कर कलेजे तक पहुंच गई।

अब चढ़ाव लगा। अंधेरा बढ़ चला। ज्यों-त्यों करके राणागांव पहुंचे। यहां शनैश्चर महाराज ग्रामदेवताके रूपमें पूजे जाते हैं। हम उनके काठके मंदिरमें जा पहुंचे। थकावट इतनी आ गई थी कि कड़ाकेकी सर्दी होने पर भी पैर फैला करके ही सोनेकी इच्छा होती थी। गांवके लड़के कुतूहलपूर्ण नजरसे हमारा स्वागत करते थे। अगर लड़के शहरके हैं, तो वे यात्रीसे एकाध कहानी सुनानेका आग्रह जरूर करेंगे। और अगर शहरसे लगे हुए किसी गांवके लड़के हैं तो वे सलाम करके पैसा मांगेंगे। हमारी तरफके देहाती बालक तरह-तरहके सवाल पूछते हैं—"आप कहांसे आये हैं? आपके गांवमें अमुक क्या है? तमुक क्या है?" इस तरफके लड़के यात्रीसे एक ही चीज मांगा करते हैं—"सूई दो, धागा दो, बिन्दी दो!" पहाड़ी स्त्रियां

और लड़कियां कपाल पर रोरीका तिलक लगाकर उस पर अबरक या 'बेगड़' की टिकिया अथवा छोटी-सी टिकुली लगा लेती हैं। उसे उधरके लोग 'बिन्दी' कहते हैं। पहाड़ी लड़कियां इस बिन्दी पर निछावर हो जाती हैं। हिन्दुस्तानका कोई यात्री पहाड़ोंमें जाये और अपने साथ सुई, धागा और बिन्दी ले जाये, तो हर किसी गांवमे उसका सत्कार जरूर होगा। मन्दिरके सामनेवाले कमरेमे एक गड्ढा था—ठीक वैसा जैसा हमारे यहांके अखाड़ोंमें कुश्तीका होता है। हम उसीमे सो गये। एक पहाड़ी कुत्ता गुर्राता हुआ सारी रात हमारी रखवाली करता रहा। आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि पहाड़की गायें भेड़-बकरियोके बराबर छोटी-छोटी होती हैं; जब कि पहाड़ी कुत्ते बाघकी तरह बड़े होते हैं।

आधी रातको थकान उतरी और मैं लघुशंका करने बाहर गया। सामने पहाड़का एक प्रचण्ड शिखर अनन्तकालसे बर्फ ओढ़कर सो रहा था और उस पर चन्द्रमाका शीतल प्रकाश सोनेके पानीकी तरह चमक रहा था। आधी रातकी बे-सिर-पैरकी कल्पनाने उस पहाड़में महादेवजीका माथा देखा। सामने विशाल भाल प्रदेश था, उसके नीचे दो आंखों-सी वे दो घाटियां, उनके बीचमें वह चपटी नाक, उसके नीचे मुहके साथ एकाकार बनी हुई विचित्र-सी ठोड़ी, और दोनों कान तो ऐसे लगते थे मानो रूठकर दूर जा बैठे हों; और महादेवजीका वह माथा तना हुआ न था, बल्कि ऐसा मालूम होता था, मानो थकनेके बाद आराम लेनेके लिए एक ओर ढल पड़ा हो। आसपासकी ठंड फौजी कानूनकी तरह मन्दिरके अन्दर जानेका हुक्म दे रही थी, फिर भी पहाड़का वह विशाल दृश्य किसी भी तरह पैरोंको उठाने नही देता था। जब कि चारों तरफका पानी जमकर बर्फ बन चुका था, ऐसे समय काव्यकी प्यासी कल्पना उस दृश्यका पान करनेमें लीन थी। आकाशमे बृहस्पतिका तारा वृश्चिक राशि पर विराजमान था।

सवेरा हुआ और गांवके भक्त लोग लम्बे-लम्बे और मोटे चोगे पहनकर मन्दिरमें आने लगे। यह सोचकर कि अब यहां और अधिक रहनेकी जरूरत नही, हम आगे बढ़ गये।

३३. जमनोत्री

जब पहाड़ोंमें कुहरा छा जाता है, तब अक्सर यात्रियोंको अद्‌भुत दृश्य देखनेको मिलते हैं। चारों तरफ गाढ़े दही-सा कुहरा फैला होता है, जिससे आदमी अपने आगे-पीछे एक हाथसे ज्यादा दूरकी कोई चीज देख ही नही पाता। अगर आमने-सामनेसे लोग दौड़ते हुए आयें तो आपसमें टकराये बिना न रहें। यदि इस बीच बादल बिखर जायं और सूर्यकी किरणें अपना प्रताप प्रकट कर सकें, तो वही कुहरा

बातकी बातमें गायब हो जाता है, और विशाल व व्यापक सृष्टि फिर यकायक प्रकट हो जाती है। आश्चर्यमग्न होकर हम इधर-उधर देखने लगते हैं कि इतनेमें ईर्षालु बादल फिर आकाशके कपाट एकदम बन्द कर लेते हैं, और हम तुरन्त ही कुहरेके क्षीरसागरमें निमग्न हो जाते हैं, और फिर कही कुछ दिखाई नहीं देता। इस इन्द्रजालको देखनेमे एक अनोखा मजा आता है। जब स्मृतिके आकाशमें विस्मृतिके बादल छा जाते हैं, तो स्मरण-यात्राकी भी यही दशा होती है। यात्राके कुछ संस्मरण कुतूहल या निरीक्षणके कारण बरसोंके पटल भेदकर ताजेके ताजे दिखाई देते हैं, जब कि कई बड़े-बड़े भू-प्रदेश विस्मृतिके कुहरेमें अदृश्य हो जाते हैं। हमने राणागांव छोड़ा और हम जमनोत्री पहुंचे। पर इन दोनोंके बीचका प्रदेश कैसा था, उसमे क्या-क्या देखा था, सो सब आज स्मृतिकी पहुंचसे बाहर हो गया है। वह सब गया। सफलतापूर्वक गया। सदाके लिए गया। पांच-पाच, दस-दस कदम पर थकान उतारनेके लिए ठहरना पड़ता था। परन्तु आज तो इतना ही याद पड़ता है कि जरा देर ठहरते ही ठंडी हवा हमें सहलाकर फिर तरोताजा बना देती थी।

विस्मृतिके पटलसे बाहर निकलने पर दृष्टिके सामने यह चित्र खड़ा होता है कि हम जमनोत्रीकी घाटीमें नदीकी दाहिनी ओर वाले ऊंचे पर्वत परसे जल्दी-जल्दी नीचे उतर रहे थे। और साथ ही यह भी याद आता है कि उस समय मै अपनी आत्मकथाके कुछ महत्त्वके प्रकरण बाबाजीके सामने खोल रहा था।

पहाड़ोंकी भयानक भूमिमें हरएक नदीके दोनों किनारों पर उसकी रखवाली करनेवाले पहाड़ होते ही हैं। पर जमुनाजीने जमनोत्रीके आसपास रखवालोका जैसा साथ जमाया है, वैसा तो शायद ही कही दूसरी किसी नदीको नसीब हुआ होगा। हिमालयके असंख्य भव्य दृश्योंमे जमनोत्रीके निकटका दृश्य अपने शैत्य, पावनत्व और भीषण गाम्भीर्यके कारण कुछ निराला ही नजर आता है। 'लोक-माता' नामक अपनी एक पुस्तकमें मैंने 'यमुनारानी' नामसे जो लेख लिखा है, उसमे इसका थोड़ा वर्णन किया है। जिस दृश्यने हृदयके एक-एक कोनेको झकझोर डाला हो, उसका वर्णन एक बार एक प्रकारसे करनेके बाद फिर दूसरे प्रकारसे उसका वर्णन करना हमे अच्छा ही नहीं लगता। फिर एक ही बातको बार-बार एक ही तरहसे कहते रहना भी उचित नही।

परन्तु उस शीत प्रदेशमें कालिन्दीके किनारे बसनेवाले असित ऋषिकी याद आये बिना रहती ही नही। चारों तरफ फैले हुए बरफीले पहाड़ोंके बीच उन दिनों वे असित ऋषि कैसे शोभते होंगे? जिनकी जीवन-भेदी कल्पनाओंके विकासके लिए जमनोत्रीसे नीची कोई जगह काम नहीं आयी, उस ऋषिकी साधना कितनी उग्र रही होगी? यहां रहकर उस ऋषिने भूत और भविष्य कालके इतिहासमें कितनी सदियों तक नजर दौड़ायी होगी? उसने यहां बैठकर मानव-कल्याणके अनेक

संकल्प सेये होंगे। अगर उसीका प्रभाव हमारी आजकलकी राष्ट्रीय प्रवृत्तिमें सूक्ष्म रूपसे काम कर रहा हो, तो भी हम उसे जानें कैसे? यह माननेके बजाय कि यहां गरम पानीके कुंड देखकर ऋषिने इस स्थानको चुना होगा, मेरा झुकाव यह माननेकी तरफ है कि ऋषिके यहां रहनेका निश्चय करने पर उसके संकल्प-बलसे विवश होकर प्रकृतिने अपने निश्वासके रूपमें यहां उष्ण झरने प्रकट किये होंगे। यहांके पानीमें गन्धककी गन्ध तक नही है। किसी बड़े इजनकी चालकी तरह छक्-छक् फक्-फक् का उसका गाना निरन्तर चलता ही रहता है।

हमने वहां रात इतने आनन्दसे बिताई, मानो किसी लम्बे सफरके बाद घर पहुंचे हों। गरमी और ठंडके बीच करवटें बदलते हुए हम रातके एक-एक क्षणका माधुर्य चख सके। हमने अपना एक घंटा भी गहरी नीदमें नहीं खोया। क्या प्रकृतिने ऐसे स्थान किसी उद्देश्यके बिना ही निर्मित किये होंगे? आज न तो कोई बड़ा संकल्प करता है, और न उसकी साधना ही। आज तो ऐसे स्थान भक्तिकी तृप्ति और काव्यके उन्मादके लिए ही उपयोगी हैं। हमारे जीवनमेंसे साधना जाती रही है, इसलिए ऐसे स्थानोंमें साधक कही ढूंढ़े भी नही मिलते।

३४. ऊपरीकोटकी चढ़ाई

अनबिंधे मोतीकी कीमत ज्यादा समझी जाती है। शकुन्तलाको देखकर दुष्यन्तको भी 'अनाविद्धं रत्नम्!' का स्मरण हो आया था। जमनोत्रीका तीर्थस्थान कुछ-कुछ इसी कोटिका है। साधारण यात्रियोंको बदरीनारायणकी अपेक्षा केदारनाथका आकर्षण कम होता है, और गंगोत्रीकी अपेक्षा जमनोत्रीका। तिस पर जमनोत्रीका रास्ता आते-जाते बड़ा विकट है। इसलिए शरीर-प्रेमी यात्री इस तरफ आते ही नहीं। फलत: इधरकी जनता भी कम धूर्त होती है—बल्कि यों कहिये कि बिलकुल भोली होती है। यहांके पण्डोंमें आप अपनी गरीबी और भिखमंगेपनको छिपानेका लुच्चापन जरा भी न पायेंगे। उनका आहार नितांत सादा होता है। जब कभी कोई बीमार पड़ता है तो कालीमिर्च, जीरा, तेजपान, लौंग और सोंठ जैसी दवा लेते ही चंगा हो जाता है। यहां मैं पहली बार यह अनुमान कर सका कि अपना स्वाद बिगाड़नेके लिए और अंतड़ियोंको उम्रभर कष्ट देनेके लिए मसालेके रूपमें जो चीजें हम खाते हैं, असलमें वे गम्भीर बीमारीके समय बतौर दवाके ही बरती जाती थीं। मनुष्यने देखा कि अपचन हो जाने पर इस प्रकारकी गरम वनस्पतिसे वह दूर किया जा सकता है। इतना ज्ञान हो जाने पर मनुष्य खानेमें संयम पालने लगे, तो फिर वह मनुष्य ही क्या? मनुष्य यह बात भूल गया कि अजीर्ण या अपचनसे उसकी आबरू जाती है, प्रतिष्ठा कम होती है। वह

कोई पशु थोडे ही है जो प्रकृतिके प्रति सच्चा रहे ? जब उसे पतनकी स्वतंत्रता है तो पतित हुए बिना उसे सन्तोष कहा ? मनुष्यने ज्यादा खाना शुरू किया और साथ ही अपचनकी दवा खानेका नित्य-नियम बना लिया, और यो प्रकृतिसे बैर ठान लिया। उसे दवाका चसका लग गया। फलत. दवा दवा न रहकर मसाला बन गयी। और जब मसाला खाने पर भी अपचन रहने लगा, तो आज मनुष्य-जाति इस सोचमे पडी है कि आगे क्या करे ? इधरके पहाडी लोग अभी भी आधुनिक सभ्यताकी बदौलत इतने बिगडे नही है। कालीमिर्च, तेजपान और लौग आज भी उनके लिए दवाका काम देते है। इतना लिखनेके बाद याद आया कि मेरी यात्रा तो पिछली पीढीमे हुई। क्या यह सभव है कि आज जमनोत्रीके निकटवर्ती समाजमे सभ्यता और प्रगतिका प्रवेश ही न हुआ हो ?

जमनोत्रीसे हम वापस राणागाव आये, और वहासे हमने ऊपरीकोटकी चढाई चढकर उत्तरकाशीकी ओर जानेका सकल्प किया। वातावरण ऊपरीकोटकी बातोसे भर गया, और ऊपरीकोटका माहात्म्य या दौरात्म्य हरएकके मुहसे सुनाई देने लगा। एक बोला—"अरे भाई, तुम यहा कहा आ गये ? ऊपरीकोटको लाघना क्या कोई आसान बात है ? जो काबुलकी लडाई और ऊपरीकोटकी चढाई जीतता है वही बहादुर है।' आगे चलकर अनुभव भी ऐसा ही हुआ।

यहा रास्तेमे हमने पहाडी लोगोका धार्मिक नृत्य देखा। इन लोगोके चेहरेकी बनावटमे हिन्दुस्तानी और चीनी ढबका मिश्रण होता है। उनके चेहरे पर स्वास्थ्य नामकी कोई चीज नजर ही नही आती। उनका मुह कुछ ऐसा लगता है, मानो एक साथ रोने और हसनेकी तैयारी करके बैठे हो ! ठडी हवाके कारण उन्हे मोटे ऊनी कपडे पहनने पडते हैं। पैरोमे मोटे-मोटे जूते होते है। उन पर ऊपरकी तरफ ऊनी बेलबूटे बने रहते हे। सारा स्वाग बडा मजेदार मालम होता है। वे लोग एक मन्दिरके सामने नाच रहे थे। उनमे बूढे भी थे और नौजवान भी। कुछ लोगोने पहाडी पत्थरकी पतली तख्तिया पीठ पर बाध ली थी और वे उसी हालतमे नाच रहे थे। उनके उस नाचमे न तो लास्य था और न ताडव ही। फिर भी जब कोई क्रिया किसी निश्चित नियमके अनुसार बार-बार की जाती है, तो उसमेसे कोई-न-कोई भाव उत्पन्न होता ही है। जब घबराई हुई भैसे एकके पीछे एक दौडने लगती है, तो उन्हे देखनेमे जो मजा आता है, कुछ वैसा ही मजा इस नाचमे भी आ रहा था। पर मै तो उस समय यही सोच रहा था कि इस नृत्यके मूलमे कौनसी धार्मिक भावना निहित है और इन पत्थरोका प्रयोजन क्या है ? मैने सोचा कि दूर-दूरसे ऐसे पत्थर लाकर उनके साथ नाचने और फिर उन्हे मन्दिरमे चढा देनेमे कोई खास पुण्य लगता होगा, क्योकि उस मन्दिरका छप्पर पत्थरकी ऐसी तख्तियोका ही बना हुआ था। ये लोग पत्थरोको चौकोन या लम्ब-चौकोन बनानेका जरा भी यत्न नही करते—जैसे-तैसे उन्हे छप्पर पर बिछा देते है। पर उनमे इतनी कला जरूर होती

है कि छप्पर किसी जगह जरूरतसे ज्यादा मोटा या बेडौल नही होने पाता। और भीतर पानी या बरफका डर बिलकुल नही रहता।

ऊपरीकोटकी चढ़ाईके आरम्भमें ही पैर फिसलने लगे। कही-कहीं हमें इस बातका सबूत भी देना पड़ा कि असलमें मनुष्य चौपगा जानवर है। गीली जमीनमेसे बाहर निकली हुई जड़ें पकड़-पकड़कर हम ऊपर चढ़ पाये। यह जानकर कि आजकी चढ़ाई मुश्किल होगी, बाबाजीने सवेरे हमें अच्छा खासा नाश्ता करा दिया था। नाश्ता कर चुकने पर हमने चलना शुरू किया। चलना शुरू किया कहनेकी अपेक्षा यह कहना अधिक सच होगा कि हम रूठे हुए पहाड़से अनुनय करने लगे। हम कुछ आगे बढ़ गये और हमारे कुली बदस्तूर कुछ पीछे रह गये। ऊपर कही भी मनुष्यकी बस्ती का नाम-निशान न था। जंगलमें कही-कही इतने सुन्दर फूल खिले थे कि उन्हें देख कर सहज ही मनमें यह आशा पैदा हो जाती कि पास ही कही किसी ऋषिका कोई आश्रम होगा। केवल जंगल ही जंगल होता तो एक ही किस्मके फूल चारों ओर दिखाई देते। परन्तु यहां तो यत्र-तत्र भांति-भांतिके फूलोंकी सजावट नजर आती थी। कौन सोच सकता था कि यहां प्रकतिमें उड़ाऊपनके साथ-साथ खिलाड़ीपन भी होगा? मीलों चलने पर भी मनुष्यकी बस्ती तो ठीक, मनुष्य-प्राणीका भी दर्शन नही होता था। हम तीनोंमें एक बाबाजी ही ऐसे थे, जिन्हे रास्ता भूलनेकी कला हस्तगत हो गई थी। जहां हमें बिना चूके ठीक रास्ता मिल जाता, तहां बाबाजी अचूक गलत रास्ते जाकर कहीं भटकते रहते। जंगलमेंसे गुजरते वक्त भी अक्सर उन्हीके घुटने या कुहनी पेड़ोंसे टकरा जाती।

आखिर हम ऊपरीकोटके शिखर पर पहुंचे। जिधर देखिये, बरफ ही बरफ। पानीके अभावमें हम इस बरफको ही थोड़ा तोड़-तोड़कर खाते थे। जिस तरह गुलकन्दमे शकरके दाने या रवे होते हैं, इस पहाड़ी बरफमें भी बरफके वैसे ही दाने पाये जाते हैं। इस बरफको खानेमें मजा तो बहुत आता है, पर प्यास बुझाना इसका काम नही।

ऐसी जबरदस्त चढ़ाई चढ़नेके बाद भूख लग आये, तो उसमें बेचारी भूखका कसूर क्या? लेकिन वहां खानेका प्रबन्ध भी क्या था? पहाड़की चोटी परसे चाहे जिस दिशामें निगाह दौड़ाइये, बादरू या कैरासिंह कहीं दीखते ही न थे। धीरज-का मेरा बांध टूट गया। मैंने कहना शुरू किया, 'ये कुली कहां गये? क्या हुए? कहीं फिसलकर ढेर तो नहीं हो गये?' वगैरा-वगैरा। उनके भाग जानेकी शंका तो हममेंसे किसीको एक क्षणके लिए भी न हुई। ये पहाड़ी लोग स्वभावसे भगेड़ू नहीं होते। और जब सरकारी अधिकारीके सामने कोई इकरार हो जाता है, तो कोई भागनेकी हिम्मत भी नहीं करता। इन लोगों पर सरकारकी निगरानी लगभग गुलामोंकी-सी होती है।

शिखर पर एक बड़ी किन्तु कुछ ढलती-सी चट्टान है। इसलिए उसकी आड़में

वर्षासे बचनेके लिए थोड़ा सहारा-सा मिल सकता है। इधरके लोग उसे गुफा कहते हैं। गिरने-गिरनेको हुई कोई दीवाल जरा एक तरफ झुक जाय तो क्या हम उसे गुफा कह सकते हैं? पर इस पहाड़ पर यही एक गुफा है, जिसके सहारे मनुष्य आकाशके तोपखानेसे बच जानेकी कुछ आशा रख सकता है।

इस प्रदेशमें इस ऋतुमें बादलोंका कार्यक्रम बड़ा नियमित होता है। रातको बादल जहां तहां घाटियोंमें सोते रहते हैं। आठ-नौ बजे जम्हाइयां लेते हुए उठते हैं। धीरे-धीरे फिसलते-फिसलते—पर फिसलकर नीचे जानेके बदले वे ऊपर उठते हैं, इसलिए उन्हें तो उछलते-उछलते कहना चाहिये न?—घाटीकी चोटी पर पहुंचते हैं। फिर मन-ही-मन उड़ने या न उड़नेकी उधेड़-बुनमें अपना बहुत-सा वक्त बितानेके बाद अन्तमें पंख फड़फड़ानेकी आवाज किये बिना ही उत्तरकी तरफ चले जाते हैं। सभी उत्तरकी तरफ जाते हैं, मानो सेना एकत्र करनेका 'समय' वहीं हो। वहां सब मिलकर लगभग तीन बजे तक रणनीतिकी मंत्रणा करते रहते हैं। जहां तीन सवा तीनका वक्त हुआ कि दक्षिण पर उनकी चढ़ाई शुरू हो जाती है। जहां जरूरत मालूम होती है वहां बीच-बीचमें थोड़े-थोड़े बादल बरस पड़ते हैं, और नीचेकी सृष्टिको चित कर देते हैं। ऊपरवाले बादल विजयके आनन्दमें आगे बढ़ते हैं। ऊपरीकोट-जैसे बड़े पहाड़ पर बरफके छोटे-छोटे कन या ओले गिरानेसे काम कैसे चले? वहां तो नींबू और आमके बराबर बड़े-बड़े ओलोंका ही तोपखाना चलना चाहिये। ओलोंका नाम सुनते ही यहांके पहाड़ी लोग भी कांप उठते हैं। क्योंकि एक भी बड़ा-सा ओला कनपटी पर बैठ जाय, तो आदमी वहींका वहीं ढेर हो जाय। हम अपने छाते कुलियोंको दे रखते थे। सारा दिन भीगते रहना तो एक इष्टापत्ति ही थी। यों चलनेसे शरीरमें आई हुई गरमी कुछ कम हो जाती थी। जो कसकर इतना चले और जमकर खाये, वह बीमार ही क्यों पड़े? अलबत्ता रातको ओढ़ने-बिछानेके कपड़े सूखे होने चाहिये, नहीं तो अलावकी शरण लेनी पड़ जाय।

और फिर इस पहाड़ पर कुली भी छाता खोलनेकी हिम्मत क्यों कर करें? ओलोंसे छातोंकी छलनी तो हमे बनवानी नहीं थी!

हम गुफाके पास पहुंचे और टकटकी लगाकर चारों तरफ देखने लगे। हमारी चर्चाका अन्त हो गया; लेकिन हमारे कुलियोंको हम पर दया न आई। उनमेंसे एकने भी हमें दर्शन न दिये। तीन बजनेको थे इसलिए वहां रहनेमें भी खैरियत न थी। इतनेमें दूरसे कुछ यात्री आते दिखाई दिये। थोड़ी देरमें नजदीक आ पहुंचे। हमें इतनी खुशी हुई मानो भगवान मिल गये हों। हमारी परेशानी जानकर उन बेचारोंने हमें आटा, नमक, तवा, लकड़ियां आदि थोड़ा-थोड़ा सब सामान दिया और कहा—"देखो, पकानेमें ज्यादा देर न लगाना। अभी ओले गिरेंगे। हमारी तो यहां रुकनेकी हिम्मत नहीं। हमारे बर्तन-भांडे आप लोग हमें नीचेके गांवमें लौटा देंगे तो भी काम चलेगा।" वे हमारे जवाबके लिए भी न रुके।

बाबाजीने रोटियां बनाईं। मैंने या स्वामीने बरफ कूटकर पानी तैयार किया। नमककी मददसे या सच पूछिये तो भेड़िये-जैसी भूखकी मददसे रोटियां जैसे-तैसे निगलीं, और हम पहाड़ उतरने लगे। हमें देर हो गई थी, इसलिए जल्दी उतरना पड़ा। यह तो मैं कह ही चुका हूं कि पहाड़से उतरते समय हम तिपाये हो जाते थे। उतारमें एक पैरका उतरना पुसा सकता है, मगर हाथकी लकड़ीका टूटना या उसे भूल जाना पुसा नही सकता। ज्यों ही हम नीचेवाले गांवके नजदीक पहुंचे, हमें हमारे हितकर्ता यात्री मिले। हमारी फुर्ती देखकर उन्हें ताज्जुब हुआ। उनमेंसे एक ने कहा—"हमारे साथकी एक बुढ़िया पैर फिसलनेसे गिरी और इतनी जोरसे लुढ़की कि हमने उसकी आशा ही छोड़ दी थी। लेकिन सौभाग्यसे नीचेकी तरफ एक यात्री खड़ा था। उसने बुढ़ियाको लुढ़कते देखा और अपनी लम्बी लाठीसे उसकी महा-यात्रा को रोका।" वह सांझ सब लोगोंने इसी एक चर्चामें बिताई।

जिन लोगोंने पहाड़मे अड़चनके मौके पर हमारी मदद की थी और हम पर इतना विश्वास किया था, वे अमीर नही थे बल्कि उन लोगोंमेंसे थे, जो उम्रभर मेहनत-मजदूरी करनेके बाद मुश्किलसे एक यात्राके लायक पैसे बचा पाते हैं। इन लोगोंके लिए यह यात्रा प्रकृतिका सौंदर्य देखनेकी सैर नही, बल्कि सारे जीवनको सार्थक करनेका एक सुयोगमात्र थी। बहुतेरे गरीब बारह-बारह बरसकी कड़ी मज-दूरीके बाद अपनी शादी कर पाते हैं। कई ऐसे हैं जो तीस-तीस चालीस-चालीस बरस तक आधापेट खाकर अपने लिए रहनेका घर बना पाते हैं। इसी तरह परमार्थ-को परम अर्थ माननेवाले ये भक्त सारे जन्मकी कमाई इकट्ठी करके ऐसी यात्रा करने निकलते हैं। सही-सलामत घर लौटे तो भी क्या, और रास्तेमें ही स्वर्गवासी बन गये तो भी क्या? सार्थकता दोनों ओर एक सरीखी है। ऐसे लोग निःसंकोच दूसरे यात्रियोंकी मदद करते हैं। उनके इस त्याग पर किसीको कोई अचरज नहीं होता। मनुष्यके हृदयमें मानव-प्रेम, प्राणिप्रेम विद्यमान है, इसीलिए आज मानवोंका अस्तित्व बना हुआ है। पुलिस या फौजसे या उनके हाथों अमलमें आनेवाले कायदे-कानूनसे मानव-समाज न कभी टिका है, न टिक सकता है।

जब हम नीचे गांवमें पहुंचे तो वहांका मन्दिर और धर्मशाला दोनों खचाखच भर चुके थे। आंगनमें भी लोग पड़े हुए थे। आंगनके आसपास दीवाल थी। दीवाल-से लगा हुआ एक चबूतरा था। उस चबूतरेको खाली देखकर बाबाजीने बड़ी फुर्तीसे अपना बिछौना बिछा दिया। परन्तु इतनेमें वहां एक विघ्न उपस्थित हो गया। गांव-के लोग एकदम बाबाजी पर बरस पड़े। हम समझ न सके कि वे क्या कह रहे हैं। कारण ध्यानमें आता न था और धीरजसे कोई बात न करता था। बाबाजी जहांके तहां हक्के-बक्के-से रह गये। बाबाजीके बरतावमें वांछित परिवर्तन न देखकर गांववाले और भी झल्लाये। यात्री बैठे सारा हाल देख रहे थे। आखिर ऐसा मालूम होने लगा कि बात मारपीट तक पहुंचेगी। सारे दिनकी थकावटके बाद

थोड़ेसे मुष्टि-मोदक उपयोगी तो होते, परन्तु वे हमारे नसीबमें बदे न थे। इसलिए एक सज्जनने हमें समझाया कि यह चबूतरा महज चबूतरा नहीं है, बल्कि पांडवोंके बैठनेकी जगह है ! मैंने अपने ढंगसे लोगोंको समझाया कि अगर बाबाजीको इसका पता होता तो वे उन आदमियोंमें हैं, जो चबूतरेका तो ठीक हस्तिनापुरके राजपाट-का भी लोभ नही करते। प्रसंग जानकर मैंने तुरन्त धर्मात्माका अवतार धारण किया और लोगोंको खूब फटकार सुनाई—"जहां पांडव निवास करते हैं, वहा न तुलसीका क्यारा है, न फूल चढ़े हैं, और न छोटे-छोटे पौधोंकी कोई बाड़ ही है यह कैसी लापरवाही !" हमला करने आये हुए ग्रामीण गरीब गाय-से बनकर अपने बचावमें कहने लगे—"हम गांवके गंवई ठहरे, हम यह सब क्या जानें ?"

उस रात मैंने भोजन नहीं किया। सारी यात्रामें मेरे भूखे रहनेका यही एक उदाहरण था। मुझे याद पड़ा कि उस दिन मेरी माताका श्राद्ध था। स्वामीने कहा—"सुबह उठकर बहुत चलना है, अभी नहीं खाओगे तो काम कैसे चलेगा ?" मैंने जवाब दिया—"कल भी उत्तरकाशी पहुंचकर ही खाऊंगा !" यहां मंत्रयुक्त श्राद्ध करनेकी सुविधा न थी, न मेरी वैसी श्रद्धा ही थी। सवेरे उठकर हम चले और कोई दस मील चलकर उत्तरकाशी पहुंचे।

३५/ उत्तरकाशी

हिन्दुस्तानके नक्शे पर सरसरी निगाह दौड़ाने पर भी सहज ही यह ध्यानमें आ सकता है कि गंगा नदीका प्रवाह आरम्भमें उत्तरसे दक्षिणकी तरफ और फिर अधिकांशमें पूर्व और दक्षिण दिशामें ही बहता है। इस इतने लम्बे प्रवाहमें यदि किसी स्थान पर इस नदीकी धारा दक्षिणसे उत्तरकी ओर बहती है, तो वह एक आश्चर्यका ही विषय है। इस प्रकारकी उत्तरवाहिनी गंगा तीन स्थानोंमें है। यह तो हम सब जानते ही हैं कि काशी वाराणसीका माहात्म्य इसलिए है कि वहां गंगा उत्तरवाहिनी है। उसी प्रकार हिमालय पर्वतमें गंगाजीके प्रवाहको दक्षिणसे उत्तरकी तरफ जाता देखकर हमारे पूर्वजोंको वह नितान्त अद्भुत दृश्य काव्यमय प्रतीत हुआ होगा, इसीलिए उन्होंने उस स्थानका नाम उत्तरकाशी रख दिया। एक बार काशीक्षेत्रके रूपमें उसे स्वीकार करनेके बाद तो काशीमें जितने मुख्य-मुख्य देवता हैं, उन सबकी वहां भी स्थापना करना क्रमप्राप्त ही था। उत्तरकाशीमें काशीविश्वनाथ हैं, बिन्दुमाधव हैं, मणिकर्णिका हैं, दत्तात्रेय और परशुराम हैं। जो कुछ काशीमें है वह सब छोटे पैमाने पर उत्तरकाशीमें मिलना ही चाहिये। (लाचारी है कि उत्तरकाशीमें बन्दर नहीं हैं। पर वहां जंगली गायें बहुत हैं।) उत्तरकाशी दो पहाड़ोंके बीच एक विशाल घाटीमें बसी हुई है। गरमियोंमें वहां बहुतसे साधु

रहते हैं। और क्यों न रहें ? जो गृहस्थ है, घरसे बंधा हुआ है, वह मनुष्य होते हुए भी स्थावर बन जाता है। गरमी हो या जाड़ा, वर्षाऋतु हो या पतझड़ हो, वह अपना स्थान छोड़ नहीं सकता। आजीविकाके कारण भी उसे एक ही स्थानमे घिरे रहना पड़ता है। पर साधु तो अनिकेत, अनागरिक ठहरे। वे भला क्यों बारहों महीने एक ही जगह पड़े रहने लगे ? दीवालीके उत्सव पर साधु लोग अमृतसर जाते हैं। जाड़ा हृषीकेशकी गरम घाटीमें बिताते हैं और ग्रीष्मऋतु आते ही गिरि-आरोहण करके उत्तरकाशी पहुंच जाते है। दुनियाका अधिक-मे-अधिक आनन्द अमीर और फकीरके लिए ही है—फर्क इतना ही है कि फकीरको फिकर नही होती। गरमियोंमें उत्तरकाशीकी हवा अत्यन्त आह्लाददायक होती है। हिमालयकी प्राणदायक वायु, पहाड़ी गेहूंका पौष्टिक आहार, और गंगाजीका अमृत जल। यहां-के साधु चार महीनोंमें इतने लालसुर्ख और मस्त बन जाते हैं कि एक-एकका शरीर देखते ही बनता है। ये लोग अन्नसत्रकी बनी-बनाई रसोई खाते हैं, आपसमें विभिन्न विषयोंकी चर्चा करते हैं, पहाड़ोंमें यथेच्छ घूमते हैं, और आने-जानेवाले यात्रियोंको आशीर्वाद देते हैं। कभी कोई चटपटी चीज खानेकी इच्छा हुई, तो आसपासकी भली पर्वतीय स्त्रियोंसे उसकी भिक्षा भी मिले बिना नही रहती।

उत्तरकाशीमें कई साधु चार-पांच महीनोंके लिए अपना एक कॉलेज भी खोल देते हैं। प्रकांड-से-प्रकांड विद्वान संन्यासी यहां आकर रहते हैं, विरक्त भावसे वेदान्तकी चर्चा करते हैं, श्रद्धालुको परिश्रमपूर्वक सिखाते हैं, और चिरन्तन शांतिमें जीवन व्यतीत करते हैं। अजायबघरके साथ जो प्राणी-संग्रह होता है, उसके बाघों और सिंहोंको जिस प्रकार दर्शकोंका उपद्रव सहना पड़ता है, उसी प्रकार यहांके साधुओंको यात्रियोंका उपद्रव विवशभावसे सहना पड़ता है। 'स्वामीजी महाराज, दर्शन दो'; 'स्वामीजी महाराज, कुछ उपदेश सुनाओ'; 'स्वामीजी महाराज, इतना सूखा मेवा खाओ; 'स्वामीजी महाराज', मेरी इस बहू को आशीर्वाद दो'; 'स्वामीजी महाराज, नजदीककी इस धर्मशाला तक चलकर थोड़ी-सी भिक्षा ग्रहण करो, भोजन करनेवाले बाट हेरते बैठे हैं'। इस तरहकी कोई-न-कोई हैरानी उनके पीछे लगी ही रहती है।

हमने काली-कमलीवालेकी बड़ी धर्मशालामे दो दिन मुकाम किया। धर्मशाला ठीक गंगाजीके किनारे है। पानीमें उतरनेके लिए सुन्दर घाट बना हुआ है। बाजार, डाकघर सब तरहका सुभीता है। नदीमें खूब अच्छी तरह नहाकर मैं कुछ संन्यासियोंसे बातें करने लगा। बाबाजीने यात्राके लिए कुछ आवश्यक चीजें खरीदने की व्यवस्था की और स्वामीको यहां डाकघर होनेके कारण इतना आनन्द हुआ कि वे खत-पर-खत लिखते बैठे। सांझको हम एक मन्दिरमें एक साधुके दर्शनोंको गये। वे एक विद्वान और योगीके नाते विख्यात थे। वही महाराष्ट्रके एक दंडी संन्यासीसे थोड़ी जान-पहचान हुई। वे पंढरपुरकी तरफके थे। उन्होंने हम लोगोंसे मराठी

बोलनेका यथेच्छ आनन्द लूटा। यहां स्थायी रूपसे रहनेवाले संन्यासी कैसे होते हैं, इसकी विस्तृत जानकारी देना भी वे न चूके। उन्होंने हमें वहांकी पहाड़ी भाषाके कुछ चुनिन्दा शब्दोंसे परिचित कराया। इन संन्यासीका शरीर दुबला-पतला था। मुंहसे दांतोंने इस्तीफा दे रखा था। फिर भी वे अपने विनोदी, मसखरे और बातूनी स्वभावका और अपनी हास्यरस-पटुताका परिचय देनेमें जरा भी न चूके।

उत्तरकाशीमें विश्राम करनेके बाद हम भटवाड़ी गये। भटवाड़ीका पुराना नाम भास्करपुरी है। भास्करसे भट कैसे हो गया, सो हमें कोई समझा न सका। एक पहियेके रथमें सात घोड़े जोतकर निरन्तर दौड़ लगानेवाले सूर्यनारायण भट अर्थात् बहादुर है, वीर हैं, इसमें शक ही क्या? भटवाड़ीमें देखने लायक कुछ नही था। लेकिन चूंकि हमने अपना गैरजरूरी सामान यहांकी एक दुकानमे रखकर गंगोत्रीके लिए प्रस्थान किया था, इसलिए यह स्थान ध्यानमें रह गया। गंगोत्रीसे लौटकर भटवाड़ीके रास्ते ही केदारनाथ जाना होता है।

जैसे ही हम भटवाड़ी छोड़कर आगे बढ़े, सृष्टिने यकायक नितान्त रमणीय स्वरूप धारण कर लिया। ऊंचे-ऊंचे पेड़ और लम्बी-लम्बी परन्तु नीचेको झुकी हुई उनकी डालियां; नदीका पाट और उसमे निरन्तर स्नान करनेवाले ऋषितुल्य गोल-मटोल पत्थर; सुगन्धित हवा—सभी चीजें सुहावनी और मनभावनी थीं। मुझे कुछ-कुछ याद है कि यहासे सत्यनारायण जाते समय हमें एक बार गंगाजी पार करनी पड़ी थी। यहां पास ही एक बड़ा प्रपात है। स्वामी और बाबाजीने उसका सविस्तर वर्णन सुनाया। जाते समय मेरा ध्यान जाने कहां चरने चला गया था कि मैं उसे देख नही पाया था। लौटते समय भी उसे देखनेकी बात याद नही पड़ती। स्वामीने उसका वर्णन इतने उत्साहके साथ किया कि मुझे वैसे सुन्दर दृश्य देखनेका मौका खो देनेके लिए मुह लटकाकर बैठना पड़ा।

सत्यनारायणमें एक पण्डेसे थोड़ी बातचीत हुई। उसने पूछा—"आप लोग कहांसे आते है?" हमने कहा—"बम्बईसे।" इतनी दूर आनेके बाद इससे अधिक सूक्ष्म स्थल-निर्देश करनेमें कोई सार न था। उसके लिए बम्बई और बेलगाम दोनों एक-से थे। बम्बईका नाम सुनते ही उसने पूछा—"वहीसे जहां व्यंकटेश्वर छापाखाना है?" मैंने कहा—"जी हां, वहीसे।" बम्बईमें दूसरा ऐसा है ही क्या, जिसकी कीर्ति यहां पहाड़ तक पहुंचे? मैं व्यंकटेश्वर छापाखानेवाले शहरसे आया हूं, यह सुनकर उसने तुरन्त नम्रतापूर्वक कहा—"वहासे मेरे लिए एक 'शनि-माहात्म्य' भेजेंगे?" मैंने मंजूर कर लिया। उसका नाम और गांव अपनी नोट बुकमें लिख लिया, और जहां तक मुझे याद है, छह या आठ महीनेके बाद शनि-माहात्म्यकी एक प्रति कहीसे उसके पते पर भेज दी। मेरा खयाल है कि उस पुस्तकके पहुंचनेके बाद फिर शनि महाराजने उस पण्डेको किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं पहुंचाई होगी!

सत्यनारायणसे जरा आगे बढ़ने पर 'गंगानाणी' नामक एक चट्टी आई। यहां

हमने एक वृद्ध साधुकी कीर्ति सुनी। इसलिए गंगाजीके उस पार हम वहां पहुंचे जहां गरम पानीका एक कुंड था। झरनेमेंसे चूनेके जो सूक्ष्म कण निकलते हैं उनके एक-दूसरे पर जम जानेसे वहां एक सुन्दर-सा बमीठा बना हुआ देखा। हिमालयके कुछ प्रवाहोंकी यह एक खासियत है। अगर पानीमें जड़ों और पत्तोंवाली एकाध डाली गिर जाय, तो धीरे-धीरे पानी उसपर असर करना शुरू कर देता है। पत्ते ज्यों-ज्यों गलते जाते हैं, त्यों-त्यों उन पर पानीका असर बढ़ता जाता है। पत्ते और उनके साथ जुड़े काठके सूक्ष्म कण जैसे-जैसे घुलते जाते हैं, वैसे-वैसे चूनेके सूक्ष्म कण वहां उसी आकारमें जमते जाते हैं। कोई छह महीनोंमें उस सारी डालका पुनर्जन्म-सा हो जाता है, और वनस्पतिकी जगह दिखनेमें संगमरमर-जैसी नाजुक लेकिन काफी मजबूत एक डाली तैयार हो जाती है। उसकी कारीगरी देखकर तो ग्रीसके शिल्पकार भी अवाक् ही रह जायं। सिवा उसकी शकलके असल डालीका और कोई रूप बाकी नहीं रहता। यदि आत्माके अस्तित्वको न मानकर भी पुनर्जन्ममे विश्वासवाले बुद्ध भगवानका ध्यान इस पर्वतीय चमत्कारकी ओर गया होता, तो दीपकका दृष्टान्त देनेके बदले उन्होंने इस खनिज, जलज, डालीका ही दृष्टान्त दिया होता। (एक बार लाहौरमें एक सज्जनके घर इसी तरहसे बना हुआ अखरोटका एक फल मैंने देखा था। परन्तु उसमें चूनेके बदले लोहेका चूरा था और इसलिए वह वजनमें काफी भारी मालूम होता था।)

यहांके वृद्ध साधुने स्वामीका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित किया। जब तक स्वामी उसके साथ बातें करनेमें लगे रहे, मैं चूनेके उस बमीठेको देखनेमें गर्क रहा। लौटने पर स्वामीने कहा—"यह साधु यहां तीस सालसे रहता है।" मुझे उनकी इस बात पर सन्देह करनेका कोई कारण न मिला। फिर भी मनमें विचार आया कि हिमालयमें यात्राके रास्ते पर कई साधु इसी तरफ झोंपड़ियां बांधकर रहते हैं। वे आसपासके पहाड़ी लोगोंसे अपने विषयमें बड़ी-बड़ी बातें फैला देनेको कहते हैं, और इस मेहनतके बदले अपनी कमाईमें उनका भी कुछ हिस्सा रख लेते है। यह भी ऐसा ही एक साधु नहीं होगा, इसका क्या प्रमाण? अगर बात ऐसी न थी तो ये लोग हमसे आग्रहपूर्वक यह क्यों कहते थे कि पुलके उस पार उष्ण कुडके समीप एक बड़े भारी साधु रहते हैं? आप उनके दर्शनोंके लिए जरूर चलिये। एकने तो यहां तक कह डाला कि उसके दादा कहा करते थे कि उन्होंने अपने छुटपनमें भी इस साधुको यही रहते देखा था। साधु महाराजकी उम्र जितनी उन दिनों लगती थी उतनी ही आज भी लगती है। जिस प्रकार समाचार-पत्रोंमें छपनेवाली कुछ घटनाओंके वर्णन सदा एकसे होते हैं, उसी प्रकार जंगलमें रहनेवाले योगियोंके विषयमें इस तरहकी बातें सब जगह एक ही रूपमें सुनी जाती हैं। कोई कहेगा कि रोज नई-नई बातें सुननेकी अपेक्षा एक सर्वमान्य वर्णन सुननेमें अधिक सुविधा नहीं है? जिस तरह रेलवे लाइन पर तमाम स्टेशनोंकी बनावट एक-सी होती है, उसी तरह साधुओंके

चमत्कार भी प्राय: एक-से होते हैं।

नीचेवाली गंगानाणीसे लगा हुआ एक छोटा-सा प्रपात है। वहां पानी वेगसे गिर रहा था, फिर भी हम उसमें नहानेके अपने लोभको रोक न सके। हिम्मत करके ज्यों ही हम प्रपातके नीचे पहुंचे, त्यों ही पानीकी टांकियोंकी चोटें सिर पर तड़ातड़ बरसने लगी। स्वामीको पाठशालाके अपने दिन याद आ गये। "नही गुरुजी, मारिये नही, फिर ऐसा कभी न करूंगा।" इस तरह वे हंसते-हंसते चिरौरी करने लगे। उस समयसे हमने अपनी बातचीतमें उस प्रपातका नाम 'नही गुरुजी प्रपात' रख दिया।

वहांसे आगेका प्रदेश खास गंगोत्रीके आसपासका प्रदेश कहा जा सकता है। रास्तेमे लकड़ीका बना हुआ एक घर देखा। इस तरफ सरकारी बंगले और निजी घर काठकी पटियोंके बने होते हैं। उनमें चीड़के गोंदकी धूपकी-सी सुगन्ध सर्वत्र फैली रहती है; क्योंकि ये पटियाएं चीड़ या देवदारके बड़े-से-बड़े तने चीरकर ही तैयार की जाती है।

इसी प्रदेशमे मैंने पहले-पहल बनगाय देखी। बनगायको यहां याक अथवा झब्बू कहते हैं। इस बनगायका मालिक भोटिया अपनी गायकी अपेक्षा जरा भी सभ्य नही दिखाई देता। अन्तर केवल इतना ही है कि गायें आगे-आगे चलती है और ये भोटिये अनुयायी बनकर उनके पीछे-पीछे चलते है। बनगायें दिखनेमे बहुत भली होती हैं। उनके सींग कुछ आगेको निकले होते हैं। सीगोंके बीचसे होकर माथे पर बालोंका एक गुच्छा-सा लटकता रहता है। इनका ऐसा ही चित्र मेरी दृष्टिमे समा गया है। यहां इन बनगायोंका घी बहुत सस्ता मिलता है। परन्तु कभी-कभी उसमे बनगायोंके बाल मिले होते हैं। इसलिए गरम करके छाने बिना उसे उपयोगमे लानेकी इच्छा नही होती। इस प्रदेशके आलू भी काफी बड़े और स्वादिष्ट होते हैं। इधर गेहूंकी रोटी और आलूकी सब्जी ही कई दिनों तक हमारी खुराक रही।

३६. गंगोत्री

बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री और जमनोत्री इन चार धामोंमें हरएककी अपनी-अपनी विशेषता है। बदरीनारायण अपने वैभवसे हमे आकर्षित करते हैं। केदारनाथके वातावरणमें वैराग्य विशेष रूपसे पाया जाता है। जमनोत्रीकी भव्यता हमारे हृदय पर अमिट छाप डालती है। और गंगोत्री तो हमे अपनी पवित्रतामें बिलकुल ही डुबो देती है।

गंगोत्री जाते हुए स्वामीने रास्तेमें पड़े एक सांपको अपनी लम्बी लकड़ीसे

उठाकर नीचेकी घाटीमें फेंक दिया। वह घबराया हुआ सांप हवामें अपने शरीरको ऐंठता हुआ नीचेको गिर रहा था। उस वक्त वह छुटपनमें बाजारसे खरीदे हुए हरे सांप-सा दिखाई देता था। उस समय मेरे मनमें कुछ ऐसे ही विचार आये। परन्तु गंगोत्री पहुचते ही इस तरहके सारे विचार काफूर हो गये। अब विचार-क्षेत्रमें प्राचीन राजर्षि और महर्षि प्रविष्ट होने लगे। भारत-सम्राट भगीरथ और धर्म-सम्राट श्री शंकराचार्यका स्मरण बिना हुए कैसे रहता? महाराज भगीरथ को उत्तराधिकारमें यह एक संकल्प प्राप्त हुआ था कि पूर्वभारतके अंग-बंगादि समतल प्रदेश पर पानीकी विपुलता पैदा करके करोड़ों मनुष्योको करोड़ो वर्षों तक अन्नदान किस प्रकार कराया जाय। इसी संकल्पका सेवन करता हुआ राजा भगीरथ इस पहाड़ी पर मारा-मारा फिरता था और हिमालयके प्रवाहोंकी पैमाइश करता था। आज इनमेसे कई पहाड़ियां माताके सिद्धपीठके रूपमें प्रख्यात हैं। इन सिद्धपीठों पर की हुई किसीकी भी तपस्या आज तक व्यर्थ नही हुई।

और जब शंकराचार्यने चारों तरफ दिग्विजय करके दक्षिणके धर्मनिष्ठ, संस्कार-सम्पन्न, ब्राह्मण कुटुम्बोंको यहां लाकर बसाया, उस समय उनके मनमे क्या-क्या संकल्प रहे होंगे? हिमालयके इन शिखरों पर दक्षिण और उत्तर दोनों दिशाओंमे, और भारत व तिब्बत दोनों देशोंमें, धर्म-प्रवाह प्रवाहित करके अद्वैतके जीवन सिद्धान्तकी और सर्वैक्यके हृदय-धर्मकी लहर फैला देनेका संकल्प उन्होंने भी यहां रहकर किया होगा। उन्हींके पूर्व अवतारस्वरूप गौतम बुद्धने जो धर्म-प्रेरणा प्रचारित की थी, उसकी लहरें हिमालयके उस पार शकराचार्यके समयसे पहले ही पहुच चुकी थी। शकराचार्यने बुद्धके उपदेश पर आस्तिक्यका पुट देकर उसे राष्ट्रीय बनाया था। शंकराचार्यको प्रच्छन्न बौद्ध कहकर उनके विरोधियोंने उनकी निन्दा करनेके बदले वास्तवमें उनके कार्यकी परम्परा और महत्ता ही बतलाई है। गंगोत्रीमें गंगामैयाका मन्दिर इतना छोटा है, मानो किसी तपःपूत ऋषिकी आद्य-प्रेरणा या धर्म-स्फुरणा हो!

मुझे हिमालयमे शक्तिरूपिणी जगन्माताकी उपासना करनी थी। वहां रहने वाले एक बंगाली साधुसे मैंने उपासनाकी विधि पूछी। जहां तक मुझे स्मरण है, उस साधुका नाम श्यामभारती या श्यामाभारती ऐसा कुछ था। उसने मुझसे मेरा उद्देश्य पूछ लिया, और तुरन्त जवाब दिया—"भाई, तुम मेरे शिष्य नही हो। भला, मैं तुम्हें वह विधि कैसे बतलाऊं? तुम अपने गुरुसे ही पूछो।" कुछ लोगोंको इस जवाबमें साम्प्रदायिक संकीर्णताकी बू आयेगी। मुझे वैसा न लगा। मुझे मालूम था कि हमारे धर्ममें गुरु-परम्पराके द्वारा ही निष्ठा और एकाग्रताका परि-पोष हुआ है। विविधता जिसका सनातन स्वरूप है, ऐसे इस संसारमे स्वधर्म-निष्ठाका तत्त्व न हो, तो एक भी कार्य सिद्ध नही हो पाये। जिस प्रकार कौटुम्बिक जीवनमें निष्ठा ही प्राणरूप है, उसी प्रकार धार्मिक जीवनमें निष्ठाका अपना खास

महत्त्व है। मुझे इस बातका ध्यान था, इसलिए उस संन्यासीके जवाबसे संतोष ही हुआ।

तीर्थक्षेत्रका नियम है कि वहां खाली पेट जाओ और वहांसे भरे पेट निकलो। हम भी इस नियमका विधिवत् पालन करते थे।

धधकते हुए अंगारों परसे चलनेमे मनुष्यकी जैसी कसौटी होती है, वैसी ही यहां पिघली हुई बर्फके पानीमे नहाते समय होती है। फिर भी गंगोत्री पहुचकर वहां बिना नहाये रहना सम्भव कैसे था? कॉलेजके एक साथीने 'बाथ' अर्थात् स्नानकी एक विनोदी परिभाषा बतलाई थी: 'सकलगात्रार्द्रीकरणं बाथः'। नहाने का शरीर-शुद्धिसे अथवा मलापहरणसे कोई सम्बन्ध नही है। समूचा शरीर भिगो लेनेसे स्नान सम्पन्न हो जाता है। हम वहां इस परिभाषाके अनुसार ही नहाये और पानीमें से जीवित बाहर निकले। अबरक और अत्यन्त महीन बालूके कारण पानी गंदला था। जिस जगह मै नहाया वहां पानी बहुत गहरा नही था, इसलिए मुझे सिर डुबानेके लिए पानीमे डुबकी लगानी पड़ी। मुझे क्या पता कि मेरे सिरके पास ही पानीमें एक प्राचीन गोल पत्थर ध्यानस्थ बैठा है। हम दोनोके माथे प्रेमसे और सख्तीसे एक दूसरेके साथ टकराये। आवाज भी हुई लेकिन सिरके भीतर वेदना पहुचानेके लायक चैतन्य कहां रह गया था? मेरा शरीर बधिर हो गया था। मैं उसी अवस्थामें दौड़ता हुआ पानीसे बाहर निकला और धूनीके पास जाकर हाथ तपानेके बाद ही गीले कपड़े निचोड़ सका। दूसरे दिन जब माथे पर उस ध्यानस्थ मित्रकी छोटी-सी प्रतिकृति उठी हुई दिखाई दी, तभी इस बातका प्रदर्शन हुआ कि मेरा और उसका मिलन कितना प्रेमपूर्ण हुआ था!

यहां हम तीन दिन ठहरे। दुर्गा-सप्तशती, गीता, तुकारामके अभंग, रामदास का मनोबोध और ईश, कठ आदि उपनिषदोके पठनमे ही हमारा समय बीता। यहांसे गोमुख सिर्फ बारह या अठारह मील है। वहां जाने न-जानेके बारेमे हमारे बीच बहुत-कुछ चर्चा हुई। कुछ पहले आये होते तो गंगाजीके जमे हुए पाट परसे ही सुगमतापूर्वक गोमुख पहुच जाते। जनश्रुति तो ऐसी है कि गोमुखमे आज भी आकाशसे गगाजी गिरती हैं। शायद वहां नित्य होनेवाली रिमझिम-रिमझिम वर्षाको ही यात्री इस रूपमे समझ लेते होंगे। अन्यथा वहा तो अखण्ड बरफका खजाना ही है, और कुछ नही। पण्डे लोग कहने लगे, "यदि कुछ कुलियोको कुल्हाड़ी और लकड़ियोके साथ ले लिया जाय, तो नदीके किनारे-किनारे गोमुख तक आया जा सकता है। इधर-उधरसे आकर गंगाजीमे मिलनेवाले छोटे-छोटे प्रवाह रास्ता काटें, तो लकड़ीके कामचलाऊ पुल बनाकर आगे जा सकते है। लौटते समय ये पुल अपनी जगह पर होंगे ही, इसका कोई ठिकाना नही। इसलिए दोहरी तैयारी रखनी पड़ती है।" पण्डोंने हमें बतलाया कि गंगोत्रीसे गोमुख तककी भूमि इतनी पवित्र है कि यात्रीको वहां मल-मूत्र विसर्जन किये बिना ही हो आना

चाहिये। शंकराचार्यकी ऐसी ही आज्ञा है। हम अपने साथ टेहरीके हाकिमकी सिफारिश ले गये थे। उसका एक विचित्र परिणाम हुआ। हमें नाराज करते पण्डों को डर लगता था, लेकिन साथ ही वे हमसे विशेष द्रव्य पानेकी आशा भी नहीं रख सकते थे। इसलिए ऊपर-ऊपरसे तो वे यह जतलाते थे कि उनमें पूरा उत्साह है, वे खुद हमारे लिए सारी सुविधाएं कर देनेको तैयार है; पर साथ ही भारी बातें इस तरह हमारे सामने रखते थे कि आगे जानेकी हमें इच्छा न हो। मुझे शकुन्तलाका वह प्रसंग याद आया, जहां मृगया-प्रेमी दुष्यन्तके विरुद्ध सेनापति और विदूषकने आपसमें सलाह की थी। बहुत सोच-विचारके बाद स्वामीने आगे जानेका विचार छोड़ देनेका सुझाव रखा। मुझे वह अखरा नहीं। उस समय तक जो कुछ देख लिया था, वही इतना अधिक भव्य, विविध और विशाल था कि और नये दृश्य देखनेकी खास उत्सुकता नहीं रही थी। जानेका फैसला होता तो हर तरहके कष्ट और संकट झेलनेके लिए मैं तत्पर था। परन्तु ऐसा नहीं लगा कि जाना न हुआ तो जीवनके किसी बड़े भारी लाभसे वंचित रह जाना होगा। चित्तमें कोई विषाद न रहा। यदि मनुष्य शास्त्रशुद्ध उदासीनताका विकास कर ले, तो वह योगीकी 'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' स्थितिको स्थूल रूपसे अवश्य दिखा सकता है।

गोमुख न गया, इसका तो मुझे जरा भी दुःख न हुआ। परन्तु गंगोत्रीको छोड़ते समय चित्तवृद्धि स्वस्थ कैसे रहती? जिस तरह घरसे कॉलेजके लिए बिदा होते समय हृदय भर आता था, वैसा ही गंगोत्री छोड़ते समय हुआ। न जाने कितने—शायद अनगिनत—हिन्दू पूर्वज भक्तिभावसे यहा आये होंगे, और गंगा-मैयासे स्थायी शान्ति तथा पवित्रताका प्रसाद पाकर लौटे होंगे। और उनमेसे कइयोंने तो यहां आने पर फिर वापस जानेका विचार ही छोड़ दिया होगा। सच-मुच गंगाजी भारतवासियोंकी मैया ही है, और उनकी गोदमे हरएकको जीवनकी शान्ति मिलती ही है।

३७. वृद्ध केदार

गंगोत्रीसे हमने गंगाजलका एक लोटा भर लिया। पण्डोंने उसे चपड़ेकी मुहर लगाकर हमें यात्राका सुफल दिया। हम लौटे। रास्तेमें प्रत्येक यात्रीके हाथमें गंगाजलका एक लोटा था ही। यह पवित्र जल अनेक प्रान्तोंके अनेक घरों और झोपड़ोंमें पहुंचेगा। पश्चात्तापसे जलते हुए कई पापियोंको यह जल परमात्माकी क्षमाका आश्वासन देगा। मृत्युशय्या पर पड़े हुए कई वृद्धोंको यह जल मरण-काल-की शान्ति प्रदान करेगा।

और कुछ साधु तो यहांके गंगाजलको सेतुबन्ध रामेश्वर तक पहुंचाकर और रामेश्वरकी बालू गंगोत्रीमें डालकर सारे भारतवर्षको धर्म-बन्धनसे उसी प्रकार बुन डालते हैं, जिस प्रकार हम निवारसे खाट बुनते है। चार धामोंकी यात्रा हमारी धार्मिक बुनावट है। इस प्रकार देश और समाज एक-दूसरेमे ओतप्रोत हो जाते है।

वापस भटवाड़ी आकर हमने केदारका रास्ता लिया। यह रास्ता हिमालयमे भी अत्यन्त जंगली और भयानक माना जाता है। बीस-बीस मील तक किसी गांव या मनुष्यके दर्शन नही होते। वृक्ष इतने घने और ऊचे हैं कि दोपहरसे भी वहा करीब-करीब अंधेरा-सा रहता है। बारिशके कारण नीचेकी जमीन कुछ भीगी हुई होती है। इसलिए जमीन पर पेड़ोकी जड़ोंका एक जाल-सा बिछा हुआ दिखाई देता है। रातके समय ये जड़ें जानकी गाहक सिद्ध होती हैं, क्योंकि इनमे पैर उलझते ही मनुष्य ठोकर खा जाता है। परन्तु ऐसे अरण्यमें रातके समय कोई जायेगा ही क्यों? अगर पहाड़की बेडी चढ़ाईमें इन जड़ोंका सहारा न मिलता, तो कही-कही तो आगे चढ़ना ही असभव हो जाता। बीच-बीचमे पड़े हुए सूखे पत्तोंके ढेर इस जंगलको और भी भयावना बना देते है। किसी-किसी स्थान पर, जहा चढाई सख्त नही होती और झाड़-झंखाड़ भी उतने ज्यादा नही होते, बड़े रमणीय दृश्य देखने-को मिलते हैं।

जहां तक नजर दौड़ाइये रग-बिरंगे फूल ही फूल दिखाई देते थे। ऐसा मालूम होता था, मानो किसी शौकीन मनुष्यके बंगलेके बगीचेमे घूम रहे हों; और जरा आगे बढ़ने पर उसका बंगला भी नजर आयेगा। पर सवेरेसे शाम तक सारे दिनमें कही न तो गांव मिलता था, न मकान, और न मनुष्य या जानवर ही। निर्जनता कितनी भीषण हो सकती है, इसकी कुछ कल्पना यही आई। निर्जन प्रदेशमे विविध रंगवाले फूलोका यह भूमिभाग किसी अलौकिक परिस्तान-जैसा मालूम होता था।

जहां मनुष्यका मुह तक देखना दूभर था, वहां ठीक रास्ता किससे पूछते? संकटमे सूझ पैदा होती है। हमने देखा कि इस रास्तेसे जाते हुए यात्रियोंने अपने फटे हुए जूते इधर-उधर फेंके हैं। अगर चौथाई घंटे या आधे घंटे तक बीचमे कही फटे हुए जूते न मिले, तो तुरन्त शक होता था कि जरूर रास्ता भूल गये! जगलके यात्री हाथमें कुल्हाड़ी लेकर पेड़ोंके तनों पर उसके निशान बनाते चलते है, ताकि वे फिर उसी रास्ते लौट सकें। हमारी युक्ति इससे भी बढ़कर थी। क्योंकि हमे उसी रास्तेका अनुसरण करना था, जिससे हमसे पहलेके यात्री गये थे। आगे चलकर जब हमारे जूते बिलकुल घिस गये, तो स्वामीने एक दिन अपने एक जूतेको रास्तेमें रुखसत दी और उसकी जगह किसी दूसरे अच्छे-से लावारिस जूतेसे काम लिया। दो-चार दिनके बाद जब वह दूसरा जूता भी अपने साथीके विरहसे व्याकुल हो उठा, तो उसे भी हिमालयमें रहनेका पुण्य प्रदान करके स्वामीने उसके बदलेमें रास्तेसे दूसरा एक बेजोड़ जोड़ा उठाकर पहन लिया। ये दोनों जूते एक ही बनावट

या एक ही प्रांतके तो कैसे हो सकते थे ?

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ।।

शामको हम छुआचट्टीमें पहुंचे । इसी रास्ते पर, मगर याद नही पड़ता कि कहामे, स्वामी और बाबाजी आगे निकल गये । मैं अकेला पीछे रह गया । अंधेरा होने लगा । मैं इस चिन्तामें था कि अब रास्ता कैसे मिलेगा, इतनेमे कुछ यात्री पीछेमे आये । ऐसे स्थानमे यों अचानक मनुष्यके दर्शन पाकर कितना आनन्द होता है, इसकी कल्पना बिना अनुभवके सम्भव नही । हम अपनी तत्काल गढ़ी हुई राष्ट्र-भाषामें बातें करते जा रहे थे । इतनेमें यकायक एक आदमी चिल्ला उठा—"अरे भालू, भालू, भालू !" मैं चकित-सा होकर यह देखने लगा कि ऐसे जंगलमें रीछ कहासे आया ? परन्तु सब लोग चिल्ला-चिल्लाकर भालूके पीछे दौड़ने लगे । फलतः मैं उम 'भालू' के दर्शनसे वंचित ही रहा । जब हम अपनी चट्टीमें पहुंचे, तो बाबाने हमारे लिए हल्दी डालकर दूध तैयार रखा था, क्योंकि उस दिन मेरा गला साफ नही था, मुझे सरदी होनेका डर था । यात्रामें इस तरहके सादे उपाय काफी गुण-कारी सिद्ध होते है ।

गगोत्रीमे केदार जानेवाले रास्ते पर वृद्ध केदार अथवा बुड्ढा केदार पड़ता है । एक बड़ा-सा उतार उतरकर सांझको हम वहा पहुंचे । रास्ता इतना खराब था और बारिशने हमको इस कदर हैरान किया था कि मुकाम पर पहुंचनेके बाद मैंने तो मन्दिर जानेसे इनकार कर दिया । अपने मनको यह कहकर समझा लिया कि साथियोंका भगवानके दर्शन कर लेना काफी है । यहांकी धर्मशालामें उत्तरकी तरफके कुछ महाराष्ट्रीय हमे मिले । एक वृद्धा बोलनेमें बड़ी संस्कारी मालूम हुई । उसने हमसे कई प्रश्न पूछे । स्वामी-जैसा जवान छोकरा मां-बापको छोड़कर और सगे-सम्बंधियोंको भूलकर, इस तरह जंगल-जंगल भटकता है, यह देख वृद्धा-का हृदय भर आया, और उसने मुक्तकंठसे रुदन किया । 'अरे, तुम लोग कैसे निष्ठुर हो ! तुम्हारे मां-बाप पर क्या गुजरती होगी ? तुम्हारे भाई-बहनको कैसी उदासी-सी लगती होगी ? ऐसे जंगलमें अपनी कायाको निचोड़कर आखिर तुम्हे मिलेगा क्या ?' ऐसे अनेक सवाल उस बेचारीने पूछे ।

अपना एक हमेशाका अनुभव भी यही मुना दूं । हमारे देशमें व्यर्थकी कुतूहल-वृत्ति बहुत है । चाहे पैदल चलते हों या रेलगाड़ीमें, ज्यों ही किसीका साथ हुआ, एक-दूसरेकी सारी कुल-कथा पूछे बिना हमें चैन नही पड़ता । और, कहनेवाला भी विस्तारपूर्वक कहते नहीं थकता, मानो जनम-जनमका कोई साथी मिल गया हो ! मेरे चश्मेसे लोगोंको सहज ही यह अनुमान होता कि मैं कोई पढ़ा-लिखा आदमी हूं । इसलिए लोग प्रायः पूछते—"कहां तक पढ़े हो ?" अगर कह दू कि "कॉलेज-की पढ़ाई खत्म कर चुका हूं", तो फिर क्या पूछना था ? "तुमने नौकरी क्यों नही

की ? वकील होनेकी तैयारी क्यों नहीं की ? अंग्रेजी पढ़ने पर भी तीर्थयात्रामें श्रद्धा कैसे बनी रही ?" आदि-आदि सारी बातें पूछ ली जातीं। बादमें सवाल होता—"घरमें कौन-कौन हैं ?" भाइयोंकी बात करूं, तो फिर हरएक क्या करता है, इसकी तफसील पेश करनी होती। "ब्याह हुआ है या नहीं ?" यह तो कुतूहलका मुख्य प्रश्न होता। यदि 'नहीं' कहूं, तो पूछते—"यह वैराग्य छुटपनसे ही था या इसका कोई खास कारण हुआ ?" और यदि कहूं कि "विवाहित हूं," तो जरूर सवाल होता कि—"स्त्री जीवित है या नहीं ?" अगर सही उत्तर देकर कहता हूं कि "जीवित है", तो अनेक असुविधाजनक प्रश्नोंकी झड़ी लग जाती, और स्त्रीके जीते-जी पुरुषको साधु होनेका अधिकार है या नहीं, एक लम्बा शास्त्रार्थ छिड़ जाता। हर रोज इस तरहका इकरार करते रहनेकी मेरी तैयारी न थी। और अपने रूखे व्यवहारसे मनुष्यका दिल तोड़ देना यात्रामें अच्छा नहीं लगता। इसलिए मैंने हिम्मत करके झूठ बोलनेका निश्चय किया। किसीके ज्यादा कुछ पूछनेसे पहले ही मैं ठंडी सांस लेकर कह देता—"स्त्री बड़ी अच्छी थी, लेकिन वह जाती रही। इसलिए बच्चे भाईको सौंपकर मैं इस बनवासका सेवन कर रहा हूं।" मैं जानता हूं कि ऐसे असत्य कथनके लिए कानूनमें कोई सजा नहीं है। लेकिन धर्मशास्त्र इतनी आसानीसे माफ करेगा ही, इसका मुझे विश्वास नहीं है।

लोगोंकी ऐसी अतिरिक्त जिज्ञासासे अकुलानेके कारण मैं स्वयं भी किसीसे अधिक प्रश्न पूछनेसे डरता हूं। क्योंकि मैं सोचता हूं, कहीं यह भी मेरी तरह तंग आकर झूठ बोलने लगे तो उसका पाप मेरे मत्थे चढ़ेगा। कभी-कभी जब कोई बहुत सारे प्रश्न पूछने लगता है, तो मैं दिक़ आकर कह देता हूं—"भाई, अब बहुत हो गया। अगर अधिक पूछोगे, तो फिर झूठा जवाब दे दूंगा।" झूठ बोलनेकी अपेक्षा झूठ बोलनेका डर दिखाना अधिक अच्छा उपाय है। बादमें सच्चा जवाब देने पर भी पूछनेवालेको विश्वास तो होगा ही नहीं।

यदि कोई मुझसे पूछे कि मार्गमें मिलनेवाला बेचारा एकाध यात्री निःस्वार्थ भावसे और मानव-सहज समभावसे कुछ सवाल पूछता है तो उसमें बुराई क्या है ? तो मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं। यात्रियोंके दस-पांच सवालोंका जवाब देते-देते तंग आ जानेवाला मैं आज सारी यात्राका इतना लम्बा-चौड़ा वर्णन कैसे लिखने लगा, यह प्रश्न मेरे मनमें उठता है। लेकिन इसका भी कोई जवाब मेरे पास नहीं।

मालूम होता है कि साहित्य और जीवनमें कट्टर वैर है। सेकण्ड क्लासमें बैठा हुआ अंग्रेज अपने पास बैठे दूसरे यात्रीसे बातचीत करके उसकी जीवन-कथा जाननेके बदले रुपया-दो-रुपया खर्च करके एकाध उपन्यास या कहानी पढ़नेमें समय बिताना पसन्द करता है। आखिर उपन्यासमें भी तो कोई काल्पनिक जीवन-कथा ही होती है। यात्राका वर्णन मैं अपनी सुविधासे लिखता हूं। पर जब कोई सवाल पूछता है, तो मुझे बन्धनमें पड़ना होता है। और, जब एक ही सवाल कई लोग

बार-बार पूछते हैं, तब तो धीरजका बांध टूट जाता है। फिर भी, हमें भूलना नहीं चाहिये कि निरक्षर समाजमें साहित्य और शिक्षाकी बहुत-सी आवश्यकता सम्भाषणसे ही पूरी होती है।

उसी धर्मशालामे दूसरे दिन बूढ़े केदारका एक ब्राह्मण हमसे मिलने आया। हमें पढ़ा-लिखा पाकर वह हमसे अपने लड़केकी परीक्षा लिवानेके लिए उसे अपने साथ ले आया। लड़का कोई चौदह-पन्द्रह सालका था। पिताने कहा—"आजकल यह तर्क-संग्रह पढ़ रहा है।" कॉलेजमें मैंने इण्टरमें तर्कशास्त्र पढ़ा था। इसलिए इस चौदह-पन्द्रह सालके लड़केको तर्क सीखते देख मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने उससे एक सहज प्रश्न पूछा। प्रश्न सुनते ही लड़केने उस प्रश्नसे सम्बन्ध रखनेवाला समूचा प्रकरण मुखाग्र सुना दिया। बादमें उसी प्रकरणकी टीका भी वह चटसे बोल गया। जिस तरह कोई शास्त्री समझाता है, उसी तरह उचित स्थान पर रुककर, शब्दोंका सम्बन्ध-सा बतलाते हुए, वैसे ही लहजेमें उसने अपनी बात कही। लेकिन बेचारा उसमेंसे एक 'ब्रह्माक्षर' भी समझता न था। मैंने उस पितासे कहा—"तर्क तो बुद्धिका विषय है। व्याकरणसे भी कठिन है। व्याकरणका सम्बन्ध भाषासे है, जबकि तर्क तो विचार-शुद्धिका विषय है। इसमें कोरे रटनेसे कैसे काम चलेगा?" पिताने भोले भावसे जवाब दिया—'यदि इस उम्रमें रट लिया जाय, तो बड़ी उम्रमें तकलीफ कम होगी; और भूल होनेका अंदेशा तो जरा भी न रहेगा!"

शिक्षणशास्त्र पर बहुत-कुछ सोचने पर भी यह निर्णय नही हो पाया कि रटनेकी प्रथा बिलकुल उठा देने लायक है। हां, यह सच है कि रटन्त विद्याका दुरुपयोग बहुत होता है। लेकिन यदि उसका उचित रूपसे उपयोग हो, तो उसके कारण बुद्धिके विकासमें रुकावट नही होनी चाहिये। जब छापाखाने नही थे, और सब-कुछ लिखकर उसकी रक्षा करनेकी मेहनतसे बचनेका सवाल एक भारी सवाल था, उस समय यदि स्वावलम्बी मनुष्य अपने अध्ययनकी पूजीको नित्य ताजा और तैयार रखनेके लिए बहुत-कुछ कण्ठाग्र कर लेता था, तो इसमे आश्चर्यकी कोई बात न थी, बल्कि इसीमें शक्तिका संग्रह था। आज भी यह लाभ छोड़ देने योग्य नही है।

दूसरे दिन हम एकाध मील ही गये होंगे कि पहले दिनकी बारिशके कारण लथपथ मेरे जूतेने हड़ताल कर दी। हड़ताल ही नही, इस्तीफा तक दे दिया। मैंने अपने साथ अहमदाबादी जूतोंकी एक जोड़ी ज्यादा रख ली थी। अब तककी यात्रामें वह मुझ पर सवार होकर चलती रही। अब मैं उस पर सवार हुआ। लेकिन वे जूते मेरे छोटे पैरोंके लिए भी ओछे निकले। उन्हें पहनकर चलनेमें मेरे पैरोंकी वैसी ही दुर्दशा होनी शुरू हुई, जैसी चीन देशमें वहाकी ललनाओंके पैरोंकी होती है। इसलिए मैं उन जूतोंको पहले पानीमें अच्छी तरह भिगो लेता और फिर पहनता। भीगा हुआ चमड़ा दीन बनकर मेरे पैरका आकार ग्रहण कर लिया करता। लेकिन जरा सूखते ही वह दुगुना बैर भंजाने लगता। सौ-सवा-सौ मील तक ऐसी ही हैरानी

व परेशानी रही। मेरा दुःख जानकर स्वामीने अपने पासके दक्षिणी जूते मुझे दिये। वे लाल जूते जंगलमें शोभा देते, और यात्रियोंका ध्यान आकर्षित करते थे। उनकी सामनेवाली गोल बाजू तो ठोकरके लिए एक अकसीर दवा ही थी। परन्तु हिमालयके रास्ते पर ये जूते पैरमें ठहरें कैसे! अथवा अधिक ठीक भाषामें कहूं, तब तो कहना होगा कि जूतोंमें पैर कैसे ठहरें! पैर घिसता गया, तलुएमें छाले पड़ गये। एक भी जूता पहना नही जाता था। अगर नंगे पैर चलता, तो रास्ते पर नहा-धोकर तैयार पड़े हुए कंकड़-पत्थर बिच्छूके डंककी तरह अपना प्रताप दिखलाये बिना मानते न थे।

रास्तेभर पैरके दर्दका ही ध्यान रहता था। ऐसे जंगलमे आरामके लिए कही ठहरनेका खयाल आता तो कैसे आता? जैसे-तैसे आगे बढ़ते रहे। परन्तु रास्तेमें क्या-क्या देखा, इसका कोई होश न रहा।

३८. भोटचट्टी

एक जगह सवेरे ज्यो ही आगेके लिए रवाना हुए, सामने शामके मुकामकी चट्टी नजर आयी। मनमें शंका उठी, इतनी-सी दूरीके लिए एक पूरा दिन कैसे लग जायगा? मैंने कहा—"अरे, इस सामनेवाले पहाड़के शिखर पर जो मचान-सा कुछ दिखाई देता है, वहां तक पहुंचनेमे देर ही कितनी लगेगी! क्या इस छोटी-सी चढाईसे घबराकर हम पूरा एक दिन इसमें बिता देगे?" लेकिन मै तो मनके लड्डू खा रहा था। चढ़ाई सीधी होती, तो भी गनीमत थी। हांफते-हाफते वहां पहुच सकते थे। लेकिन यहां तो सारा रास्ता आरेकी धारकी तरह चढ़ाव और उतारसे भरा था। चढ़ते-चढते दम फूलने लगता, और उतरते-उतरते घुटने भर आते। इसका दुःख तो था ही। लेकिन जब जितना चढ़ते उतना ही फिर उतरनेकी नौबत आती, तो इतनी सारी मेहनतके अकारथ जानेकी मानसिक वेदना यात्राके सारे मजेको किरकिरा कर देती थी। जहां तक मुझे स्मरण है, उस दिन हमने नौ पहाड़ियां पादाक्रान्त की और उतनी ही घाटिया लांघीं। आखिर-आखिरमे तो हम यह सन्देह-सा होने लगा कि मुकाम आयेगा भी या नही। बड़ी मुसीबतोंके बाद ऊपर पहुंचे। चट्टीवाली झोंपड़ीकी ऊंचाई अन्दर खड़े रहने लायक नही थी। जिस तरह जानवर गुफामें प्रवेश करते है, उसी तरह झोपड़ीके भीतर जाना होता था। फर्श बिलकुल भीगी हुई थी। हमारे साथ एक मोमजामा था। मेरे पास घासकी अपनी चटाई थी। इन पर ज्यों-त्यों करके हमने रात काटी। यहांकी यात्रामें शाक तो आलूका ही हो सकता है। पर आज हमें वह भी न मिला। जंगलमें कुछ छोटे-छोटे ठूंठों पर घुइयांके डण्ठलों-जैसे डण्ठल उग रहे थे। लेकिन उनके छोर पर पत्ते न थे।

बकरेके सींगकी तरह छोर शंखाकृति हो जाते थे। मैंने कुछ पहाड़ियोंको इन डण्ठलों का साग बनाकर खाते देखा था। इसलिए मैं आसपास घूम-घामकर एक-दो मुट्ठी डण्ठल बीन लाया। मुझे विश्वास था कि बाबा खुश होंगे; लेकिन उन्होंने उन्हें पकानेसे इनकार कर दिया। बाबा रामदासी सम्प्रदायके 'दासबोध' की सिखावनके अनुसार चलनेवाले जो ठहरे! उन्होंने कहा—"अनजाना फल या साग-पात कदापि नहीं खाना चाहिये।" और अपने इस कथनके समर्थनमें 'दासबोध' की एक उक्ति जोड़ दी। अब भला मेरा क्या चल सकता था! मैंने उन डण्ठलों-को जमीन पर चक्राकार जमाकर उनसे कई तरहकी आकृतियां बनायी, और इस प्रकार जीभ-से नही तो आंखसे ही अपने पुरुषार्थका रस चखा।

एक रातको हम भोटचट्टी पहुंचे। वहां बेहद भीड़ थी। डर था कि कही रात को बगैर आसरेके मैदानमें न सोना पड़े। लेकिन आखिर हमें जगह मिल गयी। इसी जगह दो पहाड़ी आदमियोंकी एक साझेकी दुकान थी। एक साथ व्यापार करनेकी विश्वासपूर्ण उदारता तो उनमें थी; लेकिन उसके लिए आवश्यक गणितका ज्ञान न था। इसलिए दुकानमें एक साथी जितना माल लाता, दूसरा भी उतना ही ला देता और किसी ग्राहकको माल देते ही जो दाम आते, उन्हें दोनों उसी क्षण बराबर-बराबर बांट लेते। और, जब तक बंटवारेका यह हिसाब न हो लेता, तब तक नये ग्राहककी सुध कोई क्यों लेने लगा! इन दोनोंमेंसे एक कुछ होशियार था। हिसाबके सुभीतेके लिए वह अपने ग्राहकसे थोड़ा ज्यादा या कम माल लेनेको कहता, और ग्राहक नही मानता तो उसे सौदा ही नहीं मिलता। यों, साझा दुकानवाली चट्टीमें जब एक दुकानदार नाराज हो जाता, तो यात्रीकी असुविधाका पार न रहता।

रात हुई, और आकाशमें तारे चमकने लगे। कई दिनों बाद निरभ्र आकाशका आनन्द मिला। आजके आकाशकी नीलिमा कुछ और ही थी। इतना स्वच्छ और इतना गहरा नीला आकाश सहज ही देखनेको नहीं मिलता। आगे चलकर द्वारा-हाटके रास्ते पर शामके वक्त ऐसा ही आकाश देखनेको मिला था। लेकिन वहां तो बादमें मूसलाधार वर्षाने सारा दृश्य बिगाड़ दिया था। यहां तारे सारी रात नीली जमीन पर हीरोंकी तरह चमकते रहे। यह आनन्द अकेले कैसे लूटा जाता! मैं स्वामी और बाबा दोनोंको बाहर निकाल लाया। देर तक हम आकाशकी ही बातें करते रहे। इसी बीच चट्टीमें कुछ शोर सुनाई दिया। स्वामीने जाकर पूछताछ की। यात्रियोंमेंसे किसी मारवाड़ीकी बुढ़िया चिढ़कर और रूठकर चट्टीसे जंगलमें चली गयी थी। क्रोधके सामने विवेककी हार हमेशा होती है, परन्तु आज तो डर-की भी हार हुई थी। उस बेचारेको बुढ़ियाके जानेका दुःख था या अपनी इज्जत जानेका, सो कौन कह सकता है! दो पीढ़ियोंके बीचके मतभेदकी भी कभी-कभी ऐसी ही दुर्दशा हुआ करती है। बुढ़ियाकी खोज किये बिना ही हम दूसरे दिन बड़े सवेरे उठकर आगे बढ़ गये।

केदारका रास्ता यानी पवालीकी चढ़ाई। रामचन्द्रजीके सैनिकों-जैसे पहाड़ी भी इस चढ़ाईके सामने हार जाते थे। 'काबुलकी लड़ाई और पवालीकी चढ़ाई' नामक एक कहावतमें यहांके लोगोंने अपना कष्ट प्रकट किया है। कहावतोंमें भी स्थानिक पाठान्तर होते ही हैं।

हमने सांस फुलाकर रोजकी तरह 'अथातो धर्मजिज्ञासा' का नित्य मंत्र पढ़कर चढ़ना शुरू किया।

३९. पवाली और त्रिजुगी नारायण

रास्तेमें एक जगह बहुत बारिश हुई थी। इसलिए हमने सूर्यास्तसे पहले ही एक चट्टीमें ठहरनेका विचार किया। इस चट्टीमे बेंतके जैसी बेलोंकी बड़ी-बड़ी टोकनियां बनाकर रखी थी। ये नितान्त जंगली समझे जानेवाले लोग जब बरतन, टोकनियां या इसी तरहकी और कोई नित्यके उपयोगकी चीजे बनाते है, तो यह सोचकर आश्चर्य हुए बिना नही रहता कि ये उनमे इतनी कला कहांसे ले आते है। हम अपने बिस्तर वगैरा लगाकर रसोई बनानेके स्थानका विचार कर ही रहे थे कि इतनेमें बारिश रुक गयी, और सोने-सी सुहावनी धूप निकल आयी। जयद्रथ-वधके दिन जैसी हालत अर्जुनकी हुई थी, वैसी ही उस दिन हमारी भी हुई। इतनी धूप—इतना दिन बाकी रहते भी यदि हम ठहर गये, तो हमारी शान ही क्या रही? तुरन्त सामान बटोरकर चलने लगे। कुली तो वेचारे हमेशा ही भुनभुनाते रहते है। उनकी शिकायत कौन सुनने लगा?

शक्तिके समझे जानेवाले बहुतसे काम युक्तिके ही होते है। खास तगड़े जवां-मर्द जहां पीसते-पीसते थक जाते हैं। वहां बूढ़ी औरते बरसों उनसे दुगना काम करती रहती हैं। पानीमें तैरनेके लिए शक्तिकी जरूरत तो होती ही है, परन्तु शक्तिसे भी अधिक तो युक्ति ही उपयोगी ठहरती है। पहाड़ चढ़नेकी भी यही बात है। आदमी यदि जल्दी न करे, और सांसकी ताल संभालता रहे, तो वह आसानीसे नही थकेगा। ऊंट पर बैठनेवाला यदि अपना शरीर ढीला रखकर ऊटकी चालके साथ ताल न जमाये, तो शाम तक उसका शरीर दर्द करने लगेगा। पहाड़की चढ़ाई मे भी शरीर कड़ा रखनेसे काम नही चलता। अगर यात्री घुटने, कमर और पीठ मुक्त स्थितिमें रख सके, और हरएक कदममें लचीलापन रखना सीख ले, तो सुबह से शाम तक चलकर भी उसे ज्यादा थकावट मालूम न होगी। यहां यह कह देना चाहिये कि यह फलश्रुति बहुत मोटे—चरबीवाले—लोगोंके लिए नहीं है।

इस तरह हिमालयकी कठिन-से-कठिन चढाई चढ़ जाने पर हमें विश्वास हो गया कि यह तपस्या व्यर्थ नहीं है। ऊपर पहुंचकर जो दृश्य देखा, उसे मैं इस

जीवनमें भूल नही सकता। अनगिनत हिमाच्छादित शिखरोंकी एक महान परिषद् अर्ध-वर्तुलाकार रचनामे विराजित थी, मानों वेदकालीन ऋषियोंकी कोई महा-सभा बैठी हो। यहांसे अधिक नही तो कम-से-कम पचास मीलका दृश्य तो दिखाई ही देता था। और जिधर देखिये उधर दूर-दूर तक श्वेत शिखर अनन्तताका सूचन करते नजर आते थे। यह सफेद बरफ इस प्रकार बिछी थी, मानो त्रिकालातीत हो। बरफ ज्यों-ज्यों बासी होती जाती है, त्यो-त्यों उस पर हाथी दांतके-से पीलेपन-की प्रतिष्ठा जमती जाती है; और जब उस पर कही-कही नयी कपूर-सी सफेद बरफ पड़ती है, तो वह ऐसी शोभती है जैसे किसी वृद्धाकी गोदमे बैठा हुआ बालक।

मै ज्यों-ज्यों टकटकी बांधकर यह सारा दृश्य देखने लगा, त्यो-त्यों उसका उन्माद मेरे मस्तिष्कमे पैठने लगा; और वह समूचा दृश्य पहाडियोके हिलोरते हुए महासागरके समान मालूम होने लगा। अगर इस तरहकी एक भी पहाड़ी हमारे समतल प्रदेशमे आकर बसे, तो चारण और कवि बड़े गर्वके साथ निरन्तर उसकी प्रशसा करते रहें। लेकिन इन पहाडियोको कोई पूछता तक नही। जिस प्रकार हिन्दुस्तानके सन्तोंकी कोई गिनती नही, उसी प्रकार हिमालयकी इन पहाड़ियोकी भी कोई गिनती नही।

अखंड हिमप्रदेशका अर्थ है, कालके परिवर्तनका पराभव। बारहो महीने यहाकी शोभा ज्यो-की-त्यों बनी रहती है। लेकिन इस शोभामे भी प्रतिक्षण लावण्य पूरनेका कार्य सवितानारायणकी किरणें करती रहती है। उसी पुण्य-पुरुषके सहवास से जिस तरह आसपासके सारे समाजके धर्मनिष्ठ बन जानेका भास होता है, उसी तरह सुबहकी बालकिरणोंके फैलते ही समस्त शिखरोके अनुरक्त होनेका दृश्य उपस्थित हो ही जाता है। कभी-कभी सारे शिखर गेरुआ रग धारण कर दशनामी* अखाडा जमाते है।

पवालीसे जल्दी-जल्दी उतरकर हम त्रिजुगी नारायण पहुचे। मानों स्वर्गसे उतरकर मृत्युलोकमे आये। और, स्वर्गके सारे पुण्य धो डालनेके उद्देश्यसे ही आई हुई वर्षाने रास्तेभर झडी-सी लगाकर हमारे सारे उत्साहको धो डाला। आखिर-आखिरमें तो हम रास्ता छोड़कर सीधे ही उतरने लगे। लेकिन इससे भी आखिर समयकी बचत तो नही हुई।

त्रिजुगी नारायणमें नारायणका प्राचीन मन्दिर है। इस मन्दिरकी अग्नि पारसियोंके आतिशबेहरामकी तरह सतजुगसे आज तक बराबर जलती आई है। जब हिमालयकी पुत्री पार्वती देवाधिदेव महादेवसे ब्याही गयी थी, तब विवाहके

---

*सन्यासियोमे गिरी, पुरी, भारती, सरस्वती, अरण्य, तीर्थ, आश्रम, सागर वगैरा कुल दस फिरके होते हैं जिन्हे दशनामी कहते है।

होमके लिए इस अग्निका आधान किया गया था। तबसे आज तक यह अग्नि बिलकुल बुझी नही है !

यहां रातको एक साधु 'मेरा सब कुछ लुट गया' कहकर जोरसे रोने और चिल्लाने लगा। सारी धर्मशाला हैरान हो उठी। जांच-पड़तालके बाद मालूम हुआ कि यह सब बहाना भर था। किसी दूसरे साधुको संकटमें डालनेके लिए उसने आधी रातकी शान्तिमे यह स्वांग रचा था। साधु ही जो ठहरे !

त्रिजुगी नारायणसे नीचे उतर हम केदारकी मुख्य सड़क पर आये। वहांसे मन्दाकिनीके किनारे-किनारे चलते हुए गौरीकुंड पहुंचे। यहां गरम पानीके झरने हैं।

जमनोत्री और बदरीनारायणके पास तो ठेठ तीर्थस्थानमें ही गरम पानीके झरने हैं, जब कि गंगोत्रीसे केदारनाथ जाते समय तीर्थस्थानके कुछ इस ओर रास्ते पर गरम पानीके झरने पड़ते हैं। गगोत्रीके लिए गंगानाणी और केदारके लिए गौरीकुंड। गौरीकुडका पानी स्वच्छ नही था, इसलिए हमने उसमे नहानेका विचार छोड दिया। गौरीकुंडसे आगेका रास्ता अपनी विकट चढाईके लिए प्रख्यात है। वह चढ़ाई चढ़कर हम केदारनाथके नजदीक पहुंचे। रास्तेमे एक मोडको पार करते ही दूर पर केदारनाथका शिखर दिखाई देने लगा। हरएक यात्रीने अपनी कायाको जमीन पर फैलाकर साष्टांग प्राणिपातपूर्वक जयघोष किया—'जय केदारनाथकी जय; जय केदारप्रभुकी जय'।

मन्दिरकी मूर्तिके दर्शनोकी अपेक्षा शिखरके दर्शनोंकी उमंग ही विशेष होती है।

४०. केदारनाथ

केदारनाथके मन्दिरकी लोकप्रियता बदरीनारायणसे कुछ कम तो है ही। इसीलिए यहांका मन्दिर अधिक प्राचीन, अधिक भव्य और तपस्वी-सा मालूम होता है। मन्दिरके अग्रभागमें बना यूनानी शैलीके छप्परका त्रिकोण (जिसे अंग्रेजी-में 'गेबल' कहते हैं) ध्यान खीचता है। टेहरीके हेडमास्टरने कहा था कि यहाके पंडोंके पास शंकराचार्यकी जो वंशावली है उससे यह सिद्ध हो सकता है कि यहांका मन्दिर अत्यन्त प्राचीन है। लेकिन मन्दिरका स्वरूप ही उसकी प्राचीनताका यथेष्ट प्रमाण है। फिर यहां यूनानी शैली कहांसे आई ? या कि यूनानी लोगोंने अपनी शैली यहांसे ली ? इस शैलीको अपनी तो कहा ही नही जा सकता। यदि यह हमारी होती तो इसके अनेक प्राचीन नमूने अनेक रूपोंमें दिखाई देते। काश्मीरमें पन्दरे-थान नामकी एक जगह है उसकी स्थापत्य-शैलीके विषयमें ऐसी ही शंका उठती

है। यदि अशोकका राजमहल ईरानी शैलीका था, तो केदारनाथमे यूनानी शैलीके आने पर आश्चर्य क्यो हो? हम यह क्यो माने कि हमारे समर्थ पूर्वज परायी कला-से घृणा करते थे? जब निर्बल लोग कहीसे कुछ उधार लाकर पहनते है, तो उसमे उनकी गरीबी ही ज्यादा स्पष्ट होती है; लेकिन जब बलवान कहीसे कुछ उधार लेते हैं, तो ऐसा मालूम होता है मानो वे खुद ही उपकार कर रहे हो।

केदारनाथके मन्दिरके पास कुछ कुडोमे लम्बे-लम्बे लगोटीनुमा कागज पडे हुए दिखाई दिये। कुछ कागज कपडेकी चिन्दियो पर चिपकाये हुए थे। उनमे मे एकको बाहर निकालकर देखा, तो वह किसीकी जन्मपत्री निकली। पूछताछ करने पर पता चला कि बहुतसे वृद्ध यात्री केदारकी यात्रा करके कृतकृत्य होने पर यहा अपनी जन्मपत्रिकाका विसर्जन कर देते है। जिन दर्शनोकी उत्कठा बरसोमे लगी थी, केदारनाथके वे दर्शन हो चुके; जीवनका सारा पाप धुल गया, नवग्रहोने अपना-अपना प्रभाव लौटा लिया। अब इस जन्मपत्रीमे देखना क्या है, जो कागजका यह टुकड़ा अब सहेजा जाय?

केदारप्रभुके दर्शनोके बाद भी मनुष्यको जीवनकी अभिलापाने छोडा कहा है कि वह यहा अपने जीवनका ही विसर्जन कर सकता? जब जीवनका मोह नही छूटता, तो जीवनकी प्रतिनिधिभूत जन्मपत्रीको छोडकर ही सन्तोष माना जाता है। पर्याय-धर्मकी बलिहारी है। इब्राहीमसे पुत्रकी बलिके बदले एक बकरेकी बलि लेकर ही उसके भगवानने सन्तोष माना था। गयाजी जाकर कामक्रोधादि षड्-रिपुओंका त्याग करनेके बदले कोई न रुचनेवाला शाक या फल छोडकर ही यात्री अपनी यात्रा सफल करते है। नहानेकी इल्लतमे बचनेके लिए पहाडी ब्राह्मणोने पानीकी पाच बूदोंकी 'पंचस्नानी' का आविष्कार किया। और, आजकलके सभ्य राष्ट्र भी शत्रुके हाथमे न आने पर उसके चित्रको चौराहे पर जलाकर अपनी क्रोध-वृत्तिको सन्तुष्ट करते है। बेचारे मनु भगवानने आरम्भमे मानव-जातिसे कह रखा है कि मुख्य धर्मके पालनकी शक्ति होते हुए भी जो मनुष्य पर्याय-धर्म अथवा आपद्-धर्मसे सन्तोष मानता है, उसे परलोकमे उस क्रियाका फल नही मिलता।

हिमालयमें स्थित हमारे ये सारे तीर्थस्थान दस-दस हजार फुटकी ऊंचाई पर होते हुए भी चिर-हिमप्रदेशकी तलहटीमे ही बसे हुए है। इसलिए यहा जिधर देखो, ऊंचे-ऊचे पहाड़ नजर आते है। हम मानव इन घाटियोंकी गोदमे इतने नन्हे दिखाई देते है कि हमे बालककी उपमा भी शोभा नही देती।

महाभारतमे केदारनाथका वर्णन सुन्दर ढंगसे हुआ है। जब पाडव वनवासमे थे, तब मध्यम पाडव अर्जुन अस्त्रप्राप्तिके लिए घूमता-भटकता इस तरफ आया था। और जब भीम दिव्य कमल लानेके लिए निकला, तो वह भी यहा तक आया था। रामदासस्वामीको हनुमानजीके दर्शन भी शायद इसी प्रदेशमे हुए होगे। और जब अपनी जीवनयात्राकी समाप्ति पर पाडवोंने महाप्रस्थान किया था, तब भी वे

यही आये थे। वे वृद्ध पांडव और उनकी साथिन मानिनी द्रौपदी इसी भूमि पर विषण्ण चित्तसे विचरे होगे। यह विचार कि जिन पहाड़ोंको आज मैं देख रहा हू, वही पहाड़ उन्होने भी देखे थे, हमे पाडव-कालके साथ जोड़ देता है। और महाप्रस्थानका स्मरण होते ही धर्मराजके उस ईमानदार कुत्तेका स्मरण हुए बिना कैसे रह सकता है? इन्द्रके स्वर्गमे आजकलके होटलोकी तरह कुत्तोके लिए प्रवेश नही था। इन्द्रने युधिष्ठिरसे कहा—"इस मैले-कुचैले जानवरको छोड दे; तुझे अब पुण्यलोक मिला है।" धर्मराज बोला—"आप कहे तो मै लौट जाऊं, लेकिन इस ईमानदारका त्याग मुझसे न होगा। 'स्वर्गसुखार्थ अकार्या न करिन सोडूनि मी सुकार्याते'—स्वर्गसुखके लिए भी मैं सत्कार्य छोडकर अकार्य नही करूंगा।"

जब हम केदारनाथके मन्दिरमे पहुचे, तो वहा लगातार शंखध्वनि सुनकर हमारी चित्तवृत्ति सहसा उत्तेजित हो गयी। दूसरे दिन सवेरे हमने देखा कि यहा की मूर्ति तो एक बड़ा खुरदरा पाषाणमात्र है। यह एक अलग बात है कि कई-कई जमानोके यात्रियोंकी अखंड धाराने अपने स्नेहसे इस पाषाणको चिकना बना दिया है। जो आता है वही शिवलिंग से अपनी देह भिडाकर उसे छातीसे लगाता है।

केदारप्रभुके दर्शन कर चुकनेकी मस्ती न हो, तो कोई यात्री एक रातके लिए भी यहाकी ठंडको सह न सके।

हजारो वर्षोंमे एककी एक श्रद्धा ही भारतवासियोको प्रतिवर्ष यहा ले आती है। भारतवर्षके इतिहास और पुराणोमे जितने पुरुष प्रख्यात हैं, उनमेसे कई इस जगह आकर और इस शिवलिंगको आलिगन देकर धन्य-धन्य हुए होगे। साधारण कोटिके असख्य लोगोने उन सबकी प्रणालिकामे अपना स्थान ग्रहण करके अपने तुच्छ जीवनको भी गौरवान्वित किया होगा। जिसने इस स्थानको पसन्द किया और जिसने सबसे पहले अपनी भक्तिसे इमे सीचा, उस व्यक्तिकी विभूति कितनी बडी रही होगी! अपने उस अज्ञान भक्त ऋषि और भारतीय पूर्वजको केदारनाथ के प्रभुके साथ ही हमारे अखड वन्दन पहुचे।

सवेरे धूप चढनेके बाद कुछ देर करके हम मन्दाकिनी पर स्नानके लिए गये। नदीकी धारामे पत्थर इतने अधिक थे कि नहानेकी सुविधाका विचार हो ही नही सकता था। और वहां नहानेवाले भी बहुत आये थे। इसलिए एकान्तका जो आनन्द होता है, वह भी वहां नही मिला। एकान्तकी इच्छा जितनी स्वाभाविक है, उतनी ही विचित्र है। एकान्तके लिए हम निर्जन स्थान खोजते है। मनमे कहते हैं, कैसा निर्जन स्थान है! उस समय हमे यह खयाल नही रहता कि हमारी उपस्थितिके कारण ही उस स्थानकी निर्जनता मिट गयी है। क्या यह इच्छा करना उचित है; धर्म्य है कि अमुक स्थानमे अकेला मैं ही रहू, और दूसरा कोई न रहे?

तिस पर भी धर्मात्मा ही खास तौर पर निर्जन स्थानोकी खोज करते है। नही; सिर्फ धर्मात्मा ही नही। एक साधुने कहा था—"रोगी, भोगी और योगी तीनों

शान्त, निर्जन स्थान खोजते हैं।" तो भी तीनोंकी आतुरतामें कितना अन्तर होता है ?

हिमालयमें इतनी दूर आने पर जिस क्षण जहां एकान्तकी इच्छा हो, उसी वक्त चारों तरफ जन-संपर्क बना रहे, तो वह कितना बुरा मालूम होता है ?

अब तो सिर्फ बदरीनारायणकी ही एक यात्रा और रह गयी। यहांसे बदरी-नारायण बहुत दूर नहीं है। केदार-बदरीके दरमियान केवल एक ही बड़ा पहाड़ खड़ा है। पहाड़ लांघनेकी सुविधा हो तो दोनोंके बीच पांच मीलका भी अन्तर नही है। लेकिन इस ऊंचे पहाड़को लांघना ही मुश्किल है। वह निरन्तर बरफसे ढका रहता है। अतः लोगोंको आनेके रास्तेसे वापस जाकर और बड़ा चक्कर खाकर, कई पहाड बचाकर नौ दिनकी यात्राके बाद बदरीनारायण पहुचना पड़ता है। इस परमे यात्रियोमे कहावत पड़ गयी है—नौ दिन चले ढाई कोस। एक दन्तकथाके अनुसार प्राचीन कालमे यह पहाड बीचमें नही था। एक ही पुजारी दोनो जगह एक ही आरतीसे इकट्ठी पूजा कर सकता था। यह बात चाहे जितनी रोचक हो, तो भी मानने लायक नही है। दन्तकथाओंके मूलमें कभी-कभी ऐतिहासिक तत्त्व होता है, लेकिन कभी-कभी केवल लोकमानसकी काव्य-कल्पना ही होती है।

'ढाई कोसवाली' इस बातको सुननेके बाद मनमे विचार आता है कि आधु-निक मनुष्योंको नौ दिनका यह चक्कर बचानेके लिए खंडाला घाटकी तरह सुरंगे ही बनानेकी सूझेगी।

कहते है, इटली या स्विट्जर्लैंडमे इस तरहकी सुरंगें बनी है। जब सुरंगका रास्ता बनेगा, तो बिजलीकी बत्तियां भी आ ही जायेगी। बिजलीके पीछे-पीछे होटल भी आवेंगे, और फिर उनके साथ धर्म-विरोधी असख्य चीजें आ सकती हैं। काश्मीरका तो यही हाल हो रहा है। क्या एक हिमालयको भी हम आधुनिकताके हमलेसे नही बचा सकते ?

४१. उखीमठ और तुंगनाथ

सुमेरुके शिखर और केदारके मन्दिरोंको प्रणाम करके हम लौट पडे। नाला-चट्टी तक सीधे रास्ते जाकर वहांसे हमने उखीमठका रास्ता पकड़ा। यह प्रदेश मुझे विशेष आकर्षक मालूम हुआ, क्योंकि यहांकी कुछ पहाड़ियां महाराष्ट्रकी पहाड़ियों-जैसी दिखाई दीं।

जिस तरह आजकल दिल्लीके राजपुरुष गरमियोमे शिमला जाते हैं, उसी तरह जाड़ोंमें केदारनाथ प्रभु नीचे उतरकर उखीमठ आते हैं। जाड़ोंमें केदारनाथ-की सारी घाटी बरफसे ढक जाती है। ग्रीष्मऋतु आने पर पुजारी फावड़े-कुदालियां लेकर उखीमठसे केदार जाते है, और बरफ काट-काटकर वहांके रास्तोंको साफ

कर देते हैं। पुजारी कहते हैं कि शीतकालके आरम्भमें मन्दिर बन्द करते समय वे मन्दिरमें जो दीया जलता छोड़ आते हैं, वही गरमियों तक जलता रहता है। इस तरहकी बातोंको हम सच न मानें, तो भी इनका जिक्र किये बिना रहा नहीं जाता। मनुष्यको क्या-क्या प्रिय है, और उसकी कल्पनाएं कहां-कहां तक दौड़ती हैं, सो जानने भरके लिए इन बातोंका उपयोग होता है। कई बार इस तरहकी कल्पनाओं में ही आगेके बहुतसे आविष्कारोंकी जड़ होती है। इसलिए मनुष्यकी मुरादके नाते मान्यताओंका लोप कभी होने ही न देना चाहिये।

उखीमठमें एक बड़ा बाजार है। याद नहीं क्यों वहां हमने चार या आठ आने देकर एक नारियल खरीदा था। यहांके बाजारमें कई नारियल दुकानसे मन्दिरमें और मन्दिरसे दुकानमें लगातार चक्कर काटा करते हैं। बाजारमें सिक्कोंके ऐसे ही चक्करको बचानेके लिए जिस तरह कागजके नोट चलाये जाते हैं, उसी तरह यहां मन्दिरमें भी कागजके नारियल चलाये जायं तो क्या बुरा है? नारियलकी तरह वे भीतरसे सड़ेंगे तो नही!

जहा तक मुझे याद है, बंगाली साधु माधवानन्द उखीमठ तक ही हमारे साथ था। यहां उसे भंग पिलानेवाले कोई दूसरे साधु मिल गये, इसलिए वह गहरी छनकर उसके नशेमें चूर हमसे मिलने आया था। उसकी मुद्रा प्रसन्न नही मालूम होती थी। आंखें ऐसी दिखाई देती थीं; मानो पित्तप्रकोप हो गया हो। अब हम अपनी यात्राके राजमार्ग पर आ गये थे। गंगोत्री-जमनोत्रीके रास्ते पर सुविधाएं कम और जोखिम ज्यादा है। वहां माधवानन्दको हमारे संगकी बहुत जरूरत थी। अब वह नहीं रही। और फिर हमारे साथ पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस मील रोज चलकर वह थक गया था। अब उससे और अधिक चला नही जा सकता था। उसने कहा—"अब मै थोड़ा आराम करूंगा। अगर आराम नही किया, तो डर है कि यही ढेर हो जाऊं।" हमने सन्तोषपूर्वक उसे बिदा दी। यहांकी धर्मशालामें एक डॉक्टरने हमें कुछ पत्ते दिखलाये। महाराष्ट्रमे जिसे 'घोड़ेके पैर' कहते हैं, उसी किस्मकी एक बेलके वे सूखे पत्ते थे। उन्हें हाथमे लेते ही उनकी बुकनी बन जाती थी। लेकिन उन्हींको जब पानीमें डाला गया, तो थोड़े ही वक्तमे वे फिर ताजे पत्तोंकी तरह हरे हो गये। डॉक्टरने हमसे आग्रहपूर्वक कहा कि वहासे थोड़ी दूर पर एक साधु रहता है। जो भी कोई उससे मिलने जाता है, उसे वह पत्थर मारता है और गालियां देता है। लेकिन दर्शन करके आनेवालेको चमत्कार दिखे बिना नही रहता। कोई न कोई लाभ तो होता ही है। हमें न तो गालियोंकी चाह थी, और न पत्थरोंकी, और न चमत्कार और लाभकी लालसा थी। इसलिए हमने दर्शनोंकी इच्छा नहीं की। हम आगे बढ गये।

अब हमें तुंगनाथकी चढ़ाई चढ़नी थी। अब तक हम कई चढ़ाइयां चढ़ चुके थे। इसलिए तुंगनाथकी चढ़ाईके लिए हम तैयार न हों, सो बात नहीं। परंतु

उस दिन हवामें जो कुहरा छाया हुआ था, उसके लिए हम सचमुच तैयार न थे। सवेरे हम बहुत बढ़िया चले, पर मार्गमे एक भी बढ़िया चीज देखनेको न मिली। क्षीरसागरमे मछलियोंकी तरह हम तुंगनाथकी चढाई चढ़ रहे थे। बीच-बीचमें रुककर हम अपने चारों तरफ देखते कि कहीसे भाग्य खुलते हैं? ठेठ चोटी पर पहुचनेके बाद बादल कुछ छितराये। ऊपरका भाग स्पष्ट हुआ। परन्तु शिखरके आसपास, हमारे पैरोंके नीचे, अब भी दूर-दूर तक बादल घिरे हुए थे। बादलोंसे भी ऊपर उठकर नीचेके बादलों पर नजर डालनेमे जो आनन्द आता है, और जैसे गौरवका अनुभव होता है, कम-से-कम उसीके लिए हरएकको यहा आना चाहिये। सिहगढ़, दार्जिलिंग, आबू आदि स्थानों पर इस तरहकी शोभा कई लोगोंने देखी होगी। उस वक्त ऐसा जान पड़ता है, मानो हम इस पृथ्वीके नही बल्कि बादलों पर विराजमान गंधर्व-नगरीके निवासी है, और हमेशा इसी तरह ऊपर ही रहेंगे। एक बार इसी तरहकी एक दूसरी यात्रामे मै दोपहरको एक पहाड़ लांघ रहा था। वहां कुहरेके कारण पैरोंके नीचे दूर तक एक विशाल इन्द्र-धनुष फैला हुआ दिखाई दिया। ऐसा लगा मानो एक रंगीन किनारवाला भव्य आसन बिछा है और मै उस पर बैठा हू। ऐसे स्थान पर सेंतमेतमे इतना वैभव अनुभव करके मनुष्यका दिमाग हमेशाके लिए बदल जाय तो ताज्जुब नही। और यह भी नही कि ऐसे उदाहरण पाये न जाते हों। जिसका सिर थोडी देरके लिए बदलता है, वह कवि कहलाता है। मगर जिसका सिर सदाके लिए बदल जाता है, उसे पागल या दीवाना कहते है। ज्यों ही हम तुगनाथसे नीचे उतरे, हमारा बैरी कुहरा भी ऊपरसे तितर-बितर हो गया। हम जब ऊपर थे तभी वह तशरीफ ले जाता, तो क्या हम उसे शाप दे देते? नीचेकी मंगलचट्टीसे तुगनाथका शिखर बहुत भव्य दिखाई दिया। हम कितनी भव्य, रमणीय ऊंचाई तक पहुच गये थे, इसकी वास्तविक कल्पना हमें नीचे उतरने पर ही हो सकी। वहासे हम आगे बढ़े। स्वामी हमारे आगे थे। बाबा और मै बहुत पीछे रह गये। साझ हो गयी, अंधेरा होने आया, और वर्षाने भी जी भरकर अपना प्रसाद चखाया। इसलिए मै रुक गया। स्वामीका पता लगाया। वे आगे चले गये थे। मैंने बाबाके आनेकी राह देखी और हमने एक आदमीके साथ ओढ़ने-बिछाने का और दूसरा कुछ सामान आगे गोपेश्वर भेज दिया। हम वही रह गये। हमारी सारी यात्रामे यही एक रात ऐसी थी, जब हम तीनोंका संग छूटा था।

जब दूसरे दिन सवेरे हम गोपेश्वर पहुचे, तो देखा कि स्वामी वहाके वृद्ध महन्तसे बातें कर रहे थे। ये महन्त असलमे दक्षिणी थे, लेकिन यहा रहते-रहते पहाड़ी बन गये थे। टूटी-फूटी मराठी बोल लेते थे। 'रानांत'* की जगह 'राणात' कहते थे। उन्होंने हमारी आवभगत की। स्वामीने उनके साथकी अपनी बातचीत

*रानांत=जगलमें।

का सार हमें कह सुनाया। मालूम हुआ कि भगिनी निवेदिता यहां आयी थीं। बाद में हम उनसे बिदा होकर लालसांगाकी तरफ गये। वहांसे आगे बदरीनारायणका रास्ता पड़ता है।

लालसांगा यानी लाल पुल। इस गांवका असल नाम चमोली है। परन्तु यात्रियोंके लिए यहां अलकनन्दा पर जो पुल बना है, उसके रंग परसे इस स्थानका नाम लालसांगा पड़ गया है। यहां बाजार, तारघर वगैरा सुविधाओंके सिवा एक शफाखाना (अस्पताल) भी है। लालसांगासे आगेकी यात्रामें ज्यादा मजा नही आता। यात्रियोंका ऐसा तांता देखनेको मिलता है, मानो चीटियोंकी कतार चली हो। रास्तेमें गरुड़चट्टी पड़ी। वहां दोपहरमें अच्छी गहरी नींद आयी। इसलिए उस चट्टीका नाम याद रह गया है। पिछली रातको हमे मुश्किलसे थोड़ी नीद मिली थी। यदि दोपहरमे इस तरह सोने नही पाते, तो शायद बीमार पड़ जाते। याद पड़ता है कि यहीं हमने बिच्छू नामका भयानक पौधा देखा था। पिछले दिनों हम इतने चल चुके थे कि अब थकावट मालूम होने लगी थी। शामको हम जोशी-मठ पहुंचे। जिस प्रकार केदारप्रभुकी शीतकालीन राजधानी है उखीमठ, उसी प्रकार बदरीनारायणकी है जोशीमठ।

४२. बदरीधाम

१

अपनी दिग्विजयके बाद श्री आदि शंकराचार्यने हिन्दू धर्मके लिए एक सुन्दर व्यवस्था बना दी। जैसे ईसाई धर्मके लिए सन्त पॉल हैं, उसी तरह बड़े पैमाने पर हिन्दू धर्मके लिए श्री वेदव्यास और भगवान शंकर हैं। इन विभूतियोंके हृदयमे बड़े-बड़े खंड (महाद्वीप) समा सकते है। और इनकी दृष्टि तो सुदूर सदियो तक पहुंचती है। विश्वास, वाग्वैभव और व्यवस्था ही मानो इनका शरीर है। शंकराचार्य ने अपनी व्यवस्थाको कायम और सजीव बनाये रखनेके लिए भारतवर्षके चार सिरों पर चार मठ कायम किये—द्वारिका, शृंगेरी, पुरी और ज्योतिर्मठ (जोशी-मठ)। इस धर्म-सम्राटने इन चारों जगहोंमें अपने ब्रह्मचारी नियुक्त किये—मानो अशोकके राजुक (वाइसराय) हों!

उत्तरमें ज्योतिर्मठ स्थापित करके वहां दक्षिणकी तरफके कट्टर धर्मनिष्ठ ब्रह्मचारियोंको बुलाया और नियुक्त किया।

हिन्दुस्तानसे बौद्धधर्म उत्तरकी ओर तिब्बत और चीनकी तरफ गया। उसके मंगोलियन संस्कार फिर इस देशमें न आने पावें, कहा जाता है कि इसी एक उद्देश्यसे यह एक नाका यहां कायम किया गया था। प्राचीन संस्कृतिमें व्यापारकी

दृष्टि, सैनिक दृष्टि और धर्मकी दृष्टि तीनोंको एकत्र करके थाने कायम किये जाते थे।

जाड़ोंमें प्रभु बदरीनारायण स्वयं जोशीमठ आकर रहते हैं। इसलिए यहा भी पण्डों और यात्रियोंकी खासी भीड़ रहती है। यहांके कारीगर तांबे और चांदीकी चद्दरों पर बदरीनारायणका चित्र उभारकर बेचते हैं; वे कागज पर छपी तसवीरें भी रखते हैं। यहांका बाजार इस प्रदेशका एक बड़ा बाजार कहा जा सकता है।

जोशीमठमें हमें एक मद्रासी ब्रह्मचारी मिला। वह अंग्रेजीमे बोल सकता था। उससे जोशीमठके ब्रह्मचारी, महन्त और उनके वश-विस्तारकी काफी जानकारी हमें मिली। यात्रियोंकी अन्धी दानवृत्तिमेमे इन महन्तोको मुफ्तकी कितनी आमदनी होती है और उसका किस तरह विनियोग होता है, इसके विषयमे भी उसने हमें बहुत-कुछ बतलाया। उसकी बातोंसे हमें पता चला कि वह बहुत-सी अन्दरकी बातें भी जानता था। हिन्दू समाजको साधारण समझदारी सिखाने और कई तरहकी गंदगी दूर करनेके लिए अब किसी जबरदस्त शिक्षा-विशारद शंकराचार्यका अवतीर्ण होना जरूरी है। जोशीमठके मन्दिरके चारों कोनों पर चार छोटे-छोटे मन्दिर हैं। इन मन्दिरोंकी मूर्तियां प्रमाणशुद्ध और रुपहली लगी। इनमेसे एक मन्दिरमे शंकर और पार्वती भीलके वेशमें खड़े हैं। यह मूर्ति देखकर म तो मुग्ध हो गया।

जोशीमठसे उतरकर हम अलकनन्दा और धवलगंगाके संगम पर विष्णुप्रयाग पहुंचे। जब पहाड़ी नदियां परस्पर मिलती हैं, तो मतवाली हो उठती हैं। वहा देर तक बैठे रहना भी खतरनाक होता है। आश्चर्य नही कि उस मस्तीमें गोता लगाकर आदमी बह जाय। वहांसे आगेकी दो-तीन चट्टिया पार करके हम हनुमान-चट्टी पहुंचे। वहां प्राचीनकालमें एक बड़ा भारी याग (यज्ञ) हुआ था। परन्तु वहां बिना रुके हम आगे बदरीनारायणकी तरफ चले। रास्तेमें एक नदी जमकर बरफ हो गयी थी। उसे पार करना आसान न था। पैरों तलेकी बरफ ठोस है या तरल, सो जाननेके लिए हम अपनी लकड़ीकी नोक बरफ पर बड़े जोरसे मारते। अक्सर नदीकी ऊपरी सतह तो जम जाती है, पर भीतर ठंडा पानी बहता रहता है। अगर ऊपरकी तह टूट जाय और आदमी भीतर गिर पड़े, तो वह ठंडे पानीके प्रवाहरूपी उस तलघरमे बहे बिना न रहे! फिर उसके लिए बचनेका कोई उपाय ही नही। ऊपरकी पहाड़ी परसे लुढ़क-लुढ़ककर कई पत्थर बरफके पट पर आ गिरे थे। पत्थरोंके भारसे बरफ पिघलती तथा पतली होती है। फिर एक ऐसा क्षण आता है, जब बरफसे पत्थरका बोझ नही सहा जाता। डुब्ब! और बस, समझिये कि पत्थरने जल-समाधि ले ली। इस तरहकी कुछ जलसमाधियां देखकर हम चेत गये थे। कहते हैं कि एक बार कोई धनवान मनुष्य चार कहारोंकी झंपान-में बैठकर जा रहा था। इतनेमें एकाएक नीचेकी बरफ पिघल गयी। बस, वह

झंपान और वे पाचो प्राणी वही प्रवाहमे गिरकर ठडे हो गये। उनके लिए ठंडी सफेद कब्र तो तैयार ही थी।

मुझे कुछ-कुछ याद पडता है कि या तो केदारके रास्ते या बदरीनारायणके रास्ते पर हमे नदीके किनारे चलते-चलते कही पर बर्फका एक बडा-सा प्राकृतिक रूपसे बना हुआ पुल मिला था। नीचेकी तरफ झूलते पुलकी तरह बरफकी एकगोल कमान बन गई थी।

o o o

दर्शन हुए! आखिर बदरीनारायणके शिखरके दर्शन हुए। आनन्द! आनन्द! 'उरसा, शिरसा, दृष्टया, वचसा, मनसा तथा पद्भ्या, कराभ्या, जानुभ्या' हमने साष्टाग प्रणिपात किया! मनुष्य कितना ही क्यो न थका हो, क्या वह इस आखिरी फासलेको पार करनेमे देर लगा सकता है! हम तो हवाई गेदकी तरह हलके होकर दौडने लगे। भीगे कपडोसे पुरीमे प्रवेश किया। उतारे पर जाकर कपडे सुखाये और साझकी आरती तथा राजभोग देखने जा पहुचे। बाबा लोगोका घटी बजानेका अपना एक खास ढग होता है। कमर कम-कस कर दो आदमी घटी बजाते है, और असमान ताल बराबर साधते है। यह ताल इन्हे कैसे सूझा, इस पर आश्चर्य हुए बिना नही रहता। घटानादके आमन्त्रणके उत्तरमे हम मन्दिरमे पहुचे। लोगोकी भीड इतनी थी, मानो छत्ते पर मधुमक्खिया हो! उस वक्त मनमे क्या-क्या आया कौन-कौनसे भाव उमडे, अपने शब्दोमे इसकी कल्पना देनेकी अपेक्षा उसे स्वामी आनन्दकी भाषामे यहा टाक दू, तो मनको कुछ सन्तोष होगा :

'हम उठकर उतावलीसे मन्दिरमे गये। साक्षात् नारायणके द्वार पर—भगवानके चरणोमे—लोगोकी भीडका पूछना ही क्या था? सारी बदरीपुरी वही उमडकर आ गई थी। ऐसा अभागा कौन हो सकता है, जो पुरीमे रहकर भी राजभोगके दर्शन न करे! हमने ज्यो त्यो करके दर्शन किये। मन्दिरके भीतर दूर पर मूर्तिके पास अनेक दीपोकी दीपमाला जगमगा रही थी। दर्शन करके हम गद्गद् हुए। कृतकृत्य हुए। सगे-सम्बन्धी, स्नेही, आत्मीय सबका यहा स्मरण हुआ। कई दिनोसे जिसकी धुन लगी हुई थी, जिसके लिए महीनो जगलो और पहाडोमे मारे-मारे फिरना हमने खुशीसे कबूल किया था, उसे अन्तमे प्राप्त हुआ देख आखोसे आनदाश्रु बहने लगे, जीवन सफल हुआ। उस समय धन्यताका अनुभव करके, नारायणके द्वार पर कई लोग कृतकृत्य और पावन होकर, 'तेरे चरणोमे एक बार सदाके लिए स्थान दे दे, नारायण'; 'इसी क्षण तेरे दरवाजे पर आश्रय दे', 'अब तेरी शरणमे आनेके बाद फिर उस असार जगतमे मत भेज, प्रभो', 'मुझे उबार ले', इस जगतमे से निकालकर अपने चरणोके पास अक्षय्य शान्ति दे', 'धन्य हो गया हू नारायण, अब मृत्यु दे,' आदि अनेक प्रकारसे प्रार्थना करके भगवानको मना रहे थे! नारायणके द्वार पर, साक्षात् नारायणके सम्मुख उपस्थित होने पर भी किस अभागे प्राणी-

के मनमे इस असार संसारकी भ्रान्ति रह सकती है, या उसके लिए यत्किंचित् भी मोह रह सकता है ?

"मन्दिरके बाहर नारायणका प्रसाद (भात) बंट रहा था। मगर वहा इतनी करारी भीड थी कि लाख कोशिश करने पर भी हम भीतर नही घुस पाये। आखिर एक यात्रीसे थोडासा प्रसाद मागकर, बडे प्रेमस कृतकृत्य होकर खाया। यहां नारायणके द्वार पर राजा-रक एक है, गरीब-अमीर एक है, ब्राह्मण-शूद्र एक हैं, पापी-पुण्यवान एक है, सुखी-दुखी एक है, रोगी-कोढी, ढेढ-चमार, शूद्र-अतिशूद्र, चाडाल-पतित, ऊच-नीच, काले-गोरे, वैष्णव-शैव, संन्यासी-त्यागी, शाक्त-वैरागी, छोटे-बडे, बालक-स्त्री, सभी एक हैं। यहा न भेद है, न जाति है, न संप्रदाय या पंथ है, न तेरा-मेरा है; यहा न द्वैत है, न द्वेष हे, न वाद है, न टंटा है; यहा न सनातनी है, न समाजी है; यहा न सुधारक है, न उद्धारक है, न पूर्व है, न पश्चिम है, यहा सभी एक हैं, क्योकि आज सारे भाईबन्द फिर एक ही पितासे मिलनेके लिए विदेशसे लौटे हैं। यहा किसीका दरजा बड़ा नही । कोई भी तिनकेके समान नही, कोई तुच्छ नही। अहकारसे नाहक फूले हुए लोगोका मद यहा नारायणके दरवाजे पर उतर जाता है। जो छोटे हैं, उन्हे नारायण अपने हाथसे ऊपर उठाकर, पावन करके सबकी पंगतमे बैठा देगे। यहा इतना छोटा या इतना पापी भी कोई नही, जिस पर नारायणकी दृष्टि न पड़े ।

इक नदिया इक नार कहावै मैलो नीर भर्यो।
जब मिल गये तब एक बरन भये गगा नाम पर्यो ।।

"इस पतित-पावनके द्वार पर कौन पावन न होगा ? साक्षात् नारायणकी पावन दृष्टि पड़नेके बाद भी नीच-ऊच, अच्छा-बुरा, पापी-पुण्यवानके क्षुद्र भेदभाव-का मैल किस तरह रहेगा ? और यह अभेद, यह अद्वैत, यह प्रेम, यह एकात्मभाव, यह बधुभाव इस समय यहा बड़े-बड़े ज्ञानियोंसे लेकर ठेठ गवार तक सबकी समझ-मे आता है। अमीरसे लेकर निपट गरीब अपढ़, अनाड़ी यात्री तक, सब बिना किसी सकोचके, बड़े प्रेमसे, एक-दूसरेसे नारायणका प्रसाद मागकर और आपसमे बाट कर खाते है, सो यो ही नही । इसलिए एकबार बोलो "जय श्री बदरी विशालकी जय !", "जय श्री बदरी विशालकी जय !"

२

आज मुझे अन्तिम श्राद्ध करना था। यदि सिद्धपुर और गयामे माता-पिताका श्राद्ध किया जाय, तो माता-पिता तृप्त हो जाते है। लेकिन अगर मनुष्य बदरी-नारायणमें ब्रह्मकपालकी शिला पर बैठकर श्राद्ध करे, तो उसके सभी पूर्वज एक साथ मोक्ष पाते हैं। शास्त्रोंमें यह स्पष्ट लिखा है कि यहां श्राद्ध करनेके उपरात यदि मनुष्य फिर श्राद्ध करे, तो मोक्षको गये हुए पूर्वज नरकमे पड़ते हैं ! यहां श्राद्ध

करनेसे मनुष्य पितरोके ऋणसे सदाके लिए मुक्त होता है। अनेक यात्राएं करता-करता मनुष्य हिमालयकी यह आखिरी यात्रा करता है, इसलिए, उसके सारे ऐहिक बन्धन छूट जाने चाहिये। फिर अपने ही कुटुबसे चिपटे रहनेकी संकीर्णता उसमे रहनी ही नही चाहिये। जहा मानसिक आसक्ति छूटी कि धार्मिक ऋण भी चुक ही गया। श्राद्ध करना होता ह अपनी कोमल और प्रेमल स्मृतिमे रहनेवाले पूर्वजोका। हृदयकी ग्रथि खुलते ही अपने माने हुए सगे-सम्बन्धियोका बन्धन टूट जाता है। फिर यह लगावट दुबारा नही लगायी जाती। जो सबका हो गया, उसके लिए अपने और परायेका भेद क्यो रहे? भगवानके चरणोंमे आकर भी यदि मनुष्य ऐसी सकीर्णता रखे, तो समझिये कि वह वैसा ही बना है। वह और उसकी स्मृति दोनो नरकको न जावे तो और क्या हो? नरक यानी सकीर्णता। तुकारामने कहा है :

आधी होता मुक्त। स्वये झाला बद्ध।
घेउनीया छंद। माझे माझे। *

सवेरे उठकर, नहा-धोकर, लोटेमे चावल लेकर मै मन्दिर पहुंचा। बदरी-नारायणमे नहानेका कष्ट नही हैं। गरम पानीके बडे-बडे कुण्ड है। लोग जितने चाहे, नहाये, और जितना नहाना हो, नहाये। लोटा और चावल पुजारीके हवाले कर दिये। उसने कुण्डके चूल्हे पर दूसरे असख्य लोटोके साथ मेरा लोटा भी चढा दिया। दर्शन करके लौटा, तब तक लोटेमे चावल चुडकर भात तैयार हो गया था। बदरीनारायणको उसका भोग लगानेके बाद लोटा मुझे वापस मिला। उसे लेकर मै अपने पुरोहितके साथ ब्रह्मकपालकी विशाल शिला पर पहुचा और मैने श्राद्ध किया। यहाके पण्डोकी परेशानीको मे खूब जानता था। एक सस्कृतको छोडकर और किसीसे उनका बैर न था। इसलिए मैने खुद ही श्राद्धके मत्र याद कर लिए थे। मृत पूर्वजोके नाम भी उनके सगे-सम्बन्धियों सहित कण्ठ कर लिये थे। मैंने सबके नाममे यहा श्राद्ध किया, और एक कुलधर्मकी सागता (समाप्ति) सिद्ध कर चुकने का सन्तोष लेकर लौटा। कितनी कृतार्थता थी! जैसे मै इस दुनियामे था ही नही! वहासे सीधा वापस मन्दिरमे आया। घर जाकर भोजन करनेसे पहले मुझे फिर एक बार नारायणके दर्शन करने थे। दरवाजे पर भीड बढती जाती थी। इतने लोग इतनी भीड लगाकर खडे हो, एक-दूसरेका धक्का एक-दूसरेको लगता हो, और फिर भी किसीका मिजाज बिगडता हो, सो बात न थी। सभी भक्तिके उन्मादमे चूर थे। हरएक आखसे एक-दूसरेके प्रति सद्भाव टपकता था।

उस भीडमे एक मारवाडी युवती एक छोटी-सी थालीमे बादाम, शकर, किस-मिस, चन्दन, कपूर आदि अनेक पूजाद्रव्य लिये प्रवेश खोजती थी। इतनेमे किसीका धक्का लगा। हाथमेसे थाली गिर पड़ी। थालीके गिरते ही एक क्षणके लिए वह सन्न

*अर्थ—पहले मुक्त था। फिर 'मेरे, मेरे' की धुनमें पड़कर स्वतः बद्ध हुआ।

रह गयी, मानो छातीमें तीर भोंक दिया हो ! दूसरे ही क्षण वह रो पड़ी। और क्यों न रोती ? क्या उसने शकरका एक-एक दाना बीन-बीनकर पसंद नही किया था ? एक-एक बादाम अच्छा पुष्ट देखकर नही लिया था ? अपने हाथों चन्दन घिस-घिस कर उसका लेप नहीं बनाया था ? "यह सब बदरीनारायणको चढ़ाऊंगी" इस संकल्पके साथ सारी सामग्री एकत्र करके और उसे अपने प्राणोंकी तरह सहेजकर वह यहां तक लायी थी। उस पूजाद्रव्यके पीछे कितना ध्यान, कितनी भक्ति, कितना आनन्द सन्निहित था ! धन्यताके क्षणमें ही वह हाथसे गिरकर भगवानके द्वार पर बिखर जाय, इससे बड़ी विपत्ति और क्या हो सकती है ? कैसा उसका दु:ख था ! कैसा विलाप ! मेरा हृदय रो पड़ा। मैं पास गया। उस बालिकाकी भक्तिके आगे मेरा माथा झुका। मैंने कहा :

"बहन, यह वृथा शोक क्यों करती हो ? क्या इसलिए कि पुजारीके हाथों यह भोग भीतर नही पहुंच पाया ? तुम भूल करती हो। यहांका एक-एक पत्थर पवित्र है, पावन है। और भगवानके द्वार पर जड़े ये फर्शके पत्थर ! कौन जानता है कितने संत-महत, साधु-सत्पुरुषोंके चरण-स्पर्शमे ये सब पुनीत हुए होंगे ! भगवान तुम्हारे भोगको पुजारीके हाथों स्वीकारना नही चाहते थे। उन्हें वह तुम्हारे हाथों ही लेना था। इसलिए ऐसा हुआ। तुम्हें अपनी भक्ति पर विश्वास होना चाहिये।" ऐसी कई बातें मैंने उससे कही। बाला श्रद्धाकी दृष्टिसे मेरी तरफ देखती ही रही।

बिखरे हुए बादामों और शकरके दानोंको बटोरकर उन्हें भगवानके प्रसादकी तरह उसे देते हुए मैंने कहा—"जाओ बहन, अब सुखसे घर जाओ। भगवानकी कृपाके विषयमे मनमे शका न रखना।" भोली बाला ! मैंने जो कुछ कहा, सो सब उसने सुना, श्रद्धापूर्वक माना। आंसू पोंछ लिये और 'जय बदरी विशालकी जय' कह कर वहांसे चली गई। वह गई, लेकिन मुझे भक्तिकी दीक्षा देती गई। नारी हृदयमें कितनी श्रद्धा होती है, कितनी भक्ति होती है, कितनी उत्कटता होती है, इसका मुझे दर्शन कराती गई। मुझे बदरीनारायणके दर्शन मूर्तिकी अपेक्षा इस भोली मारवाड़ी बालामें विशेष हुए।

४३. वापसीमें

बदरीनारायणसे कुछ यात्री वसुधारा जाते हैं। वहां ऊपरसे एक झरना गिरता है। कहा जाता है कि जो पुण्यवान होते हैं, उन्हींके माथे पर उसकी धारा गिरती है। यदि कोई पापी हो, तो धारा एक तरफ गिरेगी, उसके माथे पर नहीं। वसुधारा जानेका विचार हमने छोड़ दिया, क्योंकि हमारे कुलियोंकी नीयत आगे जानेकी न थी। वे अब जल्दी घर जानेके लिए उत्सुक थे। हम लौट पड़े। रास्तेमें

देखा कई लोग बदरीनारायणका भात धूपमें सुखा रहे थे। यह सुखाया हुआ भात वे लोग यहांसे घर ले जायेंगे। बंगाली बंगाल ले जाएंगे, पंजाबी पंजाब, मारवाड़ी अपनी मरुभूमिमें ले जाकर खायेंगे और कट्टर व कर्मठ महाराष्ट्रीय भी अपने घर ले जाकर और सारे सगे-सम्बन्धियोंको बांटकर खायेंगे। मद्रासियोंके—ठेठ रामेश्वर तकके मद्रासियोके—घर भी यह भात पहुंचेगा। जैसे शालिग्राम पत्थर नही समझा जाता, जनेऊ सूत नही समझा जाता, उसी प्रकार यह भात अन्न नही समझा जाता। यह तो प्रत्यक्ष प्रभुका प्रसाद है। यह हमारी काया पवित्र करता है। किसी भी कारणसे यह प्रसाद अपवित्र नही होता। यह अग्निकी तरह पवित्र है। हम यह प्रसाद लेकर लौटे।

रास्तेमें जहां तहा बिच्छूके झुरमुट दिखाई देते थे। मराठीमें इस पौधेको 'खाजकुई' कहते हैं। कोई 'खाजकोली' भी कहते हैं। इसके पत्ते शरीरसे रगड़ खाते ही बड़ी खुजली और जलन पैदा करते है।

एक वैष्णव भक्त तुलसीके पौधेको प्रणाम कर रहा था। एक पादरीने यह देखा। उसने तुलसीके पत्ते हाथमे लिये और मसल डाले। भक्त भी पहुंचा हुआ था। वह सहज भावसे कुछ आगे गया और बिच्छूके पौधेको साष्टांग प्रणाम करके बोला—"हमारा यह देव तुलसीसे भी बडा है।" दुबारा प्रयोग करके देखने पर पादरी साहबको भी इस बातकी प्रतीति हुई। उधरके एक पहाड़ीने हमे यह किस्सा हंस-हंसकर सुनाया। इस तरहके चुटकुले सभी प्रान्तोंमे सुने जाते है। अगर पादरी न हो, तो दूसरा कोई विधर्मी या नास्तिक हो सकता हैं। किस्सेका काम तो किसी भी आदमीसे चल जाता है।

हम लालसांगा पार करके मिलचौड़ी आये। यहां टेहरी राज्यकी सीमा खतम होती है। कुलियोंके इकरार यही तकके होते हैं। कैरासिंह और बादरू दोनों अपना पूरा वेतन पाकर गद्गद् हो गये और हमें छोड़कर लौटे। बिदा होते समय वे हममे कहने लगे—"आप लोग इतनी तेजीसे चले कि हमारे दिन बचे, आधा खर्च भी बचा। लेकिन चलते-चलते दम निकल गया। अब घर जाकर खूब दूध-घी खायेंगे और अगले साल बोझ ढोनेके कामसे छुट्टी लेगे।" जिस दिन हम मुकाम करते, उस दिन उनका आधा खर्च हम पर पड़ता था। गेहूंके आटेके बदले यदि हम उन्हें दाल-चावलकी खिचड़ी दे देते, तो वह उनके लिए बड़ी नियामत हो जाती थी। खिचड़ी देकर दस मील ज्यादा चला लेने पर भी वे उज्र नही करते थे। हमने एक नया कुली किया। वह था तो सीधा, लेकिन भोलेपनमें बाते बहुत करता था। जिस तरह साधु लोग अपने विषयमें बात करते वक्त 'मैं' कहनेके बदले 'यह शरीर' कहा करते हैं, उसी तरह हमारा कुली भी, जब उसे अपने बारेमें कुछ कहना होता, तो 'मेरे प्राण' से ही बात शुरू करता था : 'मेरे प्राण थक गये हैं', 'मेरे प्राणों को नीद चाहिये', 'मेरे प्राण अंधेरेमें जानेकी हिम्मत नहीं करते' वगैरा! वगैरा!

मिलचौड़ीसे आगे चलते ही गणई आया। वहां एक दुकानके पिछवाड़ेवाले लम्बे और संकरे दालानमें हम सो रहे थे। थके हुए शरीरको नींदकी एक झपकी मुश्किलसे मिल पायी थी कि इतनेमें पड़ोसमें गाना शुरू हो गया। बहुतसे पहाड़ी जमा हुए थे। आवाज परसे हमने अन्दाज किया कि कोई लड़का गा रहा है। उसका गला अच्छा था। तान भी मधुर थी। थोड़ी देर तक नीदमें गानेकी मिठास घुल गयी और मैं प्रसन्न हुआ। लेकिन गाना एक कडीसे आगे बढ़ता ही न था। आध घंटा हुआ, पौन घंटा हुआ, एक घंटा हुआ, दो घंटे हो गये! मगर बस वहीकी वही कड़ी चल रही थी। मैं उकता गया, तंग आ गया, बेचैन हो गया। वह कड़ी मगजमें घुसी, माथा घूमने लगा। परन्तु गाना कुछ भी किये रुकता ही न था। वहां फरियाद भी किससे करता? आखिर थककर कब सो गया, भगवान ही जाने। जो संगीत शुरूमें मधुर लगा, वही बादमें इतना अरुचिकर हो गया, यह देखकर मनमे विचार आया कि स्वर्गके देव भी एक ही जैसे भोग पुनः पुनः भोगकर मेरी तरह ही उकता उठते होंगे और मृत्युके लिए तरसते होंगे। मुझे तुकारामका एक अभंग याद आया :

स्वर्गीचे अमर इच्छिताती देवा।
मृत्युलोकीं व्हावा जन्म आम्हां।।+

अमरत्व यानी, जैसा कि स्वामी दयानन्दने कहा है, कभी समाप्त न होनेवाली आजन्म सजा। मैं कोई स्वर्गका देव न था, जो मृत्यु लोकके लिए तरसता। मेरे लिए तो बस, यही जरूरी था कि सवेरा हो और मैं गणईसे आगे रवाना होऊं।

यहां रास्तेमे अच्छा आटा नही मिलता। उसमें चक्कीकी बालू अवश्य मिली होती है। नतीजा यह हुआ कि मेरा पेट बिगड़ गया। मुझे बुखार आने लगा। लेकिन यहां रुकनेसे काम थोड़े ही बननेवाला था। चाहे बुखार हो, चाहे न हो, चलना तो पड़ेगा ही। रास्तेमें काठकेबर्तनमें जमाया हुआ कच्चे दूधका दही मिलता था। वह दही मैं दिल खोलकर खाता था। दहीसे मुझे नुकसान नहीं हुआ। उलटे, पेटके मरोड़ोंके लिए वह अकसीर दवाके समान सिद्ध हुआ।

४४. 'द्वाराहाट'

एक दिन बिलकुल शाम हो जाने पर हम एक पहाड़की तलहटीमें जा पहुंचे। रास्तेमें पानी बहुत बरसा। मैं भीग गया था। एक आदमीके यहां कपड़े सुखाने ठहर गया, अतः पिछड़ गया। दुकानदारने कहा—"तुम्हारे दो साथी आगे द्वाराहाट गये हैं और तुम्हें वहां पहुंचनेको कह गये हैं।" दुकानदारसे सन्देशा सुना और मैंने

+अर्थ—स्वर्गके देव इच्छा करते हैं कि हे ईश्वर, हमें मृत्युलोकमें जन्म चाहिये।

आकाशकी तरफ देखा। ऐसा सुन्दर आकाश क्वचित् ही देखनेको मिलता है। अंधेरा बढ़ता चला। मैं सोचने लगा कि आगे जाऊं या न जाऊं? मनने तय किया कि अंधेरेमें जानेसे एक रात यहां रह जाना ही अच्छा है लेकिन दूसरे ही क्षण धुन सवार हुई कि चला चलूं। एक रातका अनुभव मिलेगा। दुकानदारको अचम्भेमें डालकर मैं उस रातमें आगे बढ़ चला।

पूनोंकी रात थी। लेकिन अंधेरा इतना था कि अमावसकी रातमे भी क्या होता? आकाश काले सियाह् मेघोंसे घिरा हुआ था। रास्ता बराबर सूझता न था। दोपहरकी बारिशके कारण रास्ता बीच-बीचमे धुल भी गया था, और छोटे-बड़े गड्ढे बन गये थे। रास्तेमें कई बार गिरा, लड़खड़ाया, घुटना मोच खा गया। ओढ़ी हुई शालको मेरी अपेक्षा कटीले झाडों पर ही दया आने लगी, और वह वही रह जानेकी बात करने लगी। उसे मनाकर साथ लिया और आगे चला। ज्यों-ज्यों वक्त जाता था त्यों-त्यों पछतावा होता था कि पीछे रह जाता तो कितना अच्छा होता! बहुत चलनेके बाद दिलमे विचार आया कि जितना चलकर आया हूं, वह अन्तर अधिक है या आगे बचा हुआ अन्तर अधिक है? लौटनेकी सोचू और आगेका रहा हुआ अन्तर दो फर्लांगका ही हो, तो बेवकूफ ही न बनू! आगे चलता जाता था, और फिर हिसाब लगाता जाता था। मेरी घड़ी अंटीमे बंधी थी, लेकिन रातके वक्त उसमें क्या दिखाई देता? अन्तमे बुद्धिमानी सूझी कि विचारकी घड़ी बंद कर दू, और चुपचाप चलता चलू। धीरज खुटनेसे पहले जंगल ही खुट गया, और मै द्वाराहाट पहुचा।

द्वाराहाटमे बाजार लगता है। लेकिन रातके नौ-साढ़े नौ बज गये थे। सारा गाव सो रहा था। अब बाबा और स्वामीकी कहां तलाश की जाय? किसीका दरवाजा खटखटाऊं और वह मुझे दुतकार दे तो? और मान लो कि न भी दुतकारे, तो उससे क्या पूछू? हमारे बाबा कहां है? स्वामी कहां है? वर्ड्सवर्थकी 'ईडियट बॉय' नामक कविता याद आयी। मूर्ख मांने लड़केको गधे पर बैठाकर आधी रातको डॉक्टरके पास भेजा। गधा और बेवकूफ लड़का दोनों जंगलमे 'ठण्डी धूप' की सैर करने गये। आखिर मूर्ख माता उन्हें खोजने निकली। शहरमे जाकर डॉक्टरसे पूछा—"डॉक्टर, डॉक्टर, व्हेर इज़ माई जॉनी?" (डॉक्टर, डॉक्टर, मेरा जॉनी कहा है?) बेचारा डॉक्टर उस पागल मांके दुलारे जॉनीको कहांसे जाने? नीद खराब होनेके कारण वह चिढ़ गया, और बड़बड़ाता हुआ सो गया। यदि मैं घर घर बाबा और स्वामीकी तलाश करता, तो मेरी भी यही दशा होती। अन्तमें एक उपाय सूझा। मैं बड़ी गम्भीर और ऊंची आवाजमें उपनिषदोंके उन मन्त्रोको जो मुखाग्र थे, गाता हुआ घूमने लगा।

जब बिजली चमकती थी तो कुछ दिखाई पड़ जाता था, लेकिन बादमें अंधेरा दुगना हो जाता था। एक रास्तेके छोर पर पहुंचा तो वहां समतल और चिकनी

जमीन दिखाई दी, मानो रेत ही बिछी हो। सोचा, टेनिस कोर्ट यहां कैसा ? शायद उधरसे होकर मेरा रास्ता आगे जाता होगा। लेकिन मुझे शक हुआ। एक पत्थर उठाकर टेनिस कोर्ट पर फेंका। पत्थरने रिपोर्ट दी कि यहां पानी है, और तुरन्त जल समाधि ले ली। उस परोपकारी पत्थरको धन्यवाद। मैने दाहिनी तरफका रास्ता लिया और फिर गश्त लगाना शुरू कर दिया। थोड़ा आगे जाते ही एक दुकानकी अटारीकी छोटी-सी खिड़की खुली। स्वामीने पुकारा – "काका ?" मैने पूछा—"आनंद ?" और लालटेन लेकर स्वामी तुरन्त नीचे आये। बाबाने रसोई बनाकर रखी थी। उन्होने बडे प्रेमसे, छलछलाती आखोसे मुझे भोजन कराया। इतने अंधेरेमे मै कैसे आ सका, यही सबकी चर्चाका एक बडा भारी विषय बन गया। प्रेमकी बातोंका कभी अन्त आता है ? थके हुए शरीरने तकाजा न किया होता, तो हमारी बाते खतम होनेसे पहले रात ही खतम हुई होती। सवेरे 'टेनिस कोर्ट' जैसे उस तालाबके दर्शन किये। तालाब पर लाल-हरी अजीरी काई जमी हुई थी।

हम आगे चले। अब रास्ता थोड़ा रह गया था। नीचे घाटीकी राह चलते, तो असह्य बफारेसे भुन जाते। इसलिए हमने भी पहाडी लोगोंकी तरह पहाडियो पर जैसा भी कुछ रास्ता मिला, उसीसे जाना पसन्द किया। बार-बार चढना-उतरना पडे तो परवाह नही, लेकिन घाटीकी भट्टीसे तो बचना ही चाहिये। आखिर अल्मोडा आया। वहाके परिचित स्थान भी नये-नयेसे मालूम होने लगे। हमने डेढ़-दो महीनोमे कितना कीमती अनुभव प्राप्त किया था, कितने विचार विकसित किये थे, कितनी भव्यताका आकण्ठ पान किया था ! दृष्टि बिलकुल नयी हो गई थी। अब उसे पुराने दृश्य भी नये लगने लगे तो इसमे आश्चर्य ही क्या ?

एक यात्रा पूरी हुई, एक संकल्प सफल हुआ। लेकिन इसीमेसे अमरनाथकी यात्रा की एक फुनगी निकली, जो हमे चैनसे बैठने नही देती थी। बाबा और मै स्वामीसे बिदा लेकर फिर हरिद्वारकी ओर चले। हमे स्वयंभू महादेव अमरनाथके दर्शन करने थे। काश्मीरका भूस्वर्ग देखना था। सृष्टि अनन्त है, दिशा और काल अनन्त है, कार्यकारण-भाव अनन्त है, मूल परब्रह्म अनन्त है; तो मनुष्यकी वासना, उसके सकल्प और उसकी योजनाओका भी अन्त कैसे हो ?

४५. फलश्रुति

'रोचनार्था फलश्रुतिः'। किसी भी वस्तुकी तरफ मनुष्यके चित्तको ललचानेके लिए जो सच्चे-झूठे लाभ बतलाये जाते हैं, वे फलश्रुति हैं। बच्चोको सच्चे लाभ बतलाये जायं, तो वे उनकी निगाहमे नही जंचते। इसलिए उन्हे रुचिकर लगनेवाले

सच्चे या झूठे लाभ बतलानेका हमारे यहां, अथवा यों कह लीजिये कि दुनियाके सभी देशोंमें, बहुत पुराना रिवाज है। इससे सत्यका कितना अपमान होता है, इसका विचार कोई करता ही नहीं। और एक बार असत्य बोलनेका निश्चय करने पर फिर उसमें मर्यादा क्यों रखी जाय? असत्यकी मात्रा नशीली चीजकी तरह बढ़ती ही जाती है। परन्तु इसीमें असत्यकी दवा भी है। हमारी धार्मिक विधियों और व्रतोंमें फलश्रुतिकी मानो होड़-सी चल रही है। आजके इश्तिहारबाज जैसी निर्लज्जतासे झूठका बाजार गरम करते हैं, उतनी ही निर्लज्जता हम पुरानी फल-श्रुतियोंमें देख सकते हैं। 'पुत्रार्थी लभते पुत्रम्। धनार्थी लभते धनम्।' आदिकी मालिका जहां आरम्भ हुई कि फिर उसका अन्त आता ही नहीं। 'भुक्ति मुक्ति च विन्दति' तक पहुंचे बिना कैसे रहा जाय?

इस ढंगसे यदि हिमालय-यात्राकी एक फलश्रुति लिखनी हो, तो मुझे कहना चाहिये कि जो कोई यह यात्रा करेगा, उसे कम-से-कम सौ शतायुषी पुत्र होंगे, उसका घर सुवर्णका होगा, मनचाही शादियां करने पर भी वह जवान ही रहेगा, स्वर्गकी अप्सराएं, हिमालयके सिद्ध, गन्धर्व और सनत्कुमारादि निवृत्तिशाली ब्रह्मचारी एक ही समय सम्मिलित रूपसे उस पर प्रसन्न होंगे। ऐसी फलश्रुतिसे मनुष्यकी कैसी दुर्दशा होगी, इसका विचार करना हमारा काम नहीं।

यदि यात्राकी इतनी फलश्रुति है, तो यात्रा-वर्णनकी फलश्रुति इससे भी बढकर होनी चाहिये। जो कोई यह यात्रा-वर्णन पढ़ेगा, उसे अर्थलाभ होगा। जो इस वर्णन-ग्रंथको अपने संग्रहमें रखेगा, उसके घर चोर नही आयेंगे। जो कोई यह पुस्तक मोल लेकर ब्राह्मणों और विद्यार्थियोंको—और आजके जमानेमें हरिजनों-को—मुफ्त देगा, उस पर ग्रंथकार आचार्य और उसके प्रकाशक सदा सन्तुष्ट रहेंगे। प्रवास किये बिना ही उसे यात्राका फल मिलेगा, इत्यादि, इत्यादि।

अगर लालचके साथ भय न जोड़ा जाय, तो काम अधूरा माना जायगा। इस-लिए, जो कोई इस पुस्तककी बुराई करेगा, इसके वचनों पर मनमें सन्देह करेगा, उसे यह होगा, वह होगा। और ऊपरकी फलश्रुतिके विषयमें जो शंका करेगा, वह तो कम-से-कम चार कल्प तक रौरव नरकमें सड़ता रहेगा। और जो कोई इस यात्रा-वर्णनको पढ़कर फलश्रुतिके अध्यायको छोड़ देगा, 'वृथा पाठो भवेत् तस्य श्रम एव ह्य दाहृत:'।

हिन्दु धर्म पर फलश्रुतिने जितना अत्याचार किया है, उतना शायद नास्तिकता ने भी न किया होगा

परन्तु मुझे अपनी यात्राकी फलश्रुति इससे बिलकुल भिन्न रीतिसे देनी है। मुझे यह बतलाना है कि इस यात्रासे मुझे कौनसा लाभ हुआ, और जो कोई इस प्रकारकी यात्रा करेगा, उसे प्रत्यक्ष क्या-क्या लाभ हो सकते हैं। इतना कहा कि मेरा काम पूरा हो गया।

शुरूमें ही मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि इस तरहकी यात्राके लिए जो तैयारी पहलेसे करनी चाहिये, वह मैंने नहीं की थी। पूर्व तैयारीके बिना किये गये काम कम-से-कम फल देते हैं। शिक्षा जीवनकी पूर्व तैयारी ही है। इसलिए शिक्षाशास्त्रीको तो हर बातमें पूरी-पूरी पूर्व तैयारी करनेका खयाल रखना ही चाहिये। लेकिन आजकलके शिक्षा-शास्त्री दूसरोंको जो शिक्षा देते हैं, उसे अपने जीवनमें लानेकी परवाह नही करते। मुझे तो याद नहीं आता कि मैंने अपने जीवनमें किसी भी अवसर पर ठीक-ठीक पूर्व तैयारी की हो। इसलिए मैं इस यात्रा की फलश्रुतिमें क्या कहूं ?

हिमालयकी यात्रा अथवा उत्तरकी किसी भी यात्रा पर जानेवालेको हिन्दी भाषाका कामचलाऊ ज्ञान तो होना ही चाहिये। मेरे पास यह ज्ञान नहीं था। जिस प्रदेशकी यात्रा कर रहे हों, उसके स्थानिक इतिहास और स्थानिक भूगोलकी साधारण जानकारी तो यात्रीको होनी ही चाहिये। मुझे वह भी नही थी। यात्राके लिए रवाना होते समय तीर्थक्षेत्रका माहात्म्य, जैसा भी मिले, पढ जाना चाहिये। अन्यथा मनुष्य यात्राके आधे काव्यको खो बैठेगा। पूर्व तैयारीके नाते मेरे पास उत्साहकी पूंजी यथेष्ट थी। शरीर दुबला-पतला लेकिन कष्ट-सहिष्णु था। बरबाद करनेके लिए समयकी कमी न थी। बिना किसी उद्देश्यके जीवन वितानेकी मानसिक तैयारी भी थी। मुझे रसोई बनाना आता था। पानीमे तैरना आता था, और अकेले-अकेले मनोराज्यमें मग्न होना भी आता था। प्रकृतिके साथ एकरूप होने जितनी मनोवृत्ति बन चुकी थी, और यह श्रद्धा थी कि निष्पाप प्रवृत्तिका कोई सात्त्विक फल ही मिलेगा। और, दूसरी बड़ी-से-बड़ी तैयारी थी प्रेमी मित्रोंका साथ।

वेदान्तके ग्रन्थोंमें कहा है कि भक्तोंमें दो प्रकारकी वृत्तियां होती हैं, बिल्लीके बच्चोंकी और बन्दरके बच्चोंकी। बिल्लीका बच्चा सभी तरह निराधार होता है: आखे मीचकर पड़ा रहता है और मनमें कहता है कि मेरी मां आयगी और मुझे उठाकर ले जायगी। लेकिन बंदरीका बच्चा भरसक स्वावलंबी होता है। मेरी मां कहां है, संकट किस तरफमे आ सकता है, आदि बातोका वह खुद ही ध्यान रखता है, और संकटके समय झट जाकर माँसे चिपट जाता है। मनुष्यमे भी ये दोनो तरहकी वृत्तियां होती हैं। मुझमे भी ये दोनों वृत्तियां उचित मात्रामें थीं, इसलिए इसे भी पूर्व तैयारीका एक अंग माननेमे हर्ज नहीं।

जब कोई हिन्दू हिमालयकी यात्रा करने निकलता है, तो उसमे उसका मुख्य उद्देश्य धार्मिक ही हो सकता है। हम हिमालयका दूसरी दृष्टिसे विचार ही नही कर सकते। परन्तु धार्मिक हेतुके मानी क्या हैं? हिन्दू समाजमें यह धारणा तो होती है कि हम पैदल चलें। पवित्र मानी जानेवाली भूमि पर हमारे शरीरका भार पड़ा, इसलिए हम पावन तो हो ही गये! यदि ऐसा न होता, तो अन्धे और बहरे

यात्रा करने न जाते। जब कोई यूरोपनिवासी यात्रा करता है, तो वह अपने साथ सुख-सुविधाके जितने साधन ले सकता है, ले लेता है। वह शरीरका वजन, शरीर की शक्ति और शरीरका आनन्द बढानेका प्रयत्न सर्व प्रथम करता है। फोटो खीचने और चित्र बनानेकी सामग्री साथ रखकर वह अपने संस्कारोको स्थायी रुप देनेकी कोशिश करता है। आडा-टेढा जितना घूमा जा सके, घूमकर जो दूसरोने न देखा या जाना हो, उसीको प्राप्त करके किसी-न किसी बातकी सर्वप्रथम गवेषणा करनेका वह प्रयत्न करता है। धार्मिक यात्रामे हम जितने कष्ट उठाते है, उतना ही यात्राका पुण्य बढता है। भोग-विलासकी बदौलत या आलस्यकी बदौलत शरीर पर जो जडता चढ जाती है, उसे निकाल फेकना भी एक धार्मिक साधना मानी गयी है। मेरी समझमे हमारे लोगोने यात्राओमे तितिक्षाका तत्त्व दाखिल करके उन्हे बहुत ऊचा उठा दिया है। यदि यात्रियोमे तितिक्षावृत्ति न हो, तपोलालसा न हो, तो यात्राके धाम पवित्र नही रह सकते। और उस दशामे उन-उन तीर्थस्थानोका प्राकृतिक सौदर्य भी फीका पडे बिना नही रह सकता। कष्ट झेलनेसे, स्वेच्छापूर्वक तरह-तरहकी असुविधाए सहनेसे, मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भूख खिलती है, और जीवनका आनन्द सात्त्विक एव विशुद्ध बनता है। विलासिता और कलामे बैर होनेसे तितिक्षाके द्वारा ही मनुष्य रसास्वादकी शक्तिका विकास और सवर्धन कर सकता है। जो अमुक प्रकारसे तपस्वी होता है, वही कला-रसिक हो सकता है।

धार्मिक लाभोमे दूसरा बडा लाभ है सत्पुरुषोके दर्शन। ऐसे उदाहरण बिरले है कि किसी तीर्थका माहात्म्य देखकर सत्पुरुप वहा न जा बसे हो। प्रकृतिकी भव्यता दखकर या किसी प्रसग विशेषकी पवित्रतासे प्रभावित होकर कोई सत्पुरुष वहा बस जाता है, और बादमे वह स्थान तीर्थकी पदवी प्राप्त करता है। यदि अनेक सत्पुरुष एक ही स्थानको दीर्घकालके लिए पसद करे, अथवा कोई प्रभावशाली व्यक्ति किसी स्थानके माहात्म्यको बढावा दे दे, तो तुरन्त ही वह एक बडा तीर्थ-स्थान माना जाने लगता है। फिर वहा साधु-सन्त, तपस्वी और मुनियोका आना-जाना जारी रहता है। हरएक तीर्थके साथ जो-जो घटनाए जुड जाती है, वे सब यात्रियोके मुहमे जीवित रहती है। इसलिए ऐसे स्थानोमे धर्म-जीवन और धर्म-रहस्य अनायास ही जाग्रत रहता है।

बादमे ये स्थान सहज ही धार्मिक विचारका विनिमय करनेवाले सम्मेलन स्थान-जैसे बन जाते है।

लोगोकी धार्मिक वृत्तिके कारण यहा अखण्ड रूपसे ज्ञानके सत्र चलते रहनेकी सुविधाए उपस्थित हो जाती है। और फिर यहा धर्मविचारोकी परख भी भली-भाति होने लगती है। अनेक लोगोके विचार आमने-सामने एक-दूसरेसे टकराते हैं और उसमेसे अत्युच्च समन्वयकी दृष्टि भी विकसित होती है।

बड़े बड़े तीर्थस्थानोंमें मैंने ये चारों लाभ देखे हैं।

सच्चे यात्री अक्सर यात्रामें ब्रह्मचर्यका पालन करते ही हैं; वे यथासम्भव झूठ नहीं बोलते, न किसीको धोखा देते हैं। यह भी एक बड़ा भारी धार्मिक लाभ ही समझा जाना चाहिये। यदि मनुष्यने एक बार शुद्ध जीवनका आनन्द चख लिया, तो उसे ऐसा लगने लगता है कि आगे भी ऐसा ही जीवन बिताना पड़े तो अच्छा हो। और कभी-कभी मनुष्य उस संकल्पको दृढ़ भी कर लेता है। यात्राके कारण धार्मिक धारणाओं, भावनाओं, रीति-रिवाजों और उनके काव्यका भंडार तो मनुष्यके हृदय-में बढ़ता ही है। यही नही, बल्कि इन सबके मूलस्वरूप उसके विचार भी अधिका-धिक उदार होते जाते हैं। जब मद्रासी ब्राह्मण काश्मीर जाता है, और काश्मीरका पंडित महाराष्ट्रमे पहुंचता है, तो यह देखकर कि कट्टर धार्मिक माने जानेवाले लोगोंमें भी कितना फरक होता है, मनुष्यका मन चाहे जैसे हेरफेरके लिए तैयार हो जाता है। और यह उदारता ही शिक्षाका बड़े-से-बड़ा फल है।

शिक्षाके मुख्य क्षेत्र दो हैं : एक मानसशास्त्र और दूसरा समाजशास्त्र। यदि मनुष्य दोनो दिशाओंमें दूर तक जा सका, तो वह शिक्षित है ही। मनुष्य अपने भीतर पैठकर, अन्तर्मुख होकर, अपने आपको जांच-परख कर मानसशास्त्रमें डुबकी लगाता है; जबकि अपने आसपासका निरीक्षण करके, दूर तकके कार्य-कारणभाव की जांच करके और साधारण मनुष्य किस-किस तरह बरताव करते हैं, इसका लेखा लगाकर वह समाजशास्त्रकी रचना करता है। भीतर पैठकर वह अन्तर्यामीको पहचान सकता है और बाहर सब तरफ घूमकर वह बिराट पुरुषका आकलन कर सकता है। अन्तर्यामीकी पहचान अध्यात्मशास्त्र है, और विराट पुरुषका परिचय सृष्टिशास्त्र। दोनोंके मेलसे धर्मशास्त्र बनता है। इस धर्मशास्त्रका परिशीलन ही यथार्थ शिक्षा है।

यात्राका सद्यःफलदायी लाभ तो प्रकृतिकी लीलाके दर्शन हैं। ऊचे-ऊंचे पर्वत और नीची घाटिया, चौड़ी नदियां और उनसे भी चौड़े पुलिन, सब तरफ उगे हुए पेड और उनके ऊपर-नीचे आश्रय लेनेवाले पशु-पक्षी—यह सब एक महान काव्य है। जहा पहाड़-पर्वत न हों, और जमीन सब तरफ बिलकुल सीधी-समतल हो, वहा भी ऋतुके अनुरूप सौन्दर्य देखनेको मिलता है। कभी-कभी जहां पानीकी एक बूद नही होती, वहां भी कोरे जल-प्रवाह धूपमे दौड़ते हुए हरिणोंको धोखा देकर मार डालते है। लेकिन इसके कारण मृगजलकी शोभा कम नही होती। और अगर हवामें सचमुच नमी हो, तो एकाध इन्द्र-धनुष अचूक रूपसे अपना प्रभाव दिखाता ही है।

और यदि समुद्रने दर्शन दिये, तो ज्वार-भाटारूपी उसका श्वासोच्छ्वास हमारा ध्यान आकर्षित किये बिना नही रहता। यदि हमारी सांससे हमारा रक्त शुद्ध होता है, तो समुद्रके इस ज्वार-भाटेसे क्या शुद्ध होता होगा, इस आशयकी

कल्पनायें उठे बिना कैसे रहेंगी ? और जब समुद्रकी तितलियां (पतवारवाले जहाज) लहरों पर डोलती हैं, तो एक ऐसी उत्कण्ठा जाग्रत होती है कि बस अब लहरोंमेंसे फूल खिल उठेंगे। और जिस प्रकार लहरोंके कारण समुद्रमें पानीका हृदय ऊंचा-नीचा होता है, उसी प्रकार कभी-कभी जमीन पर भी वैसे ही दृश्य स्थिर रूपमें दीख पड़ते हैं।

सूर्योदय और सूर्यास्त नित्य-नूतन कवित्वकी अनन्तता है। इन उभय संध्याओं-की शोभा देशानुरूप बदलती है, ऋतु अनुरूप बदलती है, क्षण-क्षणमे बदलती है, और बादलोंकी सनकके अनुसार भी बदलती है।

और बादल ? बादल तो अनन्त आकाशके चिर-प्रवासी यात्री हैं। आकाश कभी बदलता नही, और बादल एक क्षणको स्थिर रहते नही। इन दो जनोंकी जोड़ीके चंगुलमे फंसे हुए बेचारे सूर्यको नित्य नयी भूमिकाका अभिनय करना पड़ता है। पृथ्वी—बहुरत्ना वसुन्धरा—अपना कितना ही वैभव क्यों न दिखाये वह थोड़ा ही है, ये बादल हमेशा यही सिद्ध करनेकी फिकरमें रहते है। यदि कोई इन बादलोसे स्पर्धा करना चाहता होगा, तो वे होगे हिमालयकी बरफके ढेर। परन्तु हिमालय पर्वतसे भी बड़े-बड़े पर्वत चाहे जहां खड़े करके ये बादल हिमालयके, बल्कि पृथ्वीके गर्वका हरण करते हैं। अन्तर इतना ही है कि पहाड़ों पर छोटे-बड़े असंख्य वृक्ष उगते हैं, जबकि बादलों पर तो दूसरे बादल ही उगते हैं।

यात्री कितना ही घुमक्कड़ और विरक्त क्यों न हो, फिर भी उसे अपने पेटको तो साथ ही लिये-लिये घूमना पड़ता है। इसलिए जब दोपहरकी भूखका समय होता है, तो उसे अतिथिशील झोंपड़ीका काव्य सबसे अधिक आकर्षक लगता है। यों भी गांवोंकी झोंपड़ियां आकर्षक तो होती ही हैं। झोंपड़े, मवेशियोंके कोठे, खेती और भांति-भांतिकी क्रियायें, जुलाहा, कुम्हार, सुनार, बढई, लुहार आदि कारी-गरोंके फैले हुए धंधे—सभी अलग-अलग और मिलकर एक बड़ा काव्य बनता है। नदीका काव्य एक प्रकारका और उस पर बने पुलका काव्य दूसरे ही प्रकारका होता है।

यों यात्रामें निकलनेवाला मनुष्य जिस प्रकार प्रकृतिकी विविध रंगोंवाली लीला देख सकता है, उसी प्रकार उसे विविध तरहके लोगोंके दर्शन भी होते है। हर जगहकी भाषा अलग, रिवाज अलग, मकानोंकी बनावट अलग, पोशाक अलग। इस भेदके मूलमें क्या-क्या सहूलियतें हैं, किन आदर्शोंका परिपोष हुआ है, यदि मनुष्य इसकी खोज करे तो उसे कीमती शिक्षण मिले बिना न रहे। और ज्यों-ज्यों वह गहराईमें जाता है, त्यों-त्यों उस विविधताकी जड़में उसे एक सार्वभौम एकताकी प्रतीति होती है, और यह देखकर एक विशेष आनन्द प्राप्त होता है कि एक ही मनुष्य-हृदय कितने प्रकारसे विकसित होता है। लोक-जीवन यानी मनुष्य-जातिकी मोटी बुद्धिकी सूक्ष्मता। प्रकृतिके बदलते ही मनुष्यको बरबस अपनी

आदतें बदलनी होती हैं। मनुष्यके विचार करनेसे इनकार कर देने पर भी रोज-रोजकी टक्करें उसे किसी-न-किसी दिन तनिक विचार करनेको बाध्य करती हैं, और जो काम बुद्धि नही करती वह काल कर डालता है। इस तरह दीर्घकालकी सफाईके कारण जो मनुष्य-जीवन बना है, उसकी स्वाभाविक मोहकता आंखोंमें समाये बिना नही रहती।

और चूंकि यह सब लोक-स्वभावमे यथार्थरूपसे आ चुका है, इसलिए लोग इसमे एक तरहका स्वास्थ्य भी अनुभव करते है। जिस तरह अचानक आई हुई अमीरी मनुष्यको अटपटी लगती है, वैसा इस संस्कृतिमे नही होता। इसलिए इस सादगीमे असाधारण गौरव रहता है। और इस सारी लोक-सस्कृतिके नये-नये प्रकारोंको उनके स्वाभाविक वातावरणमे जाकर जाचने-पडतालनेमे जो शिक्षा मिलती है, उसका मूल्य कौन आंक सकता है?

हमारे देशमे लिखित रूपमे जितना इतिहास सकलित नही है, उतना हमारे जीवनमे है। इसलिए यात्रा-पर्यटनमे इतिहास-दर्शन भी होता ही है। और फिर हिमालयका प्रदेश तो भारतवर्षका प्रातदेश ठहरा। यहा संस्कृति और क्रान्तिकी न जाने कितनी लहरे आकर शान्त हुई होगी। कुरु-पाचालोकी संस्कृतिसे लेकर कर्नल यग हस्बैडके आक्रमणसे बद्ध हुई तिब्बतियोकी आजकी मस्कृति तक सारी चीजोकी भनक यहा एक साथ सुननेको मिलती है। उस तरफ हमारा ध्यान दिलाकर भगिनी निवेदिताने हिन्दू समाजका बडा उपकार किया है।

भू-रचनाकी दृष्टिसे और भूस्तर-शास्त्रकी दृष्टिसे भी हिमालयकी यात्रामे बहुत-सी जानकारी मिलती है। यदि हिमालय रास्तेमे आडा न पडा होता, तो रूस और चीनकी ठंडी हवाएं और वहाकी कठोर संस्कृति, दोनोके हमले हम पर हुए होते। यदि गगा नदी न होती तो जैसे हमारी आजकी सारी शान-शौकत न होती, वैसे ही यदि हिमालय न होता तो हिमालय जैसी उत्तुग आर्य-संस्कृति भी यहां कभी पनप न पाती।

देशकी आत्मा और देशका विराट् स्वरूप, दोनोका, एक ही साथ दर्शन करनेके लिए यात्रा ही एकमात्र अमोघ साधन है।



भारतकी नद-नदियां, तालाब-सरोवर, प्रताप, समुद्र आदिकी सनातन

जीवनलीला

विश्वस्य मातर· सर्वाः
सर्वाश् चैव महाफला ।
इत्येताः सरितो राजन् !
समाख्याता यथास्मृति ।।

—भीष्मपर्व, ६-३७

१. जीवनलीला

मैने कही पर लिखा ही है कि मेरे भारत-यात्राके वर्णन केवल साहित्य-विलास नही है, बल्कि भारत-भक्तिका और पूजाका एक प्रकार है। भगवानके गुण गाना जिस तरह नवधा भक्तिका एक प्रकार है, उसी तरह भारतकी भूमि, उसके पहाड और पर्वत-श्रेणिया, नदियां और सरोवर, गाव और शहर, उनमे बसे हुए लोग और उनका पुरुषार्थ, उनके आश्रयमे रहनेवाले ग्राम्य पशु-पक्षी और उनके साथ असहयोग करके आजादीका आनद लेनेवाले वन्य पशु-पक्षी—आदि सबका वर्णन करके उनका परिचय बढाना भारत-भक्तिका एक अत्यंत आनंददायी प्रकार है। यह भक्ति एकातमे भी की जा सकती है और लोकातमे भी। जब कभी नवयुवकोकी कोई घुमक्कड़ टोली मुझसे मिलने आती है और कहती है कि 'आपकी यात्राकी पुस्तके पढकर हम भारतकी यात्रा करनेके लिए निकल पडे है' तब मुझे बडा आनन्द होता है, और मै उनकी ओर ऐसी कृतज्ञ-बुद्धिसे देखता हू, मानो वे मुझ पर उपकार करनेके लिए ही निकले हों।

मेरे इन यात्रा-वर्णनोमे से ऐसे सब वर्णन, जिनमे मैने भारतकी नदियोको भक्ति-कुसुमोकी अंजलि अर्पित की है, एकत्र करके 'लोकमाता'* के नामसे गुजराती तथा मराठीमे जनताके सामने बहुत पहले मैने रख दिये है। महाभारतकारने हमारी नदियोको 'विश्वस्य मातर:' कहा है। इन स्तन्यदायिनी माताओंका वर्णन करते हुए हमारे पूर्वज कभी नही थके। और मेरा अनुभव है कि इन्ही नदियोके नये प्रकारके स्तोत्र यदि लोगोके सामने रखे जाये तो उनका आजके लोग भी प्रेमपूर्वक स्वागत करते है।

अब स्वराज्य सरकारकी ओरसे हालमे स्थापित हुई 'साहित्य अकादमी' (भारत-भारती-परिषद्) ने सूचना की कि 'लोकमाता' मे दूसरे और कुछ प्रवास-वर्णन मिलाकर एक पुस्तक मैं तैयार करू; 'साहित्य अकादमी' हिन्दुस्तानकी प्रमुख भाषाओमे उसका अनुवाद करवाकर प्रकाशित करेगी।

इस अनुग्रहको स्वीकार करते समय मैने सोचा कि उसमे किसी भी स्थानके यात्रा-वर्णन जोड़नेके बदले नदी, प्रपात और सरोवरोके साथ मेल खा सके ऐसे सागर, सागर-संगम और सागर-तटकी विविध लीलाका ही वर्णन यदि दू, तो पंचमहाभूतोमेसे एक अत्यन्त आह्लादक तत्त्वकी लीलाका वर्णन एक स्थान पर आ

*हिन्दीमे इनमेसे सिर्फ सात नदियोके वर्णन 'सप्त-सरिता' के नामसे दिल्लीके सस्ता-साहित्य-मडलकी ओरसे प्रकाशित किये गये थे।

जायेगा और इस नयी पुस्तकमें एक प्रकारकी एकरूपता भी रहेगी। यह विचार मित्रोंको और 'साहित्य अकादमी' के गुजराती सलाहकारों तथा संचालकोंको पसन्द आया। अत: 'लोकमाता' 'जीवनलीला' के रूपमें पाठकोंकी सेवा करनेके लिए निकल पड़ी।

'लोकमाता' में केवल नदियोके ही वर्णन होनेसे उसके मुखपृष्ठ पर महाभारत-का 'विश्वस्य मातर:' वाला श्लोक ठीक मालूम होता था। अब उसने व्यापक 'जीवनलीला' का रूप धारण किया है, अत: इस श्लोकका उपयोग करनेमें अव्याप्ति का दोष आ जाता है। फिर भी परंपराकी रक्षाके लिए यह श्लोक इस पुस्तकमें भी भक्तिभावसे रहने दिया है।

'जीवनलीला' की गुजराती आवृत्तिने लोकसेवाकी यात्रा शुरू की और तुरन्त उसके हिन्दी अनुवादका सवाल खड़ा हुआ। नवजीवन प्रकाशन मंदिरने अपनी नीतिके अनुसार हिन्दी आवृत्ति प्रकाशित करनेका भार स्वयं उठाया और मेरी सूचनाके अनुसार अनुवादका काम वर्धामे मेरे पास रहे हुए श्री रवीन्द्र केळेकरको सौंपा। उन्होंने बड़ी योग्यता और प्रेमके साथ यह अनुवाद समय पर कर दिया। सारा अनुवाद मै देख चुका हूं और मुझे उससे संतोष है।

गुजराती आवृत्तिके लिए जो टिप्पणिया अध्यापक श्री नगीनदास पारेखने तैयार की थी, उन्हीका उपयोग इस आवृत्तिके लिए किया गया है। हमारे देशमे जहां संदर्भ-ग्रथोंकी कमी है और अच्छे पुस्तकालय भी बहुत कम जगह पर पाये जाते हैं, विद्यार्थियोंके लिए ही नही, किन्तु सामान्य संस्कार-रसिक पाठकोंके लिए भी टिप्पणिया लाभदायक होती हे। (इस ग्रंथावलीमें हमने टिप्पणियोंका समावेश नही किया है—संपादक)

अनुवाद और टिप्पणियां देखकर मेरे अन्तेवासी श्री नरेश मंत्रीने अपने ही उत्साहसे 'जीवनलीला' की सूची बनाकर दी। आजकलके जमानेमें सूचीकी आवश्यकता अनुक्रमणिकासे कम नही मानी जाती। पाठक तो सूची बनानेवालेको धन्यवाद दे ही देंगे, क्योंकि अनुक्रमणिका और सूची ग्रंथकी दो आंखे मानी जाती हैं।

मेरी इस किताबके लिए इस तरह टिप्पणियां और सूची देनेका उत्साह दिखा-कर नवजीवन प्रकाशन मंदिरने विद्यानुरागी पाठकोंके धन्यवाद अवश्य ही हासिल किये हैं।

जब तक मेरी यात्रा चलती है और भक्तियुक्त स्मृति काम देती है, मेरी किताबोंका कलेवर बढ़नेवाला ही है। गुजराती 'जीवनलीला' के प्रकट होनेके बाद जीवनलीलासे संलग्न दसेक मौलिक हिन्दी लेख और तैयार हो गये, जिनको इस हिन्दी आवृत्तिमें स्थान देकर मेरी 'जीवन'-भक्तिको मैंने अद्यतन (up-to-date) बनाया है। ऐसे नये लेखोंको अनुक्रमणिकामें तारकांकित किया गया है। अब इस विषयमें ज्यादा लिखनेका उत्साह नहीं है; किन्तु भारतके नद-नदी, तालाब-सरोवर,

प्रपात और समुद्र-तट, वार्षिक जल-प्रलय और मरुभूमिके मृगजल आदिका विविध वर्णन नये जमानेके नयी प्रतिभावाले उदीयमान लेखकोंकी कलमसे निकले हुए लेखों में पढ़नेकी इच्छा या लालसा है। पं० बनारसीदासजीने हिन्दी लेखकोंका ध्यान इस क्षेत्रकी ओर कबका आकर्षित किया है।

२६-१-'५८, स्वातंत्र्यका गणतंत्र-दिवस **काका कालेलकर**

२

वस्तुतः पंचमहाभूतोंके संयोगसे ही जीवन अस्तित्वमे आता है। फिर भी हमारे लोगोंने केवल पानीको ही जीवन कहा, इसमें बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। पृथ्वीके आसपास चाहे उतना वायुमंडल घिरा हुआ हो, और इस 'वातके आवरण' के बिना हम भले एक क्षण भी जी न सकें; फिर भी पृथ्वीका महत्त्व है उसको घेर-कर रहनेवाले उदावरण (पानीका आवरण) के ही कारण। उदकमें जो ताजगी है, जो जीवन-तत्त्व है, वह न तो अग्निकी ज्वालामे है, न पवन या आंधी-तूफानमे है। पानी जहां बहता है वहां शीतलता प्रदान करता है; रेगिस्तानको भी वह उपवन बनाता है; और प्राणिमात्र अनेक प्रकारके जीवन-प्रयोग कर सकें ऐसी सुविधाएं प्रदान करता है। जलका स्वभाव चंचल है, तरल है, ऊर्मिल है। और इसमे भी विशेष, वत्सल है।

प्रकृतिके निरीक्षणका आनंद अनुभव करते हुए पहाड़, खेत, बादल और उनके उत्सवरूप सूर्योदय तथा सूर्यास्तके रंग-चमत्कार मैने देखे हैं। हरेककी खूबी अलग, हरेककी चमत्कृति अनोखी होती है; फिर भी पानीके प्रवाह या विस्तारमेसे जो जीवन-लीला प्रकट होती है उसके असरके समान दूसरा कोई प्राकृतिक अनुभव नही है। पहाड़ चाहे जितना उत्तुग या गगनभेदी हो, जब तक उसके विशाल वक्षको चीरकर कोई बड़ा या छोटा झरना नही कूदता, तब तक उसकी भव्यता कोरी, सूनी और अलोनी ही मालूम होती है।

संस्कृतमें 'डलयोः सावर्ण्यम्' न्यायसे जलको जड़ भी कहते होंगे। किन्तु सच पूछा जाय तो जलको जड़ कहनेवालेकी बुद्धि ही जड़ होनी चाहिये। जड़ताका यदि कही अभाव है तो वह जलमें ही है।

पहाड़को देखते ही उसके शिखर तक चढ़नेका दिल होगा और संभव हुआ तो शिखर तक पैर चलेंगे भी। पानीकी भी यही बात है। मनुष्य जब तक नदीका उद्गम और मुख नही ढूंढ़ता, तब तक उसे संतोष नही होता। पानीको देखते ही उसके समीप जानेका दिल होता ही है। वह यदि पेय हो तो प्यास न होते हुए भी उसको चखनेका मन होता है। स्नानसे बाह्य शरीर और पानसे शरीरके अंदरका भाग पावन किये बगैर मनुष्यको तृप्ति ही नहीं होती। अन्य सहूलियत न हो तो

वह पानीका आचमन करेगा, अथवा कमसे कम पानीकी दो बूंदें आंखोंकी पलकों पर जरूर लगायेगा।

हिमालयके ठंडे प्रदेशमें जहां कपड़े उतारना भी मुश्किल है वहां हमारे धर्म-निष्ठ लोग पंचस्नानी करते हैं! पानीमें अंगुलियां डुबोकर उनसे माथेको छूने पर एक स्नान पूरा हुआ! दो आंखोंको छूने पर दूसरे दो स्नान हो गये। फिर वही पानीकी बूंदें दो कर्ण-मूलोंको लगानेसे पंचस्नानी पूरी होती है। पानीके स्पर्शके बिना मनुष्यको ऐसा नहीं लगता कि वह पवित्र हो गया है।

मनुष्य जब मर जाता है, तब उसके शरीरको जिस पृथ्वीसे वह आया उसीके उदरमें दफना देनेकी प्रथा सभी जगह है। किन्तु हम लोगोंने इसमें संशोधन किया। शरीरको सड़ने देनेके बजाय उसका अग्नि-संस्कार करना हम अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। अग्निको हम पावक कहते हैं। पावक यानी पवित्र करनेवाला। कोई वस्तु चाहे जितनी गदी हो, सड़ी हुई हो, या अपवित्र हो, अग्नि-संस्कार होने पर वह पावन हो जाती है। इसलिए हम उपले, लकड़ियां, चंदन, धूप और कपूर जैसे ज्वालाग्राही पदार्थ एक करके शरीरका अग्नि-संस्कार करते हैं।

यहां तक तो सब ठीक है; किन्तु जीवननिष्ठ संस्कृतिको इतनेसे संतोष नही हुआ। अग्नि-संस्कारके अंतमें जो अस्थियां और भस्म बच जाते हैं, उन अवशेषोंका जब हम पवित्र जलाशयोमें विसर्जन करते हैं, तभी हमें परम संतोष होता है।

महात्माजीकी अस्थियों और चिताभस्मको हमने सारे देशमें जहा भी पवित्र जलाशय हैं वहां पहुंचा दिया। हिमालयके उस पार कैलाशके मार्गमें फैले हुए मानस-सरोवरमें भी कुछ अवशेष छोड़ दिये गये। प्रयाग जैसे यज्ञस्थानमें विसर्जित करनेके बाद कुछ अवशेष समुद्र-किनारे भी ले गये; और खास तौर पर ध्यानमें रखनेकी बात तो यह है कि जिस अफ्रीका खंडमें गांधीजीने सत्याग्रह जैसे दैवी बलकी खोज की और अपना जीवन-कार्य शुरू किया, उस अफ्रीकामें नील नदीके उद्‌गमके प्रवाहमें भी इन अस्थियोंका विसर्जन किया और इस प्रकार पानीकी सर्वोपरि पवित्रताको स्वीकार किया।

ऐसे पानीके पवित्र दर्शनका आनंद जिनमें छलकता हो, ऐसे ही वर्णन इस संग्रहमें लिये गये हैं।

संग्रह करते समय मेरी 'स्मरण-यात्रा' में से एक छोटासा अध्याय सिर ऊंचा करके पूछने लगा, "क्या आप मुझे इसमें नहीं लेंगे?" अनवधानके लिए उससे माफी मांगकर मैंने कहा, "जरूर, जरूर; तेरा भी जीवनलीलामें स्थान होगा।" मानसिक सृष्टि, कल्पना सृष्टि और मायावी सृष्टि भी अंतमें पार्थिव सृष्टिके साथ सृष्टि तो है ही। अतः मनुष्यकी आंखोंको और मृगोंकी आंखोंको जो जलके समान मालूम होता है और जिसका प्रवाह इन दोनोंको अपनी ओर खींचता है, वह भले प्राणवायु तथा उद्‌जन-वायुके संयोगसे बना हुआ न हो, फिर भी

जीवनलीलामें उसका स्थान होना ही चाहिये---यों सोचकर छुटपनमें यात्रा करते समय देखा हुआ 'तेरदालका मृगजल' नामक वर्णन भी इसमें ले लिया गया है।

सहाराके रेगिस्तानके आसपास दोपहरके समय यदि गया होता, तो उस विराट् रेगिस्तानका और वहांके मृगजलका वर्णन इसमें जरूर शामिल करता। किन्तु पश्चिम अफ्रीकासे उत्तरकी ओर जाते हुए समय और जान बचानेके लिए सहाराका पूरा रेगिस्तान मैंने पार किया रातके अंधेरेमें; और वह भी हवाई जहाज की मददसे। पश्चिम अफ्रीकाकी मध्ययुगीन नगरी 'कानो' से चलकर मध्यरात्रिके बाद ट्रिपोली पहुचा तब तक सारे समय टकटकी लगाकर मैंने सहाराको देखा। किन्तु उस रात अंधेरेमें अंधेरेसे भिन्न कुछ दिखाई नही दिया। सहाराका रेगिस्तान पार करने पर भी वहांका मृगजल नही देखा जा सका ! जब हवाई जहाजसे उतरा, तब इतना ही कह सका :

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाजनम् नभः।

हमारे सस्कृत कवियोके नदी-वर्णन और स्तोत्रों पर मैं मुग्ध हूं। इन स्तोत्रों में सबसे अधिक तो भक्ति ही नजर आती है। उनका शब्द-लालित्य असाधारण होता है। भाषा-प्रवाह मानो नदीके प्रवाहके साथ होड़ करता है। कहीं-कही एकाध शब्दमे या समासमे सुन्दर वर्णन भी आ जाता है। किन्तु कुल मिलाकर ये स्तोत्र वर्णन नही होते; बल्कि केवल माहात्म्य ही होते हैं।

आज हमें यथार्थ वर्णनोकी और शब्दचित्रोंकी भूख है। उनके साथ थोड़ा माहात्म्य और चाहे उतना काव्य आ जाए तो वह इष्ट ही होगा। किन्तु वर्णन पढ़ते समय नदी या सरोवरके प्रत्यक्ष दर्शनका थोड़ा-बहुत संतोष तो मिलना ही चाहिये। वरना जैन पुराणोंमें दिये गये नगरियोंके वर्णन जैसी बात होगी। ये वर्णन कहीसे उठाकर किसी भी शहरके साथ जोड़ दें तो कुछ बिगड़ेगा नही। अक्सर लेखक वर्णनकी दो-चार पंक्तियां लिखकर ईमानदारीके साथ कहते है कि अमुक कहानीमें अमुक नगरीका जो वर्णन आता है उसीको उठाकर यहां रख दे। ऐसे वर्णन न तो यथार्थ चित्रण माने जा सकते हैं, न माहात्म्य ही माने जा सकते हैं।

एक पुराने हिन्दी कविने एक पहाड़ी किलेका वर्णन किया है। उसमें अश्व-शालाके साथ गजशालाका भी वर्णन है। भोले कविको संदेह नही हुआ कि महाराष्ट्रके पहाड़ पर हाथी जायेंगे किस तरह ! दूसरे एक स्थान पर बगीचेके वर्णनमे ठंडे मुल्कके और गरम मुल्कके, समुद्र तटके और पहाड़ परके सब फल और फूलोंके पेड़-पौधोंको एकत्र कर दिया गया है ! और इसमे खूबी यह कि इन तमाम फूलोंके एकसाथ खिलनेमें और फलोंके एकसाथ पकनेमें महीनोंकी या ऋतुओंकी कोई कठिनाई नही खड़ी हुई !

सौभाग्यसे ऐसे साहित्य-प्रकार अब बंद हो गये हैं। फिर भी आजके लेखक प्रत्यक्ष परिचयके अभावमे केवल सामान्य वर्णन लिखते है: 'आकाशमे तारे चमक रहे थे', 'बगीचेमे तरह-तरहके फूल खिले थे', 'जगलमे वृक्ष-लताओकी घनी बस्ती थी।' ऐसे सामान्य वर्णन लिखकर ही वे सतोष मानते है। लेखक आकाशको और वहाके तारोको पहचानता न हो, उनके नाम न जानता हो, कौनसे फूल किस ऋतुमे खिलते है यह न जानता हो, किन जगलोमे किस तरहके पेड़ उगते है और किस तरहके नही उगते आदि जानकारी उसे न हो, तो फिर वह क्या करे? शब्द-वैभव को फैलाकर अनुभव-दारिद्र्य छिपानेका वह चाहे जितना प्रयत्न करे, फिर भी दारिद्र्य प्रकट हुए बिना नही रहता।

हमारे देशमे अब यात्राके साधन काफी बढ गये है और दिनोदिन बढते जा रहे है। फोटोग्राफीकी कलाकी इतनी वृद्धि हुई है कि अब वह ललित-कलाकी कोटि को पहुचनेका प्रयत्न कर रही है। देश-विदेशकी भाषाओके यात्रा-वर्णन पढकर हमारी कल्पना उद्दीपित हो सकती है, तो अब हम भारतीय भाषाओमे पाया जाने वाला केवल यात्रा-वर्णनका दारिद्र्य दूर क्यो न करे?

हमारे प्रिय-पूज्य देशको हम साहित्य द्वारा और दूसरे अनेक प्रकारोसे सजायेंगे और नयी पीढीको भारत-भक्तिकी दीक्षा देंगे।

देशका मतलब केवल जमीन, पानी और उसके ऊपरका आकाश ही नही है, बल्कि देशमे बसे हुए मनुष्य भी है। यह जिस तरह हमे जानना चाहिये, उसी तरह हमारी देशभक्तिमे केवल मानव-प्रेम ही नही बल्कि पशु-पक्षी जैसे हमारे स्वजनो-का प्रेम भी शामिल होना चाहिये।

नदी, पहाड, पर्वतश्रेणी और उसके उत्तुग शिखरोसे तथा इन सबके ऊपर चमकनेवाले तारोसे परिचय बढाकर हमे भारत-भक्तिमे अपने पूर्वजोके साथ होड़ चलानी चाहिये। हमारे पूर्वजोकी साधनाके कारण गगाके समान नदिया, हिमालय के समान पहाड, जगह-जगह फैले हुए हमारे धर्मक्षेत्र पीपल या बडके समान महावृक्ष, तुलसीके समान पौधे, गायके जैसे जानवर, गरुड या मोरके जैसे पक्षी, गोपीचदन या गेरूके जैसे मिट्टीके प्रकार—सब जिस देशमे भक्ति और आदरके विषय बन गये है, उस देशमे संस्कारोकी और भावनाओकी समृद्धिको बढाना हमारे जमानेका कर्तव्य है।

दादाभाई नौरोजी पुण्यतिथि, — काका कालेलकर
बम्बई, १-६-'५६

सरिता-संस्कृति

जो भूमि केवल वर्षाके पानीसे ही सीची जाती है और जहां वर्षाके आधार पर ही खेती हुआ करती है, उस भूमिको 'देव-मातृक' कहते हैं। इसके विपरीत, जो भूमि इस प्रकार वर्षा पर आधार नही रखती, बल्कि नदीके पानीसे सींची जाती है और निश्चित फसल देती है, उसे 'नदी-मातृक' कहते हैं। भारतवर्षमें जिन लोगोंने भूमिके इस प्रकार दो हिस्से किये, उन्होंने नदीको कितना महत्त्व दिया था, यह हम आसानीसे समझ सकते है। पंजाबका नाम ही उन्होंने सप्तसिंधु रखा। गंगा-यमुनाके बीचके प्रदेशोंको अंतर्वेदी (दोआब) नाम दिया। सारे भारतवर्षके 'हिन्दुस्तान' और 'दक्खन' जैसे दो हिस्से करनेवाले विन्ध्याचल या सतपुड़ेका नाम लेनेके बदले हमारे लोग संकल्प बोलते समय 'गोदावर्या: दक्षिणे तीरे' या 'रेवाया: उत्तरे तीरे' ऐसे नदीके द्वारा देशके भाग करते हैं। कुछ विद्वान ब्राह्मण-कुलोने तो अपनी जातिका नाम ही एक नदीके नाम पर रखा है—सारस्वत। गगाके तट पर रहनेवाले पुरोहित और पंडे अपने-आपको गंगापुत्र कहनेमे गर्व अनुभव करते है। राजाको राज्यपद देते समय प्रजा जब चार समुद्रोंका और सात नदियोंका जल लाकर उससे राजाका अभिषेक करती, तभी मानती थी कि अब राजा राज्य करनेका अधिकारी हो गया। भगवानकी नित्यकी पूजा करते समय भी भारतवासी भारत की सभी नदियोंको अपने छोटेसे कलशमें आकर बैठनेकी प्रार्थना अवश्य करेगा :

गंगे ! च यमुने ! चैव गोदावरि ! सरस्वति ! ।
नर्मदे ! सिंधु ! कावेरि ! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

भारतवासी जब तीर्थयात्राके लिए जाता है, तब भी अधिकतर वह नदीके ही दर्शन करनेके लिए जाता है। तीर्थका मतलब है नदीका पैछल या घाट। नदीको देखते ही उसे इस बातका होश नही रहता कि जिस नदीमें स्नान करके वह पवित्र होता है उसे अभिषेककी क्या आवश्यकता है? गगाका ही पानी लेकर गंगाको अभिषेक किये बिना उसकी भक्तिको संतोष नही मिलता। सीताजी जब रामचद्रजीके साथ बनवासके लिए निकल पड़ी, तब वे हर नदीको पार करते समय मनौती मनाती जाती थी कि 'बनवाससे सही-सलामत वापस लौटने पर हम तुम्हारा अभिषेक करेंगे।' मनुष्य जब मर जाता है, तब भी उसे वैतरणी नदीको पार करना पड़ता है। थोड़ेमें, जीवन और मृत्यु दोनोंमे आर्योंका जीवन नदीके साथ जुड़ा हुआ है।

उनकी मुख्य नदी तो है गंगा। वह केवल पृथ्वी पर ही नहीं, बल्कि स्वर्गमें भी बहती है और पातालमें भी बहती है। इसीलिए वे गंगाको त्रिपथगा कहते हैं।

पाप धोकर जीवनमे आमूलाग्र परिवर्तन करना हो, तब भी मनुष्य नदीमे जाता है और कमर तक पानीमें खड़ा रहकर संकल्प करता है, तभी उसको

विश्वास होता है कि अब उसका संकल्प पूरा होनेवाला है। वेदकालके ऋषियोंसे लेकर व्यास, वाल्मीकि, शुक, कालिदास, भवभूति, क्षेमेंद्र, जगन्नाथ तक किसी भी संस्कृत कविको ले लीजिये, नदीको देखते ही उसकी प्रतिभा पूरे वेगसे बहने लगती है। हमारी किसी भी भाषाकी कवितायें देख लीजिये, उनमे नदीके स्तोत्र अवश्य मिलेंगे और हिन्दुस्तानकी भोली जनताके लोकगीतोंमें भी आपको नदीके वर्णन कम नहीं मिलेंगे।

गाय, बैल और घोड़े जैसे उपयोगी पशुओंकी जातियां तय करते समय भी हमारे लोगोंको नदीका ही स्मरण होता है। अच्छे अच्छे घोड़े सिंधुके तट पर पाले जाते थे; इसलिए घोड़ोंका नाम ही सैंधव पड़ गया। महाराष्ट्रके प्रख्यात टट्टू भीमा नदीके किनारे पाले जाते थे, अतः वे भीमथड़ीके टट्टू कहलाये। महाराष्ट्रकी अच्छा दूध देनेवाली और सुंदर गायोंको अंग्रेज आज भी 'कृष्णावेली ब्रीड' कहते है।

जिस प्रकार ग्राम्य पशुओंकी जातिके नाम नदी परसे रखे गये हैं, उसी प्रकार कई नदियोंके नाम पशु-पक्षियों परसे रखे गये हैं। जैसे : गो-दा, गो-मती, साबर-मती, हाथ-मती बाघ-मती, सारस्वती, चर्मण्यवती आदि।

महादेवकी पूजाके लिए प्रतीकके रूपमें जो गोल चिकने पत्थर (बाण) उपयोग मे लाये जाते है, वे नर्मदाके ही होने चाहिये। नर्मदाका माहात्म्य इतना अधिक है कि वहांके जितने कंकर उतने सब शंकर होते हैं। और वैष्णवोंके शालिग्राम गंडकी नदीसे आते है।

तमसा नदी विश्वामित्रकी बहन मानी जाती है, तो कालिन्दी यमुना प्रत्यक्ष कालभगवान यमराजकी बहन है।

प्रत्येक नदीका अर्थ है संस्कृतिका प्रवाह। प्रत्येककी खूबी अलग है। मगर भारतीय संस्कृति विविधतामेंसे एकताको उत्पन्न करती है। अतः सभी नदियोंको हमने सागर-पत्नी कहा है। समुद्रके अनेक नामोंमे उसका सरित्पति नाम बड़े महत्त्व का है। समुद्रका जल इसी कारण पवित्र माना जाता है कि सब नदियां अपना अपना पवित्र जल सागरको अर्पण करती है। 'सागरे सर्व तीर्थानि'।

जहां दो नदियोंका संगम होता है, उस स्थानको प्रयाग कहकर हम पूजते हैं। यह पूजा हम केवल इसीलिए करते हैं कि संस्कृतियोंका जब मिश्रण या संगम होता है तब उसे भी हम शुभ-संगम समझना सीखें। स्त्री-पुरुषके बीच जब विवाह होता है तब वह भिन्न गोत्री ही होना चाहिये, ऐसा आग्रह रखकर हमने यही सूचित किया है कि एक ही अपरिवर्तनशील संस्कृतिमें सड़ते रहना श्रेयस्कर नही है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंके बीच मेलजोल पैदा करनेकी कला हमें आनी ही चाहिये। लंका की कन्या घोघा (सौराष्ट्र) के लड़केके साथ विवाह करती है', तभी उन दोनोंमें जीवनके सब प्रश्नोंके प्रति उदार दृष्टिसे देखनेकी शक्ति आती है। भारतीय संस्कृति पहलेसे ही संगम-संस्कृति रही है। हमारे राजपुत्र दूर-दूरकी कन्याओंसे विवाह

करते थे। केकय देशकी कैकेयी, गांधारकी गांधारी, कामरूपकी चित्रांगदा, ठेठ दक्षिणकी मीनाक्षी मीनलदेवी, बिलकुल विदेशसे आयी हुई उर्वशी और माहेश्वरी इस तरह कई मिसालें बताई जा सकती है। आज भी राजा-महाराजा यथासंभव दूर-दूरकी कन्याओंसे विवाह करते हैं। हमने नदियोंसे ही यह संगम-संस्कृति सीखी है।

अपनी-अपनी नदीके प्रति हम सच्चे रहकर चलेंगे, तो अंतत समुद्रमें पहुंच जायेंगे। वहां कोई भेदभाव नहीं रह सकता। सब कुछ एकाकार, सर्वाकार और निराकार हो जाता है। 'सा काष्ठा सा परा गतिः'।

नदी-मुखेनैव समुद्रम् आविशेत्

सुबह या शामके समय नदीके किनारे जाकर आरामसे बैठने पर मनमें तरह तरहके विचार आते हैं। बालूका शुभ्र विशाल पट हमेशा वहींका वहीं होता है, फिर भी वहांका हरएक कण पवन या पानीमें स्थानभ्रष्ट होता है। इतनी सारी बालू कहांसे आती है और कहां जाती है? बालूके पट पर चलनेसे उसमें पांवोंके स्पष्ट या अस्पष्ट निशान बनते हैं। किन्तु घडी दो घडी हवा बहने पर उनका 'नामो-निशान' भी नहीं रहता। दो किनारोंकी मर्यादामें रहकर नदी बहती है, वह कभी रुकती नहीं। पानी आता है और जाता है, आता है और जाता है। छुटपनमें मनमें विचार आता था कि 'मध्यरात्रिके समय यह पानी सो जाता होगा और सुबह सबसे पहले जागकर फिरसे बहने लगता होगा। सूरज, चांद और अनगिनत तारे जिस प्रकार विश्रांति लेनेके लिए पश्चिमकी ओर उतरते हैं, उसी प्रकार यह पानी भी रातको सो जाता होगा। विश्रांतिकी हरेकको आवश्यकता रहती है।' बादमें देखा, नहीं, नदीके पानीको विश्रांतिकी आवश्यकता नहीं है। वह तो निरन्तर बहता ही रहता है।

नदीको देखते ही मनमें विचार आता है—यह आती कहांसे है और जाती कहां तक है? यह विचार या यह प्रश्न सनातन है। नदीका आदि और अंत होना ही चाहिये। नदीको जितनी बार देखते हैं, उतनी ही बार यह सवाल मनमें उठता है। और यह सवाल ज्यों-ज्यों पुराना होता जाता है, त्यों-त्यों अधिक गंभीर, अधिक काव्यमय और अधिक गूढ बनता जाता है। अंतमें मनसे रहा नहीं जाता, पैर रुक नहीं पाते। मन एकाग्र होकर प्रेरणा देता है और पैर चलने लगते हैं। आदि और अंत ढूंढना—यह सनातन खोज हमें शायद नदीसे ही मिली होगी। इसीलिए हम जीवन-प्रवाहको भी नदीकी उपमा देते आये हैं। उपनिषद्कार और अन्य भारतीय कवि मैथ्यू आर्नोल्ड जैसे यूरोपियन कवि और रोमां रोलां जैसे उपन्यासकार जीवनको नदीकी ही उपमा देते हैं। इस संसारका प्रथम यात्री है नदी। इसीलिए पुराने यात्री लोगोंने

ने नदीके उद्गम, नदीके संगम और नदीके मुखको अत्यंत पवित्र स्थान माना है।

जीवनके प्रतीकके समान नदी कहांसे आती है और कहां तक जाती है? शून्यमेंसे आती है और अनंतमें समा जाती है। शून्य यानी अत्यल्प, सूक्ष्म किन्तु प्रबल; और अनंतके मानी हैं विशाल और शांत। शून्य और अनंत, दोनों एकसे गूढ़ हैं, दोनों अमर हैं। दोनों एक ही हैं। शून्यमेंसे अनंत—यह सनातन लीला है। कौशल्या या देवकीके प्रेममें समा जानेके लिए जिस प्रकार परब्रह्मने बालरूप धारण किया, उसी प्रकार कारुण्यसे प्रेरित होकर अनंत स्वयं शून्यरूप धारण करके हमारे सामने खड़ा रहता है। जैसे-जैसे हमारी आकलन-शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे शून्यका विकास होता जाता है और अपना ही विकास-वेग सहन न होनेसे वह मर्यादाका उल्लंघन करके या उसे तोड़कर अनंत बन जाता है—बिंदुका सिंधु बन जाता है।

मानव-जीवनकी भी यही दशा है। व्यक्तिमें कुटुंब, कुटुंबसे जाति, जातिसे राष्ट्र, राष्ट्रसे मानव्य और मानव्यसे भूमा विश्व—इस प्रकार हृदयकी भावनाओंका विकास होता जाता है। स्व-भाषाके द्वारा हम प्रथम स्वजनोंका हृदय समझ लेते हैं और अंतमें सारे विश्वका आकलन कर लेते हैं। गांवसे प्रान्त, प्रान्तसे देश और देशसे विश्व, इस प्रकार हम 'स्व' का विकास करते-करते 'सर्व' में समा जाते हैं।

नदीका और जीवनका क्रम समान ही है। नदी स्वधर्म-निष्ठ रहती है और अपनी कुल-मर्यादाकी रक्षा करती है, इसीलिए प्रगति करती है। और अंतमें नाम-रूपको त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती है। अस्त होने पर भी वह स्थगित या नष्ट नहीं होती; चलती ही रहती है। यह है नदीका क्रम। जीवनका और जीवन्मुक्तिका भी यही क्रम है।

क्या इस परसे हम जीवनदायी शिक्षाके क्रमके बारेमें बोध लेंगे?

उपस्थान[1]

भिन्न-भिन्न अवसरों पर भारतवर्षकी जिन नदियोंके दर्शन मैंने किये, उनमेंसे कुछ नदियोंका यहां स्मरण किया गया है। यहां मेरा उद्देश भूगोलमें दी जानेवाली जानकारीका संग्रह करनेका नहीं है, न नदियोंका हमारे व्यापार-वाणिज्य पर होनेवाला असर बतानेका यहां प्रयत्न है। यह तो केवल हमारे देशकी लोक-माताओंका भक्तिपूर्वक किया हुआ नये प्रकारका उपस्थान है।

हमारे पूर्वजोंकी नदी-भक्ति लोक-विश्रुत है। आज भी वह क्षीण नहीं हुई है।

१. मूल गुजराती पुस्तक 'लोकमाता' की प्रस्तावनासे

यात्रियोंकी छोटी-बडी नदिया तीर्थस्थानोकी ओर बहकर यही सिद्ध करती है कि वह प्राचीन भक्ति आज भी वैसीकी वैसी जाग्रत है ।

भक्त-हृदय भक्तिके इन उद्गारोका श्रवण करके सतुष्ट हो । युवकोमे लोक-माताओके दर्शन करनकी और विविध ढगसे उनका स्तन्यपान करके सस्कृति-पुष्ट होनेकी लगन जाग्रत हो ।

० ० ०

हिन्दुस्तानके सभी सुन्दर स्थलोका वर्णन करना मानव-शक्तिके बाहरकी बात है । खुद भगवान व्यास जब भारतकी नदियोके नाम सुनाने बैठे, तब उनको भी कहना पडा कि जितनी नदिया याद आयी उन्हीका यहा नाम-सकीर्तन किया गया है । बाकीकी असख्य नदिया रह गयी है ।

मेरी देखी हुई नदियोमेसे बन सके उतनी नदियोका स्मरण और वर्णन करके पावन होनेका मेरा सकल्प था । आज जब इस भक्ति-कुसुमाजलिको देखता हू, तो मनमे विषाद पैदा होता है कि कृतज्ञता व्यक्त हो सके उतनी नदियोका भी उपस्थान मै कर नही सका हू । जिनका वर्णन नही कर सका, उन्ही नदियोकी सख्या अधिक है । जिस प्रातमे मै करीब पाव सदी तक रहा, उस गुजरातकी नदियोका वर्णन भी मैने नही किया है । नर्मदा और साबरमतीके बारेमे तो अभी-अभी कुछ लिख सका हू । ताप्ती या तपतीके बारेमे कुछ नही लिखा । उसका परिताप मनमे है ही । इस नदीका उद्गम-स्थान मध्यप्रातमे बैतुलके पास है । बरहानपुर और भुसावल होकर वह आगे बढती है । उसकी मदद लेकर एक बार मै सूरतसे हजीरा तक हो आया हू । ताप्तीसे भगवान सूर्यनारायणके प्रेमके बारेमे पूछा जा सकता है और अग्रेजोने व्यापारके बहाने सूरतमे कोठी किस प्रकार डाली और बाजीरावने यही महाराष्ट्रका स्वातत्र्य अग्रेजोको कब सौप दिया, इसके बारेमे भी पूछा जा सकता है ।

गोधरा जाते समय जो छोटी-सी मही नदी मैने देखी थी, वही खभातसे कावी बदरगाह तक महापक कीचडका विस्तार किस तरह फैला सकती है, यह देखनेका सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ है । पूर्वकी महा नदी और पश्चिमकी महीनदी, दोनोका कार्य विशेष प्रकारका है। सूर्या, दमणगगा, कोलक, अबिका, विश्वामित्री, कीम आदि अनेक पश्चिमवाहिनी नदियोका मीठा आतिथ्य मैने कभी न कभी चखा है । उन्हे यदि अजलि अर्पण न करू तो मै कृतघ्न माना जाऊगा । और जिस आजी नदीके किनारे महात्माजीने छुटपनकी शरारते की थी, वह तो खास तौर पर मेरी अजलिकी अधिकारिणी है । बढवाणकी भोगावोके बारेमे मैने शायद कही लिखा होगा किन्तु वह भोगावोकी अपेक्षा राणकदेवीके स्मरणके तौर पर ही होगा ।

गुजरातके बाहर नजर घुमाकर दूसरी नदियोका स्मरण करता हू, तब प्रथम याद आता है सबसे बड़ा ब्रह्मपुत्र । उसका उद्गम-स्थान तो हिमालयके उस पार

मानस-सरोवरके प्रदेशमें है। हिमालयके उत्तरकी ओर बहते हुए पानीकी एक-एक बूंद इकट्ठी करके वह हिमालयकी सारी दीवार पार करता है और पहाड़ों तथा जंगलोंके अज्ञात प्रदेशोंमें बहता हुआ आसामकी ओर उन्हें छोड़ देता है। बादमें सदिया, डिब्रुगढ, तेजपुर, गौहाटी, धुब्री आदि स्थानोंको पावन करता हुआ वह बंगालमे उतरता है। और उसे गंगासे मिलना है, इसी कारण वह कुछ दूरी तक यमुना नाम धारण करते हुए आगे पद्मा बनता है। 'इतिहासके उषाकाल' से लेकर जापानियोंके अभी-अभीके आक्रमण तकका सारा इतिहास ब्रह्मपुत्रको विदित है। किन्तु इस ताजे इतिहासके कई प्रकरण तो मणिपुरकी इम्फाल नदी ही बता सकती है। फिर भी इस नदीको पूछने पर वह कहेगी कि मुझसे पूछनेके बदले यह सब आपकी इरावतीकी सखी छिंदवीनसे ही पूछ लीजिये। और मणिपुरकी ओरसे भागकर आये हुए लोगोका कुछ इतिहास तो सुर्माघाटीकी बराक नदीसे ही पूछना होगा।

मैने नदियां तो कई देखी हैं किन्तु जिसकी गूढ़-गामिता और चिता-रहित लापरवाही पर मै सबसे अधिक मुग्ध हुआ हूं, वह है कालीम्पोग तरफकी तीस्ता नदी। कैसा उसका उन्माद ! और कैसा उसका आत्मगौरवका भान !

उत्कलमे मै अनेक बार हो आया हू। वहाकी महानदी, काटजुड़ी और काक-पेया तो है ही। किन्तु बरी-कटकसे वापस लौटते समय खरस्रोताके किनारे देखा हुआ सूर्योदय और अन्य अवसर पर सुना हुआ ऋषिकुल्या नदीका इतिहास तथा उसके किनारेका सौदर्य मैं भला कैसे भूल सकता हू? जौगढ़का अशोकका प्रख्यात शिलालेख देखने गया था, तब मैने ऋषिकुल्याके दर्शन किये थे; और यदि मैं भूलता न होऊं तो धवलीका हाथीवाला शिलालेख देखने गया था, तब एक नदीकी दो नदिया बनती हुई मैंने देखी थी। दो नदियोंका सगम देखना एक बात है। दो नदिया इकट्ठी होकर अपनी जलराशि बढ़ाती हैं और संभूय-समुत्थानके सिद्धातके अनुसार बड़ा व्यापार करती हैं। यह तो शक्ति बढ़ानेका प्रयास है। किन्तु एक ही नदी दूरसे आकर जब देखती है कि दोनों ओरके प्रदेशको मेरे जलकी उतनी ही आवश्यकता है, तब भला वह किसका पक्षपात करे? अपना जल बाटकर जब दो प्रवाहोंमे वह बहने लगती है, तब दो बच्चोंकी माताके जैसी मालूम होती है। उसको विशेष भक्तिपूर्वक प्रणाम किये बिना रहा नही जा सकता।

क्या आपने काली नदीके सफेद होनेकी बात कभी सुनी है? छुटपनमे कार-वारमें मैंने एक काली नदी देखी थी। वह समुद्रसे मिलती है तब तक काली ही काली रहती है। किन्तु गोवाकी ओर एक काली नदी है, जो सागरसे मिलनेकी आतुरताके कारण पहाड़की चोटी परसे नीचे इस तरह कूदती है कि उसका दूधके समान काव्यमय सफेद प्रपात बन जाता है। उसका नाम ही दूधसागर पड़ गया है। इस दूधसागरका दृश्य ऐसा है, मानो किसी लड़कीने नहानेके बाद सुखानेके

लिए अपने बाल फैलाये हों। शरावतीके जोगके प्रपातका वर्णन मैंने तीन बार किया है, तो दूधसागरके गंभीर ललित काव्यका मनन मुझे दस बार करना चाहिये था।

हिमालय जाते समय देखी हुई रामगंगाका और हिमालयके उस पारसे आनेवाली सरयू घाघराका वर्णन तो रह ही गया है। किन्तु लंका (सीलोन) में देखी हुई सीतावाका और अन्य दो-तीन गंगाओंके बारेमें भी मैने कहां लिखा है? मध्यप्रांतमे देखी हुई धसानके बारेमे मैंने लिखा और वेत्रवतीको छोड़ दिया, यह भला कैसे चल सकता है? उज्जयिनी जाते समय देखी हुई शिप्रा नदीको स्मरणांजलि न दू, तो कालिदास ही मुझे शाप देगे। मुरादाबादमे देखी हुई गोमतीका स्मरण करते ही द्वारकाकी गोमतीका स्मरण हो आता है और इसी न्यायसे सिंधकी सिंधुके साथ मध्यभारतकी नन्ही-सी सिंधुकी भी याद हो आती है।

काठियावाडमे चोरवाड़के पास समुद्रसे मिलने जाते-जाते बीचमे ही रुक जानेवाली मेगल नदी मैने देखी नही है। किन्तु इसी प्रकारकी एक नदी अड्यार मद्रासके पास मैंने देखी है, जिसकी समुद्रसे बनती नही। अड्यार नदी समुद्रकी ओर हृदय-समृद्धिका खाद या गोबर लेकर आती है और समुद्र चिढकर उसके सामने बालूका एक बाध खडा कर देता है। खंडिताका यह दृश्य इतना करुण है कि उसका असर बरसो तक मेरे मन पर रहा है।

इससे तो केरलके 'बैक वाटर' अच्छे है। वहां समुद्रके समानान्तर, किनारे-किनारे एक लम्बी नदी फैली हुई है, मानो समुद्रसे कह रही हो कि तुम्हारे खारे पानीके तूफान मै भारतकी भूमि तक पहुंचने नही दूगी।

इसका एक छोटा-सा नमूना हमे जुहूकी ओर देखनेको मिलता है। जुहूके नारियलवाले प्रदेशके पश्चिममे समुद्र है, और पूर्वकी ओर कभी कभी पानी फैला हुआ दीख पड़ता है। यही स्थिति यदि हमेशाकी हो जाये और पानी यदि उत्तर-दक्षिणकी ओर सौ पचास मील तक फैल जाये, तो बबईके लोगोंको केरलके 'बैक वॉटर्स' का कुछ ख्याल हो सकेगा। किन्तु केरलके उस हिस्सेका सृष्टि-सौंदर्य प्रत्यक्ष देखे बिना ध्यानमे नही आयेगा।

सिंधके कमल-सुंदर मंचर सरोवरके बारेमे मैने थोड़ा-सा लिखा है। किन्तु उत्कलमे देखे हुए चिल्का सरोवरके बारेमें लिखना अभी बाकी है। लॉर्ड कर्जनने एक बार कहा था कि "हिन्दुस्तानमे श्रेष्ठ सौदर्य-धाम यदि कोई है तो वह चिल्का सरोवर ही है।" स्वीडन और नार्वेकी समुद्र-शाखाके चित्र जब-जब मैं देखता हूं, तब-तब मुझे एक बार देखे हुए चिल्का सरोवरका स्मरण हुए बिना नही रहता। उत्कलके एक कविने इस सरोवर पर एक सुन्दर सुदीर्घ काव्य लिखा है।

० ० ०

नदियों और सरोवरोंके बारेमें लिखनेके बाद जीवन-तर्पण पूरा करनेके लिए

मुझे हिन्दुस्तान, ब्रह्मदेश और सीलोनके किनारे किये हुए विशिष्ट समुद्र-दर्शनोंका वर्णन भी लिख डालना चाहिये। कराची, कच्छ और काठियावाड़से लेकर बम्बई, दाभोळ, कारवार या गोकर्ण तकका समुद्र-तट, उसके बाद कालिकटसे लेकर रामेश्वरम और कन्याकुमारी तकका दक्षिणका किनारा, वहांसे ऊपर पांडिचेरी, मद्रास, मछलीपट्टम्, विजगापट्टम् आदि सूर्योदयका पूर्व किनारा और अन्तमें गोपालपुर, चांदीपुर, कोणार्क और पुरी-जगन्नाथसे लेकर ठेठ हीराबंदर तकका दक्षिणाभिमुख समुद्र-तट जब याद आता है;तब कमसे कम पचास-पचहत्तर दृश्य एक ही साथ नजरके सामने विश्वरूप दर्शनकी तरह अद्भुत ज्वार-भाटा चलाते हैं? सीलोन और रंगूनके दृश्य तो अपना व्यक्तित्त्व रखते ही है। दिलमें यह सारा आनन्द इतना भरा हुआ है कि वाणीके द्वारा उसे एकसाथ यदि वहा दूं, तो समुद्र-से निकलकर अनेक दिशाओंमें बहनेवाली एक नयी अलौकिक सरस्वती पैदा हो जायगी। कुछ नहीं तो दिलको हलका करनेके लिए ही इन सब संस्मरणोंको गति देनी होगी।

हिन्दुस्तानके पहाड़ और जंगल, रेगिस्तान और मैदान, शहर और गाव, मब प्रतीक्षा कर रहे हैं। गांवोंका पुरस्कार करनेके हेतु मैं शहरोंकी कितनी ही निन्दा क्यों न करूं और काम पूरा होनेके पहले ही शहरोंसे भागनेकी इच्छा भी क्यों न करूं, फिर भी शहरोंका व्यक्तित्व मैं पहचान सकता हूं। उनके प्रति भी मैं प्रेम-भक्तिका भाव रखता हूं। क्या भारतके सब शहर मेरे देशवासियोंके पुरुपार्थके प्रतीक नही हैं? क्या शहरोंमें संस्कारिताकी पेढ़ियां हमारे लोगोंने स्थापित नही की हैं? क्या हरेक शहरने अपना वायुमंडल, अपनी टेक, अपना पुरुषार्थ अखड रूप से नही चलाया है? शहर यदि गांवोंके भक्षक या शोपक मिटकर उनके पोपक बन जायें, तो उन्हें भी हरेक समाज-हितचिंतकके आशीर्वाद मिले बिना नही रहेगे।

मेरी दृष्टिसे तो हिन्दुस्तानमें देखे हुए अनेकानेक स्मशान भी मेरी भक्तिके विषय हैं। फिर वह चाहे हरिश्चंद्र द्वारा रक्षित काशीका स्मशान हो, दिल्लीके आसपास अनेक राजधानियोंके स्मशान हों, या महायुद्धके बाद अभी आसाममें देखे हुए मृतक हवाई जहाजोंके अवशेष रूप दो तीन चमकीले स्मशान हों। स्मशान तो स्मशान ही हैं। उन्हें देखते ही मनुष्योंके तथा राजवंशोंके, साम्राज्योंके और संस्कृतियोंके जन्म मरणके बारेमें गहरे विचार मनमें उठे बिना नही रह सकते।

जिसमें खुद मुझे जाना है, उस एक स्मशानको छोड़कर बाकीके सब स्मशानों का वर्णन करनेकी इच्छा हो आती है। यह यदि संभव न हो तो जिस प्रकार युद्धमें 'काम आये हुए' अज्ञात वीरोंको और श्राद्धके समय अज्ञात सम्बन्धियोंको एक सामान्य पिंड या अंजलि अर्पण की जाती है, उसी प्रकार हरिश्चंद्र, विक्रम, भर्तृहरि और महादेवके उपासक असंख्य योगियोंने जिस स्मशानको अपना निवास बनाया,

उस प्रतिनिधिक 'सर्व सामान्य स्मशान' को एक अंजलि अर्पण करनेकी इच्छा तो है ही ।

क्या यह सब मैं कर सकूंगा ? मुझे इसकी चिता नही है । ऐसी बात नहीं है कि सिर्फ ईश्वर ही अवतार धारण करता है । जिस जिसके मनमें संकल्प उठते हैं, उस उसको अवतार लेने ही पड़ते हैं । यह भी माननेकी आवश्यकता नहीं है कि एक ही जीवात्मा अनेक अवतार धारण करता है । अवतार धारण करना पड़ता है अदम्य संकल्पको । अदम्य संकल्प ही सच्चा विधाता है । संकल्प पैदा हुआ कि उसमेंसे सृष्टि उत्पन्न होगी ही । फिर वह भले ब्रह्मदेवकी पार्थिव सृष्टि हो, साहित्यकी शब्द-सृष्टि हो, या केवल कल्पनाकी चित्र-सृष्टि हो ।

इस सृष्टिके द्वारा जीवन-देवता अपना अनत-विध उल्लास प्रकट करता ही रहता है ।

'सप्त सरिता' की भूमिका

नदी-भक्ति हम भारतीयोंकी असाधारण विशेषता है । नदियोंको हम 'माता' कहते हैं। इन नदियोंसे ही हमारी संस्कृतियोंका उद्गम और विकास हुआ है। नदी देखते ही उसमें स्नान करना, उसके जलका पान करना और हो सके तो उसके किनारे संस्कृति-संवर्धनके लिए दान देना, ये तीनों प्रवृत्तियां नदी-दर्शनके अंग हैं। स्नान, पान और दानके द्वारा ही नदी-पूजा होती है । कई नदी-भक्त पुरोहितोंकी मदद लेकर देवीकी शास्त्रोक्त पूजा करते हैं । उसमें 'नदीका ही पानी लेकर नदीको अभिषेक करना' यह क्रिया भी आ जाती है ।

ये नदियां या तो किसी पहाडसे निकलती हैं या किसी सरोवरसे निकलती हैं । दूसरे प्रकारकी नदियोंको 'सरोजा' कहना चाहिए । तब पहले प्रकारकी नदियों को 'गिरिजा' ही कहना पड़ेगा । छोटी नदियां बड़ी नदियोंको अपना जल देकर उनमे समा जाती हैं और बड़ी नदियां वह सारा विशाल जल समुद्रको अर्पण करके कृतार्थ होती हैं । इसीलिए समुद्रको अथवा सागरको 'नदीपति' कहनेका रिवाज है ।

हम जैसे नदी-भक्त हैं, वैसे ही पहाड़ोंके पूजक भी हैं । हमारे कई उत्तमोत्तम तीर्थ पहाड़ोके आश्रयमें बसे हुए हैं और जब किसी नदीका उद्गम भी किसी पहाड़मेसे होता है तब तो पूछना ही क्या ! वह स्थान पवित्रतम गिना जाता है ।

ऐसे पहाड़ोंके, ऐसी नदियोंके, ऐसे सरोवरोंके और ऐसे समुद्रोंके नाम कण्ठ करना और पूजाके समय उनका पाठ करना, यह भी बड़ा पुण्य माना गया है ।

जब ऐसे स्थानोंके नाम हम कण्ठ करना चाहते हैं तब उनकी संख्या भी हम केवल भक्तिभावसे निश्चित कर देते हैं। एक, तीन, पांच, सात, नौ, दस, बारह, बीस, एक सौ आठ, हजार ये सब हमारे अत्यन्त पुण्यात्मक पवित्र आकड़े है।

हमारी सारी पृथ्वीको हम 'सप्तखण्डा' कहते है। 'सप्त द्वीपा वसुन्धरा' ये शब्द धर्म-साहित्यमे आपको जगह-जगह मिलेगे।

पृथ्वीके खण्ड अगर सात हैं तो उनको घेरनेवाले समुद्र भी सात ही होने चाहिए—सप्त-सागर। फिर तो भारतकी प्रधान नदिया भी सात होनी चाहिए। भारतमे नदिया भले ही असख्य हो, लेकिन हम सात नदियोकी ही प्रार्थना करेंगे कि हमारे पूजाके कलशमे अपना-अपना पानी लेकर उपस्थित रहो। भारतमे तीर्थ-क्षेत्र असख्य है, किन्तु हम लोग उनमेसे कण्ठ करनेके लिए सात ही नाम पसन्द करेंगे और फिर कहेंगे, बाकीके सब तीर्थ-स्थान इन्हीके पेटमे समा जाते हैं।

महीनेके दिन निश्चित करनेका भार सूर्य और चंद्रने अपने सिर पर ले लिया और दोनोने मिलकर हमारा द्वादशमासिक वर्ष भी तैयार किया। हमने एक साल के बारह महीने तुरन्त मान्य किये। द्वादश आकड़ा है ही पवित्र। फिर महीनेके दिन हो गए तीस, लेकिन इसम दिनका हिसाब थोड़ा-थोडा कमोबेश करके अमावस्या और पूर्णिमाके दिन सभालने ही पड़ते है। एक सालके बारह महीने और हरेक महीनेके दो पक्ष, हमने तय नही किये। यह व्यवस्था कुदरतने ही हमारे लिए तय कर दी। अब पक्षके दो विभाग करना हमारे हाथमे था। हम लोगोने सूर्य-चद्रके साथ पाच ग्रहोको पसन्द करके महीनेके चार 'सप्ताह' बना दिये।

हम पूजामे खाने-पीनेकी चीजे चाहे जितनी रखते होगे, लेकिन उसके लिए सात धान्योके ही नाम पसन्द करेंगे।

हम जानते है कि नदियोको जन्म देनेवाले बडे-बड़े आठ पहाड़ है। ऐसे पहाड़ोको हम 'कुलपर्वत' कहते है। अष्टकुल पर्वतको मान्य किये बिना चारा ही नही था, तो भी सप्तद्वीप, सप्तसरिता, सप्तसागर (उनको 'सप्तार्णव' भी कहते है) और सप्तपातालके साथ पहाडोंको भी सप्तपर्वत बनना ही पड़ा। सप्तभुवन, सप्तलोक और सप्तपातालके साथ अपने सूर्यको हमने सात घोड़े भी दिये। हमारी देवियां भी सात। यह तो ठीक, लेकिन गीता, रामायण, भागवत आदि हमारे राष्ट्रीय ग्रथोंका सार भी हमने सात-सात श्लोकोमे रख दिया। सप्तश्लोकी गीता, सप्तश्लोकी रामायण और सप्तश्लोकी भागवत कण्ठ करना बड़ा आसान होता है। आसेतु-हिमाचल भारतमे तीर्थकी नगरियां असख्य हैं। ऐसी अनेकानेक नगरियोंके माहात्म्य भी लिखे गए हैं। तो भी हम कण्ठ करेंगे :

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
परी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

(माया याने आजका हरद्वार, पुरी याने जगन्नाथपुरी नहीं, लेकिन द्वारावती ही सातवीं पुरी है।)

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराके प्रति हार्दिक निष्ठा अर्पण करके हमने भारतीय नदियोंके अपने इस स्मरणको और उनके उपस्थानको 'सप्तसरिता' नाम दिया। बचपनमें जब हमने पिताजीके चरणोंमें बैठकर भगवानकी पूजा-विधिके मंत्र सीख लिये, तब सात नदियोंकी पूजाके कलशमें आकर बैठनेकी प्रार्थना भी सीख ली थी :

गंगे ! च यमुने ! चैव गोदावरि ! सरस्वति !
नर्मदे ! सिंधु ! कावेरी ! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

तब नदी भक्तिके हमारे इस नये ढंगके स्तोत्रको 'सप्तसरिता' नाम दिये बिना नदियोंको संतोष कैसे हो सकता है ?

भारतकी नदियोंमें कृष्णा नदी कोई छोटी नदी नही है। उसकी लंबाई, उसके पानीकी राशि और उसका सांस्कृतिक इतिहास भारतकी किसी भी नदीसे कम महत्त्वका नहीं है। मेरा जन्म इसी नदीके किनारे हुआ। फिर भी ऊपरकी सूचीमे कृष्णाका नाम नहीं है और जिसका रूप और स्थान आजकल कही दीख नही पड़ता, ऐसी सरस्वती नदीका नाम ऊपरकी सूची में मध्यस्थान पर है।

बचपनमें और युवावस्थामें भी जिसके किनारे मैं खेलता रहा और खेतीका परिचय पानेके लिए हल चलानेकी मेरी क्रीड़ा भी जिसने देखी थी, ऐसे छोटे जलप्रवाहको भले नदीका नाम न दो। भारतकी सौ-दो-सौ नदियोंके नामोंमें भी जिसको स्थान नहीं मिलेगा, ऐसी छोटी मार्कण्डी नदीको याद किये विना मेरा काम कैसे चलेगा ? उसको याद करते, प्रारंभमें ही मैंने कहा, "सब नदियोंको मैं अपनी माता समझता हूं और मैं उनकी भक्ति भी करता हूं लेकिन मार्कण्डीको माता नही कहूंगा, सखी ही कहूंगा। वह चाहे जितनी छोटी हो, नगण्य हो, मेरी ओरसे किये हुए उपस्थानमें उसको स्थान होना ही चाहिए। नदियोंकी फेहरिस्तमें नही, तो मेरी इस प्रस्तावनामें ही, उसे आदर और प्रेमका स्थान दूंगा।

यहांकी कुल नदियोंकी संख्या बारह हो या पन्द्रह, इस किताबका नाम तो 'सप्तसरिता' ही रहेगा और अपने सब नदी-भक्त पूर्वजोंकी दलीलका उपयोग करके कहूंगा कि भारतकी सब नदियां इन सातोंके भिन्न-भिन्न अवतार ही हैं। सातकी संख्या तो कायम ही रहेगी। एक दफे तो विचार हुआ था कि संख्या सत्रह करके पुस्तकका नाम रखूं—'सप्तदशा सरिता'। लेकिन सनातन परम्पराका मैं भक्त, मेरा हृदय 'सप्तसरिता' का नाम छोड़नेको तैयार नहीं हुआ, सो नहीं ही हुआ।

सप्तसरिताकी इस आवृत्तिमें मेरी भारत-भक्तिने एक नये विचारका

स्वीकार किया है। ये नदियां जब पहाड़की लड़कियां है तो उनके उपस्थानमे उनके पिताको भी श्रद्धाजलि मिलनी ही चाहिए।

पुराणोमे अष्टकुल पर्वतोंकी नामावली और उनकी कन्याओंकी फेहरिस्त भी दी है। उनका उल्लेख परिशिष्टमे देकर प्रधानतया (१) हिमालय, (२)विंध्य-सतपुड़ा और (३) सह्याद्रि, इन तीन पहाड़ोको ही यहां स्थान दूगा। (हालाकि महात्मा गाधीका पवित्र सहवास प्राप्त करनेके लिए जिस साबरमती नदीके किनारे मैं वर्षो तक रहा, उसके उद्गमका पहाड़ पारियात्र (या अरावली) का नाम-निर्देश किये बिना चारा ही नही।

यह कोई भूगोलकी किताब नही है, न कोई भारतकी नदियो और भारतके पहाडोंके उपलक्ष्यमे लिखी गई निबन्धमाला है। यह तो सिर्फ अपने देशकी प्रनि-निधिरूप लोक-माताओंको भक्तिपूर्वक किया हुआ एक तरहका उपस्थान-मात्र है और इन नदियोको सन्तोष हो सके, इस हेतु उनके पिता स्वरूप भारतके प्रधान तीन-चार पहाडोका भक्तिपूर्ण उल्लेख मात्र है।

हमारे पूर्वजोंकी नदी भक्ति आज भी क्षीण नही हुई है। आज भी यात्रियोंकी छोटी-बड़ी मानव-नदिया अपने-अपने स्थानसे इन नदियोके उद्गम, संगम और समुद्र-मिलनकी ओर बह-बहकर उसी प्राचीन भक्तिके उतने ही ताजे, सजीव और जाग्रत होनेका प्रमाण दे रही है।

हम हृदयसे चाहते है कि हरेक भक्त-हृदय इन भक्तिके उद्गारोंको सुनकर प्रसन्न हो और देशके युवकोमें अपनी लोकमाताओका दुग्धपान करके अपनी समृद्ध संस्कृतिको, और भी पुष्ट करनेकी अभिलाषा जाग उठे।

सर्वधर्मा एकादशी' — सरिता-पूजक
१३.४.७३ — **काका कालेलकर के**
भक्तिपूर्ण वदेमातरम्

नोट: 'सप्त सरिता' के लेखोका समावेश 'जीवन लीला' मे कर लिया है— सपादक मंडल)

१. सखी मार्कण्डी

क्या हरएक नदी माता ही होती है? नही। मार्कण्डी तो मेरी छुटपनकी सखी है। वह इतनी छोटी है कि मै उसे अपनी बड़ी बहन भी नहीं कह सकता।

बेलगुदीके हमारे खेतमें गूलरके पेड़के नीचे दुपहरकी छायामें जाकर बैठू तो मार्कण्डीका मंद पवन मुझे जरूर बुलायेगा। मार्कण्डीके किनारे मैं कई बार बैठा हूं, और पवनकी लहरोसे डोलती हुई घासकी पत्तियोंको मैंने घंटों तक निहारा है।

मार्कण्डीके किनारे असाधारण अद्‌भुत कुछ भी नही है। न कोई खास किस्मके फूल है, न तरह-तरहके रंगोकी तितलिया हैं। सुन्दर पत्थर भी वहा नही है। अपने कलकूजनसे चित्तको बेचैन कर डाले ऐसे छोटे-बडे प्रपात भला वहां कहासे हो ? वहां है केवल स्निग्ध शाति।

गड़रिये बताते है कि मार्कण्डी बैजनाथके पहाड़मे आती है। उसका उद्‌गम खोजनेकी इच्छा मुझे कभी नही हुई। हमारे तालुकेका नक्शा हाथमे आ जाय तो भी उसमे मार्कण्डीकी रेखा मै नही खोजूगा। क्योकि वैसा करनेसे वह सखी मिटकर नदी बन जायगी! मुझे तो उसके पानीमें अपने पाव छोडकर बैठना ही पसद है। पानीमे पांव डाला कि फौरन उसकी कलकल-कलकल आवाज शुरू हो जाती है। छुटपनमे हम दोनो कितनी ही बाते किया करते थे। एक-दूसरेका सहवास ही हमारे आनंदके लिए काफी हो जाता था। मार्कण्डी क्या बता रही है यह जाननेकी परवाह न मुझे थी, न मै जो कुछ बोलता हू उसका अर्थ समझनेके लिए वह रुकती थी। हम एक-दूसरेसे बोल रहे है, इतना ही हम दोनोके लिए काफी था। भाई-बहन जब बरसो बाद मिलते है, तब एक-दूसरेसे हजारों सवाल पूछा करते है। किन्तु इन सवालोके पीछे जिज्ञासा नही होती। वह तो प्रेम व्यक्त करनेका केवल एक तरीका होता है। प्रश्न क्या पूछा और उत्तर क्या मिला, इस ओर ध्यान दे सके इतना स्वस्थ चित्त भला प्रेम-मिलनके समय कैसे हो ?

मार्कण्डीके किनारे-किनारे मै गाता हुआ घूमता और मार्कण्डी उन गीतोको सुनती जाती। सोलहवे वर्षकी आयुमे शिव-भक्तिके बल पर जिन्होने यमराजको पीछे ढकेल दिया उन मार्कण्डेय ऋषिका उपाख्यान गाते समय मुझे कितना आनद मालूम होता था!

मृकंडु ऋषिके कोई सतान न थी। उन्होने तपश्चर्या की और महादेवजीको प्रसन्न किया। महादेवजीने वरदानमे विकल्प रखा।

साधू सुदर शाहणा सुत तया मोळाच वर्षे मिती
जो का मूढ कुरूप तो शतवरी वर्षे असे स्व-स्थिती
या दोहीत जसा मनात रुचला तो म्या तुते दीधला.

(एक लड़का साधुचरित, खूबसूरत और सयाना होगा। किन्तु उसकी आयु सिर्फ सोलह सालकी होगी। दूसरा मूढ और बदसूरत होगा। उसकी आयु सौ साल-की होगी। मगर वह उम्रभर जैसाका वैसा ही रहेगा। इन दोनोमे सें जो तुम्हे पसंद हो, सो मै दूगा।)

अब इन दोनोंमेसे कौनसा पसद करे? ऋषिने धर्मपत्नीसे पूछा। दोनोने सोचा, बालक भले सोलह वर्ष ही जिये किन्तु वह सद्‌गुणी हो। वही कुलका उद्धार करेगा। दोनोने यही वर माग लिया। मार्कण्डेय उम्रमे ज्यो-ज्यो खिलता गया त्यों-त्यों मां-बापके वदन म्लान होते चलें गए। आखिर सोलह वर्ष पूरे हुए।

युवक मार्कण्डेय पूजामें बैठा है। यमराज अपने पाड़े पर बैठकर आये। किन्तु शिवलिंगको भेंटे हुए युवा साधुको छूनेकी हिम्मत उन्हें कैसे हो? हां, ना करते करते उन्होंने आखिर पाश फेंका। उधर लिंगसे त्रिशूलधारी शिवजी प्रकट हुए। और अपनी धृष्टताके लिए यमराजको भला-बुरा बहुत कुछ सुनना पड़ा। मृत्युंजय महादेवजीके दर्शन करनेके बाद मार्कण्डेयको मृत्युका डर कैसे हो सकता है? उसकी आयुधारा अब तक बह रही है।

आगे जाकर जब मैं कॉलेजमें पढ़ने लगा तब इम्तहानके बाद हमारी भैया-दूज होती। फसल काटनेके दिन होते। दो दो दिन खेतमें ही बिताने पड़ते। तब मार्कण्डी मुझे शकरकंद भी खिलाती और अमृत जैसा पानी भी पिलाती। जब यह देखनेके लिए मैं जाता कि रातको ठंडके मारे वह कांप तो नहीं रही है, तब अपने आइनेमें वह मुझे मृगनक्षत्र दिखाती।

आज भी जब मैं अपने गांव जाता हूं, मार्कण्डीसे बिना मिले नही रहता। किन्तु अब वह पहलेकी भांति मुझसे लाड़ नहीं करती। जरा-सा स्मित करके मौन ही धारण करती है। उसके सुकुमार वदन पर पहलेके जैसा लावण्य नही है। किन्तु अब उसके स्नेहकी गंभीरता बढ़ गयी है।

अगस्त, १९२८

२. कृष्णाके संस्मरण

१

एकादशीका दिन था। गाड़ीमे बैठकर हम माहुली चले। महाराष्ट्रकी राजधानी सातारासे माहुली कुछ दूरी पर है। रास्तेमे दाहिनी तरफ श्री शाहु महाराजके वफादार कुत्तेकी समाधि आती है। रास्ते पर हमारी ही तरह बहुतसे लोगमाहुलीकी तरफ गाड़ियां दौड़ा रहे थे। आखिर हम नदीके किनारे पहुंचे। वहां इस पारसे उस पार तक लोहेकी एक जंजीर ऊंची तनी हुई थी। उसमें रस्सीसे एक नाव लटकाई गई थी, जो मेरी बाल-आंखोंको बड़ी ही भव्य मालूम होती थी।

किनारेके छोटे-बड़े कंकर कितने चिकने, काले-काले और ठंडे-ठंडे थे! हाथमें एकको लेता तो दूसरे पर नजर पड़ती। वह पहलेसे अच्छा मालूम होता। इतनेमें तीसरे भीगे हुए कंकर पर कत्थई रंगकी लकीरें दीख पड़तीं और उसे उठानेका दिल हो जाता। उस दिन कृष्णाका मुझे प्रथम दर्शन हुआ। कृष्णामैयाने भी मुझे पहली ही बार पहचाना। मैं उसे पहचान लूं इतना बड़ा तो मैं था ही नहीं। बच्चा मांको पहचाने उसके पहले ही मां उसे अपना बना लेती है। हम बच्चे नंगे होकर खूब नहाये, कूदे, पानी उछाला, नाव पर चढ़कर पानीमें छलांगें मारीं।

कड़ाके की भूख लगे इतना कृष्णामें जलविहार किया।

जैसा नदीका यह मेरा पहला ही दर्शन था, वैसा ही नहानेके बाद नमकीन मूंगफलीके नाश्तेका स्वाद भी मेरे लिए पहला ही था। यात्राके अवसर पर मोर-पंखोंकी टोपी पहननेवाले 'वासुदेव' भीख मागने आये थे। मजीरेके साथ उनका मधुर भजन भी उस दिन पहली ही बार सुना। कृष्णामैयाके मंदिरमें थोड़ा-सा आराम करनेके बाद हम घर लौटे।

सह्याद्रिके कान्तारमें, महाबलेश्वरके पाससे निकलकर सातारा तक दौड़नेमें कृष्णाको बहुत देर नही लगती। किन्तु इतनेमे ही वेण्ण्या कृष्णासे मिलने आती है। इनके यहांके संगमके कारण ही माहुलीको माहात्म्य प्राप्त हुआ है। दो बालिकाएं एक-दूसरेके कंधे पर हाथ रखकर मानो खेलने निकली हों, ऐसा यह दृश्य मेरे हृदय पर पिछले पैंतीस सालसे अंकित रहा है।

कृष्णाका कुटुम्ब काफी बड़ा है। कई छोटी-बड़ी नदिया उससे आ मिलती हैं। गोदावरीके साथ-साथ कृष्णाको भी हम 'महाराष्ट्र-माता' कह सकते हैं। जिस समय आजकी मराठी भाषा बोली नही जाती थी, उस समयका सारा महाराष्ट्र कृष्णाके ही घेरेके अंदर आता था।

२

'नरसोबाची वाड़ी' जाते समय नाव पर गाड़ी चढ़ाकर हमने कृष्णाको पार किया, तब उसका दूसरी बार दर्शन हुआ। यहा पर एक ओर ऊंचा कगार और दूसरी ओर दूर तक फैला हुआ कृष्णाका कछार, और उसमे उगे हुए बैंगन, खरबूजे ककड़ी और तरबूजके अमृत-खेत! कृष्णाके किनारेके ये बैंगन जिसने एकाध बार खा लिये, वह स्वर्गमे भी उनकी इच्छा करेगा। दो-दो महीने तक लगातार बैंगन खाने पर भी जी नही भरता; फिर भला अरुचि तो कैसे हो?

३

सांगलीके पास, कृष्णाके तट पर मैंने पहली ही बार 'रियासती महाराष्ट्र' का राजवैभव देखा। वे आलीशान और विशाल घाट, सुदर और चमकीले बर्तनोंमें भर-भर कर पानी ले जाती हुई महाराष्ट्रकी ललनाएं, पानीमे छलांग मारकर किनारे परके लोगोंको भिगोनेका हौसला रखनेवाले अखाड़ेबाज, क्षुद्र घंटिकाओंकी तालबद्ध आवाजसे अपने आगमनकी सूचना देनेवाले पहाड जैसे हाथी, और कर्‌र्‌र् की एकश्रुति आवाज निकालकर रसपानका न्योता देनेवाले ईखके कोल्हू—यह था मेरा कृष्णामैयाका तीसरा दर्शन।

मुझे तैरना अच्छी तरह नही आता था। फिर भी एक बड़ी गागर पानीमें औंधी डालकर उसके सहारे बह जानेके लिए मैं एक बार यहां नदीमें उतर पड़ा।

किन्तु एक जगह कीचड़में ऐसा फंसा कि एक पैर निकालता तो दूसरा और भी अंदर धंस जाता। और कीचड़ भी कैसा? मानो काला-काला मक्खन! मुझे लगा कि अब जंगम न रहकर उलटे पेड़की तरह यही स्थावर हो जाऊंगा! उस दिनकी घबराहट भी मैं अब तक नहीं भूला हूं।

४

चिंचली स्टेशन पर पीनेके लिए हमें हमेशा कृष्णाका पानी मिलता था। हमारे एक परिचित सज्जन वहां स्टेशनमास्टर थे। वे हमें बड़े प्रेमसे एकाध लोटा पानी मंगवाकर देते थे। हम चाहे प्यासे हों या न हों पिताजी हम सबको भक्ति-पूर्वक पानी पीनेको कहते। कृष्णा महाराष्ट्रकी आराध्य देवी है। उसकी एक बूंद भी पेटमें जानेसे हम पावन हो जाते हैं। जिसके पेटमें कृष्णाकी एक बूंद भी पहुंच चुकी है, वह अपना महाराष्ट्रीयपन कभी भूल नहीं सकता। श्रीसमर्थ रामदास और शिवाजी महाराज, शाहु और बाजीराव, घोरपडे और पटवर्धन, नाना फडनवीस और रामशास्त्री प्रभुणे—थोड़ेमें कहें तो महाराष्ट्रका साधुत्व और वीरत्व, महाराष्ट्रकी न्यायनिष्ठा और राजनीतिज्ञता, धर्म और सदाचार, देशसेवा और विद्यासेवा, स्वतंत्रता और उदारता, सब कुछ कृष्णाके वत्सल कुटुम्बमें परवरिश पाकर फला-फूला है। देहू और आळंदीके जल कृष्णामें ही मिलते हैं। पंढरपुरकी चंद्रभागा भी भीमा नाम धारण करके कृष्णाको ही मिलती है। 'गंगाका स्नान और तुंगाका पान' इस कहावतमें जिसके गौरवका स्वीकार किया गया है, वह तुंगभद्रा कर्णाटकके प्राचीन वैभवकी याद करती हुई कृष्णामें ही लीन होती है। सच कहें तो महाराष्ट्र, कर्णाटक और तेलंगण (आंध्र), इन तीनों प्रदेशोंका ऐक्य साधनेके लिए ही कृष्णा नदी बहती है। इन तीनों प्रान्तोंने कृष्णाका दूध पिया है। कृष्णामें पक्षपाती प्रांतीयता नहीं है।

५

कॉलिजके दिन थे। बड़ी-बड़ी आशायें लेकर बड़े भाईसे मिलने मैं पूनासे घर गया। किन्तु मेरे पहुंचनेसे पहले ही वे इहलोक छोड़ चुके थे। मेरी किस्मतमे कृष्णाके पवित्र जलमें उनकी अस्थियोंका समर्पण करना ही बदा था। बेलगांवसे मैं कूड़ची गया। संध्याका समय था। रेलके पुलके नीचे कृष्णाकी पूजा की। बड़े भाईकी अस्थियां कृष्णाके उदरमें अर्पण कीं। नहाया और पलथी मारकर जीवन-मरण पर सोचने लगा।

कृष्णाके पानीमें कितने ही महाराष्ट्रके वीरों और महाराष्ट्रके शत्रुओंका खून मिला होगा! वर्षाकालकी मस्तीमें कृष्णाने कितने ही किसान और उनके मवेशियों को जलसमाधि दी होगी! पर कृष्णाको इससे क्या? मदोन्मत्त हाथी उसके जलमें

विहार करें और विरक्त साधु उसके किनारे तपश्चर्या करें, कृष्णाके लिए दोनों समान हैं। मेरे भाईकी अस्थियों और कंकर बनी हुई पहाड़की अस्थियोके बीच कृष्णाके मनमे क्या फर्क है? माहुलीमे अपने कंधे पर मुझे खड़ा करके पानीमें कूदनेके लिये बढ़ावा देनेवाले बड़े भाईकी अस्थिया मुझे अपने हाथों उसी कृष्णाके जलमे समर्पण करनी पड़ी! जीवनकी लीला कैसी अगम्य है!

६

कृष्णाके उदरमे मेरा दूसरा एक भाई भी सोया हुआ है! ब्रह्मचारी अनंतबुआ मरढेकर हृदयकी भावनासे मेरे सगे छोटे भाई थे, और देशसेवाके व्रतमे मेरे बड़े भाई थे। स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और गोसेवा यह त्रिविध कार्य करते-करते उन्होंने शरीर छोड़ा था। मेरे साथ उन्होंने गंगोत्री और अमरनाथकी यात्रा की थी। किन्तु कृष्णाके किनारे आकर ही वे अमर हुए। भक्तिकी धुनमे वे सुध-बुध भूल जाते और कई जगह ठोकर खाते। इस बातका मुझे हिमालयकी यात्रामे कई बार अनुभव हुआ था। मै बार-बार उनको कोसता। किन्तु वे परवाह नही करते। वे तो श्रीसमर्थकी प्रासादिक वाणीकी सात्त्विक मस्तीमे ही रहते। कृष्णाको भी उन्हें कोमनेकी सूझी होगी। देव-मंदिरकी प्रदक्षिणा करते-करते वे ऊपरसे एक दहमे गिर पडे और देवलोक सिधारे। जब वाईके पथरीले पट परसे बहती गगाका स्मरण करता हूं, कृष्णामे हर वर्षाकालमे शिरस्नान करते देव-मंदिरके शिखरोंका दर्शन करता हूं, तब कृष्णाके पास मेरा भी यह एक भाई हमेशाके लिए पहुच गया है इस बातका स्मरण हुए बिना नही रहता; साथ ही साथ अनतबुआकी तपोनिष्ठ किन्तु प्रेम-मुकुमार मूर्तिका दर्शन हुए बिना भी नही रहता।

७

सन् १९२१ का वह साल! भारतवर्षने एक ही सालके भीतर स्वराज्य सिद्ध करनेका बीड़ा उठा लिया है। हिन्दू-मुसलमान एक हो गये हैं। तैंतीस करोड़ देवताओंके समान भारतवासी करोड़ोंकी संख्यामे ही सोचने लगे हैं। स्वराज्यऋषि लोकमान्य तिलकका स्मरण कायम करनेके लिए 'तिलक स्वराज्य फंड' मे एक करोड रुपये इकट्ठे करने हैं। राष्ट्रसभाके छत्रके नीचे काम करनेवाले सदस्योंकी सख्या भी एक करोड़ बनानी है। और पट-वर्धन श्रीकृष्णके मुदर्शनके समान चरखे भी इस धर्मभूमिमे उतनी ही संख्यामें चलवा देने है। भारतपुत्र इस कामके लिए बेजवाड़ेमें इकट्ठे हुए हैं। श्री अब्बास साहब, पुणतावेकर, गिदवाणी और मैं, एक साथ बेजवाड़ा पहुंच गये हैं। ऐसे मंगल अवसर पर श्री कृष्णाम्बिका का विराट दर्शन करनेका सौभाग्य मिला। वाईमें जिस कृष्णाके किनारे बैठकर संध्यावंदन किया था और न्यायनिष्ठ रामशास्त्री तथा राजकाजपटु नाना फड़नवीसकी बातें

की थी, उसी नन्हीं कृष्णाको यहां इतनी बड़ी होते देखकर प्रथम तो विश्वास ही न हुआ। कहां माहुलीकी वह छोटी-सी जंजीर और कहां यूरोप-अमरीकाको जोडने-वाले केबलके जैसा यहांका वह रस्सा! हजारों-लाखों लोग यहां नहाने आये हैं। स्थूलकाय आंध्र भाइयोंमें आज भारतवर्षके तमाम भाई घुलमिल गये हैं। 'राष्ट्रीय' हिन्दीका वाक्प्रवाह जहां-तहां सुनाई देता है। कृष्णामें जिस प्रकार वेण्ण्या, वारणा, कोयना, भीमा, तुगभद्रा आकर मिलती है, उसी प्रकार गाव-गांव के लोग ठटके ठट बेजवाड़ेमे उभरते हैं। ऐसे अवसर पर सबके साथ रोज कृष्णामें स्नान करनेका लुत्फ मिलता। जिस कृष्णाने जन्मकालका दूध दिया उसी कृष्णाने स्वराज्यकांक्षी भारतराष्ट्रका गौरवशाली दर्शन कराया। जय कृष्णा! तेरी जय हो! भारतवर्ष एक हो! स्वतंत्र हो!!

जुलाई, १६२६

३. मुला-मुठाका संगम

नदियां तो हमारी बहुत देखी हुई होती हैं पर दो नदियोका संगम आसानीसे देखनेको नही मिलता। संगमका काव्य ही अलग है।

जब दो नदियां मिलती है तब अक्सर उनमेंसे एक अपना नाम छोड़कर दूसरीमें मिल जाती है। सभी देशोमें इस नियमका पालन होता हुआ दिखाई देता है। किन्तु जिस प्रकार कलंकके बिना चंद्र नही शोभता, उसी प्रकार अपवादके बिना नियम भी नही चलते। और कई बार तो नियमकी अपेक्षा अपवाद ही ज्यादा ध्यान खीचते हैं। उत्तर अमरीकाकी मिसिसिपी-मिसोरी अपना लंबा-चौड़ा सप्ताक्षरी नाम द्वंद्व समाससे धारण करके संसारकी सबसे लंबी नदीके तौर पर मशहूर हुई है। सीता-हरणसे लेकर विजयनगरके स्वातंत्र्य-हरण तकके इतिहासको याद करती तुगभद्रा भी तुंगा और भद्राके मिलनसे अपना नाम और बड़प्पन प्राप्त कर सकी है। पूनाको अपनी गोदमें खेलाती मुळामुठा भी मुळा और मुठाके संगमसे बनी है।

सिंहगढ़की पश्चिम ओरकी घाटीसे मुठा आती है। खडक-वासला तककी मुडी टेकरियां उसका रक्षण करती हैं। खडक-वासलाके बांधने तन्वंगी मुठाका एक सुदीर्घ सरोवर बनाया है। इस सरोवरके किनारे न तो कोई पेड़ है, न मंदिर। दिनमें बादल और रातके समय तारे अपने चिंताजनक प्रतिबिंब इस सरोवरमें डालते हैं। यहींकी मुठासे नहरके रूपमें दो जबरदस्त महसूल लिये जाते हैं, जिनसे पूना और खडकीकी बस्ती जी भरके पानी पीती है। मुठाके किनारे गन्नेकी खेती बढती जा रही है। बसंत ऋतुमें जहां देखें वहां ईखके कोल्हू बांग पुकार-पुकार कर लोगोको रसपानकी याद दिलाते हैं। लकड़ी-पुलके नामसे परिचित किन्तु पत्थरके बने हुए

पुलके नीचेसे नदी आगे जाती है और दगड़ी-पुलके नामसे परिचित किन्तु पत्थरके पक्के बांधको पार करती है। इसके बाद ही मुठाका उसकी बहन मुळासे संगम होता है। लकड़ी-पुलसे ओंकारेश्वर तक चाहे जितने शव जलते हों, लेकिन संगमके समय उसका विषाद मुठाके चेहरे पर दिखाई नही देता।

इतना शांत संगम शायद ही और कही होगा। इसी संगम पर कैप्टन मॅलेट पेशवाईकी अंतघड़ीकी राह देखता हुआ पडाव डालकर बैठा था। आज तो संस्कृत भाषाका संशोधन यूरोपियन पंडितोके हाथसे वापिस छीन लेनेके लिए मथनेवाले आर्य पंडित भांडारकरजीका संगमाश्रम ही यहां विराजमान है। सस्कृत विद्याके पुनरुद्धारके लिए संस्थापित पाठशालाका रूपान्तर करके पुराने और नयेका सगम करनेवाला डेक्कन कॉलेज भी इस संगमके पास ही विराजमान है। यहा गोरे लोगोंने नौका-विहारके लिए नदी पर बाध-बाधकर पानी रोका है, और मच्छरोंके विशाल कुलको भी यहां आश्रय दिया है। नजदीककी टेकरी पर गुजरातके एक लक्ष्मीपुत्रकी अुत्तुग-शिरस्क किन्तु नम्र-नामधेय 'पर्णकुटी' है। मानवकी स्वतंत्रता-का हरण करनेवाला यरवडाका कैदखाना और प्राणहरपटु लश्करी बारूदखाना भी इस संगमसे अधिक दूरी पर नही है। न मालूम कितनी विचित्र वस्तुओंका संगम मुळामुठाके किनारे पर होता होगा और होनेवाला होगा! बाधके पास बंड-गार्डनमे लक्षाधीश और भिक्षाधीशोका संगम हर शामको होता है, यह भी इसीकी एक मिसाल है।

आखिरी बाध परसे हाश् करके छटकती मुळामुठा यहांसे आगे कहा तक जाती है, यह भला कौन बता सकेगा? इस बातकी जानकारी किसके पास होगी?

महाराष्ट्रकी नदियोंमें तीन नदियोंसे मेरी विशेष आत्मीयता है। मार्कण्डी मेरी छुटपनकी सखी, मेरे खेतिहर जीवनकी साक्षी, और मेरी बहन आक्काकी प्रतिनिधि है। कृष्णाके किनारे तो मेरा जन्म ही हुआ। महाबलेश्वरसे लेकर बेज-वाड़ा और मछलीपट्टम तकका उसका विस्तार अनेक ढंगसे मेरे जीवनके साथ बुना हुआ है। और तीसरी है मुळामुठा। बचपनमे हम सब भाई शिक्षाके लिए पूनामें रहे थे, उस समयसे मुळा और मुठाका संगम मेरे बाल्यकालका साक्षी रहा है। कॉलेजके दिनोंमें हमने जिन क्रांतिकारी विचारोका सेवन किया था उन्हें भी मुळामुठा जानती है। किन्तु इन सब संस्मरणोंसे बढ जाते है महात्मा गाधीके साथ व्यतीत किये हुए उसके किनारे परके वे दिन! लेडी ठाकरसीकी पर्णकुटी, दिनशा मेहताका निसर्गोपचार भवन और सिंहगढ़का निवास, सब एक ही साथ याद आते हैं।

और आखिर-आखिरके दिनोंमे अग्रेज सरकारने गांधीजीको जहां गिरफ्तार करके रखा था वह आगाखा महल भी मुळामुठाके किनारे पर ही है। और यहीं गांधीजीके दो जीवन-साथियोंने स्वराज्यके यज्ञमे अपनी अंतिम आहुति दी थी। कस्तूरबा और महादेवभाईनें जिसके किनारे शरीर छोड़ा वह मुळामुठा भारत-

वासियोंके लिए, खास करके हम आश्रमवासियोंके लिए तो तीर्थस्थान है।

और जब आजकी मुळामुठाके बारेमें सोचता हूं तब सिंहगढ़के दामनमे खडकवासला सरोवरके किनारे जिस राष्ट्र-रक्षा-विद्यालयकी स्थापना हुई है उसका स्मरण हुए बिना नही रहता। इस संस्थाका नाम युद्ध- महाविद्यालय रखनेके बदले राष्ट्रीय रक्षा-विद्यालय रखा गया, यह बात भी ध्यान खीचे बिना नही रहती। जिस सरोवरके किनारे इस विद्यालयकी स्थापना हुई है उसका नाम भी महाराष्ट्रके इतिहासके अनुरूप ही होना चाहिये। ऐसे सरोवरको किसी अंग्रेजका नाम न देकर नरवीर तानाजी मालुसरेका नाम देना चाहिये। अपनी जान देकर जब तानाजीने छत्रपति शिवाजीके लिए कोंडाणा गढ़ जीत दिया तब शिवाजीने कहा 'गढ आला पण सिंह गेला— गढ़ तो जीत लिया किन्तु मैंने अपना शेर खो दिया।' और उस दिनमे इस गढ़का नाम सिंहगढ़ पड़ा।

इस सरोवरको हम या तो तानाजी सरोवर कहें या सिंह सरोवर।

१९२६—२७

सशोधित, १९५६

४. सागर-सरिताका संगम

छुटपनमे भोज और कालिदासकी कहानियां पढ़नेको मिलती थी। भोज राजा पूछते हैं, "यह नदी इतनी क्यों रोती है?" नदीका पानी पत्थरोंको पार करते हुए आवाज करता होगा। राजाको सूझा, कविके सामने एक कल्पना फेक दें; इसलिए उसने ऊपरका सवाल पूछा। लोककथाओंका कालिदास लोकमानसको जंचे ऐसा ही जवाब देगा न? उसने कहा, "रोनेका कारण क्यों पूछते हैं, महाराज? यह बाला पीहरसे ससुराल जा रही है। फिर रोयेगी नही तो क्या करेगी?" इस समय मेरे मनमें आया, "ससुराल जाना अगर पसन्द नही है तो भला जाती क्यों है?" किसीने जवाब दिया, "लड़कीका जीवन ससुराल जानेके लिए ही है।"

नदी जब अपने पति सागरसे मिलती है तब उसका सारा स्वरूप बदल जाता है। वहा उसके प्रवाहको नदी कहना भी मुश्किल हो जाता है। साताराके पास माहुलीके नजदीक कृष्णा और वेण्याका सगम देखा था। पूनामे मुळा और मुठाका। किन्तु सरिता-सागरका संगम तो पहले पहल देखा कारवारमें—उत्तरकी ओरके सरोके (कॅश्युरीनाके) वनके सिरे पर। हम दो भाई समुद्र-तटकी बालू पर खेलते-खेलते, घूमते-घामते दूर तक चले गये थे। हमेशासे काफी दूर गये और यकायक एक सुन्दर नदीको समुद्रसे मिलते देखा। दो नदियोके संगमकी अपेक्षा नदी-समुद्रका संगम अधिक काव्यमय होता है। दो नदियोंका संगम गूढ़-शांत होता है। किन्तु जब

सागर और सरिता एक-दूसरेसे मिलते हैं तब दोनोंमें स्पष्ट उन्माद दिखाई देता है। इस उन्मादका नशा हमें भी अचूक चढ़ता है। नदीका पानी शांत आग्रहसे समुद्रकी ओर बहता जाता है, जब कि अपनी मर्यादाको कभी न छोड़नेके लिए विख्यात समुद्रका पानी चंद्रमाकी उत्तेजनाके अनुसार कभी नदीके लिए रास्ता बना देता है, कभी सामने हो जाता है। नदी और सागरका जब एक-दूसरेके खिलाफ सत्याग्रह चलता है, तब कई तरहके दृश्य देखनेको मिलते हैं। समुद्रकी लहरें जब तिरछी कतराती आती हैं तब पानीका एक फुहारा एक छोरसे दूसरे तक दौड़ता जाता है। कहीं-कहीं पानी गोल-गोल चक्कर काटकर भंवर बनाता है। जब सागरका जोश बढ़ने लगता है तब नदीका पानी पीछे हटता जाता है। ऐसे अवसर पर दोनों ओरके किनारों परका उसका थपेड़ा बड़ा तेज होता है। नदीकी गतिकी विपरीत दशाको देखकर उससे फायदा उठानेवाली स्वार्थी नावें पुरजोशमें अंदर घुसती हैं। उन्हें मालूम है कि भाग्यके इस ज्वारके साथ जितना अंदर जा सकेंगे उतना ही पल्ले पड़नेवाला है। फिर जब भाटा शुरू होता है और सागरकी लहरें विरोधकी जगह बाहु खोलकर नदीके पानीका स्वागत करती है, तब मतलबी नावोंको अपनी त्रिकोनी पगड़ी बदलते देर नही लगती। पवन चाहे किसी भी दिशामें चलता रहे, जब तक वह प्रत्यक्ष सामने नही होता तब तक उसमेंसे कुछ न कुछ मतलब साधने की चालाकी इन वैश्यवृत्तिवाली नावोंमे होती ही है। उनकी पगड़ीकी यानी पालकी बनावट भी ऐसी ही होती है।

हम जिस समय गये थे उस समय नावें इसी प्रकार नदीके अंदर घुस रही थी। किन्तु समुद्रके इन पतंगोंको निहारनेमे हमे कोई दिलचस्पी नही थी। हम तो संगमके साथ सूर्यास्त कैसा फबता है यह देखनेमें मशगूल थे। सुनहरा रग सब जगह सुन्दर ही होता है। किन्तु हरे रगके साथकी उसकी बादशाही शोभा कुछ और ही होती है। ऊंचे-ऊंचे पेड़ों पर संध्याके सुवर्ण किरण जब आरोहण करते हैं तब मनने संदेह उठता है कि यह मानवी सृष्टि है, या परियों की दुनिया है? समुद्र ऐसी तो भव्य सुन्दरता दिखाने लगा मानो सुवर्ण रसका सरोवर उमड़ रहा हो। यह शोभा देखकर हम अघा गये या सच कहें तो जैसे-जैसे यह शोभा देखते गये वैसे-वैसे हमारा दिल अधिकाधिक बेचैन होता गया। सौंदर्य-पान से हम व्याकुल होते जा रहे थे।

सूर्यास्तके बाद ये रंग सौम्य हुए। हम भी होशमें आये और वापस लौटनेकी बात सोचने लगे। किन्तु पानी इतना आगे बढ़ गया था कि वापस लौटना कठिन हो गया। परिणामस्वरूप हम नदीके किनारे-किनारे उलटे चले। यहां पर भी नदीका पानी दोनों ओर से फूलता जा रहा था—जैसे भैंसे की पीठ पर की पखाल भरते समय फूलती जाती है। जैसे-जैसे हम उलटे चलते गये वैसे-वैसे पानीमें शांति बढ़ती गयी। अंधेरा भी बढ़ता जा रहा था। इस पारसे उस पार तक आने

आने वाली एक नन्ही-सी नाव एक कोनेमें पड़ी थी। और देहातके चंद मजदूर लंगोटीकी डोरीमे पीछेकी ओर लकड़ीका एक चक्र खोसकर उसमे अपने 'कोयते' लटकाये जा रहे थे। ('कोयता' हसियेके जैसा एक औजार होता है, जो नारियल छीलनेमे काम आता है या सामान्य तौरसे जिसका कुल्हाडीकी तरह उपयोग किया जाता है।) इन लोगोकी पोशाक बस एक लंगोटी और एक जाकिट होती है। नदीको पार करते समय जाकिट निकालकर सिर पर ले लिया कि बस। प्रकृति के बालक! जमीन और पानी उनके लिए एक ही है।

घर जानेकी जल्दी सिर्फ हमे ही नही थी। ऐसा मालूम होता था कि इन देहाती लोगोको भी जल्दी थी। और नदीके किनारे दौड़ते छोटे-छोटे केकडोको भी हमारी ही तरह जल्दी थी। रात पडी और हम जल्दीसे घर लौटे किन्तु मन मे विचार तो आया कि किसी दिन इस नदीके किनारे-किनारे काफी ऊपर तक जाना चाहिये।

प्याज या कॅबेज (पत्तागोभी) हाथमे आने पर फौरन उसकी सब पत्तिया खोलकर देखने की जैसे इच्छा होती है, वैसे ही नदी को देखने पर उसके उद्गमकी ओर चलनेकी इच्छा मनुष्य को होनी ही है। उद्गमकी खोज सनातन खोज है। गगोत्री, जमनोत्री और महाबलेश्वर या त्र्यंबककी खोज इसी तरह हुई है।

बचपनकी यह इच्छा कुछ ही वर्ष पहले बर आई। श्री शकरराव गुलवाडी जी मुझे एक सेवा केद्र दिखानेके लिए नदीकी उलटी दिशामे दूर तक ले गये। इस प्रतीप-यात्राके समय ही कवि बोरकरकी कविता सुनी थी, इस बातका भी आनददायी स्मरण है।

५. गंगामैया

१

गगा कुछ भी न करती, सिर्फ देवव्रत भीष्मको ही जन्म देती, तो भी आर्य-जातिकी माताके तौर पर वह आज प्रख्यात होती। पितामह भीष्मकी टेक, भीष्मकी नि.स्पृहता, भीष्मका ब्रह्मचर्य और भीष्मका तत्त्वज्ञान हमेशाके लिए आर्यजातिका आदरपात्र ध्येय बन चुका है। हम गगाको आर्यसस्कृतिके ऐसे आधारस्तभ महापुरुषकी माताके रूपमे पहचानते है।

२

नदी को यदि कोई उपमा शोभा देती है, तो वह माताकी ही। नदीके किनारे पर रहनेसे अकालका डर तो रहता ही नही। मेघराजा जब धोखा देते है तब नदी

माता ही हमारी फसल पकाती है। नदीका किनारा यानी शुद्ध और शीतल हवा। नदीके किनारे-किनारे घूमने जायें तो प्रकृतिके मातृवात्सल्यके अखंड प्रवाहका दर्शन होता है। नदी बड़ी हो और उसका प्रवाह धीरगंभीर हो, तब तो उसके किनारे पर रहनेवालोंकी शानशौकत उस नदी पर ही निर्भर करती है। सचमुच नदी जन समाजकी माता है। नदी-किनारे बसे हुए शहरकी गली-गलीमे घूमते समय एकाध कोनेसे नदीका दर्शन हो जाय, तो हमे कितना आनंद होता है! कहां शहर का वह गदा वायुमंडल और कहां नदीका यह प्रसन्न दर्शन! दोनोके बीचका अनर फौरन मालूम हो जाता है। नदी ईश्वर नही है, बल्कि ईश्वरका स्मरण करानेवाला देवता है। यदि गुरुको वंदन करना आवश्यक है तो नदीको भी वदन करना उचित है।

यह तो हुई सामान्य नदीकी बात। किन्तु गंगामैया तो आर्यजातिकी माता है। आर्योंके बड़े-बड़े साम्राज्य इसी नदीके तट पर स्थापित हुए हैं। कुरु-पाचाल देशका अंगवंगादि देशोके साथ गगाने ही संयोग किया है। आज भी हिन्दुस्तानकी आबादी गगाके तट पर सबसे अधिक है।

जब हम गगाका दर्शन करते है तब हमारे ध्यानमें फसलसे लहलहाते सिर्फ खेत ही नही आते, न सिर्फ मालसे लदे जहाज ही आते है; किन्तु वाल्मीकिका काव्य, वुद्ध-महावीरके विहार, अशोक, समुद्रगुप्त या हर्ष जैसे सम्राटोके पराक्रम और तुलसीदास या कबीर जैसे संतजनोके भजन—इन सबका एक साथ स्मरण हो आता है। गंगाका दर्शन तो शैत्य-पावनत्वका हार्दिक तथा प्रत्यक्ष दर्शन है।

किन्तु गंगाके दर्शनका एक ही प्रकार नही है। गंगोत्रीके पासके हिमाच्छादित प्रदेशोंमे इसका खिलाड़ी कन्यारूप, उत्तरकाशीकी ओर चीड़-देवदारके काव्यमय प्रदेशमे मुग्धारूप, देवप्रयागके पहाडी और संकरे प्रदेशमें चमकीली अलकनंदाके साथ उसकी अठखेलियां, लक्ष्मणझूलेकी विकराल दष्ट्रामेसे छूटनेके बाद हरद्वार के पास उसका अनेक धाराओमे स्वच्छंद विहार, कानपुरसे सटकर जाता हुआ उसका इतिहास-प्रसिद्ध प्रवाह, प्रयागके विशाल पट पर हुआ उसका कालिन्दीके साथका त्रिवेणी संगम—हरेककी शोभा कुछ निराली ही है। एक दृश्य देखने पर दूसरेकी कल्पना नही हो सकती। हरेकका सौदर्य अलग, हरेकका भाव अलग, हरेकका वातावरण अलग, हरेकका माहात्म्य अलग।

प्रयागसे गंगा अलग ही स्वरूप धारण कर लेती है। गंगोत्रीसे लेकर प्रयाग तककी गंगा वर्धमान होते हुए भी एकरूप मानी जा सकती है। किन्तु प्रयागके पास उससे यमुना आकर मिलती है। यमुनाका तो पहलेसे ही दोहरा पाट है। वह खेलती है, कूदती है, किन्तु क्रीड़ा-सक्त नही मालूम होती। गंगा शकुंतला जैसी तपस्वी कन्या दीखती है। काली यमुना द्रौपदी जैसी मानिनी राजकन्या मालूम होती है। शर्मिष्ठा और देवयानीकी कथा जब हम सुनते हैं, तब भी प्रयागके पास

गंगा और यमुनाके बड़ी कठिनाईके साथ मिलते हुए शुक्ल-कृष्ण प्रवाहोंका स्मरण हो आता है। हिन्दुस्तानमें अनगिनत नदिया हैं, इसलिए संगमोंका भी कोई पार नहीं है। इन सभी संगमोंमें हमारे पुरखोंने गंगा-यमुनाका यह संगम सबसे अधिक पसन्द किया है, और इसीलिए उसका 'प्रयागराज' जैसा गौरवपूर्ण नाम रखा है। हिन्दुस्तानमें मुसलमानोंके आनेके बाद जिस प्रकार हिन्दुस्तानके इतिहासका रूप बदला, उसी प्रकार दिल्ली-आगरा और मथुरा-वृन्दावनके समीपसे आते हुए यमुनाके प्रवाहके कारण गंगाका स्वरूप भी प्रयागके बाद बिलकुल बदल गया है।

प्रयागके बाद गंगा कुलवधूकी तरह गंभीर और सौभाग्यवती दीखती है। इसके बाद उसमें बड़ी-बड़ी नदिया मिलती जाती हैं। यमुनाका जल मथुरा-वृन्दावनसे श्रीकृष्णके संस्मरण अर्पण करता है, जब कि अयोध्या होकर आनेवाली सरयू आदर्श राजा रामचंद्रके प्रतापी किन्तु करुण जीवनकी स्मृतिया लाती है। दक्षिणकी ओरसे आनेवाली चंबल नदी रंतिदेवके यज्ञयागकी बातें करती है, जब कि महान कोलाहल करता हुआ शोणभद्र गजग्राहके दारुण द्वंद्व-युद्धकी झांकी कराता है। इस प्रकार हृष्ट-पुष्ट बनी हुई गगा पाटलीपुत्रके पास मगध साम्राज्य जैसी विस्तीर्ण हो जाती है। फिर भी गंडकी अपना अमूल्य करभार लाते हुए हिच-किचाई नही। जनक और अशोककी, बुद्ध और महावीरकी प्राचीन भूमिसे निकल-कर आगे बढ़ते समय गगा मानो सोचमे पड़ जाती है कि अब कहा जाना चाहिये। जब इतनी प्रचंड वारिराशि अपने अमोघ वेगसे पूर्वकी ओर बह रही हो, तब उमे दक्षिणकी ओर मोड़ना क्या कोई आसान बात है? फिर भी वह उस ओर मुड गई है सही। दो सम्राट् या दो जगद्गुरु जैसे एकाएक एक-दूसरेसे नही मिलते, वैसा ही गंगा और ब्रह्मपुत्राका हाल है। ब्रह्मपुत्रा हिमालयके उस पारका सारा पानी लेकर आसामसे होती हुई पश्चिमकी ओर आती है और गंगा इस ओरसे पूर्वकी ओर बढ़ती है। उनकी आमने-सामने भेंट कैसे हो? कौन किसके सामने पहले झुके? कौन किसे पहले रास्ता दे? अंतमें दोनोने तय किया कि दोनोंको दाक्षिण्य धारण-कर सरित्पतिके दर्शनके लिए जाना चाहिये और भक्ति-नम्र होकर, जाते जाते जहां संभव हो, रास्तेमें एक-दूसरेसे मिल लेना चाहिये।

इस प्रकार गोआलंदोके पास जब गंगा और ब्रह्मपुत्राका विशाल जल आकर मिलता है तब मनमे संदेह पैदा होता है कि सागर और क्या होता होगा? विजय प्राप्त करनेके बाद कसी हुई खड़ी सेना भी जिस प्रकार अव्यवस्थित हो जाती है और विजयी वीर मनमें आये वैसे जहां तहां घूमते हैं, उसी प्रकारका हाल इसके बाद इन दो महान नदियोंका होता है। अनेक मुखों द्वारा वे सागरमें जाकर मिलती हैं। हरेक प्रवाहका नाम अलग अलग है और कुछ प्रवाहोंके तो एकसे भी अधिक नाम हैं। गंगा और ब्रह्मपुत्रा एक होकर पद्माका नाम धारण करती हैं। यही आगे जाकर मेघनाके नामसे पुकारी जाती है।

यह अनेकमुखी गंगा कहां जाती है ? सुंदरवनमें बेंतके झुंड उगाने ? या सगर-पुत्रोंकी वासनाको तृप्त कर उनका उद्धार करने ? आज जाकर आप देखेंगे तो यहां पुराने काव्यका कुछ भी शेषनही होगा। जहां देखो वहां पटमनकी बोरियां बनानेवाली मिलें और ऐसे ही दूसरे बेहूदे विश्री कल-कारखाने दीख पड़ेंगे। जहांसे हिन्दुस्तानी कारीगरीकी असंख्य वस्तुएं हिन्दुस्तानी जहाजोंसे लंका या जावा द्वीप तक जाती थीं, उसी रास्तेसे अब विलायती और जापानी आगबोटें (स्टीमरें) विदेशी कार-खानोंमें बना हुआ भद्दा माल हिन्दुस्तानके बाजारोंमें भर डालनेके लिए आती हुई दिखाई देती हैं। गंगामैया पहले ही की तरह हमें अनेक प्रकारकी समृद्धि प्रदान करती जाती है। किन्तु हमारे निर्बल हाथ उसको उठा नही सकते !

गंगामैया ! यह दृश्य देखना तेरी किस्मतमें कब तक बदा है ?

फरवरी, १६२६

६. यमुनारानी

हिमालय तो भव्यता का भंडार है। जहां तहां भव्यताको बिखेरकर भव्यता की भव्यताको कम करते रहना ही मानो हिमालयका व्यवसाय है। फिर भी ऐसे हिमालयमें एक ऐसा स्थान है, जिसकी ऊर्जस्विता हिमालयवासियोंका भी ध्यान खींचती है। यह है यमराजकी बहनका उद्गम-स्थान।

ऊंचाईसे बर्फ पिघलकर एक बड़ा प्रपात गिरता है। इर्दगिर्द गगनचुंबी नहीं, बल्कि गगनभेदी पुराने वृक्ष आड़े गिरकर गल जाते हैं। उत्तुंग पहाड़ यम-दूतोंकी तरह रक्षण करनेके लिए खड़े हैं। कभी पानी जमकर बर्फ बन जाता है, और कभी बर्फ पिघलकर उसका बर्फके जितना ठंडा पानी बन जाता है। ऐसे स्थान में जमीनके अन्दरसे एक अद्भुत ढंगसे उबलता हुआ पानी उछलता रहता है। जमीनके भीतरसे ऐसी आवाज निकलती है मानो किसी वाष्पयंत्रसे क्रोधायमान भाप निकल रही हो। और उन झरनोंसे सिरसे भी ऊंची उड़ती बूंदें इतनी सरदीमें भी मनुष्यको झुलसा देती हैं। ऐसे लोक-चमत्कारी स्थानमें असित ऋषिने यमुना का मूल स्थान खोज निकाला। इस स्थानमें शुद्ध जलसे स्नान करना असंभव-सा है। ठंडे पानीमें नहायें तो हमेशाके लिए ठंडे पड़ जायेंगे और गरम पानीमें नहायें तो वहीके वहीं आलूकी तरह उबल कर मर जायेंगे। इसलिए वहां मिश्र जलके कुंड तैयार किए गये हैं। एक झरनेके ऊपर एक गुफा है। उसमे लकड़ीके पटिये डालकर सो सकते हैं। हां, रातभर करवट बदलते रहना चाहिये, क्योंकि ऊपरकी ठंड और नीचेकी गरमी, दोनों एकसी असह्य होती हैं।

दोनों बहनोंमें गंगासे यमुना बड़ी है, प्रौढ़ है, गंभीर है, कृष्ण-भगिनी द्रौपदी

के समान कृष्णवर्णा और मानिनी है। गंगा तो मानो बेचारी मुग्ध शकुन्तला ही ठहरी, पर देवाधिदेवने उसका स्वीकार किया इसलिए यमुनाने अपना बड़प्पन छोड़कर गंगाको ही अपनी सरदारी सौंप दी। ये दोनों बहनें एक-दूसरेसे मिलनेके लिए बड़ी आतुर दिखाई देनी हैं। हिमालयमें तो एक जगह दोनों करीब-करीब आ जाती हैं। किन्तु ईर्ष्यालु दंडाल पर्वतके बीचमें विघ्नसंतोषीकी तरह आड़े आने से उनका मिलन वहां नही हो पाता। एक काव्य-हृदयी ऋषि वहां यमुनाके किनारे रहकर हमेशा गंगास्नानके लिए जाया करता था। किन्तु भोजनके लिए वापिस यमुनाके ही घर आ जाता था। जब वह बूढ़ा हुआ—ऋषि भी अंतमे बूढ़े होने हैं—तब उसके थकेमांदे पावों पर तरस खाकर गंगाने अपना प्रतिनिधि-रूप एक छोटा-सा झरना यमुनाके तीर पर ऋषिके आश्रममे भेज दिया। आज भी वह छोटासा सफेद प्रवाह उस ऋषिका स्मरण कराता हुआ वह रहा है।

देहरादूनके पास भी हमें आशा होती है कि ये दोनों नदियां एक-दूसरेसे मिलेंगी। किन्तु नही, अपने शैत्य-पावनत्वसे अंतर्वेदीके समूचे प्रदेशको पुनीत करने का कर्तव्य पूरा करनेके पहले उन्हें एक-दूसरेसे मिलकर फुरसतकी बाते करनेकी सूझती ही कैसे? गंगा तो उत्तरकाशी, टेहरी, श्रीनगर, हरिद्वार, कन्नौज, ब्रह्मवर्त कानपुर आदि पुराण-प्रसिद्ध और इतिहास-प्रसिद्ध स्थानोंको अपना दूध पिलाती हुई दौड़ती है; जबकि यमुना कुरुक्षेत्र और पानीपतके हत्यारे भूमिभागको देखती हुई भारतवर्षकी राजधानीके पास आ पहुचती है। यमुनाके पानीमें साम्राज्यकी शक्ति होनी चाहिए। उसके स्मरण-संग्रहालयमे पाडवोंसे लेकर मुगल साम्राज्य तक का और गदरके जमानेसे लेकर स्वामी श्रद्धानंदकी हत्या तकका सारा इतिहास भरा पडा है। दिल्लीसे आगरे तक ऐसा मालूम होता है, मानो बाबरके खानदानके लोग ही हमारे साथ बातें करना चाहते हों। दोनों नगरोंके किले साम्राज्यकी रक्षाके लिए नही, बल्कि यमुनाकी शोभा निहारनेके लिए ही मानो बनाये गये हैं। मुगल-साम्राज्यके नगारे तो कबके बंद हो गये; किन्तु मथुरा-वृन्दावनकी बांसुरी अब भी बज रही है।

मथुरा-वृन्दावनकी शोभा कुछ अपूर्व ही है। यह प्रदेश जितना रमणीय है उतना ही समृद्ध है। हरियानेकी गौएं अपने मीठे, सरस, सकस दूधके लिए हिन्दु-स्तान भरमे मशहूर हैं। यशोदामैयाने या गोपराजा नंदने खुद यह स्थान पसंद किया था, इस बातको तो मानो यहांकी भूमि भूल ही नहीं सकती। मथुरा-वृन्दावन तो है ही बालकृष्णकी क्रीड़ा-भूमि, वीरकृष्णकी विक्रमभूमि। द्वारकावासको यदि छोड़ दें तो श्रीकृष्णके जीवनके साथ अधिकसे अधिक सहयोग कालिंदीने ही किया है। जिस यमुनाने कालियामर्दन देखा उसी यमुनाने कंसका शिरच्छेदन भी देखा। जिस यमुनाने हस्तिनापुरके दरबारमें श्रीकृष्णकी सचिव-वाणी सुनी, उसी यमुनाने

रण-कुशल श्रीकृष्णकी योगमूर्ति कुरुक्षेत्र पर विचरती निहारी। जिस यमुनाने वृन्दावनकी प्रणय-बांसुरीके साथ अपना कलरव मिलाया, उसी यमुनाने कुरुक्षेत्र पर रोमहर्षण गीतावाणीको प्रतिध्वनित किया। यमराजकी बहनका भाईपन तो श्रीकृष्णको ही शोभा दे सकता है।

जिसने भारतवर्षके कुलका कई बार संहार देखा है, उस यमुनाके लिए पारिजातके फूलके समान ताजबीबीका अवसान कितना मर्मभेदी हुआ होगा? फिर भी उसने प्रेमसम्राट् शाहजहांके जमे हुए आंसुओंको प्रतिबिंबित करना स्वीकार कर लिया है।

भारतीय कालसे मशहूर वैदिक नदी चर्मण्यवतीसे करभार लेकर यमुना ज्यों ही आगे बढ़ती है, त्योंही मध्ययुगीन इतिहासकी झांकी करानेवाली नन्ही-सी सिन्धु नदी उसमें आ मिलती है।

अब यमुना अधीर हो उठी है। कई दिन हुए, बहन गंगाका दर्शन नहीं हुआ है। कहने जैसी बातें पेटमें समाती नहीं हैं। पूछनेके लिए असंख्य सवाल भी इकट्ठे हो गये हैं। कानपुर और कालपी बहुत दूर नहीं है। यहां गंगाकी खबर पाते ही खुशीमें वहांकी मिश्रीसे मुंह मीठा बनाकर यमुना ऐसी दौड़ी कि प्रयागराजमें गंगाके गलेमें लिपट गयी। क्या दोनोंका उन्माद! मिलने पर भी मानो उनको यकीन नहीं होता कि वे मिली हैं। भारतवर्षके सबके सब साधु-संत इस प्रेमसंगमको देखनेके लिए इकट्ठे हुए हैं। पर इन बहनोंको इसकी सुधबुध नहीं है। आंगनमें अक्षयवट खड़ा है। उसकी भी इन्हें परवाह नहीं है। बूढ़ा अकबर छावनी डाले पड़ा है, उसे कौन पूछता है? और अशोकका शिलास्तंभ लाकर वहां खड़ा करें तो भी क्या ये बहनें उसकी ओर नजर उठाकर देखेंगी?

प्रेमका यह संगम-प्रवाह अखंड बहता रहता है, और उसके साथ कवि-सम्राट् कालिदासकी सरस्वती भी अखंड बह रही है!

> क्वचित् प्रभा-लेपिभिर्इन्द्रनीलैर् मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
> अन्यत्र माला सित-पंकजानाम् इन्दीवरैर् उत्खचितान्तरेव।।
> क्वचित् खगानां प्रिय-मानसानां कादंब-संसर्गवतीव पंक्तिः।
> अन्यत्र कालागरु-दत्तपत्रा भक्तिर् भुवश्चन्दन-कल्पितेव।।
> क्वचित् प्रभा चांद्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
> अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा-रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा।।
> क्वचित् च कृष्णोरग-भूषणेव भस्मांग-रागा तनुर् ईश्वरस्य।
> पश्यानवद्यांगि! विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरंगैः।।

[हे निर्दोष अंगवाली सीते! देखो इस गंगाके प्रवाहमें यमुनाकी तरंगें घंसकर प्रवाहको खंडित कर रही हैं। यह कैसा दृश्य है! कहीं मालूम होता है, मानो मोतियोंकी मालामें पिरोये हुए इन्द्रनील मणि मोतियोंकी प्रभाको कुछ

धुंधलाकर रहे है। कही ऐसा दीखता है, मानो सफेद कमलके हारमे नील कमल गूथ दिये हो। कही मानो मानसरोवर जाते हुए श्वेत हसोके साथ काले कादब उड़ रहे हो। कही मानो श्वेत चंदनसे लिपी हुई जमीन पर कृष्णागरुकी पत्र-रचना की गयी हो। कही मानो चंद्रकी प्रभाके साथ छायामे सोये हुए अधकारकी क्रीडा चल रही हो। कही शरदऋतुके शुभ्र मेघोके पीछेसे इधर-उधर आसमान दीख रहा हो। और कही ऐसा मालूम होता है, मानो महादेवजीके भस्मभूषित शरीर पर कृष्ण सर्पोंके आभूषण धारण करा दिये हो।]

कैसा सुदर दृश्य ! ऊपर पुष्पक विमानमे मेघ-श्याम रामचद्र और धवल-शीला जानकी चौदह सालके वियोगके पश्चात् अयोध्यामे पहुचनेके लिए अधीर हो उठे है, और नीचे इदीवर-श्यामा कालिदी और सुधा-जला जाह्नवी एक-दूसरे का परिरभ छोडे बिना सागर मे नामरूपको छोडकर विलीन होनेके लिए दौड रही है।

इस पावन दृश्यको देखकर स्वर्गमे सुमनोकी पुष्पवृष्टि हुई होगी और भूतल पर कवियोकी प्रतिभा-सृष्टिके फुहारे उडे होगे।

सितबर, १९२९

७. मूल त्रिवेणी

ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनो मिलकर जिस तरह दत्तात्रेयजी बनते है, उसी तरह अलकनदा, मदाकिनी और भागीरथी मिलकर गगामैया बनती है। ये तीनो गगाकी बहने नही हैं, बल्कि गगाके अग है। भागीरथी भले गगोत्रीसे आती हो, तो भी मदाकिनीका केदारनाथ और अलकनदाका बदरीनारायण भी गगाके ही उद्गम हैं।

ब्रह्मकपालसे होकर जो अलकनदा बहती है और वहा एक बार श्राद्ध करनेसे जो अशेष पूर्वजोको एकसाथ हमेशाके लिए मुक्ति दे देती है उस अलकनदाका उद्-गम स्थान क्या गगोत्रीसे कम पवित्र है ? ब्रह्मकपाल पर एक बार श्राद्ध करनेके बाद फिर कभी श्राद्ध किया ही नही जा सकता। यदि मोहवश करे तो पितरोकी अधो-गति होती है। कितना जाग्रत स्थान है वह !

बदरीनारायणके गरम कुडोका पानी लेकर अलकनंदा आती है, जबकि मदाकिनी गौरीकुडके उष्ण जलसे थोडी देर कवोष्ण होती है। केदारनाथका मंदिर बनावटकी दृष्टिसे अन्य सब मदिरोसे अलग प्रकारका है। अंदरका शिवलिंग भी स्वयंभू, बिना आकृतिका है। वह इतना ऊंचा है कि मनुष्य उस पर झुककर उससे हृदयस्पर्श कर सकता है। मंदिरोकी जितनी विशेषता है उतनी ही मदाकिनीकी भी

विशेषता है। यहांके पत्थर अलग प्रकारके हैं, यहांका बहाव अलग प्रकारका है, और यहा नहानेका आनंद भी अलग प्रकारका है।

गंगोत्री तो गंगोत्री ही है। इन तीनों प्रवाहोंमें भागीरथीका प्रवाह अधिक वन्य और मुग्ध मालूम होता है। यह नही है कि गंगामें सिर्फ यही तीन प्रवाह है। नील-गंगा है, ब्रह्मगंगा है, कई गंगाये है। हिमालयसे निकलनेवाले सभी प्रवाह गगा ही तो हैं! जिनका पानी हरिद्वारके पास हरिके चरणोंका स्पर्श करता है। वे सब प्रवाह गंगा ही हैं। वाल्मीकिने भी जब गंगाको आकाशसे हिमालयके शिखररूपी महादेवजीकी जटाओं पर गिरते और वहासे अनेक धाराम‍े निकलते देखा तब उनकी आर्ष दृष्टिने सात अलग-अलग प्रवाह गिनाये थे।

तस्या विसृज्यमानाया सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे।
ह्लादिनी, पावनी चैव, नलिनी च तथैव च।।
सुचक्षुश्चैव, सीता च, सिन्धुश्चैव, महानदी।
सप्तमी चान्वगात् तासा भगीरथ-रथं तदा।।

१९३४

८. जीवनतीर्थ हरिद्वार

त्रिपथगा गंगाके तीन अवतार है। गगोत्री या गोमुखसे लेकर हरिद्वार तककी गंगा उसका प्रथम अवतार है। हरिद्वारसे लेकर प्रयागराज तककी गंगा उसका दूसरा अवतार है प्रथम अवतारम वह पहाडके बधनमे—शिवजीकी जटाओंमे—मुक्त होनेके लिए प्रयत्न करती है। दूसरे अवनारमे वह अपनी बहन यमुनासे मिलने के लिए आतुर है। प्रयागराजमे गंगा यमुनासे मिलकर अपने बड़े प्रवाहके साथ सरित्पति सागरमें विलीन होनेकी चाह रखती है। यह है उसका तीसरा अवतार। गंगोत्री, हरिद्वार, प्रयाग और गंगासागर, गंगापुत्र आर्योंके लिए चार बड़ेमे बडे तीर्थस्थान है। जितना ऊपर चढे उतना तीर्थका माहात्म्य अधिक, ऐसा माना जाता है। एक प्रकारमे यह सही भी है। किन्तु मेरी दृष्टिमे तो भारत-जातिके लिए अत्यंत आकर्षक स्थान हरिद्वार ही है। हरिद्वारमें भी पांच तीर्थ प्रसिद्ध है। पुराण-कारोंने हरेकके माहात्म्यका वर्णन श्रद्धा और रससे किया है। किन्तु यह महत्त्व कुछ भी न जानते हुए भी मनुष्य कह सकता है कि 'हरिकी पैडी' में ही गगाका माहात्म्य और काव्य कहें तो काव्य अधिक दिखाई देता है।

यों तो हरेक नदीकी लंबाईमें काव्यमय भूमिभाग होते ही हैं। मेरा कहनेका यह आशय नही है कि गंगाके किनारे हरिद्वारसे अधिक सुंदर स्थान हो ही नही सकता। हरिकी पैड़ीके आसपास बनारसकी शोभाका सौवां हिस्सा भी आपको नहीं

मिलेगा। फिर भी यहां पर प्रकृति और मनुष्यने एक-दूसरेके बैरी न होते हुए गंगा की शोभा बढ़ानेका काम सहयोगसे किया है। गंगाका वह सादा और स्वच्छ प्रवाह मंदिरके पासका वह दौड़ता घाट; घाटके नीचेका वह छोटा टेढ़ामेढ़ा दह; इस तरफ हजारों लोग आसानीसे बैठ सकें ऐसा नदीके पट जैसा घाट, उस तरफ छोटे बेटके जैसा टुकड़ा और दोनों बाजुओंको सांधनेवाला पुराना पुल; सभी काव्यमय है। किनारे परके मंदिरों और धर्मशालाओंके सादे शिखर गंगाकी तरफ चिपका हुआ हमारा ध्यान अपनी तरफ नहीं खींचते। फिर भी वे गंगाकी शोभामें वृद्धि ही करते हैं। बनारसके बाजारमें बैठनेवाले आलसी बैल अलग हैं और शांतिसे जुगाली करनेवाले यहांके बैल अलग हैं। यहां गंगामें कहीं पर भी कीचड़का नामोनिशान आपको नहीं मिलेगा। अनंतकालसे एक-दूसरेके साथ टकरा टकरा कर गोल बने हुए सफेद पत्थर ही सर्वत्र देख लीजिये।

हरिकी पैड़ीमें सबसे आकर्षक वस्तुकी ओर हमारा ध्यान ही नही जाता। हम उसका महज असर ही अनुभव करते है। वह है यहाकी हवा। हिमालयके दूर-दूरके हिमाच्छादित शिखरों परसे जो पवन दक्षिणकी ओर बहते है, वे सबसे पहले यहां-की ही मनुष्यबस्तीको स्पर्श करते हैं। इतना पावन पवन अन्यत्र कहां मिले ? हरिकी पैड़ीके पास पुल पर खड़े रहिये, आपके फेफड़ोंमें और दिलमे केवल आह्लाद ही भर जायगा। उन्मादक नही बल्कि प्राणदायी; फिर भी प्रशम-कारी।

जितनी बार मै यहां आया हूं, उतनी बार वही शांति, वही आह्लाद, वही स्फूर्ति मैने अनुभव की है। चंद लोग बम्बईकी चौपाटीके साथ इस घाटका मुकाबला करते है। आत्यंतिक विरोधका सादृश्य इन दोनोंके बीच जरूर है। यहां यात्री लोग मछलियोंको आहार देते हैं, जब कि वहां मछुए आहारके लिए मछलियोंको पकड़ने जाते हैं।

हरिकी पैडी देखनी हो तो शामको सूर्यास्तके बाद जाना चाहिये। चांदनी है या नही, यह सोचनेकी आवश्यकता नही है। चांदनी होगी तो एक प्रकारकी शोभा मिलेगी, नही होगी तो दूसरे प्रकारकी मिलेगी। इन दोनोमें जो पसंदगी करने बैठेगा वह कलाप्रेमी नहीं है। संध्याकाशमें एकके बाद एक सितारे प्रकट होते हैं, और नीचेसे एकके बाद एक जलते दीये उनका जवाब देते हैं। इस दृश्यकी गूढ़ शांति मन पर कुछ अद्भुत असर करती है। इतनेमे मंदिरसे टीग टांग, टीग टांग करते घंटे आरतीके लिए न्यौता देते हैं। इस घंटनादका मानो अंत ही नही है। टीग टांग, टींग टांग चलता ही रहता है। और भक्तजन तरह-तरहकी आरतियां गाते ही रहते हैं। पुरुष गाते हैं, स्त्रियां गाती हैं, ब्रह्मचारी गाते हैं और संन्यासी भी गाते हैं; स्थानिक लोग गाते हैं और प्रांत-प्रांतके यात्री भी गाते हैं। कोई किसीकी परवाह नहीं करता। कोई किसीसे नही अकुलाता। हरेक अपने-अपने भक्तिभावमें तल्लीन। सनातनी स्तोत्र गाते हैं, आर्यसमाजी उपदेश देते हैं। सिख लोग ग्रंथसाहब

के एकाध 'महोल्ले' में से आसा-दि-वार जोरसे गाते हैं। गोरक्षा-प्रचारक आपको यहां बतायेंगे कि संसारमें सफेद रंग इसीलिए है कि गायका दूध सफेद है। गायके पेटमें तैंतीस कोटि देवता हैं; सिर्फ वहां पेटभर घास नहीं है। चंद नास्तिक इस भीड़का फायदा उठाकर प्रमाणके साथ यह सिद्ध कर देते है कि ईश्वर नहीं है। और उदार हिन्दूधर्म यह सब सद्भावपूर्वक चलने देता है। गंगामैयाके वातावरणमें किसीका भी तिरस्कार नहीं है। सभीका सत्कार है। लाल गेरुवा पहनकर मुक्त होनेका दावा करनेवाले मुक्तिफौजके मिशनरी भी यहां आकर यदि हिन्दूधर्मके विरुद्ध प्रचार करें तो भी हमारे यात्री उनकी बात शांतिसे सुनेंगे और कहेंगे कि भगवानने जैसी बुद्धि दी है वैसा बेचारे बोलते हैं; उनका क्या अपराध है ?

हिन्दू समाजमें अनेक दोष हैं और इन दोषोंके कारण हिन्दू समाजने काफी सहा भी है। किन्तु उदारता, सहिष्णुता और सद्भाव आदि हिन्दू समाजकी विशेषतायें हरगिज दोषरूप नहीं हैं। यह कहनेवाले कि उदारताके कारण हिन्दू समाजने बहुत कुछ सहा है, हिन्दू धर्मकी जड़ ही काट डालते है।

अब भी वह घंटा बज रहा है और आलसी लोगोंको यह कहकर कि आरतीका समय अभी बीता नहीं है, जीवनका कल्याण करनेके लिए मनाता है।

और वे बालायें खाखरेके पत्तोंके बड़े-बड़े दोनोंमें फूलोंके बीच घीके दीये रखकर उन्हें प्रवाहमें छोड़ देती हैं, मानो अपने भाग्यकी परीक्षा करती हों। और ये दोने तुरन्त नावकी तरह डोलते-डोलते—इस तरह डोलते हुए मानो अपने भीतरकी ज्योतिका महत्त्व जानते हों, जीवन यात्रा शुरू कर देते है।

चली ! वह जीवन-यात्रा चली ! एकके बाद एक, एकके बाद एक, ये दीये अपनेको और अपने भाग्यको जीवन-प्रवाहमें छोड़ देते है। जो बात मनुष्य-जीवनमें व्यक्तिकी होती है वही यहां दीयोंकी होती है। कई अभागे यात्राके आरंभमें ही पवनके वश हो जाते हैं और चारों ओर विषाद फैलाते हैं। कुछ काफी आशायें दिखाकर निराश करते हैं। कुछ आजन्म मरीजोंकी तरह डगमग करते-करते दूर तक पहुंचते हैं। कभी-कभी दो दोने पास-पास आकर एक-दूसरेसे चिपक जाते हैं और बादमें यह जोड़ा-नाव दंपतीकी तरह लंबी-लंबी यात्रा करती है। उनको गोल गोल चक्कर काटते देखकर मनमें जो भाव प्रकट होते हैं उन्हें व्यक्त करना कठिन है। कई तो जीवन-ज्योति बुझनेसे पहले ही दृष्टिसे ओझल हो जाते हैं। मृत्यु और अदृष्ट दोनों मनुष्य-जीवनके आखिरी अध्याय हैं। इनके सामने किसीकी चलती नहीं, इसीलिए मनुष्यको ईश्वरका स्मरण होता है। मरण न होता तो शायद ईश्वरका स्मरण भी न होता।

हिम्मत हो तो किसी दिन सुबह चार बजे अकेले-अकेले इस घाट पर आकर बैठिये। कुछ अलग ही किस्मके भक्त आपको यहां दिखाई देंगे। सुबह तीन बजेसे लेकर सूर्योदय तक विशिष्ट लोग ही यहां आयेंगे। वाजिनीवती उषा सूर्यनारायण-

को जन्म देती है और तुरन्त व्यावहारिक दुनिया इस घाट पर कब्जा कर लेती है। उसके पहले ही यहांसे खिसक जाना अच्छा है। आकाशके सितारे भी खुश होंगे।

मार्च, १९३६

९. दक्षिणगंगा गोदावरी

१

बचपनमें सुबह उठकर हम भूपाली[1] गाते थे। उनमे से ये चार पंक्तियां अब भी स्मृतिपट पर अंकित हैं :

'उठोनियां प्रातःकाळी। वदनी वदा चंद्रामौळी।
श्रीबिंदुमाधवाजवळी। स्नान करा गंगेचे। स्नान करा गोदेचें।।

० ० ०

कृष्णा वेण्या तुंगभद्रा। सरयू कालिंदी नर्मदा।
भीमा भामा गोदा। करा स्नान गंगेचें।।

गंगा और गोदा एक ही हैं दोनोके माहात्म्यमे जरा भी फर्क नही है। फर्क कोई हो भी तो इतना ही कि कलिकालके पापके कारण गंगाका माहात्म्य किसी समय कम हो सकता है; किन्तु गोदावरीका माहात्म्य कभी कम हो ही नही सकता। श्री रामचन्द्रके अत्यंत सुखके दिन इस गोदावरीके तीर पर ही बीते थे, और जीवन-का दारुण आघात भी उन्हें यही सहना पड़ा था। गोदावरी तो दक्षिणकी गंगा है।

कृष्णा और गोदावरी इन दो नदियोंने दो विक्रमशाली महाप्रजाओंका पोषण किया है। यदि हम कहे कि महाराष्ट्रका स्वराज्य और आंध्रका साम्राज्य इन्ही दो नदियोका ऋणी है, तो इसमे जरा-सी भी अत्युक्ति नही होगी। साम्राज्य बने और टूटे, महाप्रजायें चढी और गिरी; किन्तु इस ऐतिहासिक भूमिमे ये दो नदियां अखंड बहती ही जा रही है। ये नदियां भूतकालके गौरवशाली इतिहासकी जितनी साक्षी हैं उतनी ही भविष्यकालकी महान आशाओंकी प्रेरक भी हैं। इनमे भी गोदावरीका माहात्म्य कुछ अनोखा ही है। वह जितनी सलिल-समृद्ध है उतनी ही इतिहास-समृद्ध भी है। गोपाल-कृष्णके जीवनमे जिस तरह सर्वत्र विविधता ही विविधता भरी हुई है, एकसा उत्कर्ष ही उत्कर्ष दिखाई देता है, उसी तरह गोदावरीके अति दीर्घ प्रवाहके किनारे सृष्टि-सौदर्यकी विविधता और विपुलता भरी पड़ी है। ब्रह्मदेवकी एक कल्पनामेसे जिस तरह सृष्टिका विस्तार होता है, वाल्मीकिकी एक कारुण्यमयी वेदनामेसे जिस तरह रामायणी सृष्टिका विस्तार हुआ है, उसी तरह

१. प्रभाती

त्र्यंबकके पहाडके कगारमे टपकती हुई गोदावरीमेंसे ही आगे जाकर राजमहेंद्राकी विशाल वारिराशिका विस्तार हुआ है। सिंधु और ब्रह्मपुत्राको जिस तरह हिमालयका आलिंगन करनेकी सूझी, नर्मदा और ताप्तीको जिस तरह विंध्य-सतपुड़ाको पिघलानेकी सूझी, उसी तरह गोदावरी और कृष्णाको दक्षिणके उन्नत प्रदेशको तर करके उसे धनधान्यसे समृद्ध करनेकी सूझी है। पक्षपातसे सह्याद्रि पर्वत पश्चिमकी ओर ढल पडा, यह मानो इन्हे पसन्द नही आया। ऐसा ही जान पडता है कि उसे पूर्वकी ओर खीचनेका अखड प्रयत्न ये दोनो नदिया कर रही है। इन दोनो नदियोका उद्गम-स्थान पश्चिमी समुद्रसे ५०—७५ मीलसे अधिक दूर नही है, फिर भी दोनो ८००—९०० मीलकी यात्रा करके अपना जलभार या कर-भार पूर्व-समुद्रको ही अर्पण करती है। और इस कर-भारका विस्तार कोई मामूली नही है। उसके अन्दर सारा महाराष्ट्र देश आ जाता है, हैदराबाद और मैसूरके राज्योका अतर्भाव होता है, और आध्र देश तो साराका सारा उसीमे समा जाता है। मिश्रसस्कृतिकी माता नाइल नदी हमारी गोदावरीके सामने कोई चीज ही नही है।

त्र्यबकके पास पहाडकी एक बडी दीवारमेसे गोदाका उद्गम हुआ है। गिरनारकी ऊची दीवार परसे भी त्र्यबककी इस दीवारका पूरा खयाल नही आयेगा। त्र्यबक गावमे जो चढाई शुरू होती है वह गोदामैयाकी मूर्तिके चरणो तक चलती ही रहती है। इससे भी ऊपर जानेके लिए बाई ओर पहाडमे विकट सीढिया बनायी गयी है। इस रास्ते मनुष्य ब्रह्मगिरि तक पहुच सकता है। किन्तु वह दुनिया ही अलग है। गोदावरीके उद्गम-स्थानसे जो दृश्य दीख पडता है वही हमारे वातावरणके लिए विशेष अनुकूल है। महाराष्ट्रके तपस्वियो और राजाओने समान भावसे इस स्थान पर अपनी भक्ति उडेल दी है। कृष्णाके किनारे वाई सातारा और गोदाके किनारे नासिक पैठण महाराष्ट्रकी सच्ची सास्कृतिक राजधानिया है।

२

किन्तु गोदावरीका इतिहास तो सहन-वीर रामचद्र और दु ख-मूर्ति सीतामाताके वृत्तातसे ही शुरू होता है। राजपाट छोडते समय रामको दु.ख नही हुआ, किन्तु गोदावरीके किनारे सीता और लक्ष्मणके साथ मनाये हुए आनदका अत होते ही रामका हृदय एकदम शतधा विदीर्ण हो गया। बाघ-भेड़ियोके अभावमे निर्भय बने हुए हिरण आर्य रामचद्रकी दु खोन्मत्त आखे देखकर दूर भाग गये होगे। सीताकी खोजमे निकले देवर लक्ष्मणकी दहाडे सुनकर बडे-बडे हाथी भी भय-कपित हो गये होगे। और पशुपक्षियोके दु.खाश्रुओसे गोदावरीके विमल जल भी कषाय हो गये होगे। हिमालयमे जिस तरह पार्वती थी, उसी तरह जनस्थानमे सीता समस्त विश्वकी अधिष्ठात्री थी। उसके जाने पर जो कल्पातिक दु:ख हुआ वह यदि सार्व-

भौम हुआ हो, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?

राम-सीताका संयोग तो फिर हुआ। किन्तु उनका जनस्थानका वियोग तो हमेशाके लिए बना रहा। आज भी आप नासिक-पंचवटीमें घूमकर देखें, चाहे चौमासेमें जायें या गरमीमें, आपको यही मालूम होगा मानो सारी पंचवटी जटायु-की तरह उदास होकर 'सीता, सीता' पुकार रही है। महाराष्ट्रके साधु-संतोंने यदि अपनी मंगल-वाणी यहां फैलाई न होती, तो जनस्थान मानो भयानक उजाड प्रदेश हो गया होता। गरमीकी धूपको टालनेके लिए जिस तरह तृणसृष्टि चारों ओर फैल जाती है, उसी तरह जीवनकी विषमताको भुला देनेके लिए साधु-संत सर्वत्र विचरते हैं, यह कितने बडे सौभाग्यकी बात है ! जब-जब नासिक-त्र्यंबककी ओर जाना होता है, तब-तब बनवासके लिए इस स्थानको पसन्द करनेवाले राम-लक्ष्मणकी आंखोंसे सारा प्रदेश निहारनेका मन होता है। किन्तु हर बार कठिन तृणोंमेंसे सीतामाताकी कातर तनु-यष्टि ही आंखोंके सामने आती है।

रामभक्त श्रीसमर्थ रामदास जब यहां रहते थे तब उनके हृदयमे कौनसी उर्मियां उठती होंगी ! श्रीसमर्थने गोदावरीके तीर पर गोबरके हनुमानकी स्थापना किस हेतुसे की होगी ? क्या यह बतानेके लिए कि पंचवटीमे यदि हनुमान होते तो वे सीताका हरण कभी न होने देते ? सीतामाताने कठोर वचनोंसे लक्ष्मण पर प्रहार करके एक महासंकट मोल ले लिया। हनुमानको तो वे ऐसी कोई बात कह नहीं पाती ! किन्तु जनस्थान और किष्किंधाके बीच बहुत बड़ा अंतर है, और गोदावरी कोई तुंगभद्रा नही है।

० ० ०

रामकथाका करुण रस द्वापर युगमे आज तक बहता ही आया है। उसे कौन घटा सकता है ? इसलिए हम अंत्यज जातिके माने गये पाड़ेके मुंहसे वेदोका पाठ करवानेवाले श्रीज्ञानेश्वर महाराजसे मिलने पैठण चलें। गोदावरी जिस तरह दक्षिणकी गंगा है, उसी तरह उसके किनारे पर बसी हुई प्रतिष्ठान नगरी दक्षिणकी काशी मानी जाती थी। यहांके दशग्रंथी ब्राह्मण जो 'व्यवस्था' देते थे, उसे चारो वर्णोंको मान्य करना पड़ता था। बड़े-बडे सम्राटोके ताम्रपत्रोंसे भी यहांके ब्राह्मणोंके व्यवस्थापत्र अधिक महत्त्वके माने जाते थे। ऐसे स्थान पर शास्त्रधर्मके सामने हृदयधर्मकी विजय दिखानेका काम सिर्फ ज्ञानराज ही कर सकते थे। पैठणमें ज्ञानेश्वरको यज्ञोपवीतका अधिकार नही मिला। संन्यासी शंकराचार्यके ऊपर किये गये अत्याचारोंकी स्मृतिको कायम रखनेके लिए जिस तरह वहांके राजाने नांबुद्री ब्राह्मणों पर कई रिवाज लाद दिये थे, उसी तरह संन्यासीपुत्र ज्ञानेश्वरका यदि कोई शिष्य राजपाटका अधिकारी होता तो वह महाराष्ट्रीय ब्राह्मणोंको सजा देता और कहता कि ज्ञानेश्वरको यज्ञोपवीतका इनकार करनेवाले

तुम लोग आगेसे यज्ञोपवीत पहन ही नही सकते।

हाथकी उंगलियोंका जिस तरह पंखा बनता है, उसी तरह बड़ी-बड़ी नदियोंमें आकर मिलनेवाली और आत्म-विलोपनका कठिन योग साधनेवाली छोटी नदियोंका भी पंखा बनता है। सह्याद्रि और अजिंठाके पहाड़ोंसे जो कोना बनता है उसमें जितना पानी गिरता है उस सबको खींच-खींच कर अपने साथ ले जानेका काम ये नदियां करती हैं। धारणा और कादवा प्रवरा और मुळाको यदि छोड़ दें तो भी मध्यभारतसे दूर-दूरका पानी लानेवाली वर्धा और वैनगगाको भला कैसे भूल सकते हैं? दो मिलकर एक बनी हुई नदीका जिसने प्राणहिता नाम रखा, उसके मनमें कितनी कृतज्ञता, कितना काव्य, कितना आनंद भरा होगा! और ठेठ ईशान कोण-से पूर्व-घाटका नीर ले आनेवाली अष्टवक्रा इंद्रावती और उसकी सखी श्रमणी तपस्विनी शबरीको प्रणाम किये बिना कैसे चल सकता है?

गोदावरीकी संपूर्ण कला तो भद्राचलम्से ही देखी जा सकती है। जिसका पट एकसे दो मील तक चौड़ा है ऐसी गोदावरी जब ऊंचे-ऊंचे पहाड़ोंके बीचमेंसे होकर अपना रास्ता बनाती हुई सिर्फ दो सौ गजकी खाईमेंसे निकलती है तब वह क्या सोचती होगी? अपनी सारी शक्ति और युक्ति काममें ले कर नाजुक समयमें अपनी महाप्रजाको आगे ले चलनेवाले किसी राष्ट्रपुरुषकी तरह और संसारको विस्मयमें डालनेवाली गर्जनाके साथ वह यहांसे निकलती है। नदीमें आनेवाले घोड़ा-पूर और हाथी-पूर जैसे भारी पूरोंकी बातें हम सुनते है; किन्तु एकदम पचास फुट जितना ऊंचा पूर क्या कभी कल्पनामें भी आ सकता है? पर जो कल्पनामें सभव नहीं है, वह गोदावरीके प्रवाहमें संभव है। संकरी खाईमेंसे निकलते हुए पानीके लिए अपना पृष्ठभाग भी सपाट बनाये रखना असंभव-सा होजाता है। अर्घ्य देते समय जिस प्रकार अंजलिकी छोटी नाली-सी बन जाती है, उसी प्रकार खाईमेंसे निकलनेवाले पानीके पृष्ठभागकी भी एक भयानक नाली बनती है। किन्तु अद्भुत रस तो इससे भी आगे अधिक है। इस नालीमेंसे अपनी नावको ले जाने-वाले साहसी नाविक भी वहां मौजूद है! नावके दोनों ओर पानीकी ऊंची-ऊंची दीवारोंको नावके ही वेगसे दौड़ते हुए देखकर मनुष्यके दिलमें क्या-क्या विचार उठते होंगे?

भद्राचलम्से राजमहेन्द्री या धवलेश्वर तक अखंड गोदावरी बहती है। उसके बाद 'त्यागाय संभृतार्थानाम्' का सनातन सिद्धांत उसे याद आया होगा। यहांसे गोदावरीने जीवन-वितरण करना शुरू कर दिया है। एक ओर गौतमी गोदावरी, दूसरी ओर वसिष्ठ गोदावरी; बीचमें कई द्वीप और अंतर्वेदी जैसे प्रदेश हैं; और इन प्रदेशोंमें गोदाके सरस जलसे और काली चिकनी मिट्टीसे पैदा होनेवाले सोनेके जैसे शालिधान्य पर परिपुष्ट होकर वेदघोष करनेवाले ब्राह्मण रहते आये हैं। ऐसे समृद्ध देशको स्वतंत्र रखनेकी शक्ति जब हमारे लोग खो बैठे, तब डच, अंग्रेज और

फ्रेंच लोग भी गोदावरीके किनारे पड़ाव डालनेको इकट्ठे हुए। आज[1] भी यानान में फ्रांसका तिरंगा झंडा फहरा रहा है।

३

मद्राससे राजमहेन्द्री जाते समय बेजवाड़ेमें सूर्योदय हुआ। वर्षा ऋतुके दिन थे। फिर पूछना ही क्या था? सर्वत्र विविध छटाओंवाला हरा रंग फैला हुआ था। और हरे रंगका इस तरह जमीन पर पड़ा रहना मानो असह्य लगनेसे उसके बड़े-बड़े गुच्छ हाथमें लेकर ऊपर उछालनेवाले ताड़के पेड़ जहां-तहां दीख पड़ते थे। पूर्व की ओर एक नहर रेलकी सड़कके किनारे-किनारे बह रही थी। पर किनारा ऊंचा होनेके कारण उसका पानी कभी-कभी ही दीख पड़ता था। सिर्फ तितलियोंकी तरह अपने पाल फैलाकर कतारमें खड़ी हुई नौकाओं परसे ही उस नहरका अस्तित्व ध्यानमें आता था। बीच-बीचमें पानीके छोटे-बड़े तालाब मिलते थे। इन तालाबों में विविधरंगी बादलोंवाला अनंत आकाश नहानेके लिए उतरा था, इसलिए पानी की गहराई अनंत गुना गहरी मालूम होती थी। कहीं-कहीं चंचल कमलोंके बीच निस्तब्ध बगुलोंको देखकर प्रभातकी वायुका अभिनंदन करनेका दिल हो जाता था। ऐसे काव्यप्रवाहमेंसे होकर हम कोव्वूर स्टेशन तक आ पहुंचे। अब गोदावरी मैयाके दर्शन होंगे ऐसी उत्सुकता यहींसे पैदा हुई। पुल परसे गुजरते समय दायीं ओर देखें या बायीं ओर, इसी उधेड़बुनमें हम पड़े थे। इतनेमें पुल आ ही गया और भगवती गोदावरीका सुविशाल विस्तार दिखाई पड़ा।

गगा, सिंधु, शोणभद्र, ऐरावनी जैसे विशाल वारि-प्रवाह मैंने जी भरकर देखे हैं। बेजवाड़ेमें किये हुए कृष्णामाताके दर्शनके लिए मैंने हमेशा गर्व अनुभव किया है। किन्तु राजमहेन्द्रीके पासकी गोदावरीकी शोभा कुछ अनोखी ही थी। इस स्थान पर मैंने जितना भव्य काव्यका अनुभव किया है, उतना शायद ही और कहीं बहता देखा होगा। पश्चिमकी ओर नजर डाली तो दूर-दूर तक पहाड़ियोंका एक सुन्दर झुंड बैठा हुआ नजर आया। आकाशमें बादल घिरे होनेसे कहीं भी धूप न थी। सांवले बादलोंके कारण गोदावरीके धूलि-धूसर जलकी कालिमा और भी बढ़ गई थी। फिर भवभूतिका स्मरण भला क्यों न हो? ऊपरकी और नीचेकी इस कालिमाके कारण सारे दृश्य पर वैदिक प्रभातकी सौम्य सुन्दरता छाई हुई थी। और पहाड़ियों पर उतरे हुए कई सफेद बादल तो बिलकुल ऋषियोंके जैसे ही मालूम होते थे। इस सारे दृश्यका वर्णन शब्दोंमें कैसे किया जा सकता है?

इतना सारा पानी कहांसे आता होगा? विपत्तियोंमेंसे विजयके साथ पार हुआ देश जैसे वैभवकी नयी-नयी छटायें दिखाता जाता है और चारों ओर समृद्धि फैलाता

१. सौभाग्यसे आज यह परिस्थिति नहीं है।

जाता है, वैसे ही गोदावरीका प्रवाह पहाडोंसे निकलकर अपने गौरवके साथ आता हुआ दिखाई देता था। छोटे-बड़े जहाज नदीके बच्चों जैसे थे। माताके स्वभावसे परिचित होनेके कारण उसकी गोदमें चाहे जैसे नाचें तो उन्हें कौन रोकनेवाला था ? किन्तु बच्चोंकी उपमा तो इन नावोंकी अपेक्षा प्रवाहमें जहा-तहां पैदा होने वाले भंवरोंको देनी चाहिये। वे कुछ देर दिखाई देते, बड़े तूफानका स्वांग रचते, और एकाध क्षणमे हंस देते। और टूट पड़ते। चाहे जहांसे आते और चाहे जहा चले जाते या लुप्त हो जाते।

इतने बड़े विशाल पटमे यदि द्वीप न हों तो उतनी कमी ही मानी जायगी। गोदावरीके द्वीप मशहूर है। कुछ तो पुराने धर्मकी तरह स्थिर रूप लेकर बैठे है। किन्तु कई-एक तो कविकी प्रतिभाके समान हर समय नया-नया स्थान लेते है और नया-नया रूप धारण करते है। इन पर अनासक्त बगुलोके सिवा और कौन खडा रहने जाय ? और जब बगुले चलने लगते है तब वे अपने पैरोके गहरे निशान छोड़े बगैर थोड़े ही रहते है। अपने धवल चरित्रका अनुसरण करनेवालोंको दिशा-सूचन न करा दे तो वे बगुले ही कैसे !

नदीका किनारा यानी मानवी कृतज्ञताका अखंड उत्सव। सफेद-सफेद प्रासाद और ऊंचे-ऊंचे शिखर तो एक अखंड उपासना है ही। किन्तु इतनेसे ही काव्य संपूर्ण नही होता। अतः भक्त लोग हर रोज नदीकी लहरों परसे मंदिरके घटनादकी लहरोको इस पारसे उस पार तक भेजते रहते हैं।

संस्कृतिके उपासक भारतवासी इसी स्थान पर गगाजलके कलश आधे गोदामे उंडेलते हैं और फिर गोदाके पानीमे उन्हे भरकर ले जाते है। कितनी भव्य विधि है ! कितना पवित्र भावप्रधान काव्य है ! यह भक्तिरव प्रत्येक हृदयमे भरा हुआ है। वह घंटनाद और वह भक्तिरव पूर्वस्मृतिने ही सुनाया। दरअसल तो केवल एंजिन-की आवाज ही सुनाई देती थी। आधुनिक संस्कृतिके इस प्रतिनिधिके प्रति अपनी घृणाको यदि हम छोड़ दे तो रेलके पहियोका ताल कुछ कम आकर्षक नही मालूम होता। और पुल पर तो उसका विजयनाद सक्रामक ही सिद्ध होता है।

पुल पर गाडीके काफी देर चलनेके बाद मुझे खयाल आया कि पूर्व दिशाकी ओर तो देखना रह ही गया। हम उस ओर मुडे। वहा बिलकुल नयी ही शोभा नजर आयी। पश्चिमकी ओर गोदावरी जितनी चौड़ी थी, उससे भी विशेष चौड़ी पूर्वकी ओर थी। उसे अनेक मार्गो द्वारा सागरसे मिलना था। सरित्पतिसे जब सरिता मिलने जाती है तब उसे संभ्रम तो होता ही है। किन्तु गोदावरी तो धीरोदात्त माता है। उसका सभ्रम भी उदात्त रूपमे ही व्यक्त हो सकता है। इस ओरके द्वीप अलग ही किस्मके थे। उनमे वनश्रीकी शोभा पूरी-पूरी खिली हुई थी। ब्राह्मणोंके या किसानोके झोंपड़े इस ओरसे दिखाई नही पडते थे। बहते पानीके हमलेके सामने टक्कर लेनेवाले इन द्वीपोमे किसीने ऊंचे प्रासाद बनाये होते तो शायद वे

दूरसे ही दीख पड़ते। प्रकृतिने तो केवल ऊंचे-ऊंचे पेड़ोंकी विजय-पताकायें खड़ी कर रखी थी। और बायीं ओर राजमहेंद्री और धवलेश्वरकी सुखी बस्ती आनद मना रही थी। ऐसे विरल दृश्यसे तृप्त होनेके पहले ही नदीके दायें किनारे पर उन्मुक्तताके साथ बहता हुआ कासकी सफेद कलगियोंका स्थावर प्रवाह दूर-दूर तक चलता हुआ नजर आया। नदीके पानीमे उन्माद था, किन्तु उसकी लहरें नही बनी थी। कलगियोंके इस प्रवाहने पवनके साथ षड्यन्त्र रचा था, इसलिए वह मनमानी लहरे उछाल सकता था। जहां तक नजर जा सकती थी वहा तक देखा। और नजरकी पहुंच यहा कम क्यों हो ? किन्तु कलगियोंका प्रवाह तो बहता ही जा रहा था। गोदावरीके विशाल प्रवाहके साथ भी होड़ करते उसे संकोच नही होता था। और वह संकोच क्यो करता ? माता गोदावरीके विशाल पुलिन पर उसने माताका स्तन्यपान क्या कम किया था ?

माता गोदावरी ! राम-लक्ष्मण-सीतासे लेकर वृद्ध जटायु तक सबको तूने स्तन्यपान कराया है। तेरे किनारे शूरवीर भी पैदा हुए है, और तत्त्वचितक भी पैदा हुए है। सत भी पैदा हुए हैं और राजनीतिज्ञ भी। देशभक्त भी पैदा हुए है और ईश-भक्त भी। चारों वर्णोंकी तू माता है। मेरे पूर्वजोंकी तू अधिष्ठात्री देवता है। नयी-नयी आशायें लेकर मै तेरे दर्शनके लिए आया हू। दर्शनसे तो कृतार्थ हो गया हूं। किन्तु मेरी आशाए तृप्त नही हुई है। जिस प्रकार तेरे किनार रामचंद्रने दुष्ट रावणके नाशका सकल्प किया था, वैसा ही संकल्प मै कबसे अपने मनमे लिये हुए हू। तेरी कृपा होगी तो हृदयमेसे तथा देशमेसे रावणका राज्य मिट जायेगा, रामराज्यकी स्थापना होते मै देखूगा और फिर तेरे दर्शनके लिए आऊंगा। और कुछ नही तो कासकी कलगीके स्थावर प्रवाहकी तरह मुझे उन्मत्त बना दे, जिससे बिना संकोचके एक-ध्यान होकर मैं माताकी सेवामे रत रह सकू और बाकी सबकुछ भूल जाऊ। तेरे नीरमे अमोघ शक्ति है। तेरे नीरके एक बिदुका सेवन भी व्यर्थ नही जायेगा।

अक्तूबर, १९३१

१०. वेदोंकी धात्री तुंगभद्रा

जलमग्न पृथ्वीको अपने शूलदंतसे बाहर निकालनेवाले वराह भगवानने जिस पर्वत पर अपनी थकान दूर करनेके लिए आराम किया, उस पर्वतका नाम वराह-पर्वत ही हो सकता है। भगवान आराम करते थे तब उनके दोनों दतोंसे पानी टपकने लगा और उसकी धाराएं पैदा हुईं। बायें दंतकी धाराएं हुई तुगा नदी और दाहिने दंतसे निकली भद्रा नदी। आज इस उद्गम-स्थानको कहते हैं गंगामूल और वराह-

पर्वतको कहते है बाबाबुदान । बाबाबुदान शायद वराह-पर्वत नही है, लेकिन उसका पड़ोसी है । तुगाके किनारे शंकराचार्यका शृंगेरी मठ है । मैंने तुंगाके दर्शन किये थे तीर्थहळ्ळीमे। (कन्नड़ भाषामे हळ्ळीके मानी है ग्राम।) तीर्थहळ्ळीमे मैं शायद एक घंटे जितना ही ठहरा था। लेकिन वहाकी नदीके पात्रकी शोभा देखकर खुश हुआ था। तीर्थहळ्ळीका माहात्म्य तो मै नही जानता, लेकिन कन्नड़ भाषाकी एक छोटीसी लघुकथामे मैने तीर्थहळ्ळीका वर्णन पढ़ा था। वही मेरे लिए तीर्थ-हळ्ळीका स्मरण कायम करनेके लिए काफी है। तुगाके किनारे शिमोगा शहरके पास किसी समय महात्मा गाधीके साथ मै घूमने गया था। इस कारण भी यह नदी स्मृतिपट पर अकित है।

भद्राके किनारे बेंकिपुर आता है। यहाकी भाषामे अग्निको बेंकि कहते है। क्या भद्राका पानी बेंकिपुरकी आग बुझानेके लिए काफी नही था ?

तुगा और भद्राका सगम होता है कूडलीके पास। शायद इसी सगमके महादेव-के भक्त थे श्री बसवेश्वर, जो एक राजाके प्रधान-मंत्री होने पर भी लिंगायत पथकी स्थापना कर सके। बसवेश्वरके काव्यमय गद्यवचनोके अतमे 'कूडल-सगम देवराया' का जिक्र बार-बार आता है। उसे पढ़कर 'मीराके प्रभु गिरधर नागर' का स्मरण हुए बिना नही रहता। कूडलीके पास जो तुगभद्रा बनती है वह आगे जाकर कुर्नूलके पास मेरी माता कृष्णासे मिलती है। इस बीच कुमुद्वती, वरदा, हरिद्रा और वेदावति जैसी नदिया तुगभद्रासे मिलती है। (वेदावति भी तुगभद्राके जैसी द्वद्व नदी है। वेद और अवति मिलकर वह बनती है)। इस प्रदेशमे तुल्यबल द्वद्व सस्कृतिका ही बोलबाला होगा। क्योकि तुगभद्राके किनारे ही हरिहर जैसी पुण्य-नगरीकी स्थापना हुई है। शैव और वैष्णवोका झगडा मिटानेके लिए किसी उभय-भक्तने हरि और हर दोनोको मिला कर एक मूर्ति बना दी। उसके मदिरके आस-पास जो शहर बसा उसका नाम हरिहर ही पड़ा।

तुगभद्राका पात्र पथरीला है। जहां देखें गोल-मटोल बड़े-बड़े पत्थर नदीके पात्रमे स्नान करते पाये जाते है। ऐसे पत्थर कभी-कभी इस प्रदेशमे टेकरियोके शिखर पर भी एकके ऊपर एक विराजमान पाये जाते हैं। इन्ही पत्थरोके बीच एक प्रचंड विस्तार पर विजयनगर साम्राज्यकी राजधानी थी।

विजयनगरके खंडहर देखनेके लिए जब मै होस्पेटसे विरूपाक्ष गया था तब इन भीमकाय बट्टोंका या चट्टानोंका दर्शन किया था। विजयनगरके अप्रतिम कारीगरी-के भग्न मंदिरोका दर्शन करते-करते मेरा हृदय सम्राट् कृष्णरायका श्राद्ध कर रहा था। रातको विरूपाक्षके मदिरमे हम सो गये तब तीन सौ साल जिसकी कीर्ति कायम रही उस साम्राज्यके वैभवके ही स्वप्न मैंने देखे। दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्तमे उठकर हम नजदीकके मातंग पर्वतके शिखर पर जा पहुचे। वहां हमें अरुणोदयका और बादमें उतने ही काव्यमय सूर्योदयका दृश्य देखना था। मातग पर्वतकी चोटी

परसे तुंगभद्राके दर्शन करके हम धीरे-धीरे लेकिन कूदते-कूदते नीचे उतरे।

जब रावण सीतामाताको उठाकर गगनमार्गसे जा रहा था तब सीताके वल्कलका अंचल यहाकी चट्टानोंको घिस गया था। उसकी रेखाये आज भी यहाके पत्थरों पर पाई जाती है।

अभी-अभी चार साल पहले मैंने कुर्नूलके पास तुगभद्राको अपना समस्त जीवन कृष्णाको अपर्ण करते देखा; और उसके पासमे स्वार्पणकी दीक्षा ली।

सुनता हूं कि अब इस तुगभद्रा पर बाध-बाधकर उसके इकट्ठा किये हुए पानीसे सारे मुल्कको समृद्धि पहुचायी जायेगी और उसी पानीसे बिजली पैदा करके उसकी शक्तिमे उद्योगोका विकास किया जायेगा। माताकी सेवाकी भी कभी कोई मर्यादा हो सकती है?

नदीके प्रवाहमे ये हाथीके जैसे बड़े-बड़े पत्थर बादमे आकर पड़े है या हाथीके जैसे पत्थरोमेसे ही नदीने अपना रास्ता खोज निकाला है, इसकी खोज कौन कर सकता है? दक्षिणमे वैदिक संस्कृतिके विजयका सूचन करनेवाला विजयनगरका साम्राज्य इसी नदीके किनारे निर्माण हुआ। और इसी नदीके किनारे वह कच्चे घडेके समान टूट गया। विजयनगरके साम्राज्यकी कीर्ति-पताका त्रिखंड़मे फहराती थी। चीनका सम्राट्, बगदादका बादशाह और विजयनगरका महाराजाधिराज, तीनोका वैभव सबसे बड़ा माना जाता था। उस समय क्या तुगभद्रा आजके जैसे ही दिखाई देती होगी? नहीं तो कैसी दिखाई देती होगी? नदी क्या मनुष्यकी कृति है, जिससे उसके वैभवमें उत्कर्ष और अपकर्ष हो?

मुळा और मुठा मिलकर जैसे मुळामुठा नदी बनी है, वैसे ही तुगा और भद्राके संगमसे तुगभद्रा बनी है। 'द्वद्वः सामासिकस्य च' के न्यायसे इन दोनो नदियोमे उच्चनीच भाव तनिक भी नही है। दोनो नाम समान भावसे साथ-साथ बहते है। इस नदीके पानीकी मिठास और उपजाऊपनकी तारीफ प्राचीन कालसे होती आयी है। सभी नदी-भक्तोने स्वीकार किया है कि गंगाका स्नान और तुगाका पान मनुष्यको मोक्षके रास्ते ले जाता है। मोटरकी यात्रा यदि न होती तो तुगभद्राको मै अनेक स्थानों पर अनेक तरहसे देख लेता। तुंगभद्रा एक महान संस्कृतिकी प्रनि-निधि है। आज भी वेदपाठी लोगोमे तुगभद्राके किनारे बसे हुए ब्राह्मणोके उच्चारण आदर्श और प्रमाणभूत माने जाते है। वेदोंका मूल अध्ययन भले सिधु और गगाके किनारे हुआ हो, परन्तु उनका यथार्थ सादर रक्षण तो सायणाचार्यके समयसे तुगभद्राके ही किनारे हुआ है।

१९२६—'२७

११. नेल्लूरकी पिनाकिनी

नेल्लूर यानी धानका गांव। दक्षिण भारतके इतिहासमे नेल्लूरने अपना नाम चिरस्थायी कर दिया है। बेजवाड़ेसे मद्रास जाते हुए रास्तेमे नेल्लूर आता है।

भारत सेवक समाजके स्व० हणमंतरावने नेल्लूरसे कुछ आगे पल्लीपाडु नामक गांवमें एक आश्रमकी स्थापना की है। उसे देखनेके लिए जाते समय सुभग-सलिला पिनाकिनीके दर्शन हुए। श्रीमती कनकम्पाके पवित्र हाथोमे काते हुए सूतकी धोती-की भेट स्वीकार करके हम आश्रम देखनेके लिए चले। कुछ दूर तक तो बगीचे ही बगीचे नजर आये। जहा-तहा नहरोमे पानी दौडता था और हरियाली ही हरि-याली हंसती दिखाई देती थी।

बादमे आयी रेत। आगे, पीछे, दाये, बाये रेत ही रेत। पवन अपनी इच्छाके अनुसार जहां-तहां रेतके टीले बनाता था, और दिल बदलने पर उतनी ही सहजता-से उन्हें बिखेर देता था। ऐसी रेतमे शातिसे गुजर करनेवाले तुगकाय ताडवृक्ष आनंदके साथ डोल रहे थे। धूपसे अकुलाकर वे खुद अपने ही ऊपर चमर डुलाते थे या हमारे जैसे पथिकों पर तरस खाकर पखा करते थे, यह भला ताड़ोने कभी स्पष्ट किया है? दोपहरकी धूप कर्मकाडी ब्राह्मणोके समान कठोरतासे तप रही थी। पाव जलते थे। सिर तपता था। और शरीरके बीचके हिस्सेको सम-वेदना देनेके लिए प्यास अपना काम करती थी।

इस प्रकार त्रिविध तापसे तप्त होकर हम आश्रममे पहुचे। वहा मै एक बडे टेकरे पर जा चढा। और एकाएक पिनाकिनीका तरल प्रवाह आंखोमे बस गया। कितना शीतल उसका दर्शन था! गेहूंके रवेके जैसी सफेद रेत पर स्फटिक जैसा पानी बहता हो, और ऊपरसे चड भास्करकी प्रतापी किरणे बरसती हों, ऐसी शोभाका वर्णन कैसे हो सकता है? मानो चादीके रसकी कोठी भट्टीका ताप सहन न कर सकनेके कारण टूट गयी है, और अदरका रस जिस ओर मार्ग मिले उस ओर दौड़ रहा है! पवनने दिशा बदली और पिनाकिनी परसे बहकर आनेवाला ठडा पवन सारे शरीरको आनंद देने लगा। पासकी अमराईके एक पेड़ पर चढकर दो डालियोंके बीच आरामकुर्सी जैसा स्थान ढूढकर मै बैठ गया। दूर ताडवृक्ष डोल रहे थे। वयोवृद्ध आम्रवृक्ष छाव फैला रहे थे। और पिनाकिनी शीतल वायु फूक रही थी। क्या नंदनवनमे भी इससे अधिक सुख मिलता होगा?

नदी-किनारेके इस काव्यका पान करके आखे तृप्त हुई और मुदने लगी। स्वर्गीय अस्थिर आम्रासनसे भ्रष्ट होनेका डर यदि न होता तो जाग्रतिके इस काव्यसे तुलना हो सके ऐसा स्वप्नकाव्य मै वहां जरूर अनुभव कर लेता।

पिनाकिनीका पट बहुत बड़ा है। सुना है कि वर्षाऋतुमे वह रुद्रवतार धारण करती है। उसकी इस लीलाके वर्णनोंकी शैली परसे मालूम हुआ कि पिनाकिनीके

प्रति यहांके लोगोंकी कुछ अनोखी ही भक्ति है। असलमें पिनाकिनी दो हैं। जिसे मैं देख रहा था वह है उत्तर पिनाकिनी अथवा पेन्नेर। यह ठेठ नंदीदुर्गसे आती है। वहांसे आते-आते यह जयमगली, चित्रवती और पापघ्नीका पानी ले आती है। मानवने इन नदियोंके संगमसे बहुत लाभ उठाया है। और अब तो तुंगभद्राका भी कुछ पानी पेन्नारको मिलेगा। और वह सब धान उगानेके काममें आयेगा।

१९२६—'२७

१२. जोगका प्रपात

ठेठ बचपनमें जब मैं पश्चिम समुद्रके किनारे कारवारमें था तबसे ही, गिरसप्पाके बारेमें मैंने सुना था। उस समय सुना था कि कावेरी नदी पहाड़ परसे नीचे गिरती है और उसकी इतनी बड़ी आवाज होती है कि दो मीलकी दूरी पर एकके ऊपर एक रखी हुई गागरें हवाके धक्केसे ही गिर जाती हैं! तब फिर उस प्रपातकी आवाज तो कहां तक पहुंचती होगी? बादमें जब भूगोल पढ़ने लगा तब मनमें संदेह पैदा हुआ कि कावेरीका उद्गम तो ठेठ कुर्गमें है और वह पूर्व-समुद्रसे जा मिलती है; वह पश्चिम घाटके पहाड़ परसे नीचे गिर ही नहीं सकती। तब गिरसप्पामें जो गिरती है वह नदी दूसरी ही होगी। उसे तो शीघ्रतासे होन्नावरके पास ही पश्चिम-समुद्रसे मिलना था। इसलिए सवा-सौ, डेढ़-सौ पुरुष जितनी ऊंचाईसे वह कूद पड़ी है। उस नदीका नाम क्या होगा?

नायगराके प्रपातके कई वर्णन मेरे पढ़नेमें आते थे। प्रकृति माताका अमरीकाको दिया हुआ वह अद्भुत आभूषण है। दुनिया भरके लोग उसकी यात्राके लिए जाते हैं। कई लोगोंने बड़े मजबूत पीपेमें बैठकर उस प्रपातमेंसे पार होनेके प्रयत्न किये हैं आदि वर्णन जैसे-जैसे मैं अधिक पढ़ता गया वैसे-वैसे मेरा कुतूहल बढ़ता गया। अनेक दिशाओंसे लिये हुए चित्र और अक्षिपट (Bioscopes) नायगराको नजरके सामने प्रत्यक्ष करने लगे। इस प्रकार नायगराका अप्रत्यक्ष दर्शन जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे-वैसे बचपनमें सुने हुए उस गिरसप्पाके प्रपातकी मानसपूजा बढ़ती गयी। बादमें जब यह पता चला कि नायगरा तो सिर्फ १६४ फुटकी ऊंचाईसे गिरता है, जब कि गिरसप्पाकी ऊंचाई ९६० फुट है, तब तो मेरे अभिमानका कोई पार न रहा। सबसे मुख्य और संसारका सबसे बड़ा पर्वत हिन्दुस्तानमें है। सिंधु, गंगा, और ब्रह्मपुत्रा जैसी नदियोंके बारेमें किसी भी देशको जरूर गर्व हो सकता है। यह सिद्ध करनेके लिए कि सबसे लंबी नदी हमारे ही यहां है, अमरीकाको दो नदियोंकी लंबाई मिलाकर एक करनी पड़ी। मिसोरी और मिसिसिपीको अलग-अलग मानें तो उनकी लंबाई कितनी होगी? हिन्दुस्तानका इतिहास जिस तरह पृथ्वी पर

सबसे पुराना है, उसी तरह हिन्दुस्तानकी भू-रचना भी सारे संसारमें अद्‌भुत है।

क्या हिन्दुस्तान केवल प्रपातके बारेमें हार जायगा? सारे संसारने कबूल किया है कि अशोकके समान दूसरा सम्राट् दुनियामें नहीं हुआ है। भूगोलमें भी लोगोंको स्वीकारना चाहिये कि भव्यतामें गिरसप्पासे (उसका सही नाम जोग है), मुकाबला हो सके ऐसा दूसरा एक भी प्रपात संसारमें नही है।

कारकल राजकीय परिषद्‌के लिए मैं दक्षिण कर्णाटकमे गया था तब उम्मीद रखी थी कि अगुंबा घाट चढ़कर शिमोगा होते हुए गिरसप्पा देखनेके लिए जाऊंगा किन्तु वैसा नहीं हो सका।

मनसा चिंतितं कार्यं दैवेनान्यत्र नीयते।

निराशामें मैंने मान लिया कि इस चिरसंचित आशासे आखिर मैं हमेशाके लिए वंचित हो गया हूं और गिरसप्पाका दर्शन मुझे ध्यानके द्वारा ही करना होगा।

किन्तु इतना तो जान लिया था कि जोग मैसूर राज्यकी सीमा पर है। वहां जानेके दो रास्ते हैं। ऊपरका रास्ता शिमोगा सागर होकर जाता है और दूसरा नदीके मुखकी ओरसे जाता है। इसमें होन्नावर बंदरसे नावमें बैठकर जंगलोंको पार करके गिरसप्पा गांव तक जाना होता है और वहांसे घाट चढ़ना पड़ता है। दोनों रास्तोंसे जाकर आये हुए लोग कहते हैं कि एक ओरकी शोभा दूसरी ओर देखनेको नहीं मिलती। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि एक ओरकी शोभा दूसरी ओरकी शोभासे उतरती है। एक रास्तेसे जाऊं और दूसरी ओरका साक्षात् अनुभव न करूं, तब तक तो मुझे कबूल करना ही चाहिये कि मैंने जोगके आधे ही दर्शन किये हैं।

गुजरातमें बाढ़ आयी थी उस समय गांधीजी अपनी बीमारीके दिन बंगलोरमे बिता रहे थे। मैं उनसे मिलने गया था। वहांसे मैसूर राज्यमें घूमते-घामते गांधीजी सागर तक पहुंचे। श्री गंगाधरराव और राजगोपालाचार्य साथमें थे। सागर पहुंचनेके बाद गिरसप्पा देखनेके लिए न जाना तो मेरे लिए असंभव था। मोटरसे एक ही घण्टेका रास्ता था। शिमोगामें तुंगाके किनारे घूमने गये थे तब मैंने गांधीजीसे आग्रह किया था, "आप गिरसप्पा देखने चलिये न? लार्ड कर्ज़न सिर्फ गिरसप्पा देखनेके लिए खास यहां आये थे। इस ओर आना फिर कब होगा?" गांधीजी बोले, "मुझसे इतनी भी मनमानी नहीं हो सकेगी। तुम जरूर हो आओ। तुम देख आओगे तो विद्यार्थियोंको भूगोलका एकाध पाठ पढ़ा सकोगे।" मैंने दलील पेश की: "मगर यह संसारका एक अद्‌भुत दृश्य है। नायगरासे जोग छः गुना ऊंचा है। ९६० फुट ऊपरसे पानी गिरता है। आपको एक बार उसे देखना ही चाहिये।"

उन्होंने पूछा, "बारिशका पानी आकाशसे कितनी ऊंचाईसे गिरता है?" और मैं हार गया। मनमें कहा: "स्थितधी: किं प्रभाषेत? किमासीत? व्रजेत किम्?"

मुझे मालूम था कि गांधीजीको संगीतकी तरह सृष्टि-सौंदर्यका भी बड़ा शौक है। घूमने जाते हुए सूर्यास्तकी शोभाकी ओर या बादलोंमेंसे झांकते हुए किसी अकेले सितारेकी ओर उन्होंने मेरा ध्यान किसी समय खींचा न हो ऐसी बात नहीं थी। किन्तु प्रजाकी सेवाका व्रत लिये हुए गांधीजी जैसे सेवक महात्मा मनमानी किस तरह कर सकते हैं?

कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः।

एक बात इस तरह समाप्त हुई इसलिए मैंने दूसरी बात शुरू कर दी: "आप नहीं आते इसलिए महादेवभाई भी नहीं आते। आप उनसे कहेंगे तो ही वे आयेंगे।"

"उसकी इच्छा हो तो वह भले तुम्हारे साथ जाये। मैं मना नहीं करूंगा किन्तु वह नहीं आयेगा। मैं ही उसका गिरसप्पा हूं।"

बाकीके हम सब ठहरे दुनियवी आदर्शके लोग! पहाड़ परसे गिरता हुआ प्रपात चर्मचक्षुसे न देखें तब तक हमें तृप्ति नहीं हो सकती थी। इसलिए भोजनके पहले ही हम सागरसे रवाना हुए और मोटरकी मददसे जंगल पार करने लगे। पहाड़ोंको कुरेदकर रेलवेवाले जब खोह या सुरंग बनाते हैं तब हमें बहुत आश्चर्य होता है। किन्तु बम्बईकी बस्तीसे भी घने सह्याद्रिके जंगलोंमेंसे रास्ता तैयार करना उससे भी अधिक कठिन है। यहां आपका डायनेमाइट (सुरंग) नहीं चलेगा। तनेको काटनेके बाद भी एक एक पेड़को शाखाओंके जालसे मुक्त करना हिन्दू-मुसलमानोंके झगड़ोंको निबटाने जितना कठिन काम है। खंडाला घाटकी गहरी खोहके बीचों-बीच जाने पर आदमी जिस भयानक रमणीयताका अनुभव करता है, उसी तरहकी स्थितिका अनुभव इन जंगलोंमें होता है। ऐसे जंगलोंमें हाथी, बाघ या अजगर जैसे प्राणी ही शोभा देते हैं। इनमें मनुष्य तो बिलकुल तुच्छ प्राणी मालूम होता है। लगता है, यह ऐसे जंगलमें कहांसे आ गया!

खैर; हम जंगल पार करके शरावतीके किनारे पहुंचे। इस ओर उसे भारंगी भी कहते हैं। भारंगी यानी बारहगंगा। यहांके लोग यदि यह मानते हों कि गंगा नदीसे इस नदीका माहात्म्य बारह गुना अधिक है, तो हम उनसे झगड़ा नहीं करेंगे। हरेक बच्चेको अपनी ही मां सर्वश्रेष्ठ मालूम होती है न? पानी रिमझिम बरस रहा था। यहां गगनभेदी महावृक्ष भी थे, और छोटे-बड़े झाड़-झंखाड़ भी थे। अमर घास भी थी और जमीन तथा पेड़ोंकी बूढ़ी छाल पर उगनेवाली शैवाल (काई) भी थी। उस पारके छोटे-बड़े पेड़ नदीका पानी कितना ठंडा या गहरा है यह जांचनेके लिए अपने पत्तोंवाले हाथ पानीमें डालते थे। और कुहरेके चंद बादल आलसी सांडकी तरह इधर-उधर भटक रहे थे।

नदीको देखकर हमेशा सवाल उठता है कि यह नदी कहांसे आती है और कहां जाती है? मेरे मनमें तो हमेशा नदी कहांसे आती है, यही सवाल प्रथम उठता है।

दूसरोंके मनमें भी यही सवाल उठता होगा। इसका क्या कारण है? नदी कहां जाती है, यह जांचना आसान है। नदीमें कूद पड़े कि वह हमें अनायास अपने साथ ले चलती है। उतनी हिम्मत न हो तो एकाध पेड़के तनेको कुरेदकर बस उसमें बैठ जाइये। किन्तु नदी कहांसे आती है, यह जांचनेके लिए प्रतीप गतिसे जाना चाहिये। ऐसा तो सिर्फ ऋषिगण ही कर सकते है। उस दिनका दृश्य ऐसा था जिससे मनमें संदेह उत्पन्न होता था कि भारंगी या शरावतीका पानी पहाड़से आता है या बादलोसे?

नावमें बैठकर हम उस पार गये। किनारेकी जमीनसे कई नन्हें-नन्हें झरने कूद कूदकर नदीमें गिरते थे। उन परसे हम सहज अनुमान लगा सके कि अगले दिन भारी बरसात होनेके कारण नदीका पानी काफी बढ गया था। आज वह करीब पांच फुट उतरा था। नाव हमें नीचे उतारकर दूसरोको लाने वापस गई। शात पानीमे नाव जब डांडकी डब् डब् आवाज करती हुई जाती या आती है उस समयका दृश्य कितना सुंदर मालूम होता है! और जब यह नाव हमारे प्रियजनोको अपने पेटमे स्थान देकर उन्हे गहरे पानीकी सतह परसे खीचकर लाती है, तब चिंताका कोई कारण न होते हुए भी मनमे डर मालूम हुए बिना नही रहता। राजगोपालाचार्य अपने पुत्र और पुत्रीको साथ लेकर नावमे बैठने जा रहे थे। मैंने उनसे कहा, 'हमारे पुरखोंने कहा है कि एक ही कुटुबके सब लोग एकसाथ एक ही नावमें बैठें यह ठीक नही है। या तो पिता हमारे साथ आयें या पुत्र; दोनो नही।' साथी लोग इस रिवाजकी चर्चा करने लगे। किसीको इसमे प्रतिष्ठाकी बू आई, किसीको और कुछ सूझा। किन्तु किसीके ध्यानमें यह बात नही आयी कि सर्वनाशकी संभावनाको टालनेके लिए ही यह नियम बनाया गया है। मुझे यह अर्थ स्पष्ट करके वायुमंडलको विषण्ण नहीं बनाना था। इसलिए पुरखोंकी बुद्धिकी निंदा सुनता हुआ मै उस पार पहुचा। जब नाव मझधारमें पहुची तब मंत्र बोलकर आचमन करना मैं नही भूला। नदीके दर्शनके साथ स्नान, पान और दानकी विधि होनी ही चाहिये। तभी कहा जायगा कि नदीका पूरा साक्षात्कार किया।

दूसरी टुकड़ी आ पहुंची और हम दाहिनी ओरके रास्तेसे चलने लगे। नदीका वह बायां किनारा था। रास्तेके बड़े-बडे पेड़ोंको मस्जिदके स्तभोकी तरह सीधे ऊचे जाते देखकर हमे आनंद हुआ। हमारी टोली इतनी बड़ी थी कि इस निर्जन अरण्यमें देखते ही देखते हमारा वार्ताविनोद और हमारा अट्टहास्य चारो ओर फैल गया। मगर कितनी देर तक? हम कुछ ही दूर गये होंगे कि नदीने अपनी गंभीर ध्वनि शुरू की। इस आवाजको किसकी उपमा दी जाय? इतनी गंभीर आवाज और कहीं सुनी हो तभी तो उपमा दी जा सके न? मेघगर्जना भीषण जरूर होती है, और यह भी सच है कि वह सारे आकाशमें फैल जाती है। किन्तु वह सतत नही होती। यहां तो आप सुन सुनकर थक जायें तो भी आवाज रुकती ही नहीं। क्या

यहां बादल टूट पड़ते हैं ? क्या तोपें छूटती हैं ? अथवा पहाड़के बड़े बड़े पत्थरोंकी धानी फूटती है ? या नदी अपना ध्यानमौन छोड़कर महारुद्रका स्तवराज बोलती है ?

'अब कौनसा दृश्य आयेगा ?', अब कौनसा दृश्य आयेगा ?' ऐसे कुतूहलसे आंखें फाड़कर चारों ओर देखते देखते हम मुसाफिरखाने (डाकबंगले) तक पहुचे। जहासे प्रपातका दर्शन सबसे सुन्दर होता है, वही मैसूर राज्यकी ओरसे यह अतिथिशाला बनायी गयी है। हम निरीक्षणके चबूतरे पर जा पहुचे। मगर यह क्या ! सर्वव्यापी कुहरेके अलावा और कुछ दिखायी ही नही देता था। और प्रपात अपनी गंभीर आवाजसे सारी घाटीको गूजा रहा था। ठीक दोपहरको भी सूर्यके दर्शन नही हो पाये। जहां देखे वहा कुहरा ही कुहरा ! कुहरेके घने बादल मानो कुरुक्षेत्रका महायुद्ध मचा रहे हो और जोग अपने तालसे उनका साथ दे रहा हो। इतनी उम्मीदके साथ आनेके बाद इस तरहका तमाशा हमे कभी देखनेको नही मिला था। मिनट पर मिनट बीतते जाते थे और हमारी निराशाके साथ कुहरा भी घना होता जाता था। आखिर हम मौन तोड़कर आपसमे बाते करने लगे। बाते करनेके लिए कोई खास विषय नही था, किन्तु निराशाकी शून्यताको भरनेके लिए कुछ तो चाहिये था।

क्या इन्द्रदेव कुपित हो गये है या वरुणदेव अप्रसन्न हो गये है ? मै यह सोच ही रहा था कि इतनेमे वायुदेवने मदद की और एक क्षणके लिए—सिर्फ एकही क्षणके लिए—कुहरेका वह घना परदा दूर हटा और जिदगीभर जिसके लिए तरसता रहा था वह अद्भुत दृश्य आखिर आखोंके सामने आया ! महादेवजीके सिर पर जिस तरह गंगाका अवतरण होता है, उसी प्रकार एक बड़ा प्रपात नीचेकी खोहसे बाहर निकले हुए हाथी जैसे पत्थर पर गिरकर, पानीका आटा बनाकर, चारों ओर उसकी बौछारे उड़ा रहा है !!

नही। इस दृश्यका वर्णन शब्दोमें हो ही नही सकता। आश्चर्यमग्न होकर मै बोल उठा :

नमः पुरस्तात्, अथ पृष्ठतस् ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्त-वीर्यामित-विक्रमस् त्वम् सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।

तुरन्त सामनेका वह हाथीके समान पत्थर सिरसे प्रपातकी जटाओको झाड़कर बोला :

सुदुर्दर्शम् इदं रूप दृष्टवान् असि यन् मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शन-कांक्षिणः ।।

कुहरेका परदा फिर पहलेकी तरह जम गया और हमारी स्थिति ऐसी हो गयी। मानो हमने जो दृश्य देखा था वह सब स्वप्न था, माया थी या मतिभ्रम था ! वह विस्तीर्ण खोह, वह विशाल पात्र, वह भयानक गहराई और उसके बीच पानीका

नहीं बल्कि आटेका—नहीं, मैदेका—वह अद्भुत प्रपात और फव्वारा! सारा दृश्य कल्पनातीत था। यह प्रतीति दृढ़ होनेके पहले ही कि हम जो अपनी आंखोंसे देख रहे हैं वह सच्चा ही है, कुहरेका क्षीरसागर फिर फैल गया और हम सामनेके काव्यके साथ उसमें डूब गये।

अब कोई किसीसे बोलता नहीं था। जो देखा था उस पर सब सोचने लगे। जहां कुछ भी नहीं था वहां इतनी बड़ी और गहरी सृष्टि कहांसे पैदा हुई और देखते ही देखते वह कहां लुप्त हो गयी—इसी आश्चर्यने मानो हम सबको घेर लिया।

मनमें आया, चाहे क्षणके लिए ही क्यों न हो, जो देखने आये थे उसे हमने देख लिया। अद्भुत रीतिसे देख लिया। एक क्षणके लिए जो दर्शन हुआ उसके स्मरण और ध्यानमें घंटों बिताये जा सकते हैं।

इतनेमें वह शुभ्र जटाधारी पत्थर फिरसे बोला :

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस् त्वं तदेव मे रूपम् इदं प्रपश्य।

कुहरेका आवरण फिर दूर हटा और अब तो इस छोरसे उस छोर तक सब कुछ दीख पड़ने लगा। सामनेकी ओरसे ठेठ बायें छोर पर 'राजा' अर्धचंद्राकार पत्थर परसे नीचे कूद रहा था। उसका पानी बारिशके कीचड़के कारण कॉफीके रंगका हो गया था। किन्तु सबसे अधिक पानी राजाको ही मिलता है। छाती फुलाता हुआ जब वह ठेठ सीधा नीचे गिरता है तब इस बातका खयाल होता है कि प्रकृतिकी शक्ति कितनी अपरिमित है। राजा प्रपातका विस्तार भी कुछ कम नहीं है। और उसके दोनों ओर बड़े बड़े मोतियोंके कई हार लटकते दौड़ते हैं। सचमुच यह प्रपात राजाके नामके काबिल ही है।

उसके पासके जिस प्रपातका दर्शन मुझे सबसे प्रथम हुआ था वह वास्तवमें तीसरा था। उसका नाम है वीरभद्र। बीचका एक प्रपात रुद्र इस ओरसे स्पष्ट दिखाई ही नहीं देता। वह कदम कदम पर जोरसे चिल्लाता हुआ आखिर राजामें मिल जाता है।

ठेठ दाहिनी ओर एक छोटासा प्रपात है। उसकी कमर कुछ पतली है। इसलिए मैंने उसका नाम पार्वती रखा। जी भरकर देखनेके बाद हमारी बातें फिरसे शुरू हुईं। स्वयं जो कुछ देखा हो उसे दूसरेको दिखानेकी उमंग जिसमें न हो वह आदमी आदमी नहीं है। आदमी संचारशील होता है, सवादशील होता है। उसने जो अनुभव किया वही दूसरोंको भी होता है—हो सकता है—ऐसा विश्वास जब तक न हो तब तक उसे परम संतोष नहीं होता। राजाजीने ध्यान खींचा, 'यह नीचे तो देखो! ठंडी भापके ये बादल कैसे ऊपर कूद आते हैं?' देवदास कहने लगे, 'उन पक्षियोंको तो देखो! कैसे निर्भय होकर उड़ रहे हैं?' मणिबहनने भी ऐसा ही कुछ कहा और लक्ष्मीने अपने अण्णाको तमिल भाषामें बहुत कुछ समझाकर अपना

आनंद व्यक्त किया। हमारे साथ और एक भाई आये थे। वे रास्तेमें अकारण ही नाराज हो गये थे। हम जब इस स्वर्गीय दृश्यके आनंदमे विभोर हो रहे थे तब उन भाईको अपने माने हुए अपमानकी ही जुगाली करनी थी। चंद्रशकरने उनकी इस स्थितिकी ओर मेरा ध्यान खीचा। मै मन ही मन बोला :

पत्र नैव यदा करीर-विटपे दोषो वसतस्य किम् ?
नोलूकोप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ?

इस संसारमे निराशा, गलतफहमी, अप्रतिष्ठा, या वियोग सच्चे दुःख नही है। बल्कि अहकार ही सबसे बडा दुःख है। अहंकारकी विकृतिको बडे बडे धन्वतरि भी दूर नही कर सकते।

उन भाईकी अनेक प्रकारकी परेशानियो और विकृतियोको मै जानता था। इसलिए गिरसप्पाके जोगके सामने भी उन्हे दो क्षण दिये बिना मुझमे रहा नही गया। मैने उनको गिरसप्पाके बारेमे थोडी जानकारी दी और उन्हे प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया।

राजा प्रपातके पीछेकी ओरकी खोहमे असख्य पक्षी रहते है, और दूर दूरके खेतोंसे चुनकर लाये हुए 'उच्छिष्ट' और उत्कृष्ट दानोका संग्रह करते है। एक बार किसीसे सुना था कि यह सग्रह इतना बडा होता है कि सरकारकी ओरसे उसका नीलाम किया जाता है। मधुमक्खियोका मधु लूटनेवाला मानव-प्राणी पक्षियोके संग्रहको भी लूटे तो उसमे आश्चर्यकी क्या बात है ? जो संग्रह करता है वह लूटा जाता है, ऐसी सृष्टिकी व्यवस्था ही दीख पडती है : 'परिग्रहो भयायैव'।

फिर कुहरेका आवरण फैला और मुझे अन्तर्मुख होकर विचारमे डूब जानेका मौका मिला। ऐसे भव्य दृश्योका रहस्य क्या है ? भूगोलवेत्ता और भूस्तरशास्त्री फौरन कह देगे 'यहाका पहाड 'निस्' कोटिके पत्थरके स्तरका है। घाटीमेसे एक कगार टूट गई होगी और आसपासकी मिट्टी घुल गई होगी। एक बार प्रपात शुरू होने पर वह नीचेकी जमीनको अधिकाधिक गहरा खोदता जाता है और जहासे प्रपात शुरू होता है उस कोनेको घिसता जाता है। ऊपरका वह माथा यदि सख्त पत्थरका हो, तो ऊचाई हजारो वर्षो तक कायम रह सकती है। प्रपातसे समुद्र अधिक दूर न होनेसे नदीका आगेका हिस्सा साफ हो गया है और प्रपातकी ऊचाई कायम रही है।' किन्तु यह तो हुआ प्रपातका जड़ रहस्य। किसी आधुनिक यात्रिकसे पूछिये तो वह कहेगा : 'अकेले गिरसप्पाके प्रपातमे इतना प्रचंड सामर्थ्य है कि मैसूर और कानडा (कर्णाटक) इन दोनो जिलोको चाहिये उतनी शक्ति वह दे सकता है। फिर, आप उससे बिजली लीजिये, हरेक शहर और गावको प्रकाशित कीजिये, कल-कारखाने चलाइये और अपने मुल्कके या दूसरोके मुल्कके चाहे उतने लोगोको बेकार बना दीजिये।'

प्रकृतिसे जो कुछ फायदा मिलता है वह पृथ्वीकी सभी संताने आपसमे समक्ष-

बूझकर बांट लें और जीवनयात्राका बोझा हल्का कर लें, ऐसी बुद्धि आदमीको जब सूझेगी तबकी बात अलग है। किन्तु आज तो मनुष्यके हाथमें किसी भी तरहकी शक्ति आ गयी कि वह फौरन उसका उपयोग दूसरोंसे स्पर्धा करके श्रेष्ठत्व पानेके लिए ही करता है। फिर वह श्रेष्ठत्व उसे भले दूसरोंको मारकर मिलता हो, या गुलाम बनाकर मिलता हो, या आधे पेट पर रखकर मिलता हो।

मैसूर राज्य एक आगे बढ़ा हुआ राज्य है। बड़े बड़े इंजीनियरोंने दीवानपदको सुशोभित करके यहांकी समृद्धिको बढ़ानेकी कोशिश की है। यदि कहें कि सारे संसारके लिए आवश्यक चंदनका तेल सिर्फ मैसूर राज्य ही देता है तो इसमें अधिक अत्युक्ति नहीं होगी। हिन्दुस्तानकी बड़ीसे बड़ी सोनेकी खानें मैसूरमें ही हैं। भद्रा-वतीके लोहेके कल-कारखानेकी कीर्ति बढ़ती ही जा रही है। और कृष्णसागर तालाब तो मानव-पराक्रमका एक सुन्दर नमूना है। यह तो हो ही नहीं सकता कि ऐसे मैसूर राज्यको गिरसप्पाके प्रपातको भुनाकर खानेकी बात सूझी न हो। किन्तु अब तक यह बात अमलमें नहीं आयी—इतनी बड़ी शक्तिका कौनसा उपयोग किया जाय, यह न सूझनेसे या सीमाका कोई झगड़ा बीचमें आनेसे या अन्य किसी कारणसे, यह मैं भूल गया हूं। मगर इसमें कोई शक नहीं कि गिरसप्पाकी शोभा अब भी उतनी ही प्राकृतिक, उदात्त और अक्षुण्ण है।

भगिनी निवेदिताकी प्रख्यात तुलनाका यहां स्मरण हो आता है। किसी भी स्थानकी रमणीयताने जब भारतवासीको आकर्षित किया है तब उसने फौरन उसका धार्मिक रूपान्तर कर ही दिया है। भारतका हृदय जब किसी अद्भुत, रमणीय या भव्य दृश्यको देखता है, तब तुरत उसको लगता है कि यह तो गाय जैसे बछडेको पुकारती है वैसे परमात्मा जीवात्माको पुकार रहा है। नायगराका प्रपात यदि हिन्दुस्तानमें गंगामैयाके प्रवाहमें होता तो यहांकी जनताने उसका वायुमंडल कैसा बना डाला होता? आमोद-प्रमोद और पिकनिककी टोलियोंके बदले और रेलके यात्रियोंके बदले प्रपातकी पूजा करनेके लिए वार्षिक या मासिक यात्रियोंकी टोलियां ही टोलियां यहां इकट्ठा होतीं। भोगविलासके सब साधन मुहैया करने-वाले होटलोंके बदले प्रपातके किनारे या उसके बीचोबीच उमड़े हुए हृदयकी भक्ति उडेलनेके लिए बड़े बड़े मंदिर बनाये गये होते। सृष्टिके वैभवको देखकर भड़कीले ऐशो आराम और शानोशौकतके बदले लोगोंने यहां तप किया होता। और इतनी प्रचंड शक्तिको मनुष्यके फायदेके लिए और सुख-चैनके लिए कैद करनेकी बात सूझनेके बदले उसे प्रकृतिके साथ ऐक्यका अनुभव करनेवाली मस्तीमें भैरव जापके साथ पानीके प्रवाहमें अपने जीवन-प्रवाहको मिला देनेकी ही बात सूझती। स्वभाव-भिन्नतामें क्या कुछ बाकी रहता है?

मगर प्रकृतिकी भव्यताको देखकर उसमें अपने शरीरको छोड़ देनेमें आध्या-त्मिकता है क्या? नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि शरीरके बंधन टूट जायें, 'किसी

भी हालतमे जीवित रहूगा ही' इस तरहकी पामर जीवनाशा मनुष्य छोड दे, इसमे आध्यात्मिक प्रगति है। किन्तु यह वृत्ति स्थायी होनी चाहिये। क्षणिक उन्मादका कोई अर्थ नही है। फन्ना होनेकी इच्छा हरेक मनुष्यके दिलमे किसी समय पैदा होती ही है। इश्ककी यह एक विकृति है। इसमे किन्ही आध्यात्मिक तत्त्वोकी झाकी देखकर उस पर फिदा होना मनुष्य-जीवनकी महत्ताको शोभा नही देता। भगवान बुद्धने अपनी अचूक नजरसे उसको विभव-तृष्णाका नाम देकर उसे धिक्कारा है। विभवका अर्थ है नाश। भगवान मनुने भी यह बात साफ शब्दोमे बताई है .

नाभिनन्देत मरणम्; नाभिनन्देत जीवितम्।

इसमे सदेह नही कि गिरसप्पाके प्रपात जैसे रोमहर्षण दृश्यके सामने यत्रो, शक्तिके हॉर्स-पावर, बिजलीके प्रकाश या कल-कारखानोके बारेमे सोचना आत्मा-को भूलकर बाहरी वैभवका ध्यान करनेके बराबर है। किन्तु आसपासका प्रदेश यदि अकालसे पीडित हो, लोग अनेक रोगोके शिकार होते हो, और जनताका यह दु ख प्रपातके पानीका अन्य उपयोग करनेसे ही दूर होता हो, तो उस समय हमारा क्या आग्रह होगा ? सृष्टि-सौदर्यका रसपान करनेवाले हमारे चित्तके आह्लादक साधन-को—प्रपातको—वैसाका वैसा रखनेका, या हमारे आपद्ग्रस्त भाइयोको दु ख-मुक्त करनेके लिए उसका बलिदान देनेका ? जहा पर्याप्त अनाज न मिलता हो वहा अनाजकी खेतीको छोडकर गुलाबकी खेती करने लगे, तो क्या इससे हमारा हृदयविकास होगा ? गुलाबमे काव्य है, अनाजमे कारुण्य है। दोनोमेसे हम किसे पसन्द करेगे ? इग्लैडके एक प्राचीन राजाने अनेक गावोको उजाडकर मृगयाके लिए एक महान उपवन तैयार किया था। इसमे कोई सदेह नही कि यह राजा मर्दाने खेलोका रसिया था। किन्तु सवाल यह है कि उसे प्रजासेवक माने या नही ? जब कलाके सामने सेवाका सवाल खडा होता है, किस वृत्तिको—काव्यकी या कारुण्यकी—पोषण दे यह तय करना होता है, तब निर्णय किस कसौटी पर कस-कर दिया जाय ? जलते हुए रोमको देखकर नीरोका फिडल बजाना और जलती मिथिलाको देखकर जनक राजाकी आध्यात्मिक चर्चा करना, दोनोमे फर्क है। जनताकी सेवा जितनी बन सकती थी उतनी सब करनेके बाद व्यर्थकी चितामे दिलको जलानेकी अपेक्षा हृदयमे अंतर्यामीके स्मरणको दृढ करनेका प्रयत्न आर्य-वृत्तिको सूचित करता है। इनेगिने लोगोंके विलास या ऐश्वर्यके लिए प्रकृतिकी शक्तिका उपयोग करना और प्राकृतिक सौदर्यका नाश करना अधर्म है। किन्तु प्राणियोके आर्तिनाशसे होनेवाले हृदय-विकासको छोडकर प्रकृतिके विभूति-दर्शनमे उसको ढूढनेकी इच्छा रखना उचित है या नही, यह विचारने जैसा है।

वे रूठे हुए भाई अपने कल्पित अपमानकी जलनमे सामनेका दृश्य भूल गए थे और मैं अपने तात्त्विक कल्पना-विहारमे शून्य दृष्टिसे सामने देख रहा था। दोनो अभागे थे, क्योंकि कल्पना या जलन चलानेके लिए बादमे चाहे उतना समय मिलता।

कुहरेका आवरण फिर फैला। अब क्या प्रपात फिरसे दिखाई देनेवाला था ? राजाजीने कहा, 'गरमीके दिनोंमें जब प्रपात गिरता है तब पानीकी फुहार पर तरह तरहके इंद्रधनुष दिखाई देते है। उस समयकी शोभा बिलकुल निराली होती है।' और यह भी नही कहा जा सकता कि चांदनी रातमे भी धनुष नही दिखाई देते। मैसूरका सर्वसंग्रह (गॅज़ेटियर) लिखता है कि घासके बडे बड़े गट्ठोंको आग लगाकर प्रपातमें छोड़ देनेसे ऐसा दिखाई देता है मानो अंधेरी रातमे सारी घाटी जल उठी हो। चंद लोगोंने रातके समय आतिशबाजी करके भी यहां अद्भुत आनंद पाया है। उत्पाती मानव क्या-क्या नही करता ? मुझे तो ऐसी कोई बात पसन्द नही है। ऐसे स्थान पर प्रकृति जो खुराक परोसती है उसकी स्वाभाविक रुचि अनुभव करनेमें ही सच्ची रसिकता है। मानवी मसाने डालनेसे स्वाद और पाचनशक्ति, दोनों खराब होते हैं।

अब हम बंगलेके भीतर पहुचे। साथमे जो भोजन लाये थे उसको उदरस्थ किया। यहांका पानी पी नही सकते, क्योंकि फौरन मलेरिया होता है। अधिकतर लोगोंने गरम-गरम कॉफी पीकर ही प्यास बुझाई। मैंने तो उस दिन चातककी तरह बारिशकी कुछ बूंदे पाकर ही संतोष माना।

प्रपातका और एक बार दर्शन करके हम वापस लौटे। अब तो सब तरहसे स्पष्ट हो चुका कि प्रपात तीन नही बल्कि चार हें। बाई ओरका पहला बड़ा प्रपात है राजा। उसकी बगलकी खोहसे आक्रोश करता हुआ उसमे आ मिलनेवाला 'रोअरर' (Roarer) मेरा रुद्र है। सिर पर छूट रहे फव्वारेकी शुभ्र जटाओंवाला 'रॉकेट'। उसे अब वीरभद्र कहनेके सिवा चारा नही था। और अंतमे आनेवाले प्रपातका नाम मैंने तन्वंगी पार्वती ही रखा। अंग्रेजोंने रुद्रको Roarer नाम दिया है। वीरभद्रको Rocket और पार्वतीको Lady का नाम दिया है।

अब हम वापस लौटे। पांवोमें जोंके चिपकनेका डर था। यहाके लोगोने हम सबको सावधानीसे चलनेके बारेमें चेतावनी दे रखी थी। उन्होंने कहा था, जोंके चिपकेंगी तो मालूम ही नहीं होगा कि चिपक गयी हैं, और खून चूसा जायेगा। मैंने कहा, आप इसकी फिक्र मत कीजिये। अंग्रेजोको हम पहचान गये है, तो क्या जोंकोंसे सावधान नही रहेंगे ? तिस पर भी करीब करीब हरेकके पावमे एक एक जोंक चिपक ही गयी। हो सकता है, मेरे शरीरमे खूनका विशेष आकर्षण न होनेसे या मेरा खून कसैला होनेसे या शायद काकदृष्टिसे देख देखकर मैं चलता था इससे, मैं बच गया था। हम कुछ आगे गये। किन्तु मणिबहनसे रहा नहीं गया। 'जरा ठहरिये। बन सके तो फिर एक ओरसे प्रपातके दर्शन कर आती हूं।' 'मगर कुहरा खुले ही नही तो ?, 'न खुले तो कोई हर्ज नही। वापस लौट आयेंगे। किन्तु एक बार देखने तो दीजिये।'

वापस लौटते समय बीचमें एक जगह रास्ता फूटा था। वहांसे होकर कइयोंने

नजदीकसे पार्वतीका दर्शन किया और वहांकी जमीन फिसलनेवाली होनेसे पार्वती-को 'वंदेमातरम्' कहकर साष्टांग प्रणिपात भी किया !

जाते समय जिस रास्तेसे अज्ञात और अनुभूत काव्य अनुभव किया था, उसी रास्तेसे वापस लौटते समय हम संस्मरणोंके स्मृतिकाव्यका अनुभव करने लगे, हालांकि वही दृश्य उलटी दिशासे देखनेमें कम नवीनता न थी। जिन पेड़ोंके बारेमें जाते समय हमने बातें की थी, वही पेड़ वापस लौटते समय ध्यान तो खीचेंगे ही। इसलिए इन परिचित भाइयोंसे 'क्योंजी कैसे हो ?' कहकर कुशल-समाचार पूछे बिना भला आगे कैसे जाया जा सकता है ? और पेड़-पेड़के बीच प्रेमका पुल बांधने-वाली लतायें ? उनकी नम्रताको नमन किये बिना जो आगे जाता है वह अरसिक है। हम आहिस्ता-आहिस्ता नदीके किनारे तक आ पहुचे। अब उसी शांत प्रवाहके ऊपरसे वापस लौटना था। कुहरेके बादल बिखर गये थे। नदीके शान्त पानीको आहिस्ता-आहिस्ता प्रपातकी ओर जाता हुआ देखकर मेरे मनमे बलिदानके लिए जाते हुए भेडोंके झुंडकी तस्वीर खडी हो गयी। मैने उस पानीसे कहा : 'तुम्हारे भाग्यमें कितना बड़ा अधःपतन लिखा है इस बातका खयाल तक तुम्हें नहीं है इसीलिए इतने शात चित्तसे तुम आगे बढते हो। या नही—मैं ही गलती कर रहा हू। तुम जीवनधर्मी हो। तुम्हें विनाशका क्या डर है ?

प्रायः कन्दुक-पातेन पतत्यार्य. पतन्नपि।

जितनी ऊचाईसे गिरोगे उतने ही ऊचे उछलोगे। तुम्हारी दया खानेवाला मै कौन हूं ? शरावतीके पवित्र पानीका स्पर्श करनेके लिए मैंने अपना हाथ लंबा किया। पानी खिलखिलाकर हंसा और बोला, 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात ! गच्छति।' नाव इस पार आ गयी और हमे सूझा कि मोटरको इस ओर जरा नीचे तक दौड़ाया जाय तो उसी प्रपातकी फिरसे दाहिनी यात्रा भी होगी। हम जिस ओर हो आये थे उसे 'मैसूरकी तरफ' कहते हैं और दाहिनी ओरसे जानेके लिए निकले उसे बम्बईकी तरफ' कहते है। क्योंकि जोग दोनों राज्यकी सीमा पर है।

यहा तो हम बिलकुल नजदीक आ पहुचे। मै बडी बडी शिलाओंके बीचसे दौड़ने लगा। दो सालके बीमारके रूपमे मेरी ख्याति काफी फैली हुई थी। इससे मुझे दौडते देखकर राजाजीको आश्चर्य हुआ। किसीने कहा, 'वे तो महाराष्ट्रके मावले है और हिमालयके यात्री भी है। मछलियोंको जिस तरह पानी, उसी तरह इन मराठोंको पहाड होते हैं।' इन वचनोंको सुननेके लिए मुझे कहां रुकना था ? मै तो दौडता दौडता राजा प्रपातकी बगलमे उस प्रख्यात टीलेके पास जा पहुंचा। यहासे खडे खड़े नीचेकी ओर देखा ही नहीं जा सकता। चक्कर खाकर आदमी गिर जाता है। कानोंमें चारों प्रपातोंकी आवाज इतनी भरी हुई थी कि दूसरा कुछ सुनने के लिए उनमें गुंजाइश ही बाकी न थी। जिस तरह प्रपातका पानी ऊपरसे नीचे गिरकर फिर ऊंचा उछलता था, उसी तरह कानमें आवाज भी उछलती होगी।

प्रथम मेरा ध्यान खींचा राजाके गंडस्थल पर लटकती मोतियोंकी लड़ियोंने और जलप्रलयसे लोगोंको बचानेके लिए जिस तरह वीर तैराक पानीमें कूदते हैं उसी तरह इस ओरके प्रपातमें होकर युक्तिसे गुजरनेवाले पक्षियोंने क्या इन पक्षियोंको इस प्रपातकी भीषण भव्यताका खयाल ही नही है, या ईश्वरने उनके दिलमें इतनी हिम्मत भर दी है? मेरा खयाल है कि आगंतुक पक्षियोंकी इतनी हिम्मत नही होगी। इन जोगवासियोंका जन्म यहीं हुआ, प्रपातके पटलकी सुरक्षिततामें उनकी परवरिश हुई। शेरके बच्चे शेरनीसे नही डरते। सागरकी मछलियां लहरोंमें आनंद मानती है, उसी तरह ये जोगके बच्चे जोगके साथ खेलते होंगे।

राजा प्रपातको मैसूरकी ओरसे दूरसे देखा था, तब उसका असर भिन्न प्रकार-का हुआ था। यहां तो हम उसके इतने नजदीक थे, मानो हाथीके गंडस्थल पर ही सोये हों। ऊपरका पानी प्रपातकी ओर ऐसा खिंचा चला आता था, मानो कोई महाप्रजा जाने-अनजाने, इच्छा-अनिच्छासे महान क्रांतिकी ओर घसीटी जाती हो। कोई महाप्रजा जब सामाजिक और राजनीतिक प्रगतिके प्रवाहमे वहने लगती है तब आगे क्या होनेवाला है इस बातका उसे खयाल तक नही होता। और खयाल हो भी तो 'हमारे बारेमें यह सच नही होगा, हम किसी न किसी तरह बच जायेंगे,' ऐसी अंधी आशा वह रखती है। इस बीच प्रगतिका नशा बढ़ता ही जाता है। अंतमें उग्र लोग संयम सुझाते हैं और नरम (मॉडरेट) लोग अंधे होकर गैरजिम्मेदार लोगोंके साथ मिल जाते हैं और फिर इच्छा होने पर भी पीछे नही हट सकते। या खुद पीछे हटें तो भी क्या? धनुषसे निकला हुआ तीर कभी वपास खीचा जा सका है? जो अटल न हो वह क्रांति काहेकी?

प्रपातका पानी नीचे कहां तक जाता है यह देखना या जानना असंभव था। क्योंकि उछलते हुए पानीके बड़े बड़े बादल प्रपातके पांवोंसे लिपटे हुए थे। पानीके उन्मत्त उत्सवको देखकर लगता था मानो महादेवजी संहारकारी तांडव-नृत्य ही कर रहे हों और सामनेका रुद्र उसमें ताल दे रहा हो! परन्तु रोमांचकारी शोभा-का परम उत्कर्ष तो वीरभद्र ही दिखाता है। आपको यह मालूम ही नही होगा कि यहां पानी गिरता है और पानी उछलता है। ऐसा मालूम होता था मानो बड़ी बड़ी तोपोंसे गोलोके सहारे कोरे आटेके फव्वारे उड़ते हों। उस दृश्यका वर्णन शब्दोंमे हो ही नहीं सकता, क्योंकि शब्दोंकी परवरिश 'शांति और व्यवस्था' के बीच होती है।

हमने लेटे लेटे यहांसे इस दृश्यको जी भरकर देखा। या सच कहें तो चाहे उतने लेटने पर भी तृप्त होना असंभव है इस बातका यकीन हुआ तब तक देखा। आखिर हम खड़े होकर वापस लौटे। लेकिन वापस लौटना आसान न था। कोई तो उठता नहीं था। उसे खींचकर लानेके लिए दूसरा जाता था तो वह भी खुद उस नयनोत्सवमें चिपक जाता था। पहला पछताकर उठता था तो जो बुलाने जाता

वह नहीं उठता था। और जब दोनों मुश्किलसे संयम करके वापस लौटते, तब इन पर गुस्सा होकर झगड़ा करनेके लिए गये हुए तीसरे भाई एक क्षणके लिए आखों-को तृप्त करने वहां खड़े हो जाते और उन दोनोंके संयमको थोड़ा शिथिल बना देते। उन दोनोंके मनमें आता : इतने चिढ़े हुए समाज-नियंता जितनी छूट लेते हैं उतनी यदि हम भी लें तो इसमें कोई गलती नही है। हम कहा उनसे अधिक संयमी होनेका दावा करते हैं? मेरे दिलमें आया कि उस शिला पर पहुंच जाऊंगा तो राजाके पानीमें पांव डाल सकूगा। किन्तु नदीका पानी कुछ बढ़ता जा रहा था और उसमें वह शिला एक छोटे द्वीपके जैसी बन गयी थी। इसलिए राजाजीने मुझे मना किया। मुझे भी लगा कि उनकी बात नही मानूगा तो दूनी उद्धतता होगी। राजाजीकी आज्ञाका उल्लंघन कैसे किया जाय? और 'राजा' के सिर पर पाव कैसे रखा जाय?

हम वापस लौटे। भक्ति, विस्मय, मानव-जीवनकी क्षणभगुरता, दृश्यकी भव्यता, इस क्षणकी धन्यता—कई वृत्तियोके बादल हृदयमे भरे थे और वहासे उम वीरभद्रकी तरह सिरमे अपने तीर छोडते थे। विचारोंकी यह आतिशबाजी अद्भुत होती है। हृदयसे तीर छूटकर सीधे सिर तक पहुचता है और वहा फूटता है तब स्वस्थ शरीर कैसा अस्वस्थ हो जाता है, इस बातका जिसने अनुभव लिया है वही इसके चमत्कारको जान सकता है।

इस स्थान पर मंदिर क्यों नही है? हमारे मंदिर तो मानो जन्मभूमिके काव्य-मय स्थान है। अगर पहाड़का अमुक शिखर उत्तुंग है, तो वहा कोई ऋपि ध्यान करनेके लिए जाकर बैठा ही है और भक्तोने वहा एक मंदिर बनाया ही है। फिर वह चाहे पूनाके पासका पार्वती शिखर हो, चांपानेरके पासका पावागढ हो, जूनागढ़के पासका गिरनार हो या हिमालयका कैलास शिखर हो। दक्षिणकी ओर दौड़नेवाली नदी कही उत्तरवाहिनी हुई है? तो चलो, वहा एकाध तीर्थकी स्थापना करो, करोडों लोग आकर पावन हो जायेंगे। बड़ी बड़ी दो नदियां एक-दूसरेसे मिलती हों तो उस प्रयागमे हमारे संतोंने तीसरी अपनी सरस्वती बहायी ही है। सारी यात्रा पूरी करके समुद्र तक पहुंचे, तो वहां भक्तोंने जगन्नाथजीकी या सेतुबंध महादेवजीकी स्थापना की ही है। जहां जमीनका अंत दीख पड़ा वहां या तो कन्या-कुमारी होगी या देवेंद्र होगा। लंबे रेगिस्तानमे एकाध सरोवर दिखाई दे तो वह नारायणका ही सरोवर, उसकी पूजा होनी ही चाहिये। और क्षीरभवानीकी स्थापना भी होनी ही चाहिये!

हमारे संत कवियोंने तीर्थस्थानोंकी स्थापना कहां कहां की है, यह खोजने चलेंगे तो हिन्दुस्तानका सारा भूगोल पूरा करना पड़ेगा। मुसलमान संतोंने और रोमन कैथलिक पादरियोंने भी हमारे देशमें इसी तरह अद्भुत काव्यमय स्थान पसंद किये हैं और वहां पूजा-प्रार्थनाकी व्यवस्था की है। फिर इस प्रपातके पास

मंदिर क्यों नहीं है ? क्या जीवनराशिके इतने बड़े अधःपतनको देखकर मुनि खिन्न हुए होंगे ? क्या भैरवघाटीकी तरह यहां शरीर छोड़नेका नशा पैदा होगा, इस खयालसे लोकसंग्रह करनेवाले मुनियोंने लोकयात्राके लिए इस स्थानको नापसन्द किया होगा ? या दिमागको भर देनेवाली अखंड और भीषण गर्जना ध्यानके लिए अनुकूल नही है, ऐसा मानकर उपासक यहासे विमुख हुए होंगे ? या यह प्रपात ही स्वयं अभयब्रह्मकी मूर्ति है, उसके पास ध्यान खींच सके ऐसी कौनसी मूर्ति खड़ी करें, इस उधेड़बुनमें पड़कर उन्होने यह विचार छोड़ दिया ? कौन बता सकता है ? हमारे पुरखोंने यहां कोई मंदिर नहीं बनाया, इस बातका मुझे जरा भी दुःख नही है। किन्तु इस स्थानको देखकर सूझे हुए भावोका एकाध तांडवस्तोत्र तो अवश्य उनको लिखना चाहिये था। पार्थिव मूर्ति जहां काम नहीं करती वहां वाङ्मयी मूर्ति जरूर उद्दीपक हो सकती है।

यह सारी शोभा हम प्रपातके सिर परसे देख रहे थे। होन्नावरकी ओरसे आनेवाले लोग जब उत्तर कानड़ा जिलेके महाकांतारसे आते हैं तब उन्हें नीचेसे इस प्रपातका आ-पाद-मस्तक दर्शन होता होगा। दोनोंमें कौनसा दर्शन ज्यादा अच्छा है, यह बिना अनुभव किये कौन बता सकेगा ? और अनुभव लें भी तो क्या ? प्रकृति-की अलग-अलग विभूतियोंमें किसी समय तुलना हुई है ? हिमालयकी भव्यता, सागर की गंभीरता, रेगिस्तानकी भीषणता और आकाशकी नम्र अनंतताके बीच तुलना या पसंदगी कौन कर सकता है ? इसलिए एक बार होन्नावरके रास्तेसे जोगके दर्शनके लिए आना चाहिये।

समुद्रमें जहाजी बेड़ेका अनुभव लेकर कुशल बने हुए चंद फौजी अफसर प्रपात-को नापनेके लिए आये थे और हिंडोलेमें लटकते हुए प्रपातकी पीछेकी ओर पहुंच गये थे। उन्हें किस तरहका अनुभव हुआ होगा ? जोगके पक्षियोंने उनका कैसा स्वागत किया होगा ? प्रपातके परदेमेंसे अंदर फैलनेवाला बाहरका प्रकाश उन्हें कैसा मालूम हुआ होगा ? और अंधेरी रातमे प्रपातके पीछे यदि घास जलाकर बड़ा प्रकाश किया जाय तो सारी घाटीमें किस तरहकी गंधर्वनगरी पैदा होगी, इस बात-का खयाल क्या किसीको है ? जब यहां बिजलीका कल-कारखाना तैयार होगा तब कुछ कल्पनाशूर लोग इस प्रपातके पीछे बिजलीकी बत्तियोंकी कतार जरूर लगायेंगे और संसारने कभी न देखा हो ऐसा इंद्रजाल फैलायेंगे। उस समय सारी घाटी एक महान रंगभूमिके जैसी बन जायगी और चारों खंडोंके भूदेव उसे देखनेके लिए अवतार लेंगे। परन्तु उस समय क्या किसीको ईश्वरका स्मरण होगा ? मालूम होता है, अपनी बुद्धिशक्तिका उपयोग ईश्वरको पहचाननेके लिए करनेके बदले मनुष्यने उसका उपयोग ईश्वरको भूलनेकी युक्तियां और पद्धतियां खोजनेमें ही किया है।

शायद ऐसा भी हो कि सब ओरसे परास्त होनेके बाद ही बुद्धि ईश्वरको अधिक अच्छी तरहसे समझ सकेगी।

हरेक वस्तुका अंत होता है। इसलिए हमारी इस जोग-यात्राका भी अंत हुआ। अत्यंत पवित्र और मीठे संस्मरणोंके साथ हम वापस लौटे। किन्तु फिर एक बार वहां जानेकी वासना तो रह ही गयी। इसलिए 'पुनरागमनाय च' इन शास्त्रोक्त शब्दोंका उच्चार करके हम भारत-वैभवकी इस असाधारण विभूतिसे विदा ले सके।

सितंबर, १९२७

१३. जोगके प्रपातका पुनर्दर्शन

हिमालय, नीलगिरी और सह्याद्रि जैसे उत्तुग पर्वत; गंगा, सिंधु, नर्मदा, ब्रह्मपुत्र जैसी सुदीर्घ नद-नदिया; और चिलका, वुलर तथा मचर जैसे प्रसन्न सरोवर जिस देशमे विराजते हों, उस देशमे एकाध महान, भीषण और रोमाचकारी जलप्रपात न हो तो प्रकृतिमाता कृतार्थताका अनुभव भला किस प्रकार करे? दक्षिण भारतमे कारवार जिले तथा मैसूर रियासतकी सीमा पर एक ऐसा प्रपात है, जो संसारमे अद्वितीय या सर्वश्रेष्ठ पदका एकमात्र भोक्ता चाहे न हो, फिर भी ऐसे सर्वश्रेष्ठ प्रपातोंमें एक जरूर है। अंग्रेज लोग उसे 'गिरसप्पा फॉल्स' के नाममे पहचानते है। उसका स्वदेशी नाम है 'जोग'।

लॉर्ड कर्जन जब भारतमे आया तब जोगका प्रपात देखनेके लिए वह इतना उत्सुक हुआ था कि इस देशमें आनेके बाद पहले मौकेका फायदा उठाकर वह उसे देखने गया और उसके अद्भुत सौंदर्यसे उसने अपनी आंखें ठंडी की। उसके बाद हमारे देशमें इस प्रपातकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। जहांसे लॉर्ड कर्जनने प्रपातको देखकर अपने आपको कृतार्थ किया था, वहां मैसूर सरकारने एक चबूतरा बनवाया है। उसको 'कर्जन सीट' कहते हैं।

प्रपातके पास ही मैसूर सरकारने एक अतिथिशाला बनवाई है। उसके मेहमानोंकी सूची मे प्रकृति-प्रेमी देशी-विदेशी यात्रियोने समय समय पर अपने आनंदोद्गार लिख रखे हैं। इन उद्गारोंका ही एक संग्रह यदि प्रकाशित करे तो वह प्रकृति-काव्यकी एक असाधारण मंजूषा हो। यह सारा काव्य उच्च कोटिका होता तो भी जोगके प्रत्यक्ष दर्शनसे उसकी अपूर्णता ही सिद्ध होती और मुंहसे यकायक उद्गार निकलते :

एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः।

शरावती तो है एक छोटीसी नदी। फिर भी उसके तीन तीन नाम क्यों रखे गये होंगे? प्रथम वह भारंगी या बारहगंगाके नामसे पहचानी जाती है। बीचके हिस्सेमें उसे शरावती कहते हैं। और जहां वह प्रौढ़तासे समुद्रमें मिलती है वहां

उसे बालनदी कहते हैं ! शरावतीके प्रवाहने यदि इस रोमांचकारी प्रपातका रूप धारण न किया होता तो भी उसने अपने प्राकृतिक सौंदर्यके द्वारा मनुष्योंका मन हरण किया ही होता। किन्तु तब वह हिन्दुस्तानकी अनेक सुन्दर नदियोंमेंसे एक नदी ही मानी जाती। इस प्रपातके कारण छोटीसी शरावती भारतवर्षकी एक अद्वितीय सरिता बन गई है।

जोगके इस अलौकिक दृश्यका दर्शन करनेके लिए राजाजी तथा दूसरे मित्रोंके साथ मैं प्रथम गया था, उस समयके उस अद्‌भुत दृश्यके दर्शनसे एक कुतूहल तृप्त हो ही रहा था कि इतनेमें मनुष्य-स्वभावके अनुसार मनमें कुतूहलजन्य एक नया संकल्प उठा कि इतनी ऊंचाईसे कूदनेके बाद यह नदी आगे कहां जाती होगी, वहां कैसी मालूम होती होगी और सरित्पतिके साथ उसका किस तरह मिलन होता होगा, यह सब कभी न कभी जरूर देखना चाहिये। और हो सके तो बच्चा बनकर शरावतीके वक्षस्थल पर (नौका) विहार करना चाहिये। अंतरात्माकी इस जिज्ञासाको सत्यसंकल्प ईश्वरने आशीर्वाद दिया और एक तप (१२ वर्ष) की अवधि पूरी होनेके पहले ही जोगका दूसरी बार दर्शन करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। पहली बार हम ऊपरकी ओरसे प्रपातकी तरफ गये थे। इस बार नदीके मुखकी ओरसे प्रवेश करके नावमें बैठकर हमने प्रतीप यात्रा की। और नाव जहां अटक गई वहांसे तैलवाहन (मोटर) के सहारे घाट चढ़कर हम प्रपातके सिर पर पहुंचे।

वहां शरावतीकी उस अर्धचंद्राकार घाटीमें चार प्रपात है। दाईं ओर 'राजा' नामक प्रपात है, जो ऊपरसे एकदम ९६० फुट नीचे कूदता है। उसका 'राजा' नाम यथार्थ ही है। उसकी जलराशि, उसका उन्माद और उसकी हिम्मत किसी जगदेक-सम्राट्‌को शोभा दे सके ऐसी है। उसकी बाईं ओरका महारुद्रके समान गर्जना करनेवाला 'रुद्र (Roarer) प्रपात' राजाके चरणों पर जाकर गिरता है। रुद्रकी घोर गर्जना आसपासकी टेकरियों तथा घाटीको मीलों तक निनादित करती है। उसकी ध्वनिको न तो मेघ-गंभीर कह सकते हैं, न सागर-गंभीर। क्योंकि मेघगर्जना आकाश-विद्रावी होने पर भी क्षणजीवी होती है और सागरकी सनातन गर्जनाको ज्वार-भाटेके अनुसार झूलना पड़ता है। रुद्रकी ध्वनि अविरत, अखंड और धारा-वाही होती है। उस ध्वनिका उन्माद विलक्षण होता है।

राजा और रुद्रको संसारमें कहीं पर भी सम्राट्‌की पदवी मिल सकती है। किन्तु जोगका सच्चा वैभव तो आकाशमें विविध रूपसे उड़नेवाली वीरभद्र (Rocket) की शुभ्र जल-जटाओंके कारण है। वीरभद्रका प्रपात हाथीके गंडस्थल जैसे एक विशाल शिलाखंड पर गिरते ही उसमेंसे बारूदखानेके तीरों जैसे फव्वारे ऊंचे और ऊंचे उड़ते ही चले जाते हैं। यह क्या शंकरका तांडव-नृत्य है? या महा-कवि व्यासकी प्रतिभाका नवनवोन्मेषशाली कल्पना-विलास है? या सूर्यबिंबके

पृष्ठभागसे बाहर पड़नेवाली सर्वसंहारकारी किन्तु कल्पनारम्य ज्वालायें हैं ? या भूमाताकी वात्सल्य-प्रेरित स्तन्यधाराओके फव्वारे है ? ऐसी ऐसी अनेक कल्पनायें मनमे उठती हैं। वीरभद्र सचमुच देखनेवालोंकी आंखोंको पागल बना देता है।

वीरभद्रकी बाईं ओरकी कर्पूरगौरा, तन्वंगी और अनुदरी पर्वतकन्या पार्वती (Lady) अपने लावण्यसे हमे आनंदित करती है।

चारों प्रपातोंकी मानो रक्षा करनेके लिए ही उनके दोनों ओर दो प्रचंड पहाड़ खडे है। ये संतरी खडे खडे और क्या कर सकते है ? प्रपातोकी अखंड गर्जनाको प्रतिक्षण प्रतिध्वनित करते रहना, उनके इंद्रधनुषोको धारण करना और विविध प्रकारकी वनस्पतिमे अपनी देहको सजा कर पुलकित रहना, यही उनकी अविरत प्रवृत्ति हो बैठी है।

अबकी बार जब हम गये तब गरमीके दिन थे। भारगीका पानी अच्छा खासा उतर गया था। वीरभद्रकी जटायें कही भी नजर नही आती थी। रुद्रकी लबी लंबी उछल-कूद भी कम हो गई थी। पार्वतीने अब विरहिणीका वेश धारण कर लिया था। हमे उम्मीद थी कि कमसे कम राजाका वैभव तो देखने लायक होगा ही। किन्तु विश्वजित् यज्ञके अतमें धन्यता अनुभव करनेवाला कोई सम्राट् जिस प्रकार अकिंचन बन जाता है और उस हालतमे भी अपने वैभवको व्यक्त करता है, ठीक वही हालत 'राजा' की हो गई थी।

अबकी बार हम शरावतीकी दाईं ओर यानी उत्तरकी ओर आ पहुचे थे। अतिथिगृहमे रुके बिना हम दौडते दौड़ते सीधे 'राजा' प्रपातकी बगलमे जा खड़े हुए।

वहां एक ओर सख्त धूप थी और दूसरी ओर नीचेसे उड़नेवाले तुषारोका ठडा कोहरा था; इन दोनोंके बीच फसनेसे हमारी जो दशा हुई उसका वर्णन करना कठिन है। राजाके मुकुट जैसे शोभनेवाले गरम गरम पत्थरो पर झुककर हमने *नीचे घाटीमे देखा। ऊपरसे राजाकी जो धारा नीचे गिरती थी वह ठेठ जमीन तक पहुचती ही नहीं थी।* किसी मदोन्मत्त हाथीकी सूंड़के समान एक प्रचंड स्रोत ऊपर-से नीचे गिरता हुआ दीख पड़ता था। नीचे गिरते गिरते शतधा विदीर्ण होकर उसकी सहस्र धारायें बन जाती थी, और आगे जाकर उन धाराओके बड़े बड़े जल-बिंदु बन जानेके कारण वे मोतीकी मालाओंकी तरह शोभा पाने लगती थी। इन मोतियोंका भी आगे जाकर चूर्ण बन गया और उसके बड़े बड़े कण नजर आने लगे। अब नीचे और आगे जाना छोड़कर उन्होने थोड़ा स्वच्छंद-विहार शुरू किया। ये बड़े कण भी छिन्नभिन्न हो गये, उन्होंने सीकर-पुंजका रूप धारण किया और बादलोंके समान विहार करने लगे। मगर प्रकृति-माताको इतनेसे ही संतोष नही हुआ। आगे जाकर इन बादलोंसे नीहारिकाओंका कोहरा बना और पवनकी लहरोंके साथ उड़कर वह सारी हवाको शीतल बनाने लगा। आश्चर्यकी बात तो

यह थी कि इतनी बड़ी जलधाराकी एक बूद भी जमीन तक पहुंच नही पाती थी। नीचेकी जमीन गरम और ऊपरकी ठंडी ! इस स्थितिको देखकर मुझे राजाओका बगैर किसी व्यवस्थाका दान याद आया। प्रजाजनोको अकालसे पीड़ित देखकर हमारे राजा जब उदार हाथोसे पैसे देने लगते हैं तब उनके जयनादसे सारा वायु-मडल गूज उठता है। किन्तु बेचारी गरीब जनताके मुह तक अन्नका एक दाना भी पहुच नही पाता ! बीचके अमले ही सब खा जाते है।

अलकेश्वरके दिलमे भी ईर्ष्या उत्पन्न हो ऐसी यहाके इंद्रधनुषोकी शोभा थी। भेद केवल यह था कि ये इद्रधनुष स्थायी नही थे। पवनकी तरगे जैसे जैसे दिशाए बदलनी जाती, वैसे वैसे ये सीकर-पुज भी अपने स्थान बदलते जाते। इस कारणसे पार्वतीके इशारेसे जिस तरह शकर नाचने लगते है, उसी तरह ये इद्रधनुष भी इधर-उधर दौड़ते हुए नजर आते थे। क्षणमे क्षीण हो जाते, तो दूसरे ही क्षण मयासुरके महलकी शोभा धारण करते। कर्मके साथ जिस प्रकार उसका फल आता ही है, उसी प्रकार हरेक धनुषके साथ उसका प्रति-धनुष भी अपना वर्णक्रम ठीक उलटा करके हाजिर होता ही था। हमने स्थान बदला, इसलिए उन सुरधनुषोने भी अपना स्थल बदला। सुरधनु और सुरधुनीका यह आह्लादजनक खेल हम काफी देर तक विस्मय-विमुग्ध भावसे देखते ही रहे। जितना अधिक देखते उतनी दर्शन-की पिपासा बढती जाती। हमे मालूम था कि हम घंटे दो घटे ही यहा पर रह सकेंगे। प्रतिक्षण हमारा समयरूपी पुण्य क्षीण होता जा रहा है, और थोडी ही देरमे हमें मर्त्यलोकमें वापस लौटना होगा, इस बातका हमे खयाल था। स्वर्गलोभी दवना जिस विपादके साथ स्वर्गसुखका उपभोग करते हैं, पराक्रमी पुरुष अपने यौवनके उत्तरार्धमें अपने सकल्पकी पूर्तिके लिए जितने अधीर बन जाते है, उतने ही विषादमें और उतने ही अधीर बनकर हम सब उस गंधर्व-नगरीका आंख, कान, नाक और सारी त्वचासे सेवन करने लगे और साथ साथ हमारी कल्पनाओं द्वारा उसी आनंदको शतगुणित करके उसका उपभोग करने लगे।

o o o

एक दिन पहले हम तीन नावें लेकर निकले थे। बीचकी नावमे स्त्रिया और बालक थे और हम पुरुष लोग दोनों ओरकी दोनो नावोमें बैठे थे। रातका समय था। ऊपर आकाशमे चाद हंस रहा था। उसका वह काव्य लड़कियोने हृदयमे ग्रहण कर लिया और वहांसे वह उनके आलापोके रूपमे बाहर आने लगा। हरेक लड़कोने अपना प्यारा गीत नदीकी सतह पर तैरता छोड़ दिया। वह नाद कानों पर पड़ते ही किनारे परके नारियल और सुपारीके पेड़ रोमांचित हो उठे और अपने उन्नत सिर कुछ झुकाकर उन आलापोका वे पान करने लगे। थक जाने तक लड़कियों ने गीत गाये। फिर वे सो गईं। चांद अस्त हुआ। सर्वत्र अंधकारका साम्राज्य प्रस्थापित हुआ। और अनंत सितारें आसपासकी टेकरियोको अनिमेष दृष्टिसे देखने

लगे। यह कहना मुश्किल था कि आसपासकी नीरव शांति जाग रही थी या वह भी निद्रामें पड़ी थी।

जब जब हम नींदमेंसे जग जाते तब तब कभी पतवारकी आवाज, कभी खलासियोंके बांसके साथ कुश्ती खेलते हुए पानीकी आवाज, और कभी खलासियों-के एक-दूसरेको पुकारनेकी तीक्ष्ण आवाज सुनाई देती। आखिर पौ फटी। पंछियोंने अपना कलरव शुरू किया। मेरे मनमें आया : बीचकी नावमें सोयी हुई कोयलें भी यदि जग जायें तो कितना अच्छा हो! मेरे गद्य निमंत्रणका उन्होंने आलापोंसे ही उत्तर दिया। वृक्षोंने भी रातके समय सुने हुए आलापोंको याद करके, एक-दूसरे-को यह बतानेके लिए कि 'यही तो रातका संगीत है' अपने सिर हिलाने शुरू किये। रातका जलविहार सचमुच सात्त्विक, शांतिमय और यौवनमय था।

उषःकालका जलविहार भी उतना ही सात्त्विक, शांतिमय और यौवन-प्रसन्न था, जब कि प्रपातका यहांका दर्शन तो अद्भुत-भीषण और रोम-हर्षण था। अब उन लड़कियोंके चेहरों पर प्रातःकालकी मुग्ध प्रसन्नता नही रही थी। इतने अद्भुत दृश्यका सर्जन किस प्रकार हुआ होगा? सचमुच हम पृथ्वीतल पर हैं या स्वप्नसृष्टिमें? इसका विस्मय उनके चेहरों पर स्पष्ट रूपसे नजर आता था। वे एक-दूसरेकी आंखोंकी ओर देखकर अपना विस्मय बढ़ाती जा रही थी और उनके इस विस्मयको देखकर हमें इस प्रकारका गर्व मालूम होता था, मानो हम ही इस काव्यमय सृष्टिके विधाता हों।

भोजनका समय हो चुका था। नौकाएं छोड़कर हम एक गांवके नजदीक आ पहुंचे। वहां चावल कूटनेकी एक चक्की थी। भक् भक् भक् करती हुई यह चक्की गरीब लोगोंकी शांति, उनका स्वास्थ्य उनकी आजीविकाको और भी कूटपीट कर नष्ट कर रही थी। हमने अघाकर खाना खाया और हमारे इंतजारमें खड़े तैल-वाहनमें हम आरूढ़ हुए।

पेट्रोलके एक डिब्बेमें थोड़ासा तेल बाकी था। हमारा सारथी उसीमें पानी भरकर ले आया और मोटरमें डाला। पानी गरम हुआ और तेलका धुआं पानीमें मिला। फिर क्या पूछना था? कदम कदम पर मोटर रुकने लगी; चिल्लाने लगी; शिकायत करने लगी और बदबू छोड़ने लगी। हम भी ऊब गये, गुस्सेमें आये, आग-बबूला हुए और अंतमें यह देखकर कि अब कोई इलाज ही नहीं है, ठंडे पड़ गये। बंगला भाषाकी एक कहावतका मुझे स्मरण हो आया : 'जले तेले मिश खाये ना'। बड़ी मुश्किलसे, किसी न किसी तरह जब हम पानीवाली जगह पर आ पहुंचे तब पुराने विप्लवी पानीको निकालकर हमने उसमें शुद्ध सज्जन पानी भर लिया। उसके बाद हमारा रास्ता बिलकुल आसान हो गया।

बरसोंसे चर्चा चल रही है कि गिरसप्पाके प्रपातसे बिजली पैदा की जाय या नहीं। शरावतीके पानीको एक ओरसे मोड़कर बड़े बड़े नलों द्वारा नीचे उतारकर

वहां उसकी मददसे यदि बिजली पैदा की जा सके, तो सारी मैसूर रियासतको सस्ते दाममें बिजली दी जा सकेगी। इतना ही नहीं, बल्कि उत्तर और दक्षिण कानड़ा जिलोंको भी दी जा सकेगी। इससे लोगोंको बड़ा फायदा होगा। किन्तु इससे वह अद्भुतरम्य प्राकृतिक दृश्य हमेशाके लिए नष्ट हो जाएगा। इन दो बातों मेंसे कौनसी अधिक इष्ट है, इसका अब तक कोई निर्णय नही हो सका है। हजारों—नही, लाखों लोगोंको पेटभर अन्न मिलेगा। सैकड़ों विज्ञानवेत्ता नवयुवकोंको अपनी योग्यता सिद्ध करनेका मौका मिलेगा। हजारों जानवरोंकी पीड़ा दूर होगी। एक स्थान पर इस तरहका कारखाना सफल हो सका तो भारतके सब प्रपातोंका ऐसा ही उपयोग किया जा सकेगा और देशको एक महान शक्तिका हमेशाके लिए लाभ मिल जायगा। तब क्या केवल एक भीषणरम्य दृश्यके लोभसे हम इन अनेक हितकर बातोंको छोड़ दे? कलाके शौककी भी कोई सीमा है या नही? अपनी रानीके मनोविनोदके लिए अपनी राजधानी रोमको जला डालनेवाले नीरोकी सुलतानी वृत्तिमें और इस प्रकारकी कला-भक्तिमे तत्त्वत: क्या फर्क है?

इस प्रश्नके उत्तरमे जो कुछ कहा जाता है उसका जिक्र करनेके पहले थोड़ेसे विषयांतरकी आवश्यकता है। यूरोपमे जब महायुद्ध छिड़ गया और लाखों नौजवान तोपों तथा बंदूकोंके शिकार हुए, तब साहित्य-शिरोमणि रोमां रोलांकी भूतदया द्रवीभूत हुई और अन्य लोगोंके समान, खुद उन्होंने भी इन घायल लोगोंकी सेवाका कुछ प्रबंध किया। किन्तु जब उभय पक्षके शत्रुओंने एक-दूसरेकी कलापूर्ण इमारतों पर बम-वर्षा शुरू की तब उनकी कलात्मा पुण्यप्रकोपसे सुलग उठी और उन्होंने बुलंद आवाजसे सारे यूरोपको चेतावनी दी: "ऐ कमबख्तो, तुम्हें एक-दूसरेको मार डालना हो तो मार डालो; इस संसारसे तुम्हें बिलकुल नष्ट हो जाना हो तो नष्ट हो जाओ। किन्तु ये कलाकृतियां तो आत्माकी अभिव्यक्ति करनेवाली अमर कृतियां हैं। उन्हींके द्वारा समस्त मानव-जातिकी आत्मा अपने आपको व्यक्त करती है—और कुछ नही तो कम-से-कम इनका तो नाश न करो!!"

रोमां रोलांकी आर्षवाणी यूरोपकी आत्माने सुनी और युध्यमान पक्षोंने कलाकृतियोंका संहार बन्द कर दिया। अब सवाल यह है कि क्या कलाकृतियां सचमुच मानवकी आत्माकी अभिव्यक्तिकी द्योतक या प्रेरक हैं? या उच्च अभिरुचिके आवरणके पीछे रही हुई विलासिताकी ही साधन-सामग्री हैं?

कलाको जिसने सचमुच पहचाना है वह फौरन बता देगा कि कला और विलासिताके बीच जमीन आसमानका फर्क है और सच्ची कलाकृतिके द्वारा जो निरतिशय आनन्द होता है वह सोयी हुई आत्माको सचमुच जाग्रत करता ही है। करोड़ों वॉल्टकी विद्युतशक्ति पैदा करके लाखों लोगोंकी आजीविकाका प्रबन्ध करना कोई साधारण बात नही है। किन्तु असंख्य लोगोंको कलाके द्वारा जो आनंद या संस्कारिता प्राप्त होती है वह तो उनकी आत्माको पोषण देनेवाली चीज है।

और ओम कोई मानवकृत कलाकृति नहीं है। उलटे, वह तो कलाकारोंको भव्यता और सभ्यताकी एक ही साथ शिक्षा और दीक्षा देनेवाली प्रकृति-माताकी अलौकिक विभूति है। उसे नष्ट करना नास्तिक विद्रोहके समान है। उसे नष्ट करनेसे पहले हमें सहस्र बार सोचना होगा। जोगका प्रपात वर्तमान युगकी ही संपत्ति नहीं है। हमारे अनेक ऋषि-पूर्वजोंने उसके पास बैठकर ईश्वरका ध्यान किया होगा, और भविष्यमें हमारे वंशजोंके वंशज उसका दर्शन करके अपने जीवन की अज्ञात वृत्तियों और शक्तियोंका साक्षात्कार करेंगे।

उपयुक्ततावादका सहारा लेकर 'अल्पस्य हेतोः बहु हातुम् इच्छन्' जैसे जड़ हम न बनें। इस प्रपातको सुरक्षित रखकर उससे कोई लाभ उठाया जा सकता हो तो भले उठायें। मानव-बुद्धिके लिए यह बात असंभव नहीं होनी चाहिये। किन्तु इस तांडवयोगके दर्शनसे मनुष्य-जातिको वंचित करनेका धर्मतः किसीको हक नहीं है। मंदिरमें हम मूर्तिकी स्थापना करते हैं उसी तरह प्रकृतिने भी विराट् स्वरूपकी भव्य प्रतिमाओंकी यहां, हमारे सामने, स्थापना की है। यहां केवल दर्शन, ध्यान और उपासनाके लिए आना चाहिये और हृदयमें यदि कुछ सामर्थ्य हो तो इनके साथ तदाकार हो जाना चाहिये। यही हमारा अधिकार है।

मई, १९३८

१४. जोगका सूखा प्रपात

याद नहीं किस कविने यह विचार प्रकट किया है; मगर उसका वह विचार मैं अपनी भाषामें यहां रख देता हूं।

"यह सही है कि पहाड़ोंके जैसी ऊंची-ऊंची लहरें उछालनेवाला समुद्र भयानक मालूम होता है। मगर उसका सारा पानी सूखकर यदि पात्र खाली हो जाय तो हजारों मील तक फैले हुई उसके गहरे गड्ढे कितने भयावने मालूम होंगे, इसकी कल्पना भी करना कठिन है। यह सही है कि दुर्जनके पास संपत्तिके भंडार हों तो वह उनका दुरुपयोग करके लोगोंको सतायेगा। मगर उसकी यह संपत्ति नष्ट होकर वह यदि भूखा कंगाल बन जाय, तो वह किस राक्षसी दुष्टतासे बाज आयेगा? अच्छा ही है कि समुद्र पानीसे भरपूर है, और दुर्जनोंके पास उनकी दुष्टताकी आग बुझानेके लिए पर्याप्त संपत्ति रहती है।"

जोगके प्रपातमेंसे राजा और रुद्रके सूखे हुए प्रपातोंको देखकर कविकी ऊपर बताई हुई उक्ति याद आनेका यद्यपि कोई कारण नहीं था, फिर भी यह उक्ति याद आई जरूर।

सन् १९२७ में जब पहले पहल मैंने जोगका प्रपात देखा था, तब उसका वैभव

सोलहों कलासे प्रकट हुआ था। पानीका मुख्य प्रपात अपनी प्रचंड जलराशिके साथ ८४० फुट नीचे कूदकर नीचेकी घाटीमें प्रपातके प्रवाहके ही द्वारा तैयार की हुई १५० फुट गहरे तालाबकी गद्दी पर गिरता था। इस मुख्य प्रवाहकी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिए उसके दोनों ओर मोतियोंकी मालाओंके समान पानीकी अनेक धाराएं अनेक ढंगसे गिरती थीं। उसके दक्षिणकी ओर टेढ़ी सीढ़ियों परसे कूदता कूदता रुद्र अपना पानी, आधेसे अधिक पतनके बाद, राजाके पानीमें फेंक देता था। राजा की गर्जना प्रायः नीचे पहुंचनेके बाद ही पैदा होती है। रुद्रका प्रपात रावणकी तरह अपने जन्मके साथ ही चिल्लाने लगता है।

दोनों प्रपात अद्‌भुत तो हैं ही। किन्तु उस समय मुझे जो दृश्य अलौकिक लगा था वह था वीरभद्रकी उछलती जटाओंका। यह दृश्य मैं फिर कभी नहीं देख पाया। किसी तसवीरमें भी वीरभद्रकी उन जटाओंका चित्र नहीं आया है।

आखिरी प्रपात है पार्वतीका। उसे देखते ही मनमें स्त्रीदाक्षिण्य पैदा होता है।

दस सालके बाद जब मैंने फिरसे जोगका दर्शन किया, तब राजाका स्रोत काफी क्षीण हो चुका था। वीरभद्रकी जटाओंका मुंडन हो गया था। रुद्रकी चिल्लाहट यद्यपि कम नहीं हुई थी, फिर भी उसका वह बड़ा ताल जोगके क्षीण प्रपातके साथ मिलता नहीं था। और पार्वती तो बिलकुल कृषांगी तपस्विनी जैसी बन गयी थी।

किन्तु इन सब संकोचोंको भुला दे ऐसी खूबी तो थी प्रपातकी ठंडी भापमेंसे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रधनुषोंके भ्रू विलासमें। यह शोभा जितनी ओरसे देखने जाते उतनी ओरसे इन्द्रधनुष अपने मुंह घुमाकर नया-नया सौंदर्य प्रकट करते थे।

फिर ठीक दस सालके बाद जोगका वही प्रपात देखनेके लिए जब हम अबकी बार गये तब चार प्रपातोंमेंसे तीन तो बिलकुल सूख गये थे। रुद्रके अभावमें सर्वत्र स्मशान-शांति फैली हुई थी। राजाके सूख जानेसे उसके पीछेकी एकके नीचे एक दो बड़ी दरारें औरंगजेब द्वारा निकाली हुई संभाजीकी आंखों जैसी भयावनी मालूम होती थीं। पार्वती तो मानो दक्षके यज्ञमें जाकर भस्म हो गई थी और वीरभद्र ऐसा मालूम होता था मानो दक्षका नाश करनेके बाद कुछ शांत होकर अपने स्वामीके ससुरकी मृत्यु पर नीरव आंसू ढाल रहा हो। इतनी खिन्नता तो शायद महाभारतके युद्धके बाद कुरुक्षेत्र पर भी नहीं छाई होगी!

पहली बार हम गये थे शिमोगा-सागरके रास्तेसे—गुजरातमें आयी हुई बाढ़के संकटके दिनोंमें। दूसरी बार गये इरादतन समुद्रके छोरसे उलटे क्रमसे—शरावती के पानीमें ऊपरकी ओर यात्रा करके। हमारे पूर्वजोंने कहा है: 'नदीमुखेनैव समुद्रमाविशेत्।' इस नसीहतसे ठीक उल्टे हम शरावती-सागर-संगमसे नावमें बैठकर प्रतीप क्रमसे प्रपातकी सीढ़ियों तक पहुंचे और वहांसे पहाड़की पगडंडीसे ऊपर चढ़कर प्रपातके सिर पर आ पहुंचे थे। अबकी बार हमने तीसरा रास्ता लेकर

यात्रा की। शिरसीसे सिद्धापुर होकर हम प्रपातकी बंबईवाली बाजू पर गये। वहां राजाके सिर पर विराजनेवाली एक बड़ी शिला पर लेटकर हमने नीचेका रोमहर्षण दृश्य देखा। आलेके जैसी भयावनी दरारके सिर पर जाकर अंदर देखनेसे सारा बदन कांप उठता है। मनमें यह सन्देह पैदा हुए बिना नहीं रहता कि यह शिला अपने ही भारसे कहीं टूट तो नहीं जाएगी ?

इस शिलाके बगलमें उतनी ही बड़ी और उतनी ही भयावनी जगह पर दूसरी शिला है। उस पर प्राचीन कालमें किसी राजाका लग्नमंडप खड़ा किया गया होगा। आज उस मंडपके चार स्तंभ जिस पर खड़े किये गये थे वह चार सुराखोंवाला एक बड़ा चबूतरा उस शिला पर दिखाई देता है। भयावने प्रपातकी दरारके किनारे मंडप खड़ा करके विवाह करनेवाले राजाकी काव्यमय वृत्तिकी बलिहारी है ! ऐसे शौकीन राजाके साथ जिसने शादी की उस राजकन्याको इस मंडपमें बैठते समय कैसा अनुभव हुआ होगा ! किसीने बताया, 'भीषण रसके रसिया उस राजाके नाम पर ही इस प्रपातका नाम राजा रखा गया है।' मैंने मनमे सोचा, 'तब तो उससे शादी करनेवाली राजकन्याका नाम हम नहीं जानते इस बातका फायदा उठाकर उसीको हम पार्वती क्यों न कहें ? पर्वतकी दरारके किनारे उसने शादी की; क्या इतना कारण उसे पार्वती कहनेके लिए बस नहीं है ?

ऐसा नहीं है कि पहाड़ोंमें आलेकी जैसी दरारें मैंने न देखी हों। मस्जिदोंमें भी दीवारोंमे गहराई साधकर उनके किनारे मेहराब बनाते हैं। किन्तु राजाके नीचेका आला तो कालपुरुषके मुंहसे भी बड़ा और गहरा था। उसके भीतर जहां जगह मिले वहां पक्षी अपने घोंसले बनाते हैं और चुनकर लाये हुए अनाजके दानों का संग्रह करते है।

बम्बईकी ओरसे यानी उत्तरकी ओरसे जी भरकर देखनेके बाद हम मोटरमें बैठकर पूर्वकी ओर गये। वहां दो नावोंको बांधकर बनाये हुए बेड़े पर—जिसे यहां 'जंगल' कहते हैं—हमारी मोटरको चढ़ाकर हम शरावती नदीको पार करके दक्षिणके किनारे आ पहुंचे। वहां मैसूर सरकारकी अतिथिशालाके पाससे फिर एक बार सारी दरारका दृश्य देखा। बीस साल पहले यहींसे राजा, वीरभद्र और पार्वती-का देवदुर्लभ दृश्य देखा था। ऐसा नही था कि अबकी बारके सूखे दृश्यमें काव्य न हो। एकके नीचे एक, दो बड़े आले ८४० फुटके पतनको नाप रहे हैं। ऐसा दृश्य विधाताकी इस विविध सृष्टिमें हर कहीं देखनेको थोड़े ही मिलनेवाला है !

मेरे मनमें छाया हुआ बिषाद मैंने पेड़ों पर नही देखा। दोनों आलोंमें गोल गोल चक्कर काटनेवाले पक्षी भी विषण्ण नहीं दिखाई देते थे। आकाशमें तैरते हुए और प्रपातकी दरारमें ताकनेवाले बादल भी गंभीर नहीं मालूम होते थे। फिर रिक्तताका यह दृश्य देखकर मैं ही इतना बेचैन क्यों होता हूं ? क्या बीस साल पहले यहां देखी हुई जल-समृद्धिकी याद आनेसे ? या दस साल पहले उसमें देखे हुए इन्द्र-

धनुषोंको याद करके ? मगर वह जल-समृद्धि और वर्णसंकरका वह चमत्कार हमेशाके लिए थोड़े ही लुप्त हो गये हैं ? हजारों सालसे हर ग्रीष्मकालमें ऐसी ही रिक्तता देखनेको मिलती होगी और हर वर्षाकालमें भारंगी सारी घाटीको जलमग्न कर देती होगी। यह क्रम तो चलता ही रहेगा। तब 'तत्र का परिदेवना' ?

जोगके प्रपातके इस तीसरे दर्शनके बाद हमने यहांके इतिहासका नया अध्याय खोला।

बीस साल पहले मैंने सुना था कि 'मैसूर सरकार इस प्रपातके पानीसे बिजली पैदा करना चाहती है। बम्बई सरकार और मैसूर सरकारके बीच इस सिलसिलेमें पत्रव्यवहार चल रहा है। अब तक ये दोनों सरकारें एकमत नहीं हो पाईं, इसलिए बिजलीकी वह योजना अमलमें नहीं लाई गयी।'

उस समय मैंने मनमें चाहा था कि ईश्वर करे ये दोनों सरकारें एकमत न होने पायें। मेरे मनमें डर था कि बिजली पैदा करके यहां कल-कारखाने चलेंगे और देशकी समृद्धि बढ़ानेके बहाने देशकी गरीब जनता चूसी जायगी। और इससे भी अधिक अकुलाहट तो यह थी कि यंत्र आने पर प्रपात टूट जायगा और प्रकृतिका यह भव्य दर्शन हमेशाके लिए मिट जायगा किन्तु सौभाग्यसे मेरा यह डर सच्चा नहीं निकला।

इंजीनियर लोगोंने प्रपातसे काफी ऊपर एक बांध बांधकर वहां पानीके जत्थे-को रोका है। अभी यह काम पूरा नहीं हुआ है। बांध बांधकर जो पानी रोका गया है उसकी चार नहरोंको एक दिशामें ले जाकर मैसूरकी ओर, प्रपातसे काफी दूर, टेकरी परसे नीचे छोड़ दिया गया है—प्रपातके रूपमें नहीं, बल्कि टेढ़े उतरे हुए महाकाय चार नलों द्वारा। पानी नलके द्वारा जहां पहुंचता है वहां इस पानीकी रफ्तारसे चलनेवाले यंत्र रखकर उनसे बिजली पैदा की जाती है। अब यहां इतनी बिजली पैदा होगी कि मैसूर राज्यकी भूख मिटाकर थोड़ी हैदराबाद राज्यको भी दी जायगी। और बंबई सरकारकी होन्नावर तालुकेकी सीमा परसे शरावती नदी गुजरती है। इसलिए कुछ हजार किलोवाट बिजली बम्बई सरकारको भी दी जायगी। न्यायत: इस बिजली पर सबसे पहला अधिकार है होन्नावर तालुकेका और कारवार जिलेका। किन्तु यह जिला औद्योगिक दृष्टिसे विकसित नहीं है। इस कारणसे यह तय हुआ है कि बिजली धारवाड़ जिलेको दी जाय। इससे कारवार जिलेके लोग नाराज हुए हैं। कारवार जिलेकी खनिज-संपत्ति और उद्भिज्ज-संपत्ति धारवाड़ जिलेसे कई गुना अधिक है। उसके पास समुद्र-किनारा होनेसे उसका व्यापार भी काफी बढ़ सकता है। कारवार जिलेमें काली, गंगावली, अघनाशिनी और शरावती—ये चार नदियां नौकानयनके लिए अनुकूल होनेसे इस जिलेका उद्योगीकरण भी बहुत आसान है। किन्तु आज यह कहकर कि इस जिलेमें बड़े उद्योग नहीं हैं, उसको बिजली देनेसे इनकार किया जाता है! और उसके पास

बिजली न होनेसे वहां उद्योग नहीं बढ़ाये जा सकते, यह भी उसे सुना दिया जाता है !! तमिल भाषाकी एक कहावत है कि 'शादी नहीं होती इसलिए लड़कीका पागलपन नहीं जाता, और पागलपन नहीं जाता इसलिए उसकी शादी नहीं होती'। ऐसी है यह स्थिति।

मैं उम्मीद रखता हूं कि राज्य सरकार द्वारा यह अन्याय दूर होगा और कारवार जिलेको शरावतीकी बिजली मिलेगी। अलावा इसके कारवारके पास ऊंच्छ्ळी, मागोड जैसे दूसरे भी छोटे बड़े तीन चार प्रपात हैं। शरावतीकी बिजली मिलने पर उसकी मददसे दूसरे प्रपातों पर भी जीन कसा जायेगा और कारवार जिलेमें बारिशकी तरह बिजलीकी भी समृद्धि होगी। जहां चार नदियां पहाड़की ऊंचाईसे नीचे गिरती हैं वहां आज नहीं तो कल मनुष्य तिजारती बिजली पैदा करने ही वाला है।

मुझे संतोष हुआ केवल इसीलिए कि शरावतीके पानीसे बिजली तैयार करने पर भी जोगके प्रपातका प्राकृतिक स्वरूप तनिक भी खंडित होनेवाला नहीं है। बांधके कारण चाहे जितना पानी रोकने पर भी नदीके सामान्य प्रवाहमें पानी कम नहीं होगा। बारिशका पानी भर देनेके बाद हमेशाका प्रवाह हमेशाकी ही तरह चलेगा। इसमें प्रवाहकी दिशा, गति या पानीका जत्था—किसी बातमें भी कमी नहीं आयेगी। उलटा, लाभ यह होगा कि गरमीके दिनोंमें हजारों सालसे जो प्रपात सूख जाता था वह, किसी दिन चाहने पर बांधके खजानेमेंसे पानी छोड़कर, चाहे जितने प्रचंड और तूफानी रूपमें प्रत्यक्ष किया जा सकेगा, जिसे देखकर आकाशके गरमीके उष्मपा देवता भी चकित हो जायेंगे।

बलिहारी है मानवी विज्ञानकी !

अप्रैल, १९४७

१५. गुर्जर-माता साबरमती

अंग्रेज सरकारके खिलाफ असहयोग पुकार कर महात्माजी स्वराज्यकी तैयारी कर रहे हैं। अहमदाबादमें गुजरात विद्यापीठकी स्थापना हुई है। स्वातंत्र्यवादी नौजवान महाविद्यालयमें शरीक हुए हैं। वे अपनी आकांक्षाएं और कल्पना-विलास व्यक्त करनेके लिए एक मासिक पत्रिका चाहते हैं। मेरे पास आकर वे पूछते हैं, "मासिक पत्रिकाका नाम क्या रखेंगे ?" वह जमाना ऐसा था जब चाचा (काका) को ही बुआका काम करना पड़ता था।

मैंने कहा, "मासिक पत्रिकाएं तो काफी प्रकाशित हो रही हैं। तुम दो-दो महीनोंमें, ऋतु-ऋतुमें, नये रूपसे प्रकट होनेवाली पत्रिका शुरू करो उसका नाम

रखो 'साबरमती'।" द्विमासिककी कल्पना तो पसंद आई। किन्तु 'साबरमती' नाम किसीको न भाया। 'साबरमती' तो है हमारी हमेशाकी परिचित नदी ! हम उसमें रोज स्नान करते हैं। उसमें क्या नावीन्य है कि हम यह नाम अपने नवचेतनवाले साहित्य-प्रवाहको दें ? मैंने कहा, "साबरमतीका प्रवाह सनातन है—इसीलिए नित्य-नूतन है।" मिसाल देनेकी दृष्टिसे मैंने दलील पेश की, "सिंध-हैदराबादके हमारे मित्रोंने अपनी कॉलेजकी पत्रिकाका 'फुलेली' नाम रखा है। 'फुलेली' सिंधुकी एक नहर है। हमारी यह अनाविला (कीचड़-रहित) साबरमती गांधीयुगकी प्रतीक बन सकती है। मेरी बात मान लो और साबरमती नाम अपना लो।"

युवकोंने मेरी आज्ञाका पालन करनेके लिए साबरमती नामको अपनाया, हालांकि वे चाहते थे इससे कोई अधिक जोशीला नाम।

मैंने नरहरिभाईसे कहा—"साबरमती गुजरातकी विशेष लोकमाता है। आबूके परिसरसे जिन नदियोंका उद्‌गम होता है उनमे यह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। उसका एक गद्यस्तोत्र लिख दीजिये।" उन्होंने उत्साहपूर्वक एक छोटासा, सुन्दर लेख लिख दिया। विद्यार्थियोंकी भावनाएं जाग्रत हुई। इस लोकमाताके प्रति उनमे भक्ति पैदा हुई देखकर मैने मौकेसे लाभ उठाया और विद्यार्थियोंसे कहा, "मेरा सुझाया हुआ नाम तुम लोग अनिच्छासे स्वीकार करो, यह मुझे पसन्द नही है। चाहो तो मैं दूसरा नाम सुझाता हू।" सबने एक ही आवाजमे जवाब दिया, "नही, नही, हम दूसरा नाम नही चाहते। 'साबरमती' ही सबसे सुन्दर है।"

मैंने कहा, "इसमे तो कोई संदेह ही नही है।"

० ० ०

मेरे नदी-पूजक हृदयने भारतकी अनेक नदियोंको समय समय पर अंजलियां अर्पित की हैं। सिंधुसे लेकर ब्रह्मपुत्रा और इरावती तक और दक्षिणमें पिनाकिनी तथा कावेरी तक, अनेक नदियोंको मैंने संस्मरणांजलियां दी हैं। किन्तु यह देखकर कि इनमें गुजरातकी ही मुख्य नदियां रह गयी हैं, मेरे कई पाठकोंने इसका कारण पूछा और गुजरातकी लोकमाताओंके बारेमें लिखनेकी आग्रहपूर्वक सूचना की।

मैंने कहा, "नदीके उपस्थानकी प्रेरणा मैं दे चुका हूं। अब गुजरातकी नदियोंके बारेमे गुजरातीमें कोई गुर्जरी-पुत्र लिखे, इसीमें औचित्य है।"

इसकी भी काफी राह देखी गयी और बार बार मुझे सूचना की गयी। किन्तु अन्तमें मेरी श्रद्धा सच्ची साबित हुई और गुजरात विद्यापीठके एक विद्यार्थी, वनस्पति-उपासक श्री शिवशंकरने गुजरातकी लोकमाताओंके बारेमें लिखना शुरू किया। यह काम किसी समय अवश्य पूरा होगा। मुझे संतोष है कि साबरमतीके प्रवाह-कुटुंबके बारेमें उन्होंने पर्याप्त लिखा है। इसलिए मुझे विस्तारपूर्वक लिखनेकी कोई आवश्यकता नही है। किन्तु जिस नदीके किनारे मैंने महात्माजीके और सब साथियोंके संपर्कमे २५—३० साल बिताये, उस नदीको श्रद्धांजलि अर्पण

करनेका कर्तव्य तो रह ही जाता था। उसे आह्लादपूर्वक पूरा करनेके लिए थोड़ासा लिखता हूं।

हमारे कवि हरेक नामको संस्कृत रूप देनेका प्रयत्न तो करेंगे ही। साबरमती-का संस्कृत शब्द बनाते समय उन्होंने 'साभ्रमति' शब्द खोज निकाला और फिर उसका दो तरहसे पदच्छेद किया। एक दलने बताया 'सा भ्रमति' भ्रमण करती है, टेढ़े-मेढ़े मोड़ लेती है। दूसरेने कहा कि इस नदीके प्रवाहके ऊपरके आकाशमें अभ्र—बादल दिखाई देते हैं; इसलिए वह अभ्रमति या 'साभ्र-मति' है। मेरा खयाल है कि यह सारा प्रयास मिथ्या है।

जिस नदीके किनारे गायोंके झुंड घूमते हैं, चरते हैं और पुष्ट होते हैं, वह जिस प्रकार या तो गो-दा (गोदावरी) या गो-मती होती है; जिस नदीके किनारे और प्रवाहमें बहुत पत्थर होते हैं, वह जिस प्रकार दृषद्-वती होती है, उसी प्रकार अनेक सरोवरोंको जोड़नेवाली या सारस पक्षियोंसे शोभनेवाली नदी सरस्-वती या सारस-वती कही जाती है। इसी न्यायसे भारतकी नदियोंको बाघ-मती, हाथ-मती, ऐरावती आदि अनेक नाम हमारे पूर्वजोंने दिये हैं। इनमें हाथमती तो साबरमतीसे ही मिलनेवाली नदी है। हिरन या साबर जिसके किनारे बसते हैं, लड़ते हैं और आजादीसे विहार करते हैं, वह है साबर-मती। उसका सम्बन्ध 'श्वभ्र' के साथ जोड़ देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

गुजरातकी नदियोंमें तीन-चार बड़ी नदियां आंतरप्रांतीय हैं। नर्मदा, तापी, मही—तीनों दूर दूरसे निकलकर पूर्वकी ओरसे आकर गुजरातमें घुसती हैं और समुद्रमें विलीन हो जाती हैं। साबरमती इनसे अलग है। आरवल्ली पहाड़में जन्म पाकर तथा अनेक नदियोंको साथमें लेकर दक्षिणकी ओर बहती हुई अंतमें वह सागरसे जा मिलती है। साबरमतीके जैसी कुटुंब-वत्सल नदियां हमारे देशमें भी अधिक नहीं हैं। साबरमतीको विशेष रूपसे गुर्जरी माता कह सकते हैं। उसके किनारे गुजरातके आदिम निवासी सनातन कालसे बसते आये हैं। उसके किनारे ब्राह्मणोंने तप किया है। राजपूतोंने कभी धर्मके लिए, तो बहुत बार अपनी बेव-कूफीसे भरी हुई जिदके लिए, वीर पुरुषार्थ कर दिखाया है। वैश्योंने इसके किनारे गांव और शहर बसाकर गुजरातकी समृद्धि बढ़ायी है और अब आधुनिक युगका अनुकरण करके शूद्रोंने भी साबरमतीके किनारे मिलें चलाई हैं।

सच पूछा जाय तो इन नदियोंके साथ घनिष्ठ संपर्क तो पशुपक्षियोंकी तरह आदिम निवासियोंका ही होता है। इसलिए साबरमतीके कुटुंब-विस्तारका काव्य यदि इकट्ठा करना हो तो पुराणोंकी ओर मुड़नेके बदले आदिम निवासियोंकी लोक-कथाओं और लोक-गीतोंकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये। डर यह है कि आजके संशोधक नवयुवकोंमें इस कामके लिए उत्साह पैदा हो और आदिम निवासी गिरिजनोंके साथ मिलजुल जानेके लिए वे समय निकाल सकें, उसके पहले ही

आदिम निवासियोंकी नदी-कथाएं कहीं लुप्त न हो जायं।

केवल नदी-भक्तिसे प्रेरित होकर आदिम निवासियोंका 'वौठा' का मेला जब तक होता है, तब तक बिलकुल निराश होनेका कोई कारण नहीं है। सात नदियोंका पानी क्रमश: एक-दूसरेमें मिलकर जिस जगह एकत्र होता है, उसके काव्यका आनंद भोगने या नहानेके लिए जहां आदिम निवासी तथा दूसरे लोग इकट्ठे होते हैं, वहां 'वौठा' में साबरमतीके बारेमें आदि-कथाएं हमें मिलनी ही चाहिये।

साबरमतीके पुराने नामोंकी खोज करते हुए कश्यपगंगा या ऐसा ही दूसरा एकाध नाम अवश्य मिल जायगा। नदीको किसी न किसी प्रकार गंगाका अवतार जब तक न बनायें तब तक आर्योंको संतोष नहीं होता। किन्तु मुझे तो साबरमतीका पुराना नाम 'चंदना' सबसे अधिक आकर्षित करता है। क्योंकि—जैसा मैंने सुना है—कही—कही पीली मिट्टीके बीचसे बहनेके कारण वह गोरोचनका रंग धारण करती है। किन्तु साबरमतीके जिस किनारे पर मैंने तीस साल बिताये वहां उसका पानी सज्जनों और महात्माओंके मनकी तरह बिलकुल निर्मल है।

जहां नदीका पानी छिछला होनेसे उस पार तक आसानीसे जाया जा सकता है; ऐसे स्थानको संस्कृतमें तीर्थ कहते हैं। अनेक स्थानों पर प्रयत्न कर देखनेके बाद यात्री लोग तय करते हैं कि अमुक अमुक जगह ऐसे घाट हैं। अत: थोड़ा बहुत चलकर वे ऐसे घाटके पास आते हैं, वहीं इकट्ठे होते हैं, बैठकर विश्रांति लेते हैं, बातचीत करते हैं और नदीका पानी यकायक बढ़ गया हो तो जब तक वह कम न हो जाय तब तक कुछ घंटों या कुछ दिनों तक वहां ठहरते भी हैं। इस प्रकार जहां स्वाभाविक रूपमें लोग इकट्ठे होते हैं, वहां धर्मसेवा और लोकसेवाके लिए परम कारुणिक संत आकर बस जाते हैं। इसीलिए तीर्थ शब्दको उसका नया अर्थ प्राप्त हुआ। मूलमें तीर्थ शब्दका अर्थ होता था केवल ऐसा घाट जहांसे नदीको आसानीसे पार किया जा सके। इससे अधिक अर्थ कुछ नहीं। किन्तु जहां साधु-सन्त लोगोंको भवनदी पार करनेकी नसीहत देते हैं और उसकी कला भी सिखाते हैं, उस तीर्थ स्थानको विशेष पवित्रता अपने आप प्राप्त होती है।

अहमदाबादके पास साबरमतीमें रेलवे-पुलसे लेकर सरदार-पुल तक और उसमे भी अधिक दक्षिणकी ओर कई तीर्थ हैं। उनमें भी जहां चंद्रभागा नदी साबरमतीसे मिलती है वहां दधीचिने तप किया था, इसलिए वह स्थान अधिक पवित्र माना जाता है। और आसपासके लोगोंने इहलोकको छोड़कर परलोक जानेवाले यात्रियोंको अग्निदाह देकर विदा करनेकी जगह भी वही पसन्द की है। इससे वह श्मशान घाट भी है। श्मशानके अधिपति दूधेश्वर महादेव वहां विराजमान हैं और इस महायात्राकी निगरानी करते हैं।

o o o

मुझे वह दिन याद है जब पूज्य गांधीजी अपने स्नेही रंगूनवाले डा० प्राणजीवन

मेहता तथा रणोलीके मेरे स्नेही नाथाभाई पटेलको साथमें लेकर आश्रमकी भूमि पसन्द करनेके लिए निकले थे। मैं भी साथ था। उस दिनसे इस भूमिके साथ मेरा सम्बन्ध बंध गया। इस स्थान पर पहली कुदाली मैंने ही चलाई। पहला खेमा भी मैंने ही खड़ा किया और उसके बाद अनेक तंबू भी खड़े किये। झोंपड़ियां बनाईं; मकान बंधवाये। खादीकी प्रवृत्ति, खेती और गोशालाकी प्रवृत्ति, राष्ट्रीय शाला, राष्ट्रीय त्यौहार, रास-नृत्य, लोक-संगीत तथा शास्त्रीय संगीत, 'नवजीवन' तथा 'यंग इंडिया', साहित्य-निर्माण, सत्याग्रह, मिल-मालिकोंके साथका मजदूरोंका झगड़ा और अंतमें ब्रिटिश साम्राज्यको जड़मूलसे उखाड़ फेंकनेके लिए शुरू किया गया दांडी-कूच—इन सब प्रवृत्तियोंका इस आश्रममें ही उद्भव हुआ और यहीं वे विकसित भी हुईं। रौलेट एक्टके खिलाफ आन्दोलन, उसमेंसे उत्पन्न हुए पंजाबके दंगे, जलियांवाला बाग, खेड़ा-सत्याग्रह, बारडोलीकी लड़ाई, गुजरात विद्यापीठकी स्थापना, कांग्रेसके अधिवेशन, देशके हरेक राजकीय, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक आन्दोलनका केन्द्र साबरमतीका यह किनारा था। साबरमतीकी रेतमें जब सभाएं होती थीं तब लाख लाख लोगोंकी भीड़ जम जाती थी। इस साबरमतीकी जीवनलीलाने केवल गुजरातका ही नहीं बल्कि सारे हिन्दुस्तानका जीवन बदल दिया। उस समयका वायुमंडल आज सारी दुनियाकी राजनीतिमें एक नया सिलसिला शुरू कर रहा है और नये युगकी नींव डाल रहा है।

इस साबरमतीके नीरमें हमने क्या क्या आनन्द नहीं मनाया है? आश्रमके कई लड़के-लड़कियोंको, और शिक्षकोंको भी, मैंने वहां तैरनेकी कला सिखाई है। उसकी रेतमें गीता और उपनिषदोंका चिंतनमनन किया है। गीता-पारायणके अनेक सप्ताह चलाये हैं। इस आश्रमभूमि पर खड़े करीब करीब सभी पेड़ हमारे हाथों ही बोये गये हैं।

वह रचनाकाल था ही अद्भुत। हरेक हृदयमें एक नई शक्तिशाली आत्मा आकर बसी थी। वह सबोंसे तरह तरहके काम ले सकी। केवल आहारके प्रयोग भी हमने वहां कम नहीं किये। कौटुंबिक जीवनके अनेक प्रकार आजमाये। शिक्षाका तंत्र अनेक बार बदला और उसमें भी कई दफा क्रांति की। और जीवनके हरेक पहलूके लिए हम नयी नयी स्मृतियां तैयार करते गये। इस सारे पुरुषार्थकी साक्षी साबरमती नदी है।

जब तक भारतका इतिहास दुनियाके लिए बोध-दायक रहेगा और भारतके इतिहासमें महात्मा गांधीका स्थान कायम रहेगा, तब तक साबरमतीका नाम दुनियाकी जबान पर अवश्य रहेगा।

मई, १९५५

१६. उभयान्वयी नर्मदा

हमारा देश हिन्दुस्तान महादेवजीकी मूर्ति है। हिन्दुस्तानके नक्शेको यदि उल्टा पकड़ें, तो उसका आकार शिवलिंगके जैसा मालूम होगा। उत्तरका हिमालय उसकी बुनियाद है, और दक्षिणकी ओरका कन्याकुमारीका हिस्सा उसका शिखर है।

गुजरातके नक्शेको जरा-सा घुमायें और पूर्वके हिस्से को नीचेकी ओर तथा सौराष्ट्रका छोर—ओखा मंडल—ऊपरकी ओर ले जायं तो यह भी शिवलिंगके जैसा ही मालूम होगा। हमारे यहां पहाड़ोंके जितने भी शिखर हैं, सब शिवलिंग ही हैं। कैलास* शिखरका आकार भी शिवलिंगके समान ही है।

इन पहाड़ोंके जंगलोंसे जब कोई नदी निकलती है, तब कवि लोग यह कहे बिना नही रहते कि 'यह तो शिवजीकी जटाओंसे गंगाजी निकली हैं!' चंद लोग पहाड़ोंसे आनेवाले पानीके प्रवाहको अप्सरा कहते हैं और चंद लोग पर्वतकी इन तमाम लड़कियोंको पार्वती कहते हैं।

ऐसी ही अप्सरा जैसी एक नदीके बारेमें आज मुझे कुछ कहना है। महादेवके पहाड़के समीप मेकल या मेखल पर्वतकी तलहटीमें अमरकंटक नामक एक तालाब है। वहांसे नर्मदाका उद्‌गम हुआ है। जो अच्छा घास उगाकर गौओंकी संख्यामें वृद्धि करती है, उस नदीको गो-दा कहते हैं। यश देनेवालीको यशो-दा और जो अपने प्रवाह तथा तटकी सुन्दरताके द्वारा 'नर्म' याने आनन्द देती है, वह है नर्म-दा। इसके किनारे घूमते-घामते जिसको बहुत ही आनन्द मिला, ऐसे किसी ऋषिने इस नदीको यह नाम दिया होगा। उसे मेखल-कन्या या मेखला भी कहतेहैं।

जिस प्रकार हिमालयका पहाड़ तिब्बत और चीनको हिन्दुस्तानसे अलग करता है; उसी प्रकार हमारी यह नर्मदा नदी उत्तर भारत अथवा हिन्दुस्तान और दक्षिण भारत या दक्खनके बीच आठ सौ मीलकी एक चमकती, नाचती, दौड़ती सजीव रेखा खींचती है। और कहीं इसको कोई मिटा न दे, इस खयालसे भगवानने इस नदीके उत्तरकी ओर विंध्य तथा दक्षिणकी ओर सतपुड़ाके लंबे-लंबे पहाड़ोंको नियुक्त किया है। ऐसे समर्थ भाइयोंकी रक्षाके बीच नर्मदा दौड़ती कूदती अनेक प्रांतोंको पार करती हुई भृगुकच्छ यानी भड़ौंचके समीप समुद्रसे जा मिलती है।

अमरकंटकके पास नर्मदाका उद्‌गम समुद्रकी सतहसे करीब पांच हजार फुटकी ऊंचाई पर होता है। अब आठ सौ मीलमें पांच हजार फुट उतरना कोई आसान काम नहीं है; इसलिए नर्मदा जगह-जगह छोटी-बड़ी छलांगें मारती है। इसी परसे हमारे कवि-पूर्वजोंने नर्मदाको दूसरा नाम दिया 'रेवा'। 'रेव्' धातुका अर्थ है कूदना।

जो नदी कदम-कदम पर छलांगें मारती है, वह नौका-नयनके लिए यानी

किश्तियोंके द्वारा दूर तककी यात्रा करनेके लिए कामकी नहीं। समुद्रसे जो जहाज आता है, वह नर्मदामें मुश्किलसे तीस-पैंतीस मील अंदर जा-आ सकता है। वर्षा ऋतुके अंतमें ज्यादासे ज्यादा पचास मील तक पहुंचता है।

जिस नदीके उत्तरकी और दक्षिणकी ओर दो पहाड़ खड़े हैं, उसका पानी भला नहर खोदकर दूर तक कैसे लाया जा सकता है? अतः नर्मदा जिस प्रकार नाव खेनेके लिए बहुत कामकी नहीं है, उसी प्रकार खेतोंकी सिंचाईके लिए भी विशेष कामकी नहीं है। फिर भी इस नदीकी सेवा दूसरी दृष्टिसे कम नहीं है। उसके पानीमें विचरनेवाले मगर और मछलियोंकी, उसके तट पर चरनेवाले ढोरों और किसानोंकी, और दूसरे तरह-तरहके पशुओंकी तथा उसके आकाशमें कलरव करनेवाले पक्षियोंकी वह माता है।

भारतवासियोंने अपनी सारी भक्ति भले गंगा पर उंड़ेल दी हो; पर हमारे लोगोंने नर्मदाके किनारे कदम-कदम पर जितने मंदिर खड़े किये हैं, उतने अन्य किसी नदीके किनारे नहीं किये होंगे।

पुराणकारोंने गंगा, यमुना, गोदावरी, कावेरी, गोमती, सरस्वती आदि नदियोंके स्नान-पानका और उनके किनारे किये हुए दानके माहात्म्यका वर्णन भले चाहे जितना किया हो, किन्तु इन नदियोंकी प्रदक्षिणा करनेकी बात किसी भक्तने नहीं सोची। जब कि नर्मदाके भक्तोंने कवियोंको ही सूझनेवाले नियम बनाकर सारी नर्मदाकी परिक्रमा या 'परिकम्मा' करनेका प्रकार चलाया है।

नर्मदाके उद्गमसे प्रारंभ करके दक्षिण-तट पर चलते हुए सागर-संगम तक जाइये; वहांसे नावमें बैठकर उत्तरके तट पर जाइये और वहांसे फिर पैदल चलते हुए अमरकंटक तक जाइये—एक परिक्रमा पूरी होगी। नियम बस इतना ही है कि 'परिकम्मा' के दरम्यान नदीके प्रवाहको कहीं भी लांघना नहीं चाहिये, न प्रवाहसे बहुत दूर ही जाना चाहिये। हमेशा नदीके दर्शन होने चाहिये। पानी केवल नर्मदाका ही पीना चाहिये। अपने पास धन-दौलत रखकर ऐश-आराममें यात्रा नहीं करनी चाहिये। नर्मदाके किनारे जंगलोंमें बसनेवाले आदिम निवासियोंके मनमें यात्रियोंकी धन-दौलतके प्रति विशेष आकर्षण होता है। आपके पास यदि अधिक कपड़े, बर्तन या पैसे होंगे, तो वे आपको इस बोझसे अवश्य मुक्त कर देंगे।

हमारे लोगोंको ऐसे अकिंचन और भूखे भाइयोंका पुलिसके द्वारा इलाज करने की बात कभी सूझी ही नहीं। और आदिम निवासी भाई भी मानते आये हैं कि यात्रियों पर उनका यह हक है। जंगलोंमें लूटे गये यात्री जब जंगलसे बाहर आते हैं; तब दानी लोग यात्रियोंको नये कपड़े और सीधा देते हैं।

श्रद्धालु लोग सब नियमोंका पालन करके—खास तौर पर ब्रह्मचर्यका आग्रह रखकर नर्मदाकी परिक्रमा धीरे-धीरे तीन सालमें पूरी करते हैं। चौमासेमें वे दो तीन माह कहीं रहकर साधु-संतोंके सत्संगसे जीवनका रहस्य समझनेका आग्रह

रखते हैं।

ऐसी परिक्रमाके दो प्रकार होते हैं। उनमें जो कठिन प्रकार है, उसमें सागरके पास भी नर्मदाको लाघा नही जा सकता। उद्गमसे मुख तक जानेके बाद फिर उसी रास्तेसे उद्गम तक लौटना तथा उत्तरके तटसे सागर तक जाना और फिर उसी रास्तेसे उद्गम तक लौटना। यह परिक्रमा इस प्रकार दूनी होती है। इसका नाम है जलेरी।

मौज और आरामको छोड़कर तपस्यापूर्वक एक ही नदीका ध्यान करना, उसके किनारेके मंदिरोंके दर्शन करना, आसपास रहनेवाले संत-महात्माओंके वचनोंको श्रवण-भक्तिसे सुनना, और प्रकृतिकी सुन्दरता तथा भव्यताका सेवन करते हुए जीवनके तीन साल बिताना कोई मामूली प्रवृत्ति नही है। इसमें कठोरता है, तपस्या है, बहादुरी है; अंतर्मुख होकर आत्म-चिंतन करनेकी और गरीबोके साथ एकरूप होनेकी भावना है; प्रकृतिमय बननेकी दीक्षा है; और प्रकृतिके द्वारा प्रकृतिमें विराजमान भगवानके दर्शन करनेकी साधना है।

और इस नदीके किनारेकी समृद्धि मामूली नही है। असंख्य युगोंसे उच्च कोटि के संत-महंत, वेदांती, संन्यासी और ईश्वरकी लीला देखकर गद्गद् होनेवाले भक्त अपना-अपना इतिहास इस नदीके किनारे बोते आये है। अपने खानदानकी शान रखनेवाले और प्रजाकी रक्षाके लिए जान कुरबान करनेवाले क्षत्रिय वीरोने अपने पराक्रम इस नदीके किनारे आजमाये हैं। अनेक राजाओंने अपनी राजधानीकी रक्षा करनेके हेतुसे नर्मदाके किनारे छोटे-बड़े किले बनवाये हैं। और भगवानके लिए उपासकोने धार्मिक कलाकी समृद्धिका मानो संग्रहालय तैयार करनेके लिए जगह-जगह मंदिर खड़े किये हैं। हरेक मंदिर अपनी कलाके द्वारा आपके मनको खीचकर अंतमे अपने शिखरकी उगली ऊपर दिखाकर अनंत आकाशमे प्रकट होनेवाले मेघश्यामका ध्यान करनेके लिए प्रेरित करता है।

जिस प्रकार 'अजान' की आवाज सुनकर खुदापरस्तोको नमाजका स्मरण होता है, उसी प्रकार दूर-दूरसे दिखाई देनेवाली मन्दिरोंकी शिखररूपी चमकती उंगलियां हमे स्तोत्र गानेके लिए प्रेरित करती है।

और नर्मदाके किनारे शिवजी या विष्णुका, रामचंद्र या कृष्णचंद्रका, जगत्पति या जगदंबाका स्तोत्र शुरू करनेसे पहले नर्मदाष्टकसे प्रारंभ करना होता है— 'सबिंदुसिंधु सुस्खलत् तरंगभंग-रंजितम्'। इस प्रकार जब पंचचामरके लघु-गुरु अक्षर नर्मदाके प्रवाहका अनुकरण करते हैं, तब भक्त लोग मस्तीमें आकर कहते हैं, 'हे माता! तेरे पवित्र जलका दूरसे दर्शन करके ही इस संसारकी समस्त बाधाएं दूर हो गयी—'गतं तदैव मे भयं त्वदम्बु वीक्षितं यदा'। और अंतमें भक्तिलीन होकर वे नमस्कार करते हैं—'त्वदीय पाद-पंकजं नमामि देवि! नर्मदे!'।

हमें यह भूलना नही चाहिये कि जिस प्रकार नर्मदा हमारी और हमारी

प्राचीन संस्कृतिकी माता है, उसी प्रकार वह हमारे भाई आदिम निवासी लोगोंकी भी माता है। इन लोगोंने नर्मदाके दोनों किनारों पर हजारों साल तक राज्य किया था, कई किले भी बनवाये थे और अपनी एक विशाल आरण्यक संस्कृति भी विकसित की थी।

मुझे हमेशा लगा है कि हिन्दुस्तानका इतिहास प्रातोंके अनुसार या राज्योके अनुसार लिखनेके बजाय यदि नदियोंके अनुसार लिखा गया होता, तो उसमे प्रजा-जीवन प्रकृतिके साथ ओतप्रोत हो गया होता और हरेक प्रदेशका पुरुषार्थी वैभव नदीके उद्‌गमसे लेकर मुख तक फैला हुआ दिखाई देता। जिस प्रकार हम सिन्धुके किनारेके घोड़ोंको सैंधव कहते है, भीमाके किनारेका पोषण पाकर पुष्ट हुए भीम-थडीके टट्टुओंकी तारीफ करते हैं, कृष्णाकी घाटीके गाय-बैलोंको विशेष रूपसे चाहते है, उसी प्रकार पुराने समयमे हरेक नदीके किनारे पर विकसित हुई संस्कृति अलग-अलग नामोसे पहचानी जाती थी।

इसमे भी नर्मदा नदी भारतीय संस्कृतिके दो मुख्य विभागोकी सीमा रेखा मानी जाती थी। रेवाके उत्तरकी ओरकी पचगौड़ोकी विचार-प्रधान सस्कृति और रेवाके दक्षिणकी ओरकी द्रविड़ोकी आचार-प्रधान सस्कृति मुख्य मानी जाती थी। विक्रम सवत्‌का काल-मान और शालिवाहन शकका काल-मान, दोनो नर्मदाके किनारे सुनाई देते है और बदलते है।

मैने कहा तो सही कि नर्मदा उत्तर भारत तथा दक्षिण भारतके बीच एक रेखा खीचनेका काम करती है; किन्तु उसके साथ मुकाबला करनेवाली दूसरी भी एक नदी है। नर्मदाने मध्य हिन्दुस्तानसे पश्चिम किनारे तक सीमा-रेखा खीची है। गोदावरीने यों मानकर कि यह ठीक नही हुआ, पश्चिमके पहाड़ सह्याद्रिसे लेकर पूर्व-सागर तक अपनी एक तिरछी रेखा खीची है। अतः उत्तरकी ओरके ब्राह्मण संकल्प बोलते समय कहेगे—"रेवायाः उत्तरे तीरे;" और पैठणके अभिमानी हम दक्षिणके ब्राह्मण कहेगे—"गोदावर्याः दक्षिणे तीरे।" जिस नदीके किनारे शालि-वाहन या शातवाहन राजाओंने मिट्टीमेसे मानव बनाकर उनकी फौजके द्वारा यवनोको परास्त किया उस गोदावरीको संकल्पमे स्थान न मिले, यह भला कैसे हो सकता है?

० ० ०

नर्मदा नदीकी 'परिकम्मा' तो मैने नही की है। अमरकंटक तक जाकर उसके उद्‌गमके दर्शन करनेका मेरा संकल्प बहुत पुराना है। पिछले वर्ष विन्ध्यप्रदेशकी राजधानी रीवा तक हम गये भी थे। किन्तु अमरकटक नही जा सके। नर्मदाके दर्शन तो जगह-जगह किये हैं। किन्तु उसके विशेष काव्यका अनुभव किया जबलपुर-के पास भेड़ाघाटमे।

भेड़ाघाटमें नावमें बैठकर संगमरमरकी नीली-पीली शिलाओके बीचसे जब हम जलविहार करते हैं, तब यही मालूम होता है मानो योगविद्यामें प्रवेश करके मानवचित्तके गूढ़ रहस्योंको हम खोल रहे हैं। इसमें भी जब हम बंदरकूदके पास पहुंचते हैं, और पुराने सरदार यहां घोड़ोंको इशारा करके उस पार तक कूद जाते थे आदि बातें सुनते हैं, तब मानो मध्यकालका इतिहास फिरसे सजीव हो उठता है।

इस गूढ़ स्थानके इस माहात्म्यको पहचानकर ही किसी योगविद्याके उपासक-ने समीपकी टेकरी पर चौंसठ योगिनियोंका मंदिर बनवाया होगा और उनके चक्रके बीच नंदी पर विराजित शिव-पार्वतीकी स्थापना की होगी। इन योगिनियों-की मूर्तियां देखकर भारतीय स्थापत्यके सामने मस्तक नत हो जाता है और ऐसी मूर्तियोंको खंडित करनेवालोंकी धर्मांधताके प्रति ग्लानि पैदा होती है। मगर हमे तो खडित मूर्तियोंको देखनेकी आदत सदियोंसे पड़ी हुई है !!

° ° °

धुआंधार प्रकृतिका एक स्वतंत्र काव्य है। पानीको यदि जीवन कहें तो अधः-पातके कारण खंड-खंड होनेके बाद भी जो अनायास पूर्वरूप धारण करता है और शांतिके साथ आगे बहता है, वह सचमुच जीवनतम कहा जायगा। चौमासेमें जब सारा प्रदेश जलमग्न हो जाता है, तब वहां न तो होती है 'धार' और न होता है उसमेंसे निकलनेवाला ठंडी भापके जैसा 'धुआ'। चौमासेके बाद ही धुआंधारकी मस्ती देख लीजिये। प्रपातकी ओर टकटकी लगाकर ध्यान करना मुझे पसन्द नहीं है, क्योंकि प्रपात एक नशीली वस्तु है। इस प्रपातमें जब धोबीघाट परके साबुनके पानीके जैसी आकृतियां दिखाई देती हैं और आसपास ठडी भापके बादल खेल खेलते हैं, तब जितना देखते हैं उतनी चित्तवृत्ति अस्वस्थ होती जाती है। यह दृश्य मन भरकर देखनेके बाद लौटते समय लगता है, मानो जीवनके किसी कठिन प्रसंगमेंसे हम बाहर आये हैं और इतने अनुभवके बाद पहलेके जैसे नही रहे है।

° • •

इटारसी-होशंगाबादके समीपकी नर्मदा बिलकुल अलग ही प्रकारकी है। वहां-के पत्थर जमीनमें तिरछे गड़े हुए हैं। किस भूकंपके कारण इन पत्थरोंके स्तर ऐसे विषम हो गये हैं, कोई नहीं बता सकता। नर्मदाके किनारे भगवानकी आकृति धारण करके बैठे हुए पाषाण भी इस विषयमें कुछ नही बता सकते।

और वही नर्मदा जब शिरोवेष्टनके साफेके समान लंबे किन्तु कम चौड़े भड़ौंचके किनारेको धो डालती है और अंकलेश्वरके खलासियोंको खेलाती है, तब वह बिलकुल निराली ही मालूम होती है।

० ० ०

कबीरवड़के पास अपनी गोदमें एक टापूकी परवरिश करनेका आनंद जिसे एक बार मिला, वह सागर-संगमके समय भी इसी तरहके एक या अनेक टापू-बच्चोंकी परवरिश करें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

कबीरवड़ हिन्दुस्तानके अनेक आश्चर्योंमेंसे एक है। लाखों लोग जिसकी छायामे बैठ सकते है और बड़ी-बड़ी फौजें जिसकी छायामें पड़ाव डाल सकती है, ऐसा एक वट-वृक्ष नर्मदाके प्रवाहके बीचोंबीच एक टापूमे पुराण पुरुषकी तरह अनंतकालकी प्रतीक्षा कर रहा है। जब बाढ़ आती है, तब उसमें टापूका एकाध हिस्सा बह जाता है, और उसके साथ इस वट-वृक्षकी अनेक शाखाएं तथा उन पर-से लटकनेवाली जड़ें भी बह जाती हैं। अब तक कबीरवड़के ऐसे बंटवारे कितनी बार हुए, इतिहासके पास इसकी नोध नही है। नदी बहती जाती है, और बडकी नई-नई पत्तियां फूटती जाती है ! सनातन काल वृद्ध भी है और बालक भी है। वह त्रिकालज्ञानी भी है और विस्मरणशील भी है।

इस काल-भगवानका और कालातीत परमात्माका अखंड ध्यान करनेवाले ऋषि-मुनि और संत-महात्मा जिसके किनारे युग-युगसे बसते आये हैं, वह आर्य अनार्य सबकी माता नर्मदा भूत-भविष्य-वर्तमानके मानवोंका कल्याण करे। जय नर्मदा, तेरी जय हो !

अगस्त, १९५५

१७. संध्यारस

गौरीशंकर[1] तालाबका दर्शन यकायक होता है। हमने बगीचेमें जाकर पेड़ोंकी शोभा देख ली, चीनी तश्तरीके टुकडोंसे बनाये हुए निर्जीव हाथी, घोड़े और शेरोका रुआब देखकर तथा पेड़ोके बीच मौज करनेवाले सजीव पक्षियोंका कलरव सुनकर तालाबके किनारे पहुचे; सीढ़ियां चढ़ने लगे; और ठंडे पवनकी शांति अनुभव करनें लगे; तो भी खयाल नही हुआ कि यहां पर तालाब होगा। आखिरी (यानी ऊपरकी) सीढ़ी पर पांव रखा कि यकायक मानो आकाशको चीरकर कोई अप्सरा प्रकट हुई हो, इस प्रकार सरोवरका नीर हमारे सामने सस्मित वदनसे देखने लगता है। आप भले अकेले ही सरोवरका दर्शन करने आयें, परन्तु आप वहां अकेले नही रहेगे। आप देखेंगे कि आकाशके बादल और सबसे जल्दी दौड़कर आयी हुई संध्या-तारिकायें भी आपके साथ ही सरोवरकी शोभाको निहार रही हैं।

१. सौराष्ट्रमे भावनगरका बोर तालाब

सरोवर तो हमेशा नीची सतह पर होते हैं। पहाड़से उतरकर नीचे आते हैं तभी हम सरोवरके जलमें पांवोंका प्रक्षालन कर पाते हैं। किन्तु यह तो मानो गंधर्व सरोवर है; मानो बादल पिघलकर टेकरीके सिर पर छलक रहे हैं!

उस पारका किनारा दिखाई दे ऐसा सरोवर भला किसे पसन्द आयेगा? इतना सारा पानी कहांसे आता है, ऐसी अतृप्त जिज्ञासा जिसके साथ न हो, उसके सौंदर्यमें दैवी गूढ़ भाव कैसे हो सकता है? रेलवे लाइन भी बिलकुल सीधी हो तो हमें पसन्द नहीं आती। चढ़ाव हो, उतार हो, दाईं या बाईं ओर मोड़ हो, तभी वह फबती है। सरोवर कोई प्रपात नहीं है कि वह ऊंचे-नीचेकी क्रीड़ा दिखाये। गौरीशंकर चारों ओर टेकरियोंसे घिरा हुआ है। किन्तु ये टेकरियां मौतकी परवाह न करनेवाले वीरोंकी भांति भीड़ करके खड़ी नहीं हैं। इसलिए पानीको इधर-उधर सभी जगह फैलनेके लिए अवकाश मिला है।

सरोवरके बांध परसे पश्चिमकी ओर देखने पर पानीमें भांति-भांतिके रंग फैले हुए दिखाई देते हैं, मानो किसी अद्‌भुत उपन्यासमें नवों रस गूंथे गये हों। पांवके नीचे आत्महत्याका गहरा हरा रंग मानो हर क्षण हमें अंदर बुलाता है। इसमें भी सभी जगह समानता नहीं है। कहीं मेंहदीकी पत्तियोंकी तरह गाढ़ा, तो कहीं नीमकी पत्तियोंकी तरह गहरा। काफी देखनेके बाद लगता है कि यह पानी-का रंग नहीं है, बल्कि पानीमें छिपा हुआ स्वतंत्र जहर है। कुछ आगे देखने पर बादामी रंग दीख पड़ता है, मानो निराशामेंसे आशा प्रकट होती हो। रंग तो है बादामी, किन्तु उसमें धातुकी चमक है। आगे जाकर वही रंग कुछ रूपांतर पाकर नारंगी रंगके द्वारा संध्याका उपस्थान करता हुआ दिखाई देता है। बादलोंकी जामुनी छाया बीचमें यदि न आई होती तो पता नहीं इस ओरके नारंगी और उस ओरके सुनहरे रंगके बीच कैसी शोभा प्रकट होती!

हमारा ध्यान सुनहरे रंगकी ओर जाता है उसके पहले ही मंद-मंद बहता हुआ पवन जलपृष्ठ पर वीचिमाला उत्पन्न करके हमसे कहता है, 'सुनिये, यह समयो-चित स्रोत!' सामनेकी टेकरीने सिर ऊंचा न किया होता तो यह रसवती पृथ्वी कहां पूरी होती है, और निःशब्द आकाश कहां शुरू होता है, यह जानना किसी पंडितके लिए भी कठिन हो जाता।

बाईं ओर काट-छांट की हुई मेंहदीकी बाड़ है। सुघड़ बाड़ किसे पसंद न होगी? किन्तु शृंगार-साधिका मेंहदीका शिरच्छेद मुझे असह्य मालूम हुआ। दाहिनी ओर ठंडे पड़े हुए किन्तु गाढ़ न हुए सूर्यके तेजके समान सरोवर और बाईं ओर नीचे घनी-छिछली झाड़ी! ऐसे परस्पर भिन्न रसोंके बीचसे जनककी तरह योग-युक्त चित्तसे हम आगे बढ़े। वहां मिला एक निराधार सेतु। संस्कृत कवियोंने उसे देखा होता तो वे उसका नाम शिक्य-सेतु ही रखते। ऐसे सेतुओंकी खोज पहले-पहल हिमालयके वनेचरोंने ही की होगी। यह निराधार पुल हमें धीरे-धीरे ले

जाता है पानीके बीच तप करनेवाले ऋषि-जैसे एक द्वीपके जटाभारमें। पुलके बीचों-बीच पहुंचने पर आतिथ्यशील जल चेतावनी देता है : 'सावधानीसे चलिये, सावधानीसे चलिये।' और योग्य अवसर मिलने पर पादप्रक्षालन करनेमें भी नही चूकता।

और वह द्वीप? वह तो नीरव शांतिकी मूर्ति है। पानीमें चांद इतना खिल-खिलाकर हंसता है, फिर भी उसकी प्रतिध्वनि कही सुनाई नही देती। मानो प्रकृतिको डर मालूम होता है कि कही ध्यानी मुनिकी शांतिमे खलल न पड़े। इस बेटमे न तो सांप है, न गिरगिट। पक्षी हीं तो वे अब अपने घोसलोमें निश्चित सो गये है। आतिथेय मंडपके नीचे हम विराजमान हुए। अब तो पानीके ऊपर अज्ञात या गूढ अंधकारकी छाया फैलने लगी थी। अष्टमीकी चांदनी सीधी पानीमे उतर रही थी। सिर्फ जातिवैरी सुर-असुरोंके गुरु दीर्घ विग्रहसे ऊबकर पश्चिमकी ओर चमक रहे थे, मानो समझौता करनेके लिए इकट्ठे हुए हों। प्रकाश और अंधकार-की संधि करनेका प्रयत्न संध्याने अनेक बार किया है। इसमे यदि वह कभी कामयाब हो सके तो ही सुर-असुरोंके बीच हमेशाके लिए समाधान हो सकेगा। देखिये, दोनोके गुरु अपनी दिशाको बदलकर अपनी स्वभावोचित गतिसे जा रहे है और संध्याकी रक्त कालिमा दोनोंको किसी पक्षपातके बिना घेर रही है। जो हमेशा विग्रह ही चलाता है, उसका अस्त तो होने ही वाला है।

अब पानीने अपना रंग बदला। अब तक पानीके पृष्ठ पर चांदीके बनाये हुए रास्तोंके समान जो पटे बिना कारण दिखाई देते थे वे अब दिखने बंद हुए। खेल काफी हो चुका है, अब गंभीरताके साथ सोचना चाहिये, ऐसा कुछ विचार आनेसे पानीकी मुखमुद्रा अंतर्मुख हो गई। टेकरियां ऐसी दिखाई देने लगी मानो प्रेतलोक-के वासनादेह विचरते हो। विस्तीर्ण शांति भी कितनी बेचैन कर सकती है, इस बातका खयाल यहां पूरा-पूरा हो आता है। सब टेकरियां मानो हमारी एक आवाज सुननेकी ही राह देख रही है। इसमे कोई संदेह नहीं रहता कि जरासी आवाज देने पर वे 'हां, हां! अभी आई, अभी आई।' कह कर दौड़ती हुई आयेंगी। किन्तु उन्हें बुलानेकी हिम्मत ही कैसे हो? क्या वे टेकरियां मध्यरात्रिके समय, कोई न देख रहा हो तब, कपड़े उतारकर सरोवरमे नहानेके लिए उतरती होंगी? आज तो वे नहीं उतरेंगी, क्योंकि दुर्विनीत चन्द्रमा मध्यरात्रि तक सरोवरमे टकटकी बाध-कर देखता रहेगा। और मध्यरात्रिके पहले ही शिशिरकी ठंडका साम्राज्य शुरू होनेवाला है। फिर पता नही, उषःकालके पहले माघस्नान करनेकी इच्छा इन्हें होगी या नहीं। ऐसे किसी पुण्यसंचयके बिना टेकरियोंको भी इतनी स्थिरता कैसे प्राप्त हुई होगी?

कोई पुल परसे निकला। पानीमें उससे खलबली मचती है, और उसमेंसे निकलनेवाली लहरोंके वर्तुल दूर-दूर तक दौड़ते हैं। लोग अपने-अपने गांवोंमें रहते

हैं फिर भी जिस तरह खबरें उनके द्वारा दूर-दूरकी यात्रा करती हैं, उसी तरह पुलके पास जो क्षोभ शुरू हुआ वह किनारे तक पहुंचने ही वाला है। शरीरमें एक जगह चोट लगनेसे जैसे सारे शरीरको उसका पता चल जाता है, वैसी पानीकी भी बात है। पानीकी शांतिमें यदि भंग हो तो उसके परिणामस्वरूप उसके उदरमें प्रतिबिंबित हुआ सारा ब्रह्मांड डोलने लगता है।

अब सितारोंका रास शुरू हुआ। पानीमें उसका अनुकरण चलता दीख पड़ता है। किन्तु भूलोकका ताल तो अलग ही है।

फरवरी, १९२७

१८. रेणुकाका शाप

रेणुका का मतलब है रेत। उसके शापसे कौनसी नदी सूख नहीं जायगी? गयाकी नदी फलगु भी इस तरह अंतःस्रोता हो गई है न! फिर वढवाणके पासकी भोगावो भी ऐसी क्यों न हो? सौराष्ट्रमें भोगावो (बरसातके बाद सूखनेवाली नदियां) बहुत हैं। क्या हरेकको किसी न किसी राणकदेवीका शाप लगा होगा? शेत्रुंजी, भादर, मच्छु, आजी, रंगमती, मेगळ—चारों दिशाओंमें बहनेवाली इन नदियोंमें कितनी नदियां ऐसी हैं, जिनमें बारह मास पानी बहता हो? खंडस्थ भारतवर्षसे सौराष्ट्र (काठियावाड़) अनेक प्रकारसे अलग मालूम होता है। उसका आकार भी कितना है! चोटीला या बरडा, शेत्रुंजा या गिरनार पर्वत भला पानी देगा भी तो कितना देगा? और उनकी लड़कियां भी खींच-खींचकर आखिर कितना पानी लायेंगी? नीलगिरि और सह्याद्रि, सतपुड़ा और विंध्याद्रि, हिंदूकुश और हिमालय, नागा, खासी और ब्रह्मी योमा जैसे समर्थ पर्वतराजोंको ही बादलोंका मुख्य करभार मिलता है। उनकी लड़कियां गौरवसे कैसी अलस-लुलित होकर चलती हैं! उनके मुकाबलेमें बेचारी काठियावाड़ी नदियां क्या हैं? पानी बरसा कि बहने लगीं। बरसात बन्द हुई कि असमंजसमें पड़कर सूख गईं।

हरेक नदीने एक-दो एक-दो शहरोंको आश्रय दिया है। भोगावोके कारण वढवाण (अब सुरेन्द्रनगर) की शोभा है। राणकदेवीका शाप अगर न लगा होता तो इस नदीका मुख कितना उज्ज्वल मालूम होता! अंत्यजोंका शाप लेकर आगेके लोग भविष्यमें उसकी क्या दशा करनेवाले हैं। शेत्रुंजीकी वक्रता देखनी हो तो उसके वीर (भाई) के शिखर परसे देख लीजिये। कुंदनके समान पीली घास उगी हुई है, दूर-दूर तक गालीचोंके समान खेत फैले हुए हैं और बीचमेंसे शेत्रुंजी धीमे-धीमे अपना रास्ता काटती जा रही है। शेत्रुंजीकी यह चाल संस्कारी और चित्ताकर्षक है।

और मेगळका नाम मेगळ (=मयगळ ?) क्यों पड़ा होगा ? क्या देवधरामें मगरने किसी हाथीको पकड़ रखा होगा इसलिए ? या समुद्र और उसके बीच आने वाले ऊंचे सिकता-पट पर वह सिर पटकती हैं इसलिए ? समुद्रसे मिलनेका हक तो हरेक नदीको है ही। किन्तु बेचारी मेगळके भाग्यमें सालमे आठ महीनों तक खंडिताकी तरह अपने पतिके दूरसे ही दर्शन करना बदा है। वर्षा ऋतुमें जब समुद्र-से भी रहा नहीं जाता तभी इन दोनोंका संगम होता है। चोरवाड़के लोगोंको इस संगम पर ही स्मशान बनानेकी क्यों सूझी होगी ? या कैसे कह सकते हैं कि इसमें भी औचित्य नही है ? स्मशान भी तो इहलोक और परलोकका संगम ही है न !

भादर ही एक ऐसी नदी है, जिसके लिए काठियावाड़ गर्व कर सकता है। भादरका असली नाम क्या होगा ? भाद्रपदी या भद्रावती ? 'बहादुर' तो हरगिज नही होगा। इस नदीकी प्रतिष्ठा बहुत है। जेनपुर, नवामढ़ और नवीबंदर जैसे स्थान उसके तट पर खड़े हैं। नवीबंदर जब बसा होगा तब उसको 'नवी' (=नयी) नाम देनेवाले पुरुषोंके दिलमे कितनी आकांक्षा, कितना उत्साह होगा ! पोरबंदरसे भी यह श्रेष्ठ होगा, बड़े-बड़े जहाज दूर-दूरके देशोंका माल देशके अंदर पहुचायेंगे ! दैव यदि अनुकूल होता तो क्या भादर टेम्स नदीकी प्रतिष्ठा न पाती ? किन्तु नदीकी प्रतिष्ठा तो उसके पुत्रोंके पुरुषार्थ पर निर्भर है। आज भादरको हिन्दुस्तान-की पश्चिम-वाहिनी नदियोंका नेतृत्व मिला है यही काफी है।

रंगमती, आजी और मच्छु नदिया चाहे जितनी परोपकारी हों और नवानगर, राजकोट और मोरबीके वैभवको वे भले अखंड रूपमे निहारती हों, फिर भी उन्हें सागरको छोड़कर छोटे अखातको ही ब्याहना पड़ा है।

काठियावाड़की इन सब नदियोंने देशी रियासयोंकी करतूतोंको तथा प्रपंचोंको पुराने जमानेसे देखा होगा। मगर काठियावाड़के भिन्न-भिन्न विभागोंके विशिष्ट रीति-रिवाजोंका दर्शन यदि वे हमें करा दें तो वह कथा रोचक जरूर होगी।

सौराष्ट्रकी नदियोंका पानी पीनेवाले किसी पुत्रका यह काम है कि वह इन नदियोके मुंहसे उनका अपना-अपना अनुभव सुनवावे।

१९२६—२७

१९. अंबा-अंबिका

भीष्म-पितामह अंबा-अंबिका नामक दो राजकन्याओंको जीतकर राजा विचित्रवीर्यके पास ले आये। कन्याओंने साफ-साफ कह दिया, 'हमारा मन दूसरी जगह बैठा हुआ है।' विचित्रवीर्य अब इनसे विवाह कैसे करे ? और जिसमें इनका मन चिपका था वह राजा भी जीती हुई कन्याओंका स्वीकार किस प्रकार करे ?

बेचारी राजकन्याओंको कोई पति नहीं मिला और वे झुर-झुर कर मर गयीं।

गरमीके दिनोंमें आबूके पहाड़ परसे सरस्वती और बनास नदियोके दर्शन किये थे। वे बेचारी समुद्र तक पहुंच ही न पाईं। बीचमें कच्छके रेगिस्तानमें ही झुर-झुर कर लुप्त हो गयी है। अंबा-अंबिकाकी तरह कौमार्य, सौभाग्य और वैधव्यमेसे एक भी स्थिति इनके लिए नही रही। गुजरात और राजपूतानाके इतिहासमे इन नदियोंका कितना भी महत्त्व क्यों न हो, राजा कर्णके दो आंसुओंके अलावा हम उन्हें क्या दे सकते हैं?

१६२६—'२७

२०. लावण्यफला लूनी

खारची (मारवाड़ जंक्शन) से सिंधु हैदराबाद जाते हुए लूनी नदीका दर्शन अनेक वार किया है। ऊंटोंके स्वदेश जोधपुर जानेका रास्ता लूनी जंक्शनसे ही है; इसलिए भी इस नदीका नाम स्मृतिपट पर अंकित है। यहांके स्टेशन पर हिरणके अच्छे-अच्छे चमड़े सस्ते मिलते थे। ऐसे मुलायम मृगाजिन यहांसे खरीदकर मैंने अपने कई गुरुजनोंको और प्रियजनोंको ध्यानासनके तौर पर भेंट दिये थे। पता नही कि चमड़ेके इस उपयोगसे हिरणोंको उनके ध्यानका कुछ पुण्य मिला या नही।

लूनीका नाम सुनते ही हृदय पर विषाद छा जाता है। यों तो सब-की-सब नदिया अपना मीठा जल लेकर खारे समुद्रसे मिलती है। और इसी तरह अपने पानीको सडनेसे बचाती हैं। लेकिन सागरका संगम होने तक नदीका पानी मीठा रहे यही अच्छा है। बेचारी लूनीका न सागरसे संगम होता है, और न आखिर तक उसका पानी मीठा ही रहता है।

अगर यह नदी सांभर सरोवरसे निकली होती तो उसका खारापन हम माफ कर देते। लेकिन उसका उद्गम है अजमेरके पास अरवली, आरावली या आड़ावलीकी पहाड़ियोंसे। वहां भी उसे सागरमती कहते है! वह गोविन्दगढ़ तक पहुंच गयी तो वहां पुष्कर सरोवरका पवित्र जल लाकर सरस्वती नदी उससे मिलती है।

लूनीका असली नाम था लवणवारि। उसका अपभ्रंश हो गया लोणवारी, और आज लोग उसे कहते हैं लूनी। अजमेरसे लेकर आबू तक जो आरावलीकी पर्वत श्रेणी फैली हुई है, उसका पश्चिमका सारा पानी छोटे-बड़े स्रोतोंके द्वारा लूनीको मिलता है। इस पानीकी बदौलत जोधपुर राज्यका आधा भाग अपनी द्विदल धान्यकी खेती करता है। सिंघाड़ेकी उपज भी यहां कम नही है। जहां-जहां लूनीकी बाढ़ पहुंचती है, वहां—वहां किसान उसे आशीर्वाद ही देते हैं।

जब लूनी बालोतरा पहुंचती है तब उसका भाग्य—सौभाग्य नही किन्तु दुर्भाग्य, उस पर सवार होता है। जहां जमीन ही खारी है वहां बेचारी नदी क्या करे ?

जोधपुरके राजा जसवंतसिंहको सद्‌बुद्धि सूझी। उसने लूनी नदीका पानी खारा होनेके पहले ही, बिलाड़ाके पास एक बड़ा बांध बाध दिया और बाईस वर्ग-मीलका एक बडा विशाल, मनुष्य-कृत सरोवर बना दिया। तेरह हजार वर्गमील-का पानी इस सरोवरमे इकट्ठा होता है। इसकी गहराई अधिक-से-अधिक चालीस फुटकी है। इस सरोवरका नाम 'जसवंत-सागर' रखा सो तो ठीक ही है, क्योकि राजाने उसे बनाया। अगर किसानोसे पूछा जाता तो वे उसे 'लूनी-प्रसाद' कहते।

अपनी दो सौ मीलकी यात्राके अन्तमे यह नदी कच्छके रणमे अपने भाग्यको कोसते-कोसते लुप्त हो जाती है। इसके तीनों मुख नमकसे इतने भरे हुए रहते है कि समुद्र भी इसके पानीका आचमन करनेमे संकोच करता है।

अब देखना है कि लूनी, सरस्वती, बनास और ऐसी ही दूसरी नदिया जिस श्रद्धासे अपना जल कच्छके रणमे छोड़ देती है, उस श्रद्धाका फल उन्हें कब मिलता है और रणका परिवर्तन उपजाऊ भूमिमे कब हो जाता है। आज लूनी नदी करीब-करीब पाकिस्तानकी सरहद तक पहुच जाती है और कच्छके रणको दिन-ब-दिन अधिक खारा करती जाती है! ऐसी लवण-प्रधान, लवण-समृद्ध नदीको अगर हम 'लावण्यवती' कहें तो वैयाकरण उस नामको जरूर मान्य करेंगे।

काव्यरसिक क्या कहेंगे इसका पता नही।

१९५७

२१. उंचल्लीका प्रपात

जोगके बिलकुल ही सूखे प्रपातके इस बारके दर्शनका गम हलका करनेके लिए दूसरा एकाध भव्य और प्रसन्न दृश्य देखनेकी आवश्यकता थी ही। कारवार जिले-के सर्वसंग्रह—गॅजेटियर—के पन्ने उलटते-उलटते पता चला कि जोगसे थोड़ा ही घटिया उंचळ्ळी नामक एक सुन्दर प्रपात शिरसीसे बहुत दूर नही है। लशिंग्टन नामक एक अंग्रेजने सन् १८४५ में इसकी खोज की थी, मानो उसके पहले किसीने इसे देखा ही न हो! अंग्रेजोंकी आंखो पर वह चढ़ा कि दुनियामे उसकी शोहरत हो गयी!

यह उंचळ्ळी कहां है! वहां किस ओरसे जाया जा सकता है? हम कैसे जायें? हमारे कार्यक्रममें वह बैठ सकता है या नहीं? आदि पूछताछ मैंने शुरू कर

दी। श्री शंकरराव गुलवाड़ीजीने देखा कि अब उंचळ्ळीका कार्यक्रम तय किये बिना शांति या स्वास्थ्य मिलनेवाला नहीं है। वे खुद भी मुझसे कम उत्साही नहीं थे। उन्होंने बताया कि जब बिजली पैदा करनेकी दृष्टिसे कारवार जिलेके प्रपातों-की जांच (सरवे) की गयी थी, तब इंजीनियर लोगोंने उंचळ्ळीके प्रपातको प्रथम स्थान पर रखा था; और गिरसप्पा यानी जोगके प्रपातको दूसरे स्थान पर; मागोडाको तीसरा और सूपाके नजदीकके प्रपातको चौथा स्थान दिया था।

समुद्रके साथ कारवार जिलेकी दोस्ती जोडनेवाली मुख्य चार नदियां हैं—काळी नदी, गंगावळी, अघनाशिनी और शरावती। इनमेंसे शरावती या बालनदी होन्नावरके पास समुद्रसे मिलती है। दस साल पहले जब हमने जोगका प्रपात दूसरी बार देखा था, तब इस शरावती नदी पर नावमें बैठकर होन्नावरसे हम ऊपरकी ओर गये थे। शरावतीका किनारा तो मानो वनश्रीका साम्राज्य है!

अबकी बार जब हम हुबलीसे अंकोला और कारवार गये तब आरबेल घाटीमें मे 'नागमोड़ी' रास्ता निकलनेवाली गंगावळीको देखा था। और अंकोलासे गोकर्ण जाते समय उसके पृष्ठभाग पर नौका-क्रीड़ा भी की थी। काळी नदीके दर्शन तो मैंने बचपनमें ही कारवारमें किये थे। पचास साल पहलेके ये संस्मरण दस साल पहले ताजे भी किये थे और अबकी बार भी कारवार पहुंचने ही काळी नदीके दो बार दर्शन किये। किन्तु इतनेमे संतोष न होनेके कारण कारवारमे हळगा तक की दस मीलकी यात्रा—आना-जाना—नावमें की।

चौथी है अघनाशिनी। उसका नाम ही कितना पावन है! गोकर्णके दक्षिणकी ओर तदड़ी बंदरके पास वह टेढ़ी-मेढ़ी होकर खूब फैलती है। किन्तु समुद्र तक पहुंचनेके लिए उसको जो रास्ता मिलता है वह बिलकुल छोटा है। यह अघनाशिनी जहां समुद्रसे मिलनेके लिए उतावली होकर सह्याद्रिके पहाड़ परसे नीचे कूदती है, वही स्थान उंचळ्ळीके प्रपातके नामसे पहचाना जाता है।

हमने सिद्धापुरसे शिरसीका रास्ता लिया। किन्तु शिरसी तक जानेके बदले एक रास्ता पश्चिमकी ओर फूटता था, उससे हम नीलकुंद पहुंचे। वहां श्री गोपाल माडगांवकरके चाचा रहते थे। वे बड़े प्रतिष्ठित जमीदार थे। उनके आतिथ्यका स्वीकार करके हम उंचळ्ळीकी खोजमें निकल पड़े। नीलकुंदसे होसतोट (=नया बगीचा) जाना था। फौजी 'जीप' का प्रबंध होनेमे जंगलका रास्ता कैसे तय करेंगे, यह चिंता करीब-करीब मिट गई थी। होसतोटसे होन्नेकोंब (=सोनेका सींग) की ओरका रास्ता हमें लेना था। किन्तु इस रास्तेसे मोटर तो क्या, बैलगाड़ी या पालकी भी नहीं जा सकती थी। इसे तो बाघका रास्ता कहना चाहिये। मनुष्य भी बाघके जैसा बनकर ही ऐसे रास्तेसे जा सकता है। हमने अपनी जीपको एक पेड़की छांहमें आराम करनेके लिए छोड़ दिया और 'अथाऽतो प्रपात-जिज्ञासा' कहकर जंगलमें रास्ता तय करना शुरू किया। होसतोटसे एक स्थानिक नौजवान हाथमें

एक बड़ा 'कोयता' लेकर हमें रास्ता दिखानेके लिए हमारे आगे चला। इस बेचारे-को धीरे चलनेकी आदत नहीं थी, न सृष्टि-सौंदर्य निहारनेकी लत ! वह तो आगे ही आगे चलने लगा। हमें उसका बहुत ही कम लाभ मिला। हम कुछ आगे गये। ऊपर चढ़े, नीचे उतरे, फिर चढ़े और फिर उतरे। इतनेमे जंगल घना होने लगा। थोड़े समयके बाद वह घनघोर हो गया।

So steep the path, the foot was fain,
Assistance from the hand to gain.

हमारी मुख्य कठिनाई तो पगडंडीकी थी। वहा सूखे पत्ते इतने जमा हो गये थे कि पांव न फिसले तो ही गनीमत समझिये ! मेहर मालिककी कि इन पत्तोंमेसे सरसराता हुआ कोई सांप न निकला। वरना हमारी उंचळ्ळी वहींकी वहीं रह जाती। जहां सख्त उतार होता था वहां लाठीसे पत्तोंको हटाकर देखना पड़ता था कि कोई मजबूत पत्थर या किसी दरख्तकी एकाध चीमड जड़ है या नही।

दोपहरके बारहका समय था। किन्तु पेड़ोकी 'स्निग्ध-छाया' के अंदर धूप आये तभी न ? चलकर यदि गरम न हो गये होते तो सर्दी ही लगती। जरा आगे बढ़ते और एक-दूसरेसे पूछते, "हमने किनना रास्ता तय किया होगा ? अब कितना बाकी होगा ?" सभी अज्ञान ! किन्तु सिद्धापुरसे एक आयुर्वेदिक डॉक्टर कैमेरा लेकर हमारे साथ आये थे। ये सज्जन एक साल पहले दूसरे किसी रास्तेसे उंचळ्ळी गये थे। अपने पुराने अनुभवके आधार पर वे रास्तेका अंदाज हमे बताते थे। बीच-बीचमे तो हमारा यह नाममात्रका रास्ता भी बन्द हो जाता था। आगे अंदाजसे ही चलना पडता था। किन्तु सच्ची मुसीबत रास्ता बन्द हो जाने पर नहीं, बल्कि तब होती है जब एक पगडंडी फूटकर दो पगडंडिया बन जानी हैं। जब सही रास्ता दिखानेवाला कोई नही होता और अधा अंदाज करनेवाले एक साथीकी रायसे दूसरेका अंधा अंदाज मेल नही खाता, तब 'यद् भावि तद् भवतु'—जो होनेवाला होगा सो होगा—कहकर किस्मतके भरोसे किसी एक पगडंडीको पकड़ लेना पडता है।

किसीने कहा कि दूरसे प्रपातकी आवाज सुनाई देती है। मेरे कान बहुत तीक्ष्ण नही है। एकने तो कभीका इस्तीफा दे दिया है और दूसरा काम भरकी ही बात सुनना है। किन्तु अपनी कल्पना-शक्तिके बारेमे ऐसा नही कहूंगा। मैंने कान और कल्पना, दोनोके सहारे सुननेकी कोशिश की। किन्तु जिसे प्रपातकी आवाज कहें वैसी कोई आवाज सुनाई न दी। कही मधुमक्खियां भनभनाती होती तो भी मैं कहता, "हां, हां, प्रपातकी आवाज सचमुच सुनाई देती है।" कठिन यात्रामे साथियोंके साथ झट सहमत हो जानेके यात्रा-धर्ममे मेरा पूर्ण विश्वास है। किन्तु यहां मैं लाचार था।

एक ओर यदि जंगलकी भीषण सुंदरताका मैं रसास्वादन कर रहा था, तो

दूसरी ओर चि० सरोजके कितने बेहाल हो रहे होंगे इस चितासे उसकी ओर देखना था। जब सरोजने कहा, "जंगलकी ऐसी यात्राके अंतमें अगर कोई प्रपात देखनेको न मिले तो भी कहना होगा कि यहां आना सार्थक ही हुआ है। कैसा मजे-का जगल है! ये बड़े-बड़े पेड़; उन्हें एक-दूसरेसे बांधनेवाली ये लताएं—सब सुन्दर है!" तब मुझे बहुत संतोष हुआ।

आगे जब रास्ता लगभग असंभव-सा मालूम हुआ, और एक हाथमें लकड़ी तथा दूसरेसे किसीका कंधा पकड़कर उतरना भी संदेहप्रद प्रतीत हुआ, तब भी सरोज कहने लगी: "मेरा उत्साह कम नही हुआ है। किन्तु दूसरोंको अड़चनमें डाल रही हूं इस खयालसे ही हताश हो रही हूं। यह उतार फिर चढ़ना होगा इसका भी खयाल रखना है।"

मैंने कहा, "एक बार उंचळ्ळीके दर्शन करनेके बाद किसी न किसी तरह वापस तो लौटना होगा ही। किन्तु हम पूरा आराम लेकर ही लौटेंगे। यहां तक तो आ ही गये हैं, और अब प्रपातकी आवाज भी सुनाई दे रही है। इसीलिए अब तो आगे बढ़ना ही चाहिये।"

हमारे मार्गदर्शकने नीचे जाकर आवाज दी। डॉक्टरने कहा, "शायद उसने पानी देखा होगा।" हमारा उत्साह बढ़ा। हम फिर उतरे। आगे बढ़े। फिर दाहिनी ओर मुड़े और आखिर जिसके लिए आंखें तरस रही थी उस प्रपातका सिर नजर आया!

एक तंग घाटीके इस ओर हम खड़े थे और सामने अघनाशिनीका पानी, जिसे सुबह जीपकी यात्राके दरम्यान हमने तीन-चार बार लांघा था, यहां एक बड़े पत्थरके तिरछे पट परसे नीचे पहुंचनेकी तैयारी कर रहा था। गीत जिस प्रकार तम्बूरेकी तालके साथ ही सुना जाता है, उसी प्रकार प्रपातके दर्शन भी नगारेके समान धब-धब आवाजके साथ ही किये जाते हैं।

उंचळ्ळीका प्रपात जोगके राजाकी तरह एक ही छलांगमें नीचे नही पहुंचता है। सुबहकी पतली नींदके हरेक अंशका जिस प्रकार हम अर्ध-जाग्रत स्थितिमें अनुभव लेते हैं, उसी प्रकार अघनाशिनीका पानी एक-एक सीढ़ीसे कूदकर सफेद रंगका अनेक आकारोंका परदा बनाता है। इतने शुभ्र पानीमें संसारका कालेसे काला 'अघ'—पाप भी सहज ही धुल सकता है।

जिस प्रकार धान पछोरने पर सूपके दाने नाचते-कूदते दाहिनी ओरके कोने पर दौड़ते आते हैं, और साथ-साथ आगे भी बढ़ते हैं, उसी प्रकार यहांका पानी पहाड़के पत्थर परसे उतरते समय तिरछा भी दौड़ता है और फेनके वलय बनाकर नीचे भी कूदता है। पानी एक जगह अवतीर्ण हुआ कि फौरन घूमकर अंगरखेके घेरकी तरह या धोतीके घुमावकी तरह फैलने लगता है और अनुकूल दिशा ढूंढ़कर फिर नीचे कूदता है।

अब तो बिना यह जाने कि यह पानी इस प्रकार कितने नखरे करनेवाला है और अंतमें कहां तक पहुंचनेवाला है, संतोष मिलनेवाला न था। हममेंसे चंद लोग आगे बढ़े। फिर उतरे। और भी उतरे। पेड़की लचीली डालियोंको पकड़कर उतरे। ऐसा करते-करते पूरे प्रपातका अखंड साक्षात्कार करानेवाले एक बड़े पत्थर पर हम जा पहुंचे। उस पर खड़े रहकर सामनेकी बड़ी ऊंची चट्टानसे गिरते हुए पानीका पदक्रम देखना जीवनका अनोखा आनन्द था। हम टकटकी लगाकर पानी-को देखते थे। मगर हम लोगोंको देखनेके लिए पानीके पास फुरसत न थी। वह अपनी मस्तीमें चूर था। कपूरके चूर्णमें शुभ्र रंगका जो उत्कर्ष होता है, वही इस जीवनावतारमें था।

भगवान सूर्यनारायण माथे परसे हमें अपने आशीर्वाद देते थे। पसीनेके रेले हमारे गालों परसे चाहे उतने उतरें, सामनेके प्रपातके आगे वे किसीका ध्यान थोडे ही खींच सकते थे! सूर्यनारायणके आशीर्वाद झेलनेकी जैसी शक्ति उंचळ्ळीके प्रपातमें थी, वैसी मुझमे न थी। पानी चमक कर सफेद रेशम या साटनकी शोभा दिखाने लगा। A moving tapestry of white satin and silver filigree.

कटकमें चांदीके बारीक तार खीचकर उसके अत्यंत नाजुक और अत्यंत मोहक फूल, गहने आदि बनाये जाते है। तारके बनाये हुए पीपलके पत्ते, कमल, करड आदि अनेक प्रकारकी चीजें मैंने उड़ीसामें मन भरकर देखी हैं और कहा है, 'इन गहनोंने बेशक कटकका नाम सार्थक किया हैं।'

प्रकृतिके हाथोंसे बननेवाले और क्षण-क्षणमें बदलनेवाले चादीके सुदर और सजीव गहने यहां फिरसे देखकर कटकका स्मरण हो आया। सोनेके ढक्कनसे सत्य-का रूप शायद ढक जाता होगा, किन्तु चांदीके सजीव तार-कामसे प्रकृतिका सत्य अद्भुत ढंगसे प्रगट होता था। "अब इस सत्यका क्या करू? किस तरह उसे पी लूं? उसे कहां रखू? किस तरह उठाकर ले चलूं?" ऐसी मधुर परेशानी मैं महसूस कर रहा था, इतनेमें पुरानी आदतके कारण, अनायास, कठसे ईशावास्यका मन्त्र जोरोंसे गूंजने लगा। हां, सचमुच इस जगतको उसके ईशसे ढंकना ही चाहिये—जिस तरह सामनेका तिरछा पत्थर पानीके परदेसे ढंक जाता है और वह परदा चैतन्यकी चमकसे छा जाता है। जो-जो दिखाई देता है—फिर वह चाहे चर्मचक्षु-की दृष्टि हो या कल्पनाकी दृष्टि हो—सबको आत्मतत्त्वसे ढंक देना चाहिये। तभी अलिप्त भावसे अखंड जीवनका आनंद अंत तक पाया जा सकता है। मनुष्यके लिए दूसरा कोई रास्ता नही है।

दृष्टि नीचे गई। वहां एक शीतल कुंड अपनी हरी नीलिमामें प्रपातका पानी झेलता था और यह जाननेके कारण कि परिग्रह अच्छा नही है, थोड़ी ही देरमें एक सुंदर प्रवाहमें उस सारी जलराशिको बहा देता था। अघनाशिनी अपने टेढ़े-मेढ़े प्रवाहके द्वारा आसपासकी सारी भूमिको पावन करनेका और मानव-जातिके टेढ़े-

मेढ़े (जुहुराण) पाप (एनस्) को धो डालनेका अपना व्रत अविरत चलाती थी। मैंने अंतमें उसीसे प्रार्थना की :

युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनः
भूयिष्ठां ते नम उक्ति विधेम।

हे अघनाशिनी ! हमारा टेढ़ा-मेढ़ा कुटिल पाप नष्ट कर दे। हम तेरे लिए अनेको नमस्कारके वचन रचेंगे।

जून, १९४७

२२. गोकर्णकी यात्रा

लंकापति रावण हिमालयमें जाकर तपश्चर्या करने बैठा। उसकी मांने उसे भेजा था। शिवपूजक महान सम्राट् रावणकी माता क्या मामूली पत्थरके लिंगकी पूजा करे? उसने लड़केसे कहा, "जाओ बेटा, कैलास जाकर शिवजीसे उन्हींका आत्मलिंग ले आओ। तभी मेरे यहां पूजा हो सकती है।" मातृभक्त रावण चल पड़ा। मानसरोवरसे हररोज एक सहस्र कमल तोड़कर वह कैलासनाथकी पूजा करने लगा। यह तपश्चर्या एक हजार वर्ष तक चली।

एक दिन न जाने कैसे, नौ कमल कम आये। पूजा करते-करते बीचमें उठा नहीं जा सकता था और सहस्रकी संख्यामें एक भी कमल कम रहे तो काम नहीं चल सकता था। अब क्या किया जाय? आशुतोष महादेवजी शीघ्रकोपी भी हैं। सेवामें जरा भी न्यूनता रही कि सर्वनाश ही समझ लीजिये। रावणकी बुद्धि या हिम्मत कच्ची तो थी ही नहीं। उसने अपना एक-एक शिर-कमल उतारकर चढ़ाना शुरू कर दिया। ऐसी भक्तिसे क्या प्राप्त नहीं होता? भोलानाथ प्रसन्न हुए। कहने लगे : 'वर मांग, वर मांग। जितना मांगे उतना कम है।' रावणने कहा, 'मां पूजामें बैठी है। आपका आत्मलिंग चाहिये।' शब्द निकलनेकी ही देर थी। शंभुने हृदय चीरकर आत्मलिंग निकाला और रावणको दे दिया।

त्रिभुवनमें हाहाकार मच गया। देवाधिदेव महादेवजी आत्मलिंग दे बैठे। और वह भी किसको? सुरासुरोंके काल रावणको! अब तीनों लोकोंका क्या होगा? ब्रह्मा दौड़े विष्णुके पास। लक्ष्मी सरस्वतीसे पूछने गईं। इन्द्र मूर्छित हुआ। आखिर विघ्ननाशक गणपतिकी सबने आराधना की और उनसे कहा, 'चाहे सो कीजिये। किन्तु यह लिंग लंकामें न पहुंचने पाये ऐसा कुछ कीजिये।'

महादेवजीने रावणसे कहा था, 'लो यह लिंग। जहां जमीन पर रखोगे वहीं यह स्थिर हो जायगा।' महादेवजीका लिंग पारेसे भी भारी था। रावण उसे लेकर पश्चिम समुद्रके किनारे चला जा रहा था। शाम होने आयी थी। रावणको लघु-

शंकाकी हाजत हुई। शिवलिंगको हाथमें लेकर बैठा नहीं जा सकता था; जमीन पर तो रखा ही कैसे जाता? रावणके मनमें यह उधेड़बुन चल ही रही थी कि इतने में देवताओंके संकेतके अनुसार गणेशजी चरवाहेके लड़केका रूप लेकर गौएँ चराते हुए प्रकट हुए। रावणने कहा, ए लड़के, यह लिंग जरा संभाल तो। जमीन पर मत रखना।'

गणेशने कहा, 'यह तो भारी है। थक जाऊंगा तो तीन बार आवाज दूंगा। उतनी देरमें तुम आये तो ठीक, वरना तुम्हारी बात तुम जानो।'

हाजत तो लघुशंकाकी ही थी। उसमें भला कितनी देर लगती? रावण बैठा। बैठा तो सही किन्तु न मालूम कैसे, आज उसके पेटमें सात समुद्र भर गये थे! जनेऊ कान पर चढ़ाने पर तो बोला भी नहीं जा सकता था। सिद्धि-विनायकने इकरारके अनुसार तीन बार रावणके नामसे आवाज दी। और अर्र्र्र्की चीख मारकार लिंग जमीन पर रख दिया, मानो वजन असह्य मालूम हुआ हो! जमीन पर रखते ही लिंग पाताल तक पहुंच गया! रावण क्रोधके मारे लाल-लाल होकर आया और गणपतिकी खोपड़ी पर उसने कसकर एक घूंसा मारा। गजाननका सिर खूनसे लथपथ हो गया।

बादमें रावण दौड़ा लिंग उखाड़ने। किन्तु अब तो यह बात असंभव थी। पाताल तक पहुंचा हुआ लिंग कैसे उखाड़ा जा सकता था? सारी पृथ्वी कांपने लगी, किन्तु लिंग बाहर नही आया। आखिर रावणने लिंगको पकड़कर मरोड़डाला। इससे उसके चार टुकड़े हाथमें आये। निराशाके आवेशमें उसने चारोंदिशाओंमें एक एक टुकड़ा फेंक दिया और बेचारा खाली हाथ लंकाको वापस लौटा।

मरोड़े हुए लिंगका मुख्य भाग जहां रहा, वही है गोकर्ण महाबळेश्वर। सारी पृथ्वी पर इससे अधिक पवित्र तीर्थ-स्थान नहीं है।

० ० ०

गोकर्ण-महाबळेश्वर कारवार और अंकोला बंदरगाहोंके बीच स्थित तदड़ी बंदरगाहसे करीब छः मील उत्तरकी ओर ठीक समुद्रके किनारे पर है। दक्षिणमें इसका माहात्म्य काशीसे भी अधिक माना जाता है। लिंग अधिकतर जमीनके अंदर ही है। उसकी जलाधारीके बीचोंबीच एक बड़ा सुराख है। उसमें अंदर अंगूठा डालने पर भीतरके लिंगका स्पर्श होता है। दर्शनका तो प्रश्न ही नहीं। वहाके पुजारी कहते हैं कि लिंगकी शिला अत्यंत मुलायम है। भक्तोंके स्पर्शसे वह घिस जाती है, इसलिए प्राचीन लोगोंने यह प्रबंध किया है। बहुत बरसोंके बाद शुभ शकुन होने पर जलाधारी निकाली जाती है और आसपासकी चुनाईको हटाकर मूल लिंगको दो-तीन हाथोंकी गहराई तक खोल दिया जाता है। कुछ महीनों तक खुला रखनेके बाद मोतियोंको पीसकर बनाये हुए चूनेसे आसपासकी चुनाई फिरसे कर दी जाती है। यदि मैं भूलता नहीं हूं, तो इस क्रियाको 'अष्टबंध' या ऐसा ही

कुछ नाम दिया जाता है।

हम कारवारमें थे तब एक बार कपिलाषष्ठी जैसा दुर्लभ अष्टबंधका योग आया। पिताश्री, आई (मां) और मैं—हम तीनों इस यात्रामें गये। तदड़ी बंदरगाह पर मुझे उठा लेनेके लिए 'कुली' किया गया। उसके कंधे पर बैठकर मैं गोकर्ण गया। कोटितीर्थमें स्नान किया। गोकर्ण-महाबळेश्वरके दर्शन किये। स्मशानभूमि और उसकी रखवाली करनेवाले हरिश्चंद्रका दर्शन किया। जिसमें हड्डियां डालने पर वे गल जाती हैं ऐसे पानीका एक तीर्थ देखा। अहल्याबाईके अन्नसत्रमें उस साध्वीकी मूर्ति देखी। सिरमें चोटके निशानवाले और दो हाथोंवाले चरवाहे गजाननके दर्शन किये। ब्रह्माकी एक मूर्ति देखी। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि रावणकी उस मशहूर लघुशंकाका कुंड भी देखा। आज भी वह भरा हुआ है और उससे बदबू आती है। और भी बहुत कुछ देखा होगा, किन्तु वह आज याद नहीं है।

हां, इस प्रदेशकी एक खासियत बताना तो मैं भूल ही गया। घर चाहे गरीबका हो या अमीरका, फर्श तो गारेकी ही होगी; किन्तु वह काले संगमरमरके पत्थरके समान सख्त और चमकनेवाली होती है। सचमुच उसमें मुह दिखाई देता है। गरमीके दिनोंमें दोपहरके समय आदमी बगैर कुछ बिछाये गारेके उस पलस्तर पर आरामसे सो सकता है। समय-समय पर यह जमीन गोबर और काजल मिलाकर उससे लीपी जाती है। किन्तु हाथसे नहीं लीपा जाता। सुपारीके पेड़ पर एक तरहकी छाल तैयार होती है। उससे फर्शको घिस-घिसकर चमकीला बनाया जाता है। इस छालको वहांकी भाषामें 'पोवली' कहते हैं।

गोकर्णसे वापस लौटते समय तदड़ी तक समुद्री रास्तेसे वाफर यानी स्टीमलाँचमें जानेका विचार था। मौसमी तूफान शुरू होनेको बहुत ही थोड़े दिन बाकी थे। आठ दिनके बाद आगबोटें भी बंद होनेवाली थीं। इसलिए वापस लौटनेवाले यात्रियोंकी भीड़का पार नही था। तदड़ी बंदरसे चढ़नेवाले यात्रियोंको स्टीमरमें जगह मिलेगी या नहीं, इस बातका संदेह था। इसीलिए हमने स्टीमलाँचमें बैठकर स्टीमर तक जल्दी पहुंचना पसंद किया था।

गोकर्णका बंदर बंधा हुआ नही था। किनारेसे मेरी छाती बराबर पानी तक तो चलकर जाना पड़ता था। वहांसे नावमें बैठकर स्टीमलाँच तक जाना पड़ता था। नौजवान लोग नाव तक चलकर जाते; किन्तु औरतें तथा बच्चे तो कुलियोंके कंधे पर चढ़कर या दो कुलियोंके हाथोंकी पालकीमें बैठकर जाते।

शुरूमें ही एक अपशकुन हुआ। एक गरीब बुढ़िया शरीरसे कुछ स्थूल थी। किन्तु किराये पर दो कुली करने जितने पैसे उसके पास न थे। उसने एक लोभी कुलीको कुछ अधिक मजदूरी देनेका लालच देकर अपनेको कन्धे पर उठा ले जानेके लिए राजी किया। वह था दुबला-पतला। वह किनारे पर बैठ गया। विधवा बुढ़िया

उसके कन्धे पर सवार हुई। किन्तु ज्यों ही कुली उठने लगा, त्यों ही दोनों धम्म-से गिर पड़े। इतनेमें एक नट खट लहरने दौड़ते आकर दोनोंको कृतार्थ कर दिया!

यह बोट लगभग आखिरी होनेसे गोकर्णसे भी चढ़नेवाले यात्री बहुत थे। वे सबके सब स्टीमलाँचमे कैसे समाते? इसलिए सौ आदमी बैठ सकें इतना बड़ा एक पड़ाव (यानी नाव) स्टीमलाँचके पीछे बांध दिया गया। और उसके पीछे कस्टम विभागके एक अफसरकी सफेद नाव बांध दी गयी। मैंने देखा कि खानगी नावोंकी पतवारें कड़छी या पंखे जैसी गोल होती हैं, जबकि कस्टमवालोंकी पतवारें क्रिकेट-बैटकी तरह लंबी-लंबी और चपटी होती हैं।

हमारा काफिला ठीक समय पर निकला। एक दो मील गये होगे कि इतनेमें आसमान बादलोसे घिर गया। हवा जोरसे बहने लगी। लहरें जोर-जोरसे उछलने लगी, मानो बड़ी दावत मिल रही हो। नावें डोलने लगी। और स्टीमलाँच परका खिंचाव भी बढ़ने लगा। अरे! यह क्या? बारिशके छींटे! बड़े-बड़े बेरोंके जैसे छींटे! अब क्या होगा? लहरें जोर-जोरसे उछलने लगीं। स्टीमलाँच बेकाबू घोड़े-की तरह ऊपर-नीचे कूदने लगी। पीछेकी नावकी रस्सियां कर्र्र् कर्र्र् आवाज करने लगीं। इतनेमें स्टीमलाँच और नावके बीच एक लहर इतनी बड़ी आई कि नाव दिखाई ही न दी।

मैं स्टीमलाँचमें बॉयलरके पास लकड़ीके तख्तोंके चबूतरे पर बैठा था। हमारे कप्तानको जल्दीसे जल्दी स्टीमर तक पहुंचना था। उसने स्टीमलाँच पागलकी तरह पूरी रफ्तारमें छोड़ दी। चबूतरा गरम हुआ। मैं जलने लगा। समझमें न आया कि क्या करूं? जरा इधर-उधर हटता तो 'समुद्रास्तृप्यन्तु' होनेका डर था! और बैठना बिल्कुल नामुमकिन हो गया था। इस उलझनसे मुझे बड़े भयानक ढंगसे छुटकारा मिला। समुद्रकी एक प्रचंड लहर चढ़ आयी और उसने मुझे नखशिखान्त नहला दिया। अब चबूतरा गरम रहता ही कैसे? पिताश्री परेशान हुए। आयी (मां) को तो कुलदेवका स्मरण हो आया: 'मंगेशा! महारुद्रा! मायबापा तूच आतां आम्हांला तार!' मूसलाधार वर्षा होने लगी। हम स्टीमलाँचवाले तो कुछ सुरक्षित थे। किन्तु पीछेके उन नाववालोंका क्या? शुरू-शुरूमें स्टीमलाँचको पानी काटना था, इसलिए उसमें पानी आसानीसे आ जाता था। किन्तु नावको तो हर हिलोर पर सवार ही होना था, इसलिए चाहे जितना डोलने पर भी उसके अंदर पानी नही आ पाता था। किन्तु जब हवा और बारिशके बीच होड़ लगी और दोनों का अट्टहास्य बढ़ने लगा, तब एक ही लहरमें आधीके करीब नाव भर जाने लगी। लहरें सामनेसे आतीं, तब तक तो ठीक था। नाव उन पर सवार होकर उस पार निकल जाती थी। कभी लहरोंके शिखर पर तो कभी दो लहरोंके बीचकी घाटीमें। कभी-कभी तो नाव एक हिलोर परसे उतरती कि नीचेसे नई लहर उठकर उसे अधर-मेंही उठा लेती थी। ऐसी अनसोची हलचल होने पर अंदर जो लोग खड़े थे वे धड़ा-

धड़ाधड़ एक-दूसरे पर गिर पड़ते थे।

लेकिन अब लहरें बाजुओंसे टकराने लगीं। नावकेअंदर बैठी हुई औरतों और बच्चोंको तो सिर्फ फूट-फूटकर रोनेका ही इलाज मालूम था। जितने जवांमर्द थे वे सब बाल्टी, गागर या डिब्बा, जो भी हाथमें आता उसीमें पानी भर-भरकर बाहर फेंकने लगे। फायर इंजिनके बंबे भी इससे ज्यादा तेजीसे क्या काम कर पाते ? नाव खाली होती न होती इतनेमें एकाध क्रूर लहर विकट हास्यके साथ 'ध···ड़' से नावसे टकराती और अंदर चढ़ बैठती। उस समय स्त्री-बच्चोंकी चीखें और दहाड़ें कानोंको फाड़े डालती थीं। दिल चीर डालती थीं। कुछ यात्री अवधूत दत्तात्रेयको सहायताके लिए पुकारने लगे, कुछ पंढरपुरके विठोबाको पुकारने लगे। कोई अंबा भवानीकी मन्नत मनाने लगे, तो कोई विघ्नहर्ता गणेशको बुलाने लगे। शुरू-शुरूमें स्टीमलाँचके कप्तान और खलासी हम सबको धीरज देते और कहते : 'अजी आप डरते क्यों हैं ? जिम्मेदारी तो हमारी है। हमने ऐसे कई तूफान देखे हैं।' किन्तु देखते ही देखते मामला इतना बढ़ गया कि कप्तानका भी मुंह उतर गया। वह कहने लगा: भाइयो, रोनेसे क्या फायदा ? इन्सानको एक बार मरना तो है ही। फिर वह मौत बिस्तरमें आये या घोड़े पर, शिकारमें आये या समुद्रमें। आप देख ही रहे हैं कि हम सब तरहकी कोशिश कर रहे हैं। किन्तु इन्सानके हाथमें क्या है ? मालिक जो चाहे वही होता है।' मैं उसके मुंहकी ओर टकटकी लगाकर देख रहा था। यात्राके प्रारंभमें जो आदमी गाजरकी तरह लाल-लाल था, वही अब अरवीके पत्तोंकी तरह हरा-हरा हो गया था !

मैं उस समय बिलकुल बालक था। किन्तु गंभीर अवसर पर बालक भी सच्ची स्थितिको समझ लेता है। पल-पल पर मैं स्थानभ्रष्ट हो रहा था। अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर मैं बड़ी मुश्किलसे अपने स्थानको संभाले हुए था। हमारा सारा सामान एक ओर पड़ा था। किन्तु उसकी ओर देखता ही कौन ? लेकिन पूजाकी देव-मूर्तियां और नारियल बेंतकी जिस 'सांबळी' में रखे हुए थे, उसे मैं अपनी गोद-में लेकर बैठना नहीं भूला था।

मेरे मनमें उस समय कैसे-कैसे विचार आ रहे थे ! वह काल था मेरी मुग्ध भक्तिका। रोज सुबह दो-दो घंटे तो मेरा भजन चलता था। मेरा जनेऊ नहीं हुआ था। इसलिए संध्या-पूजा तो कैसे की जाती ? फिर भी पिताश्री जब पूजामें बैठते, तब पास बैठकर उनकी मदद करनेमें मुझे खूब आनंद आता। मनमें आया, आज यदि डूबना ही भाग्यमें बदा हो, तो देवताओंकी यह 'सांबळी' छातीसे चिपटाकर ही डूबूंगा। दूसरे ही क्षण मनमें विचार आया, मांके देखते ही लाँचमेंसे पानीमें लुढ़क जाऊंगा तो मांकी क्या दशा होगी ? यह विचार ही इतना असह्य मालूम हुआ कि मेरी सांस रुंध गयी। सीनेमें इस तरह दर्द होने लगा, मानो पत्थरकी चोट लगी हो। मैंने ईश्वरसे प्रार्थना की कि 'हे भगवान, यदि डुबाना ही हो तो इतना

करो कि 'आयी' (मां)और मैं एक-दूसरेको भुजाओंमें लेकर डूबें।'

हरेक बालककी दृष्टिमें उसके पिता तो मानो धैर्यके मेरु होते हैं। बालकका बिश्वास होता है कि आकाश भले टूटे, किन्तु पिताका धैर्य नहीं टूट सकता। इसलिए जब ऐसे अवसर पर बालक अपने पिताको भी दिङ्मूढ बना हुआ, घबड़ाया हुआ देखता है, तब वह व्याकुल हो उठता है। मैं तूफानसे इतना नहीं डरा था, बरसातसे भी इतना नहीं डरा था, 'आदमकी बू आ रही है, मैं उसे खाऊंगी' ऐसा कहते हुए मुंह फाड़कर आनेवाली लहरोंसे भी इतना नहीं डरा था, जितना पिताजीका परेशान चेहरा देखकर तथा उनकी रुंधी हुई आवाज सुनकर डर गया।

हरेक आदमी कप्तानसे पूछता, 'हम कितनी दूर आ गये हैं? अभी कितना फासला बाकी है?' चारों ओर जहां भी नजर डालते वहां बारिश, आंधी और तरंगोंका तांडव ही नजर आता! इतना पानी गिरा, किन्तु आकाश जरा भी नहीं खुला। मैंने कप्तानसे गिड़गिड़ाकर कहा, 'लाँचको कुछ किनारेकी ओर ले चलो न, जिससे यदि वह डूब ही गयी तो भी चंद लोग तो किनारे तक तैरकर जा सकेंगे!' वह उत्साह-हीन हास्यके साथ बोला, 'कैसा बेवकूफ है यह लड़का! किनारेसे जितने दूर हैं, उतने ही सुरक्षित हैं। जरा भी पास गये तो शिलाओंसे टकराकर चकनाचूर हो जायेंगे। आज तो जानबूझ कर हम किनारेसे दूर रहरहे हैं। स्टीमर तक पहुंच गये कि गंगा नहाये समझो। आज दूसरा इलाज ही नहीं।'

मैंने इससे पहले कभी बड़ी उम्रके लोगोंको एक-दूसरेसे गले लगकर रोते नही देखा था। वह दृश्य आज उस नावमें देखा। उसमें स्त्री-पुरुष एक-दूसरेको भुजाओं-में लेकर फूट-फूटकर रो रहे थे। दो-तीन बच्चोंवाली एक मां अपने सब बच्चोंको एक ही साथ गोदमें लेनेकी कोशिश कर रही थी। केवल पांच-पचीस जवांमर्द जीतोड़ मेहनत करके समुद्रके साथ अ-समान युद्ध कर रहे थे। तूफान इतना बढ़ गया और स्टीमलाँच तथा नाव इतनी अधिक डोलने लगी कि लोग डरके मारे रोना तक भूल गये। मृत्युकी एक काली छाया सर्वत्र फैल गयी। होशमें थे सिर्फ नावके बहादुर नौजवान और काली-काली वर्दी पहने हुए स्टीमलाँचके खलासी। हमारा कप्तान हुक्म छोड़ते-छोड़ते कभी परेशान हो उठता; किन्तु खलासी बराबर एकाग्र मनसे, बिना परेशान हुए, अचूक ढंगसे अपना-अपना काम कर रहे थे। कर्मयोग क्या इससे भिन्न होगा?

आखिरकार तदड़ी बंदर आया। हम स्टीमरको देखते उससे पहले ही स्टीमर-ने हमारी लाँचको देख लिया। स्टीमरने अपना भोंपू बजाया: 'भों...!' मानो सबकी करुण वाणी सुनकर ईश्वरने ही 'मा भैः' की आकाशवाणी की हो। हमारी स्टीमलाँचने अपनी तीक्ष्ण आवाजमें जवाब दिया। सबके दिलमें आशाके अंकुर फूटे। चारों ओर जय-जयकार हुआ।

इतनेमें, मानो अपना अंतिम प्रयत्न कर देखनेकी दृष्टिसे और हम सबके

भाग्यके सामने हारनेसे पहले आखिरी लड़ाई लड़ लेनेके लिए एक बड़ी लहर हमारी लाँच पर टूट पड़ी। और पिताजी जहां बैठे थे वहीं पर पीछेकी आर गिर पड़े। मैंने कातर होकर चीख मारी। अब तक मैं रोया नहीं था। मानो उसका पूरा बदला मुझे एक ही चीखमें ले लेना था। दूसरे ही क्षण पिताजी उठ बैठे और मुझे छातीसे लगाकर कहने लगे, 'दत्तू, डरो मत। मुझे कुछ भी नही हुआ है।'

हम स्टीमरके पास पहुंच गये। किन्तु बिलकुल पास जानेकी हिम्मत कौन करे? कस्टमवाली नावको तो उन लोगोंने कभीका अलग कर दिया था, क्योंकि लाँच तथा बड़ी नावके झोंके वह सह नहीं सकती थी। उसकी सुरक्षितता अलग होनेमें ही थी। स्टीमलाँचने दूरसे स्टीमरकी प्रदक्षिणा कर ली। मगर किसी भी तरह पास जानेका मौका नही मिला। तरंगोंके धक्केसे लाँच यदि स्टीमरके साथ टकरा जाती, तो बिलकुल आखिरी क्षणमें हम सब चकनाचूर हो जाते। आखिर ऊपरसे रस्सा फेंका गया और हमारे खलासी लाँचकी छत पर खड़े होकर लम्बे-लम्बे बांसोंसे स्टीमरकी दीवालोंसे होनेवाली लाँचकी टक्करको रोकने लगे। तरंगें उसे स्टीमरकी ओर फेंकनेकी कोशिश करतीं, तो खलासी अपने लम्बे-लम्बे बांसोंकी नोकोंकी ढाल बनाकर सारी मार अपने हाथों और पैरों पर झेल लेते। तिस पर भी अंतमें स्टीमरकी सीढ़ीसे स्टीमलाँचकी छत टकरा ही गयी, और कड़ड़ड़ आवाज करता हुआ एक लम्बा तख्त टूटकर समुद्रमें जा गिरा।

मैं पास ही था, इसलिए स्टीमरमें चढ़नेकी पहली बारी मेरी ही आई। चढ़नेकी काहेकी? गेंदकी तरह फेंके जानेकी! खुद कप्तान और दूसरा एक खलासी लाँचके किनारे खड़े रहकर एक-एक आदमीको पकड़कर स्टीमरकी सीढ़ीके सबसे नीचेके सोपान पर खड़े खलासियोंके हाथमें फेंक देते थे। इसमें खास सावधानी तो यह रखी जाती कि जब लाँच हिलोरोंके गड्ढेमें उतर जाती तब वे लोग राह देखते और दूसरे ही क्षण जब वह तरंगोंके शिखर पर चढ़ जाती और सीढ़ी बिलकुल पास आ जाती, तब झट यात्रीको सौंप देते! दोनों ओरके खलासी यदि आदमीके हाथ पकड़ रखें तो दूसरे ही क्षण जब लाँच तरंगोंके गड्ढेमें उतरे तब उसकी धज्जियां उड़ जायं! मैं ऊपर सीढ़ी पर चढ़ा और मुड़कर देखने लगा कि मां आती है या नहीं। जब एक बिलकुल अजनबी मुसलमानको माकी बाहें पकड़ते देखा तो मेरा मन बेचैन हो उठा। किन्तु वह समय था जान बचानेका। वहां कोमल भावनाएं किस काम-की? थोड़ी ही देरमें पिताजी भी आ पहुंचे। देवताओंकी 'सांबळी' तो मैंने कंधे पर ही रखी थी। ऊपर अच्छी जगह देखकर पिताजीने हमें बिठा दिया और वे सामान लाने गये। मैं श्रद्धालु लड़का अवश्य था; पर उस समय मुझे पिताजी पर सचमुच गुस्सा आया। भाड़में जाय सारा सामान! जान खतरेमें डालनेके लिए दुबारा क्यों जाते होंगे? किन्तु वे तो तीन बार हो आये। आखिरी बार आकर कहने लगे, 'गोकर्ण-महाबळेश्वरके प्रसादका नारियल पानीमें गिर गया।' एक ही क्षणमें

आई और मैं दोनों बोल उठे; आईने कहा, 'अरे अरे !' और मैंने कहा, 'बस इतना ही न ?'

लांचवाले सब यात्रियोंके चढ़नेके बाद नाववालोंकी बारी आयी। वे सब चढ़े। उसके बाद लांच और नाव निशाचर भूतोंकी तरह चीखें मारती हुई तदड़ीके किनारे-की ओर गई और किनारे पर तपश्चर्या करते बैठे हुए यात्रियोंको थोड़े-थोड़े करके लाने लगी। तूफान अब कुछ ठंडा पड़ा था। मगर अंधेरी रात और उछलती हुई तरंगोंके बीच उन लोगोंका जो हाल हुआ होगा, उसका वर्णन कौन कर सकता है ?

स्टीमर यात्रियोंसे ठसाठस भर गई। जो भी बोलता, समुद्रमें डूबे हुए अपने सामानकी बातें ही सुनाता। आखिर सब यात्री आ गये। मेहर मालिककी कि किसीकी जान नही गयी।

स्टीमर आखिर छूटी और लोग अपनी-अपनी पुरानी यात्राओंके ऐसे ही खतर-नाक संस्मरण एक-दूसरेको सुनाकर आजका दुःख हलका करने लगे। बड़ी देर तक किसीको नीद नही आई। मै कब सोया, कारवारका बंदरगाह सुबह कब आया, और हम घर पर कब पहुचे, आज कुछ भी याद नही है। किन्तु उस दिनका तूफान-का वह प्रसंग स्मृतिपट पर इतना ताजा है, मानो कल ही हुआ हो। सचमुच :

दुःखं सत्यं, सुखं मिथ्या; दुःखं जन्तोः परं धनम्॥

अक्तूबर, १९२५

२३. भरतकी आंखोंसे

किनारे पर खड़े रहकर समुद्रकी शोभाको निहारनेमें हृदय आनंदसे भर जाता है। यह शोभा यदि किसी ऊंचे स्थानसे निहारनेको मिले तब तो पूछना ही क्या ? जहाजके ऊपरके हिस्सेसे या देवगढ जैसे टापूके सिर परसे समुद्रके किनारे पर होनेवाला आक्रमण देखनेमें एक अनोखा ही आनंद आता है। मनमे यह भाव उत्पन्न होते ही कि हम समुद्रके राजा है और तरंगोंकी यह फौज हमारी ही ओरसे सामनेके भूमि-भागको पादाक्रान्त कर रही है, हमारे हृदयमें एक प्रकारका अभिमान स्फुरित होने लगता है। ध्यानसे देखने पर मालूम होता है कि समुद्रका हरा-हरा या काला-काला पानी मस्तीमें आकर सफेद बालूके किनारे पर जोरोंसे आक्रमण करता है और आखिरी क्षणमे 'अजी, यह तो महज विनोद ही था' कहकर हंस पड़ता है। तब उसके इस मिथ्या-भाषण पर हम भी खिलखिला कर हंस पड़ते हैं।

समुद्र-किनारे रहनेवालोंको इस तरहके दृश्य कभी भी देखनेको मिल जाते है। मगर समुद्र और बालुका-पट जहां अखंड जलक्रीड़ा करते हों, उस दिशामें समकोणमें ऊंचाई पर खड़े रहकर बालूका यह जलविहार और तरंगोंका सिकता-

विहार निहारनेका सौभाग्य यदि किसी दिन प्राप्त हो तो मनुष्य 'अद्य मे सफला यात्रा; धन्योऽहं अप्प्रसादतः।' क्यों नहीं गायेगा ?

सन् १८९५ में मैंने जिस गोकर्णकी यात्रा की थी और जिस गोकर्णके दर्शन मैंने श्री गंगाधरराव देशपांडेके साथ दस साल पहले किये थे, उसी गोकर्णके पवित्र किनारे पर संगववेला*में समुद्रके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त होनेसे मैं आनंद-विभोर हो गया था। गोकर्णका समुद्र-तट काफी विस्तृत और भव्य है। दाहिनी यानी उत्तर-की ओर कारवारके पहाड़ और टापू धुधले क्षितिज पर अस्पष्ट-से दिखाई देते हैं; बायीं यानी दक्षिणकी ओर रामतीर्थका पहाड़ और उस पर खड़ा भरतका छोटा-सा मंदिर दिखाई देता है। और सामने अगाध अनंत सागर 'अमर होकर आओ' कहता हुआ अहोरात्र आमंत्रण देता है। इस तरहका हृदयको उन्मतक रनेवाला दृश्य एक बार देख लेने पर भला कभी भूला जा सकता है ? रामतीर्थकी पहाड़ी पर जाकर वहांके झरनेमें स्नान करनेका यदि संकल्प न किया होता, तो सागरके इस भव्य दृश्यमें तैरते रहना ही मैंने पसंद किया होता। नारियलके बगीचों और खुरदरी शिलाओंको पार करके हम रामतीर्थ तक पहुंचे। वहांकी धाराके नीचे बैठकर नहानेका सात्त्विक जीवनानंद या स्नानानंद आपाद-मस्तक लेकर रामेश्वर-के दर्शन किये। शांडिल्य महाराज नामक एक साधुने असंख्य लोगोमें उत्साह प्रकट करके यहांके मंदिरका निर्माण मुफ्तमे करवा लिया था। यह मंदिर समुद्रमें घुसे हुए एक उन्नत पहाड़ पर स्थित है। मंदिरकी ऊंचाई परसे बालूका पट और लहरों का पट जहां एक-दूसरेका आलिंगन करके क्रीड़ा करते हैं, उसका मीलों तक फैला हुआ सौंदर्य हम देख सके। नारियलके दो-एक वृक्षोंने इसी स्थान पर खड़े रहकर सागर-सिकता-मिलनके दृश्यका आनंद सेवन करनेकी बात तय की थी। अपनी डालियां हिलाकर उन्होंने हमसे कहा : 'आइये, आइये ! बस यही स्थान अच्छा है। यहांसे सिकता-सागरके मिलनकी रेखा नजरके सामने सीधी दीख पड़ती है।'

यहांसे मैंने देखा कि पानीकी तरंगोंको सागरके गहरे पानीका सहारा था। लेकिन बालूके पटको सहारा कौन दे ? कोई पहाड़ी नजदीकमें नहीं थी, इसलिए नारियल और सरो जैसे पेड़ोंने यह जिम्मेदारी अपने सिर पर उठा ली थी। ये ऊंचे पेड़ और सागरका गहरा पानी—दोनोंके हरे रंगमें फर्क तो जरूर था; किन्तु उनके कार्यमें कोई फर्क नही मालूम होता था। पेड़ अपने पांवोंके नीचेकी बालूको आशीर्वाद देते और समुद्रका गहरा पानी लहरोंको आगे बढ़नेके लिए प्रोत्साहन देता। यह दृश्य देखकर भला कौन तृप्त होगा ?

*गायोंका दोहन करनेके बाद तथा गोशाला साफ करनेके बाद वनमें चरनेके लिए उन्हें इकट्ठा किया जाता है, उस समयको (सुबहके करीब नौ बजे) 'संगववेला' कहते है। यह शब्द वेदकालीन है।

किसी दृश्यसे मनुष्य तृप्ति अनुभव नही करता, इसलिए एक जगह खड़े रह-कर उसीका पान करते रहना भी मनुष्यको पसन्द नहीं आता। मैने देखा कि रामतीर्थके झरनेकी और रामेश्वरके मंदिरकी मानो रखवाली करनेके लिए श्री रामचंद्रजीके प्रबंधक प्रतिनिधि भरत यहांकी पहाड़ीके ऊपर खड़े है। उनके दर्शन तो करने ही चाहिये। और हो सके तो योग्य ऊंचाई पर जाकर उनकी दृष्टिसे भी सागरको देखना चाहिये। बिना ऊंचे चढ़े विशाल दृष्टि कैसे प्राप्त हो? सीढ़ियोंने निमंत्रण दिया, इसलिए नाचता और कूदता या उड़ता हुआ मैं भरतके मंदिर तक पहुच गया, मानो मुझे पंख लग गये हों। वहां छोटे शुभ्रकाय भरतजी सुदर पीतांबर पहनकर समुद्र-दर्शन कर रहे थे।

मेरी दृष्टिसे भरतकी मूर्तिके आसपास मदिर बनाना ही नही चाहिये था। उन्हें ताप, पवन और बरसातकी तपश्चर्या ही करने देना चाहिये था। समुद्र परसे आनेवाले शीतल पवनमे सूर्यका ताप वे आसानीसे सह लेते। और लोग यह कैसे भूल गये कि भरत आखिर सूर्यवशी राजपुत्र थे? वायुपुत्र हनुमानका और सूर्यवशी राघवोंका स्मरण करते हुए हम वहा काफी देर तक खड़े रहे। हृदयमे भक्तिभाव उमड़ रहा था और सामने समुद्रके पानीमे ज्वार चढ रही थी।

उस दिनके उस भव्य और पावन दर्शनके लिए रामतीर्थका और दिक्पाल भरत महाराजका मै सदा आभारी रहूगा।

मई, १९४७

२४. वेल्गंगा—सीताका स्नान-स्थान

वेरूळग्रामका हरा कुड देखकर लौटते समय रास्तेमे वेळगंगाका झरना देखा था। झरना इतना छोटा था कि उसे नाला भी नही कह सकते। किन्तु उसे 'वेळगंगा'का प्रतिष्ठित नाम प्राप्त हुआ है। नदीका नाम सुनने पर उसका उद्गम कहा है, इसकी खोज किये बिना क्या रहा जा सकता है? किन्तु हम तो गुफाओकी अद्भुत कारीगरीमे मस्त होकर विचर रहे थे; इसलिए हमे वेळगगाका स्मरण तक नही हुआ। 'अपौरुषेय' कारीगरीवाली कैलासकी गुफाको देखकर हम जैन तीर्थकरोंकी इन्द्रसभाकी ओर बढ़ रहे थे। इतनेमे श्री अच्युत देशपाडेने कहा, 'वेळगगाका उद्गम यही है।' नाम सुनते ही वेळगगा दिमाग पर सवार हुई!

इन्द्रसभासे लौटते समय हम २९ वी गुफामे जा पहुंचे। अनेक गुफाओंमे घूमने-के कारण काफी थकावट मालूम हो रही थी। सारे बदनकी हड्डियोमे दर्द होने लगा था। ठीक उसी समय बबईके निकट स्थित धारापुरीकी ऐलिफंटा गुफाका स्मरण करानेवाली यहाकी २९ वी गुफाने भव्यताका कमाल कर दिखाया। यह

कहना मुश्किल था कि घूम-घूमकर हमारे पैर ज्यादा थके थे या देख-देखकर हमारी आंखें ज्यादा थकी थीं। हम निश्चय कर ही रहे थे कि अब नाश्तेके साथ थकावट उतारनेके बाद ही आगे जायेंगे, इतनेमें सीताके स्नान-स्थानका स्मरण हुआ।

अयोध्यासे जनस्थान तककी यात्रा सीताने पैदल की थी। वहांसे रावण उसे उठाकर लंका ले गया था। दुःखावेगमें सीताने दक्षिणका यह प्रदेश शायद देखा भी न होगा। किन्तु रामने रावणका वध करके उसीके पुष्पक विमानमें बैठकर जब लंकासे अयोध्या तककी हवाई यात्रा की, तब सीतामाताको नीचेकी प्राकृतिक शोभा देखकर कितना आनंद हुआ होगा! रामायणमें वाल्मीकिने प्राकृतिक सौंदर्य-के प्रति सीताके पक्षपातका वर्णन जहां-तहां किया है। सृष्टि-सौंदर्य देखकर सीता को कितना अलौकिक आनंद होता था, इसका वर्णन भवभूतिने भी किया है। सीताने यदि भारतके ललित और भव्य, सुन्दर और पवित्र स्थानोंका वर्णन स्वयं लिखा होता, तो मै समझता हूं कि उसके बाद संस्कृतके किसी भी कविने सृष्टि-वर्णनकी एक पंक्ति भी लिखनेका साहस न किया होता।

सीतामाता पहाड़ोंको देखकर आनंदित होती, नदियोंको अपने आनंदाश्रुओंसे नहलाती, हाथीके बच्चोंको पुचकारती, सारस-युगलोंको आशीर्वाद देती, सुगंधित फूलोंके सौरभसे उन्मत्त होती और प्रत्येक स्थान पर सारे आनंदको राममय बना-कर अपने-आपको भूल भी जाती। लंकामें राम-विरहसे झूरनेवाली सीता भी वहांकी एक नदीसे एकरूप हुए बिना न रह सकी। आज भी लंकामें 'सीतावाका' वर्षाऋतुमे अपने दोनों किनारों परसे बह निकलती है और जितने खेतोंको डुबाती है उन सबको सुवर्णमय बना देती है। सीताका जन्म ही जमीनसे हुआ था। भारत-भूमिकी भक्तिके रूपमें आज भी वह हमे दर्शन दती है।

सीताको लगा होगा कि गोदावरीके विशाल प्रदेशमें चल-चलकर अब हम थक गये है। लक्ष्मणको वनफल लानेके लिए भेज देंगे। और राम तो धनुष लेकर पहरा देते ही रहेंगे। तब इस चंद्राकार कगारके नीचे वेळगंगाका आतिथ्य स्वीकार करके थोड़ा-सा जलविहार क्यों न कर लिया जाय?

० ० ०

पहले तो हमारी वृत्ति किसी अनुकूल जगहसे वेळगंगाके सुन्दर प्रपातका सिर्फ दर्शन करनेकी ही थी। इसलिए २९ नंबरकी गुफामें, उसकी बाई ओर और हमारी दाहिनी ओर, जो झरोखा दिखाई देता था वहां हम गये। मनमें यह चोरी तो अवश्य थी कि यदि नीचे जाया जा सकेगा, तो वहांका आनंद लूटनेमें हम चूकेंगे नहीं।

झरोखेसे देखा तो एक पतला-सा प्रपात पवनके साथ खेलता हुआ नीचे उतर रहा है और अपनी अंगुलियां हिलाकर हमें चुपचाप न्योता दे रहा है। मैं विचार करने लगा कि नीचे उतरा जा सकेगा या नहीं? इतना समय खर्च करना उचित

होगा या नहीं ? साथियोंको मेरी यह स्वच्छंदता रुचेगी या नहीं ? मुझको इस प्रकार उलझनमें पड़ा हुआ देखकर घाटीमें दौड़-धाम करनेवाले नन्हें-नन्हें पक्षी तिरस्कारसे हंस पड़े: "देखो तो, कितना अरसिक मनुष्य है ! प्रपात इतने प्रेमसे न्योता दे रहा है और यह विचारमें डूबा हुआ है ! इन मानवोंमें काव्य लिखनेवाले कई हैं, किन्तु काव्यका अनुभव करनेवाले बिरले ही होते हैं । और यह सामनेवाला आदमी अपने-आपको प्रकृतिका बालक कहलवाता है । आंखें फाड़-फाड़कर प्रपात-की ओर देख रहा है । नीचेका स्फटिक जैसा निर्मल पानी देखकर इसका हृदय भी उमड़ पड़ता है । किन्तु यह संकल्प नही कर पाता । इसके पैर नही उठते । इसे किसीने शाप तो दिया नही कि 'तू पत्थर बनकर पड़ा रहेगा ।' फिर भी वह पत्थर-से चिपका हुआ ही है !"

पक्षियोंकी यह निर्भर्त्सना सुनकर मैं लज्जित हुआ, और होशमे आनेके पहले ही मेरे पैर सीढ़िया उतरने लगे । मै सोच रहा था कि दाहिनी ओर वाले गड्ढेको लाघकर उस पारसे प्रपातके पास जाया जाय, या बाई ओरसे कगारके पीछेसे होकर २८ नंबरकी छोटी-सी गुफा तक पहुंचा जाय और वहासे प्रपातके जल-कणोका आनन्द लिया जाय ? दाहिनी ओरका रास्ता लम्बा और सुरक्षित था; जब कि बाई ओरवाले रास्तेमे काव्य था । नहानेकी तैयारी करके ही मै उतरा था, इसलिए भीगनेका तो सवाल ही नही था ।

२८ नंबरकी छोटी-सी गुफामे एक-दो मूर्तियां है; किन्तु उस गुफाके अंदर विशेष काव्य नही है । काव्य तो बाहर ही बिखरा हुआ है । इस गुफामे बैठकर यदि कोई बाहर देखे, तो पानीके पतले परदेमेंमें उसे अपने सामनेकी सृष्टिका जीवनमय विस्तार दिखाई देगा । प्रपात तो वहां गिरता है, किन्तु वह इतना घना नही है कि आरपार कुछ दिखाई ही न दे । यह गुफा पानीके परदेके पीछे ढंकी हुई रहने पर भी बिलकुल भीगती नही, क्योंकि खिलाड़ी पवन भी पानीके तुषारोंको गुफाके अंदर नही ले जा सकता । गुफाके जरा बाहर आये तो फिर यह शिकायत मत कीजिये कि पवनने आपको गीला क्यों कर दिया ।

हम इस गुफासे नीचे उतरे । कहनेकी आवश्यकता नही कि पहाड़ी चतुष्पाद बनकर ही हमें उतरना पड़ा । प्रपात जिस पत्थर पर गिरता है, वही मैने अपना आसन जमाया । सौ फुटकी ऊंचाईसे जो पानी गिरता है, वह केवल गुदगुदा कर ही संतोष नही मानता । उसने पहले सिर पर थप्पड़ें मारना शुरू किया; बादमें कंधे पर चपतें जमाई, फिर पीठ पर रप् रप् रप् रप् चपतें बरसने लगी और यात्राकी सारी थकावट उतरने लगी । अक्सर हम पहले मालिश करा कर बादमें नहाते हैं। यहां तो मालिश ही स्नान था और स्नान ही मालिश ! सीतामाताने यहां अपने बालोंको खोलकर पानीमें साफ-सुथरा कर लिया होगा ।

किन्तु यह क्या ? मैं घुमक्कड़ यात्री हूं या दुनियाका बादशाह हूं ? मेरी पलथी-

के नीचे यह रत्नखचित आसन कहांसे आ गया ? पानीके तुषार चारों ओर ऐसे फैल रहे हैं, मानो मोतियोंकी माला हो ! और आसनके नीचे दो सुन्दर इंद्रधनुष मुझे सम्राटकी प्रतिष्ठा प्रदान कर रहे हैं ! अलकापुरीके कुबेरसे मेरा वैभव किस बातमें कम है ? इंद्रधनुषकी दुहरी किनारवाले, चांदीके धागोंके आसन पर मैं बैठा हूं और मोतियोंकी मालाका उत्तरीय ओढ़कर यहां आनंद कर रहा हूं। माथे पर सूर्यनारायणका चमकता हुआ छत्र है और चारो ओर ये उड़ते हुए द्विजगण जगन्नाथके स्तोत्र गा रहे हैं !

बदन साफ करनेके लिए नही, बल्कि व्यायामका आनंद मनानेके लिए पत्थर पर सवार होकर प्रपातके नीचे मैने अपना सारा बदन मला। स्नान-पानका आनंद लूटा और रामरक्षा-स्तोत्रका स्मरण किया। सीतामैयाने जो स्थान पसंद किया, वहां रामरक्षा-स्तोत्रके गायनका ही स्फुरण होना स्वाभाविक था। और सिरसे लेकर पैर तकके सारे गात्रोंको मलकर साफ करते समय 'शिरो मे राघवः पातु: भालं दशरथात्मज:' आदि श्लोकोंको याद करनेका यह न्यास कितना उचित था !

० ० ०

स्वर्गको गए हुए लोग भी यदि अंतमें मृत्युलोकमें वापस आते है, तो फिर इस प्रपातस्नानका नशा चढ़ने पर भी उसमेंसे व्युत्थान करके फिर गद्यमय जीवनमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता मुझे मालूम हुई, इसमें भला आश्चर्य क्या ? इसलिए आखिर इतने मारे आनंदका स्वेच्छासे त्याग करनेकी अपनी संयम-शक्तिको सराहता हुआ मै वापस लौटा। और नये कपड़े पहनकर नाश्तेके लिए तैयार हुआ। नाश्ता क्या—वह तो कला-निरीक्षणके लिए की हुई दोपहर तककी तपस्या और प्रपातस्नानकी शांतिके बादका अमृत-भोजन तथा वेळगंगाका कृपा-प्रसाद ही था !

गुफामें स्थिर होकर खड़े हुए द्वारपालोंके यदि आंखें होतीं, तो उन्हें जरूर हमसे ईर्ष्या हुई होती !

सितम्बर, १९४०

२५. कृषक नदी घटप्रभा

घटप्रभा और मलप्रभा हमारी ओरके कर्णाटककी प्रमुख नदियां हैं। वे स्वभावसे किसान हैं। वे जहां जाती हैं वहां खेती करती हैं, जमीनको खाद देती हैं, पानी देती हैं और मेहनत करनेवाले लोगोंको समृद्धि देती हैं। इसमें भी गोकाकके पास एक बड़ा बांध बनाकर मनुष्यने इस नदीकी शक्ति बढ़ा दी है। जहां नदीके पानीकी पहुंच न थी, वहां इस बांधके कारण वह पहुंच गयी। घटप्रभाका नाम लेते

ही गोकाकके पासका लंबा बांध ध्यानमें जरूर आयेगा। बड़ी-बड़ी नदियां, जहां-तहांसे पंक खींच-खींचकर ले जाती है, जब कि ऐसी छोटी नदियां, हो सके वहांसे, थोड़ा-थोड़ा करके अच्छा कीमती पंक किसानोंको अपने पानीके साथ मुफ्तमें देकर अपने बालकोंका पालन करती हैं। सचमुच घटप्रभा कृषक जातिकी नदी है।

बेलगामसे इतना नजदीक होते हुए भी गोकाकके पासका घटप्रभाका प्रपात अभी देखना बाकी ही है।

१९२६-'२७

२६. कश्मीरकी दूधगंगा

श्रीनगरमें भला पानीकी कमी कैसे हो?

सतीसर नामक पौराणिक सरोवरको तोड़कर ही तो कश्मीरका प्रदेश बना हुआ है। झेलम नदी मानो इस उपत्यकाकी लंबाई और चौडाईको नापती हुई सर्पाकारमे बहती है। इसके अलावा जहा नजर डाले वहां कमल, सिघाड़े तथा किस्म-किस्मकी साग-सब्जी पैदा करनेवाले 'दल' (सरोवर) फैले हुए दीख पड़ते हैं। जिस वर्ष जल-प्रलय न हो वही सौभाग्यका वर्ष समझ लीजिये। ऐसे प्रदेशमे गाड़ीके संकरे रास्ते जैसे छोटे प्रवाहको भला पूछे ही कौन?

फिर भी ऐसे एक प्रवाहको कश्मीरमे भी प्रतिष्ठा मिली है।

इसमें पानी अधिक चाहे न हो, किन्तु यह प्रवाह अखंड रूपसे बहता है। न कम होता है, न बढ़ता है। इसका पानी सफेद रंगका है, इसीलिए शायद इसका नाम दूधगंगा रखा गया होगा। जिस नारायणाश्रममे हम रहते थे, उसके नजदीक-से ही यह दूधगंगा बहती थी। एक लंबी लकड़ी डालकर उस पर पुल बनाया गया था। नहानेके लिए दूधगंगा बहुत अनुकूल है। उसमे खड़े-खड़े नहाया जा सकता है, और तैरना हो तो थोड़ा तैरा भी जा सकता है। बुवा बीमार थे तब बरतन मांजनेमे, कपड़े धोनेमे और अन्य कामोमे दूधगंगाकी मुझे काफी मदद मिलती थी। उस अपरिचित प्रदेशमे जब हम दोनो बीमार पड़े, तब यदि दूधगंगाकी मदद हमें न मिलती तो हमारी क्या दशा हुई होती?

कृतज्ञताके कारण दूधगंगाका माहात्म्य खोजनेकी इच्छा हुई। सार्वजनिक पुस्तकालयमे जाकर मैने अनेक पुस्तकें ढूढ़ निकाली। यह जानकर मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी छोटी दूधगंगा बहुत दूरसे आती है और दूर-दूर तक जाती है। किस ऋषिने दूधगंगाको जन्म दिया, किस-किसने उसके किनारे तपस्या की आदि सब जानकारी मैंने खोज करके प्राप्त कर ली। इतिहासकी अनंत घटनाओकी तरह यह जानकारी भी विस्मृतिके प्रवाहमे फिरसे बह गई, और असली कृतज्ञता ही केवल

शेष रही है।

इतना याद है कि रोज सुबह मठके साधु स्नान करनेके लिए नदीपर इकट्ठा होते थे। और रातको जब सब सो जाते तब मैं दूधगंगाके किनारे बैठकर आकाशके ध्रुवका ध्यान करता था। मेरा ध्यान भी अधिक न चला, क्योंकि कश्मीरमें ध्रुव इतना ऊंचा होता है कि उसकी ओर देखनेमें गर्दन दर्द करने लगती है। वहां सप्तर्षिमेंसे अरुंधती-सहित वसिष्ठको सीधा सिर पर विराजमान देखकर कितना आश्चर्य मालूम होता था!

कश्मीर-तल-वाहिनी सती-कन्या दूधगंगाको मेरा प्रणाम।

१९२६-२७

२७. स्वर्धुनी वितस्ता

'संसारमें अगर कहीं स्वर्ग है,
तो वह यही है, यहीं है, यहीं है।'

सम्राट् जहांगीरने झेलम नदीके उद्गमको देखकर ऊपरका वचन कहा था। उसका यह वचन वहांके अष्टकोनी तालाबके पास पत्थरमें खोद दिया गया है। सचमुच यह स्थान भू-स्वर्गके पदके योग्य ही है। वेदकालमें इस नदीका नाम था वितस्ता।

जहां अंग-अंगमें और रोम-रोममें प्राण फूंकता हुआ ठंडा मीठा पवन बहता है; जहां वनश्री अपने यौवनका पूरा-पूरा उन्माद प्रकट करती है, जहांके पहाड़ अपने सौंदर्यसे मनमें संदेह पैदा करते हैं कि ये पहाड़ हैं या रंगभूमिका परदा, और जहांकी शांति चैतन्यसे भरी हुई है—वहींसे झेलमका उद्गम हुआ है। जहांगीरने इस उद्गम-स्थान पर एक अष्टकोनी तालाब बनवाया है। और अंदरका पानी? वह तो मानो नीलमणिका अमृत-रस हो! देखते ही मनमें आता है कि यहां नीलमें रंगे कपड़े किसीने धो डाले हैं। किन्तु इतना स्वच्छ और मीठा पानी अन्यत्र कहां मिलेगा?

इस तालाबके एक ओरसे जो सुन्दर, सीधी नहर बहती है, वही है हमारी वितस्ता-झेलम। इस स्वर्गका आनंद लूटनेके लिए मानो गंधर्व मछलियोंका रूप धारण करके इस तालाब और नहरमें नहानेके लिए उतरे हैं। ऐसी उसकी शोभा है। इस प्रदेशमें मछलियोंको पकड़नेकी यदि सख्त मनाही न होती तो भला इस सौंदर्यकी क्या दशा हो जाती? मैंने एक बड़ा बरतन नहरमें डुबो दिया तो उसीमें नहरकी पांच-सात मछलियां आ गईं—इतनी भोली हैं वे। मैंने उनको फिरसे नहरमें छोड़ दिया।

इस स्थानको वेरीनाग कहते हैं। यहांसे आगे खनबल नामक एक स्थान आता है। यहांसे झेलम नदी नावें चलाई जा सकें इतनी बड़ी हो जाती है। खनबलके पास ही अनंतनाग नामक एक सुन्दर तालाब है। यहांसे आगे सारी जमीन समतल है। कश्मीरकी सारी घाटी इसी तरह चारों ओर सपाट है।

झेलमको सीधा चलनेकी सूझती ही नहीं। मोड़ लेती-लेती मंद गतिसे वह आगे बढ़ती है। उसके किनारे एक बड़ी वैभवशाली संस्कृतिका विकास हुआ और अस्त भी हुआ। परन्तु वितस्ता आज भी जैसीकी तैसी ही बहती है।

खनबलसे आगे बीजब्यारा नामक एक स्थान आता है। वहां चिनारका एक खास पेड़ हमने देखा। नौ आदमियोंने हाथ फैलाकर उसको आलिंगन किया और उसके तनेको नापा। ठीक चौपन फुटका घेरा था !

बीजब्याराके मंदिरके बारेमें हमने यहां एक मजेदार दंतकथा सुनी, जो अंग्रेज लेखकोंने भी लिख रखी है।

धर्मांध मुसलमान जब यह मंदिर तोड़नेके लिए आये, तब यहांके पुजारियोंने उनका न तो कोई विरोध किया, न धन देकर मन्दिरको बचानेकी बात की। उन्होंने कहा, "आइये, आइये मदिरको तोड़ डालिये। हमारे शास्त्रोंमे लिखा है कि यवन आयेंगे और मूर्तिका नाश करके मंदिरको तोड़ डालेंगे। हमारे शास्त्रोंमे जो लिखा है, वह झूठा होनेवाला नही है।" बुतशिकन गाजीको लगा, "इनका मंदिर यदि तोड़ेंगे तो इन काफिरोंके शास्त्र सच्चे साबित होंगे। इससे बेहतर तो यह है कि यह एक मंदिर छोड़ दिया जाय।" पता नही यह कहानी कहा तक सच है, किन्तु यह हमारे यहांके बनियेकी कहानी जैसी चतुराईकी कहानी जरूर है। और यह बात भी सही है कि बीजब्याराका मदिर मुसलमानोंके आक्रमण या अमलके दरम्यान भी नही टूटा।

यहांसे कुछ दूरी पर अनंतपुर नामक एक प्राचीन शहर जमीनके नीचे दबकर छोटी पहाड़ी बन गया है। खेतोंमें खोदते समय पुरानी सुन्दर कारीगरी, कई प्राचीन कोठियां और कोयला बना हुआ चावल यहां मिला है, जिन्हें मैने खुद देखा है।

नदी इधर-उधर घूमती-घामती इतनी धीरेसे बहती है कि पानीका प्रवाह मालूम ही नहीं होता। नदीके प्रवाहके विरुद्ध दिशामें जब जाना होता है तब पतवार चलानेके बजाय किश्तीकी नाकको काफी लंबी डोरी बांधकर एक या दो आदमी किनारे परसे खींचते चलते हैं। किश्ती प्रवाहमे ही चले, किनारे पर न आये, इसलिए नावमें बैठा हुआ मांझी हाथमें रही पतवारको टेढ़ा पकड़ रखता है।

कश्मीरी शालोंके कोने पर आमके या काजूके आकारके जो बेलबूटे होते हैं वे यहांकी कारीगरीकी विशेषता हैं। कहते हैं कि झेलमके मोड़ देखकर यहांके कारीगरोंको ये बेलबूटे सूझे। एक दफा हमने नदीमें एक बंदरसे चौदह मीलकी

यात्रा की। इतनेमें पिछले बंदर पर जरा देरीसे आया हुआ यात्री पैदल चलकर हमसे आ मिला। उसे केवल ढाई मील ही चलना पड़ा। इतने मोड़ लेती हुई यह नदी बहती है।

इन मोड़ोंके कारण प्रवाहका जोर टूट जाता है और नदीका पात्र घिसता नहीं। जब बाढ़ आती है तभी सिर्फ 'सर्वतः संप्लुतोदके' जैसी स्थिति हो जाती है। यहांके प्राचीन इंजीनियर राजाओंने बाढ़के वक्त नदीको काबूमे रखनेके लिए ऐसे अनेक मोड़ तथा नहरें खोद रखी हैं।

यह इलाज इतना अकसीर है कि आज भी उसीका अनुकरण करना पड़ता है। एक बड़ी किश्तीमेसे सूअरके दातके जैसा एक बड़ा राक्षसी हल नदीके तलकी जमीनको चीरता हुआ जाता है और अदरके कीचड़को बिजलीके पंप द्वारा बाहर फेंकता जाता है। यह सारी प्रवृत्ति 'वराहमूलम्' (आजकलका बारामुल्ला) क्षेत्रमें देखनेको मिलती है।

बारामुल्ला कश्मीरकी घाटीके उस पारका सिरा है। वहासे आगे झेलम जोरोमे दौड़ती है।

इस सारे प्रदेशके बीचोबीच कश्मीरकी राजधानी श्रीनगर हे। जो नदीके दोनो किनारो पर बसी हुई है। नदीके ऊपर थोड़े-थोड़े अंतर पर सात पुल (कदल) बनाये गये है। इसके सिवा, दोनो ओरसे शहरके अदर तक नदीमेसे नहरे खोदी हुई होनेके कारण अनायास ही शांत प्रवाही जलमार्ग मिलते हैं। नदीका मुख्य प्रवाह ही राजमार्ग है। बाकीकी नहरे आकर इस राजमार्गसे मिलनेवाले गौण रास्ते हैं। खुश्की रास्तों पर जिस प्रकार गाड़ियां दौड़ती हैं, उसी प्रकार यहां लंबी और सकरी 'शिकारा' किश्तियां तीरकी तरह दौड़ती है। नदीमे किश्तियोकी चाहे जितनी धूमधाम हो, वह बिना आवाजकी ही होती है।

दोपहरको जब महाराजाके मंदिरकी पूजा पूरी होती है और अगले दिनके निर्माल्य फूल नदीके पाट पर फेंक दिये जाते है, तब ये फूल करीब आधे मील तक आहिस्ता आहिस्ता लम्बी हारमे बहते हुए बड़े सुन्दर दिखाई देते है।

और इस नदीके किनारे चलनेवाली प्रवृत्ति भी किस प्रकारकी है! कही शतरजियां बुनी जाती है तो कही अप्रतिम गालीचे। एक जगह अखरोटकी लकड़ी पर सुंदर कारीगिरीका काम चल रहा है, तो दूसरी जगह रेशमका कारखाना भट्टे कीड़ोंको उबालकर सुदर मुलायम रेशम बना रहा है। चीन, तिब्बत तथा समरकंद और बुखाराके सौदागर यहां महीनों तक पड़ाव डाले पड़े रहते हैं और होशियार पंजाबी उनसे तिजारत करनेमे मशगूल रहते हैं। जहां देखें वहां हाथोंसे ज्यादा लम्बी बांहवाले कोट पहने हुए लोग घूमते नजर आते हैं।

आगे जाकर यही झेलम हिन्दुस्तानके बड़ेसे बड़े सरोवर वुलरमें जा गिरती है और उसमें बिलीन होकर गुप्त रूपसे लम्बी यात्रा करके दूसरे छोर पर बाहर

निकलती है और बारामुल्लाकी ओर जाती है। वहां इस नदीमेंसे एक कृत्रिम नहर पैदा करके जो बिजली तैयार की जाती है वही कश्मीरके राज्यको पर्याप्त शक्ति देती है। अबटाबादके नजदीक यह नदी दिशा बदलती है और दौड़ती हुई आगे बढ़ती है। झेलमकी सारी घाटी अपने सौंदर्यके लिए प्रख्यात है।

लोककथा कहती है कि अकबर बादशाह इस घाटीके सौंदर्यके नशेमें ऊपरसे नीचे कूद पड़े थे। यह कवि-कल्पना भले हो, किन्तु घाटीको देखने पर इस तरहका नशा चढ़ना संभव तो अवश्य जान पड़ता है। ऐसी लोककथाएं किसी राजाके गौरवका वर्णन करनेकी अपेक्षा नदीके मोहक सौंदर्यकी तारीफ करनेके लिए ही अर्थवादके तौर पर गढ़ ली जाती हैं।

जब हिन्दुस्तानका सच्चा इतिहास लिखा जायगा, तब उसमें बड़ी-बड़ी नदियोंके अनुसार देशके अलग-अलग विभाग बनाये जायंगे। ऐसे इतिहासमे झेलम-की स्वर्गीय संस्कृतिका विभाग मामूली नहीं होगा। सचमुच झेलमको स्वर्धुनीका ही नाम शोभा देता है।

१९२६—'२७

२८. सेवाव्रता रावी

सिन्धु नदीको करभार देनेवाली पांच नदियोंमें वितस्ता—झेलम—और शुतुद्री दो ही महत्त्वकी मानी जाती हैं। बाकीकी नदियां अपने जिम्मे आया हुआ काम नम्रताके साथ पूरा करती हैं। जिस प्रकार किसी श्रेष्ठ पुरुषसे मिलनेके लिए शिष्ट-मंडल जाता है, उसी प्रकार ये नदियां धीरे-धीरे साथ मिलकर आखिर सिन्धु-से जा मिलती हैं। व्यास सतलुजसे मिलती है। चिनाब झेलमसे मिलती है और रावी इन दोनोंसे मिलती है। मुलतानके पास तीन नदियोंका पानी लाती हुई झेलम हिन्दुस्तानके उस पारसे आनेवाली सतलुजसे मिलती है। और अन्तमें इन सबोंका बना हुआ पंचनद सिन्धुमें मिलकर कृतार्थ होता है। सिन्धुसे बातें करने-वाले शिष्ट-मंडलका अध्यक्षीय स्थान तो सतलुजको ही मिल सकता है, क्योंकि वह भी सिन्धुकी तरह परलोकसे (हिमालयके उस पारसे) ही आती है।

इन पांच नदियोंमे मध्यम स्थान इरावतीका यानी रावीका है। वेदोंमें इराका अर्थ है पानी, आह्लादक पेय। यों तो नदीमें पानी होता ही है। किन्तु इस नदीके विशेष गुणको देखकर ऋषियोंने उसे इरावती नाम दिया होगा। ब्रह्मदेशकी ऐरावती (इरावान्=समुद्र) को समुद्रके समान विस्तृत देखकर क्या यह नाम दिया होगा? रावी इतनी विस्तृत नहीं है।

स्वामी रामतीर्थकी जीवनीमें रावीका जिक्र अनेक जगह पर आता है। रावी-

को देखकर स्वामी रामतीर्थकी आंखें प्रेमसे भर आती थी। वैराग्य और संन्यासके कच्चे विचार उन्होंने इस नदीके किनारे ही पक्के किये । किन्तु रावी तो सिख-गुरु अर्जुनदेव और सिख-महाराज रणजीतसिंहके लिए ही आंसू बहाती दिखाई देती है।

मैं लाहौर गया था तब इरावतीके पुण्य दर्शन कर पाया था। उस समय वह कितनी शांत थी ! उसके विशाल पट पर सारा लाहौर उलट पड़ा था। लोगोंकी धूमधाम और पैसेवालोंकी शान-शौकत तथा विलासके सामने रावीकी शांति विशेष रूपसे शोभा पाती थी। यहां रावीका दृश्य ऐसा मालूम होता था, मानो सारे लाहौरको अपनी गोदमें लेकर खेलाती हो !

अपना पावन और पोषक जल देनेके अलावा रावी अपने बच्चोंकी विशेष सेवा करती है। हिमालयके घने अरण्योंमें चीड़, देवदार, बांझ, सफेता आदि आर्य वृक्षों-के घने नगर बसे हुए हैं। कही-कही तो ऐन दोपहरके समय भी सूरजकी धूप जमीन तक बड़ी मुश्किलसे पहुंचती है। और वयोवृद्ध वृक्षोंका एकाध पितामह जब उन्मूल होकर गिर पड़ता है तब भी उसका जमीन तक पहुंचना असंभव-सा हो जाता है। आसपासके वृक्ष अपनी बलवान भुजाओंमें उसको अंतरिक्षमें ही पकड़ लेते हैं। मानो बाणशय्या पर पड़े हुए भीष्माचार्य हों। बरसों तक इस तरह अधर ही अधर-में रहकर ठंड, धूप तथा बारिश सहते हुए आखिर इस भीष्माचार्यका विशाल शरीर छिन्न-भिन्न और चूर्णित होकर लुप्त हो जाता है।

ऐसे जंगलोंमे इमारती लकड़ी काटकर लाना आसान बात नही है। इसलिए लोगोंने रावीका आश्रय लिया। रावीके किनारे जहां बड़े-बड़े जंगल हैं वहां लकड़ी काटनेवाले जाते हैं और लकड़ीके बड़े-बड़े लट्ठे काटकर रावीके प्रवाहमें छोड़ देते हैं। बस हो-हा करते हुए वे चलने लगते हैं। कही-कही पाठशालामें जानेवाले आलसी लड़कोंकी भांति वे धीरे-धीरे और रुकते-रुकते भी चलते हैं। और कही-कही शामके समय घरकी ओर दौड़नेवाले सांड़ोंकी तरह वे नाचते-कूदते, ऊपर-नीचे होते, एक-दूसरेसे टकराते हुए दौड़ते जाते हैं।

जब सजीव जानवरोंको भी हांकनेके लिए गड़रियोंकी आवश्यकता होती है, तब ये निर्जीव लट्ठे ऐसी किसी देखरेखके बिना मुकाम तक कैसे पहुंच सकते हैं ? नदीका कही मोड़ देखा कि सब रुक गये। एक रुका इसलिए दूसरा रुका। उसके सहारे तीसरा। 'आगे जानेका रास्ता नहीं है' कहकर चौथा रुका। 'क्या देखकर ये सब यहां खड़े हो गये हैं, देखूं तो सही !' कहकर पांचवां रुका। रात बितानेके लिए यह पड़ाव होगा, ऐसा ईमानदारीके साथ मानकर सांतवां, आठवां और दसवां रुका। बादमें आये हुए तो यह मानने लगे कि हमारा मुकाम ही यहीं है, अब यात्रा करना बाकी नहीं रहा। जहां सब रुके 'सा काष्ठा सा परा गतिः'।

सुबह होते ही इन लट्ठोंके गड़रिये आते हैं और सबको आगे हांक ले जाते हैं।

'अरे भई, चलो-चलो' करते यह काफिला फिर कूच शुरू करता है। नदीका प्रवाह अच्छा हो वहां तक तो यह यात्रा ठीक चलती है। मगर जहां प्रवाह ज्यादा तेज, छिछला या पथरीला होता है वहां बड़ी मुश्किल होती है। एकाध लंबे लट्ठेको दो बड़े पत्थरोंका आश्रय मिल गया कि वह वहीं रुक जायगा और कहेगा 'मैं तो यहां-से हटनेवाला ही नहीं हूं। और दूसरोंको भी नहीं जाने दूंगा।' ऐसी जगह पर उन लट्ठोंके जानेके लिए पांच-सात ही स्त्रेज नहरें होंगी। वे रुंध गई कि सारा काफिला रुक गया समझिये। गड़रिये यहीं तैर कर आनेकी हिम्मत भी नहीं करेंगे; क्योंकि उनको इन लट्ठोंसे अधिक अपना सिर प्यारा होता है। किनारे पर खड़े रहकर लम्बे-लम्बे बांसोंसे ढकेल-ढकेलकर कइओंको निकाला जा सकता है। किन्तु जो प्रवाहके बीचोंबीच रुक गये हों उनका क्या ?

मनुष्यने इस आफतका भी इलाज खोज निकाला है। हिमालयमें भैंसके समान बड़े जानवर रहते होंगे। उनकी पूरी खाल उतारकर उसको सी लेते हैं और उसका थैला बनाते हैं। गलेकी ओरसे हवा भरकर उसे भी सी डालते हैं। इससे यह जानवर अप्सराकी तरह, बिना मांस हड्डियोंका, हवासे भरा हुआ हो जाता है और पानी पर तैरने लायक बन जाता है। उसके चार पांव भी हड्डियोंको निकाल कर जैसेके तैसे रखे जाते हैं फिर इस तैरते हुए फुग्गे या मश्कको पानीमें छोड़कर ये गड़रिये उसके पेट पर अपनी छाती रख देते हैं और पांव हिलाते-हिलाते तय किये हुए मुकाम पर पहुंच जाते हैं। फुग्गेके कारण पानीमें तैरना आसान हो जाता है। फुग्गेके पांवोंको पकड रखने पर वह छातीके नीचेसे खिसकता नहीं और तेज प्रवाहमें कहीं पत्थरसे टकराने पर चोट खालको ही लगती है, उस पर सवार हुए आदमीको नहीं।

इतनी तैयारी होने पर वे लट्ठे भटकते हुए कैसे रह सकते हैं ? एक-एकको तो आगे बढ़ना ही पड़ता है। पहाड़की घाटियोंको पार कर एक बार बाहर निकल आये कि ये लट्ठे मनचाहे ढंगसे अलग-अलग न हो जायं इसलिए उनके गड़रिये सबको रस्सेमे बांधकर उन पर सवार होते हैं और उन्हें आगे ले जाते हैं।

लाहौरमें रावीके प्रवाह पर इन लट्ठोंके कई काफिले तैरते हुए दीख पड़ते है। उनके शत्रु उनको पानीसे बाहर निकालकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं; और फिर मनुष्योंके मकान या दूसरे साज-सामान तैयार करनेके लिए दधीचि ऋषिकी तरह उन्हें अपना शरीर अर्पण करना पड़ता है। अपने पर्वतीय सहोदरोंको मनुष्य-की सेवामें इस प्रकार लाकर छोड़ते समय रावीको कैसा लगता होगा ? रावी इतना ही कहती होगी : 'भाइयो, परोपकाराय इदं शरीरम्।'

जून १९३७

२६. स्तन्यदायिनी चिनाब

कश्मीरसे लौटते समय पैर उठते ही नहीं थे। जाते समय जो उत्साह मनमें था, वह वापस लौटते वक्त कैसे रह सकता था? इसी कारण, जाते समय जो रास्ता लिया था, उसे छोड़कर पीर पुंजालके पहाड़ोंको पार करके हम जम्मूके रास्तेसे आ रहे थे। श्रीनगरसे जम्मू तक गाड़ीका रास्ता भी नहीं है। हिम्मत हो तो पैदल चलिये, वरना कश्मीरी टट्टू पर सवार हो जाइये। रास्तेमें प्रकृतिकी संदरता और जहांगीरकी विलासिताका कदम-कदम पर अनुभव होता है। जहां देखें वहां बंधे हुऐ जलाशय और पहाड़ोंमें बनाये हुए रास्ते दीख पड़ते हैं। आज शिमलाकी जो प्रतिष्ठा है, वही या उससे भी अधिक प्रतिष्ठा जहांगीरके समयमें श्रीनगरकी थी। ऐसे बादशाही पहाड़ी रास्तेसे वापस लौटते समय भगवती चंद्रभागाके दर्शन किये थे। लोग आज उसे चिनाबके नामसे पहचानते हैं।

यदि मैं भूलता नही हूं तो हम रामबनके आसपास कही थे। सारा दिन और सारी रात चलना था। चांदनी सुंदर थी। थके-मांदे हम रास्ते पर पियक्कड़ आदमीकी तरह लड़खड़ाते हुए चल रहे थे।पांवोंके तलुओंमें छाले निकल आये थे। घुटनोंमें दर्द था और निराश नींदका रूपांतर हुआ था आधी क्लान्तिमें। निद्रा सुखावह होती है; तन्द्रा वैसी नहीं होती।

ऐसी हालतमें हम आगे बढ़ रहे थे, इतनेमें दायीं ओरकी गहरी घाटीमेसे गंभीर ध्वनि सुनाई दी। सामनेकी टेकरी परसे झुककर आया हुआ पवन शीतल-सुगंधित मालूम होने लगा। तन्द्रा उड़ गयी। होश आया। और दृष्टि कलरवका उद्गम खोजने दौड़ी। कैसा मनोहर दृश्य था! ऊपरसे दूधके जैसी चांदनी बरस रही है। नीचे चंद्रभागा पत्थरोंसे टकराकर सफेद फेन उछाल रही है। और उसका आस्वाद लेकर तृप्त हुआ पवन हमें वहांकी शीतलता प्रदान कर रहा है।

साथ आये हुए एक आदमीसे मैंने पूछा, "यह कोई नदी है, या पहाड़ी प्रवाह है?" उसने जवाब दिया, "दोनों है। वह तो मैया चिनाब है।" मैंने चिनाबको प्रणाम किया। नीचे तो उतरा नहीं जा सकता था। अतः दूरसे ही दर्शन करके पावन हुआ। प्रणाम करके कृतार्थ हुआ और आगे चलने लगा।

क्या यही है वेदकालीन भगवती चंद्रभागा! कई ऋषियोंने अपने ध्यान और अपनी गायोको यहां पुष्ट किया होगा। आज भी उद्यमी लोग इस नदी माताका दोहन कम नही करते। मेरी जीवन-स्मृति शुरू होती है उसी समय पहाड़ों जैसे कद्दावर पंजाबी इस नदीके किनारे पर नहरें खोदते थे। आज पचीस लाख एकड़ जमीन इस माताके दूधसे रसकस प्राप्त करती है और पंजाबी वीरोंका पोषण करती है। वेदकालीन चिनाबका सत्त्व आर्योंके उत्कर्षमें काम आता था। रणजीतसिंहके समयमे यही जल गुरुकी फतह पुकारता था। आजका रंग भी अंतिम नही है।

चिनाबका पानी बिलकुल निःसत्त्व नहीं हुआ है। पंचनदकी प्रतिष्ठा फिरसे जागेगी और सप्तसिंधुका प्रदेश भारतवर्षको भाग्यके दिन दिखलायेगा।

१९२६-'२७

[चिनाबका प्रवाह पंजाबकी भाग्यरेखा होनेके बजाय आज पंजाबके बंटवारेकी रेखा बना है, यह कितना दैवदुर्विपाक है!]

३०. जम्मूकी तवी अथवा तावी

किसी नदीके बारेमें कहने जैसा कुछ न मिले तो भी क्या? उसमें स्नान करनेका आनंद कम थोड़े ही होनेवाला है! नदीका महत्त्व स्वतःसिद्ध है। उसके नामके साथ कोई इतिहास जुड़ा हुआ हो तो धन्य है वह इतिहास। नदीको उससे क्या? इतिहासकी दिलचस्पी विग्रहके साथ अधिक होती है—जब कि नदीका काम संधिका, मेलजोलका होता है। किसानोंको और पथिकोंको, पशुओंको और पक्षियोंको अपने जलसे संतुष्ट करती हुई नदी जब बहती है, तब वह 'आत्मरति, आत्मक्रीड़ और आत्मन्येव च संतुष्ट' जैसी मालूम होती है। आप नदीसे पूछिये, 'तेरा इतिहास क्या है?' वह जवाब देगी, 'मैं पहाड़की लड़की हूं। असंख्य मानव तथा तिर्यक् प्रजाकी माता हूं। मैं सागरकी सेवा करती हूं, और आकाशके बादल ही मेरे स्वर्गस्थान हैं। बस इतना इतिहास मेरी दृष्टिसे महत्त्वका है।' ज्यादा पूछो तो तावी कहेगी कि आसपासके प्रदेशको पिलानेके बाद मेरा जो पानी बचता है वह मैं चिनाबको देती हूं। चिनाब अपना पानी झेलममें विसर्जन करती है। झेलम सिंधुसे मिलती है। और सिंधु हम सबका पानी सागरमें छोड़कर अपनेको और हम सबको कृतार्थ करती है। वही है हमारी सायुज्य मुक्ति। बाकी पागलोंका इतिहास तुम जानो। दुश्मनी और पागलपनका इतिहास भला कभी लिखा जाता है? वह तो भूल जानेकी बात है, भूल जानेकी। क्या तुम दुश्मनी और जहरको कायम रखनेके लिए इतिहास लिखते हो? ऐसे इतिहासको दफना दो या धो डालो। सेवाका इतिहास ही सच्चा इतिहास है। त्रिगर्तवासी डोगरा, गद्दी और गुज्जर जैसी प्रजा मेरी संतान है। उनका जीवन ही मेरा जीवन है।'

कश्मीरकी यात्रा पूरी करके हम जम्मू आये और रघुनाथजीके मंदिरमें ठहरे। पासमें ही तवी बह रही थी। जम्मूकी ओरका तवीका किनारा खासा ऊंचा है। तवी भी वैसी ही है जैसी बहुतसी नदियां होती हैं। उसमें असाधारण कुछ नहीं है। एक महाराष्ट्रीय इंजीनियरसे हम मिलने गये थे। उन्होंने बताया कि 'तवीके ऊपर बिजलीके यंत्र लगाये गये हैं। इस बिजलीसे बहुतसा काम किया जा सकता है।' किन्तु तवीको उससे क्या? वह तो निरन्तर बहती ही रहती है।

१९२६-'२७

३१. सिन्धुका विषाद

हिमालयके उस पार, पृथ्वीके इस मानदंडके लगभग बीचमें, कैलासनाथजीकी आंखोंके नीचे चिर-हिमाच्छादित पुण्यवान प्रदेश है, जिसके छोटेसे दायरेमें आर्यावर्तकी चार लोकमाताओंका उद्गम-स्थान है। उस पार और इस पारका विचार यदि न करें, तो हम कह सकते हैं कि उत्तर भारतकी लगभग सभी नदियां यहांसे झरती हैं।

हिमालय हिन्दुस्तानका ही है, और किसी देशका नहीं, मानो यही सिद्ध करनेके लिए हिमालयके उत्तरकी ओर बहनेवाले पानीकी एक-एक बूंद इकट्ठा करके, हिमालयके दोनों छोरोंसे घूमकर उन्हें हिन्द महासागर तक पहुंचानेका काम सिन्धु और ब्रह्मपुत्र, दोनों नद अखंड रूपसे करते हैं। ये दो नद ऐसे लगते हैं, मानो श्री कैलासनाथजीने भारतवर्षको अपनी भुजाओंमें लेनेके लिए दो कारुण्यबाहु फैलाये हों। हिमालयकी रुकावट मानो सहन न होती हो इस तरह सतलुज और घाघरा हिमालयकी गोदमेंसे सीधा रास्ता निकाल कर मानसरोवरका जल भारतवर्षके दो बड़े प्रांतोंको पिलाने लगती है। जब कि गंगा, यमुना और उनकी असंख्य बहनें पिताका लिहाज रखकर इस ओर रहते हुए वही काम करती हैं। पंजाबकी पांच नदियां और युक्तप्रांतकी (उत्तर प्रदेशकी) पांच नदियां मिलकर भारतवर्षकी समृद्धिको दसगुना बढ़ा देती हैं। ये दसों नदियां भारतीय हैं। केवल सिंधु और ब्रह्मपुत्रको अति-भारतीय कह सकते हैं।

भारतवासी गंगा मैयाको प्राप्त करके सिंधुको मानो भूल ही गये हैं। सिन्धुके तट पर आर्योंके धर्मप्रसिद्ध तीर्थ हैं ही नहीं। वैदिक देवताओंके देवता इन्द्रको जिस प्रकार हम भूल गये हैं, उसी प्रकार सप्त-सिंधुमेंसे मुख्य सिन्धु नदीको भी मानो हम भूल ही गये हैं। दक्षिण और पूर्वकी ओर महासाम्राज्योंकी स्थापना करके प्राचीन आर्य वायव्य दिशाके प्रति कुछ उदासीनसे बने और इस कारण हमेशाके लिए खतरेमें आ पड़े। उत्तरकी ओर तो हिमवानकी रक्षा थी ही। पश्चिमकी ओर ठेठ अन्दर तक राजपूतानेकी मरुभूमि और राजपूत तथा डोगरा जातिके शौर्यसे पूरी रक्षा मिलती थी। उससे बाहर वेगवती सिंधु रक्षा कर रही थी। इससे आगे करतार (खिरथर) से लेकर हिन्दूकुश तक प्रचंड पर्वतमालाकी रक्षा थी। पहाड़ी परोपनिसदी (अफगान) लोगोंकी स्वातंत्र्य-प्रियता भी विदेशियोंको इस ओर आने नहीं देती थी। मगर जहां देशवासी ही उदासीन हो गये, वहां पहाड़ी दीवारें और नदियां कितनी रक्षा कर सकती हैं? परोपनिसदी लोगोंमें यवन मिल गये और बाल्हीकके पास हिन्दुस्तानकी जो शास्त्रीय फौजी सीमा थी, वह खिसकती खिसकती अटक तक आकर अटक गई। और अटकने भी विदेशियोंको अंदर आनेसे अटकानेके बजाय भारतवासियोंको बाहर जानेसे ही अटकाया! रामी सेमी-

रामिस हिन्दुस्तान आनेसे नहीं अटकी। फारसके सम्राट दरायस पंजाब और सिंधुसे सुवर्णकरभार लेनेसे न अटके। युएची तथा हूण लोग हिन्दुस्तान आनेसे न अटके। सिकंदर पांच नदियोंको पार करनेसे न अटका। महमूद या बाबरको भी यह अटक न अटका सकी। हमें मालूम होना चाहिये था कि जिस नदीने काबुल नदीके पानीका स्वीकार किया वह पश्चिमकी ओरसे आनेवाले लोगोंको नहीं अटकायेगी !

पश्चिम तिब्बतमें कैलासकी तलहटीमे सिन्धुका उद्‌गम है। वहांसे सीधी रेखामें वायव्यकी ओर वह दौड़ती है, क्योंकि अंतमें उसे नैॠत्यकी ओर जाना है। कश्मीरमें घुसकर लेहकी फौजी छावनीकी मुलाकात लेती हुई काराकोरम पहाड़की रक्षामें वह सीधी आगे बढ़ती है। स्कार्डुके पास उसे होश आता है कि मुझे हिन्दुस्तान जाना है। गिलगिटके किलेको दूरसे देखकर वह दक्षिणकी ओर मुड़ती है। चित्रालकी ओर तो वह खुद जाना नही चाहती, लेकिन यह जांचनेके लिए कि वहांका पानी कैसा है, वह स्वात नदीको अपने पास बुलाती है। स्वात भला अकेली क्यों आने लगी ? उसकी निष्ठा काबुल नदीके प्रति है। सफेद कोहका पानी लानेवाली काबुलसे मिलकर वह अटकके पास सिन्धुसे आ मिलती है। अब सिन्धु पूरी-पूरी भारतीय बन जाती है। स्वात और काबुलके पास सुननेके लिए काफी इतिहास पड़ा है। खैबरघाटसे कौन-कौन लोग आये और गये, बैक्ट्रियाके यूनानी लोग किस रास्तेसे आये, और कर्नल यंगहसबंड वहांसे चित्रालकी चढ़ाई पर कैसे गया—आदि सारा इतिहास ये दो नदियां बता सकती है। अमीर अमानुल्लाने गरमीके पागलपनमें परसों ही जो चढ़ाई की थी उसकी बात यदि पूछें तो वह भी ये बता सकेंगी। और कोहाटकी क्रूरतासे भी सिन्धु अपरिचित नही है। वजीरिस्तान और बन्नूमें क्षात्रधर्मको लज्जित करनेवाली जो घटनाएँ घटी थीं, उनकी कहानी कुरमके मुंहसे सुनकर सिन्धुका जी कांप उठता है। क्रुमु या कुरम नदी सिन्धुसे मिलती है तब उसका प्रवाह बिगड़ता है। पहाड़के अभावमें वह मर्यादामें नही रह पाता। छोटे-बड़े टापू बनाती-बनाती सिन्धु डेरा इस्माइलखांसे लेकर डेरा गाजीखां तक जाती है।

अब सिन्धु पाचों नदियोंके पानीकी राह देखती हुई संकरी होकर दौड़ती है। जम्मूकी ओरसे आनेवाली चिनाब कश्मीरी झेलम नदीसे मिलती है। लाहौरके वैभवका अनुभव करके तृप्त बनी हुई रावी इन दोनोंसे मिलती है। व्यासके पानीसे पुष्ट बनी सतलुज इन तीनोंके पानीमें जा मिलती है। और फिर उन्मत्त बना हुआ पंचनदका प्रवाह अपनी पूरी रफ्तारके साथ मिट्ठनकोटके पास सिन्धुके ऊपर टूट पड़ता है। इतने बड़े आक्रमणको सहकर, हजम करके, अपना ही नाम कायम रखनेवाली सिन्धुकी शक्ति भी उतनी ही बड़ी होनी चाहिये।

सिन्धु न सिर्फ अपना नाम ही कायम रखती है, बल्कि यहांसे वह अपने

जीवनकी उदार कृपाको अनेक प्रकारसे फैलाती हुई आसपासके प्रदेशको भी अपना नाम अर्पण करती है। 'त्यागाय संभृतार्थानाम्' के उदाहरणरूप आर्य राजाओंका ही वह अनुकरण करती है। बड़ी-बड़ी सात घाटियोंका पानी वह इकट्ठा जरूर करती है, मगर सारा पानी अनेक मुखोंसे महासागरको देनेके लिए ही। और बीच-में यदि कोई गरजमंद आदमी उसमेंसे मनमाना पानी कही ले जाना चाहे, तो सिन्धुको कोई एतराज नहीं है।

फिर भी गंगा मैयाकी उदारता सिन्धुमें नहीं है। इसलिए अटक और सक्कर-से लेकर हैदराबाद तक उस पर पुल बनाये गये है। सक्करका पुल फौजी दृष्टिसे बहुत महत्त्वका है। सिंधुमें स्थित एक बड़े टापूसे लाभ उठाकर यह पुल बनाया गया है। मगर रोहरीकी ओर जहां पानी गहरा है, वहां यह पुल किसी भी समय पंखेकी तरह समेटकर इकट्ठा किया जा सकता है। यदि फौजके लिए सिन्धुको पार करना असंभव-सा बना देना हो, तो एक मंत्र बोलते ही सारा पुल लुप्त हो सकता है। फिर शिकारपुर-सक्कर अलग और रोहरी अलग।

यह बात नहीं है कि शिकारपुर-सक्करको अंग्रेजोंने ही महत्त्व दिय. है। यहां-के हिन्दू व्यापारी प्राचीन कालसे बोलनघाटके रास्तेसे कंदहार जाकर मध्य एशिया मे तिजारत करते आये हैं। हिरात या मर्व, बुखारा या समरकंद, कही भी देखिये आपको शिकारपुरके व्यापारी जरूर मिल जायेंगे। शिकारपुरकी हुंडी मास्को और पिटर्सबर्ग (लेनिनग्राड) तक सकारी जाती थी। सक्करका स्मरण करें और बड़े जहाजके समान पानीमें तैरनेवाले साधुबेला नामक टापूका स्मरण न हो यह असंभव है। साधुओंकी काव्यमय अभिरुचि हमेशा सुन्दरसे सुन्दर स्थान पसंद करती है। साधुबेलाके सौंदर्यकी ईर्ष्या सम्राट् भी करेंगे।

पता नहीं, सिन्धुको आराम लेनेकी सूझी या सिंघाड़े खानेकी; वह यहांसे मंचर सरोवरकी दिशामें दौड़ती है। किन्तु समय पर सावधान होकर या खिरथर (करतार) के कहने पर वह वापस लौटती है और शेवणसे आग्नेय दिशामें मुड़कर हैदराबाद तक जाती है। यह प्रदेश कई युद्धोंका साक्षी है। मालूम नहीं, जयद्रथके समयमें यहांकी स्थिति कैसी थी। मगर दाहिर और जच्चके समयमें यह प्रांत काफी पिछड़ा हुआ रहा होगा। चंद्रगुप्तके पहले ईरानी साम्राज्यको सोना दे देकर निःसत्त्व हो जानेके कारण कहो, या वहांके ब्राह्मण राजाओंके अनाचारोंके कारण कहो, वहांकी प्रजा बिलकुल कंगाल और कमजोर हो गई थी। ईरानका बादशाह आये या सिकंदर आये, बगदादका मुहम्मद-बिनकासिम आये या सर चार्ल्स नेपियर आये, सिन्धु-तटवासी लोग हर समय हारे ही हैं।

जब सिकंदरने जहाजोंमें बैठकर सिन्धुको पार किया तब उसने अपनी रक्षाके लिए दोनों किनारों पर अपनी फौज चलाई थी। आज अंग्रेजोंने सिन्धुकी रक्षाके लिए नहीं, बल्कि पंजाबका गेहूं विलायत ले जानेके लिए सिन्धुके दोनों तट पर रेलें

दौड़ाई हैं। सिन्धुका प्रवाह काफी वेगवान होनेसे गंगाकी तरह उसमें जहाज नहीं चल सकते। इसी कारणसे कराचीके पासके केटी बंदरगाहका कोई महत्त्व नहीं रहा है।

सिन्धुके मुखका प्रदेश सिन्धुके ही पुरुषार्थके कारण बना है। दूर-दूरसे कीचड़ और बालू ला-लाकर सिन्धु वहां उड़ेलती गई है। नतीजा यह हुआ है कि अरबी समुद्रको हमेशा अत्यंत सूक्ष्मतासे या 'बहादुरीसे' पीछे हटना पड़ा है।

सिन्धुका प्रवाह सिन्धु नामको शोभा दे इतना विस्तीर्ण और वेगवान है। गरमीके दिनोंमें जब पिघले हुए बर्फके पानीका पूर उसमें आता है, तब उसको घोड़े या हाथीकी उपमा शोभा तो क्या दे, वह सूझती भी नहीं। उसको तो जल-प्रलय ही कहना होगा। सागरकी लहरें जैसी उछलती हैं, वैसी ही सिन्धुकी लहरें उछलती हैं। मगरमच्छोंके गुरु बन-सकें, ऐसे तैराक भी पूरके समय पानीमें कूदनेकी हिम्मत नहीं करते।

प्रेम-दीवानी सती सुहिणीकी ही, कच्चे घड़ेके आधार पर, ऐसे प्रवाहमें कूदनेकी हिम्मत हो सकती थी। प्रेमका प्रवाह, प्रेमका वेग और परिणामके बारेमें प्रेमका निरादर महासिंधुसे भी बड़ा होता है।

सितंबर, १९२९

३२. मंचरकी जीवन-विभूति

जिसने पानीको जीवन कहा, वह कवि था या समाजशास्त्री ? मुझे लगता है वह दोनों था। बिना पानीके न तो वनस्पति जी सकती है, न पशु-पक्षी ही जी सकते हैं। तब फिर दोनोंका आश्रित मनुष्य तो बिना पानीके टिक ही कैसे सकता है, ईश्वरने पृथ्वीके पृष्ठभाग पर तीन भाग पानी और एक भाग जमीन बनाकर यह बात सिद्ध की है कि पानी ही जीवन है। बेहोश आदमी आंखोंको पानीकी एक ठंडी बूंद लगनेसे भी होशमें आ जाता है, तो फिर अनंत बूंदोंसे छलकते हुए सरोवरको देखकर जीवन कृतार्थ होने जैसा आनन्द यदि वह अनुभव करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

अनंत सागर और उसकी अनंत तरंगोंको देखने पर मनुष्यको उन्माद होना स्वाभाविक है। पर जिसके सामनेके किनारेकी थोड़ी झांकी ही हो सकती है, और इस कारण आंखोंको जिसके विशाल विस्तारका माप पानेका आनंद मिल सकता है, ऐसे शांत सरोवरका दर्शन मित्र-दर्शनके समान आह्लादक होता है। सागर अज्ञातमें कूद पड़नेके लिए हमें बुलाता है, जब कि सरोवर अपनी दर्पण जैसी शीतल पारदर्शक शांति द्वारा मनुष्यको आत्म-परिचय पानेके लिए प्रोत्साहन देता है।

सरोवरमें हमें जीवनकी प्रसन्नताका दर्शन होता है, जब कि सागरमें जीवनकी प्रक्षुब्ध विराटताका साक्षात्कार होता है। सागरका तांडव-नृत्य देखकर जो मनुष्य कहेगा :

दिशो न जाने न लभे च शर्म ।

वही मनुष्य विशाल सरोवरके किनारे पहुंचते ही 'हाश' करके गायेगा :

इदानीं अस्मि संवृत्तः, सचेताः, प्रकृतिं गतः ।

इस प्रकार सागर और सरोवर जीवनकी दो प्रधान और भिन्न विभूतियां हैं।

मैं जानता था—कभीका जानता था—कि जीवन-विभूतिका ऐसा एक सुभग दर्शन सिंधमें सदाके लिए फैला हुआ है। किन्तु उसे देखनेके सौभाग्यका उदय अभी तक नहीं हो पाया था। जब मेरे लोकसेवक संस्कार-संपन्न रसिक मित्र श्री नारायण मलकानीने मुझे इस बार सिंधमें घूमनेका आमंत्रण दिया, तब मैंने उनसे यह शर्त की कि अबकी बार यदि जीवन और मरण दोनोंका साक्षात्कार करानेके लिए आप तैयार हों तो ही मैं आऊंगा। इस तरहकी गूढ़ वाणीकी उलझनमें मित्र-को लम्बे समय तक डालना मैंने पसन्द नहीं किया। मैंने उनको लिखा, जहां एक-एक करके तीन युग दबे पड़े हैं, और जहां मृत्युने अपना सबसे बड़ा म्यूजियम खोला है, वह 'मोहन-जो-दड़ो'* मुझे फिरसे देखना है। उसी तरह जहां कमलकंदकी जड़-मेंसे पैदा होनेवाले असंख्य कमल, इन कमलोंके बीच नाचनेवाली छोटी-बड़ी मछलियां, इन मछलियों पर गुजर करनेवाले रंगबिरंगे पक्षी और कमलकंदसे लेकर पक्षियों तक सबको बिना किसी पक्षपातके अपने उदरमें स्थान देनेवाले सर्व-भक्षी मनुष्योंकी निश्चिंतताके साथ जहां वृद्धि होती है, उस जीवन-राशि मंचर सरोवरका भी मुझे दर्शन करना है। नारायणकी स्थिति तो 'जो दिल-पसन्द था वही वैद्यने खानेको कहा' जैसी हुई होगी। उन्होंने सिंधके सूफी दर्शनका पालन करके प्रथम लारकानाके रास्तेसे 'मौतके टीले' का दर्शन कराया, और उसके पश्चात् ही जीवनकी इस राशिकी ओर वे हमें ले गये!

सिन्धुके पश्चिम तट पर, जहां पंजाबका गेहूं कराची तक पहुंचा देनेवाली रेलवे दौड़ती है, दादू और कोटरीके बीच बूबक स्टेशन आता है। बगैर पूछे आदमीको कैसे पता चले कि अबूबकर नामके दोनों छोरके अक्षर कम करके बूबक नामका सर्जन हुआ है? स्टेशनसे पश्चिमकी ओर चार मीलका धूल-भरा रास्ता पार करके हम बूबक पहुंचे। वहांके लोग बाजे, शहनाई और थोड़ी-बहुत दक्षिणा लेकर हमें लेने आये। उनके साथ सारा गांव घूमकर, गली-कूचोंको देखकर, हम अपने मेजबान श्री गोधूमलजीके घर पहुंचे। उनके आतिथ्यको स्वीकार करके खाया-पिया, दस-पंद्रह मिनट तक स्वप्नसृष्टि पर राज्य किया और वहांके गालीचों

*उसका सही नाम है 'मूअन-जो-दड़ो'। इसका अर्थ होता है मरे हुए लोगोंका टीला।

तथा रंगाई-कामकी कद्र करके हम मंचरके दर्शन करने निकले।

दो मीलका धूल-भरा रास्ता हमें फिर तय करना पड़ा। उसके बाद ही खेतोंके बीच अंटसंट बातें करनेवाली और गड़रियोंकी कुटियोंकी मुलाकात लेनेवाली एक नहर आई। जहांसे वह शुरू होती थी, वहीं नई-पुरानी किश्तियोंका एक झुंड कीचड़में पड़ा था। उनमेंसे एक बड़ी किश्ती हमने पसंद की और उसमें सवार हुए। ('सवार' या 'असवार' यानी 'अश्वारोही'; हम तो नौकारोही हुए थे।) इस प्रकार हमने और दो मीलकी प्रगति की। दोनों ओर पानीके साथ क्रीडा करनेवाली रहट घुमानेका पुण्य प्राप्त करनेवाले ऊंट हमने देखे। खुले वायुमंडलमें ही अपना जीवन, अपना विनोद और अपना उद्योग चलानेवाले किसान भी हमने वहां देखे। और जमीन तथा पानीके बीच आवा-जाई करनेवाले बनजारे पक्षी भी देखे।

हमारे काफिलेके बीसों जन आनंदके उपासक बने थे। कुछने 'चल-चल रे नौजवान—रुकना तेरा काम नहीं, चलना तेरी शान' वाला कूचगीत छेड़ा। इसमें हंसनेकी बात तो इतनी ही थी कि नौकारोही हम लोग पैदल कूच नहीं कर रहे थे, मगर लंबे-लंबे बांसोंसे कीचडको कोचते-कोचते आगे बढ़ रहे थे। हमारे पैर कोई हलचल किये बिना अजगरोंकी उपासना कर रहे थे। पर जब सभी खुश-मिजाज होते हैं, तब बातों तथा गीतोंमें औचित्यके व्याकरणकी कोई परवाह नहीं करता।

जब चि० रैहानाबहनको 'बेनवा फकीर' की मुरलीके सुर छेड़नेका निमंत्रण दिया गया तभी सच्चा रंग जमा; ठीक इसी समय हमारी नहरने अपना मुंह चौड़ा करके हमारी किश्तीको सरोवरमें ढकेल दिया। फिर तो पूछना ही क्या? जहां देखो वहां जीवन ही जीवन फैला हुआ था! पंद्रहसे बीस मील लंबा और दस मील चौड़ा जीवनका काव्यमय विस्तार!! पानीकी विस्तृत जलराशिकी कांति और बीच-बीचमें हरे घासके टापुओंकी शांति! प्रकृतिको इतना काव्य कैसे सूझा होगा? मैंने गोधूमलजीसे कहा, 'यहां तो मेरा हृदय द्रवित होता जा रहा है।' उन्होंने उतनी ही रसिकताके साथ जवाब दिया: 'यदि आप नवंबरमें यहां आते तो यहांके लाखों कमलोंमें दब जाते। आपको यदि यह उल्लास देखना हो तो अपने विष्णुशर्माको किसी भी साल लिखकर सूचना कर दीजिये। वे मुझे लिखेंगे और मैं आपके लिए सब तैयारी कर रखूंगा। हमारा प्रदेश इतना अलग पड़ गया है कि आपके जैसे लोग शायद ही यहां आते हैं। जहां तक मुझे याद आता है, इसके पहले यहां एक ही महाराष्ट्रीय प्रोफेसर आये थे और वे भी आपकी ही तरह आनन्द-विभोर हो गये थे। हां, हर साल कुछ गोरे फौजी अफसर यहां मछलियां मारने या शिकार खेलने जरूर आते हैं। मगर उससे हमें क्या लाभ हो सकता है?'

दूरी पर एक किश्ती दिखाई दी। देहातका कोई कुटुंब स्थलांतर करता होगा।

उनकी नारंगी रंगकी ओढ़नी तथा नीले रंगके पायजामेका प्रतिबिंब पानीमें कितना सुशोभित हो रहा था—मानो ग्रामीण काव्य ही आनन्दमें आकर जल-विहार कर रहा हो ! दूर-दूर काले जल-कुक्कुट पानीकी सतह पर तैरते हुए उदर पूजन कर रहे थे। हममेंसे कुछ लोगोंको किश्तीके किनारे बैठकर पानीमें पांव धोनेकी सूझी। उन्होंने रिपोर्ट दी कि कहीं पानी बिलकुल ठंडा है और कहीं कुन-कुना। इसका कारण क्या है, यह तो लोग मुझसे ही पूछेंगे न ? ऐसी लहरी टोलीमें मैं हमेशा सर्वज्ञ होता हूं। मैंने फौरन कारण ढूंढ निकाला और सबको शास्त्रीय उपपत्तिका संतोष प्रदान किया।

'वे सामने जो टेकरियां दिखाई देती हैं, उनका क्या नाम है ?' मैंने आसपासके लोगोंसे पूछा। उन्हें मेरे प्रश्नसे आश्चर्य हुआ। मानो उन्हें मालूम ही नही था कि स्वदेशी टेकरियोंके नाम भी होते हैं। और इधर प्रत्येक रूपके साथ यदि नाम न जुड़ा हो तो मेरी दार्शनिक आत्मा संतुष्ट नही होती। हमारी टोलीमें बूबकका एक छोटा, नाजुक और शर्मीले स्वभावका लड़का एक कोनेमें बैठा था। मैंने उसे 'ईस्सरदास' कहकर पुकारा। पाठशालामें पढ़ा हुआ भूगोल उसके काम आया। उसने तुरन्त कहा, 'सामनेकी टेकरियोंको खिरथर कहते है।' मैं हंस पड़ा और मेरे मुंहसे उद्‌गार निकल पड़ा : 'धन्य है करतार !' छुटपनमे हाला और सुलेमान पर्वतके नाम हमने रटे थे। आगे जाकर हाला पर्वतने करतारका नाम धारण किया था। उसका कारण इतना ही था कि अंग्रेजोंने खिरथरकी स्पेलिंग की थी Kirthar। विदेशी लिपिके कारण हमारे यहां कई अनर्थ हुए हैं। यह उनमेंसे ही एक था। खिरथरकी टेकरियां इस किनारेसे दस बारह मील दूर हैं। वहां सिंध पूरा होकर बलूचिस्तान शुरू होता है।

अब सूरज थककर खिरथरका आश्रय लेनेकी सोच रहा था। हमने भी सोचा कि अब लौटकर घर जाना चाहिये और सात बजनेसे पहले जठराग्निको आहुति देना चाहिये ! नावने दिशा बदली और हम पूर्वकी ओरकी शोभा देखने लगे। 'वऽऽह सामने दूर जो नाव दिखाई दे रही है वह इस समय पश्चिमकी ओर कहां जाती होगी ?' मैंने भाई गोधूमलजीसे पूछा। उन्होंने बताया, 'उस किनारे खिरथर की बगलमें एक गांव है। वहां महाशिवरात्रिका एक मेला लगता है। उस दिन हिन्दू लोग महाशिवरात्रिके कारण वहां इकट्ठा होते हैं। मुसलमान भी उस दिन वहीं अपने किसी पीरके नाम पर इकट्ठा होते हैं। बहुत बड़ा मेला लगता है। ये लोग शायद मेलेके लिए ही जा रहे होंगे।' हम गये उस दिन फरवरीकी २१ तारीख थी। महाशिवरात्रि बिलकुल पास यानी २४ तारीखको थी। हमारे कार्य-क्रममें फेरबदल किया ही नहीं जा सकता था। 'आज यदि २४ तारीख होती तो मैं जल्दी निकलकर उस गांवमें जरूर जाता। मैं महाशिवरात्रिका व्रत रखता हूं। हिन्दू और मुसलमानोंको एक हृदय होकर एक ही ईश्वरकी भक्ति करनेके लिए

हजारोंकी तादादमें एक ही जगह इकट्ठा हुए देखकर अपने हृदयको पवित्र करने-का मौका मैं न छोड़ता। शिवरात्रिके दिन जिस वृत्तिसे हिन्दू और मुसलमान प्रेमसे इकट्ठा होते हैं, वही वृत्ति यदि हिन्दुस्तानमें सर्वत्र फैल जाय तो हमारा बेड़ा पार! वह दिन हिन्दुस्तानके लिए सुदिन तथा शिवदिन हो जाय।'

इतना कहकर मैं खामोश हो गया। अब किसीके साथ बातें करनेमें मेरी दिलचस्पी न रही। मैं दूर-दूर तक देखने लगा। पृथ्वी पर या आकाशमें नहीं, बल्कि कालके उदरमें देखने लगा। कोलंबस जिस प्रकार श्रद्धापूर्वक अमरीकाका रास्ता खोजता था, उसी प्रकार शिवरात्रिका कब शिवदिन होगा इसकी मैं श्रद्धा की दृष्टिसे खोज करने लगा।

'वह सामने जो हरे-हरे खेत दीख पड़ते हैं उनके पीछे तमाकू या भांगकी खेती होती है।' बूबकके एक साथीने मेरा ध्यान भंग किया। हमने सरोवरमेंसे नहरमें प्रवेश किया था। नहरके किनारे, बांसकी कमानी पर, पैरोंको बांधकर खड़े हुए बगुले मछलियोंका ध्यान कर रहे थे। झोंपड़ियोंसे चूल्हेका धुआं निकलने लगा था। आंखें बूबकके ऊंचे-ऊंचे चौरस मकानोंके स्थापत्यको निहारने लगी। इन मकानोंके कुछ 'मंघ' बगुलोंकी तरह सिर ऊंचा करके वायुसेवनके पैंतरेमें खड़े थे। हमने तमाकू और भांगके खेत भी पार किये। भांगके विषयमें सरकारी नीति का इतिहास सुना। और घर लौटकर समय पर भोजन करने बैठे।

किन्तु मेरा मन तो मंचरके 'ढंढ' (बांध) पर महाशिवरात्रिका आनन्द ले रहा था।

मार्च; १९४१

३३. लहरोंका तांडवयोग

[कराचीके पास कीआमारीसे जरा दूर मनोरा नामक एक टापू है। वहां एक सुन्दर मंदिर है। टापू पर अधिकतर पोर्टट्रस्टके लोग और थोड़ी-सी फौज रहती है। मनोरा टापू कराचीका गहना तथा समुद्रका खिलौना है। इसके दक्षिणके छोर पर एक बड़ी खोह है, जिस पर समुद्रकी लहरें टकराती हैं। इससे आगे काफी दूर तक एक बड़ी दीवार खड़ी करके लहरोंको रोका गया है। इससे वहां लहरोंका अखंड सत्याग्रह देखनेको मिलता है। यह दृश्य देखनेके लिए मैं एक बार गया था।

हिंदी-साहित्य सम्मेलनमें मैं भाग लेनेके लिए इस साल कराची गया, तब दुबारा वह दृश्य देख आया। लहरोंका असर उन पत्थरों पर चाहे न भी हो, परंतु हृदय पर उनका असर हुए बिना थोड़े ही रहता है! हृदय और समुद्र दोनों स्वभावसे ही ऊर्मिल हैं।]

कोई प्राकृतिक दृश्य पहली बार देखकर हृदय पर जो असर होता है, वह दूसरी बार देखने पर नहीं होता। पहली बार सब नया ही नया होता है। उस समय अज्ञात वस्तुओंका परिचय करना होता है। कदम-कदम पर आश्चर्य और चमत्कृतिका अनुभव होता है। दूसरी बार उसी जगह जाने पर किन-किन बातों की आशा करनी चाहिए, इसका मनुष्यको खयाल होता है। इसलिए उतनी मात्रा में चमत्कृतिके लिए गुंजाइश कम रहती है। परिचित वस्तुके प्रति प्रेम हो सकता है; आश्चर्य और चमत्कृति तो अपरिचितके लिए ही हो सकती है।

ऐसी ही प्रेमपूर्ण किन्तु उत्सुकता-रहित वृत्तिसे मैं कराचीके पासके मनोराकी लहरें देखनेके लिए अबकी बार गया। यह आशा भी मनमे थी कि पुराने किन्तु नौ-जवान मित्रोंसे इस रम्य स्थान पर विस्रब्ध वार्तालाप हो सकेगा। लहरें तो वहां हैं ही; उनको देखकर आनन्द जरूर होगा। इससे विशेष कुछ नही होगा—इस प्रकार मनको समझाकर मैं वहां गया।

पिछली बार जब गया था तब मैंने उछलती लहरोंके धवल हास्यको पकड़नेके लिए तरह-तरहके फोटों खीचे थे। मगर उनमेंसे एक भी अच्छा नहीं आया था। इस कारण इन लहरोंके प्रति मनमें थोड़ा गुस्सा होते हुए भी इतना विश्वास था कि वार्तालापके लिए वहां अनुकूल वायुमंडल अवश्य मिलेगा।

किन्तु वहां जाकर मैंने क्या देखा? पिछली बार जो दृश्य देखा था और जिसके काव्यमय चित्रोंको मैंने चित्तमें संग्रह करके रखा था, उन्हें फीके बनाकर चित्तसे धो डालनेवाला लहरोंका एक अखंड तांडव यकायक दीख पड़ा! अब बात-चीत काहेकी और विस्रब्ध कथा काहेकी! मुझे तो वहां मानो उन्मत्त करनेवाला नशा ही मिल गया। वहां मैं यदि अकेला होता तो इन लहरोके तांडवमें कूदकर उनके साथ एकरूप होनेके भीतरी खिंचावको रोक पाता या नहीं, यह मैं निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता।

एक आदमी गाने लगे तो दूसरेको गानेकी स्फूर्ति अवश्य होगी। एक सियार रात्रिकी शांतिके खिलाफ यदि बगावत करे तो दूसरे क्रांतिकारी सियार अपने फेफड़ोंकी कसरत जरूर करेंगे। अजी, तरबवाली सितारके मुख्य तारको अपने प्राणोके साथ छेड़ दीजिये; तुरन्त नीचेके तार अपने-आप अपना आनंद-झंकार शुरू कर देंगे। तो फिर मेरे जैसा प्रकृति-प्रेमी जीव कुदरतकी भव्यताके दर्शन करके उससे अपना भिन्नत्व यदि भूल जाय तो मानवीय सयानापनकी दृष्टिसे उसमें आश्चर्य भले हो, किन्तु वह अनहोनी बात नही है।

जिस प्रकार हाथीकी सारी शोभा उसके गंडस्थलमें केंद्रीभूत होती है, किले की संपूर्ण शोभा उसके गजेन्द्र-भव्य बुर्जमें होती है, जहाजकी शोभा उसके तूतक (ऊपरके डेक) में परिपूर्ण होती है, उसी प्रकार मनोराके जिस छोर पर किलेके समान जो दीवारें खड़ी हैं उनके कारण यह टापू यहां विशेष रूपसे शोभा पाता

है; और समुद्रकी लहरें भी यहीं वप्रक्रीड़ा करके अपनी खुजली (कंडु) शांत करती हैं। यह कंडु-विनोद सतत चलता रहे तो भी देखनेवाला ऊबता नहीं। इसलिए यह दृश्य मनोहारी होता ही है। परन्तु यहां पर आदमीने एक लम्बी दीवार बनाकर समुद्रकी लहरोंको बेहद छेड़ा है, और अब इतने साल हो गये फिर भी लहरें इस अधिक्षेप (अपमान) को न तो आज तक सह सकी हैं, न आगे सहनेवाली हैं। जितनी बार उन्हें इस अपमानका स्मरण होता है, उतनी ही बार वे बड़ी फौज लेकर इन दीवारों पर टूट पड़ती हैं और इन पत्थरोंका प्रतिकार करनेके लिए एक-दूसरेको भड़काती जाती हैं। कैसा उनका यह उन्माद ! कैसी उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा ! कैसा उनका वह प्राणघातक आक्रमण ! आज तो उनका यह अमर्ष चरम सीमाको पहुच गया था। फिर पूछना ही क्या था ! मानो वीरभद्र सारे शिवगणोंको एकत्र करके लहरोंके रूपमें यहां प्रलय-काल मचाना चाहता हो।

एक-एक लहर मानो उछलती पहाड़ी-सी मालूम होती थी। एककी उत्तुग शोभाको देखकर वैसी ही दूसरी लहरोंको उसकी कदर करनी चाहिये किन्तु इस के बदले, दोनों एक होकर एक नयी ही ऊंचाई पर पहुंचती हैं और आसपासकी लहरोंको भी उतनी ही ऊंचाई तक चढ़नेके लिए उत्तेजित करती जाती हैं। और यह तांडव नृत्य, एक क्षणके लिए भी रुके बिना, अखंड रूपसे चलता रहता है। टकटकी लगाकर इस तांडवको देखते रहिये तो उसमें एक प्रचड ताल, मालूम होता है। मानो शिव-तांडव-स्तोत्रका प्रमाणिका वृत्त अपनी शक्ति आजमाने लगा है, और दिल भर आने पर प्रवाह-वेग बढ़नेसे देखते ही देखते प्रमाणिकाका पंचचामर छन्द हो जाता है। और फिर अपनी सुधबुध भूलकर पुष्पदंत भी उस तालके साथ तांडव-नृत्य करने लगता है।

जिस तरफ लहरोंका आक्रमण अधिकसे अधिक जोरदार है, और जहां टकराने वाली लहरें चकनाचूर हो जाती हैं तथा आकाशमें उनके इन्द्रधनुषको झेलने वाला बड़ा पंखा तैयार होता है, वहीं कुछ सीढ़ियां अखंड स्नान करते हुए ऋषियो की तरह ध्यान करती बैठी हैं। लहरोंका पानी उनके सिर पर गिरकर हंसता हुआ और गौमूत्रिका बंध करता हुआ सीढ़ियां उतरता जाता है। दिल्ली-आगरेमे और कश्मीर या मैसूरके वृंदावनमें मनुष्यने विलासके जो साधन निर्माण किये हैं और पानीका प्रवाह श्रावण-भादोंकी बड़ी धाराओंमें बहाया है, उसका यहां स्मरण हुए बिना नहीं रहता।

मगर कुछ लहरें तो उस लंबी दीवारके साथ टकराकर उसके सिर पर पानी की लंबी-लंबी धाराएं फेंकनेमें ही मशगूल रहती हैं। लहर टकराती है, दीवार पर सवार होती है और दीवारकी चौड़ाईका अनादर करके सामनेकी ओर कूद पड़ती है और होलीकी पिचकारियां दूरसे हमारी ओर दौड़ती हैं—यह दृश्य हर तरहसे उन्मादक होता है। और यह महोत्सव मनाने आये हुए हम लोगोंका स्वागत करने-

का कर्तव्य मानो अपने सिर पर आ पड़ा हो, ऐसा समझकर इन धाराओं तथा उस पंखेसे फैलनेवाले पानीके कण सारी हवाको शीतल बना देते हैं। जब यह सारी ओस आंखकी पलकों पर, नाककी नोक पर और आश्चर्यसे खुले हुए होंठों पर जमती है, तब लगता है कि हम भी नागरिक या ग्रामवासी नहीं हैं, बल्कि वरुणके सामुद्रिक राज्यकी प्रजा हैं।

और महासागरके ऊपरसे दौड़कर आनेवाला शुद्ध पवन कहता है: 'इस दृश्यका आतिथ्य स्वीकार करनेकी पूरी शक्ति तुम्हारे पामर हृदयमें कहांसे होगी! चलो, मैं तुम्हें दूर-दूरसे लाये हुए ओझोन (प्राणवायु) की दीक्षा देता हूं, पाथेय देता हूं। ओझोन जब तुम्हारे दिलमें भर जायगा, तब तुम्हारे फेफड़े प्राणपूर्ण होंगे, पवित्र होंगे। उसके बाद ही तुम यहांका वातावरण तथा उदावरण सहनकर सकोगे।" और सचमुच, प्राणवायुके श्वासोच्छ्वाससे हरेकके मुंह पर उषाकी लालिमा छा गयी थी। हम आठों जन आठ दिशाओंमें देख-देखकर भी तृप्त नहीं होते थे।

इसी स्थान पर हमारे पहले एक सिंधी सज्जन एक बड़ी शिला पर बैठकर चुप-चाप इस काव्यमें ओतप्रोत होकर भावनामें नहा रहे थे। वे न बोलते थे, न चालते थे, न हंसते थे, न गाते थे। तल्लीन होकर जरा डोल रहे थे। हम बातें कर रहे थे, हृदयके उद्गार प्रकट कर रहे थे। मगर उन सज्जनको इसकी क्या परवा? उन्हें मनुष्यकी मौज नही मनाना था, बल्कि लहरोंकी मस्तीको अपनाना था, उसे पी जाना था। एक पैर पर दूसरे पैरकी पालथी लगाकर, उस पर कुहनी रखकर और सिरको एक ओर झुकाकर वे समुद्रका ध्यान कर रहे थे। उनके बालोंकी मांगमे सीकर-बिन्दुओंकी मुक्तमाला चमक रही थी। मानो वरुणदेवने अपना वरद हस्त उनके सिर पर रख दिया हो!

हमने स्थान बदल-बदलकर अनेक दृष्टिकोणोंसे यह दृश्य देखा। इससे लहरोंके मनमें हमारे प्रति सद्भावकी जागृति हुई। वे कहने लगी, "आओ आओ, इतनी दूरसे क्या देख रहो हो? तुम पराये नहीं हो। पास आओ, मौज मनाओ, लहरोंका आनन्द लूटो, हंसो और कूदो। यह क्षण और अनंत काल—इनके बीच कोई फर्क नही है। चलो, आ जाओ।" लहरोंकी शिष्टता भिन्न प्रकारकी होती है। न्योता देते समय वे हाथ नहीं पकड़तीं, बल्कि पांव पखारती है। हमने सभ्यतासे इस स्वागतको स्वीकार करके कहा, "सचमुच आनेका जी होता है। मगर अभी नही। अभी हमारा काम पूरा नहीं हुआ है। काफी बाकी रहा है। हमारे मनके कई संकल्प अभी अधूरे हैं। जिस भारतमाताके चरणोंका तुम अखंड रूपसे प्रक्षालन कर रही हो, वह अभी तक आजाद नहीं हुई है। मनुष्य-मनुष्यके बीचका विग्रह शांत नहीं हुआ है। गरीब तथा दबी हुई जनताके साथ जब तक पूरी एकताका हम अनुभव नहीं करते, तब तक तुम्हारे साथ एकता अनुभव करनेका अधिकार हमें

कैसे प्राप्त होगा ? तुम मुक्त हो, अखंड कर्मयोगी हो, सतत कार्य करते हुए भी तुम्हारे लिए कर्तव्य जैसा कुछ नहीं रहा है। हम तो कर्तव्योंका पहाड़ सामने देखते हुए भी आलस्यमें पड़े हैं। तुम्हारी पंक्तिमें खड़े रहकर नाचनेका अधिकार हमें नहीं है। तुम हमें प्रेरणा दो। हमारे दिलमें तुम्हारी मस्ती भर दो। तुम्हारा वेदांत हमारे चित्तमें बो दो। फिर हमें अपना कार्य पूरा करनेमें, भारतको आजाद करने में देर नहीं लगेगी। और यह एक संकल्प यदि पूरा हुआ, तो बिना किसी विषादके हम तुम्हारे पास दौड़ आयेंगे। तुम्हारे साथ अद्वैत सिद्ध करेंगे। और इसमे यदि हड्डियां, चमड़ी या मांस शिकायत करने लगें, तो जिस प्रकार कष्ट देनेवाले कपड़े फाड़ दिये जाते हैं, उसी प्रकार इस शरीरको हम चकनाचूर कर डालेंगे और फिर उसके पिंडोंके नये-नये आकारोको देखकर हंसने लगेंगे।"

"ठीक है। जब अनुकूल हो तब आना। तुम आओ या न आओ; हमारा यह तांडव-नृत्य तो चलता ही रहेगा। जीवनका रास पूरा करके गोपियां इसमे मिल गई है। संसारके चक्रव्युहसे मुक्त हुए तमाम साधु-संत, फकीर और औलिये इसमें आ मिले हैं। विज्ञानवीर तथा सत्यके उपासक इसमें मिलकर शांत हो गये हैं। इसीलिए हमारा यह संघ अखंड अशांति मचाते हुए भी शांतिका सागर-सगीत सुना सकता है।

"क्या तुम्हें सुनाई देता है यह संगीत ?"

जून, १९३७

३४. सिन्धुके बाद गंगा

फरवरीकी १५ या १६ तारीखको ठेठ पश्चिमकी ओर रोहरी-सक्करके बीच सिंधुके विशाल पट पर जल-विहार करनेके बाद और २८ फरवरीको कोटरीके समीप उसी सिन्धुके अंतिम दर्शन करनेके बाद, बारह-पंद्रह दिनके भीतर ही पूर्वकी ओर पाटलिपुत्रके निकट गंगाका पावन प्रवाह देखनेको मिला। यह कितने सौभाग्य की बात है ! आर्योंकी वैदिक माता सिन्धु और उन्हीं भारतीयोंकी सनातन माता गंगाके दर्शन इस प्रकार एकके बाद एक होते रहें तो उस सौभाग्यका स्वागत कौन-सा नदी-पुत्र नहीं करेगा ? गंगाको जिस प्रकार उसके पानीका उपयोग करनेवाला भगीरथ मिला उसी प्रकार यदि सिन्धुको भी मिल जाता, तो राजस्थान और सिन्ध का इतिहास दूसरे ही ढंगसे लिखा जाता। सिन्धु बिना किसीके कहे, अनेक दिशाओं में बहती है और अपना पात्र बदलनेमें संकोच नहीं करती। तब यदि भगीरथ और जह्नु जैसे उपासक इंजीनियर उसे मिल जाते, तो वह सिंध तथा सौवीर देशोंके लिए क्या-क्या न करती ? क्या आज भी रोहरी और सक्करके बीच अपना पानी

एकत्र करके नहरोंके सात प्रवाहों द्वारा यह स्वछंद-विहारिणी सिन्धु अपना स्तन्य सिंधु देशको पिलाने नहीं लगी है?

सिन्धु नदी पंजाबके सात प्रवाहोंका पानी एकत्र करके मि ट्ठनकोट और कश्मीर तक युक्तवेणी रहती है; वही सिन्धु सक्कर-रोहरीके बाद पहले-पहल मुक्तवेणी हो जाती है और कोटरी के बाद केटी बंदर तक तो न मालूम कितने मुखोंसे समुद्रमें जा मिलती है।*

गंगा नदी गोआलंदो तक युक्तवेणी रहती है। गोआलंदोमें गंगा और ब्रह्मपुत्रा-के मिलनेसे उनके अमर्याद प्रवाहोंकी ऐसी अराजकता मच जाती है कि मुक्तवेणी और युक्तवेणीका भेद ही नहीं किया जा सकता। कलकत्ताके बाद सुन्दरबनका पंखा देखनेको जरूर मिलता है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि गंगाका विस्तार इतना ही है।

गांधी-सेवा-संघकी अंतिम बैठकके लिए हम मालीकांदा गये थे। तब असम प्रांतसे शिलाँगके रास्ते सुरमा घाटी होकर वापस लौटे थे। जाते और आते समय भगवती गंगाके विविध दर्शन किये थे। किन्तु सम्राट् अशोकके पाटलिपुत्र (आज-कलके पटना) के समीप गंगाकी शोभा अनोखी है। पटनाके पास मैंने भिन्न-भिन्न समय पर कमसे कम तीन-चार बार गंगा पार की होगी। फिर भी वहां गंगाके दर्शनकी नवीनता कम होती ही नहीं। मेरा खयाल है कि नेपालकी यात्रा समाप्त करके मैं मुजफ्फरपुरसे कलकत्ता गया तब पहले पहल पटना गया था। फाल्गुन मासके दिन थे। जहां जायें वहां आमके बौरसे हवा महक रही थी। और अजनबी मैं पटनाके छोटे-बड़े रास्तों पर मतवालेकी तरह अपने अंतःकरणमें बसंतोत्सव मना रहा था। वहां जो पहली छाप मन पर पड़ी, वह आज भी मौजूद है। फिर भी उसके बाद जब-जब मैं पटना गया हूं, तब-तब कुछ न कुछ नवीनता मैंने वहां अवश्य पायी है।

श्री राजेन्द्रबाबू जहां रहते हैं और जहां बिहार विद्यापीठ चल रहा है, वह सदाकत आश्रम गंगाके ठीक किनारे पर ही है। आश्रमके सामनेका रास्ता लांघ-कर तीन फुटके बांध पर चढ़ते ही गंगाकी विस्तीर्ण जलराशि पश्चिमसे आकर पूर्वकी ओर बहती हुई नजर आती है। उस पारका किनारा देखनेकी यदि कोशिश

* जिस प्रदेशमें अनेक प्रवाह आकर एक नदीमें मिल जाते हैं, उस सारे प्रदेशको अंग्रेजीमें 'region of tributaries' कहते हैं। और जहां एक नदीमेंसे अनेक प्रवाह निकलकर चारों ओर फैल जाते हैं उस प्रदेशको region of distributaries' कहते हैं। हमारे यहां यही भाव व्यक्त करनेके लिए 'युक्तवेणी' और मुक्तवेणी शब्द काममें लाये गये हैं।

जब नदी समुद्रको मिलनेके लिए दो या अधिक मुखोंमें विभक्त होती है, तब बीचके उस तिकोने प्रदेशको उसी आकारके ग्रीक अक्षर परसे 'delta' कहते हैं। हमें ऐसे प्रदेशको 'नदी-का पंखा' कहना चाहिये।

करें, तो जमीनकी एक पतली-सी रेखाके सिवा कुछ दिखाई ही नहीं देता। चकित होकर आप साथमें आये हुए किसी आदमीसे कहें कि 'गंगाका पाट कितना चौड़ा है!' तो वह तुरंत हंसकर कहेगा, 'वह जो सामने दीख पड़ता है वह केवल एक टापू है। उसके आगे भी गंगाका प्रवाह है। उस पारका किनारा यहांसे दिखाई नहीं पड़ता।'

सामने जो पतली-सी लकीर दिखाई देती है वह एक चौड़ा टापू है, यह सुनने पर भी यकीन नहीं होता कि पानीके इतने बड़े विस्तारके बाद, लकीरके उस पार और भी विस्तार हो सकता है। एक बार मनमें संदेह पैदा हुआ कि वह कुतूहलका रूप अवश्य धारण कर लेता है। कुतूहल परिपक्व होने पर उसमेंसे संकल्प उठता है और संकल्पके जैसी बेचैन बनानेवाली दूसरी कोई वस्तु भला हो सकती है?

सदाकत आश्रममें रहे तब तक रोज गंगाके किनारे टहलना हमारा काम था। क्योंकि गंगाकी संस्कृति-पुनीत मोहिनी न होती, तो भी किनारे पर खड़े पुराण-पुरुष जैसे वृक्षोंकी पंक्ति हमे खींचे बिना न रहती। सह्याद्रि या हिमालयके उत्तुंग वृक्ष जिसने देखे हैं, उसका जी ललचानेकी शक्ति मामूली वृक्षोंमें कहांसे आवे? किन्तु गंगाके तट पर, पटनाके आसपास, योजनों तक चलते रहिये—चारों ओर ऊंचे-ऊंचे वृक्ष अपनी पुष्ट शाखाएं चारों दिशाओंमें ऊपर और नीचे दूर-दूर तक फैलाये हुए नजर आते है। किसी समय, पटना सम्राट् अशोकके साम्राज्यकी राजधानी था। आज वही पटना वृक्षोंके एक विशाल साम्राज्यका पोषण करता है।

ऐसे स्थान पर खड़े रहकर, जो न तो बहुत दूर हो और न बहुत पास, इन बड़े वृक्षोंके अंग-प्रत्यंगोंकी शोभाको यदि ध्यानसे निहारें, तो उनका स्वभाव, उनकी चित्तवृत्ति और उनकी कुलीनताका खयाल आये बिना नही रहता। सभी वृक्ष तपस्वी नहीं होते। कुछ मौनी ध्यानी जैसे दिखाई देते हैं, कुछ क्रीड़ाप्रिय होते हैं; कुछ वियोगी विरही जैसे, तो कुछ अत्युत्कट प्रेमी जैसे। परन्तु किसी भी स्थितिमें वे अपना आर्यत्व नहीं छोड़ते। कुछ वृक्षोंकी शाखाएं ऊपर इतनी फैली हुई होती हैं, मानो टूटते हुए आसमानको बचानेका काम उन्हींके जिम्मे आया हो।

चार बूढ़े सज्जन शांतिसे गंभीर बातें कर रहे हैं और तुतलाते हुए बच्चे उनकी गोदमें उछल-कूद मचा रहे हैं—क्या ऐसा दृश्य आपने कभी देखा है? बूढ़े बच्चोंको डांटते नहीं; कोमलताके साथ उन्हें पुचकारते हैं फिर भी उनका गंभीर बातचीतमें खलल नही पड़ती। गंगाके किनारे सनातन मंत्रणा चलानेवाले इन पेड़ोंके बीच जब छोटे-बड़े पक्षी मीठा कलरव करते हैं, तब ठीक वही वृद्ध-अर्भक-दृश्य नये ढंगसे आंखोंके सामने आता है।

फाल्गुन पूर्णिमाके आसपासके दिन थे। शामको अगर घूमने निकलते तो 'चंदामामा' पेड़ोंकी ओटमेंसे दर्शन देते ही थे। हमने यहां एक नये आनंदकी खोज

की। जिस प्रकार अलग-अलग प्रकारकी अंगूठियोंमें जड़नेपर हीरा नयी-नयी शोभा दिखाता है, उसी प्रकार अलग-अलग पेड़ोंकी ओटमें चांद नयी नयी छवि धारण करता था एक बार सींग जैसी दो शाखाओंके बीचमें उसे खड़ा करके हमने देखा। दूसरी बार गोल-कीपर (gole keeper) या लक्ष्यपाल जैसे एक बड़े पेड़को उसी चंद्रको हवा-गेंद (फुटबॉल) की तरह उछालते हुए देखा। दीघाघाटके बंदरगाहके पास एक जगह तो दो पेड़ोंके बीच चन्द्रमा इस तरह जमकर बैठा था कि मालूम होता था मानो "यह चांद तेरा नहीं है, मेरा है" कहकर पेड़ आपसमें लड़ रहे हों। और अंतमें इन दोनोंका झगड़ा निपटानेके लिए चांदने मुंह बनाकर कहा, "तुम दोनोंमेंसे मैं किसीका भी नहीं हूं, जाओ।" इतना कहकर वह रुका नहीं। वह तो सीधा ऊंचा ही चढ़ता गया। चंद्रकी इस तटस्थताकी कद्र करके हम थोड़े आगे बढ़े ही थे, इतनेमें वह अपना न्यायाधीशपन भूलकर एक पेड़से जाकर चिपक गया! और अंतमें भुजाओंमें जकड़े जानेके कारण हंसने लगा।

मनमें संकल्प उठा: ऐसे चांदनीके दिनोंमें कुछ समय सामनेके उस निर्जन टापूमें बिता सकें तो कितना अच्छा हो! होली और धुलेंडीके दिन तो छोड़ ही देने पड़े, क्योंकि लोग होली पीकर उन्मत्त हो गये थे, और उन्होंने दो दिन तक गंगा-किनारे के कीचड़ और पेड़ोंके रंगोंका अनुकरण करनेका निश्चय किया था। जब वे इससे निवृत्त हुए, तब हम एक नावकी व्यवस्था करके चल पड़े।

चंद्र निकले उसके पहले रवाना होनेमें भला मजा कैसे आवे? किन्तु चंद्रको जल्दी थी ही नहीं। निकला भी तो प्रकाश नहीं देता था। किसीको पता चले बिना जिस प्रकार कोई नया धर्म स्थापित होता है, उसी प्रकार चंद्रमा निकला। उसका प्रकाश इतना मंद था कि स्वातिको भी उस पर तरस आ रहा था। जब चंद्र ही इतना मंद था, तब वफादार चित्रा अदृश्य रहे, इसमें आश्चर्य क्या? शनि और गुरु मंत्र पढ़ते हुए पश्चिमकी ओर अस्त हो रहे थे। तारकांकित झोंपड़ीके स्वामी अगस्ति दक्षिण पर आरोहण कर रहे थे। हमारी नाव चलने लगी। पानीमें चन्द्रका एक लम्बा स्तंभ दिखाई देने लगा। प्रथम स्थिर, बादमें तरल। हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों पानीका पृष्ठभाग अधिकाधिक चंचल होता गया, और भांति-भांतिकी आकृतियोंका प्रदर्शन करने लगा।

मेरे मनमें विचार आया कि पानीके जत्थे और रफ्तारके साथ ये आकृतियां भी बदलती हैं। तो इनका अध्ययन करके हरेकको अलग-अलग नाम देकर ऐसी योजना क्यों न बनायी जाय कि नदीकी रफ्तार दिखानेके लिए उन आकृतियोंका नाम ही बता दियाजाय? ऊंची और नीची ध्वनिको हम यदि 'सा, रे, ग, म, प, ध, नी' जैसे नाम दे सकते हैं, अत्यंत उग्र तापको (white heat) सूर्यकांति उष्णता कह सकते हैं, तो नदीकी रफ्तारको गौमूत्रिका-वेग, वलय-वेग, आवर्त-वेग, विवर्त-वेग आदि नाम क्यों नहीं दे सकते?

इस कल्पनाके साथ ही मैं विचारोंके आवर्तमें उतर गया और चिंता कब प्रकट हुई, इसका पता ही न चला। हम मंझधारमें पहुंचे और मुझे प्रार्थना सूझी। ऐसे स्थान पर आंखें मूंदकर कही अंधेरी प्रार्थना की जा सकती है? हमारा प्रार्थना-स्वामी जब हमारेसामने विविध रूपसे प्रत्यक्ष विराजमान हो, तब आंखें मूंदकर हम गुहा-प्रवेश किसलिए करें? 'रसो वै सः' कहकर जिसे हम पहचानते हैं, वह जब रसपूर्ण भूमि, पवित्र जल, सौम्य तेज, आह्लादकारी पवन और पितृ-वात्सल्यसे हमारी ओर देखनेवाले आकाशके विस्तार आदिके विविध रूपोंमें प्रकट हो और 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः, रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तंते।' श्लोक हम गाते हों, तब सारा जीवन-दर्शन नये सिरेसे सोचा जाता है। गहरा विचार लम्बा होता ही है, ऐसी कोई बात ही नही है। **रसका निवर्तन कब होता है और परिवर्तन किस तरह होता है**, इसकी सारी मीमांसा मैने तीन चार क्षणोमे ही मनमे कर ली और देखते-ही-देखते प्रार्थनामे ताजगी आ गयी। 'रघुपति राघव राजाराम' की धुन शुरू हुई, और चंचल मन जीवन-रसकी गंभीर मीमासा छोड़-कर तुरन्त पूछने लगा, 'श्री रामचंद्रजीने गुहककी सहायतासे गंगा किस स्थान पर पार की होगी? गुहककी नाव हमारी नावके जितनी चौड़ी होगी या किसी पेड़के तनेसे बनाई हुई नन्हीसी डोंगी जैसी होगी?"

बातकी बातमे हम उस टापू पर पहुंच गये और सलिल-विहार छोड़कर हमने सिकता-विहार शुरू किया। चमकीली बालू चमकीले पानीसे कम आनंददायक नही थी। टापूके किनारे थोड़ी दूब उगी हुई थी। एक क्षणका विचार करके हमने निश्चय कर लिया कि यहां सांप, बिच्छू, कांटा कुछ भी नही हो सकता। यहां तो अक्षुण्ण बालू ही बिछी हुई है। यदि कोई निशानी है तो वह अस्थिर-मति पवनकी लहरोंकी ही। गंगाकी लहरोके कारण रेतमें बनी हुई आकृतियोको मिटानेकी क्रीड़ा मनमौजी पवन किस प्रकार करता है, इसका आलेख यहां देखनेको मिलता था। रेत पर बनी हुई आकृतियां ऐसी दिखाई देती थी, मानो पाठशालाके बच्चे थककर सो गये हों और उनकी कापियां तथा स्लेटें किताबोंके साथ इधर-उधर बिखरी पड़ी हों। कही मनचले, लहरी पवनकी लिखावट दिखाई देती, तो कही लहरोंकी स्वर-लिपि रेतमें अंकित दिखाई देती थी। इनमें अपने पदचिह्न अंकित करनेका मेरा जी नहीं होता था। किन्तु बालूके झट टूट जानेवाले पपड़े जब पैरों तले टूट जाते, तब पापड़ खाने जैसा मजा आता था। पैरोंके आनंदको सारे शरीरने अनुभव किया और उसे लगा कि दरअसल मूसलकी तरह खड़े-खड़े चलनेमें पूरा मजा नही है। All rights reserved का दावा करनेवाला कोई गधा वहां नही था। इसलिए हमने निःशंक होकर रेतमें लोटनेकी सोची। किन्तु दुर्भाग्यवश इस बातमें हमारे साथियोंका एकमत नहीं हो सका। किसीकी प्रतिष्ठा इसमें बाधक हुई, तो किसी-का कैंकर्य आड़े आया। हमारे खलासी तो हमें वहीं छोड़कर किसीसे मिलने टापूके

दूसरे छोर पर चले गये। शराबखानेके नौकर पियक्कड़ोंकी ओर जिस दृष्टिसे देखते हैं, उसी दृष्टिसे उन्होंने हम सौंदर्य-पिपासु लोगोंकी ओर देखा होगा।

गया कांग्रेसके बाद हम चंपारनकी ओर गये थे, तब इसी स्थानसे हमने गंगा पार की थी। उस समय आश्रमके दो विद्यार्थियोंने एक मीठा भजन गाया था: 'मंगल करहु दयाऽऽऽ करी देवी'। इस स्थान पर आते ही वह सब याद आया और मैं भीमसेनका अनुकरण करके मुक्तकंठसे गाने लगा। साथियोंने उदारताके साथ उसे सह लिया। इससे मैं और भी चढ़ गया और मथुराबाबूसे कहने लगा, "मुझे छपरासे मुंगेर तक नावमें जाना है। कितना समय लगेगा?" ऐसी यात्रा मेरे नसीबमें है या नहीं, ईश्वर जाने! किन्तु कल्पनामें तो मैंने वह पूरी भी कर ली।

आकाशमें ब्रह्महृदय अस्त होनेकी तैयारी कर रहा था। महाश्वान अपनी मृगयामें मशगूल था। अगस्तिकी झोंपड़ी अब अपनी जगह पर आ गयी थी। और कृत्तिका तटस्थतासे स्मित कर रही थी। पुनर्वसुकी नावने अग्रभाग जरा ऊंचा करके दक्षिणकी यात्रा शुरू की और हमें इस बातकी याद दिलाई कि हम इस टापूके निवासी नहीं हैं; यहांसे हमें वापस लौटना है और परियोंकी सृष्टिको छोड़कर मानवी सृष्टिमें उतरना है। हम तुरंत टापूके किनारे पर आ गये और पुनर्वसुकी तरह अपनी नाव हमने दक्षिणकी ओर बढ़ाई।

'फिर यहां कब आयेंगे?' ऐसा विषाद मनमें नहीं उठा। गंगोत्रीसे लेकर हीरा बंदर तक गंगाके अनेक बार दर्शन करके मैं पावन हुआ हूं और मैया की कृपासे आगे भी अनेक बार दर्शन होंगे। अब इस पूर्णानन्दमें घट-बढ़ होनेकी संभावना नहीं है। इसीलिए वापस लौटते समय मुंहसे शांतिपाठ निकल पड़ा:

ॐ पूर्णम् अदः, पूर्णम् इदं; पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णम् एवावशिष्यते॥

अप्रैल, १९४१

३५. नदी पर नहर

श्रावण पूर्णिमाके मानी हैं जनेऊका दिन; और यदि ब्राह्मण्यको भूल जायं तो राखीका दिन। उस दिन हम रुड़की पहुंचे। मजाकिये वेणीप्रसादने देखते-ही-देखते मुझसे दोस्ती कर ली और कहा, 'अजी काकाजी, आज तो आपके हाथसे ही जनेऊ लेंगे। यहांके ब्राह्मण वेदमंत्र बराबर बोलते ही नहीं। आप महाराष्ट्री हैं। आप ही हमें जनेऊ दीजियेगा।' वेणीप्रसादके मामा परम भक्त थे। उनसे जनेऊके बारेमें चर्चा चली। उत्तर भारतके ब्राह्मण चाहते हैं कि वे ही नहीं बल्कि तीनों द्विज वर्ण नियमित रूपसे जनेऊ पहनें और संध्यादि नित्यकर्म करें। मगर यहांके लोगोंकी

बड़ी अनास्था है। इससे ठीक विपरीत, दक्षिणमें जब ब्राह्मणेतर जनेऊ मांगते हैं, तब महाराष्ट्रके ब्राह्मण 'कलौ आद्यन्तयोः स्थितिः' के वचनके अनुसार ऐसी बेहूदी जिद लेकर बैठते हैं, मानो बीचके दो वर्ण हैं ही नहीं। (सौभाग्यसे आज वह स्थिति नहीं रही।) जिन्हें जनेऊ पहननेका अधिकार है, वे उसे पहननेके बारेमें उदासीन रहते हैं, और जो हाथापाई करके भी जनेऊ पहननेका अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए अपना द्विजत्व सिद्ध करनेमें कठिनाई पैदा की जाती है! यह चर्चा सुनकर वेणीप्रसादको लगा कि 'आज हमें जनेऊ मिलनेवाला नहीं है।' उसने दलील पेश की: 'कलियुगमें क्या नहीं हो सकता? नदी पर यदि नदी सवार हो सकती है, तो महाराष्ट्रके ब्राह्मण भी हमें जनेऊ दे सकते हैं।' दलील मंजूर हुई। किन्तु विषय बदला और कलियुगके भगीरथोंकी बहादुरीके उदाहरण-स्वरूप गंगा-की नहरके बारेमें बातें चली।

दोपहरके समय हम लोग मानवका यह प्रताप देखने निकले। गंगाकी नहर शहरके समीपसे जाती है। लड़के उसमें मछलियोंकी तरह एक खेल खेल रहे थे। नहरके किनारे किनारे हम उस प्रख्यात पुल तक गये। वह दृश्य सचमुच भव्य था। पुलके नीचेसे गरीब ब्राह्मणीके समान सोलाना नदी बह रही थी और ऊपरसे गंगा-की नहर अपना चौड़ा पाट जरा भी संकुचित किये बिना पुल परसे दौड़ती जा रही थी। पुलके ऊपर पानीका बोझ इतना ज्यादा था कि मालूम होता था, अभी दोनों ओरकी दीवारें टूट जायेंगी और दोनों ओरसे हाथीकी झूलके समान बड़े प्रपात गिरना शुरू होंगे। पुलकी दीवार पर खड़े रहकर नहरके बहावकी ओर देखते रहनेसे दिमाग पर उसका असर होता था। दुःखी मनुष्यको जिस प्रकार उद्वेगके नये-नये उभार आते हैं, उसी प्रकार नहरके जलमें भी उभार आते थे। किन्तु ससुराल आयी हुई बहू जिस प्रकार अपनी सब भावनाएं नये घरमें दबा देती है, उसी प्रकार गंगा नदीकी यह परतंत्र पुत्री अपने सब उभारोंको दबा देती थी। उसका विस्तार देखकर प्रथम दर्शनमें तो मालूम होता था मानो यह कोई धनमत्त सेठानी है। किन्तु नज-दीक जाकर देखने पर श्रीमंतीके नीचे परतंत्रताका दुःख ही उसके वदन पर दीख पड़ता था।

ऊपरसे नीचे देखने पर निम्नगा सोलानाका क्षीण किन्तु स्वतंत्र बहाव दोनों ओरसे आकर्षक मालूम होता था। चुभता केवल इतना ही था कि नहरकी दोनों ओरकी दीवारोंमें परिवाहके तौर पर कई सूराख रखे गये थे, जिनमेंसे नहरका थोड़ा पानी इस तरह सोलानामें गिर रहा था मानो उस पर अहसान कर रहा हो।

हम पुलसे नीचे उतरे और सोलानाके किनारे जा बैठे। ऊंचेसे दिये जानेवाले उपकारको अस्वीकार करने जितनी मानिनी सोलाना नहीं थी। मगर कोई कृपा अवतरित होगी, ऐसी लोभी दृष्टि रखने जितनी हीन भी वह न थी। हीनता उसमें जरा भी नहीं थी। और मानिनीकी वृत्ति उसको शोभती भी नहीं। उसकी

निर्व्याज स्वाभाविकता प्रयत्नसे विकसित उदात्त चारित्र्यसे भी अधिक शोभा देती थी।

भगीरथ-विद्यामें (इरिगेशन इंजीनियरिंगमें) पानीके प्रवाहको ले जानेवाले छः प्रकार बताये गये हैं। उनमें एक प्रवाहके ऊपरसे दूसरे प्रवाहको ले जानेकी योजनाको अद्भुत और अत्यन्त कठिन प्रकार माना गया है। इस प्रकारके रेलके या मोटरके मार्ग हमने कई देखे हैं। मगर, जहां तक मैं जानता हूं, हिन्दुस्तानमें इस प्रकारके जल-प्रवाहका यह एक ही नमूना है। संस्कृतिके प्रवाहकी दृष्टिसे यदि सोचें, तो सारा भारतवर्ष ऐसे ही प्रकारसे भरा हुआ है। यहां हरएक जातिकी अपनी अलग संस्कृति है, और कई बार आमने सामने मिलने पर भी वे एक-दूसरीसे काफी हद तक अस्पृष्ट रह सकी हैं!

१९२६-'२७

३६. नेपालकी बाघमती

कश्मीरकी जैसे दूधगंगा है, वैसे नेपालकी वाघमती या बाघमती है। इतनी छोटी नदीकी ओर किसीका ध्यान भी नहीं जायेगा। किन्तु बाघमतीने एक ऐसा इतिहास-प्रसिद्ध स्थान अपनाया है कि उसका नाम लाखोंकी जबान पर चढ़ गया है। नेपालकी उपत्यका अर्थात् अठारह कोसके घेरेवाला और चारों ओर पहाड़ोंसे सुरक्षित रमणीय अण्डाकार मैदान। दक्षिणकी ओर फरपिंग-नारायण उसका रक्षण करता है। उत्तरकी ओर गौरीशंकरकी छायाके नीचे आया हुआ चगु-नारायण उसको संभालता है। पूर्वकी ओर बिशंगु-नारायण है और पश्चिमकी ओर है इचंगु-नारायण।

हिमालयकी गोदमें बसे हुए स्वतंत्र हिन्दू राज्यके इस घोंसलेमें तीन राजधानियां ऐसी हैं, मानो तीन अंडे रखे गये हों। अत्यन्त प्राचीन राजधानी है ललितपट्टन, उसके बादकी है भादगांव, और आजकलकी है काठमांडू या काष्टमंडप। नेपालके मंदिरोंकी बनावट हिन्दुस्तानके अन्य स्थलोंकी बनावटके समान नहीं है। मंदिरकी छतसे जहां बरसातके पानीकी धाराएं गिरती हैं वहां नेपाली लोग छोटी-छोटी घंटियां लटका रखते हैं। और बीचमें लटकनेवाले लोलकको पीतलके पतले पीपल-पान लगा दिये जाते हैं। जरा-सी हवा लगते ही वे नाचने लगते हैं। यह कला उन्हें सिखानी नहीं पड़ती। एकसाथ अनेक घंटियां किणकिण किणकिण आवाज करने लगती हैं। यह मंजुल ध्वनि मंदिरकी शांतिमें खलल नहीं डालती, बल्कि शांतिको अधिक गहरी और मुखरित करती है। भादगांवकी कई मूर्तियां तो शिल्प-कलाके अद्भुत नमूने हैं। शिल्पशास्त्रके सब नियमोंकी रक्षा करके भी कलाकार

अपनी प्रतिभाको कितनी आजादी दे सकता है, इसके नमूने यदि देखने हों तो इन मूर्तियोंको देख लीजिये। मालूम होता है यहांके मूर्तिकार कलाको अतिमानुषी ही मानते हैं।

खेतोंमें दूर-दूर भव्याकृति स्तूप ऐसे स्वस्थ मालूम होते हैं, मानो समाधिका अनुभव ले रहे हों।

और काठमांडू तो आजके नेपाल राज्यका वैभव है। नेपालमें जानेकी इजाजत आसानीसे नहीं मिलती। इसीलिए परदेके पीछे क्या है, अवगुंठनके अंदर किस प्रकार का सौंदर्य है, यह जाननेका कुतूहल जैसे अपने-आप उत्पन्न होता है, वैसे नेपालके बारेमें भी होता है। आठ दिन रहनेकी इजाजत मिली है। जो कुछ देखना है, देख लो। वापस जाने पर फिर लौटना नही होगा। ऐसी मनःस्थितिमें जहां देखो वहां काव्य ही काव्य नजर आता है।

पशुपतिनाथका मंदिर काठमांडूसे दूर नही है। वह ऐसा दिखता है मानो मंदिरोंके झुंडमें बड़ा नदी बैठा हो। निकटमे ही बाघमती बहती है। रेतीली मिट्टी परसे उसका पानी बहता है, इसलिए वह हमेशा मटमैला मालूम होता है। उसमे तैरनेकी इच्छा जरूर होती है, मगर पानी उतना गहरा हो तभी न? गुह्येश्वरी और पशुपतिनाथके बीचसे यह प्रवाह बहता है, इसी कारण उसकी महिमा है।

पशुपतिनाथसे हम सीधे पश्चिमकी ओर शिगु-भगवानके दर्शन करने गये। रास्तेमे मिली बाघमतीकी बहन विष्णुमति। इस नदी पर जहां-तहा पुल छाये हुए थे। पुल काहेके? नदीके पट पर पानीसे एक हाथकी ऊंचाई पर लकड़ीकी एक-एक बित्ता चौड़ी तख्तियां। सामनेसे यदि कोई आ जाय तो दोनों एकसाथ उस पुल परसे पार नही हो सकते। दोनोमेसे किमी एकको पानीमे उतरना पड़ता है। कही-कही पानी अधिक गहरा होता है; वहां तो आदमी घुटनों तक भीग जाता है।

शिगु-भगवानकी तलहटीमें ध्यानी बुद्धकी एक बड़ी मूर्ति सूर्यके तापमें तपस्या करती है। टेकरी पर एक मंदिर है। उसमें तीन मूर्तियां है। एक बुद्ध भगवानकी; दूसरी धर्म भगवानकी; तीसरी संघ भगवानकी! हरेकके सामने घीका दीया जलता है। एक कोनेमें लकडीकी बनायी हुई एक चौखटमें पीतलकी एक पोली लाट खड़ी कर रखीहै, जिस पर 'ॐ मामे पामे हुम्' (ॐ मणिपद्मेऽहम्) का पवित्र मंत्र कई बार खुदा हुआ है। दस्ता घुमाने पर लाट गोल-गोल घूमती है। रुदाक्ष या तुलसीकी माला फेरनेकी अपेक्षा यह सुविधा अधिक अच्छी है! हर चक्करके साथ उस पर जितनी बार मंत्र लिखा हुआ है उतनी बार आपने मंत्रका जाप किया, और उतना पुण्य आपको अपने-आप मिला गया, इसमें संदेह रखनेका कोई कारण नही है! नात्र कार्या विचारणा'। तथागतको अपने संदेशका यह स्वरूप देखनेको नही मिला, यह उनका दुर्भाग्य है, और क्या? इसी मंदिरके पास पीतलका बनाया हुआ इन्द्रका वज्र एक चबूतरे पर रखा है। भगिनी निवेदिताको इसका आकार बहुत पसंद

आया था। उन्होंने सूचना की थी कि भारतवर्षके राष्ट्रध्वज पर इसका चित्र बनाया जाय।

बाघमतीके किनारे धान, गेहूं, मकई और उड़द काफी पैदा होते हैं। अरहर वहां नहीं होती। मालूम नहीं, इन लोगोंने इसे पैदा करनेकी कोशिश की है या नहीं। रुई पैदा करनेके प्रयत्न अभी-अभी हुए हैं।

बाघमती नेपाली लोगोंकी गंगा-मैया है। गोरक्षनाथ उनके पिता हैं।

१९२६-'२७

३७. बिहारकी गंडकी

छुटपनमें मैंने इतना ही सुना था कि गंडकी नदी नेपालसे आती है और उसमें शालिग्राम मिलते हैं। शालिग्राम एक तरहके शंख जैसे प्राणी होते हैं; उन्हें तुलसी के पत्ते बहुत पसंद आते हैं; पानीमें तुलसीके पत्ते डालने पर ये प्राणी धीरे-धीरे बाहर आते हैं और पत्ते खाने लगते हैं; उन्हें पकड़कर अन्दरके जीवको मार डालते हैं और काले पत्थर जैसे ये शंख साफ करके पूजाके लिए बेचे जाते हैं; लेकिन आज-कलके धूर्त लोग काले रंगकी शिलाका एक टुकड़ा लेकर उसमें सूराख करके नकली शालिग्राम बनाते हैं; ऐसी कई बातें सुनी थीं। इसलिए कई दिनोंसे मनमें था कि ऐसी नदीको एक बार देख लेना चाहिये।

मुझे याद है कि स्वामी विवेकानंदने कहीं लिखा है कि नर्मदाके पत्थर महा-देवके बाणलिंग हैं और विष्णुके शालिग्राम बौद्ध स्तूपोंके प्रतीकके तौर पर गंडकी-मेंसे लाये हुए पत्थर हैं। पेरिसकी बड़ी प्रदर्शनीके समय उन्होंने किसी भाषण या लेखमें जाहिर किया था कि बाणलिंग और शालिग्राम बौद्ध जगतके दो छोर सूचित करते हैं।

गंगा नदीका जहां उद्गम है, वहींसे वह दोनों ओरसे कर-भार लेती हुई आगे बढ़ती है। उसकी मांडलिक नदियां अधिकांशत: उत्तरकी ओरकी यानी बायीं तरफ की है। चंबल और शोणको यदि छोड़ दें, तो महत्त्वकी कोई नदी दक्षिणसे उत्तर की ओर नहीं जाती। गंगाकी दक्षिण-वाहिनी मांडलिक नदियोंमें गंडकी गंगाके लिए बिहारका पानी लाती है।

हम सब मुजफ्फरपुर गये थे तब एक दिन गंडकीमें नहाने गये। बिहारकी भूमि है अनासक्तिके आद्य प्रवर्तक सम्राट् जनककी कर्म-भूमि; अहिंसा-धर्मके महान प्रचारक महावीरकी तपोभूमि ; अष्टांगिक मार्गके संशोधक बुद्ध भगवानकी विहार-भूमि। ये सब धर्मसम्राट् इस नदीके किनारे अहर्निश विचरते होंगे। उनके असंख्य सहायकोंने तथा अनुयायियोंने इसमें स्नान-पान किया होगा। सीता-

मैयाने छुटपनमे इसमे कितना ही जल-विहार किया होगा। वही गडकी मुझे अपने शैत्य-पावनत्वसे कृतार्थ करे—इस संकल्पके साथ मैने उसमे स्नान किया। नदीके पानीको किसी भी प्रकारकी जल्दी नही थी। उसमे किसी प्रकारका उत्पात न था। वह शातिसे बहती जाती थी, मानो मारको जीतनेके बाद बुद्ध भगवानका चलाया हुआ अखंड ध्यान ही हो।

१९२६'-२७

३८. गयाकी फल्गु

सस्कृतमे फल्गुके दो अर्थ होते है। (१) फल्गु यानी निःसार, क्षुद्र, तुच्छ; और (२) फल्गु यानी सुन्दर। गयाके समीपकी नदीका फल्गु नाम दोनो अर्थोंमे सार्थक है। पुराण कहते है कि उसे सीताका शाप लगा है। सीताके शापके बारेमे जो होगा सो सही; किन्तु उसे सिकताका शाप लगा है यह तो हम अपनी आखोसे देख सकते हैं। जहा भी देखे, बालू ही बालू दिखाई देती है। बेचारा क्षीण प्रवाह इसमे सिर ऊंचा करे तो भी कैसे? यात्री लोग जहा तहा खोदकर गड्ढे तैयार करते है। लकड़ीके बडे फावड़ेको लम्बी डोरी बाधकर हलकी तरह उसे इन गढ्ढो मे चलाते है, जिससे नीचेका कीचड़ निकलकर गड्ढा अधिक गहरा होता है और अधिक पानी देता है।

असख्य श्रद्धावान यात्री फल्गुके पटमे 'स्नान' करके पितरोके लिए चावल पकाते हैं और पिंड तैयार करते है। चावल, पानी, मटकी, गोबर आदिकी मात्रा पडोने हमेशाके लिए तय कर रखी है। नियमके अनुसार पैसा दे दीजिए; पडा सब सामग्री ले आता है। गोबरके उपले सुलगाकर उस पर चावलकी मटकी रख दीजिये अमुक विधियोके पूरा होने तक चावल तैयार हो ही जाएगा।

फल्गुके किनारे मदिर और धर्मशालाओका सौन्दर्य बहुत है। इनमे भी श्री गदाधरजीके मदिरका शिखर तो अनायास हमारा ध्यान खीचता है।

फल्गुकी सच्ची शोभा देख लीजिये, गयासे बोधगयाकी ओर जाते समय। बालूका लंबा-चौड़ा पाट, आसपास ताड़के ऊचे-ऊचे पेड और इनके बीचसे टेढ़ा-मेढ़ा बहता हुआ फल्गुका क्षीण-प्रवाह। मगर उसे क्षुद्र या निःसार कौन कहेगा? यहा रामचंद्र और सीताजी आयी थी। भगवान बुद्ध यहां घूमे थे। और कई सत्पुरुष यहा श्राद्ध करने आये थे। इस महातीर्थको निःसार तो कह ही नही सकते। आखिर फल्गु यानी सुन्दर—यही अर्थ सही है।

१९२६-'२७

३९. गरजता हुआ शोणभद्र

'अयं शोण: शुभ जलोऽगाध: पुलिन-मण्डित:' ।
'कतरेण पथा ब्रह्मन् संतरिष्यामहे वयम् ?' ।।
एवम् उक्तस् तु रामेण विश्वामित्रोऽब्रवीद् इदम् ।
'एष पन्था मयोद्दिष्टो येन यान्ति महर्षय:' ।।

आसेतु-हिमाचल भारतवर्षके बारेमें एक ही साथ विचार करनेवाले क्षत्रिय गुरु-शिष्यकी इस जोड़ीके मनमें शोणनद पार करते समय क्या-क्या विचार आये होंगे ? प्रकृतिके कवि वाल्मीकिने विश्वामित्र और राम, दोनोंके प्रकृति-प्रेमका मुक्तकंठसे वर्णन किया है । तीनों जनगण हितकारी मूर्तियां । उनकी भावनाओंका स्रोत भी शोणभद्रकी तरह ही बहता होगा, और आसपासकी भूमिको मुखरित करता होगा ।

अमरकंटकके आसपासकी उन्नत भूमि भारतवर्षके लगभग मध्यमे खड़ी है । वहांसे तीन दिशाओंकी ओर उसने अपनी करुणाका स्तन्य छोड़ दिया है । भौगोलिक रचनाकी दृष्टिसे जिनके बीच काफी साम्य है, किन्तु दूसरी दृष्टिसे संपूर्ण वैषम्य है, ऐसे दो प्रांतोंको उसने दो नदियां दी है । नर्मदा गुजरातके हिस्से आयी, और महानदी उत्कलको मिली ।

अमरकंटकका तीसरा स्रोत है पीवरकाय शोणभद्र। नर्मदा सुदीर्घा है, महानदी अष्टावक्रा है और शोणभद्र सुघोष है । करीब पांच सौ मीलका पराक्रम पूरा करके वह पटनाके पास गंगासे मिलता है । शोणके कारण ही शोणपुरका स्थान मशहूर है । कहते हैं कि ग्राहके साथ गजेंद्रकी लड़ाई गंगा-शोणके संगमके समीपस्थ दहमें ही हुई थी । मानो इसी प्रसंगको चिरस्मरणीय करनेके लिए अब भी शोणपुरमें लाखों लोगोंका मेला होता है, और उसमे सैकड़ों हाथी बेचे जाते हैं ।

सिन्धु और ब्रह्मपुत्रके साथ शोणभद्रको नर नाम देकर प्राचीन ऋषियोंने उसका समुचित आदर किया है । बनारससे गया जाते समय इस महाकाय और महानाद नदके दर्शन हुए थे। गाड़ी बड़े पुल परसे जाती है और शोणभद्रका पुलिन-मंडित महापट दिखता रहता है । संकरी घाटीमें अपना विकास रुकनेके कारण अधीरताके साथ जब दौड़ता हुआ वह यकायक विशाल क्षेत्रमें पहुंचता है, तब कहां जाऊं और कहां न जाऊं यह भाव उसके चेहरे पर स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है । 'नाल्पे सुखम् अस्ति; यो वै भूमा तत् सुखम्'—यह माननेवाले महर्षिगण शोणके किनारे अच्छा उतार खोजते हुए जब घूमते होंगे, तब उनके मनमें क्या-क्या विचार आते होंगे ? यह तो विश्वामित्र या उनके मखत्राता प्रभु श्री रामचंद्रजी ही जानें ।

१९२६-'२७

४०. तेरदालका मृगजल

मेरे विवाहके बाद कुछ ही दिनोंमें हम शाहपुरसे जमखंडी गये। पिताजी हम से पहले वहां पहुंच गये थे। रातको हम कुड़ची स्टेशन पर उतरे। वहांसे रातको ही बैलगाड़ीसे रवाना हुए। दोनों बैल सफेद और मजबूत थे। रंग, सींगोंका आकार, मुखमुद्रा और चलनेका ढंग सब बातें दोनोंमें समान थीं। हमारे यहां ऐसी जोड़ीको 'खिल्लारी' कहते हैं। इन बैलोंनै हमें चौबीस घंटोंमें पैतीस मील पहुंचा दिया।

जमखंडी जाते हुए रास्तेमें इतिहास-प्रसिद्ध तेरदाल आता है। हम तेरदालके पास पहुंचे तब मध्याह्नका समय था। दाहिनी ओर दूर-दूर तक खेत फैले हुए थे। काफी दूर, लगभग क्षितिजके पास, एक बडी नदी बह रही थी। पानी पर सख्त धूप पड़नेके कारण वह चमचमा रहा था। और पानी कितने वेगसे बह रहा है इसका भी कुछ-कुछ खयाल होता था। इतनी सुन्दर नदीके किनारे पेड़ कम क्यों हैं, इसका कारण मैं समझ नहीं सका। मैंने गाड़ीवानसे पूछा, 'इस नदीका नाम क्या है ? कितनी बड़ी दिखाई देती है ! कृष्णा नदी तो नही है ?' गाड़ीवान हंस पड़ा। कहने लगा, 'यहां नदी कहांसे आयेगी ? वह तो मृगजल है। पानीके इस दृश्यसे बेचारे प्यासे हिरन धोखेमें आ जाते हैं और धूपमे दौड़-दौड़कर और पानी के लिए तड़प-तड़प कर मर जाते हैं। इसीलिए उसको मृगजल कहते है।'

मृगजलके बारेमें मैंने पढ़ा तो था। मृगजलमें ऊपरके पेड़का प्रतिबिम्ब भी दिखाई देता है, रेगिस्तानमें चलने वाले ऊंटोंके प्रतिबिंब भी दिखाई देते हैं, आदि जानकारी और उसके चित्र मैंने पुस्तकोंमें देखे थे। मगर मैं समझता था कि मृग-जल तो अफ्रीकामे ही दिखाई देते होंगे। सहाराके रेगिस्तानकी इक्कीस दिनकी यात्रामे ही यह अद्‌भुत दृश्य देखनेको मिलता होगा। हिन्दुस्तानमे भी मृगजल दिखाई दे सकते हैं, इसकी यदि मुझे कल्पना होती, तो मैं इतनी आसानीसे और इतनी बुरी तरहसे धोखा नहीं खाता।

अब मैं देख सका कि हम ज्यों-ज्यों गाड़ीमें आगेकी तरफ बढ़ते जाते थे, त्यों-त्यों पानी भी आगे खिसकता जाता था। मैंने यह भी देखा कि उस पानीके आस-पास हरियाली नहीं थी, और पानीका पट आसपासकी जमीनसे नीचे भी नही था। जमीनकी सतह पर ही पानी बहता था ! ऊपरकी हवामें भी धूपका असर दिखाई देता था। फिर तो मृगजलकी मौज देखनेमें और उसका स्वरूप समझनेमें बहुत आनन्द आने लगा ! बेचारे बैल अधमुंदी आंखोंसे अपनी गतिके तालमें एक समान चल रहे थे। कोई बैल चलते-चलते पेशाब करता, तो उसका आलेख जमीन पर बन जाता था और थोड़ी ही देरमें सूख जाता था। हम आधे-आधे घंटेमे सुराही मेसे पानी पीते थे, फिर भी प्यास बुझती नहीं थी।

ऐसा करते-करते आखिर तेरदाल आया। धर्मशाला पत्थरकी बनी हुई थी। देशी रियासतका गांव था; इसलिए धर्मशाला अच्छी बनी हुई थी। मगर सख्त धूपके कारण वह भी अप्रिय-सी मालूम हुई। मुकाम पर पहुंचनेके बाद मैं तालाबमें नहा आया। साथमें पूजाकी मूर्तियां थीं। बेंतकी पेटीमेंसे उन्हें निकालकर पूजाके लिए जमाया। उनमें एक शालिग्राम था। वह तुलसीपत्रके बिना भोजन नहीं करता; इसलिए मैं गीली धोतीसे, किन्तु नंगे पैरो तुलसीपत्र लानेके लिए निकल पड़ा। एक घरके आंगनमें सफेद कनेरके फूल भी मिले और तुलसीपत्र भी मिले। दोपहर-का समय था। पेटमें भूख थी, पैर जल रहे थे, सिर गरम हो गया था—ऐसे त्रिविध तापमें पूजा करने बैठा। देवता कुछ कम न थे। ईश्वर एक अवश्य है; मगर सबकी ओरसे एक ही देवताकी पूजा करता तो वह चल ही नहीं सकता था। पूजा के समय मेरी आंखोंके सामने अंधेरा छा गया। बड़ी मुश्किलसे मैंने पूजा पूरी की और खाना खाकर सो गया।

स्वप्नमें मैंने हिरनोंके एक बड़े झुण्डको गेंदकी तरह दौड़ते हुए मृगजलका पानी पीने जाते देखा।

ऐसा ही एक मृगजल दांडीयात्राके समय नवसारीसे दांडीके समुद्र-किनारेकी ओर जाते समय देखनेको मिला था। हमें यह विश्वास होते हुए भी कि यह मृग-जल है, आंखोंका भ्रम तनिक भी कम नहीं होता था। वेदान्तका ज्ञान आंखोंको कैसे स्वीकार हो?

आजकल कलकत्तेकी कोलतारकी सड़कों पर भी दोपहरके समय ऐसा मृगजल चमकने लगता है, जिससे यह भ्रम होता है कि अभी-अभी बारिश हुई है। दौड़ने वाली मोटरोंकी परछाइयां भी उसमें दिखाई देती है। भगवानने यह मृगजल शायद इसीलिए बनाया है कि ज्ञान होने पर भी मनुष्य मोहवश कैसे रह सकता है, इस सवालका जवाब उसे मिल जाय।

१९२५

४१. चर्मण्वती चंबल

जिनके पानीका स्नान-पान मैंने किया है, उन्हीं नदियोंका यहां उपस्थान करनेका मेरा संकल्प है। फिर भी इसमें एक अपवाद किये बिना रहा नही जाता। मध्य देशकी चंबल नदीके दर्शन करनेका मुझे स्मरण नही है। किन्तु पौराणिक कालके चर्मण्वती नामके साथ यह नदी स्मरणमें हमेशाके लिए अंकित हो चुकी है। नदियोंके नाम उनके किनारेके पशु, पक्षी या वनस्पति परसे रखे गए हैं, इसकी मिसालें बहुत हैं। दृषद्वती, सारस्वती, गोमती, वेत्रवती, कुशावती, शरावती,

बाघमती, हाथमती, साबरमती, इरावती आदि नाम उन-उन प्रजाओंको सूचित करते हैं। नदीके नामसे ही उनकी संस्कृति प्रकट होती है। तब चर्मण्वती नाम क्या सूचित करता है ? यह नाम सुनते ही हरेक गोसेवकके रोंगटे खड़े हुए बिना नहीं रहेंगे।

प्राचीन राजा रंतिदेवने अमर कीर्ति प्राप्त की। महाभारत जैसा विराट ग्रंथ रंतिदेवकी कीर्ति गाते थकता नही। राजाने इस नदीके किनारे अनेक यज्ञ किये। उनमे जो पशु मारे जाते थे, उनके खूनसे यह नदी हमेशा लाल रहती थी। इन पशुओंके चमड़े सुखानेके लिए इस नदीके किनारे फैलाये जाते थे; इसीलिए इस नदीका नाम चर्मण्वती पड़ा। महाभारतमे इस प्रसंगका वर्णन बड़े उत्साहके साथ किया गया है। रंतिदेवके यज्ञमे इतने ब्राह्मण आते थे कि कभी-कभी रसोइयोको भूदेवोसे विनती करनी पड़ती कि 'भगवन् ! आज मांस कम पकाया गया है; आज केवल पचीस हजार पशु ही मारे गये हैं। इसलिए सब्जी-कचूमर अधिक लीजियेगा।'

उस समयके हिन्दूधर्ममे और आजके हिन्दूधर्ममे कितना बड़ा अंतर हो गया है ! यूनानी लोगोंके 'हैकँटॉम' को भी फीका सिद्ध करे इतने बड़े यज्ञ करके हम स्वर्गके देवताओंको तथा भूदेवोको तृप्त करेंगे, ऐसी उम्मीद उस समयके धार्मिक लोग रखते थे। बादके लोगोंने सवाल उठाया :

वृक्षान् छित्वा, पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिर-कर्दमम्
स्वर्गः चेत् गम्यते मर्त्यैः नरक. केन गम्यते ?

'पेड़ोको काटकर, पशुओको मारकर और खूनका कीचड़ बनाकर यदि स्वर्ग को जाया जाता हो, तो फिर नरकको जानेका साधन कौन-सा है ?' इस चर्मण्वती नदीके किनार कई लड़ाइया हुई होंगी। मनुष्यने मनुष्यका खून बहाया होगा। मगर चंबलका नाम लेते ही राजा रंतिदेवके समयका ही स्मरण होता है।

यदि आज भी हमे इतना उद्वेग मालूम होता है, तो समस्त प्राणियोकी माता चर्मण्वतीको उस समय कितनी वेदना हुई होगी ?

१९२६-'२७

४२. नदीका सरोवर

हमारे देशमे इतने सौंदर्य-स्थान बिखरे हुए हैं कि उनका कोई हिसाब ही नही रखता। मानो प्रकृतिने जो उड़ाऊपन दिखाया उसके लिए मनुष्य उसे सजा दे रहा है। आश्रममे जिन्हे चौबीसों घंटे बापूजीके साथ रहने तथा बातें करनेका मौका मिला है, वे जैसे बापूजीका महत्त्व नही समझते और बापूजीका भाव भी नही पूछते,

वैसा ही हमारे देशमें प्रकृतिकी भव्यताके बारेमें हुआ है।

हम माणिकपुरसे झांसी जा रहे थे। रास्तेमें हरपालपुर और रोहाके बीच हमने अचानक एक विशाल सुंदर दृश्य देखा। पता ही नहीं चला कि यह नदी है या सरोवर? आसपासके पेड़ किनारेके इतने समीप आ गये थे कि इसके सिवा दूसरा कोई अनुमान ही नहीं हो सकता था कि यह नदी नही हो सकती। मगर सरोवरकी चारों बाजू तो कमोबेश ऊंची होनी चाहिये। यहां सामने एक ऊंचा पहाड़ आसपासके जंगलको आशीर्वाद देता हुआ खड़ा था, और पानीमे देखनेवाले लोगोंको अपना उलटा दर्शन देता था। दाढ़ी रखकर सिर मुड़ानेवाले मुसलमानों-की तरह इस पहाड़ने अपनी तलहटीमें जंगल उगाकर अपने शिखरका मुंडन किया था।

पुलकी बाईं ओर पानीके बीचोंबीच एक छोटा-सा टापू था—दो एक फुट लंबा और एक हाथ चौड़ा, और पानीके पृष्ठभागसे अधिक नहीं तो छः इंच ऊंचा। उसका घमंड देखने लायक था। वह मानो पासके पहाडसे कह रहा था, 'तू तो तट पर खड़ा-खड़ा तमाशा देख रहा है; मुझको देख, मैं कितना सुन्दर जल-विहार कर रहा हूं!'

तब यह नदी है या सरोवर? अभी-अभी बेलाताल स्टेशन गया। इसलिए लगा कि इस प्रदेशमें जगह-जगह तालाब होंगे। किन्तु विश्वास न हुआ। डिब्बेमे बैठे हुए लोगोंको अवश्य पूछा जा सकता था। मगर एक तो पैसेंजर गाडी होते हुए भी दीपावलीके दिन होनेके कारण उसमें स्थानिक यात्री नहीं थे; और यदि होते भी तो उनसे अधिक जानकारी पा सकनेकी उम्मीद थोड़े ही रखी जा सकती थी! युगों तक जीवन-यात्रा विषम बनी रही, इस कारण लोगोंके जीवनमेंसे सारा काव्य सूख गया है। इसलिए जो भी सवाल पूछा जाय, उसका जवाब विषादमय उपेक्षा-के साथ ही मिलता है। लोगोंकी भलमनसाहत अभी कुछ बाकी है, किन्तु काव्य, उत्साह और कल्पनाकी उड़ान अब स्मृतिशेष हो गये हैं।

पर इतना सुन्दर दृश्य देखनेके बाद क्या विषादके विचारोंका सेवन किया जा सकता है? यात्रामें मैं हमेशा एक-दो नक्शे अपने साथ रखता ही हूं। बलिहारी आधुनिक समयकी कि ऐसे साधन अनायास मिल जाते हैं। मैंने 'रोड मैप ऑफ इन्डिया' निकाला। हरपालपुर और मउरानीपुरके बीचसे एक लंबी नदी दक्षिणसे उत्तरकी ओर दौड़ती हुई, बेतवासे जा मिलती है और बेतवाकी मददसे हिमतपुरके पास अपना नीर यमुनाके चरणोंमें चढ़ा देती है। 'मगर इस नदीका नाम क्या है?' मैंने नक्शेसे पूछा। वह आलसी बोला: 'देखो, कहीं लिखा हुआ होगा!' और सच-मुच उसी क्षण नाम मिला—धसान! इतने सुंदर और शांत पानीका नाम 'धसान' क्यों पड़ा होगा? यह तो उसका अपमान है। मैं इस नदीका नाम प्रसन्ना रखता। मंदस्रोता कहता या हिमालयसे माफी माँगकर उसे मंदाकिनीके नामसे पुकारता।

मगर हमें क्या मालूम कि जिस लोककविने इस नदीका नाम धसान रखा, उसने उसका दर्शन किस ऋतुमें किया होगा ? वर्षा मूसलाधार गिर रही होगी, आसपासके पहाड़ बादलोंको खींचकर नीचे गिरा रहे होंगे, और मस्तीमें झूमनेवाले नीर हाथीकी रफ्तारसे उत्तर दिशाकी ओर तेजीसे दौड़ रहे होंगे। शंका पैदा हुई होगी कि समीपकी टेकरियां कायम रहेंगी या गिर पड़ेंगी। ऐसे समय पर लोककविने कहा होगा, 'देखो तो इस धसान नदीकी शरारत, मानो महाराज पुलकेशीकी फौज उत्तरको जीतनेके लिए निकल पड़ी है !'

किन्तु अब यह नदी इतनी शांत मालूम होती है, मानो गोकुलमें शरारत करनेके बाद यशोदा माताके सामने गरीब गाय बना हुआ कन्हैया हो !

सुबह नाश्तेके समय इतनी अनसोची मेजबानी मिलने पर उसे कौन छोड़ेगा ? अघाकर खानेके बाद रिश्तेदारोंका स्मरण तो होता ही है। अब इस धसानका मंगल दर्शन इष्ट मित्रोंको किस प्रकार कराया जाय ? न पास कैमरा है, न ट्रेनसे फोटो खीचनेकी सुविधा है। और फोटोकी शक्ति भी कितनी होती है ? फोटोमे यदि सारा आनंद भरना संभव होता, तो घूमनेकी तकलीफ कोई न उठाता। मैं कवि होता तो यह दृश्य देखकर हृदयके उद्‌गारोंकी एक सरिता ही बहा देता। मगर वह भी भाग्यमें नही है। इसलिए 'दूधकी प्यास छाछसे बुझाने' के न्यायसे यह पत्र लिख रहा हूं। भारतकी भक्ति करनेवाला कोई समानधर्मी झांसीसे करीब पचास मीलके अंदर आये हुए इस स्थानका दर्शन करनेके लिए जरूर आयेगा।

स्टेशन बरवासागर, १४-११-'३९

ता० १६-११-'३९

धसानमे आगे बढ़े और ओरछाके पास बेतवा नदी देखी। यह नदी भी काफी सुन्दर थी। उसके प्रवाहमें कई पत्थर और कई पेड़ थे। उसके लावण्यमें फीका कुछ भी नही था। दूर-दूर तक ओरछाके मंदिर और महल दिखाई देते थे; कीचड़का दर्शन कही भी नही हुआ। यह अनाविला नदी देखकर हम झांसी पहुंचे। वहां श्री मैथिलीशरणजीके भाई—सियारामशरणजी और चारुशीलाशरणजी अपने परिवारके अन्य लोगोके साथ भोजन लेकर आये थे। मेरे मनमें संदेह था कि काव्य पढ़-पढ़कर काव्यका सर्जन करनेवाले हमारे कवि जिस तरह प्रकृतिका प्रत्यक्ष दर्शन हृदयसे नही करते, उसी तरह इन कवि-बन्धुओंने भी धसान और बेतवाके बारेमे शायद कुछ भी न लिखा होगा। इसलिए मैंने उनसे साफ-साफ कह दिया कि 'आपने यदि इन दो नदियों पर कुछ भी न लिखा हो, तो आप निंदाके पात्र हैं !' सियारामशरणजीने अपने विनयसे मुझे पराजित किया। उन्होंने कहा, 'भैयाजीने (मैथिलीशरणजीने) इन नदियोंके बारेमें गाते हुए कहा है कि सौंदर्यमें बुंदेलखंडकी ये नदियां गंगा-यमुनासे भी बढ़कर हैं। इसलिए मेरे बड़े भाई तो आपके उपालंभमें नहीं आयेंगे। हां, मैंने खुद इन नदियोंके बारेमें कुछ नहीं लिखा है। मगर मैं कहां अभी बूढ़ा हो

गया हूं। मुझे तो अभी बहुत लिखना है।"

उनसे मालूम हुआ कि धसानका मूल नाम था दशार्ण। और यह तो मुझे मालूम था कि बेतवाका नाम था वेत्रवती। दशार्ण = दशाअण = दशाण = धसान। इतना ध्यानमें आनेके बाद धसान नामके बारेमें मैंने जो ऊटपटांग कल्पना की थी, वह पत्तोंके महलकी तरह गिर पड़ी। किसी तरहके सबूतके बिना केवल कल्पनाके सहारे खोज करनेवाले मेरे जैसे कई लोग इस देशमें होंगे। उनकी गलती बतानेके लिए जो जानकारी चाहिये उसके अभावमें ऐसी निरी कल्पनाएं भी इतिहासके नामसे रूढ़ हो जाती हैं, और आगे जाकर रूढ़ियोंके अभिमानी लोग जोशके साथ ऐसी कल्पनाओंसे भी चिपटे रहते हैं।

मैंने एक दफा 'वती-मती' वाली नदियोंके नाम इकट्ठे किये थे। इसीलिए वेत्रवती ध्यानमें रही थी। जिसके किनारे बेंत उगते हैं वह है वेत्रवती। दृषद्वती (पथरीली), सारस्वती, गोमती, हाथमती, बाघमती, ऐरावती, साबरमती, वेगमती, माहिष्मती (?), चर्मण्वती (चंबल), भोगवती (?), शरावती। इतनी नदियां तो आज याद आती है। और भी खोजने पर दूसरी पांच-दस नदियां मिल जायेंगी। महाभारतमें जहां तीर्थयात्राका प्रकरण आता है, वहां कई नाम एकसाथ बताये गये हैं। परशुराम, विश्वामित्र, बलराम, नारद, दत्तात्रेय, व्यास, वाल्मीकि, सूत, शौनक आदि प्राचीन घुमक्कड़ भूगोलवेत्ताओंसे यदि पूछेंगे, तो काफी नाम बतायेंगे या पैदा कर लेंगे। हमारी नदियोंके नामोंके पीछे रही जानकारी, कल्पना, काव्य और भक्तिके बारेमें आज तक भी किसीने खोज नही की है। फिर भारतीय जीवन भला फिरसे समृद्ध किस तरह हो?

नवंबर, १९३९

४३. निशीथ-यात्रा

जबलपुरके समीप भेड़ाघाटके पास नर्मदाके प्रवाहकी रक्षा करनेवाले संगमरमरके पहाड़ हम रात्रिके समय देख आयेंगे, यह खयाल शायद मध्यरात्रिके स्वप्नमें भी न आता। किन्तु 'सबिन्दु-सिन्धु-सुस्खलत् तरंगभंग-रंजितम्' कहकर जिसका वर्णन हम किसी समय संध्या-वंदनके साथ गाते थे, उस शर्मदा नर्मदाके दर्शन करनेके लिए यह एक सुन्दर काव्यमय स्थान होगा, ऐसी अस्पष्ट कल्पना मनके किसी कोनेमें पड़ी हुई थी।

हिमालयकी यात्राके समय मैं रास्तेमें जबलपुर ठहरा था। किंतु उस समय भेड़ाघाटकी नर्मदाका स्मरण तक नही हुआ था। गंगोत्री और उसके रास्तेमें आनेवाले श्रीनगरके चिंतनके सामने नर्मदाका स्मरण कैसे होता? नर्मदा-तटकी

गहनताके महादेवको छोड़कर मैं गंगोत्रीकी यात्राके लिए चल पड़ा था।

फैजापुर कांग्रेसके समय हमने केवल अजंता जानेका सोचा था। किन्तु रेलवे कंपनीने झोन टिकट निकाले, और हममें इधर-उधर अधिक घूमनेकी वृत्ति जगा दी। जबलपुरकी यात्रा यदि मुफ्तमें होती है, तो क्यों न हो आयें?—यों सोचकर हम चल पड़े। यह सच था कि हम किसी खास कामके लिए जबलपुर नहीं जा रहे थे; मगर एक दिन सिर्फ मौज करना है, ऐसी भी हमारी वृत्ति नहीं थी।

देशके अलग-अलग धार्मिक स्थल, ऐतिहासिक स्थान, कला-मंदिर और निसर्ग-रमणीय दृश्य देखनेको मैंने कभी निरी नयन-तृप्ति नहीं माना है। मंदिरमें जाकर जिस प्रकार हम देवताके दर्शन करते हैं, उसी प्रकार भूमाताकी इन विविध विभूतियोंके दर्शनके लिए मैं आया हूं, इसी भावनासे मैंने अब तककी अपनी सारी यात्राएं की हैं। अपने देशकी रग-रगकी जानकारी मुझको होनी चाहिये और इस जानकारीके साथ-साथ भक्तिमें भी वृद्धि होनी चाहिये, ऐसी मेरी अपेक्षा रहती है।

ज्यों-ज्यों मैं यात्रा करता हूं और अभिमान तथा प्रेमसे हृदयको भर देनेवाले दृश्य देखता हूं, त्यों-त्यों एक चीज मुझे बेचैन किया ही करती है: यह मेरा इतना सुन्दर और भव्य देश परतंत्र है, इसके लिए मैं जिम्मेदार हूं। पारतंत्र्यका लांछन लेकर मैं इस अद्भुत-रम्य देशकी भक्ति भी किस प्रकार कर सकता हूं? क्या मैं कह सकता हूं कि यह देश मेरा ही है? मैं देशका हूं इसमें तो कोई संदेह नही है; क्योंकि उसने मुझे पैदा किया है, वही मेरा पालन-पोषण अखंड रूपसे कर रहा है; वही मुझे रहनेके लिए स्थान, खानेके लिए अन्न और आरामके लिए आश्रय देता है; अपने बालबच्चोंको मै उसीके सहारे, निश्चित होकर छोड़ सकता हूं; जिस उज्ज्वल इतिहासके कारण मैं संसारमें सिर ऊंचा करके चलता हूं, वह आर्योंका प्राचीन इतिहास भी इसी देशने मुझे दिया है। इस प्रकार मैंने अपना सर्वस्व देशसे ही पाया हे। किन्तु यह देश मेरा है, यों कहनेके लिए मैने देशके लिए क्या किया है? मेरा जन्म हुआ उसके साथ ही मै देशका बना; मगर यों कहनेके पहले कि 'यह देश मेरा है' मुझे जिंदगी भर मेहनत करके इसके लिए खप जाना चाहिये।

मनमे इस तरहके विचारोंका आवर्त उठने पर मै क्षण भर बेचैन हो जाता हूं, किन्तु ऐसी अस्वस्थतामेसे धर्मनिष्ठा पैदा होकर दृढ़ बनती है। इसी बेचैनीके कारण स्वराज्यका संकल्प बलवान होता है और देशके लिए—देशमे असह्य कष्ट उठानेवाले गरीबोंके लिए—यत्किंचित् भी कष्ट सहनेका जब मौका मिलता है, तब मुझे लगता है कि मैं उपकृत हुआ हूं। और ज्यों-ज्यों यात्रा करता रहता हूं, त्यों-त्यों मनमें नयी शक्तिका सचार होने लगता है। युवकोंसे मैं हमेशा कहता आया हूं कि 'स्वदेशमें घूमकर देशके और देशके लोगोंके दर्शन करनेका तुम एक भी मौका मत छोड़ना।'

इस प्रकारकी उत्कट भावनाका उदय जब हृदयमें होता है, तब ऐसा लगना

स्वाभाविक है कि पासमें कोई न हो तो अच्छा। अपनी नाजुक भावनाओंको शब्दोंमें लिखकर लोगोंके सामने रखना उतना कठिन नहीं है। किन्तु इन भावनाओंसे बेचैन होने पर हमारी जो विह्वल दशा हो जाती है और हम मतवाले बन जाते हैं, उसे कोई देखे यह हमें सहन नहीं होता। इसी कारण मैं जब-जब भक्तियात्राके लिए चल पड़ता हूं, तब-तब मुझे लगता है कि मैं अकेला ही जाऊं और एकांतमें ही प्रकृतिका अनुनय करूं तो अच्छा होगा।

किन्तु मेरी जाति है कौवेकी। अकेले-अकेले सेवन किया हुआ कुछ भी मुझे हजम नहीं होता। इसलिए अनिच्छासे ही क्यों न हो, मैं सब लोगोंसे कह देता हूं: 'मुझसे अब रहा नहीं जाता; मैं तो यह चला।' लिहाजा कोई न कोई मेरे साथ हो ही लेता है। लोगोंको लगता है कि इनके साथ जानेसे हमारे चर्मचक्षुओंको इनके प्रेमचक्षुओंकी मदद मिलेगी; और अपना देश हम चार आंखोंसे जी भरकर देख सकेंगे। मेरी इस स्थितिका वर्णन मैंने अपने एक मित्रको लिखकर कहा था कि 'मैं खोजता हूं एकांत, किन्तु पाता हूं लोकांत।'

आखिर इस सबका नतीजा यह होता है कि मुझे समुदायके साथ यात्रा करनी पड़ती है, और इसलिए अपनी उछलनेवाली मनोवृत्तियोंको दबा देना पड़ता है। और एक ओर मनके अन्तर्मुख बनकर चिंतन-मग्न होने पर भी दूसरी ओर मुझे बाहरके लोगोंके वायुमंडलके अनुकूल बनना पड़ता है।

यात्रामें हो या किसी महत्त्वके काममें हो, मंगलाचरणमें कोई विघ्न न आये तो मुझे कुछ खोया-खोया-सा मालूम होता है। निर्विघ्न प्रवृत्ति यदि मैंने अपनी स्वप्नसृष्टिमें भी न देखी हो, तो जागृतिमें भला वह कहांसे आयेगी? बडे उत्साहके साथ हम भुसावलसे रवाना हुए और इटारसीमें पहली ठोकर खाई। पहलेसे सूचना देने पर भी इटारसीके स्टेशन-मास्टर गाड़ीमें हमारे लिए कोई प्रबंध नहीं कर सके थे। नया डिब्बा जोड़ दें तो उसे खींचनेकी ताकत इंजिनमे नहीं थी; क्योंकि इटारसीके पहले ही गाड़ीमें ज्यादा डिब्बे जोड़े गये थे और सब डिब्बे ठसाठस भरे हुए थे।

क्या अब यहींसे वापस लौटना पड़ेगा? कितनी निराशा! सोचा, मनको दूसरी दिशामें मोड़ दें और दिलजोईके लिए यहांसे होशंगाबाद तक मोटरमें जाकर नर्मदामाताके दर्शन कर लें और फैजपुरकी ओर वापस लौट जाएं। किन्तु इतनी हिम्मत हारनेकी भी हिम्मत न होनेसे आखिर आयी हुई गाड़ीमें हम किसी न किसी तरह घुस गये।

जबलपुर जाकर एक-दो स्थानिक सज्जनोंकी मददसे हम नजदीककी धर्मशालामें जा पहुंचे और मोटरकी व्यवस्था करनेकी कोशिशमें लगे।

कोई बड़ा काफिला साथमें लेकर यात्रा करनेमें जिस व्यवस्था-शक्तिकी आवश्यकता रहती है, वही युद्धोंमें बड़ी फौजके स्थानांतरके समय रहती है। किसी

आश्रम, संस्था, मंदिर या छोटे-बड़े संस्थानको चलानेमें जिन गुणों या शक्तियोंका विकास होता है, उन्हींका उपयोग किसी राज्य या साम्राज्यको चलानेमें होता है। कोई होशियार किसान मौका मिलते ही उत्तम शासक या प्रबंधक हो सकता है; और बड़े-बड़े कल-कारखाने चलानेवाला कल्पक या योजक कारखानेदार किसी साम्राज्यका सूत्र आसानीसे चला सकता है। यात्रामें मनुष्यकी सब तरहकी कुशलताकी परीक्षा होती है और इसमें योग्य पुरुष—और स्त्रियां भी, अपने आप आगे आ जाती हैं।

यह विचार यहां क्यों सूझा, यह बतानेके लिए हम नहीं रुकेंगे। हमें समय पर भेड़ाघाट पहुंचना है, और बारिश तो मानो 'अभी आती हूं' कहकर टूट पड़ने पर तुली हुई है। यों तो ये बारिशके दिन नहीं हैं। किन्तु हिन्दुस्तानके चारों ओरके लोग फैजपुर कांग्रेसके लिए जा रहे हैं, यह देखकर बारिशको भी लगा, 'चलो हम भी अलग-अलग स्थान देखते हुए फैजपुर हो आयें।' मगर जाड़ेके दिनोंमें बारिश-के पांवोंमें ताकत नहीं होती; इसलिए दौड़ते-दौड़ते वह रास्तेमें ही गिर पड़ी और फैजपुर तक पहुंच न सकी! उसके हाथमें यदि 'स्वराज्य' की ज्योति होती, तो शायद लोगोंने उसे उठकर आगे बढ़नेमें मदद की होती।

खैर; हमारी दोनों मोटरें तैल-वेगसे चल पड़ी और संध्याके समय हम भेड़ा-घाट जा पहुंचे। संगमरमरकी शिलाएं देखनेके लिए इससे पहले शायद ही कोई ऐसे समय यहां आया होगा। मगर प्रकृतिके दीवानेको समयके साथ क्या लेना देना है?

० ० ०

यहां आकर हम बड़ी दुविधामें पड़े। निकटमें ही एक टेकरी पर महादेवजीके मंदिरको घेरकर चौरासी योगिनियां तपस्या करती हुई बैठी थीं। तपस्या करते-करते अहिल्याकी तरह वे शिलारूप बन गई होंगी। रामके चरणोंका स्पर्श होनेके बजाय मुसलमानोंकी लाठियोंका स्पर्श होनेके कारण इनमें से बहुत-सी योगिनियों-की काफी दुर्दशा हुई है। इस टेकरीके उस पार धुवांधार नामक एक मशहूर प्रपात है। उसे देखने जायें या संगमरमरकी शिलाएं देखनेके लिए नौका-विहार करें?

विहार करनेके लिए नौकाएं केवल दो ही थीं। इसलिए हम सब किसी एक बात पर एकमत हो जायं इसमें लाभ नहीं था। लिहाजा हमने दो टोलियां बनायीं। यह स्थान संगमरमरकी शिलाओंके लिए मशहूर था, इसलिए बड़ी टोली-ने उस ओर जाना पसन्द किया। इसमें संदेह नहीं कि थोड़ा उजियाला जो बचा था उसीमें यह स्थान देख लेनेमे अक्लमंदी थी। हमारी दूसरी टोलीने योगिनियो-का दर्शन करके धुवांधार जानेका निर्णय किया और हम सीढ़ियां चढ़ने लगे। सब योगिनियोंके दर्शन हमने अपने हाथकी बिजलीकी एक छोटी-सी मशालकी मददसे किये। मूर्तियां सुन्दर ढंगसे बनाई हुई और कलापूर्ण लगी। मंदिरके भीतर विराज-

मान महादेव तथा उनका नंदी भी देखने लायक हैं।

मनमें विचार आया कि जब किसी लड़ाईमें हम घायल होते हैं, तब तुरंत इलाज करके हम अच्छे हो जाते हैं। गांवमें रोगसे किसीकी मौत होती है, तो हम तुरंत उसे जला देते या दफना देते हैं। जब जमीन पर दूध गिरता है तब हम उसके धब्बोंको अमंगलकारी समझकर उन्हें जमीन पर रहने नहीं देते; उन्हें पोंछ डालते हैं। ऐसा मनुष्य-स्वभाव होने पर भी हमने खंडित मूर्तियां ज्यों-की-त्यों क्यों रहने दीं? क्या धर्मान्ध मुसलमानोंके अत्याचारोंका स्मरण करानेके लिए? या खुद अपनी कायरता और सामाजिक गैर-जिम्मेदारीको स्वीकार करनेके लिए? अप्रतिम कलामूर्तियां बनानेकी कला यदि देशमेंसे नष्ट हो गई होती, तो इस प्रकारके प्राचीन अवशेषोंके नमूनोंको सुरक्षित रखना उचित माना जाता। किन्तु मैंने देखा है कि आबूमें दिलवाड़ेके मंदिरोंमें संगमरमरकी कारीगरी करनेवाले कुटुंबोंको हमेशाके लिए नियुक्त कर लिया गया है; मंदिरके किसी हिस्सेमें जब कुछ खंडित होता है तो तुरंत उसकी मरम्मत करके उसको पहलेकी तरह बना दिया जाता है। इसी तरह लाहौरके अजायबघरमें भी मैंने देखा है कि मूर्तियोंका कोई कुशल सर्जन घायल मूर्तियोंके हाथ, पैर, नाक, होंठ आदिको सीमेन्टकी मदद से इस ढंगसे ठीक कर देता है कि किसीको पता तक न चले। मगर हमारे मंदिर योग्य और पुरुषार्थी लोगोंके हाथमें हैं ही कहां? हमारे समाजकी स्थिति लावारिस ढोरों जैसी है।

योगिनियोंके आशीर्वाद लेकर हम टेकरीसे नीचे उतरने लगे। अब भी कुछ प्रकाश बाकी था। इसलिए हम हंसते-खेलते किन्तु द्रुत गतिसे धुवांधारकी खोज करने निकल पड़े। जो साथी आगे दौड़ रहे थे उनकी लगाम खींचनेका और जो पीछे पड़ रहे थे उन्हें चाबुक लगानेका काम एक ही जीभको करना पड़ता था। मेरा अनुभव है कि नयी आजादीसे बहकनेवाले बछड़ों या भेड़ोंको ज्यों-ज्यों पास लानेकी कोशिश की जाती है, त्यों-त्यों संघको छोड़कर दूर-दूर भागनेमें उन्हें बड़ी बहादुरी मालूम होती है; फिर उन पर रुष्ट होकर उन्हें वापस लानेमें होनेवाले कष्टके कारण संघपतिको भी अपना महत्त्व बढ़ा हुआ-सा मालूम होता है। परस्पर खींचातानीके कष्टोंका आनंद दोनोंसे छोड़ा नहीं जाता।

जहां भी हमारी नजर जाती, सफेद पत्थर ही पत्थर नजर आते थे। जबलपुर का ही यह प्रदेश है! किन्तु एक जगह तो हमें संग-जराहतका खेत ही मिल गया। संग-जराहत एक अद्भुत चीज है। वह पत्थर जरूर है, मगर बिलकुल चिकना और मुलायम। मानो पेन्सिलका सीसा। छुटपनमें एक बार मुझे संग्रहणी हो गई थी। उस समय इसका चूरा छानकर मावेकी बरफीमें मिलाकर मुझे खिलाया गया था। तबसे उस पर मेरी श्रद्धा जमी हुई है। आंवकी वजहसे जब आंतोंमें घाव हो जाते हैं तब उन्हें भरनेमें यह चूरा मदद करता है; और घाव भरनेके बाद वह

अपने-आप पेटके बाहर निकल जाता है। पत्थरका चूरा हजम थोड़े ही हो सकता है! पेटमें रहे तो रोग हो जाय। मगर वह अपना काम पूरा होते ही उपकारके वचनोंकी वसूली करनेके लिए भी अधिक दिन रहनेकी गलती नहीं करता।

अब तो चारों ओर काफी अंधेरा छा गया था। सर्वत्र भयानक एकांत था। हमारी टोली इस एकांतको चीरती हुई आगे चल रही थी, मानों अनन्त समुद्रमें कोई नाव चल रही हो। हवा कुछ रुंधी हुई-सी लगती थी। कब पानी गिरेगा, कहा नहीं जा सकता था। ऊपर आकाशमें देखा तो काले-काले बादलोंके बीच एक ओर सिर्फ एक तारका चमक रही थी। चमकती क्या थी? बेचारी बड़े दुःखके साथ झांक रही थी, मानो किसी बड़े मकानकी खिड़कीसे कोई एकाकी वृद्धा निर्जन रास्ते पर देख रही हो। हम आगे बढ़े। अब जमीन भी अच्छी खासी गीली थी। बीच-बीचमें पानी और कीचड़के गड्ढे भी आते थे।

अंधेरा खूब बढ़ गया। गड्ढोंमेंसे रास्ता निकालना कठिन-सा मालूम होने लगा। आगे जानेका उत्साह बहुत कम हो गया। ऐसे कठिन स्थान पर अंधेरी रातके समय हम यहां तक आये, इसीको यात्राका आनंद मानकर हमने वापस लौटनेका विचार किया। मनमें डर भी पैदा हुआ—ऐसे निर्जन और भयावने स्थानमें कहीं चोरोंसे मुलाकात न हो जाय!

कुछ लोगोंको अकेले यात्रा करते समय चोर-डाकुओंका डर मालूम होता है। जब समुदाय बड़ा होता है, तब यह डर मानो सबके बीच बंट जाता है और हरेकके हिस्से बहुत कम आता है। फिर एक-दूसरेके सहारे हरेक अपना-अपना डर मन ही मनमें दबा भी सकता है। कुछ लोगोंका इससे बिलकुल उलटा होता है। अकेले होने पर उन्हें अपनी कोई परवाह नहीं होती। अपना कुछ भी हो जाय। मार-पीट-का प्रसंग आ जाये तो जी-भरकर लड़ते हुए शानके साथ सारे बदन पर मार खाने-में विशेष नुकसान नहीं लगता। और यदि अहिंसक वृत्ति हो तो बिना गुस्सा किये और बिना डर कर भागे मार खाते रहनेमें अनोखा आनन्द आता है। सत्याग्रही वृत्तिसे खायी हुई मारका असर मारनेवाले पर ही होता है; क्योंकि अहिंसक मनुष्यको मारनेवालेकी अपने ही मनके सामने प्रतिक्षण फजीहत होती है।

मगर जब बड़ी टोलीके साथ होते हैं, तब भरोसा नहीं होता कि कौन किस प्रकार व्यवहार करेगा। बच्चे और औरतें यदि साथ हों तब कुछ अलग ही ढंगसे सोचना पड़ता है। अपने-आपको खतरेमें डालनेमें जो मजा आता है, वह ऐसे अव-सरों पर अनुभव नहीं होता। सभी सत्याग्रही हों तो बात अलग है। किन्तु बड़ी खिचड़ी-टोली साथमें लेकर खतरेके स्थान पर कभी भी नहीं जाना चाहिये। श्रीकृष्णके कुटुम्ब-कबीलेको ले जानेवाले वीर अर्जुनकी भी क्या दशा हुई थी, यह तो हम पुराणोंमें पढ़ते ही हैं।

ऐसे अंधेरेमें शिलाओंके बीचसे कहां तक जायें और वहां क्या देखनेको मिलेगा,

इसकी कुछ कल्पना ही नहीं थी। अतः मनमें आया, यहींसे वापस लौटना अच्छा होगा। इतनेमें दाहिनी ओर एक छोटी-सी टूटी-फूटी कुटिया दीख पड़ी। ऐसे निर्जन स्थानमें चोर भी चोरी काहेकी करेंगे? मगर चोरी करके थकने पर शांति और निश्चितताके साथ बैठनेके लिए यह स्थान बहुत सुन्दर है। चोरोंको ढूंढ़ने निकलनेवाले लोगोंको यहां तक आनेका ख्याल भी नहीं आयेगा। तो क्या इस कुटियामें निरंजनका ध्यान करनेवाला कोई अलख-उपासक साधु रहता होगा? हम कुटियाके नजदीक गये। अंदर कोई नहीं था! तब तो यह कुटिया साधुकी नहीं हो सकती। फकीर दिनभर कहीं भी घूमता रहे; रातको अपनी मसजिदमें आना वह कभी नहीं भूलेगा और बाबाजी रात बाहर कहीं बितानेके बजाय अपनी सहचरी धूनीके संपर्कमें ही बितायेंगे।

तब यह कुटिया मछलियां मारनेवाले किसी मच्छीमारकी होगी। किसीकी भी हो, हमें इससे क्या मतलब? आजकी रात हमें यहां थोड़ी बितानी है? जरा आगे जाने पर यकीन हुआ कि रास्ता ठीक न होनेसे अंधेरेमें इससे आगे जाना खतरा मोल लेना है। अतः मैंने हुक्म छोड़ा: 'चलो, अब वापस लौटें।' इतनेमें मानो सत्त्व-परीक्षा पूरी हो गई हो, इस ख्यालसे बादल जरा हटे और ठीक हमारे सिर पर विराजित चंद्रने 'पश्याश्चर्याणि भारत!' कहकर आसपासका प्रदेश प्रकाशित कर दिया। सूर्य सब कुछ प्रकट कर देता है, इसलिए उसके प्रकाशमें कोई काव्य नहीं होता। अंधेरी रातमें आकाशके सितारोंमें विचरनेवाली दृष्टिको चंद्र पृथ्वी पर भेज देता है और कहता है: 'थोड़ा आंखोंसे देखो और बाकीका सब कल्पनासे भर दो।'

चंद्रने कुछ मदद की और दूर-दूरसे धुवांधारका घोप भी सुनाई देने लगा। मेरा हुक्म एक ओर रह गया और सब अपने पैर तेजीसे उठाने लगे। जरा आगे गये कि धुवांधार दीख पड़ा! मानो दूधका स्रोत बह रहा हो!! सर-सर धब-धब! सुलमुल धब-धव! करररर धब-धब! धब-धब; धब-धब! उन्मत्त पानी बहता ही जा रहा था। और उसमेंसे निकलनेवाली सीकर-वृष्टि सर्वत्र फैल रही थी। वृष्टि काहेकी? तुषारका फव्वारा ही समझ लीजिये। कितना अतिथिशील! इन सूक्ष्म जीवन-कणोंने हमारे इन जीवन-क्षणोंको सार्थक कर दिया। चंद्र प्रसन्नतासे हंस रहा था, पानी खेल रहा था, तुषार उड़ रहे थे, हवा झूम रही थी और हम मस्तीमें डोल रहे थे। इधर देखिये, उधर देखिये, कैसा मजा है! आदि उद्गारोंका प्रपात भी देखते ही देखते शुरू हो गया। भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें धुवांधार कैसा दिखाई देता है, इसका वर्णन हमारे साथ आये हुए स्वयंसेवक पथदर्शकने शुरू किया। यहां लोग तैरने कैसे जाते हैं, कहांसे कूदते हैं, गरमीके दिनोंमें धुवांधारकी ऊंचाई कितनी होती है, आदि बहुत-सी जानकारी उसने हमें दी। और अपनी जानकारी तथा रसिकताके लिए उसने हमसे अपनी कद्र भी करवा ली। अब सब शांत हो गये और

एकध्यानसे धुवांधारके साथ एक-रूप होनेमें मग्न हो गये। कितना भव्य और पावन दर्शन था! अरणिके मंथनसे प्रथम गरमी पैदा होती है; फिर धुवां निकलता है; धुवां बढ़ने पर उसमेंसे चिनगारियां उड़ती हैं और फिर लपटें निकलने लगती हैं। इसी तरह निसर्ग-यात्रासे प्रथम कुतूहल जाग्रत होता है, कुतूहलमेसे अद्भुतता पैदा होती है, और अद्भुतताके काफी मात्रामें एकत्र होने पर यकायक भक्तिकी ऊर्मियां बाहर आती हैं। 'चलो, हम यहांशिला पर बैठकर प्रार्थना करें।' प्रार्थनाके लिए इतना पवित्र स्थान और इतना शुभ समय हमेशा नही मिलता। सब तुरन्त बैठ गये 'यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र...' की ध्वनि धुवांधारके कानों पर पडी।

जिस प्रकार भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न राग गाये जाते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्थलों पर मुझे भिन्न-भिन्न स्तोत्र सूझते हैं। हिन्दुस्तानके दक्षिणमे कन्याकुमारी मैं तीन बार गया, तब मुझे गीताका दसवां और ग्यारहवां अध्याय सूझा। विभूतियोग और विश्वदर्शनयोगका उत्कट पाठ करनेके लिए वही उचित स्थान था। और जब सीलोनके मध्यभागमे—अनुराधापुरके समीप—महेन्द्र पर्वत-के शिखर पर संध्यास्तके समय पहुंचा था, तब पाटलिपुत्रसे आकाशमार्ग द्वारा आकर इस शिखर पर उतरे हुए महेन्द्रका स्मरण करके मैने ईशावास्योपनिषद् गाया था। दैव जाने अनात्मवादी बुद्ध-शिष्योंकी आत्माको ईशोपनिषद् सुनकर कैसा लगा होगा! और पूनासे जब शिवनेरी गया, तब मसजिदकी ऊंची दीवारोंकी सीढिया चढ़कर दूरसे श्री शिवाजी महाराजके बाल्यकालकी क्रीड़ाभूमिके दर्शन करते समय न मालूम क्यों माडुक्योपनिषद् गाना मुझे ठीक लगा था। यह उपनिषद् श्रीसमर्थको प्रिय था, ऐसा माननेका कोई सबूत नही है। फिर भी 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोऽभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनम् न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।' यह कंडिका बोलते समय मैं शिव-कालीन महाराष्ट्रके साथ तथा आत्मारामकी अभेद-भक्ति करनेवाले साधु-सन्तोंके साथ बिलकुल एकरूप हो गया था। उस समय मनमे यह भाव उठा था—'मै नही चाहता यह अलग व्यक्तित्व; एकरूप सर्वरूप हो जायं इस समस्त दृश्यके साथ।' धुवांधारकी मस्ती तथा उसके तुषारोका हास्य देखकर यहां स्थितप्रज्ञके श्लोक गाना ठीक लगा।

उत्कट भावनाओंका सेवन लम्बे समय तक करते रहना जरूरी नही है। एक आलापमे एक अखिल भावसृष्टिको समाया जा सकता है। एक जलबिंदुमें प्रचण्ड सूर्य भी प्रतिबिम्बित हो सकता है। एक दीक्षामंत्रसे युगोंका अज्ञान हटाया जा सकता है। एक क्षणमें हमने धुवांधारके वायुमडलको अपना बना लिया। आंखोकी शक्ति कितनी अजीब होती है! धुवांधारका पान मुंहसे करना असंभव था। हम कुंभ-संभव अगस्ति थोड़े ही थे! मगर हमारी दो नन्ही पुतलियोंने अखंड बहनेवाले इस प्रपातका आ-कंठ पान किया। मुझे लगता है कि ऐसे दृक्-पानको 'आ-कंठ' कहनेके बदले 'आ-पलक' कहना चाहिये। हम सबने अपनी-अपनी आंखोंमे यह लूट

एक क्षणमें भर ली और वापस लौटे। हमारा यह भूतोंका संघ तरह-तरहकी बातें करता हुआ तथा गर्जना करता हुआ मोटरके अड्डे पर आ पहुंचा।

यहां भेड़ाघाटकी संगमरमरकी शिलाएं देखकर लौटी हुई टोली हमसे मिली। एक दूसरेके अनुभवोंका आदान-प्रदान करके हमने इस टोलीको बुजुर्गाना सलाह दी कि 'इस समय धुवांधार जाना बेकार है। आप तैल-वाहनमें बैठकर सीधे जबलपुर चले जाइये। आप जहां हो आये हैं वहां थोड़ा नौका-विहार करके हम तुरन्त लौट आयेंगे।' मालूम नहीं, हमारी यह सलाह उन्हें पसंद आयी या नही। मगर उसको माननेके सिवा उनके लिए कोई चारा नही था।

रास्तेकी ओरसे उतरते हुए और अंधेरेमें लड़खड़ाते हुए हम प्रवाहके किनारे तक पहुंचे और दो टोलियोंमें बंटकर दो नावोंमें चढ़ बैठे। हमारी नाव आगे बढ़ी। सर्वत्र शांतिका ही साम्राज्य था और उसकी गहराईकी मानो थाह लगानेके लिए बीच-बीचमें हमारी नावकी पतवारें तालबद्ध आवाज करती थी। चंद्र अपनी टिम-टिमाती मशाल सिर पर रखकर मानो यह सुझा रहा था: 'आसपासकी यह शोभा दिनके समय कैसी मालूम होती होगी इसकी कल्पना कर लीजिये।' कई स्थानों पर बिलकुल अंधेरा था। बीच-बीचमें चांदनीके धब्बे दिखाई पड़ते थे। आकाश निरभ्र नही था। इसलिए चांदनी छांछके समान पतली बन गयी थी। आकाशके बादल बीच-बीचमें मलमलके जैसे पतले दीख पड़ते थे, अतः उनकी ओर भी ध्यान खिंच जाता था। दोनों ओर संगमरमरकी शिलाएं कितनी ऊंची मालूम होती थी! ऊंची और भयावनी। मानो राक्षसोंका समूह बैठा हो! और इन शिलाओंके बीच-से नर्मदाका प्रवाह मोड़ ले लेकर अपना चक्रव्यूह रच रहा था।

ऊंची-ऊंची शिलाएं या पहाड़ जहां एक-दूसरेके बहुत पास आ जाते हैं, वहां 'प्राचीन कालमें एक सरदारने अपने घोड़ेको एड़ी लगाकर इस शिखरसे सामनेके शिखर तक कुदाया था' जैसी दंतकथा चलती ही है। बंदर तो सचमुच इस प्रकार कूदते ही हैं। यहां भी आपको इस प्रकारकी दंतकथाएं नाववालोंके मुंहसे सुननेको मिलेंगी।

यहां इन शिलाओंके बीच कई गुफाएं भी हैं। इनमें ऋषिमुनि ध्यान करनेके लिए अवश्य रहते होंगे। और मध्ययुगमें राज-कुलोंके आपद्ग्रस्त लोग तथा स्वतंत्रताकी साधना करनेवाले देशभक्त भी यही आत्मरक्षाके लिए छिपते रहे होंगे। और फिर छछूंदरोंकी तरह नावें इन लोगोंको गुप्त रूपसे आहार, समाचार और आश्वासन पहुंचाती रहती होंगी। इन गुफाओंको यदि वाचा होती, तो इतिहासमें जिसका जिक्र तक नही है, ऐसा कितना ही वृत्तांत वे हमें बतातीं।

खोहके बीचोंबीच नावसे जाते हुए हम एक ऐसे स्थान पर आ पहुंचे, जिसे शांतिका गर्भगृह कह सकते हैं। यहां हमने पतवारें बंद करवायी, और इस डरसे कि कही शांतिमें भंग न हो जाय हमने श्वास भी मंद कर दिया। प्रार्थनाके श्लोक हमने

वहां गाये या नहीं, इसका स्मरण नहीं है। किन्तु मैंने मन ही मन सोलह ऋचाओंका पुरुष-सूक्त बड़ी उत्कटताके साथ वहां गाया। बादमें लगा कि इतनी शांतिमें तो अपने-आप समाधि ही लगनी चाहिये। पता नहीं कितना समय नौका-विहारमें बीता। इतनेमें डब-डब-डब करती हुई दूसरी नाव वहां आ पहुंची। उसमें जो टोली थी उसने एक मंजुल गीत छेड़ा। आसपासकी खोहें इसकी प्रतिध्वनि करें या न करें इस दुविधामें संकोचसे उत्तर दे रही थीं।

नाववालेने कहा, 'अब इससे आगे जाना असंभव है; यहांसे लौटना ही चाहिये।' अतः दौड़ते मनको पीछे खींचकर हम बोलेः 'चलो! पुनरागमनाय च!'

अब यदि जाना हो तो वर्षाके अंतमें, चांदनीके दिन देखकर, दिनरात इस मूर्तिमंत काव्यमें तैरते रहनेके लिए ही जाना चाहिये। सचमुच, यह रमणीय स्थान देखकर मनने निश्चय किया कि यदि फिर कभी यहां आना न हो, तो यहांसे निकलना ही नहीं चाहिये।

अक्तूबर, १९३७

४४. धुवांधार

एक, दो, तीन। धुवांधार अभी-अभी मैंने तीसरी बार देख लिया। धुवांधार नाम सुन्दर है। इस नाममें ही सारा दृश्य समा जाता है। किन्तु अबकी बार इस प्रपातको देखते-देखते मनमें आया कि इसको धारधुवां क्यों न कहूं? धार गिरती है, फव्वारे उड़ते हैं और तुरन्त उसके तुषार बनकर कुहरेके बादल हवामें दौड़ते हैं। अतः धारधुवां नाम ही सार्थक लगता है। मगर यह नाम चल नहीं सकता!

जबलपुरसे गोल-गोल पत्थर तथा चमकीले तालाब देखते-देखते हम नर्मदाके किनारे आ पहुंचते हैं। रास्तेका दृश्य कहता है कि यह काव्यभूमि है। चारों ओर छोटे-बड़े पेड़ खेल खेलनेके लिए खड़े हैं। बगलमें एक बड़ा टीला टूट कर गिर पड़ा है। किन्तु उसके सिर पर खड़े पेड़ अपनी आधी जड़ें अलग पड़ जाने पर भी शोक-मग्न या चिंतातुर नहीं मालूम होते। ऐसे पेड़ोंसे जीवन-दीक्षा लेकर ही आगे बढ़ा जा सकता है।

टीला टूटता तो है, किन्तु टूटा हुआ हिस्सा आसानीसे जमीदोज नहीं होता। इस टीलेने एक-दो मीनार और एक बड़ा शिखर बना लिया है, जो कहते हैं कि यदि विनाशमेंसे भी नयी सृष्टिकी रचना न कर पायें तो हम कल्प-कवि कैसे? टीलेके ऊपरसे नीचेके पत्थरों और पानीका दृश्य दृढ़ता और तरलताके विचार एक ही साथ मनमें पैदा कर रहा था। पुल पार करके हम आगे आये और योगिनियोंकी टेकरीके नीचेका कई बार देखा हुआ सामान्य दृश्य देखा। यह दृश्य इतना गरीब

है कि उसके प्रति गुस्सा नहीं आता। यहां गरीब कारीगर पत्थरोंसे छोटी-बड़ी चीजें बनाकर बेचनेके लिए बैठते हैं। सफेद, काले, लाल, पीले, आसमानी और रंग-बिरंगे संगमरमरके शिवलिंगोंकी बगलमें संग-जराहतके डिब्बे, शिवालय, हाथी और अन्य छोटे-बड़े खिलौने मानो स्वयंवर रचकर खड़े रहते हैं। जिसकी नजरमें जो जंच जाता है वह उसे उठाकर ले जाता है। आज ये खिलौने एक आसनपर बैठे हुए हैं। कल न मालूम कौनसा खिलौना कहां चला जायगा? कुछ तो हिन्दुस्तानके बाहर भी जायंगे। और वहां बरसों तक धुवांधारका धारावाहिक संगीत याद करके चुपके-चुपके सुनायेंगे।

यहांसे धुवांधार तक पैदल जानेकी तपस्या मैंने दो बार की थी। पहली यात्रा रातके समय की थी। दूसरी सुबह स्नानके समय की थी। हरेकका काव्य अलग ही था। आज तीसरा प्रहर पसंद किया था। इस समय अधिक तपस्या नहीं करनी पड़ी। ब्यौहार राजेन्द्रसिंहजीने अपना तैल-वाहन (मोटर) दिया था, अतः हम लगभग धुवांधार तक बिना कष्टके पहुंच गये। संग-जराहतके खेतके पास उतरकर, वहांकी तीन दुकानें पार करके, पत्थरोंके बीचसे होकर हम धुवांधार पहुंचे। पत्थर ज्यों-ज्यों अड़चनें पैदा करते थे, त्यों-त्यों चलनेका मजा बढ़ता जाता था। ऐसा करते-करते हम धुवांधारके पास पहुंचे।

प्रपात यानी जीवनका अधःपात। मगर यहां वैसा मालूम नहीं होता। पहली बार गये थे दिसंबरमें और अंधेरेमें। आकाशके बादल चांदके खिलाफ षड्यंत्र रच-कर बैठे थे। अतः चांदनी रात होते हुए भी वहां अमावस्याकी-सी भीषणता थी। अमावस्याकी रातमें आकाशके सितारे इस भीषणताको हंसकर उड़ा देते हैं। मगर बादलोंके सामने इसकी भी आशा न रही। परिणामस्वरूप उस रातको स्वयं धुवांधारको अपनी भव्यतासे हमें प्रसन्न करना पड़ा। रातकी प्रार्थना करके हमने वह आनंद हजम किया और वापस लौटे।

दूसरी बार गये थे त्रिपुरी कांग्रेसके बाद करीब नौ-दस बजेकी बढ़ती हुई धूपके स्वागतका स्वीकार करते हुए। धुवांधारके संपूर्ण दर्शन हम उसी समय कर पाये थे। मार्चका महीना था। अतः पानीमें गरमीकी ऋतुका अकाल न था। पहाड़ीकी कुछ टेढ़ी-मेढ़ी खुरदरी सीढ़ियां उतरकर हमने नीचेसे धुवांधारको गिरते देखा था। पानीकी वह गति और फव्वारेकी वह चंचलता चित्तको आश्चर्यकारक ढंगसे स्थिर करती थी। पानीकी ओर अनिमेष देखते ही रहें तो ऐसा अनुभव होता है मानो नवनवोन्मेषशालिनी धाराएं वेगकी समाधि लगाकर खड़ी हैं! इसी समय मैं देख सका कि वहांके काईवाले पत्थर ऊपरसे चाहे जैसे दीखते हों, लेकिन अंदरसे तो वे प्रेमका रंग खिलानेवाले (लाल रंगके) ही हैं। पानीके जोरके कारण पत्थरका एक टुकड़ा उड़ गया था और अंदरका गुलाबी लाल रंग साफ दिखाई देने लगा था, मानो उसे घाव पड़ गया हो।

धुवांधार देखनेका अच्छेसे अच्छा समय है दीपावलीका। बारिश न होनेसे रास्तेमें कहीं कीचड़ नहीं था। वर्षा ऋतुमें जब आते हैं तब सारा प्रदेश जलसे भरा होनेके कारण प्रपातके लिए गुंजाइश ही नहीं होती। जहां हृदयको हिला देनेवाला प्रपात है, वहीं वर्षा ऋतुमें सिरमें चक्कर लानेवाले भंवर दिखाई देते होंगे। इन भंवरोंका रुद्र स्वरूप देखनेके लिए यदि यहां तक आया जा सकता हो, तो मैं यहां आये बिना नहीं रहूंगा। भंवर क्रान्तिका प्रतीक है। उसका आकर्षण कुछ अनोखा ही होता है। कभी-कभी मौतको न्योता देनेवाला भी!

दीपावलीके समय जलराशि सबसे अधिक पुष्ट, प्रपातकी शोभा सबसे अधिक समृद्ध, और मीठी धूपके सेवनके बाद तुषारके बादलोंकी चुटकियां सबसे अधिक आह्लादक होती हैं। आजका दृश्य वैसा ही था, जैसी हमने आशा रखी थी। तुषार के बादल दूरसे ही नजर आते थे। रसोड़ेका धुआं देखकर जिस प्रकार अतिथिको आनंद होता है, उसी प्रकार इस धुएंके बादलको देखकर ही मैं कल्पना कर सका कि आज किस प्रकारका आतिथ्य मिलनेवाला है। धारधुवां जैसा प्रपात जब देखनेके लिए जाते हैं, तब वहां बनाया हुआ पटियेका कामचलाऊ छोटा पुल भी कलापूर्ण और आतिथ्यशील मालूम होने लगता है। हम परिचित किनारे पर जाकर बैठे ही थे कि स्नेहार्द्र पवनने तुषारकी एक फुहार हमारी ओर भेजकर कहा, 'स्वागतम्', 'सुस्वागतम्'! एक क्षणके अंदर हमारा सारा अध्व-खेद उतर गया। हम ताजे हो गये और ताजी आंखोंसे धुवांधारको देखने लगे।

धुवांधार यानी पत्थरोंके विस्तारमें बनी हुई अर्धचंद्राकार घाटी। उसमेंसे जब पानीका जत्था नीचे कूदता है तब बीचमें जो कांचके जैसा हरा रंग दीख पड़ता है, वह जहरके समान डर पैदा करता है। उसकी बाईं ओर यानी हमारी दाईं ओरकी शिला हाथीके सिरकी तरह आगे निकली हुई है। उस परसे जब पानी नीचे गिरता है तब मालूम होता है मानो असंख्य हीरोंके हार एक-एक सीढ़ी परसे कूदते-कूदते एक-दूसरेके साथ होड़ लगा रहे हैं। ज्यों-ज्यों वे कूदते जाते हैं त्यों-त्यों हंसते जाते हैं, और पानीको पींज-पींजकर उसमेंसे सफेद रंग तैयार करते जाते हैं। बीचका मुख्य प्रपात घाटीमें गिरते ही इतने जोरोंसे ऊपर उछलता है कि आतिशबाजीके बाणोंको भी उससे ईर्ष्या हो सकती है। एक फव्वारा ऊपर उड़कर जरा शिथिल पड़ता है कि इतनेमें दूसरे फव्वारे नये जोशसे उसके पीछे-पीछे आकर और धक्का देकर उसे तोड़ डालते हैं और फिर उसके जलकण पृथ्वीके आकर्षणको भूलकर धुएंके रूपमें व्योम-विहार शुरू कर देते हैं। ये तुषार जरा ऊपर आते हैं कि पवनके झोंके उन्हें उड़ाते-उड़ाते चारों ओर फैला देते हैं। धुएंकी ये तरंगें जब हवामें हलके-गाढ़े रूपमें दौड़ती हैं, तब वायलके अत्यन्त सुन्दर बेलबूटे दिखाई देते हैं।

और नीचे! नीचेके पानीकी मस्तीका वर्णन तो हो ही नहीं सकता। पानी मानो अद्वैतानंदमें फिसल पड़ा। जितना नीचे गिरा, उतना ही ऊपर उड़ा। उसने

हरे रंगमेंसे सफेद फेन पैदा किया और जीमें आया वैसा विहार किया। इस अपूर्व आनंदको याद करके नीचेका पानी बार-बार उभर आता था। धोबीघाट परके साबुनके पानीकी उपमा यदि अरसिक न होती तो नीचेके पानीके उभारकी तुलना मैं उसीसे करता। मगर धोबीके साबुनका पानी गंदा होता है। उसमें गति और मस्ती नही होती; बेपरवाही और तांडव भी नही होता। और न हास्य फीका पड़ते ही चेहरे पर फिरसे निर्मल भाव धारण करनेकी कला उसके पास होती है। यहांका पानी देखकर धोबीघाटका स्मरण ही क्यों हुआ? उसमे किसी प्रकारका औचित्य ही नहीं था!

मनुष्य यदि समाधिकी मस्ती चाहता हो, तो उसे यहां आना चाहिये। उसे किसी भी कारणसे निराश नहीं होना पड़ेगा।

इस ओरके (दायें) टीलेकी दो सीढ़ियां अबकी बार मैं फिर उतरा। इस बार यहां उपनिषद् सूझा। ऊपर सूरज तप रहा था और मैं गा रहा था—'पूषन्नेकर्षे! यम! सूर्य! प्राजापत्य! व्यूह रश्मीन्; समूह तेजो।' जब पाठका अंत करीब आया और मैं बोला 'ॐ क्रतो स्मर; कृतं स्मर।' तब यकायक तीन-चार सालका मेरा सारा जीवन एकसाथ इस जीवन-धाराके सामने खड़ा हुआ और मुझे लगा मानो मै अपना जीवन इस मस्त जीवनकी कसौटी पर कस रहा हूं और यह देखकर कि वह पूरी तरह खरा उतर नहीं रहा है, परेशान हो रहा हूं। दूसरे ही क्षण इन तीन वर्षोंकी स्मृतिके भी तुषार बनकर आकाशमें उड़ गये और मैं प्रपातके साथ एकरूप हो गया। सचमुच यह प्रपात पूर्ण है। और मैं भी इस पूर्णका ही एक अंश हूं, अतः तत्त्वतः पूर्ण हूं। हम दोनों वि-सदृश नहीं हैं; एक ही परम तत्त्वकी छोटी-बड़ी विभूतियां हैं। यह भान जाग्रत होते ही चित्त शांत हुआ और मैं ऊपर आया।

चि० सरोजिनी भी यह सारा दृश्य उत्कट नयनोंसे अघाकर पी रही थी। इस सारे आनंदको किस तरह समझें, किस तरह हजम करें और किस तरह व्यक्त करें, इस बातकी मीठी परेशानी उसकी आंखोंमे दिखाई दे रही थी।

यहांसे तुरन्त लौटकर चौसठ योगिनियोंके दर्शन करने थे; नर्मदा-प्रवाह-के रक्षक सफेद, पीले, नीले पहाड़ देखने थे। अतः बहू जिस प्रकार पीहरसे ससुराल जाते समय दोनों ओरके सुख-दुःखके मिश्रित भाव अनुभव करती हुई जाती है, उसी प्रकार धुवांधारको हार्दिक प्रणाम करके हम वापस लौटे।

हिन्दुस्तानमे इस प्रकारके अनेक प्रपात अखंड रूपसे बहते रहते हैं और मनुष्यको भव्यताके तथा उन्मत्त अवस्थाके सबक सिखाते रहते हैं। हजारों साल हुए—लाखों नहीं हुए इसका विश्वास नही है—धुवांधार इसी तरह सतत गिरता रहा है। श्रीरामचंद्रजी यहां आये होंगे। विश्वामित्र और वशिष्ठ यहां नहाये होंगे। चंद्रगुप्त और समुद्रगुप्तके सैनिकोंने यहां आकर जल-विहार किया होगा। श्री शंकराचार्यने यहां बैठकर अपने स्तोत्रोंका सर्जन किया होगा। कलचुरि तथा

वाकाटक वंशके वीरोंने इसी पानीमें अपने घावोंको धोया होगा और अल्हणादेवी-ने यहीं बैठकर चौंसठ योगिनियोंका स्मारक बनानेका संकल्प किया होगा। और भविष्यकालमें धुवांधारके किनारे क्या-क्या होगा, कौन बता सकता है? खुद धुवांधारको ही यह मालूम नही है। वह तो सतत गिरता रहता है और तुषारके रूपमें उड़ता रहता है।

नवंबर, १९३९

४५. शिवनाथ और ईब

कलकत्ता आते और जाते समय अनेक नदियोंसे मुलाकात होती है। इस प्रदेशका इतिहास मुझे मालूम नही है, इसकी शर्म आती है। यहांके लोग कितने सरल और भले मालूम होते है! उन्होंने यदि मनुष्य-संहारकी कला हस्तगत की होती, तो उनका नाम इतिहासमे अमर हो जाता। कुछ लोग मरकर अमर होते हैं। कुछ लोग मारनेवालोके रूपमे अमर होते है। मलिक काफूर, काला पहाड़ आदि दूसरी कोटिके लोग है।

इन नदियोके किनारे लड़ाइयां हुई हो तो मुझे मालूम नहीं। इसलिए मेरी दृष्टिसे इन नदियोंका जल फिलहाल तो विशेष पवित्र है। चर्मण्वतीने यज्ञ-पशुओ-के खूनका लाल रंग धारण किया। शोण और गंगाने सम्राटोका महत्त्वाकाक्षी रक्त हजम किया। इन नदियोने भी वैसा ही किया हो तो कोई आश्चर्य नही। मगर जब तक मुझे मालूम नही है, तब तक इस अनिश्चयका लाभ मै उन्हें देता हू।

किन्तु इन नदियोके किनारे कई साधुओंने तप अवश्य किया होगा और कृतज्ञतापूर्वक उनके स्तोत्र भी गाये होगे। यह भी मुझे मालूम नही है। फिर भी मै अपनेको भारतवासी कहता हूं!

० ० ०

एक बार मै द्रुग गया था तब शिवनाथ नदीका मुझे थोड़ा परिचय हुआ था। गोंड़, भील आदि पर्वतीय जातियोंकी वह माता है। सारे छत्तीसगढ़की तो वह स्तन्यदायिनी है। उसकी करुण कथा[1] चित्तको गमगीन करनेवाली है। पुण्य-सलिला नदीकी कहानी क्या ऐसी होती है? किन्तु नदी बेचारी क्या करे? विजयी आर्योंने यदि उसकी कथा गढ़ी होती तो उसमें उल्लासका तत्त्व मिल जाता। यह तो हारी हुई, दबी हुई और उलझनमें पड़ी हुई आदिम-निवासियोंकी जातिके संस्मरणोंके साथ बहनेवाली नदी है! उसकी कहानियां तो वैसी ही गमगीनी-भरी

१ देखिये 'दुर्दैवी शिवनाथ'। पृष्ठ—३३४

होंगी।

कलकत्तेके रास्ते पर शिवनाथ नदी बार-बार मिलती है और कहती है: राजाओंके और साधुओंके इतिहाससे तुम संतोष मत मानना। विजेताओंके और सम्राटोंके इतिहासमें तुम्हें लोक-हृदय नहीं मिलेगा। ब्राह्मण और श्रमण, मुल्ला और मिशनरी, किसीने भी जिनका दुःख नहीं जाना ऐसे पहाड़ी लोगोंके दुःख-दर्दका अध्ययन करनेकी दीक्षा मैं तुम्हें दे रही हूं। क्या यह दीक्षा लेनेका साहस तुममें है?'

हिन्दुस्तानकी मूक जनताको वाचाल एकता देनेके हेतुसे मैं हिन्दुस्तानीका प्रचार कर रहा हूं। इसी कामके सिलसिलेमें अभी मैं पूना हो आया। इसी कामके लिए अब रामगढ़ जा रहा हूं। वहांकी कांग्रेसमें तमाम प्रांतोंके लोग आयेंगे। गांधीजीके आग्रहके कारण कांग्रेसके अधिवेशन अब देहातोंमें होने लगे हैं। यह सब ठीक है। मगर क्या रामगढ़में भी ये पर्वतीय लोग आयेंगे? बिहारके 'सान्थाल' और 'हो' शायद आयेंगे। किन्तु पता नही इस शिवनाथके पुत्र आयेंगे या नहीं।

० ० ०

आज सुबहसे अनेक नदियां देखीं। लंबे-लंबे और चौड़े पत्थरोंवाली नदी भी देखी और कीचड़वाली नदी भी देखी। जिसके किनारे एक भी पेड़ नही है ऐसी नदी भी देखी, और जिसने एक ओर पेड़ोंकी एक मोटी दीवार खड़ी की है ऐसी नदी भी देखी। सफेद बगुले उसके पट पर कीचडमे अपने पैरोंकी आकृतियां बना रहे थे। मगर इस चरणलिपिमें मैं कोई इतिहास नही पा सका, न किसी दंतकथाका हल खोज सका। नदी आशासे लिखती जाती है और निराशासे अपना लिखा लेख मिटाती जाती है और नये लेखक-पाठकोंकी राह देखती रहती है।

हम झारसूगुडा जंक्शनके पास जा रहे हैं। एक छोटा-सा स्टेशन पास आ रहा है। इतनेमें हमारे रास्तेके नीचेसे बहती हुई एक सुन्दर नदी हमने देखी। सभी नदियां सुन्दर होती हैं, मगर इस नदीमें असाधारण सुन्दर आकृतियां बनानेकी कला नजर आयी। पानीके स्रोतमें भंवर पैदा होते होंगे। काईके कारण पानीको विशेष रूप प्राप्त होता होगा। ऊपरसे यह सब देखकर मुझे रवीन्द्रनाथके चित्र याद आये। इस नदीकी आकृतियां भी बिना कुछ बोले, बिना कोई बोध दिये, हृदय तक पहुंचती थी और वहां हमेशाके लिए अपनी छाप डाल देती थी। इसीका नाम है सच्ची कला!

मगर इस नदीका नाम क्या है? परिचय हो और नाम न मिले, यह कितनी विचित्र स्थिति है! इतनेमें ईब स्टेशन आया। हमने लोगोंसे पूछा, 'इस नदीका नाम क्या है?' उन्होंने बताया 'ईब'। 'नदीके नाम परसे ही स्टेशनका नाम पड़ा है।' तब उसमें औचित्य नहीं है, ऐसा कौन कहेगा? मगर मनमें संदेह जरूर पैदा हुआ। यहां भेडेन नामक एक नदी ईबसे मिलती है। स्टेशन भेडेनके किनारे है। ईब जरा बड़ी है; इसी कारण भेडेनके साथ अन्याय करके उसका नाम स्टेशनको

नहीं दिया गया। भेडेन कोई मामूली नदी नहीं है। काफी चौड़ी है। दूरसे आती है। मगर वह किसी तरहका गर्व न रखते हुए अपना पानी ईबको सौंप देती है और अपने नामका आग्रह भी नही रखती। मैंने ईबसे पूछा : 'देखो, उदारतामें यह भेडेन तुझसे श्रेष्ठ है या नहीं ?' ईबने जरा-सा आकृतियोंवाला स्मित करके कहा : "यह तो तुम मनुष्य जानो ! भेडेनने अपना नाम छोड़कर अपना नीर मुझे दे दिया, इस उदारताकी तारीफ करनेके बजाय उससे अर्पणकी दीक्षा लेकर उसके जैसी बनना मुझे अधिक पसंद है। देखो, उसका और मेरा नीर इकट्ठा करके महानदीको देनेके लिए मैं संबलपुर जा रही हूं। वहां मैं भी अपना नाम छोड़ दूंगी। इस प्रकार उत्तरोत्तर नामरूपका त्याग करनेसे ही हम सबको महानदीका महत्त्व प्राप्त हुआ है; और वह भी सागरको अर्पण करनेके लिए ही।"

और जाते जाते ईबने अनुष्टुभ् छंदमें एक पंक्ति गा सुनाई :

सर्वे महत्त्वम् इच्छिन्ति कुलं तत् अवसीदति।
सर्वे यत्र विनेतारः राष्ट्रं तत् नाशम् आप्नुयात्॥

० ० ०

ईबका यह संदेश सुनकर ही मैं रामगढ़ गया।

मार्च, १९४०

४६. दुर्दैवी शिवनाथ

['शिवनाथ और ईब' लेखमें जिसका जिक्र आया है, उस लोककथाका सार बेमेतरा-द्रुगसे लिखे हुए नीचेके पत्रमें मिलेगा।]

कल और आज शिवनाथ नदीके दर्शन किये। यों तो कलकत्ता आते और जाते समय शिवनाथको एक-दो बार पार करना ही पड़ता है। यहां बड़े ऊंचे पुल परसे शिवनाथका प्रवाह ऊंचे-ऊंचे टीलोंके बीचसे बहता हुआ देखनेको मिलता है। कल शामको बालोड़से वापस लौटे तब शिवनाथके किनारे खास तौर पर घूमने गये थे।

चौमासा तो बैठ गया है, किन्तु नदीमें अभी तक पानी नहीं आया है। परिणाम-स्वरूप शिवनाथ किसी विरहिणीके जैसी म्लान-वदना मालूम पड़ी। श्रावण-भादोंमें जो अपने दोनों किनारोंको लांघकर मीलों तक फैल जाती है, उसी नदीको इस तरह अपने ही पटमें अजगरके समान एक कोनेमें पड़ी हुई देखकर किसीके भी मनमें विषाद उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा।

द्रुगके लोगोंसे शिवनाथके बारेमें मैंने पूछा : 'यह नदी कहांसे आती है ? कितनी

लंबी है ? आगे उसका क्या होता है ?' परंतु कोई मुझे ठीक जवाब नहीं दे सका। इस नदीके माहात्म्यका वर्णन पुराणोंमें कहीं है ? उसके बारेमें कोई लोकगीत प्रचलित है ? कोई दंतकथा सुनाई देती है ? एक भी सवालका जवाब 'हां' में नहीं मिला। नदीके बारेमें जानने जैसा होता ही क्या है ? रोज सुबह उससे सेवा लेते हैं; बस, उससे अधिक उसका हमारे जीवनसे क्या संबंध है ?

अंतमें मैंने द्रुग तहसीलका गेझेटियर मंगवाया। उसमें ऊपरके साधारण सवालोंके जवाब तो दिये ही हैं; मगर इसके अलावा शिवनाथके बारेमें एक लोककथा भी दी हुई है। यही कथा आज मैं यहां अपनी भाषामें देना चाहता हूं।

शिवा नामक एक गोंड़ लड़की थी। जंगली गोंड़ जातिकी होते हुए भी वह संस्कारी और रसिक थी। उस पर गोंड़ जातिके ही एक लड़केका दिल बैंठ गया। लड़कीके दिलको आकर्षित कर सके, ऐसा एक भी गुण उसमें नहीं था। स्वच्छंदता से पेश आना और धमकियां देकर लोगोंसे काम निकालना, बस इतना ही उसे मालूम था। वह शिवाका ध्यान करता रहता था और उसे पानेका कोई रास्ता न देखकर परेशान होता रहता था। आखिर अपनी जातिके रिवाजके अनुसार उसने मौका देखकर शिवाका हरण किया और राक्षस-पद्धतिसे उसके साथ विवाह किया !

विवाह-विधि पूरी करना उसके लिए आसान था; मगर शिवाको अपनी बनाना आसान काम नही था।

शिवा जैसी संस्कारी और भावनाशील लड़की उसकी ओर भला क्यों देखने लगी ? और यह जड़मूढ़ अनुनय जैसी चीजको क्या समझे ? उसने पतिकी हुकूमत चलानेकी कोशिश की। लड़कीने अबलाका सामर्थ्य प्रकट किया। शिवाको लूटकर लानेवाला युवक शिवाके रुद्ध हृदयके सामने हारा। उसका क्रोध भड़क उठा। शरीरको ही सब-कुछ समझनेवाला आदमी शरीरके बाहर जा ही नही सकता। उसने अंतमे शिवाको मार डाला और उसके शरीरके टुकड़े एक गहरी घाटीमें फेंक दिये !!

जहा शिवाका शव गिरा वहीसे तुरन्त एक नदी बहने लगी। वही है हमारी यह शिवनाथ, जो आगे जाकर महानदीमें अपना पानी छोड़ देती है।

आज सुबह हम बेमेतरा जानेके लिए निकले। रास्तेमें एक दुर्घटना हुई। हमारी दौड़ती हुई मोटर एक बैंलगाड़ीसे टकरा गई और एक बैंलका सीग टूट गया। हम रुके और उसकी मदद करनेके लिए दौड़े। मुझे बैंलका लटकनेवाला सीग काटनेकी सलाह देनी पड़ी। और जहांसे खून बह रहा था वहां पेट्रोलकी पट्टी बांधनी पड़ी। सारा वायुमंडल करुण तथा गमगीन बन गया। इस हालतमें शिवनाथका दुबारा दर्शन हुआ। यहां नदीका पट सुन्दर है। आसपासके पत्थर जामुनी लाल रंगके थे। नदीका पात्र भी सुन्दर था। प्रतिबिंब काव्यमय मालूम होता था।

मगर शिवाकी करुण कथा मनमें रम रही थी। अतः इस दर्शनमें भी विषादकी ही छाया थी।

शायद शिवनाथकी तकदीर ही ऐसी हो। आखिर मनका विषाद कम करनेके लिए यह पत्र लिख डाला। अब दिल कुछ हलका मालूम होता है।

मई, १९४०

४७. सूर्याका स्रोत

बारिशके होते हुए हम 'कासाका सर्वोदय केंद्र देखने गये। वहां जानेके लिए ये दिन अच्छे नहीं थे, इसीलिए तो हम गये। बारिशके दिनोंमें छोटी-छोटी 'नदियां' रास्ते परसे बहने लगती हैं, उनमें पानी बढ़ने पर मोटर बसें भी घंटों तक रुकी रहती हैं। हमने सोचा कि हमारे सर्वोदय-सेवक हमारे आदिम-निवासी भाइयोंके बीच कैसे काम करते हैं यह देखनेका यही समय है।

भारतके पश्चिम किनारेके एक सुंदर स्थानसे मेरा घनिष्ठ परिचय है। बंबईके उत्तरमें करीब सौ मीलके फासले पर बोरडी-घोलवडका स्थान है। वहां मैं महीनों तक रहा था। और वहांके समुद्रकी लहरोंसे रोज खेलता था।[1] समुद्रका पानी भी जब भाटाके कारण पीछे हटता था तब मील डेढ़ मील तक पीछे चला जाता था। और सारा समुद्र किनारा गीले टेनिस कोर्टके जैसा हो जाता था। हम पांच-दस लोग इस गीली रेतके मैदान पर होकर समुद्रकी लहरें ढूढ़ने चले जाते थे। जब ज्वार आता तब पानीकी लहरें हमारा पीछा करती थीं और हम किनारेकी ओर दौड़ते आते थे। पानीकी लहरें धावा बोलें और हम अपनी जान लेकर किनारे तक दौड़ते आ जायें, यह खेल बड़े मजेका था। देखते-देखते सारा खुला मैदान बड़े सरोवरका रूप ले लेता है और वायु पानीके साथ खेल करती है। ऐसे खारे पानीमे और रेतमे भी एक जगह तरवडके पेड़ उगे थे। उनके चिकने-चिकने पत्ते देखकर मैं कहता कि ये बड़े 'होनहार बिरवान' हैं।

इस विशाल सरोवर-मैदानमें उदावरण[2]-प्रजाकी बहुत बड़ी सृष्टि बसी है। किस्म-किस्मके शंख, किस्म-किस्मके केकड़े और ऐसे ही छोटे-मोटे प्राणी वहां रहते थे और उनके कवच और हड्डियां समुद्र किनारे देखनेको मिलती थीं।

बोरडीमें मैं रहने गया, तब वहां एक ही अच्छा हाईस्कूल था। अब वह एक

१ इस स्थानका वर्णन मैंने अपने 'मरुस्थल या सरोवर' लेखमे विस्तारसे किया है।
२ वातावरण=पृथ्वीके गोलेको घेरनेवाला हवाका आवरण या वायुमंडल।
उदावरण=पृथ्वी परकी जमीनको घेरनेवाला पानीका आवरण। उद=पानी

अच्छा और बड़ा शिक्षा-केंद्र हो गया है। बाल-शिक्षण, प्रौढ़-शिक्षण, नयी तालीम, आदि-निवासियोंकी तालीम, अध्यापन-केंद्र आदि अनेक संस्थाएं वहां पर स्थापित हो गयी हैं। अब तो बोरडी राजनैतिक जाग्रतिका, शिक्षा-वितरणका और समाज-सेवाका एक प्रधान केंद्र बना हुआ है।

बोरडीके दक्षिणमें मैं एक दफा चींचणी भी गया था। वहांके कारीगर ठप्पा बनानेकी कलामें सारे हिन्दुस्तानमें अद्वितीय माने जाते हैं। कांचकी चड़ियां भी वहां अच्छी बनती हैं।

अबकी बार चीचणी और बोरडीके बीच डहाणू हो आया। यह स्थान भी समुद्रके किनारे है। उसका प्राकृतिक दृश्य बोरडीसे कम सुन्दर नहीं है।

पचास पौन सौ बरस पहले ईरानसे आये हुए चंद ईरानी खानदान यहां बसे हुए हैं। घर पर ईरानी भाषा बोलते हैं। अब ये लोग ईरानसे प्राचीन कालमे आये हुए पारसी लोगोंके साथ कुछ-कुछ घुलमिल रहे हैं, और गुजराती और मराठी उत्तम बोलते हैं। इन ईरानियोंके बगीचे और बाड़ियां खास देखने लायक हैं। खेतीके आनुभविक विज्ञानसे और मेहनत-मजदूरीसे इन लोगोंने लाखों रुपये कमाये है। हमारे देशमें बसकर इन लोगोंने इस देशकी आमदनी बढ़ायी है और यहांके किसानोंको अच्छेसे अच्छा पदार्थपाठ सिखाया है। ये लोग हमारे धन्यवादके पात्र है।

० ० ०

डहाणूसे सोलह मीलका फासला तय करके हम कासा गये। मेरे एक पुराने विद्यार्थी श्री मुरलीधर घाटे बारह-पन्द्रह बरससे ग्रामसेवाका काम करते आये हैं। इसी साल उन्होंने—और उनकी सुयोग्य धर्मपत्नीने—कासाका केंद्र अपने हाथमें लिया और देखते-देखते यहांका सांस्कृतिक वातावरण समृद्ध बना दिया। आचार्य श्री शंकरराव भीसेकी प्रेरणासे यह सब काम चल रहा है।

डहाणूसे कासा पहुंचते हुए सामने एक बहुत ऊंचा पर्वत-शिखर दीख पड़ता है। शिखरका आकार देखते हुए इस पहाड़को ऋष्य-शृंग कहना चाहिये। दरयाफ्त करने पर मालूम हुआ कि शिखरके शृंगका पत्थर मजबूत नहीं है। पत्थरको पकड़कर कोई ऊपर चढ़ने जाये तो पत्थरके टुकड़े हाथमें आ जाते है। मुझे डर है कि हजार दो हजार बरसके अंदर यह सारा शृंग हवा, पानी और धूपसे घिस जायगा और पहाड़की ऊंचाई एकदम कम हो जायगी। इस पहाड़के शिखर पर श्री महालक्ष्मीका मंदिर है। कहा जाता है कि कोई गर्भिणी स्त्री महालक्ष्मीके दर्शनके लिए ऊपर तक गयी और थक गयी। महालक्ष्मीने पुजारीको स्वप्नमें आकर कहा कि अपने भक्तोंके ऐसे कष्ट मैं सहन नहीं कर सकती, मुझे नीचे ले चलो। अब उसी पहाड़की तराईमें महालक्ष्मीका दूसरा मंदिर बनाया गया है।

कासाके नजदीक एक अच्छी-सी नदी बहती है, जिसका नाम है सूर्या। इस

नदीके बारेमें भी एक लोककथा है।

जब पांडव इस रास्तेसे तीर्थयात्रा करने जा रहे थे, तब भीमकी इच्छा हुई कि स्थान-देवता श्री महालक्ष्मीसे शादी करे। पूछने पर महालक्ष्मीने कहा कि चंद योजनके फासले पर जो सूर्या नदी बहती है उसके प्रवाहको अगर तुम मोड़कर मेरे इस पहाड़के पांवके पास ले आओगे तो मैं तुमसे शादी करूंगी। शर्त इतनी ही है कि यह सारा काम एक रातके अंदर होना चाहिये। अगर सुबहका मुर्गा बोला और तुम्हारा काम पूरा नहीं हुआ तो हमसे तुम्हारी शादी नहीं होगी। भीमने वादा किया। बड़े-बड़े पत्थर लाकर उसने नदीके प्रवाहको रोक दिया। थोड़ी-सी जगह बाकी थी, उसके लिए पत्थर न मिलने पर उसने अपनी पीठ ही अड़ा दी। फिर तो पूछना ही क्या ? नदीका पानी बढ़ने लगा और धीरे-धीरे महालक्ष्मीकी पहाड़ीकी ओर मुड़ने लगा। महालक्ष्मी घबड़ा गयी कि अब इस निरे मानवीके साथ शादी करनी होगी। देवोंमें चालबाजी बहुत होती है। हारनेकी नौबत आती है तब वे कुछ-न-कुछ रास्ता ढूंढ़ ही निकालते हैं।

इधर भीम बांधके पत्थरोंके बीच पीठ अड़ाकर राह देख रहा था कि पानी पहाड़ी तक कब पहुंच जाता है। इतनेमें महालक्ष्मीने मुर्गेका रूप धारण किया और सुबह होनेके पहले ही 'कुकड़ू कू' करके आवाज दी। बेचारा भोला भीम निराश हुआ कि समयके अंदर अपना प्रण पूरा नहीं हो सका। वह उठा। उतनी जगह मिलते ही बढ़ा हुआ पानी जोरोंसे बहने लगा और पानीके साथ भीमकी मुराद भी बह गयी!

इसी तरह धूर्त देवोंका और बलशाली असुरोंका झगड़ा भी अनगिनत लोक-कथाओंमें और पुराणोंमें पाया जाता है।

हम अनेक हरे-हरे खेतोंको पारकर सूर्याके किनारे पहुंचे। बारिशके दिन थे। पानी खूब बढ़ा हुआ था और भीम-बांधके सिर परसे नीचे कूद पड़ता था। दृश्य बड़ा ही मनोहारी था। जहां पानी जोरसे बहता था, वहां हमने अपनी कल्पनाका भीम बैठा हुआ देखा। हमने उसे प्रणाम किया। उसने विषादसे अपना सिर हिलाया। और वह फिर ध्यानमें मग्न हो गया।

हम लौटकर कासा आये। वहांका काम देखा। आदिम जीवनको प्रकट करने-वाली प्रदर्शनी देखी। कुछ खाना खा लिया, लोगोंसे बातें कीं और फिर बसमें बैठ-कर महालक्ष्मीका मंदिर देखने गये। रास्तेमें आदिम-निवासी जातिके लोगोंकी कुटियां और उनके खेत देखे। यह जाति पिछड़ी हुई जरूर है, किन्तु उसने अपने जीवनका आनंद नहीं खोया है। महालक्ष्मीका मंदिर पहाड़ीके नीचे एक रमणीय स्थान पर है। देवीके भक्त दूर-दूर तक फैले हुए हैं। हर साल एक बहुत बड़ा मेला लगता है। देखते-देखते एक लाख लोगोंकी यात्रा भर जाती है। ऐसे यात्रियोंके रहनेके लिए चंद लोगोंने अभी यहां पर एक अच्छी धर्मशाला बांध दी है। उसे

जाकर देखा। संगमरमरके पत्थर पर दाताओंके नाम खुदे हुए थे। नाम पढ़कर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। सबके सब नाम अफ्रीकाके दक्षिण रोडेशियामें बसे हुए गुजराती धोबियोंके थे। किसीने सौ शिलिंग दिये थे। किसीने हजार दिये थे। कहां दक्षिण रोडेशिया, कहां गुजरात और कहां थाना जिलेके मराठी लोगोंके बीच यह गुजरातियोंका बनाया हुआ आराम-घर!

स्वराज्य सरकारकी मददसे इन आदिम-निवासियोंके नवयुवक अब उत्साहके साथ नयी-नयी बातें सीख रहे हैं और अपनी जातिके उद्धारकी बातें सोच रहे हैं। मैंने उनसे कहा, तुम इतने पिछड़े हुए हो कि अपनी जातिके ही उद्धारके लिए प्रयत्न करना तुम्हारे लिए ठीक है। लेकिन मैं तो वह दिन देखना चाहता हूं कि जब तुम लोग केवल अपनी ही जातिका नहीं किन्तु सारे भारतके उद्धारका सोचने लगो। केवल अपनी जातिके ही नही किन्तु सारे देशके नेता बनोगे। जो अपनी ही जमातका सोचते हैं, उनका पिछड़ापन दूर नही होता। जो सारी दुनियाका सोचते है, सारी दुनियाकी सेवा करते हैं, वही अपनी और अपने लोगोंकी सच्ची उन्नति करते हैं।

मैंने अपने मनमें प्रश्न पूछा, अगर इन लोगोंमें भीमके जैसी शक्ति आयी और यहांके इर्द-गिर्दके सवर्ण, सफेदपोश लोगोंमें स्थानीय देवता महालक्ष्मीके जैसी चतुराई आयी तो परिणाम क्या होगा! फिर तो केवल पानीकी सूर्या नदी नहीं बहेगी!

कलियुगका माहात्म्य समझकर नही, किन्तु सतयुगकी स्थापनाके लिए हमे इन आदिम-जातियोंको अपनेमें पूरी तरह समा लेना चाहिये। चार वर्णोंकी पुनः स्थापनाकी बातें और आदिम-जातिके 'उद्धारकी' परोपकारी भाषा अब हमें छोड़ देनी चाहिये। इनमें और हममें कोई भेद ही नहीं रहना चाहिये।

सितम्बर, १९५१

४८. अबरी ईब

मैं कलकत्तासे वर्धा जा रहा था। गाड़ीमें रातको बिना कुछ ओढ़े सोया था। ओढ़नेकी जरूरत नहीं थी; फिर भी यदि ओढ़ लेता तो चल सकता था। सुबह पांच बजे जब जागा तब हवामें कुछ ठंड मालूम हुई; और चद्दरकी गर्मी न लेनेका पछतावा हुआ। आखिर 'अब क्या हो सकता है?' कहकर उठा। कवियोंको जितना भविष्यकाल दिखाई देता है, उतना ही बाहरका दृश्य दिखाई देता था। सारा दृश्य प्रसन्न था, मगर पूरा स्पष्ट नहीं था।

इतनेमें एक नदी आयी। पुलके दो छोरोंके बीच उसकी धाराएं अनेक पंक्तियों

में बंट गयी थीं। हरेक नदीके बारेमें ऐसा ही होता है। मगर यहां स्पष्ट मालूम होता था कि इस नदीने कुछ विशेष सौंदर्य प्राप्त किया है। पतले अंधेरेमें प्रभातके समयका आकाश यह तय नहीं कर पाता था कि पानीकी चांदी बनायें या पुराने जमानेका चमकते लोहेका आईना बनायें ?

हम पुलके बीचमें आये। मैं प्रवाहका सौंदर्य निहारने लगा। इतनेमें ऐसा लगा मानो किसीने पानीके ऊपर सफेद रंग छिड़क दिया है और धीरे-धीरे उसकी अबरी* बन गई है। यह रूप देखकर मैं खुश हो गया। अभी-अभी दिल्लीमें जामिया मिलियाके छोटे बच्चोंको कागजपर अबरीकी आकृतियां बनाते हुए मैंने देखा था। मुझे ये प्राकृतिक आकृतियां बहुत आकर्षक मालूम होती हैं।

इस नदीका नाम क्या है ? कौन बतायेगा ? मैंने सोचा, नाम न मिला तो मैं उसे अबरी नदी कहूंगा।

नदी गई और वह कहां की है यह जाननेकी मेरी उत्कंठा बढ़ी। क्योंकि उसके बाद धुवां छोड़नेवाली एक दो चिमनियां दिखाई दी थीं। और निकटके गांवमे बिजलीके दीये भी दिखाई दिये थे। रेलवेका टाईम टेबल निकालकर मैने उससे पूछा : 'पांच अभी ही बजे है। हम कहां हैं ?' उसका जवाब सुनते ही मुंहसे परिचय का आनंदोद्‌गार निकला : 'ओहो ! यह तो हमारी ईब है !' रामगढ़ जाते समय उसने कितनी सुन्दर आकृतिया दिखलाई थी ! मैने उसे कृतज्ञताकी अंजलि भी दी थी। ईबको मैं पहचान कैसे न सका ? अबरीका यह कला-विलास सभी नदियां थोड़े बता सकती हैं !

तो इस ईब नदीने अबरीकी कला कौनसी वर्धा-शालामे सीखी होगी ? या शायद दुनियाने अबरी-कला सबसे प्रथम इसीसे सीखी होगी।

मई, १९४१

४९. तेंदुला और सूखा

आज मैं एक अनसोचा और असाधारण आनंद अनुभव कर सका।

हम वर्धासे द्रुग आये है। आसपासके दो गांवोंमे राष्ट्रीय ग्रामशिक्षा (बेसिक एज्युकेशन) शुरू करनेके लिए शिक्षक तैयार करनेवाली एक संस्थाका उद्‌घाटन करनेको हम सुबह चार बजे यहा आ पहुचे। नहा-धोकर नाश्ता किया और बालोड़-के लिए रवाना हुए।

---

* किताबकी जिल्द पर या उसके अंदर जो रंगीन आकृतियोंवाला कागज इस्तेमाल किया जाता है, और जिसको अंग्रेजीमें marble paper कहते हैं, उसके लिए देशी शब्द है 'अबरी'।

द्रुगसे बालोड़ ठीक दक्षिणकी ओर ३७ मील पर है। रास्ता सीधा है। मानो रस्सीसे रेखाएं आंककर बनाया गया हो। मीलों तक सीधी रेखामें दौड़ते रहने में जिस प्रकार एकसा-पन होता है, उसी प्रकार एक तरहका नशा भी मालूम होता है। बालोड़के पास पहुंचे तो किसीने कहा कि यहांसे पास ही तेंदुला बंद और कैनाल है। मामूली-सी वस्तु भी स्थानिक लोगोंकी दृष्टिमें बड़े महत्त्वकी होती है। भाई तामस्करने जब कहा कि व्याख्यानके बाद हम यह बंद देखने चलेंगे तब विशेष उत्साहके बिना मैंने 'हां' कह दिया था। वहां कुछ देखने योग्य होगा, ऐसा मेरा खयाल ही नहीं था। 'हां' कहा केवल स्थानिक लोगोंके आतिथ्यका उत्साह भंग न होने देनेकी भलमनसाहतके कारण।

खासी ३७ मीलकी जो यात्रा की उसमें गड्ढे आदि कुछ भी नहीं थे। जमीन सर्वत्र समतल थी। गुजरातकी तरह यहांकी जमीनमें बाड़ोंकी अड़चन भी नहीं है। इस तरहकी समतल जमीन देखनेके बाद एकाध नदी-नाला देखनेको मिले, एकाध बांध नजरके सामने आये तो मनको उतना व्यंजन मिलेगा, इस खयालसे मैंने जाना कबूल किया था। जिसने पूनाके बंडगार्डनसे लेकर भाटघरके प्रचंड बांध तक अनेक बांध देखे हैं, उसका कुतूहल यों सहज जाग्रत नही हो सकता।

बेजवाड़ामें कृष्णा नदीका भव्य बांध, गोकाकके पास घटप्रभाका बाल्य-परिचित बांध, लोणावलाके दो तीन आकर्षक बांध, मैसूरमें वृंदावनका पोषण करनेवाला बादशाही कृष्णसागर, दिल्लीके निकट यमुनाका रमणीय 'ओखला' का बांध और नासिकसे मोटरके रास्ते पचास मील दूर जाकर देखा हुआ 'प्रवरा' नदीका सुन्दरतम और रोमांचकारी बांध—ऐसे अनेक जलाशय जिसने देखे हैं, वह सिंहगढ़ की तलहटीका 'खडक-वासला' जैसा बांध देखकर संतुष्ट भले हो, मगर उसका कुतूहल बाल्यावस्थामें तो हो ही नहीं सकता।

भावनगरके पासके बोर तालाबका वर्णन मैंने लिखा है। बेजवाड़ाकी कृष्णा नदीको मैंने श्रद्धांजलि अर्पित की है। दूसरोंके बारेमें अब तक कुछ लिखा नही है, इस बातका मुझे दुःख है। फिर भी आज किसी भव्य जलराशिके दर्शन होंगे, ऐसी उम्मीद मुझे नहीं थी। व्याख्यान, संभाषण और भोजन समाप्त करके हम तेंदुला कैनाल देखनेके लिए वाहनारूढ़ हुए और बांधकी ओर दौड़ने लगे। बांध परसे मोटर ले जानेकी इजाजत पानेके लिए एक आदमी आगे गया था। उसकी राह देखनेका धीरज हममें न था। इजाजत मिल ही जायगी, इस खयालसे हम तेज रफ्तारसे आगे बढ़े और बांधके पास पहुंचे। बांधके ऊपर गये, और—

मैं तो अवाक् हो गया!

कितना लंबा और चौड़ा पानीका विस्तार! और पानी भी कितना स्वच्छ!! मानो आकाश ही आनंदातिशयमें द्रवीभूत होकर नीचे उतर आया हो! और पानी का रंग? जामुनी, नीला, फिरोजी, सफेद और गुलाबी!! और वह भी स्थायी

नहीं। आकाशके बादल जैसे-जैसे दौड़ते जाते थे, वैसे-वैसे पानीका रंग भी बदलता जाता था। छोटी तरंगोंके कारण पानीकी तरलता तो खिलती ही थी; तिस पर ऊपरसे उसमें यह रंग-परिवर्तनकी चंचलता आ मिली। फिर तो पूछना ही क्या था? जहां देखो वहां काव्य डोल रहा था, चमत्कार नाच रहा था। अपना महत्त्व किसके कारण है, यह दोनों ओरके किनारे जानते थे। अतः वे अदबके साथ जल-राशिकी खुशामद करते थे।

इस बांधकी खूबी उसके विस्तारके अलावा एक दूसरी विशेषतामें है। तेंदुला और सुखा दोनों नदियां बहनें हैं। तेंदुला बड़ी बहन है। वह ३०-४० मील दूरसे आती है। उसके मुकाबलेमें सुखा केवल बालिका है। तीन मील दौड़कर ही वह यहां आ पहुंचती है। ये दोनों जहां एक-दूसरेके पास आती हैं, वहीं यह प्रेममूर्ति बांध मानो यह कहकर कि 'मेरी सौगंध हैं तुम्हें जो आगे बढ़ी तो!' दोनोंके सामने आड़ा सो गया है। करीब तीन मील लंबा बांध इन दो नदियोंको रोकता है। और फिर अपनी मरजीके अनुसार थोड़ा-थोड़ा पानी छोड़ देता है। कच्ची मिट्टीका इतना लंबा बांध हिन्दुस्तानमें तो क्या सारे संसारमें और कहीं नहीं होगा! बांधके नीचेकी १५ मील तककी अभिमानी जमीन ऐसा उपकारका पानी लेनेसे इनकार करती है। अतः यह नहर उसके बादके ६०-७० मील तक दोनों ओरके खेतोंकी सेवा करती है। बांधकी वजहसे ऊपरकी बहुत-सी जमीन पानीमें डूब गयी है इसकी कल्पना केवल आंखोंसे कैसे हो? तलाश करने पर पता चला कि करीब तीन सौ बीस वर्गमील जमीन पर गिरने वाला पानी यहां जमा हुआ है। पानीका विस्तार सोलह वर्गमील है। १९१० में इस बांधका काम आरंभ हुआ और पौन करोड़से अधिक रुपया खर्च होनेके बाद ही वह पूरा हुआ। बारिशमें इन दोनों नदियोंका पानी एकत्र होता है। और फिर तो सारा जलमग्न दृश्य देखकर 'सर्वतः संप्लुतोदके' का स्मरण हो आता है। जब बीचका टापू अपना सिर जरा ऊंचा करनेका प्रयास करता है, तब उसकी यह परेशानी देखकर हमें हंसी आती है। आज इस टापू पर कुछ ऊंचे पेड़ 'यद् भावि तद् भवतु' वृत्तिसे इस बाढ़की प्रतीक्षामें खड़े हैं। उन्हें उस लाल किनारवाली किश्तीमें बैठकर थोड़े ही भाग जाना है? ऐसे पेड़ जब तक टिक सकते हैं, शानके साथ रहते हैं। और अन्तमें जड़ें खुली पड़ने पर पानीमें गिर पड़ते हैं।

गरमीमें जब दो नदियोंके पात्र अलग-अलग हो जाते हैं, तब धूप तथा विरहके कारण वे अधिक सूखने न पायें, इस हेतुसे बीचमें एक नहर खोदकर दोनोंका पानी एक-दूसरेमें पहुंचानेका प्रबंध कर दिया जाता है।

जाननेवाले जानते हैं कि नदियोंका भी हृदय होता है। उनमें वात्सल्य होता है, चारित्र्य होता है और उन्माद तथा पश्चात्ताप भी होता है। ये दो बहनें यहां जो कुछ करती हैं उसमें एक-दूसरेकी शोभाकी ईर्ष्या जरा भी नहीं करतीं। मत्सर

या सापत्न-भाव उनके चेहरे पर बिल्कुल नहीं दीख पड़ता। उन्हें इस बातका भान है कि बांधरूपी जबरदस्त संयमके कारण उनकी शक्ति बहुत कुछ बढ़ी है। केवल बहते रहना ही नदीका धर्म नहीं है। फैलना और आशीर्वाद रूप बनना भी नदी-धर्म ही है, तमाम नदियोंको यह नसीहत देनेके लिए ही मानो वे यहां फैली हुई हैं।

नदीके किनारे पेड़ खड़े हों, तो वहां एक तरहकी शोभा नजर आती है। और ये पेड़ जब उसके पात्रको ढंकनेका वृथा प्रयत्न करते हैं, तब इस विफलतामेंसे भी वे सफल शोभा उत्पन्न करते हैं।

हम उस किनारेके पेड़ोंकी मुलाकात लेने गये। दोपहरका समय था। निद्रालु पेड़ नदीके साथ बातें करते-करते नींदमें डूब रहे थे और चारों ओर उष्ण-शीतल शांति फैली हुई थी। सिर्फ तरह-तरहके पक्षी मंद मंजुल कलरव करके एक-दूसरे को इस काव्यका आनंद लूटनेके लिए कह रहे थे।

और लाल मकोड़े, जिन्हें मराठीमें 'बाघमुंग्या' या' उंबील' कहते हैं, एक किस्मके चिकने पदार्थसे पेड़ोंके चौड़े पत्तोंको एक-दूसरेसे चिपकाकर इस सारे काव्यको भरकर रखनेके लिए थैलियां बना रहे थे। मेरी आंखें भी दिलकी थैली बनाकर उसमें सामनेका दृश्य भरनेके लिए सारे प्रदेशको चूस रही थीं।

नदीको इसमें कोई एतराज नहीं था।

मार्च, १९४०

५०. ऋषिकुल्याका क्षमापन

आज महाशिवरात्रिका दिन है। रोजके सब काम एक तरफ रखकर सरिता, सरित्पिता और सरित्पतिका ध्यान करनेके निश्चयसे मैं बैठा हू। सरिताएं लोक-माताएं हैं। उनकी 'जीवनलीला' को अनेक प्रकारसे याद करके मैं पावन हुआ हूं। पूर्वजोंने कहा है कि नदीका पूजन स्नान, दान और पानके त्रिविध रूपसे करना चाहिए। मुझे लगा केवल स्नान-दान-पान ही क्यों? भक्ति ही करनी है तो फिर वह चतुर्विधा क्यों न हो? ऐसा सोचकर मैंने नदीका गान करनेका निश्चय किया। 'लोकमाता' और प्रस्तुत 'जीवनलीला' इन दो ग्रंथोंमें यह गान सुननेको मिल सकता है।

अब जब कि प्रवास कम हो गया है और सरित्पति सागरका निमंत्रण भी कम सुनाई देने लगा है, मैं दिलमें सोच रहा था कि सरित्पिता पहाड़ोंका कुछ श्राद्ध करूं। इतनेमें एक छोटी-सी पवित्र नदीने आकर कानमें कहा: "क्या मुझे बिल्कुल भूल गये?" मैं शरमाया और तुरन्त उसको स्मरणांजलि अर्पण करके उसके बाद

ही पहाड़ोंकी तरफ मुड़नेका निश्चय किया। यह नदी है कलिंग देशमें केवल सवा सौ मीलकी मुसाफिरी करनेवाली ऋषिकुल्या।

ऋषिकुल्या नदीका नाम तक मैंने पहले नहीं सुना था। मैं अशोकके शिलालेखों-के पीछे पागल हुआ था। जूनागढके शिलालेख मैंने देखे थे। फिर उड़ीसाके भी क्यों न देखूं? ऐसा खयाल मनमें आया। कलिंग देशका हाथीके मुंहवाला धौलीका शिलालेख मैंने देखा था। फिर इतिहास-दृष्टि पूछने लगी कि थोड़ा दक्षिणकी ओर जाकर वहांका जौगड़का विख्यात शिलालेख कैसे छोड़ सकते हैं? उसको तृप्त करनेके लिए गंजामकी तरफ जाना पड़ा। वह प्रवास बहुत काव्यमय था लेकिन उसका वर्णन करने बैठूं तो वह ऋषिकुल्यासे भी लम्बा हो जायगा।

यह नदी चिलका सरोवरसे मिलनेके बजाय गंजाम तक कैसे गई और समुद्रसे ही क्यों मिली, इसका आश्चर्य होता है। शायद सागर पत्नीका सौभाग्य प्राप्त करनेके लिए उसने गंजाम तक दौड़ लगाई होगी। लेकिन यहाके समुद्रमें कोई उत्साह दिखायी नही देता। रेतके साथ खेलते रहना ही उसका काम है।

ऋषिकुल्या वैसे छोटी नदी है, फिर भी शायद नामके कारण उसकी प्रतिष्ठा बड़ी है। क्योंकि इतनी छोटी-सी नदीको कर-भार देनेके लिए पथमा और भागुवा ये दो नदियां आती हैं। और भी दो-तीन नदिया उसे आकर मिलती हैं। लेकिन दारिद्र्यके संमेलनसे थोड़े ही समृद्धि पैदा होती है? गरमीके दिन आये कि सब ठनठन गोपाल।

ऋषिकुल्याके किनारे आस्का नामका एक छोटा-सा गांव है। छोटासा गांव सुन्दर नही हो सकता, ऐसा थोड़े ही है? जहां नदियोंका संगम होता है, वहां सौन्दर्यको अलगसे न्यौता नही देना पड़ता। और यहाँ, पर तो ऋषिकुल्यासे मिलने के लिए महानदी आयी हुई है! दोनों मिलकर गन्ना उगाती हैं, चावल उगाती हैं और लोगोंको मधुर भोजन खिलाती हैं। और जिनको उन्मत ही हो जाना है, ऐसे लोगोंके लिए यहां शराबकी भी सुविधा है। इस 'देवभूमि' में लोगोंके सुरा-पानको उचित कहें या अनुचित? जो सुरा पीते हैं सो सुर यानी देव; और जो नही पीते सो असुर—ईरानी लोगोंकी सुर-असुरकी व्याख्या इस प्रकार है।

ऋषिकुल्या नाम किसने रखा होगा? इसके पड़ोसकी दो नदियोंके नाम भी ऐसे ही काव्यमय और संस्कृत हैं। 'वंशधारा' और 'लांगुल्या' जैसे नाम वहांके आदिवासियोंके दिये हुए नहीं प्रतीत होते।

यह सारा प्रदेश कलिंगके गजपति, आंध्रके वेंगी तथा दक्षिणके चोल राजाओं की महत्त्वाकांक्षाओंकी युद्धभूमि था। तब ये सब नाम चोलके राजेन्द्रने रखे या कलिंगके गजपतियोंने, यह कौन कह सकेगा?

जौगड़का इतिहास-प्रसिद्ध शिलालेख देखकर वापस लौटते हुए शामके समय ऋषिकुल्याके दर्शन हुए। संस्कृत साहित्यमें दधिकुल्या, घृतकुल्या, मधुकुल्या जैसे

नाम पढ़कर मुंहमें पानी भर आता था। ऋषिकुल्याका नाम सुनकर मैं भक्तिनम्र हो गया और उसके तट पर हमने शामकी प्रार्थना की।

छोटी-सी नदी पार करनेके लिए नाव भी छोटीसी ही होगी! उस दिन का हमारा दैव भी कुछ ऐसा विचित्र था कि यह छोटीसी नाव भी आधी-परधी पानीमें भरी हुई थी। अंदरका पानी बाहर निकालनेके लिए पासमें कोई लोटा-कटोरा भी नहीं था। इसलिए जूते हाथमे लेकर हमने नावमे खुले पाव प्रवेश किया। इच्छा थी कि नदीमें पाँव गीले न हो जायें। लेकिन आखिर नावमें जो पानी था उसने हमारा पद-प्रक्षालन कर ही दिया। खडे रहते हैं तो नाव लुढ़क जाती है। बैठने हैं तो धोती गीली होती है। इस द्विविध संकटमेसे रास्ता निकालनेके लिए नावके दोनों सिरे पकड़कर हमने कुक्कुटासनका आश्रय लिया और उसी स्थितिमें बैठकर वेद-कालीन और पुराणकालीन ऋषियोंका स्मरण करते-करते उनकी यह कुल्या पार की। तबसे इस ऋषिकुल्या नदीकेबारेमें मनमें प्रगाढ़ भक्ति दृढ हुई है। कुक्कुटासन-का 'स्थिरसुख' जब तक याद रहेगा, तब तक निशीथ-कालका वह प्रसंग भी कभी भूला नही जायगा।

वहांसे एक शिक्षकके पासमे ऋषिकुल्याके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेकी कोशिश की। उन्होंने उड़िया भाषामे लिखा हुआ एक दीर्घकाव्य परिश्रमपूर्वक मेरे पास भेज दिया। अब तक उस काव्यका आस्वाद मैं नही ले सका हूं। ऋषिकुल्याके प्रति भक्तिभाव दृढ़ करनेके लिए आधुनिक काव्यकी जरूरत भी नही है। मेरे खयालसे महाशिवरात्रिके दिन किया हुआ ऋषिकुल्याका यह क्षमापन-स्तोत्रउसको मंजूर होगा और वह मुझे अचलोंका उपस्थान करनेके लिए हार्दिक और सुदीर्घ आशीर्वाद देगी।

महाशिवरात्रि,
२७ फरवरी, १९५७

५१. सहस्रधारा

पुराना ऋण शायद मिट भी सकता है; किन्तु पुराने संकल्प नही मिट सकते। पचीस वर्ष पहले मैं देहरादूनमें था, तब सहस्रधारा देखनेका संकल्प किया था। उत्कंठा बहुत थी, फिर भी उस समय जा नहीं सका था। कुछ दिनों तक इसका दुःख मनमे रहा, किन्तु बादमें वह मिट गया। सहस्रधारा नामक कोई स्थान संसारमें कहीं है, इसकी स्मृति भी लुप्त हो गयी। मगर संकल्प कही मिट सकता है?

आचार्य रामदेवजीने बहुत आग्रह किया कि मुझे उनका कन्या गुरुकुल एक

बार देख लेना चाहिये। मुझे भी यह विकसित हो रही संस्था देखनी थी। पिछले साल नहीं जा सका था। अतः इस साल वचनबद्ध होकर मैं वहां गया। अब प्रकृतिके पीछे पागल नहीं बनना है, अब तो मनुष्योंसे मिलना है, संस्थाएं देखनी हैं, राष्ट्रीय सवालोंकी चर्चा करनी है, अच्छे-अच्छे आदमी ढूंढ़कर उन्हें काममें लगाना है, सेवकोंके साथ विचारोंका और अनुभवोंका आदान-प्रदान करना है—आदि विविध धाराएं मनमें चल रही थीं। तब सहस्रधाराका स्मरण भला कहांसे होता? मैं तो हिन्दी-हिन्दुस्तानकी चर्चामें ही मशगूल था। इतनेमें युवक रणबीर मुझसे मिलने आये। किसीने उनकी पहचान करायी। उन्होंने अपने आप कहा, देहरादूनमें देखने लायक स्थानोंमें फारेस्ट कॉलेज है, फौजी पाठशाला है, और प्राकृतिक दृश्योंमें गुच्छुपानी और सहस्रधारा है। आखिरका नाम सुनना था कि पचीस वर्षकी विस्मृतिके पत्थरोंकी कब्रको तोड़कर पुरानी स्मृति और पुराना संकल्प भूतकी तरह आंखोंके सामने खड़े हो गये। अब इस संकल्पको गति दिये बिना कोई चारा ही न था।

तैल-वाहन (मोटर) का प्रबंध हुआ और उत्तरकी ओर पांच-सात मीलका रास्ता तय करके हम राजपुर पहुंचे। यहांसे ऊपर मसूरी जानेका रास्ता है। हम राजपुरसे करीब ढाई मील पूर्वकी ओर जंगलमें पैदल चले। ठीक पैंसठ मिनट चलकर हम सहस्रधारा पहुंचे। शामका समय था। पीछेकी ओर सूर्य अस्त होनेकी तैयारी कर रहा था और उसकी लंबी होती किरणें हमारे सामनेके मार्गको अधिकाधिक लंबा बना रही थीं। पांच-दस मिनटमें हमने मानव-संस्कृतिको छोड़कर जंगलमें प्रवेश किया। पानीके बहावके कारण जमीनमें गहरे खड्डे पड़ गये थे। उनमे होकर हमें जाना था। हम चार आदमी थे। बातें करते जाते, आसपासका सौन्दर्य निहारते जाते और समयका हिसाब लगाते जाते। अमरनाथ, तुंगनाथ, बदरीनाथ विशाल जैसे स्थान जिसने देखे हैं, उसके सामने मसूरीके पहाड़ क्या चीज है? फिर भी काफी वर्षोंके पश्चात् फिरसे हिमालयकी तलहटीमें जाना हुआ, जिससे यह दृश्य भी आंखोंको भव्य मालूम हुआ।

मसूरीके पहाड़ोंमें कई बार टेकरियां गिर पड़ती हैं, जिसे अंग्रेजीमें 'लैण्ड-स्लिप' या 'लैण्ड-स्लाइड' कहते हैं। यह दृश्य ऐसा दिखाई देता है मानो किसी सूरमा योद्धाको जबरदस्त चोट लगी हो। बड़े-बड़े पर्वत छोटे-बड़े वृक्षोंसे ढके हों और बीचमें ही उनका एक बड़ा हिस्सा टूट जानेसे खुला पड़ गया हो, तो वह दृश्य देखकर हृदयमें कुछ अजीब भाव पैदा होते हैं। ऐसे असाधारण प्राकृतिक दृश्य बहुत बड़े होते हैं। और इस दुर्घटनाका कोई इलाज नहीं होता। अतः ऐसे घाव विषम नहीं मालूम होते; बल्कि पर्वतका आदरपात्र वैभव ही दिखाते हैं।

हम नीचे उतरे, फिर चढ़े। फिर उतरे। खूब चढ़े। जहांसे चक्कर आयें ऐसा उतार आया।

हम स्वेच्छासे चतुष्पाद बनकर आहिस्ता-आहिस्ता नीचे उतरे । रास्तेमें हर जगह जहां भी उतरे वहां पत्थरोंकी एक फैली हुई सूखी नदी थी ही । वर्षाऋतुमें ये दृशद्वती नदियां इतना कोलाहल करती हैं कि सारी घाटी सहस्र-निनादसे गरज उठती हैं; मगर आज तो चारों ओर भीषण शांति थी । छोटे-छोटे पक्षी एक-दूसरे-को दूर-दूरसे यदि इशारा न करते, तो यहां खड़े रहनेमें भी दिलमें डर घुस जाता । आखिर उतार आया और चारों ओर स्लेटवाले पत्थर नजर आये । जान बचानेके लिए जब एकाध तख्तीको पकड़ने जाते तो उसका चूरा ही हाथमें आ जाता था ।

ज्यों-त्यों करके हम नीचे उतरे । करीब एक घंटे तक हम चलते रहे । जिनकी मोटरमें आये थे वे भाई कहने लगे, 'मैं तो यहीं बैठता हूं; आप आगे हो आइये ।' मैंने कहा, 'आपसे हमने वादा किया था कि एक घंटेमें वापस लौट आयेंगे । मगर सहस्रधारा पहुंचनेके लिए एक घंटेसे अधिक समय लगेगा । अतः आप वापस जाइये और मोटरके साथ समय पर देहरादून पहुंच जाइये । हम किरायेकी बसमें आ जायेंगे ।' रणबीर कहने लगे, 'अब तो दस मिनटमें हम पहुंच जायेंगे । सामनेकी टेकरी पर वह जो सफेद कुटिया दिखाई देती है उसके पास ही सहस्रधारा है ।'

इतनी दूर आये हैं, तो दस मिनट और सही, ऐसा विचार करके हम आगे बढ़े । पीछे मुड़कर देखनेकी इच्छा हुई तो सूरज आकाशमें लटक रहा था और तलहटीकी घाटीके पहाड़ अपने दो हाथ ऊंचे करके उसका स्वागत कर रहे थे, मानो गेंद पकड़नेकी तैयारी कर रहे हों । ऊपर उछाला हुआ बच्चा मांके हाथोंमें पडते ही हंसने लगता है और मां प्रसन्न होती है, ऐसा ही वह दृश्य था । ऐसे समय पर मांके प्रेमके उभारका मनमें सेवन करें, या बच्चेका विश्वासपूर्ण हास्य विकसित करें । दोमेंसे किस आनंदके साथ तादात्म्य अनुभव करें, इसका निश्चय न होनेसे मन परेशान होता है । इतना ही एक दृश्य देखनेके लिए यहां तक आया जा सकता है ! मगर संकल्प तो किया था सहस्रधाराका । अतः लंबी सूर्य-किरणोंकी ओरसे हमने मुंह फेरा और आगे बढ़े ।

इतनेमें यकायक एक बड़ा प्रपात धबधबाता हुआ नजर आया । ऊंचाईसे स्वच्छ पानी मजबूत मिट्टीकी प्राकृतिक दीवारसे लुढ़कता है, आवाज करता है और अनोखी मस्तीभरी एकतानतासे नीचे उतरता है । पासमें कोई है या नहीं, यह देखनेकी उसे फुरसत कहां है ? क्या होता है इसकी उसे कोई परवाह नहीं है । वह तो धब-धब, धब-धब आवाज करता ही रहता है । पत्थरके ऊपरसे जब पानी गिरता है तब उतना आश्चर्य नहीं होता । मगर यहां तो अपनी जिद न छोड़नेवाली मिट्टी परसे पानी गिरता है । मैं तो देखता ही रहा । पानीके भव्य दृश्यमें इतना नशा होता है, यह शराबियोंको यदि मालूम हो जाय, तो वे शराबका नशा छोड़कर अहर्निश यहीं आकर बैठे रहें । एक क्षणके लिए तो मैं भूल ही गया था कि हमें वापस लौटना है । भले एक क्षणके लिए, मगर जब हम प्रकृतिके साथ एकरूप हो

जाते हैं तब वह सचमुच अद्वैतानंद होता है। अपना होश भूल जानेके बाद आनंदके सिवा और कुछ रह ही नहीं सकता।

तब क्या जिसे हम जड़ सृष्टि कहते हैं वह जड़ नहीं है, बल्कि अद्वैतानंदकी समाधिमें एकतान होकर पड़ी है? इसका जवाब भला कौन दे सकता है? और कौन सुन भी सकता है?

रणबीर कहने लगे, 'अब हम जरा आगे चलेंगे।' अब देरी करनेकी मेरी इच्छा न थी। मगर थोड़ा बाकी रह गया ऐसा विषाद मनमें न रहे इसलिए मैं आगे बढा। नीचे पानी बह रहा था। धीरे-धीरे हम नीचे उतरे ही थे कि सुराखारकी महक आने लगी। नीचे उतरकर थोड़ासा पानी पिया। कहते हैं कि तमाम चर्म-रोगोके लिए यह पानी बहुत मुफीद है। इस पानी और उसके अद्भुत गुणोंके बारेमें मैं सोच रहा था; किन्तु दिल तो अभी देखे हुए प्रपातकी धब-धब आवाजके साथ ही ताल साध रहा था। इतनेमें दाहिनी ओर ऊपर एक झुकी हुई खोहकी छतसे पानीकी बूंदें गिरती देखीं। उनकी आवाज ऐसी हो रही थी मानो अत्यंत सौम्य और मूक-प्राय जलतरंग या वृन्द-गायन हो।

यही है सच्ची सहस्रधारा। हजारों बूंदें इस गुफाके ऊपरसे और अंदरसे टप-टप गिरती हैं। मगर उनकी आवाज नही होती। शांतिके साथ ये बूंदें सतत गिरती रहती हैं। एक ओरसे हम ऊपर चढ़े। वहां एक गहरी गुफा थी। बीचमें स्तंभके समान पत्थरका भाग था। हम उसके इर्द-गिर्द घूमे। चारों ओर सहस्रधाराकी बरसात हो रही थी। मालूम होता था मानो सारा पहाड़ पिघल रहा है। हम काफी भीग गये। एक घंटा तेजीसे चलकर आनेसे शरीरमें गरमी खूब थी। इसलिए भीगते समय विशेष आनंद महसूस हुआ। कितना ठंडा है यहांका दृश्य! यहां रहनेके लिए मनुष्यका जन्म कामका नही। यहां तो वेदमंत्रोंका चार्तुमास्यमे रटन करनेवाले मेंढकोंका अवतार लेकर रहना चाहिए। जो हृदय कुछ समय पहले शक्तिशाली प्रपातके साथ एकरूप हो गया था, वही यहां एक क्षणमें इस रिमझिम-रिमझिम सहस्रधाराके बालनृत्यके साथ तन्मय हो गया। मैंने रणबीरको जी भरकर धन्यवाद दिया और कहा "इतना हिस्सा देखना यदि बाकी रह जाता, तो सचमुच मैं बहुत पछताता।' बारिशसे रक्षा करनेवाली असंख्य गुफाएं मैंने देखी हैं। मगर ग्रीष्मकालमें भी अपने पेटमें बारिशका संग्रह रखनेवाली गुफा तो पहले-पहल यही देखी। सीलोनके मध्यभागमें एक स्थान पर चित्रोंवाली एक गुफा है; उसमेंसे एक नन्हा-सा झरना झरता है। मगर इस प्रकारकी अखंड बारिश तो यहीं पहले-पहल देखी। हमें वापस लौटनेकी जल्दी थी। मगर इस बारिशको जल्दी नहीं थी। उसको अपना जीवन-कार्य मिल चुका था। पत्थरों पर जमी हुई काईके कारण पांव फिसलते थे; और यहांके सौंदर्य, पावित्र्य और शांतिके कारण पांव यहां चिपकते थे। जीमें आता था कि जितना अधिक समय इस स्थितिमें बीते उतना ही लाभ है।

आखिर वहांसे लौटना ही पड़ा। अब तो दुगुनी रफ्तारसे जाना था। रास्ते पर चंद मजदूर और ग्वाले जल्दी-जल्दी चलते हुए नजर आये। बेचारे गरीब लोग! वे बडी कठिनाईसे ऐसे स्थान पर जीवन बिताते हैं। मगर हमें तो इसी बातकी ईर्ष्या हुई कि इन्हें सहस्रधाराकी अमृतमयी दृष्टिके नीचे रहनेको मिलता है।

उतरते समय तो उतर गये थे, मगर अब अंधरेमें चढ़ेंगे कैसे, यह सवाल था। मनमे आया, एकाध लाठी मिल जाय तो अच्छा हो। वहां एक देहाती दूकान थी। दुकानदारसे हमने पूछा, 'भैया, एक अच्छीसी लकड़ी दे दोगे?' मैं एक कानसे नही सुनता, तो दुकानदार दोनों कानोंसे बहरा था! मेरी बात उसकी समझमे नहीं आती थी। मैं अधीर बन गया था। आखिर एक साथीने इशारेमे उसको समझाया। उसने तुरन्त अन्दरसे अपनी बांसकी लकड़ी ला दी। पैसे दिये तो उसने लेनसे इनकार कर दिया। और लकड़ी लेकर मानो मैंने ही उस पर अहसान किया हो, ऐसी धन्यता अपनी आंखोंमें दिखाकर वह कहने लगा, 'ले जाइए, आप ले जाइए।' रणवीरने उसके कानोंमें जोरसे कहा, 'ये मेहमान तो महात्मा गाधीके आश्रमसे आते है।' तब उसकी धन्यता और मेरे संकोचका कोई पार न रहा। लकड़ी लेकर मै तो भागा।

अब हमारा बोलना बन्द हो गया। पैर दौड़ते जा रहे थे और मैं मनमे प्रार्थना करता जा रहा था। आकाशमें गुरु और शुक्र चंद्रकी कुछ टीका कर रहे थे।

मोटरवाले भाई पहाड़के शिखर पर बैठकर हमारी राह देख रहे थे। जब हम मिले तब वे कहने लगे, 'आप दौड़ते गये और दौड़ते आये; और मैं उतने समय शांतिमे इस घाटीके भव्य विस्तारका, डूबते हुए प्रकाशका और पलटते हुए रंगोंका आनंद लूटता रहा'। अब आप बताइये, अधिक आनंद किसने लूटा?'

मैंने प्रतिध्वनिकी तरह पूछा: 'सचमुच, किसने लूटा?'

दिसंबर, १६३६

५२. गुच्छुपानी*

गुच्छुपानी कुदरतका एक सुन्दर खेल है। मैं सन् १६३७ में देहरादून गया था, तब एक दिनकी फुरसत थी। कई साथियोंने कहा, "चलो हम 'गुच्छुपानी' देखनेके लिए चलें।" अन्य साथियोंने 'सहस्रधारा' देखनेका आग्रह किया। गुच्छुपानी नाम तो अच्छा लगा, लेकिन विस्मृतिके आवरणके नीचे दबे हुए पुराने संकल्पने अपना मत सहस्रधाराके पक्षमें दिया। इसलिए उस समय गुच्छुपानी देखना रह गया।

* अर्थात् पहाड़को चीरकर बहता झरना।

१९३९ में कन्या-गुरुकुलके उत्सवके निमित्तसे देहरादून जाना पड़ा। इस वक्त गुच्छुपानी मुझे बुलाये बगैर थोड़ा ही रहनेवाला था? देहरादूनसे गुच्छुपानी आरामसे जानेके लिए दो-तीन घंटे काफी हैं। मोटर तो क्या, पैदल आने-जानेमें भी तीन साढ़े-तीन घंटेसे ज्यादा समय नहीं लगता। पहले तो, करीब डेढ़ मील तक मोटरके लिए बनाया हुआ आसफाल्टका वज्रलेप रास्ता हमें धीरे-धीरे ऊंचे-ऊंचे पेड़ोंके बीचसे ऊंचे चढ़ाता है; और सामनेके पहाड़ पर चमकती मसूरीकी गंधर्व-नगरीका दर्शन करवाता है। वहांके बंगलोंकी टेढ़ी-मेढ़ी कतार जब संध्या-किरणों-में चमकने लगती है तो ऐसा आभास होता है मानो चकमकके चौरस टुकड़े बिखरे पड़े हों।

रास्ता छोड़कर हम बायीं ओरके खेतमें उतरे, तो सामने सालके बाल-वृक्षोंकी एक घटा दिखाई देने लगी। इस घटाके बीचसे होकर पहाड़की एक लड़की पत्थरों के साथ खेलती दक्षिणकी ओर दौड़ती जाती है उसका दर्शन हुआ। इस समय उसके पात्रमें पानी नहीं था। सिर्फ टेढ़े-मेढ़े लेकिन चमकीले सफेद पत्थर ही वहां बिखरे हुए थे। आम तौर पर बिना पानीकी नदी पसन्द नहीं करते। लेकिन जब दोनों ओर ऊंची-ऊंची टेकरियां होती हैं और सारा प्रदेश निर्जन-रम्य होता है, तो सूखी हुई नदी भी भीषण-रमणीय रूप धारण करती है। पानीका प्रवाह भले न हो, लेकिन हरे-हरे जंगलमेंसे होकर सफेद धवल पत्थरोंकी पट्टी जब पहाड़ोंके बीचसे अपना रास्ता निकालती आगे बढ़ती है, तो मनमें सहज ही खयाल आता है कि ये पत्थर स्कूलके बच्चोंकी तरह खेलमें दौड़ते-दौड़ते यकायक रुक गये हैं।

हम आगे बढ़े, फिर चढ़े, फिर उतरे। खाइओंसे होकर गुजरना था, इसलिए दूर-दूर देखनेके बजाय आसमानकी ओर देखकर ही संतोष मानना पड़ता था। बीच-बीचमें पीले और सफेद फूलोंका उड़ाऊपन देखकर लगता था कि यहां किसी-का बंगला होगा; लेकिन दूसरे ही क्षण यकीन हो जाता था कि ऐसे दृश्य देखकर ही शहरके बंगलेवालोंको अपने बंगलेके इर्द-गिर्द फूलके पौधे लगानेका खयाल आया होगा। बंगलेकी चार दीवारें तो कुदरतकी गोदसे बिछुड़े हुए मानवके लिए ही हैं। यहां तो कुदरतका विशाल महल है। चार दिशाएं उसकी चार दीवारें हैं और आसमानका कटाह उसका गुंबद। रात होनेके पहले ही इस गुंबदमें चांद-तारों-का चंदोवा नियमपूर्वक ताना जाता है। हवाके बिगड़ने पर चंदोवा मैला न हो इस दृष्टिसे कभी-कभी उसके ऊपर बादलका पर्दा ढंक दिया जाता है।

फूल खुशीसे हंस रहे थे। क्या मालूम किसको देखकर हंस रहे थे! अपने आने-की सूचना तो हमने दी नहीं थी और दी भी होती तो अपने शिकारियोंका आगमन उनको भाता या नहीं यह भी एक सवाल है।

बीच-बीचमें छोटी झोंपड़ियां और इन झोंपड़ियोंको अपमानित करनेवाले चूने-मिट्टीके घर भी आते रहते थे। रास्ते और म्युनिसिपैलिटीकी सुविधासे महरूम घर

वनश्रीके साथ अच्छी तरहसे हिलमिल गये थे और वहांके देहाती जीवनकी शान बढ़ाते थे। गोरोंकी फौजी नौकरीसे निवृत्त हुए गुरखे सैनिक यहां कुदरतकी गोदमें निवृत्तिका आनंद महसूस करते हैं और अपनी वृद्ध पहाड़ी हड्डियोंको आराम देते हैं।

हम आगे बढ़े। आगे यानी सीधा आगे नहीं। पहाड़ी पगडंडियोंके चक्रव्यूहमें तो जैसा रास्ता मिलता जाता है, वैसे आगे बढ़ना पड़ता है। बायीं ओर जाना हो तो भी कभी-कभी दाहिनी ओरका रास्ता लेकर उसकी खुशामद करते-करते आगे बढ़ना पड़ता है। चि० चंदनने कहा, "आसपासका सुन्दर दृश्य और आसमानके पल-पलमें बदलते दृश्य हमारा ध्यान अपनी ओर खींचते हैं, लेकिन एक पलके लिए भी पैरकी ओरसे असावधान हुए तो इस पहाड़ी नदीके पत्थरोंकी तरह लुढ़कना पड़ेगा।" उसकी बात सच थी। बड़े-बड़े पत्थरों पर पैर रखकर चलनेमें खास मजा आता है। लेकिन वे समानान्तर थोड़े ही होते हैं? इसलिए कौनसा पत्थर कहां है, मनुष्यके पांवका बोझ सिर पर आने पर भी अपने स्थानसे डिगे नहीं ऐसा धीरोदात्त पत्थर कौन है?—इस तरह रास्तेका 'सर्वे' करते-करते जहां आगे बढ़ना होता है, वहां हरेक कदममें अपना चित्त लगाना पड़ता है। हाथमें पूनी लेकर सूत कातते समय जैसे तसू-तसूमें हमारा ध्यान भी कतता है, वैसे ही इस तरहकी पहाड़ी यात्रामें कदम-कदम पर हमारा चित्त यात्राके साथ ओतप्रोत होता है और इससे ही यात्राका आनंद गहरा होता है।

अब तो एक लंबी-चौड़ी नदी नीचे दिखाई देने लगी। दाहिनी ओरकी दरीसे आकर बाईं ओर दो शाखाओंमें वह विभक्त हो जाती थी। सामनेकी टेकरी परसे तारघरके खंभोंने पांच-सात तारोंकी कतारें शुरू करके इस पार दूर तलहटीमें इस तरह झेली थीं, मानो किसी बच्चेने अपने हाथ और अपनी आंखें यथासंभव तान कर नदीकी चौड़ाई बतानेकी कोशिश की हो।

उस नदीके तट पर होकर दो छोटे प्रवाह, किसी राजाके अस्त हुए वैभवकी तरह धीमे-धीमे जा रहे थे। पानी तो बच्चोंके हास्य और रिस जैसा ही निर्मल था। इच्छा हुई कि थोड़ा पानी पेटमें पहुंचा दूं। लेकिन धर्मदेवजीकी रसिकता बीचमें आयी। उन्होंने कहा, "देखिये, सामने झरना दिखाई देता है। एक समय था जब मैं उसका पानी यहां आकर रोज पीता था। चलिये वहीं चलें।"

हम गये। वहां एक छोटी पहाड़ीकी कमर पर एक छोटा-सा ताक था। अमृत जैसे झरनेको उसमेंसे निकलनेका सूझा। किसी परोपकारी आदमीको उस ताकके नजदीक एक लकड़ीकी परनाली लगानेकी इच्छा हुई, इसलिए हम लोगोंको जल-दान स्वीकारनेमें आसानी हुई। पानी पीनेके पहले पश्चिमकी ओर ढलते सूर्यको एक मनोमय अर्घ्य देना मैं न भूला।

अब तो जिस दिशामें सूर्य-किरणें फैल रही थीं, उस ओर धीरे-धीरे नदीके पट-

में हम चढ़ने लगे। आगे क्या दिखाई देगा उसकी निश्चित कल्पना नहीं हो सकती थी। नदीका मूल होगा ? या ऊपरसे पानी गिरता होगा ? या सहस्रधाराकी तरह पानीमें गंधक होगा ? ऐसी अनेक कल्पनाएं मनमे उठती थी। इस झरनेके नामके मुनाबिक उसका रहस्य भी हमारे लिए गुह्य था। माना जाता है कि गुच्छु शब्द गुह्य परसे आया है।

सुदूर एक कोटर दिखाई देता था। वहां पहुंचे तो कुछ और ही निकला। वहां हमें मालूम हुआ कि गुच्छुपानीके मानी क्या है।

रेलवे लाइन डालनेके लिए जिस तरह पहाड़ तोड़कर सुरंग या टनल खोदी जाती है, उसी तरह एक आग्रही झरनेने सारी टेकरीको आरपार बींधकर अपना रास्ता निकाला था। नही, नही, यह तो गलत उपमा दे दी। जिस तरह फौलादकी करवत लकड़ी या 'पोरबंदरी' पत्थरको काटती-काटती नीचे उतरती जाती है, उसी तरह इस झरनेने एक टेकरी सीधी काट डाली है। इसमें किसी तरकीबसे काम नही लिया गया। वज्रकाय पाषाणोंको बीधकर पानी जब आरपार निकल जाता है, तो आश्चर्यचकित मन सवाल पूछ बैठता है कि समर्थ कौन है ? अडिग पहाड़ और उसके प्राचीन पत्थरोकी अभेद्य दीवारें या पल भरका भी विचार किये बगैर अपना बलिदान देनेको तैयारचचल और तरल नीर ?

उस विवर या गुफामें घुसनेकी कोशिश करते-करते दिल थोड़ा-सा कांप उठे तो उसमे कोई आश्चर्यकी बात नही, इतना अद्भुत था वह दृश्य। वह मौतके मुहमे प्रवेश करने जैसा साहस था। अंदर दाखिल होते ही मुझे तो गीताके ग्यारहवे अध्यायके श्लोक याद आने लगे। फिर भी पहाड़ और जलकी शक्तिके द्वारा अपना सामर्थ्य व्यक्त करनेवाली प्रकृतिमाताके स्वभाव पर विश्वास रखकर हम लोग अंदर दाखिल हुए।

उस टेकरीके कुदरती वज्रलेपमें चुने हुए काले, धौले और लाल गोल पत्थर जैसे दिखाई देते थे मानो सीमेन्टसे चुने गये हों। और जलका नम्र प्रवाह पैरके नीचे छोटे-छोटे पत्थरों परसे अपनी विजय-गाथा गाता हुआ दौड़ता चला जा रहा था। सिर ऊंचा करके देखा तो पानी द्वारा टेकरीको काटकर बनाई हुई खासी बीस-तीस फुटकी दो दीवारें अपने लाखों बरसोके इतिहासकी गवाही दे रही थी। मेरे बजाय कोई भूस्तरशास्त्री यहां आया होता तो पहले वह यह देखता कियह पत्थर ग्रेनाईट-के है या सेंडस्टोनके ? फिर दीवारकी ऊंचाई क्या है, पानीका ढाल कितना है, हर दसवें साल पानी कितना गहरा जाता है, इन सबका हिसाब लगाकर वह इस कुदरती सुरंगकी उम्र निश्चित करके कहता, "इस पहाड़ी प्रवाहका खेल पचास हजार या दो लाख सालोंसे चला आ रहा है।" पासकी दीवारमें फंसे हुए रंग-बिरंगे पत्थरोको देखकर वह उनकी उम्र पूछता और उनको जकड़कर बैठी हुई मिट्टीको वज्रलेप सीमेन्ट होते कितने साल बीते होंगे उसका हिसाब लगाकर टेकरी-

की उम्र भी (हमारे लिए) निश्चित कर देता। और यदि उसको यहां हुए भूकंपका इतिहास किसीसे मालूम हो जाता तो अपने गणितमें उसके मुताबिक परिवर्तन करके उसने नये निर्णय भी दिये होते। इस वज्रलेप सीमेन्टके बीचमें चमड़े या बारीक जाल जैसी डिज़ाइन कैसे बनी और उसमेंसे पानीके बारीक फुहारे क्यों निकलते हैं, यह भी बताया होता। सचमुच नक्षत्र-विद्याके समान यह भूस्तर-विद्या भी अद्‌भुत-रम्य है। मनोविज्ञानसे उनकी खोज कम अटपटी नहीं है। ये तीन विद्याएं मानव-बुद्धि-बलका अद्‌भुत-रम्य विलास हैं।

हम उस गुफामें दूर तक चले गये। एक जगह ऊंचे भी चढ़ना पड़ा। पासमें ही पानीका छोटा-सा प्रपात गिर रहा था। थोड़ा आगे बढ़े तो पत्थर और चूनेसे बंधी हुई दो दीवारें देखकर कोशिश करने पर भी मैं अपना हंसना रोक न सका। मानवने सोचा कि पहाड़का हृदय बींधकर आरपार निकलनेवाले पानीको हम दो दीवारोंसे रोक सकेंगे! मेरी भावनाको समझते ही वह विजयी प्रपात मुझसे कहने लगा, "और मैं भी उसी कारण हंसता हूं।" पहाड़का चीरा हुआ हृदय भग्न होने पर भी भव्य दिखाई देता था। लेकिन मानवकी टूटी हुई दीवारें उसके मनोरथकी तरह तिरस्कार और हास्यके भाव पैदा करती थीं। किसी उद्दाम आदमीको तमाचा पड़े और उसका मुंह मुरझाया हुआ दिखाई दे, इस तरह इन दीवारोंको अधिक समय तक देखनेकी इच्छा भी नहीं होती थी। लंबे अर्से तक किसीकी फजीहतके साक्षी भी हम कैसे रह सकते हैं?

अंदर आगे बढ़नेके साथ उस विवरकी शोभा बढ़ती ही जाती थी। इतनेमें उन दो दीवारोंके बीच एक बड़ा पत्थर गिरता-गिरता अटका हुआ दिखाई दिया। ऊपरसे वह कूदा होगा। और पासकी स्नेहमयी दीवारोंने उससे कहा होगा, "अरे भाई ठहर जा, पानीके खेलमें खलल न पहुंचा।" बेचारा क्या करे! लटका हुआ वहीं खड़ा है। उलटे सिर लटकते हुए पानीका खेल मजबूरन देखना उसकी किस्मत-में लिखा था। उस पर तरस खाते हुए हम आगे बढ़े तो एक दूसरा पत्थर उसी तरह लटकता हुआ और अपनी पीठ पर अपनेसे तीन गुने बड़े पत्थरका बोझ लादे रुका हुआ दिखाई दिया। हम उसके नीचेसे भी गुजरे। अगर पासकी दीवारें जरा (धंसकर) चौड़ी हो जातीं, तो हमारी हड्डियां चकनाचूर हो जातीं और दो-चार क्षणके लिए पानीका रंग लाल-लाल हो जाता। फिर कुदरत कहती कि मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। दो-चार मानव यहां आये होंगे और उन्होंने अपनी निरर्थक जिज्ञासाकी कीमत चुकाई होगी। यह बात ध्यानमें रखने योग्य थोड़ी ही है! उनके जैसे दूसरे मानव जब कभी यहां आ पहुंचेंगे तब पत्थरोंमें दबे हुए कई अवशेष उनको मिलेंगे। और सच्ची-झूठी कल्पनाओं पर सवार होकर एकाध प्रकरण खड़ा करेंगे। बस और क्या?

चलते-चलते हम थके तो नहीं, लेकिन ठंडे पानीमें नुकीले पत्थरों पर नंगे पैर

चलते-चलते पैर दुखने लगे इसका इनकार नहीं हो सकता। लेकिन उस गुफा-प्रवेशकी अद्‌भुतताका अनुभव करते-करते हम अघा गये। अंदर आगे बढ़ते-बढ़ते भला कितना बढ़ सकते थे ? आखिर आगे बढ़नेका हौसला मंद हो गया। लेकिन मन कहने लगा, हारकर वापस कैसे जायं ? यहां तक आये हैं तो आरपार जाना ही चाहिये। जो दूसरा सिरा न देखे वह मानवी मन नहीं है।

आगे बढ़ते ही पाट थोड़ा चौड़ा हुआ और पानीकी भीषणता कम हो गयी। इसलिए सयाने बनकर हमने मान लिया कि अब आगेका दृश्य नीरस ही होगा। वहां न गये तो चलेगा। हम वापस लौटे। फिर वही दृश्य, वही डर ! वही जिज्ञासा और वही भावनाएं ! !

उस गुफासे बाहर निकलते-निकलते पूरे सोलह मिनट लगे ! ! ! मैंने अपनी आदतके मुताबिक इस यात्राके स्मारकके तौर पर दो सुन्दर मुलायम पत्थर ले लिये। और अंधेरेमें तेज कदम बढ़ान-बढ़ाते घर लौटे। मनमें एक ही सवाल उठ रहा था : कौन समर्थ है ? ये वज्रकाय पुराने पहाड़ या यह नम्र किन्तु आग्रही जीवनधर्मी सत्याग्रही नीर ?

५३. नागिनी नदी तीस्ता

जब मैं कुछ साल पहले दार्जिलिंग और कालिंगपोंगकी ओर गया था, तब मैने तीस्ता नदीका प्रथम दर्शन किया था। प्रथम दर्शनसे ही तीस्ताके प्रति असाधारण प्रेम बंध गया। अगर तीस्ताके बारेमें कुछ पौराणिक कथा या माहात्म्य मैं जानता होता तो उसके प्रति मनमें भक्ति पैदा हो जाती। लेकिन यह तूफानी नदी हिमालयके पहाड़ोंके बीचसे अपना रास्ता निकालती, चट्टानोंसे टकराती, प्रवाहके बीच पड़े हुए छोटे-बड़े पत्थरोंका मंथन करती और तरह-तरहकी गर्जना करती हुई जब दौड़ती आती है, तब उसका उत्साह, उसका दृढ़ निश्चय और उसका अमर्ष देखकर उसके प्रति प्रेम और आदर बंध जाते हैं, भक्ति नहीं।

जब तीस्ताका प्रथम दर्शन हुआ, तब मनमें संकल्प उठा कि इस नदीका पहाड़ी जीवन कुछ तो देखना ही चाहिये। जोरोंसे बहनेवाली पहाड़ी नदीके ऊपर जो बेंतके या रस्सीके खतरनाक पुल बांधे जाते हैं, उन पर खड़े होकर प्रवाहकी ओर देखनेमें एक विचित्र अनुभव होता है। ऐसा लगता है कि यह पुल नदीके प्रवाहका मुकाबला करते हुए ऊपरकी ओर जोरोंसे दौड़ रहा है। जितने ज्यादा समय तक हम ध्यानसे देखते हैं, उतनी ही यह प्रतीत-गामी भ्रांति बढ़ती जाती है।

एक दिन मैंने मनमें कहा कि इसे भ्रांति क्यों मानें ? यह एक तरहकी दीक्षा है। इस अनुभवके द्वारा निसर्ग हमें कहता है, 'जितनी बेपरवाहीसे यह पानी पहाड़से

आकर मैदानकी ओर दौड़ रहा है और सागर ढूंढ़ रहा है, उतनी ही बेपरवाही और अदम्य कुतूहलसे इस प्रवाहके किनारे-किनारे पूरा खतरा मोल लेकर ऊपरकी ओर चले जाओ और इस नदीका उद्‌गम-स्थान ढूंढ लो।'

जब पहाड़की कोई नदी सरोवरसे निकलकर आती है, तब उसे सर-यू या सरो-जा कहते हैं। जब वह पर्वत-शिखरोंकी गोदमें इकट्ठी हुई हिमराशिसे निकलती है, तब उसे हैमवती कहना चाहिये। यों तो पर्वतसे निकलनेवाली सब नदियोंका सामान्य नाम पार्वती है ही। हिमालय-पिताकी इन सब लड़कियोंके नाम अगर एकत्र किये जायं तो उनकी संख्या कई सहस्र हो जायगी।

तीस्ताका असली नाम त्रिस्रोता है। उत्तर-पूर्व अफ्रीकामें नील नदीके दो अलग-अलग उद्‌गम हैं और दोनों स्रोत दूर-दूरके दो सरोवरोंसे ही निकलते हैं—सफेदरंगी नील और नीलरंगी नील। दोनोंके संगमसे मिश्र देशकी माता बड़ी नील बनती है। उसी तरह तीस्ता भी तीन स्रोतोंके संगमसे बनी हुई है। एक स्रोतका नाम है 'लाचुंग चू' (चू यानी नदी)। यह नदी 'कान् चेन् झौंगा' शिखरके दक्षिणसे निकलती है। दूसरे स्रोतका नाम है 'लाचेन् चू'। यह नदी पाव हुन् री शिखरके उत्तरसे निकलकर तथा चो ल्हामो और गोरडामा दो सरोवरोंका जल लेकर रास्ता निकालती-निकालती प्रथम पश्चिमकी ओर बहती है, फिर धीमे-धीमे दक्षिणकी ओर मुड़ती है। इन दोनोंका सगम जहां होता है, वहां चुंग थांगका बौद्ध-मंदिर है। लाचून् चू और लाचेन् चू इन दो नदियोंके संगमसे जो नदी बनती है, उसे पंचहिमाकर (कान् चेन् झौंगा), सीम् व्हो और सिनो लोचू इन तीन गगनभेदी शिखरोंकी गोदमे जो हिमराशियां है उनका पानी लानेवाली तालूंग चू मिलती है, तब इन तीन स्रोतोंसे तीस्ता बनती है। और फिर वह सीधी दक्षिणकी ओर बहने लगती है। कुछ आगे जाने पर उसे दाहिनी और बाईं ओरसे छोटी-मोटी अनेक नदियां मिलती हैं। इनमें महत्त्वकी हैं दिक् चू, रोरो चू, रोंगनी चू, रंगपो चू, और बड़ी रंगीत चू।

जहां-जहां दो नदियोंके संगम होते हैं, वहां-वहां एक बौद्ध मंदिर पाया ही जाता है, जिसे यहांके लोग गोम्पा कहते हैं।

जब मैंने तीस्ताके आकर्षणसे सबसे पहले इन पहाड़ोंमें प्रवेश किया था, तब मैंने रंगीत नदीका संगम और रंगपो नदीका संगम देखा था। संगमके दोनों स्रोतोंके रंग यहां अलग-अलग होते हैं। अबकी बार इन दो संगमोंको तो आंख भरके देखा ही, लेकिन सिक्कीमकी राजधानी गंगतोकके पूर्वकी नदी रोरो चू और रोंगनी नदी-का संगम भी मैंने सिंगटंगमें देखा। संगम यानी जीवित काव्य।

महाविजय पानेके लिए अनेक राजाओंकी सेनाएं जैसे एकत्र होती हैं और उनकी संकल्प-शक्ति बढ़ती है, वैसे ही इन सब नदियोंका जल-भार पाकर तीस्ता नदी जलवती, वेगवती और संकल्पशालिनी बनती है और पहाड़ोंसे लड़ते-लड़ते मैदानमें आ पहुंचती हैं। यहां वह शिलीगुड़ी तक न जाकर जलपायगुड़ीके रास्ते

पाकिस्तानमें प्रवेश करती है और रंगपुरका दर्शन करते हुए आखिरमें ब्रह्मपुत्रसे जा मिलती है।

हमारे पुरखोंने नदियोंके दो विभाग बनाये हैं। जब कोई नदी अनेक नदियोंका पानी लेकर पुष्ट होती है, तब उसे युक्तवेणी कहते हैं। सफेद गंगा, श्याम यमुना और 'मध्ये गुप्ता' सरस्वती मिलकर प्रयागराजके पास त्रिवेणी बनती है। पंजाबमें सिंधु सात नदियोंका पानी पाकर युक्तवेणी बनती है। बादमें जाकर जब वह नदी स्वयं अनेक विभागोंमें बंट जाती है और अनेक मुखोंसे समुद्रमें मिलती है, तब उसे मुक्तवेणी कहते हैं। नदियोंके जीवनके हम दूसरी तरहसे भी दो विभाग बना सकते हैं। पहाड़ोंका बद्ध जीवन और खुले मैदानका मुक्त जीवन। गंगानदीका पार्वत जीवन हरद्वारके पास खतम होता है। फिर तो जहां जमीन मजबूत है, वहां वह एक धारा बना लेती है। लेकिन जहां भूमि बंगालके जैसी बिना पत्थरवाली और समतल होती है, वहां उसकी अनेक धाराएं भी बनती हैं। हम कह सकते है कि नदी-का पार्वत जीवन कुमारीके जीवनके जैसा अल्हड़ होता है। मैदानमें जाते ही अनेक खेतोंको स्तन्यपान कराते-कराते वह प्रजाओंकी माता बनती है। दार्जिलिंग और कालिंगपांगके पहाड़ोंसे निकलनेके बाद तीस्ताको सिर्फ एक-दो बंधन सहन करने पड़ते हैं और वे हैं—असमकी ओर जानेवाली रेलोंके पुल। एक है भारतवर्षका नया बनाया हुआ असमलिंकका पुल और दूसरा है हमारा ही बनाया हुआ लेकिन पाकिस्तानके हाथमें गया हुआ रंगपुरके नजदीकका दूसरा पुल।

तीस्ता नदीका मैदानी जीवन कुछ विचित्र-सा है। तिब्बतकी बहुपति-प्रथाका शायद उसे स्मरण है। एक समय था जब तीस्ता गंगा नदीसे मिलती थी। इन सौ-दो-सौ बरसके अन्दर उसने अनेक पराक्रम किये हैं और वहांके लोगोंसे 'पागला' नाम भी प्राप्त किया है। आज भी उसका एक प्रवाह छोटी तीस्ताके नामसे पहचाना जाता है, दूसरा प्रवाह है बूढ़ी तीस्ता और तीसरा है मरा तीस्ता। उसने अपना जल-भार करतोया नदीको देकर देखा, घाघातको भी दिया। मैदानमें तो यह युक्तवेणी भी बनती है और मुक्तवेणी भी। तीस्ताके चंचल स्वभावको पहचानना और उसका अनुनय करना मनुष्यके लिए आसान नहीं है। वह इतना स्थलान्तर करती है कि उसके अनेक प्रवाहोंको स्थायी नाम देना और उनको याद करना भी मुश्किल है। कहते हैं कि 'कालिकापुराण' में तीस्ताका जिक्र है। वहां ऐसी कथा है कि देवी पार्वती किसी असुरसे लड़ती थीं। वह मत्त असुर कहता था कि मैं शिवजीकी उपासना करूंगा, लेकिन पार्वतीकी नहीं। पार्वतीका और उस असुरका घोर युद्ध हुआ। लड़ते-लड़ते असुरको बड़ी प्यास लगी। उसने शिवजीसे प्रार्थना की कि 'प्रभु, मेरी प्यास बुझा दो!' और कैसा आश्चर्य! प्रार्थना शिवजीके चरणों तक पहुंचते ही पार्वतीके स्तनोंसे स्तन्यधारा बहने लगी। वही है हमारी तीस्ता। कहते हैं असुरेश्वरकी तृष्णा बुझानेका काम इस नदीने किया, इसलिए इसका नाम हुआ

तृष्णा और तृष्णांका ही प्राकृत रूप है तीस्ता। हमारे ध्यानमें नहीं आता कि नदीको कोई तृष्णा कैसे कह सकता है। 'तृष्णा' का 'तण्हा' हो सकता है। लेकिन णकारका लोप ही हो जाना ठीक नही लगता है।

कुछ भी हो, तीस्ताका जीवन-क्रम शुरूसे आखिर तक आकर्षक और संस्मरणीय है। पहाड़ोंमें जहां ये नदियां बहती हैं, वहां गरमी बहुत रहती है। इसलिए मलेरियाके जन्तु दंश-मशक भी बहुत होते हैं। शायद यही कारण होगा कि तीस्ताके नाम कोई लोकगीत नही पाये जाते है।

लेकिन अब तो हम लोगोंने विज्ञान-युगमें प्रवेश किया है। मलेरियाके मच्छरोंका इलाज हो सकता है। जहां नदी जोरोंसे बहती है, वहां उस पर यंत्रका जीन कसकर उससे काफी काम लिया जा सकता है। तीस्ताका उद्‌गम शायद पांच-मात हजार फुटकी ऊंचाई पर है। जब वह पहाड़ी मुल्क छोड़ती है, तब उसकी ऊंचाई समुद्रकी सतहसे सिर्फ सात सौ फुटकी होती है। देखते-देखते जो नदी छः हजार फुटकी ऊंचाई खोती है, उसके पाससे चाहे-सो काम लिये जा सकते हैं। आरेसे लकड़ी चीरनेका और आटा पीसनेका काम तो ये नदियां करती ही हैं। अब इनसे बिजली पैदा करनेका बड़ा काम लिया जायगा। फिर तो सारे सिक्किम राज्यका रूप ही बदल जायगा।

हमारे धर्मप्राण पूर्वजोंकी यंत्रबुद्धि भी धर्मकार्यमे ही लगती थी। एक जगह पर हमने देखा कि पहाड़के स्रोतके सामने एक चक्र रखकर उसके जरिये 'ओम् मणिपद्मे हु' के जापका लकड़ीका बल्ला या जाठ घुमाया जाता है और इस तरह जो यांत्रिक जाप होता है उसका पुण्य यंत्रके मालिकको मिलता है।

ऐसे पुण्यका बडा हिस्सा नदीको ही मिलना चाहिये।

७-१०-'५६

५४. परशुराम कुंड

भारतकी करीब-करीब उत्तर-पूर्व सीमाके पास लोहित-ब्रह्मपुत्रके किनारे ब्रह्मकुंड या परशुराम कुंड नामका एक तीर्थस्थान है। तिब्बत, चीन और ब्रह्मदेशकी सरहदके पास, वन्य जातियोंके बीच, भारतीय संस्कृतिका यह प्राचीन शिविर था। पश्चिमी समुद्रके किनारे सह्याद्रिकी तराईमें जिसने ब्राह्मणोंको बसाया ऐसे भार्गव परशुरामने सारे भारतकी यात्रा करते-करते उत्तर-पूर्व सीमा तक पहुंचकर ब्रह्मकुंडके पास शांति पायी। यह है इस स्थानका माहात्म्य।

जबसे मैं असम प्रान्तमें जाने लगा तबसे परशुराम कुंड जाकर स्नान-पान-दानका सुख पानेकी मेरी इच्छा थी। राजनैतिक, भौगोलिक और सामयिक

कठिनाइयोंके कारण आज तक वहां न जा सका था। लेकिन अब सुना कि महात्मा-जीकी चिता-भस्मका विसर्जन अन्यान्य तीर्थोंके जैसा परशुराम कुंडमें भी हुआ है, तब वहां जानेकी उत्कंठा बढ़ी। इस साल सुना कि असम प्रान्तके कई लोकसेवक १२ फरवरीको सर्वोदय मेलेके निमित्त वहां जानेवाले हैं, तब तो मनका निश्चय ही हो गया कि इस मौकेको छोड़ना नही चाहिये। पलाशवाड़ीके पास कई बरसोंसे चलनेवाले मोमान आश्रमके श्री भुवनचन्द्र दासको मुझे बुलानेमें कुछ भी तकलीफ न पड़ी।

बार-बार भू-भ्रमण करके भूगोल-विद्याको बढ़ानेवाले हमारे जो प्रधान भूगोलविद् पुराणोंमें पाये जाते हैं, उनमें नारद, व्यास, दत्तात्रेय परशुराम और बलरामके नाम सब जानते हैं। इनमें भी व्यास और परशुराम अपनी-अपनी विभूतिकी विशेषताके कारण चिरजीवी हो गये हैं। भारतीय सस्कृतिके संगठन और प्रचारका कार्य महर्षि व्यासने जैसा किया वैसा और किसीने नही किया होगा इसलिए तो उनको वेद-व्यास (organiser) का उपनाम मिला। उनका असली नाम था कृष्ण द्वैपायन।

और परशुराम थे अगस्त्य ऋषिके जैसे संस्कृति-विस्तारक (pioneer of culture)। प्राचीन कालमें मनुष्य-जातिको जीनेके लिए दारुण युद्ध करना पड़ता था—जंगलोंके साथ और जंगलोंके पशुओंके साथ। जंगलोंने आक्रमण करके मानव संस्कृतिको कई बार हजम किया है। इसका सबूत आज भी कम्पूचियामें आन्कोर वाट और आन्कोर थॉममें मिलता है। ऊंचे-ऊंचे राजप्रासाद और बड़े-बड़े मंदिरों के शिखरों तक मिट्टीके ढेर लग गये; और जंगलके महावृक्षोंने अपनी पताका उन पर लगा दी। हमारे यहां भी असंख्य छोटे-बड़े मंदिर अश्वत्थ और पीपलकी जड़ोंके जालमे फसकर टेढ़े-मेढ़े हो गये पाये जाते है।

ऐसे युगमें परशु (कुल्हाड़ी) लेकर मानव-संस्कृतिका रक्षण और विस्तार करनेका काम किया था भगवान परशुरामने। पुराणकी कथा कहती है कि जन्मके साथ परशुरामके हाथमें परशु था। धनी मां-बापके घर जिसका जन्म हुआ है उसके बारेमें अंग्रेजीमे कहते है कि 'He is born with a silver spoon in his mouth'—चांदीका चम्मच मुंहमें लेकर ही यह बच्चा जन्मा है। ऐसी ही बात परशुरामकी थी।

परशुराम जातिका ब्राह्मण था, लेकिन उसके सब संस्कार क्षत्रियके थे। जंगलोंका नाश करनेके लिए कुल्हाड़ी चलाते-चलाते उसने सम्राट् सहस्रार्जुनके हजार हाथों पर भी कुल्हाड़ी चलायी और क्षत्रियोंके आतंकसे चिढ़कर उसने उनके विरुद्ध २१ बार युद्ध किया। क्षात्र-पद्धतिसे क्षत्रियोंका नाश करनेकी कोशिश इस क्षत्रिय ब्राह्मणने २१ बार की। उसीका अनुभव उसके अनुगामी ब्राह्मण क्षत्रिय गौतम बुद्धने एक गाथामें ग्रथित किया है :

नहि वेरेन वेरानि संमंतीध कुदाचनं।

इस परशुरामके क्रोधी पिताने अपने अन्य पुत्रोंको आज्ञा दी कि 'तुम्हारी माता कुलटा है, उसे मार डालो।' उन्होंने इनकार किया। जमदग्निकी क्रोधाग्नि और भी बढ़ गयी। उसने परशुरामकी ओर मुड़कर कहा, 'बेटा, तुम मेरा काम करो। इस रेणुकाको मार डालो।' कुल्हाड़ी चलानेकी आदतवाले आज्ञाधारी पुत्रको सोचना नही पड़ा। उसने माताका सिर तुरन्त उड़ा दिया। पिता प्रसन्न हुए और कहा, 'चाहे जितने वर मांग। तूने मेरा प्रिय काम किया है।' पुत्रको अब मौका मिल गया। पिताकी सारी तपस्या चार वरमें उसने निचो ली। 'मेरी माता फिरसे जीवित हो। मेरे भाइयोंको आपने शाप देकर जड़ पाषाण बनाया है वे भी जीवित हों, अपनी हत्या और सजाकी बात वे भूल जायं। मैं मातृहत्याके पापसे मुक्त हो जाऊं, और चिरजीवी बनू।' पिताने कहा, 'और तो सब दे दूंगा, लेकिन मातृहत्याका पाप धो डालनेकी शक्ति मेरी तपस्यामें भी नहीं है।' मायूस होकर परशुराम वहांसे चला गया। आगे जाकर परशुधर रामको धनुर्धर रामने परास्त किया, क्योंकि युद्धशास्त्र बढ़ गया था। परशुकी अपेक्षा धनुष-बाणकी शक्ति अधिक थी; और दूर तक पहुंचती थी। परशुरामने भारत-भ्रमणमें सारी आयु बितायी। अनेक तीर्थोंका और संतोंका दर्शन किया। चित्तवृत्तिमें उपशमका उदय हुआ और लोहित-ब्रह्मपुत्रके किनारे ब्रह्म-कुंडमें उसके हाथकी कुल्हाड़ी छूट गयी। यही शस्त्र-संन्यासके इस तीर्थस्थानका माहात्म्य है। परशुरामकी जीवन-कथामें पश्चिम किनारेसे लेकर उत्तर-पूर्व सिरे तकका भारतका, किसी जमानेका, सारा इतिहास आ जाता है। परशुराम कुंडकी यात्रा करके कई साधु-संतोंने यहांकी वन्य जातियोंको भारतकी संस्कृतिके संस्कार दिये हैं। इस प्रदेशका लोक-मानव कहता है कि रुक्मिणी हमारे यहांकी ही राजकन्या थी. इसलिए श्रीकृष्ण हमारे दामाद होते हैं।

जिस तरह प्राचीन कालके सांस्कृतिक अग्रदूत यहां आये, वैसे 'अवेर' का उपदेश करनेवाले बुद्ध भगवानके शिष्य भी यहां आये होंगे। बौद्ध भिक्षु हिमालय लांघकर तिब्बत भी गये थे, और जहाजके रास्ते चीन भी गये थे। उसके बाद असम प्रान्तमें अहिंसा धर्मकी नयी बाढ़ आयी श्री शंकरदेवके जमानेमें। श्री शंकरदेव असली शाक्त थे। उस पंथके दुराचारसे ऊबकर वे वैष्णव हुए और उन्होंने सारे असम प्रान्तमें धर्मोपदेश, नाट्य, संगीत, चित्रकारी आदि द्वारा समाजशुद्धिका और संस्कृति-विस्तारका काम दीर्घकाल तक किया। इसी तरह चैतन्य महाप्रभुके वैष्णव धर्मका प्रचार मणिपुरकी तरफ हुआ। शंकरदेवका प्रभाव असम प्रान्तके पर्वतीय लोगोंमें पड़ना अभी बाकी है।

अहिंसा-धर्मकी ताजी और सबसे बड़ी बाढ़ महात्मा गांधीजीके सत्याग्रह-स्वराज्य-आन्दोलनसे असम प्रान्तमें पहुंची। उसका अधिकसे अधिक असर पड़ना

चाहिये खासी, नागा, मिशमी, अबोर, डफला आदि पहाड़ी जातियों पर। इसके लिए शिलांग, कोहीमा, मणिपुर, सादिया आदि प्रधान केन्द्रोंके इर्दगिर्द अनेक आश्रमोंकी स्थापना करना जरूरी है।

इनमें सादिया एक ऐसा स्थान है जिसके आसपास ब्रह्मपुत्रसे मिलनेवाली अनेक नदियों और उपनदियोंका पंखा बनता है। नोआ डिहंग, टेंगापानी, लोहित, डिगारू, देवपाणो, कुण्डिल, डिबंग, सेसेरी, डिहंग, लाली आदि अनेक नदिया अपना पानी दे देकर ब्रह्मपुत्रको जलपुष्ट बनाती है। सादियासे अनेक रास्ते अनेक दिशामें जाकर अनेक वन्य जातियोंकी सेवा करते हैं। खुद सादियाके इर्दगिर्द जो चुलेकाटा मिशमी लोग रहते हैं वे स्वभावके सौम्य है। इसलिए शायद उनके अदर सभ्य समाजके कई दुर्गुण और रोग फैल गये हैं। मूल ब्रह्मपुत्रका उत्तरी नाम दिहंग है। उसके भी ऊपर जब वह मानस सरोवरसे निकलकर हिमालयके समानांतर पूरबकी ओर बहनी आती है, तब उसे सानपो कहते है।

इन सब नदियोंके किनारे हमारे जो पहाड़ी भाई रहते हैं उनको अपनाना हमारा परम कर्तव्य है। यह काम सरकारके जरिये पूरी तरह नही होगा। उसके लिए परशुराम और बुद्धके जैसे सस्कृतिधुरीण महापुरुषोकी आवश्यकता है। अर्थात् उनके पास नयी दृष्टि, नयी शक्ति और नया आदर्श होना चाहिये।

यह सारा काम कौन करेगा? भारतके नवयुवकोका और युवतियोका यह काम है। ईसाई मिशनरियोंने अपनी दृष्टिसे भला-बुरा बहुत कुछ काम किया है। उनकी नीयत हमेशा साफ रही है, ऐसा भी हम नही कह सकते। ऐसी हालतमे देशके नेताओंको चाहिये कि वे दीर्घ दृष्टिसे इन सब स्थानोका निरीक्षण करे और नवयुवकोंको मानवताके नाममे शुद्ध सस्कृतिकी प्रेरणा देनेके लिए इस प्रदेशमे भेजे।

वर्धा, २१—३—५०

५५. दो मद्रासी बहनें

इन दो बहनोंके प्रति मेरी असीम सहानुभूति है। मद्रास शहरने जैसा इनका महत्त्व बढ़ाया है, वैसी ही इनकी उपेक्षा भी की है।

यों तो मद्रास शहरका महत्त्व भी कृत्रिम है। न उसके पास कोई सुन्दर पर्वत है, न कोई महानदीकी खाड़ी है। तिजारतकी दृष्टिसे या फौजी दृष्टिसे मद्रासका कोई असली महत्त्व नही है। लेकिन इतिहास-क्रमके कारण अंग्रेजोंको यही स्थान पसन्द करना पड़ा। यहाके स्थानिक लोगोंका प्रेम इस शहरके प्रति कम था ऐसा तो कोई नही कह सकता। जिन भारतीयोंने या धीवर आदिवासियोंने इस शहरका नामकरण 'चन्नपट्टनम्' यानी सुवर्णनगरी किया होगा, क्या उन्होंने इस शहरके

भाग्यके बारेमें पहलेसे सोचा होगा ?

कुछ भी हो; जबसे अंग्रेजोंने यहां अपनी कोठी डाली तबसे इस शहरका भाग्य और वैभव बढ़ता ही गया है और ऐसे शहरकी सेवा करनेवाली इन दो बहनोंका भाग्य भी बदलता गया है। एकका नाम 'कूवम्' और दूसरीका नाम है 'अड्यार'। ये दोनों नदियां पूर्वगामी होकर बंगालके उपसागरसे यानी पूर्व-समुद्रसे मिलती हैं।

मद्रास और उसके इर्दगिर्दकी भूमि बिलकुल समतल है। यहां छोटे-बड़े अनेक तालाब व सरोवर हैं। लेकिन अब उनकी कोई शोभा नही रही।

तर्क-बुद्धि कहती है कि जमीन अगर समतल हो और पथरीली न हो, तो नदी-को अपना पात्र सीधा खोदनेमें या चलानेमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। लेकिन नदियोंका ऐसा नहीं है। कुछ हद तक नदी एक ओर झुकेगी, वहांसे थककर मोड़ लेगी और दूसरी ओर पहुंच जायेगी। फिर आगे बढ़ते हुए दिशा बदल देगी। और इस तरह नागमोड़ी वक्रगतिसे आगे बढ़ती जायगी।

पहाड़ी नदियोंकी तो लाचारी होती है। पर्वत और टेकरियोंके बीच जहांसे मार्ग मिले, उसी मार्गसे जानेके लिए वे बाध्य होती हैं। तीस्ता कहेगी, "मैं स्वभाव-से नागिनी नहीं हूं। वक्रगति मेरा स्वभाव नहीं, किन्तु वह मेरा भाग्य है।" काश्मीरमें बहनेवाली वितस्ता या झेलम अपना ऐसा बचाव नही कर सकेगी। करीब-करीब चक्राकार घूमते जाना और आगे बढ़नेका तनिक भी उत्साह नहीं रखना, यह है काश्मीर-तल-वाहिनी वितस्ताका स्वभाव। बिहारमें बहनेवाली असंख्य नदियोंके बारेमें भी यही कहा जा सकता है। किसी समय मुझे बिहार प्रांतमें अनेक जगह हवाई जहाजसे यात्रा करनी पड़ी थी। पता नही कितनी बार बिहारके आकाशको मैंने अनेक दिशाओंसे बीध दिया होगा। हवाई-जहाजकी दूर-दूरकी लम्बी यात्रामें भी काफी ऊंचाईसे मैंने बंगाल और बिहारकी नदियां देखी हैं और उनका वक्र-मार्ग-नैपुण्य देखकर उनका आदर किया है।

भारत-भूमिका एक बड़ा मानचित्र बनाकर उस पर अगर केवल नदियोंके मार्गकी रेखाएं खींची जायें तो वह वक्र-रेखाओंका महोत्सव बड़ा ही चित्ताकर्षक होगा। नदीको दाहिनी ओर और बायीं ओर मुड़े बिना संतोष ही नहीं होता। एक ओरके ऊंचे किनारेको घिसते जाना और दूसरी ओरके निम्न किनारेको हर साल डुबोकर कुछ समयके लिए वहां जल-प्रलयका दृश्य खड़ा करना यह नदियोंकी वार्षिकी क्रीड़ा ही है।

लेकिन जब नदियां बड़े-बड़े शहरोंकी बस्तीमें फंस जाती हैं, अथवा दयालु होकर अपने दोनों ओर मनुष्यको बसने देती हैं, तब उनका यह स्वच्छंद विहार सदाके लिए बंद हो जाता है और तबसे उनका जीवन तांगा खींचनेवाले घोड़ेके जैसा हो जाता है। ऐसी हालतमें नदियां अगर अपना मोड़ कायम रखें तो भी उन-

की शोभा तो नष्ट हो ही जाती है।

लंदनमें टेम्स नदी, पेरिसमें सीन नदी और लिस्बनमें टेगस नदी इन तीनोंको बंधन-दुर्दशा देखकर मेरा हृदय कई बार रोया है। और जब मानिनी और स्वच्छंद विहारिणी नील-नदी लाचार होकर अल्काहेरा (कायरो) शहरके बीचसे जाती है, तब तो दुःखके साथ क्रोध भी जाग्रत होता है। और नदीका अपमान करनेवाली मानव-जातिका शासन कैसे किया जाय ऐसे विचार भी मनमें उठते हैं।

अड्यार और कूवम् इन दोमेंसे कूवम्को बंधनका दुःख ज्यादा सहन करना पड़ा है, क्योंकि वह शहरके बीचसे घूमती है। अड्यार शहरके दक्षिण किनारे पर होनेसे उसे कुछ अवकाश मिला है।

लेकिन—यहां पर भी लेकिन आ गया है—जहां मनुष्यने अपमान नहीं किया, वहां सरिताका इस सरित्पतिने अपमान किया है। बेचारी उत्साहके साथ समुद्रको मिलने जाती है और बेकदर समुद्र ऊंची-ऊंची लहरोंके साथ रेत ला-लाकर उसके सामने एक बहुत बड़ा बांध या सेतु खड़ा कर देता है।

देवी वासंतीका ब्रह्मविद्या-आश्रम जब सबसे पहले मैं देखने गया था, तब सागर-सरिता-संगमकी भव्यता देखने हेतु नदीके मुख तक पहुंच गया था और क्या देखता हूं—खंडिता अड्यार अपना पानी ला-लाकर मार्ग-प्रतीक्षा कर रही है और समुद्र अपने खड़े किये हुए बांधके उस ओर लहरोंका विकट हास्य हंस रहा है। समुद्रके प्रति मनमें क्रोध तो आया ही। क्या इसमें तनिक भी दाक्षिण्य नहीं है? थोड़ा-सा तो मार्ग देता। लेकिन सरिता और सरित्पतिके बीच फैले हुए सेतु परसे चलते चलते मनमें यही विचार आया कि अड्यारके अपमानमें मैं भी शरीक हूं। सेतु पर से उस पार जानेके बाद वापस तो आना ही पड़ा। उसके बाद आज तक कई बार मद्रास गया हूं, भगवती अड्यारका दर्शन भी किया है, लेकिन उस बांध परसे जानेका जी ही नहीं हुआ।

कूवम्के पानीसे अड्यारका पानी ज्यादा स्वच्छ मालूम होता है। वहांकी हवा स्वच्छ होनेसे पानी चमकीला भी दीख पड़ता है। इस नदीके बीच उत्तरकी ओर एक लक्ष्मीपुत्रका सफेद प्रासाद है। वह नदीकी शोभाको भ्रष्ट नहीं करता। नदीके कारण वह ज्यादा उठावदार हो गया है।

मैं जब जब अड्यार गया हूं, उसके किनारेके नारियलका मीठा पानी मैंने पिया है और उसीको उस लोकमाताका प्रसाद माना है। अड्यारके साथ कूवम्का दर्शन भी होता ही है। लेकिन उसके लिए तो आज तक मनमें दया ही दया पैदा हुई है, हालांकि मद्रासके सेंट जॉर्ज फोर्टके कारण उसकी शोभा साधारण कोटिकी नहीं है।

अंग्रेजोंने अड्यारसे लेकर कूवम् तक एक छोटी नहर दौड़ायी है; जिसे उन्होंने 'बकिंगहेम केनाल' का नाम दिया है। इस केनालसे क्या लाभ हुआ है सो तो मैं नहीं जानता। लेकिन उसका नाम जितनी दफा मैंने सुना उतनी दफा वह मुझे

अखरा ही है।

ये नदियां मद्रास शहरके बीच न होती तो शायद इन्हें मैं श्रद्धांजलि भी नहीं दे पाता। लेकिन इनका माहात्म्य और सौन्दर्य बढ़ानेका काम मद्रासके हाथों नहीं हो सका। मद्रासने इनसे सेवा ली, लेकिन इनकी सेवा नहीं की, यह विषाद तो मद्रासके बारेमें मनमें रह ही जाता है।

२ जून, १६५७

५६. प्रथम समुद्र-दर्शन

पिताजीका तबादला सातारासे कारवार हो गया और हम लोगोंने सातारासे हमेशाके लिए बिदा ली। घर पर नरशा नामका एक बैल था। उसे हमने मामाके घर बेलगुंदी भेज दिया। महादूको छुट्टी देनी ही पड़ी। बेचारेने रो-रो कर आंखे सुर्ख कर लीं। नौकरानी मथुराको छोड़ते समय मांने उसको अपनी एक पुरानी किन्तु अच्छी साड़ी दे दी और उसने हम सबको बहुत दुआयें दीं। घरके बहुत सारे सामान-असबाबको ठिकाने लगाकर हम पहले शाहपुर गये और वहां कुछ रोज रह-कर वेस्टर्न इण्डिया पेनिनशुलर रेलवेसे मुरगांव गये। रास्तेमें गुंजीके स्टेशन पर पानीके फव्वारे छूट रहे थे, जिन्हें देखनेमें हमें बड़ा मजा आया। लोंढ़े पर गाड़ी बदल कर हम डब्ल्यू० आई० पी० रेलवेके डिब्बेमें बैठ गये।

गोवा और भारतकी सरहद पर कैसल रॉक स्टेशन है। वहां पर कस्टमवालोंने हम सबकी तलाशी ली। हमारे पास चुंगीके लायक भला क्या हो सकता था? लेकिन सफरमें बच्चोंके खानेके लिए डिब्बे भर-भरकर छोटे-बड़े लड्डू लिये थे। उन्हें देखकर कस्टमके सिपाहीके मुंहमें पानी भर आया। उसने निःसंकोच लड्डू हमसे मांग ही लिये। वह बोला, "आपके ये लड्डू हमें खानेको दे दीजिये।" मैंने सोचा कि हमारे लड्डू अब यहीं पर खतम हो जायेंगे। मांका दिल पिघल गया और वह बोली, ले भैया, इसमें क्या बड़ी बात है?" लेकिन पिताजीने बीचमें दखल देते हुए कहा, "दूसरे किसीको भी दे दो, लेकिन इस सिपाहीको देना तो रिश्वत देने जैसा है।"

सिपाही बोला, "हम किसीसे कहने थोड़े ही जायेंगे? आपके पास चुंगीके लायक चीजें मिली होती और हमने आपसे चुगी वसूल न की होती, तो आपका लड्डू देना रिश्वतमें शुमार हो जाता।"

पिताजीका कहना न मानकर मांने उन तीनोंको एक-एक बड़ा लड्डू दिया। घीमें तले हुए चीनीकी चाशनीमें पगे हुए लड्डू उन बेचारोंने शायद उससे पहले कभी खाये न होंगे। उन्होंने लड्डुओंके टुकड़े अपने मुंहमें ठूंसकर अपने गालोंके

लड्डू बना लिये।

पिताजीकी ओर देखकर मां बोली, "क्या मैं घरके चपरासियोंको खानेको नहीं देती थी? ये तो मेरे लड़कोंके समान हैं। इन्हें खानेको देनेमें शर्म किस बातकी? आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसीने मुझसे कुछ मांगा हो और मैंने देनेसे इनकार किया हो। आज ही आपकी रिश्वत कहांसे टपक पड़ी?"

कैसल रॉकसे लेकर तिनई घाट तककी शोभा देखकर आंखें तृप्त हो गयीं। यह कहना कठिन है कि उसमें देखनेका आनन्द अधिक था या एक-दूसरेको बतानेका। हमने दाहिनी तरफकी खिड़कियोंसे बायीं तरफकी खिड़कियों तक और फिर बायीं तरफकी खिड़कियोंसे दाहिनी तरफकी खिड़कियों तक नाच-कूदकर डिब्बेमें बैठे हुए मुसाफिरोंके नाकों-दम कर दिया।

फिर आया दूध-सागरका प्रपात। वह तो हमसे भी जोरशोरसे कूद रहा था। हमने इससे पहले कोई जल-प्रपात नहीं देखा था। इतना दूध बहता देखकर हमको बड़ा मजा आया। हमारी रेलगाड़ी भी बड़ी रसिक थी। प्रपातके बिलकुल सामनेवाले पुल पर आकर वह खड़ी हुई और पानीकी ठंडी-ठंडी फुहार खिड़कीमेंसे हमारे डिब्बेमें आकर हमको गुदगुदाने लगी। उस दिन हम सोनेके समय तक जलप्रपातकी ही बातें करते रहे।

हम मुरगांव पहुंच गये। आजकल मुरगांवको लोग मार्मागोवा कहते हैं। हम स्टेशन पर उतरे और रेलकी बहुतसी पटरियोंको लांघकर एक होटलमें गये। वहां भोजन करनेके बाद मैं इधर-उधर पड़ी हुई सीपियां लेकर खेलने लगा। इतनेमें केशू दौड़ता हुआ मेरे पास आया। उसकी विस्फारित आंखें और हांफना देखकर मुझे लगा कि उसके पीछे कोई बैल पड़ा होगा।

उसने चिल्लाकर कहा, 'दत्तू, दत्तू जल्दी आ! जल्दी आ! देख, वहां कितना पानी है! अरे फेंक दे वे सीपियां। समुद्र है समुद्र! चल मैं तुझे दिखा दूं।' बचपनमें एकका जोश दूसरेमें आ जानेके लिए उसके कारणको जान लेनेकी जरूरत नहीं हुआ करती। मुझमें भी केशू जैसा जोश भर गया और हम दोनों दौड़ने लगे। गोंदूने दूरसे हमको दौड़ते देखा तो वह भी दौड़ने लगा; और हम तीनों पागल जोर-जोरसे दौड़ने लगे।

हमने क्या देखा! सामने इतना पानी उछल रहा था जितना आज तक हमने कभी नहीं देखा था। मैं आश्चर्यसे आंखें फाड़कर बोला, 'अबबबब...! कितना पानी!' और अपने दोनों हाथोंको इतना फैलाया कि छातीमें तनाव पैदा हो गया। केशू और गोंदूने भी अपने-अपने हाथोंको फैला दिया। अगर उस हालतमें पिताजीने हमको देख लिया होता, तो उन्होंने कैमरा लाकर हमारी तस्वीरें खींच ली होतीं। 'कितना पानी है! इतना सारा पानी कहांसे आया? देखो तो, धूपमें कैसा चमकता है!' हम एक-दूसरेसे कहने लगे। बड़ी देर तक हम समुद्रकी तरफ देखते

रहे फिर भी जी नहीं भरा। अब इस पानीका किया क्या जाय ? बिलकुल क्षितिज तक पानी ही पानी फैला हुआ था और उससे चुप भी नहीं रहा जाता था। उसके साथ हम भी नाचने लगे और जोर-जोरसे चिल्लाने लगे, "समुद् द्र ! समुद् द्र ! ! समुद् द्र ! ! !" हर बार 'समुद्र' शब्दके 'मुद्र' को अधिकसे अधिक फुलाकर हम बोलते थे। समुद्रकी विशालता, लहरोंके खेल और दिगन्तकी रेखाका दृश्य पहली ही बार देखनेको मिला। इससे हमें जो अत्यधिक आनन्द हुआ उसे प्रकट करनेके लिए हमारे पास अन्य कोई साधन ही न था। जिस तरह समुद्रकी लहर उभरकर, फ़ूलकर फट जाती है, उस तरह हम समुद्रकी रट लगाकर तालके साथ नाचने लगे; लेकिन हम लहरें तो थे नहीं, इसलिए अन्तमें थक कर इधर-उधर देखने लगे तो एक तरफ एक-एक कमरे जितनी बड़ी ईंटें चुनी हुई हमने देखीं। उनमेंसे कुछ टेढ़ी थीं तो कुछ सीधी। उस समय मुझे दुकानमे रखी हुई साबुनकी बट्टियों और दिया-सलाईकी डिब्बियोंकी उपमा सूझी। वास्तवमें वह मुरगांवका चह था, जो बड़ी-बड़ी ईंटोंसे बनाया गया था। शिवजीके सांड़की तरह समुद्रकी लहरें आ-आकर उस चहके साथ टक्कर ले रही थीं।

हम घर लौटे और समुद्र कैसा दिखता है उसके बारेमें घरके अन्य लोगोंको जानकारी देने लगे। समुद्रके नक्कारखानेमें बेचारे दूध-सागरकी तूतीकी आवाज अब कौन सुनता ?

सूर्य समुद्रमें डूब गया। सब जगह अंधेरा फैल गया। हम खाना खाकर चहके साथ लगे हुए जहाज पर चढ़ गये। लोहेके तारोंका जो कठड़ा जहाजमें होता है, उसके पासकी बेंच पर बैठकर गोंदू और मैं यह देखने लगे कि ऊंट जैसी गर्दनवाले भारी बोझ उठानेके यंत्र (क्रेन) बड़े-बड़े बोरोंको रस्सोंसे बाधकर कैसे ऊपर उठाते हैं। और एक तरफ रख देते हैं। हमारे सामनेके क्रेनने एक बड़े ढेरमेंसे बोरे निकालकर हमारे जहाजके पेटको भर दिया। यंत्रोंकी घर्र घर्र आवाजके साथ साथ मल्लाह जोर-जोरसे चिल्लाते, 'आबेस ! आबेस !—आप्या ! आप्या !' जब वे'आबेस' कहते तब क्रेनकी जंजीर कस जाती और 'आप्या' कहते तब वह ढीली पड़ जाती। कहते हैं कि ये अरबी शब्द हैं।

हम यह दृश्य देखनेमें मशगूल थे कि इतनेमें हमारे पीछेसे मानो कानमें ही 'भों ओं ओं···' की बड़े जोरकी आवाज आयी। हम दोनों डरके मारे बेंचसे झट कूद पड़े और पागलकी तरह इधर-उधर देखने लगे। हमारे कानोंके परदे गोया फटे जा रहे थे। इतने नजदीक इतने जोरकी आवाज बर्दाश्त भी कैसे हो ? कहां तो दूरसे सुनाई देनेवाली रेलकी 'कू···ऊ···ऊ···'वाली सीटी और कहां यह भैंसकी तरह रेंकनेवाली 'भों ओं···'की आवाज ! आखिरकार वह आवाज रुक गई; लकड़ीका पुल पीछे खींच लिया गया, आने-जानेके रास्ते परसे निकाला हुआ कंटीला कठड़ा फिरसे लगा दिया गया और 'धस धस' करते हुए हमारे जहाजने

किनारा छोड़ दिया। देखते-देखते अंतर बढ़ने लगा। किसीने रूमालको हवामें फहराकर तो किसीने सिर्फ हाथ हिलाकर एक-दूसरेसे बिदा ली। ऐसे मौकों पर चंद लोगोंको कुछ-न-कुछ भूली हुई बात जरूर याद आ जाती है। वे जोर-जोरसे चिल्लाकर एक-दूसरेको वह बताते हैं और दूसरा आदमी उसकी तसल्लीके लिए 'हां हां' कहता रहता है, फिर भले उसकी समझमें खाक भी न आया हो।

जमीनसे हमारा संबंध कट गया। और हम समुद्रके पृष्ठ पर जहाजके जरिये आगे बढ़ने लगे। यह सब मजा देखकर हम अपनी-अपनी जगहों पर बैठ गये। जहाजमें सब जगह बिजलीकी बत्तियां थीं। रेलमें अलग ढंगके दीये थे। वहां खोपरेके और मिट्टीके मिले हुए तेलमें जलनेवाली बत्तियां कांचकी हंडियोंमें लटकती रहती थी। यहां दीवारोंमें छोटे-छोटे कांचके गोलोंके अंदर बिजलीके तार जलकर धीमी रोशनी दे रहे थे।

समुद्रका और समुद्र-यात्राका वह हमारा प्रथम अनुभव था।

५७. छप्पन सालकी भूख

सन् १८९३ के करीब मैं पहली बार कारवार गया था। मार्मागोवा बंदरगाह परसे जब मैंने पहली बार चमकता समुद्र देखा, तब मैं अवाक् हो गया था। रातको नौ बजे हम स्टीमरमें बैठे। स्टीमरने किनारा छोड़कर समुद्रमें चलना शुरू किया और मेरा दिमाग भी अपना हमेशाका किनारा छोड़कर कल्पना पर तैरने लगा। सुबह हुई और हम कारवार पहुंचे। स्टीमरसे नावमें उतरना आसान न था। प्रत्येक नावके साथ उलांडियां (outriggers) बंधी हुई थी। मेरे मनमें सवाल उठा कि जान-बूझकर इस तरहकी असुविधा क्यों की होगी? बादमें मैं उलांडियों की उपयोगिताको समझ सका।

सफरकी थकान उतरते ही हम समुद्रके किनारे फिरने जाने लगे। किनारे परसे समुद्रमें तीन पहाड़ दिखाई देते थे। उनमेंसे एक देवगढ़का था, दूसरा मधलिग गढ़का और तीसरा था कूर्मगढ़का। देवगढ़ पर दीप-स्तंभ था। यह उसकी विशेषता थी। इस दीप-मीनारके पास एक पतली ध्वज-डंडी मुश्किलसे दीख पड़ती थी। समुद्र-किनारे खेलते-खेलते थक जानेके बाद दीप-मीनारका जलता दीया सर्व प्रथम देखनेकी हमारे बीच होड़ लगती थी। कभी-कभी मनमें यह विचार उठता था कि पानीके इसी विशाल पट परसे जब हम कारवार आये तब रातको स्टीमरमेंसे देवगढ़ क्यों न देखा?

किसी स्टीमरके आनेके वक्त देवगढ़की ध्वज-डंडी पर लाल ध्वज चढ़ाया जाता था। उसे देखकर कारवार बंदरगाहके नजदीकी ध्वज-डंडी पर भी ध्वज

चढ़ाया जाता था। यहांका आदमी दूरबीन लेकर देवगढ़की ओर ताकता रहता था। वहां ध्वज दिखाई देने पर वह यहां भी ध्वज चढ़ाता था। कभी-कभी मैं दूर देवगढ़ पर चढ़ा हुआ ध्वज देख सकता था और भाई गोंदूको आश्चर्यचकित कर देता था।

एक दफा मैंने पिताजीसे पूछा, "देवगढ़पर दीया कौन जलाता है? ध्वज कौन फहराता है?" उन्होंने जवाब दिया, "वहां एक खास आदमी रखा गया है। शाम होते ही वह दीया जलाता है। दूरसे आती हुई आगबोटको देखकर वह ध्वज चढ़ाता है। देवगढ़का दीया देखकर नाविकोंको पता चलता है कि कारवारका बंदरगाह आ गया। वे जानते हैं कि दीयेके नीचे चट्टान है। इसलिए वे दीयेके पास नहीं जाते।"

"दीप-मीनारकी संभाल करनेवाले मनुष्यके लिए खानेकी क्या सुविधा होगी? वह मीठा पानी कहांसे लाता होगा?" मैंने सवाल किया।

"नावमें बैठकर खाने-पीनेकी सब चीजें वह कारवारसे ले जाता है। देवगढ़ पर शायद टांका या कुआं होगा, जिसमें बारिशका पानी जमा कर रखते होंगे।"

"क्या हम वहां नहीं जा सकते? चलें, हम भी एक दफा वहां हो आयें। वहां हमेशा रहनेमें तो कैसा मजा आता होगा। शाम होते ही दीया जलाना; और आगबोटकी सीटी बजते ही ध्वज चढ़ाना। बस, इतना ही काम? बाकीका सारा समय अपना! हम जिस तरह चाहें व्यतीत कर सकते हैं। न कोई हमसे मिलने आयेगा, न हम किसीसे मिलने जायंगे। चलें, एक दफा हम वहां हो आयें।"

पिताजीने हमारे घरके मालिक रामजीसेठ तेलीसे पूछा। उन्होंने अपने जहाज के कप्तानसे बातचीत की। और दूसरे ही दिन देवगढ़ जाना तय हुआ। हम सब गाड़ीमें बैठकर बंदरगाह पर गये। बड़ी किश्तीमें बैठने पर खूब मजा आया। पाल फैले और डोलते-डोलते हम चले। जहाज सुन्दर डोलता था, लेकिन जल्दी आगे बढ़नेका नाम न लेता था। बहुत समय लगा तो पिताजीने रामजीसेठसे कारण पूछा। रामजीसेठने कप्तानसे पूछा। उसने कहा, "पवन अनुकूल नहीं है, टेढ़ा है। पवनकी दिशाका खयाल करके पाल चढ़ाये गये हैं। जहाज आगे बढ़ता है, लेकिन देवगढ़ पहुंचते-पहुंचते शाम हो जायेगी।" मुझे तो कोई आपत्ति न थी। सारा दिन डोलनेका आनन्द मिलेगा और शाम होते ही दीप-मीनारका दीया नजदीकसे देखनेको मिलेगा। लेकिन् इतनी अच्छी बात पिताजीके ध्यानमें नहीं आयी। उन्होंने कहा: "यह तो ठीक नहीं है।" कप्तानने कहा, "पवन प्रतिकूल है। इसके सामने हम क्या करें? थोड़ी दूर जानेके बाद यदि यही पवन जोरसे बहने लगा तो इतना अंतर काटना भी मुश्किल है।" रामजीसेठने पिताजीसे पूछा, "अब क्या करें?" पिताजीने कहा, "और कोई उपाय ही नहीं है। वापस जायेंगे।"

हुक्म हुआ, "वापस चलो।" पालोंकी व्यवस्था बदल दी गयी। किस तरह

यह सब परिवर्तन किया जाता है, यह देखनेमें मैं मशगूल था। इतनेमें हमारा जहाज धक्के तक वापस आ पहुंचा। इतनी दूर जानेमें एक घंटा लगा था। लेकिन वापस आनेमें पांच मिनट भी न लगे! घर लौटते वक्त सिर्फ तांगेके घोड़े ही जल्दी नहीं करते।

हम जैसे गये वैसे ही खाली हाथ लौट आये। फीके मुंह मैं घर आया, मानो अपनी फजीहत हुई हो। सहपाठियोंसे मैंने इतना भी न कहा कि हम देवगढ़ जानेको निकले थे।

इसके बाद करीब पांच साल तक मैं कारवारमें रहा। लेकिन फिर कभी मैंने देवगढ़ जानेकी कोशिश नहीं की। सूर्यास्तके समय देवगढ़का दीया दिखने पर मैं अपने मनसे यह सवाल पूछता था कि उस परीके देशमें क्या होगा? चालीस वर्षके बाद, यानी आजसे दस वर्ष पहले फिर एक दफा मैं कारवार गया था लेकिन तब भी देवगढ़ नहीं जा सका।

इस बार यह निश्चय करके ही कारवार गया कि देवगढ़ देखे बिना नही लौटूंगा। वहांके मित्रोंसे मैंने कह दिया था कि देवगढ़के लिए एक दिन जरूर रखें।

देवगढ़में देखने लायक खास तो कुछ नहीं है। लेकिन छप्पन सालका बचपनका मेरा संकल्प देवगढ़के साथ संलग्न था। उसको मुक्त करनेकी जरूरत थी।

देवगढ़ कारवारके किनारेसे लगभग तीन मील दूर समुद्रमें आया हुआ एक बेट है। कारवार बंदरगाहकी यह सबसे बड़ी शोभा है। समुद्रकी सतहसे पहाड़ीकी ऊंचाई २१० फुट है और उस परकी दीप-मीनार ७२ फुट ऊंची है।

शराबबंदीके कारण कस्टमवालोंको समुद्रका पहरा देना पड़ता है। उसके लिए उनके पास एक वाफर[1] होती है। उसके द्वारा हमें ले जानेकी व्यवस्था की गई थी। हमारा यह सैरका कार्यक्रम दूसरे कर्तव्यरूप कार्यक्रमोंके आड़े न आवे इसलिए हम सुबह जल्दी उठे और बंदरगाह पर पहुंच गये। हम इतने अरसिक नहीं थे कि सुबहकी प्रार्थना और जलपान घर पर करते। खलासी लोग जरा देरसे आये, अतः घोड़ेकी तरह दौड़ती हुई हमारी वाफरके तालके साथ चल रही हमारी प्रार्थना सुननेके लिए कारवारके पहाड़के पीछेसे सविता नारायण भी आ पहुंचे। सविता नारायणको जन्म देकर कृतार्थ प्राची कितनी खिल उठी थी! समुद्रका पानी भी प्राचीकी प्रसन्नताके कारण चमकती लहरोंके साथ आया था। मैंने जमीनकी ओर देखा। दाहिनी ओर कारवारका बंदरगाह छोटी-बड़ी नौकाओंको जगाता था और खेलाता था। उसके पासकी घाटीके नारियलके पेड़ पवनकी राह देखते खड़े थे। शनिवारकी तोप, जो आजकल छूटती नहीं है, ध्वजदंड परसे मुंह फाड़कर नाहक डराती थी। उसके बाद सरोंके पेड़ कारवारकी चौड़ाईको नापते हुए काळी

१ भापके इंजिनसे चलनेवाली नाव-स्टीमलांच।

नदी तक फैले थे। जिस तरह भारतीय युद्धके राजा विश्वरूपके मुंहमें दौड़े, उसी तरह तीन-चार जहाज काळी नदीके मुंहमें घुस रहे थे और सदाशिव-गढ़का पहाड़ सहज भ्रू संकोच करके सारे प्रदेशकी रक्षा करता था।

प्रार्थना पूरी होने पर हमारी वाफरने समुद्रकी पीठ पर जो रास्ता आंका था और उस पर जो डिज़ाइन शीघ्रतासे अदृश्य हो रही थी उस ओर मेरा ध्यान गया; उस डिज़ाइनमें मुक्तवेणीकी हरेक खूबी प्रकट हुई थी।

आपको देवगढ़ दिखाये बगैर रहूंगा ही नही, ऐसा निश्चय करके व्यवस्थाके सब ब्योरोंकी ओर सावधानीसे ध्यान रखनेवाले भाई पद्मनाथ कामतने मुझे दक्षिण-की ओरके पहाड़की तराईके नीचे फैला हुआ चंद्रभागी किनारा दिखाया। किसी समय यूरोपियन स्त्रियां वहां नहाती होंगी। इसलिए उसका नाम Ladies Beach (युवती-तट) पड़ा है।

गोवाकी संस्कृतिमे ओतप्रोत कवि बोरकर भी हमारे साथ सफरमे आये थे। हमारे आनंदकी वृद्धि करनेके लिए भाई कामत अपने साथ चित्रकार श्री रमानंदको लाये थे। रमानंदने पिताकी और बड़े मेहमानोंकी सन्निधिमे शोभा दे ऐसी नम्रता धारण करके ठीक-ठीक आत्म-विलोपन किया था। लेकिन बीच समुद्रमे आते ही पहाड़, बादल, सूरज, पक्षी, जहाजके पाल और समुद्रकी ऊर्मिया इन सबके प्रभाव-के नीचे उनकी कलाधर आत्मा हमारी हस्तीका भान भूल गयी और वे अनेक दिनोंके भूखे किसी खाऊकी तरह आसपासके काव्यका अनिमेष दृष्टिमे भक्षण करने लगे। हमने अंगुलि-निर्देश करके उनकी ओर दूसरोंका ध्यान खीचा लेकिन इसमे उनका ध्यान नही बंटा। सिर्फ नन्ही कुन्दाकी चंचल आखें सब ओर घूमती थी।

हमारे कवि तो शास्त्रोक्त भक्तिसे हमारी प्रार्थना पूरी होनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रार्थना पूरी होते ही उन्होंने सागरकी लहरीका एक खलासी गीत छेड़ा। गीतका प्रकार चाहे खलासी ढंगका हो, लेकिन अंदरके भाव खलासी हृदयके न थे। उस गीतके द्वारा भोले खलासी नहीं बोलते थे, बल्कि मस्तीमे आये हुए कवि अपनी अभिजात भावनाके फव्वारे छोड़ रहे थे। यह सच है कि उस दिन हमारी टोलीमे कोई स्व-स्थ (Sober) न था। हिन्दू स्कूलके आचार्य श्री कुलकर्णी भी आनंदमे आ गये थे। चि० सरोजने तो अपना स्थान छोड़कर बॉयलरके आगे खड़ा रहना पसंद किया था। अपने स्वभावके प्रतिकूल जाकर उसने अग्रगामित्व स्वीकार किया था। यह देखकर मुझे आनन्द हुआ। मैंने उसको मंचर सरोवरमें काव्यका पान किये हुए नारायण मलकानीकी याद दिलाई। इतने संकेतसे ही हम दोनों सारी वस्तुस्थितिका मूल्यांकन कर सके!

समुद्रके पानी परसे आने-जानेके अनेक प्रकार हैं और हरेक प्रकारमे अलग-अलग रस होता है। लहरोंके थपेड़े खाते हुए बाहुबलसे तैरते-तैरते दूर अंदर तक

जानेमें एक प्रकारका आनंद है। छातीके नीचे उछलती लहरों पर सवार होनेका लुत्फ जिसने उठाया है वह कभी उसको भूल नहीं सकता। नदीके पानीकी तरह समुद्रका पानी हमें डुबा देनेके इंतजारमें नहीं रहता। समुद्रका पानी किसीका भोग लेगा तो निरुपाय होकर ही। नहीं तो उसकी नीयत हमेशा तैराकोंको तारनेकी ही रहती है।

संकरी और लम्बी नावमें बैठकर एक ही डांडसे हरेक लहरके सामने चढ़-उतर करना एक दूसरा आनंद है। दो लहरोंके बीच नाव टेढ़ी हो जाय तो मुसीबतमें आ जायेंगे। इतना अगर संभाल लिया तो समुद्रके आनंदके साथ एकरूप होनेके लिए इससे अधिक अच्छा साधन मिलना मुश्किल है।

बड़ी नावमें दो-दोकी टुकड़ीमें बैठकर बल्ले मारनेका सांघिक आनंद आनंदका तीसरा प्रकार है। हम मौन धारण करके यह आनंद नहीं लूट सकते। तालका नशा इतना मादक होता है कि उससे गायन अचूक फूट निकलता है।

वाफरमें बैठनेका आनंद इन तीनोंसे कुछ कम है। वह इसलिए कि उसको चलानेमें मानवका बाहुबल बिलकुल खर्च नहीं होता। नियंत्रण-चक्र हाथमें पकड़नेवालेकी भुजाको कसरत होती है। उतने ही पुरुषार्थका अवकाश वाफरमें मिलता है। लेकिन वाफरके द्वारा पानीको चीरते हुए जानेका आनंद सारे शरीरको मिलता है। वाफर जब सीधी दौड़ती जाती है तब उसकी गति हमारी रग-रगमें पहुचती है। मोटर चलानेके आनंदसे वाफर चलानेका आनंद अनेक गुना बढ़कर है।

इस आनंदको लूटते-लूटते और यह विचार करते-करते कि समुद्रका पानी यहां कितना गहरा होगा, हम देवगढ़की ओर चले। मुझे एक विचार आया, जो पानी सबसे नीचे है वह ऊपरके पानीके भारसे कुचल नहीं जाता होगा? ऊपरके पानीसे नीचेका पानी अधिक गाढ़ा और घना होना ही चाहिये। अमुक मछलियां तो उस गाढ़े पानीको बींधकर नीचे उतर ही नहीं सकती होंगी। पारेके सरोवरमें अगर हम पड़ें तो लकड़ीके टुकड़ेकी तरह उसके ऊपर ही तैरते रहेंगे। अमुक प्रकारकी, मछलियोंका भी नीचेके गाढ़े पानीमें यही हाल होता होगा।

ज्यों-ज्यों देवगढ़का बेट नजदीक आता गया, त्यों-त्यों आसपासके छोटे-छोटे बेट और चट्टानें स्पष्ट दीखने लगीं। आकाश और समुद्र जहां मिलते हैं वह क्षितिज-रेखा भी आज बहुत ही स्पष्ट थी। मानो कोई सूईसे दिखा रहा है कि यहां पृथ्वी पूरी होती है और स्वर्ग शुरू होता है।

दो जहाज अपने पालमें पवन भरकर सफरको रवाना हुए थे। उन पालोंके पेटमें पवनके साथ उगते सूर्यकी किरणें भी घुस गई थीं। ऐसा महसूस होता था कि इस भारसे पाल फट जायेंगे। पाल इतने चमकते थे कि वे रेशमके हैं या हाथी-दांतके, यह तय करना मुश्किल था। जब पवन पालमें घुसता है तब केलेके पानकी डिजाइन उसमें अधिक शोभती है।

अब हम देवगढ़के बिल्कुल नजदीक आ गये थे। सारी पहाड़ी टेकरी छोटे-बड़े पेड़ोंसे ढंकी हुई थी। ऊपरकी दीप-मीनार अपना दरजा संभालकर आकाशकी ओर अंगुलि-निर्देश कर रही थी। अब वाफरके लिए आगे जाना असंभव था। बाकीका थोड़ा और छिछला अंतर काटनेके लिए हमारी वाफरने अपने साथ एक नन्हा-सा किकर बांध लिया था। उस छोटी-सी नावमें हम उतरे और बेटके किनारे पहुंचे। उतरते ही पके बेरके लाल-लाल फलोंने हमारा स्वागत किया। हम ऊपर चढ़ते-चढ़ते बड़े-बड़े वृक्षोंकी शाखाएं तथा बरगदकी जड़ें निहारते-निहारते दीप-मीनार-की तलहटी तक पहुंचे। दीप-मीनारके दीपकार एक भले मुसलमान थे। उन्होंने हमारा स्वागत किया। बेट पर दीप-मीनारके कारण कुछ लोग रहते थे। उनके कारण थोड़े बकरे और मुरगे भी रहते थे (और समय-समय पर बा-कायदा मरते भी थे)। समुद्र किनारेसे उड़ते-उड़ते आकर यहांके पेड़ों पर आराम करनेवाले और प्राकृतिक काव्यके फव्वारे छोड़नेवाले पक्षी तो ऋषि-मुनियोंके जैसे ही पवित्र माने जाने चाहियें।

वाफरमें बैठकर हमने सुबह आत्माकी उपासना की थी, यहां एक चट्टान पर बैठकर सबोंने पेटकी उपासना की। आसपासकी शोभा अघाकर देखनेके वाद दीप-मीनारके पेटमें होकर हम ऊपर गये।

दीयेमेंसे 'विश्वतो' निकलती किरणोंको खूबीसे मोड़कर पानीके पृष्ठभागके समानांतर उनका बड़ा प्रवाह दौड़ानेके लिए अनेक प्रकारके बिल्लोरी कांचसे बनायी हुई दो ढालोको हमने सर्वप्रथम देखा। पेराबोला और हाईपरबोलाके गणितका उसमें पूरा उपयोग किया जाता है। शंकुछेदका[१] रहस्य जो जानता है वही इसका रहस्य समझ सकेगा। उसके बाद उस दीयेका बुरका एक ओर खिसका-कर हमने दूर तक सामुद्रीय शोभा निहारी और इतनेसे संतोष न पाकर हम दीयेके आसपासकी गैलरीमें जाकर स्वतन्त्रतासे दसों दिशाएं देखने लगे।

जिस दृश्यको देखनेकी अभिलाषा मैं छप्पन सालसे सेता आया था, वह दृश्य आज देखा। आंखोंको पारण मिला। ऐसा लगता था मानो सारा बेट एक बड़ा जहाज है, दीप-मीनार उसका मस्तूल (mast) है, और हम उस पर चढ़कर चारों ओर पहरा देनेवाले खलासी हैं। यह सच है कि जहाजके मस्तूलकी तरह यह दीप-मीनार डोलती न थी, लेकिन अभी-अभी वाफरका सफर किये हुए हमारे 'पियक्कड़' दिमाग इस त्रुटिको दूर कर रहे थे।

इतनी ऊंचाईसे चारों ओर देखनेमें एक अनोखा आनंद आता है। कुतुबमीनार परसे हिन्दुस्तानकी अनेक राजधानियोंका स्मशान देखनेसे मनमें जो विषाद पैदा होता है सो यहां नहीं होता। यहांसे दिखनेवाले समुद्रमें प्राचीन कालसे आजतक

१. Conic sections.

अनेक जहाज डूब गये होंगे, लेकिन उसकी गमगीनी यहांके वातावरणमें बिलकुल नहीं दीख पड़ती। समुद्रमें भूत और भविष्यके लिए स्थान ही नहीं होता। वहां वर्तमानकाल और सनातन अनंतकाल, इन दोनोंका ही साम्राज्य चलता है। जब तूफान होता है तब लगता है कि यही समुद्रका सच्चा और स्थायी रूप है और जब आजकी तरह सर्वत्र शांति होती है तब लगता है कि तूफान तो माया है। सचमुच समुद्रका मुंह बुद्ध भगवानकी शांति और उनके उपशमको व्यक्त करनेके लिए ही सिरजा गया है।

इतने बडे समुद्रको आशीर्वाद देनेकी शक्ति पितामह आकाशमें ही हो सकती है। आकाश शांत चित्तसे चारों ओर फैल गया था और समुद्र पर रक्षणका ढक्कन ढांकता था। ढक्कन पर कुछ भी डिज़ाइन न थी; यह पक्षियोंसे सहन न होता था। अत: वे उस पर तरह-तरहकी रेखाएं खींचनेका अस्थायी प्रयत्न करते थे। जिस तरह बच्चे किसी गंभीर आदमीको हंसानेके लिए उसके सामने डरते-डरते थोड़ी वानर-चेष्टाएं करके देखते हैं, उसी तरह समुद्रका नीला रंग आकाशकी नीलिमाको हंसानेका प्रयत्न कर रहा था।

भगवानका ऐसा विराट दर्शन होते ही भगवद्‌गीताका ग्यारहवां अध्याय याद आना चाहिये था, लेकिन इतने प्राचीन कालमें जानेके पहले उत्तेजित चित्तने आरामके लिए एक नजदीकका ही प्रसंग पसंद किया। बीस साल पहले मैं लंकाके दक्खिनी छोर पर देवेन्द्रसे भी आगे मातारा गया था, तब वहांकी दीप-मीनार पर चढ़कर दोपहरकी धूपमें ऐसा ही, बल्कि इससे भी अनेक गुना विशाल, दृश्य देखा था। वहां नजरकी त्रिज्या बनाकर मनुष्य जितना चाहे उतना बड़ा वर्तुल खींच सकता था। उस वर्तुलका दक्षिणार्ध हिन्द महासागरको दिया था और उत्तरार्ध नारियलके पत्तोंकी लहरें उछालते और दोपहरकी धूपमें चमकते वनसागरको अर्पण हुआ था। यहां देवगढ़ परसे पूर्वकी ओर सूर्यनारायणके पादपीठकी तरह शोभायमान पर्वत दिखाई देता था। उसके नीचे फैला हुआ कारवारका समुद्र शांतिसे चमकता था। उस परकी नावोंकी डिज़ाइन बिलकुल हलकी-हलकी थी। और पश्चिमकी ओर तो अरबस्तानकी याद दिलाता एक अखंड महासागर ही था। यह दृश्य हृदयको व्याकुल करनेवाला था।

'नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व'—इतने ही शब्द मुंहसे निकल सके।

० ० ०

इस बीच हमारे लज्जाशील चित्रकारने एक कोनेमें बैठकर पासकी एक बड़ी चट्टानका और आसपासके समुद्रका एक चित्र खींचा। घर आते ही उन्होंने मुझे वह भेंट कर दिया। आज मेरी छप्पन सालकी भूख तृप्त हुई थी। इस प्रसंगके स्मारकके तौर पर मैंने उसको प्रसन्नतासे स्वीकार किया।

दीप-मीनारका काव्य आखिर पूर्णताको पहुंचा।

मई, १९४७

५८. मरुस्थल या सरोवर

किसी घटनाके नियमित हो जानेसे क्या उसकी अद्‌भुतता मिट जाती है ?

छः घंटे पहले पानी कहीं भी नजर नहीं आता था। उत्तरसे लेकर दक्षिण तक सीधा समुद्र-तट फैला हुआ है। पश्चिमकी ओर जहां आकाश नम्र होकर धरतीको छूता है वहां तक—क्षितिज तक—पानीका नामोनिशान नहीं है, एक भी लहर नहीं दीखती। यह स्थान पहली बार देखनेवालेको लगेगा कि यह कोई मरुस्थल है। बारिशके कारण केवल भीग गया है। या यों लगेगा कि यह कोई दलदल है, जिस पर केवल घास नहीं है। जहां तक दृष्टि पहुंच सकती है वहा तक सीधी समतल जमीन देखकर कितना आनंद मालूम होता है। ऐसी समतल जमीन तैयार करनेका काम किसी इंजीनियरको सौंपा जाय, तो उसे बेहद मेहनत करनी पड़ेगी। मगर यह है कुदरतकी कारीगरी। ऊंचे ऊंचे पहाड़ोंमें भव्यता होती है, जब कि ऐसे समतत[1] प्रदेशोंमें विशालता, विस्तीर्णता होती है। हम इस विशालताका पान करनेमे मग्न थे, इतनेमें दूर क्षितिज पर जहाजके जैसा कुछ नजर आया। जमीन पर जहाज ? क्या बात है ? इतनेमें दक्षिणसे लेकर उत्तर तक फैली हुई एक भूरी रेखा गहरी होने लगी। बीच-बीचमें उस पर सफेद लहरें दिखाई देने लगी। पानीका कटक आया। सेनापतिके हुक्मके अनुसार 'एक-कतार' में लहरें आगे बढ़ने लगी। आया, आया, पानी आगे आया ! वह आधे पट पर फैल गया ! सूरज आकाशमें चढ़ता जाता था, धूप बढ़ती जाती थी और लहरोंका उन्माद भी बढ़ता जाता था। क्या ये लहरें ईश्वरका सौंपा हुआ कोई असाधारण कार्य करनेके लिए चली आ रही हैं ? वे यमदूत जैसी नहीं, बल्कि देवदूतके जैसी मालूम होती है। जंगलमें जैसे भेड़ियोंकी टोलियां छलांग मारती, कूदती-फांदती आती हैं, वैसे ही लहरें आगे बढ़ने लगीं। जहां नीरव भीगा हुआ मरुस्थल था, वहां उछलती गरजती लहरोका सागर फैल गया। ज्वार पूरे जोशमें आ गया। लहरें आती हैं और किनारेसे टकराती हैं। जरा ताककर उनकी ओर घंटे आधे घंटे तक देखते रहिये, तुरन्त मनमें स्फुरित होगा कि लहरें जड़ नहीं बल्कि सचेतन हैं। उनका भी स्वभाव-धर्म है। चारों ओर पानी-ही-पानी दिखाई देता था। बायीं ओरके ताड़-वृक्ष पानीमें डोलने लगे। मालूम होता था मानो अभी डूब जायेंगे। भानजेको लम्बे अर्सेके बाद मिलने आया हुआ देखकर समुद्रकी मौसी मरजाद-बेल स्नेहसे तर हो गई है और लहरोंका मद तो उतरता ही नहीं है। हाथीके समान दौड़ रही हैं, और किनारे पर वप्र-क्रीड़ाका अनुभव कर रही हैं। कितना अद्‌भुत दृश्य है ! जमीन ढालू हो, उतार हो, और पानी नदीकी तरह बहता हो, तब कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता। नीचेकी

१ सम-तत—stretched evenly उदाहरणके लिए, गंगामुखके पासका सुन्दरवनका प्रदेश समतत कहलाता था।

ओर बहते रहना तो पानीका स्वभाव-धर्म है। मगर समतल भूमि पर, जहां पानी नहीं था वहां बारिश या बाढ़के बिना पानी दौड़ता हुआ आये और जमीन पर फैलता जाये, यह कितने अचरजकी बात है! जहां अभी-अभी हम दौड़ते और घूमते थे वहां पांव न जम सकें ऐसी जलाकार स्थिति कैसे हुई होगी? इतने थोड़े समयमें इतना बड़ा विपर्यास! जहां हवामें हाथ हिलाते हुए हम घूम रहे थे, वहां अब उछलती हुई लहरोंके बीच हाथकी पतवारें चलाकर तैरनेका आनंद लूट रहे हैं। मानो घोड़े पर बैठकर सैर करने निकले हों। इस ज्वारके समय यदि कोई यहां आकर देखे तो उसे लगेगा कि खारे पानीका यह छलकता हुआ सरोवर हजारों वर्षोंसे यहां इसी तरह फैला हुआ होगा। किन्तु थोड़ी देर खड़े रहकर देखनेकी तकलीफ कोई उठाये तो उसे मालूम होगा कि इतने बड़े महायुद्धके जैसे आक्रमणका भी अंत आता है। लहरोंने अपनी लीला जिस तरह फैलाई, उसी तरह उसे समेटनेका भी समय आया। ईश्वरका कार्य मानो समाप्त हुआ। ईश्वरने मानो अपनी प्राणशक्ति वापस खीच ली। अब एक-एक लहर किनारेकी ओर दौड़ती आती है, फिर भी यह साफ दिखाई दे रहा है कि पानी पीछे हट रहा है।

चला; पानी हटने लगा। क्या समुद्रके उस पार बड़ा गड्ढा है, जिसे भर देनेके लिए यह सारा पानी दौड़ता जा रहा है? आगेकी लहरोंको वापस लौटते देखकर बादमें आयी हुई लहरें बीचमें ही विरस हो जाती हैं, और दौड़-तेदौड़ते ही हंस पड़ती हैं। सागरके पानीका अंदाज भला कौन लगाये? उसे किस तरह नापें? इतना पानी आया क्यों और जा क्यों रहा है? क्या उसे कोई पूछनेवाला नही है? या कोई पूछनेवाला है इसीलिए वह इतना नियमित रूपमें आता है और जाता है? ज्यों-ज्यों सोचने लगते हैं, त्यों-त्यों इस घटनाकी अद्‌भुतताका असर मन पर होने लगता है। ज्वार और भाटा क्या चीज है? समुद्रका श्वासोच्छ्वास? उनका उपयोग क्या है? ज्वार और भाटा यदि न होते तो समुद्रका क्या हाल होता? समुद्र-जीवी प्राणियोंके जीवनमें क्या-क्या परिवर्तन होते? चंद्र और सूर्यका आकर्षण और पृथ्वीकी सतहसे सागरका विभाजन आदि चर्चाएं तो ठीक हैं; मगर इनके पीछे उद्देश्य क्या है जाननेकी ओर ही मन अधिक दौड़ता है। पर यह जिज्ञासा अभी तक तृप्त नहीं हुई है।

जितनी बार हम ज्वार और भाटा देखते हैं, उतनी ही बार वे समान रूपसे अद्‌भुत लगते हैं। और इस बातकी प्रतीति होती है कि ईश्वरकी सृष्टिमें चारों ओर वह ज्ञानमय प्रभु सनातन रूपसे विराजमान है।

'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' कहकर हृदय उसे प्रणाम करता है। सृष्टि महान है तो उसका सिरजनहार विभु कैसा होगा? उसे कौन पहचानेगा? क्या खुद उसे इस बातकी परवाह होगी कि कोई उसे पहचाने?

बोरडी, १ मई, १९२७

५९. चांदीपुर

मुझे डर था कि पिछली बार चांदीपुरमें जो दृश्य मैंने देखा था वह अबकी बार देखनेको नहीं मिलेगा। अतः मनको समझाकर कि विशेष आशा नही रखनी चाहिये, चांदीपुरके लिए हम चल पड़े। फिर भी चांदीपुर तो चांदीपुर ही है! उसकी सामान्य शोभा भी असामान्य मानी जायगी।

कलकत्ता-कटकके रास्ते पर बालासोर या बालेश्वर नामका एक कस्बा है। चांदीपुर वहांसे आठ मील पूर्वकी ओर समुद्र-किनारे बसा हुआ है। सरकारके फौजी विभागने इस स्थानका कुछ उपयोग किया है। मगर इससे उसका महत्त्व बढ़ा नही है। यहांसे तीन मीलकी दूरी पर जहां बूढ़ी-बलंग नदी समुद्रसे मिलती है, वहां सुन्दर बन्दरगाह बनाया जा सकता है। हवा खानेका सुन्दर स्थान भी वह बन सकता है। मगर अभी तक वैसा बन नहीं पाया है। आज चादीपुरका महत्त्व उसकी सनातन प्राकृतिक शोभाके कारण ही है। इसीलिए मैने उसे पूर्व दिशाकी बोरडीका नाम दिया है।

बम्बईके उत्तरमें चोलवड़ स्टेशनसे डेढ़ मील पर बोरडी नामक जो स्थान है, वहांका समुद्र जब भाटेके समय पीछे हटता है, तब डेढ़-दो मीलका पट खुला छोड़ देता है और उसका पानी लगभग क्षितिजके पास पहुंच जाता है। सारा समुद्र-तट मानो देवताओंका या दानवोंका भीगा हुआ टेनिस-कोर्ट हो, इतना सीधा और समतल मालूम होता है। और जब ज्वारके समय पानी बढ़ने लगता है तब देखते-ही-देखते सारा तट पानीसे भरकर सरोवरकी तरह छलकने लगता है। मुहूर्तमें गीला मरुस्थल और मुहूर्तमें छिछला सरोवर, ऐसी यह प्रकृतिकी लीला देखकर मुझे विस्मय हुआ था। उसका वर्णन जब मैंने लिखा तब स्वप्नमें भी यह खयाल नहीं हुआ कि ठीक इसी प्रकारके एक स्थानका सर्जन प्रकृतिने पूर्वकी ओर भी कर रखा है।

राष्ट्रभाषा-प्रचारके सिलसिलेमें जब मैं इसके पहले कलकत्तासे उत्कल आया था, तब बालासोरका काम पूरा करके चांदीपुर देखनेके लिए खास तौर पर यहां आया था। रास्तेमें जगह-जगह पानीके गड्ढोंमे उगे हुए नील-कमल देखकर मेरे हर्षका पार नही रहा था। कमल यानी प्रसन्नताका प्रतीक। सुन्दरता, कोमलता, ताजगी और पवित्रता जब एकत्र हुई तब उन्होंने कमलका रूप धारण किया। कमल जब सफेद होता है तब वह तपस्विनी महाश्वेताका स्मरण कराता है। वही कमल जब लाल होता है तब गंधर्व-नगरी पर राज्यकरनेवाली कादंबरीकी शोभा दिखलाता है। किन्तु नील-कमल तो प्रत्यक्ष कुजबिहारी श्रीकृष्णकी ही भूमिका अदा करता मालूम होता है। संभव है हमारे देशमे नील-कमल अधिक देखनेको नही मिलते, इसलिए मुझे ऐसा लगा हो मगर इस मार्ग पर नील-कमलोंको

देखकर मुझे अपार आनंद हुआ इसमें कोई संदेह नहीं।

बालासोरसे चांदीपुरका रास्ता लगभग सीधा है। किनारेके डाक-बंगलेके दरवाजे तक पहुंच जाते हैं तब तक भी समुद्रका दर्शन नहीं होता। मगर जब होता है तब वह अपनी विशालतासे चित्तको हर लेता है। पिछली बार जब हम गये थे तब ज्वार धीरे-धीरे बढ़ रहा था, और नाजुक लहरें क्षितिजके साथ समानान्तर रेखा बनाकर धीमे धीमे आगे बढ़ रही थीं। क्षितिजके किनारे तक आते समय लहरें इतनी सीधी और समानान्तर आती थीं, मानो कोई दो-तीन मील लम्बी तनी हुई रस्सीको खींचकर आगे ला रहा हो। मेरे साथ यदि कोई विद्यार्थी होता तो मै उसे समझा देता कि नोटबुकमें जो रेखाएं खींचते हैं, वे इसी तरह सुन्दर और समानान्तर खींचनी चाहिये। जमीन जब सब ओरसे समतल होती है तब अंग्रेज लेखक उसे टेनिस-कोर्टकी उपमा देते हैं। मगर कहां टेनिस-कोर्ट और कहां मीलों तक फैली हुई लम्बी और चौड़ी सिकता-स्थली !

यह सारा दृश्य जी भरकर देखा। मन तृप्त होने पर भी देखा। सामनेसे देखा, बाजूसे देखा। हम कितने पुण्यशाली हैं, इस धन्यताके भानके साथ देखा और फिर मनमें विचार आया : अब इसका क्या करना चाहिये ? उसके बारेमें लिखना तो था ही। राजाको जब रत्न मिलता है तब वह उसे अपने खजानेमें पहुंचा ही देता है। रमणियोंके हाथमें जब फूल आते हैं तब वे उन्हें अपने जूड़ेमें जब तक लगा नहीं लेतीं तब तक उन्हें संतोष नहीं होता। प्रकृतिके उपासक लेखकको जब कोई दृश्य पान करनेके लिए मिलता है, तब वह जब तक उसे लेख-बद्ध या कविता-बद्ध नहीं करता तब तक उसे चैन नहीं पड़ता। मगर यह तो घर जानेके बाद ही हो सकता है। अभी यहां क्या करना चाहिये ? प्रकृतिका विस्तार चौड़ा हो या ऊंचा, उसका आस्वाद केवल आंखोंसे नहीं लिया जा सकता। पांवोंको भी उनका हिस्सा देना ही पड़ता है।

हम डाक-बंगलेकी ऊंचाईसे खिसकती और हंसती हुई बालू पर दौड़ते हुए नीचे उतरे। इतनेमें इधर-उधर दौड़ते और पृथ्वीके उदरमें लुप्त होते हुए बड़े-बड़े माणिक हमने देखे। कैसा सुन्दर उनका लाल चमकीला तरल रंग था ! मखमलमें जैसी फीकी और गहरी लाली होती है, वैसी ही छटा प्रकाशके कारण माणिकमें भी दिखाई देती है। यही लावण्य हमने इन दौड़नेवाले रत्नोंमें देखा। ये केकड़े जितने आकर्षक थे, उतने ही भयावने भी थे। डर लगता था कि आकर कहीं काट लेंगे तो उनके जैसा ही लाल खून पांवोंमेंसे निकलने लगेगा। मगर वे जितने डरावने थे उतने ही डरपोक भी थे। मनुष्योंको देखकर झट अपने घरोंमें छिप जाते थे। हम उनके पीछे दौड़े और उनकी दौड़धूप देखनेका आनंद प्राप्त किया।

दौड़ते-दौड़ते हमने डिब्बियोंके जैसी छोटी-बड़ी सीपें देखीं। उनके ऊपरकी आकृतियां देखकर मुझे विश्वास हो गया कि इनके आकार देखकर ही यहांके

मंदिरोंके कलश तैयार किये गये होंगे। सुपारीके आकारकी अपेक्षा यह आकार कलाकी दृष्टिसे कहीं ज्यादा सुन्दर है।

चि० मदालसाने ऐसी कई डिब्बियां चुन ली। उनके आरपार सुराख होनेसे उनकी माला बनानेकी कल्पना सहज सूझ सकती थी।

समुद्रका तट, उसकी लहरें, लाल केकड़े और ये सीपें इन सबकी बातें करते-करते हम वापस लौटे। कुछ नील-कमल भी हमने साथ ले लिये और भारतवर्षके दर्शनमें एक और कीमती वृद्धि हुई ऐसे संतोषके साथ घर लौटे।

अबकी जब फिरसे बालासोर आये, तब इस सारे दृश्यका प्रत्यक्ष स्मरण हो आया और उसे श्रद्धाकी अंजलि अर्पण करनेके लिए फिर चांदीपुर जानेका कार्यक्रम हमने तय किया।

आकाशमें बादल घिरे हुए थे। फिर भी हमने यह आशा रखी थी कि चांदीपुर पहुंचने पर पानीमेंसे निकलते हुए सूर्यके दर्शन करेंगे। अत: साढ़े तीन बजे उठकर नित्यविधि पूरी की; चार बजे डॉ० भुवनचंद्रजीकी मोटर मंगवाई और मोटर-वेगसे आठ मीलका अंतर तय किया। रास्तेमें न तो खड्डे थे, न श्रीकृष्णकी आंखोंसे होड़ करनेवाले नील-कमल थे। मुझे लगभग यही विश्वास था कि वे लहरें भी हमे देखनेको नही मिलेंगी। अष्टमीका चांद आकाशमें फीका चमक रहा था। अत: मैंने माना था कि यहां सिर्फ छलकता हुआ शांत सरोवर ही दिखाई देगा। हम अपने परिचित डाक-बंगलेके आंगनमें आये और मैंने देखा कि पानी तो कबका वापस लौट चुका है। दूर मटियाला पानी बालूके ढेरके समान मालूम होता था। सिर्फ बालूका पट अधिकाधिक खुलता जा रहा था। यदि हम चार-छ: मिनट ही पहले पहुंचे होते, तो सूर्यको पानीमें पांव रखते हुए देख पाते। आसमानमें बादल थे, पर सूर्यके पासका क्षितिज स्वच्छ और सुन्दर था। बादलोंके धब्बे सूर्यकी शोभाको बढ़ा रहे थे। सूर्यको देखकर अपना हमेशाका श्लोक भी बोलना मुझे नही सूझा मैंने केवल अंजलि बनाकर अर्घ्य अर्पण किया और दूर समुद्रमे निकले हुए सूर्यनारायणका उपस्थान किया। मनमें मनुका श्लोक प्रकट हुआ :

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर-सूनव:।
ता यदस्य अयनं जातम् इति नारायण स्मृत:॥

इतनेमें चि० अमृतलालने गीत गाया :

'प्रथम प्रभात उदित तव गगने।'

नीचे बालू पर पहुंचते हमें देर न लगी। शरमीले केकड़ोंने अपने-अपने बिलोंमें घुसकर हमारा स्वागत किया।

समुद्रके लौटनेवाले पानीने दूरसे ही हमें इशारेसे पूछा : 'यहां तक आना है ?' पानीके निमंत्रणका इनकार भला कैसे किया जाय ?

हम आगे बढ़े। बीच-बीचमें दो-चार अंगुल भर गहरा पानी देखकर पैर छप-

छपाते हुए चलने लगे। कभी सूर्यको देखनेका मन हो जाता, तो कभी पीछे मुड़कर किनारेकी ओर देखनेका जी हो जाता। थोड़े सरोके पेड़, एक-दो कुटियाएं और जकातविभागका झंडा चढ़ानेका ऊंचा स्तंभ—इनसे अधिक आकर्षक वहां कुछ नही था। इससे तो पांवतलेके पानीमें प्रतिबिंबित बादलोंकी शोभा ही अधिक आनंद देती थी। पीछे हटनेवाले पानीकी मोहिनीके पीछे पीछे हम कितने ही दूर चले जाते। किन्तु हम यह बात भूले नहीं थे कि हमारे सामने दूसरा कार्यक्रम है, और समयके बजटके बाहर यहां अधिक मौज नहीं की जा सकती। किनारेसे कितनी दूर आ गये, इसका हिसाब लगानेके लिए कदम गिनते-गिनते हम वापस लौटे। दो-दो-फुटके कदम भरते हुए हमने एक हजार कदम गिने और दौड़ते हुए माणिकोंकी ,रत्नभूमि तक पहुंचे। ऊपर चढ़कर देखते हैं तो नटखट पानी धीरे-धीरे हमारे पीछे आ रहा है और पानीको आता हुआ देखकर कुछ मछुए बालूके पटमे अपना जाल खंभोंके सहारे फैला रहे हैं!

पुरानी कहानियां समाप्त हैं, 'खाया, पिया और राज किया' वाक्यसे। हमारे वर्णन ज्यादातर पूरे होते हैं इन शब्दोंके साथ: 'प्रार्थना की और बादमें नाश्ता किया।' एक भाईने बताया कि आजकल यहां जब फौजी आदमी तोपें छोड़ते हैं तब भूकंपकी तरह सारी बस्ती कांप उठती है। तैयार हुआ जानलेवा माल अच्छी तरह उतर गया है या नहीं, यह जांचनेका स्थान यही है। आवाज चाहे जितनी बड़ी हो, क्रांतिके बाद जिस प्रकार शातिकी स्थापना होती है, उसी प्रकार आवाज आकाशमें विलीन हो जाती है और अंतमें नीरवता ही बाकी रहती है।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।

मई, १९४१

६०. सार्वभौम ज्वार-भाटा

हरेक लहर किनारे तक आती है और वापस लौट जाती है। यह एक प्रकारका ज्वार-भाटा ही है। वह क्षणजीवी है। बड़ा ज्वार-भाटा बारह-बारह घंटोंके अंतरसे आता है। वह भी एक तरहकी बड़ी लहर ही है। बारह घंटोंका ज्वार-भाटा जिसकी लहर है, वह ज्वार-भाटा कौनसा है? अक्षय-तृतीयाका ज्वार यदि वर्षका सबसे बड़ा ज्वार हो, तो सबसे छोटा ज्वार कब आता है?

हम जो श्वास लेते हैं और छोड़ते हैं वह भी एक तरहका ज्वार-भाटा ही है। हृदयमें धड़कन होती है और उसके साथ सारे शरीरमें खून घूमता है, वह भी एक तरहका ज्वार-भाटा ही है। बाल्यकाल, जवानी और बुढ़ापा भी बड़ा ज्वार-भाटा है। इस प्रकार ज्वार-भाटेका क्रम विशालसे विशालतर होकर सारे विश्व तक

पहुंच सकता है। जहां देखें वहां ज्वार-भाटा ही ज्वार-भाटा है। राष्ट्रोंका ज्वार-भाटा होता है। संस्कृतियोंका ज्वार-भाटा होता है। धार्मिकतामें भी ज्वार-भाटा होता है। हरेक भाटेके बाद ज्वारको प्रेरणा देनेवाले तो हैं रामचंद्र और कृष्णचंद्र जैसे अवतारी पुरुष। समुद्रके ज्वार भाटेको प्रेरणा देनेवाले चंद्र परसे ही क्या राम और कृष्णको चंद्रकी उपमा दी गई होगी ? कवि कहते हैं कि दोनोंका रूप-लावण्य आह्लादक था, इसी परसे उन्हें चंद्रकी उपमा दी गयी है। और कवि जो कहते हैं वह ठीक ही होना चाहिये। मगर ऐसा क्यों न कहा जाय कि धर्मके भाटेको रोकने-वाले और नये ज्वारको गति देनेवाले वे दोनों धर्मचंद्र थे, इसीलिए उन्हें चंद्रकी उपमा दी गई है ? यह कारण अब तक भले न बताया गया हो, मगर आजसे तो हम यही मानेंगे कि धर्म-सागरके चंद्रके नाते ही उनका नाम रामचंद्र और कृष्णचंद्र रखा गया है।

जलके स्थान पर स्थल और स्थलके स्थान पर जल जो कर सकता है, वह 'अघटित-घटना-पटीयसी' ईश्वरकी माया कहलाती है। इस मायाका यहां हमें रोज दर्शन होता है। फिर भी हम भक्ति-नम्र क्यों नहीं होते ? अद्‌भुत वस्तु रोज होती है, इसलिए क्या वह निःसार हो गई ? मेरे जीवन पर तीन चीजोंने अपने गांभीर्यसे अधिकसे अधिक असर डाला है: हिमालयके उत्तुंग पहाड़, कृष्ण-रात्रिका रत्नजटित गहरा आकाश और विश्वात्माका अखंड-स्तोत्र गानेवाला महार्णव। तीन हजार साल पहले या दो हजार साल पहले (हजारका यहां हिसाब ही नहीं) भगवान बुद्ध-के भिक्षु तथागतका संदेश देश-विदेशमें पहुंचाकर इसी समुद्र-तट पर आये होंगे। सोपारासे लेकर कान्हेरी तक, वहांसे धारापुरी तक और थाना जिले व पूना जिले-की सीमा पर स्थित नाणाघाट, लेण्याद्रि, जुन्नर आदि स्थानों तक, कार्ला और भाजाके प्राचीन पहाड़ों तक और इस तरफ नासिककी पांडव-गुफाओं तक शांति-सागर जैसे बौद्ध भिक्ष जिस समय विहार करते थे, उस समयका भारतीय समाज आजसे भिन्न था। उस समयके प्रश्न आजसे भिन्न थे। उस समयकी कार्य-प्रणाली आजसे भिन्न थी किन्तु उस समयका सागर तो यही था। उन दिनों भी यह इसी प्रकार गरजता होगा। होगा क्या, गरजता था। और 'दृश्यमात्र नश्वर है, कर्म ही एक सत्य है; जिसका संयोग होता है उसका वियोग निश्चित है; जो संयोग-वियोग-से परे हो जाते हैं, उन्हींको शाश्वत निर्वाण-सुख मिलता है।'—यह संदेश आजकी तरह उस समय भी महासागर देता था। आज वह जमाना नहीं रहा। महासागर-का नाम भी बदल गया। मगर उसका संदेश नहीं बदला। ज्वार-भाटेसे जो परे हो गये, उन्हींको शाश्वत शांति मिलनेवाली है। वे ही बुद्ध हैं। वे ही सु-गत है। वे सदाके लिए चले गये। ज्वार फिरसे आयेगा। भाटा फिरसे आयेगा। परन्तु वे वापस नहीं आयेंगे। तथागत सचमुच सु-गत हैं।

बोरडी, ७ मई, १९२७

६१. अर्णवका आमंत्रण

समुद्र या सागर जैसा परिचित शब्द छोड़कर मैंने अर्णव शब्द केवल आमंत्रण-के साथ अनुप्रासके लोभसे ही नहीं पसन्द किया। अर्णव शब्दके पीछे ऊंची-ऊंची लहरोंका अखंड तांडव सूचित है। तूफान, अस्वस्थता, अशांति, वेग, प्रवाह और हर तरहके बंधनके प्रति अमर्ष आदि सारे भाव अर्णव शब्दोंमें आ जाते हैं। अर्णव शब्दका धात्वर्थ और उसका उच्चारण, दोनों इन भावोंमें मदद करते हैं। इसीलिए वेदोंमें कई बार अर्णव शब्दका उपयोग समुद्रके विशेषणके तौर पर किया गया है। खास तौरसे वेदके विख्यात अघमर्षण सूत्रमें जो अर्णव—समुद्रका जिक्र है, वह उसकी भव्यताको सूचित करता है।

ऐसे अर्णवका संदेश आजके हमारे संसारके सामने पेश करनेकी शक्ति मुझे प्राप्त हो, इसलिए वैदिक देवता सागर सम्राट् वरुणकी मैं वंदना करता हूं।

जहां रास्ता नहीं है वहां रास्ता बनानेवाला देव है वरुण। प्रभंजनके तांडवसे जब रेगिस्तानमें बालूकी लहरें उछलती हैं, तब वहां भी यात्रियोंको दिशा-दर्शन करानेवाला वरुण ही है। और अनंत आकाशमें अपने पंखोंकी शक्ति आजमानेवाले त्रिखंडके यात्री पक्षियोंको व्योममार्ग दिखानेवाला भी वरुण ही है। और वेदकालके भुज्युसे लेकर कल ही जिसकी मूछें उगी हैं ऐसे खलासी तक हरेकको समुद्रका रास्ता दिखानेवाला जैसे वरुण है, वैसे ही नये-नये अज्ञात क्षेत्रोंमें प्रवेश करके नये नये रास्ते बनानेवाले यमराज या अगस्तिको हिम्मत और प्रेरणा देनेवाला दीक्षा-गुरु भी वरुण ही है।

वरुण जिस प्रकार यात्रियोंका पथ-प्रदर्शक है, उसी प्रकार वह मनुष्य-जातिके लिए न्याय और व्यवस्थाका देवता है। 'ऋतम्' और 'सत्यम्' का पूर्ण साक्षात्कार उसे हुआ है; इसलिए वह हरेक आत्माको सत्यके रास्ते पर जानेकी प्रेरणा देता है। न्यायके अनुसार चलनेमें जो सौंदर्य है, समाधान है और जो अंतिम सफलता है, वह वरुणसे सीख लीजिये। और यदि कोई लोभी, अदूरदृष्टि मनुष्य वरुणकी इस न्यायनिष्ठाका अनादर करता है, तो वरुण उसको जलोदरसे सताता है, जिससे मनुष्य यह समझ ले कि लोभका फल कभी भी अच्छा नहीं होता।

अपना मूल्य घट न जाये इस खयालसे जिस प्रकार परम-मंगल, कल्याणकारी, सदाशिव रुद्ररूप धारण करते हैं, उसी प्रकार रत्नाकर समुद्र भी डरपोक मनुष्यको अट्टहास्य करनेवाली लहरोंसे दूर रखता है। कोमल वनस्पति और गृह-लंपट मनुष्य अपने किनारे पर आकर स्थिर न हो जायें, इसलिए ज्वार-भाटा चलाकर वह सब लोगोंको समझाता है कि तुम लोगोंको मुझसे अमुक अन्तर पर ही रहना चाहिये।

समुद्रके किनारे खड़े रहकर जब लहरोंको आते और जाते देखा, अमावस्या और पूर्णिमाके ज्वारको आते और जाते देखा, और बुद्धि कोई जवाब नहीं दे सकी

तब दिल बोल उठा, 'क्या इतना भी समझमें नही आता ? तुम्हारे श्वासोच्छ्वासकी वजहसे जिस प्रकार तुम्हारी छाती फूलती है और बैठती है, उसी प्रकार विराट सागरके श्वासोच्छ्वासकी यह धड़कन है; उसका यह आवेग है। जमीन पर रहने-वाले मनुष्योंने जो पाप किये और उत्पात मचाये हैं, उनको क्षमा करनेकी शक्ति प्राप्त हो इसीलिए महासागरको इतना हृदयका व्यायाम करना पडता है !

जो लहरें दुर्बल लोगोंको डराकर दूर रखती है, वही लहरे विक्रमके रसियोंको स्नेहपूर्ण और फेनिल निमंत्रण देती हैं और कहती हैं: 'चलिये ! इस स्थिर जमीन पर क्यों खड़े हैं ? इस तरह खड़े रहेंगे तो आपपर जग चढ़ने लगेगा। लीजिये, एक नाव, हो जाइये उस पर सवार, फैला दीजिये उसके पाल और चलिये वहा जहां पवनका प्राण आपको ले जाय। हम सब है तो सागरके बच्चे, किन्तु हमारा शिक्षा-गुरु है पवन। वह जैसे नचाये हम वैसे नाचते है। आप भी यही व्रत लीजिये, और चलिये हमारे साथ।' जिस दिलमे उमंग होती है, वह ऐसे निमंत्रणको अस्वीकार नही कर सकता।

बचपनमे सिंदबादकी कहानी आपने नही पढ़ी ? सिंदबादके पास विपुल धन था, जमीन-जागीर आदि सब कुछ था। अपने प्रेमसे उसका जीवन भर देनेवाले स्वजन भी उसके आसपास बहुत थे। फिर भी जब समुद्रकी गर्जना वह सुनता था तब उससे घरमे रहा नही जाता था। लहरोके झूलेको छोड़कर पलंग पर सोनेवाला पामर है। दिलने कहा : 'चलो !' और सिंदबाद समुद्रकी यात्राके लिए चल पड़ा। उसमे काफी हैरान हुआ। उसे मीठे अनुभवोकी अपेक्षा कड़वे अनुभव अधिक हुए। अत: सही-सलामत वापस लौटने पर उसने सौगध खाई कि अब मै समुद्र-यात्राका नाम तक नही लूगा।

किन्तु अंतमे यह था तो मानवी संकल्प। इस संकल्पको सम्राट् वरुणका आशीर्वाद थोड़े ही मिला था ! कुछ दिन बीते। गृहस्थी जीवन उसे फीका मालूम होने लगा। रातको वह सोता था, किन्तु नीद नही आती थी। लहरें उसके साथ लगातार बातें किया करती थी। उत्तर-रात्रिमे जरा नीदका झोंका आ जाता तो स्वप्नमे भी लहरें ही उछलती और अपनी अंगुलियां हिलाकर उसे पुकारती। बेचारा कहा तक जिद पकड़कर रहे ? अनमना होकर जरा-सा घूमने जाता, तो उसके पैर उसे बगीचेका रास्ता छोड़कर समुद्रकी सफेद और चमकीली बालूकी ओर ही ले जाते। अंतमे उसने अच्छे-अच्छे जहाज खरीदे, मजबूत दिलवाले खलासियोंको नौकरी पर रखा, तरह-तरहका माल साथमे लिया और 'जय दरिया पीर' कहकर सब जहाज समुद्रमें आगे बढ़ा दिये।

यह तो हुई काल्पनिक सिंदबादकी कहानी किन्तु हमारे यहांका सिंहपुत्र विजय तो ऐतिहासिक पुरुष था। पिता उसे कही जाने नही देता था। उसने बहुत आग्रह भरी विनती की, किन्तु सफल नही हुआ। अंतमें ऊबकर उसने शरारत शुरू

की। प्रजा त्रस्त हुई और राजाके पास जाकर कहने लगी : 'राजन्' या तो अपने लड़केको देशनिकाला दे दीजिये या हम आपका देश छोड़कर बाहर चले जाते हैं।' पिता बड़े-बड़े जहाज लाया। उसमें अपने लड़केको और उसके शरारती साथियोंको बिठा दिया और कहा, 'अब जहां जा सकते हो, जाओ। फिर यहां अपना मुंह नहीं दिखाना।' वे चले। उन्होंने सौराष्ट्रका किनारा छोड़ा, भृगुकच्छ छोड़ा, सोपारा छोड़ा, दाभोळ छोड़ा; ठेठ मंगलापुरी तक गये। वहां पर भी वे रह नहीं सके। अतः हिम्मतके साथ आगे बढ़े और ताम्रद्वीपमें जाकर बसे। वहांके राजा बने। विजयके पिताने अपने लड़केको वापस आनेके लिए मना किया था; किन्तु उसके पीछे कोई न जाये, ऐसा हुक्म नहीं निकाला था। अतः अनेक समुद्र-वीर विजयके रास्ते जाकर नयी-नयी विजय प्राप्त करने लगे। वे जावा और बालिद्वीप तक गये। वहांकी समृद्धि, वहांकी आबोहवा और प्राकृतिक सौंदर्य देखनेके बाद वापस लौटनेकी इच्छा भला किसे होती? फिर तो घोघाका लड़का सारा पश्चिम किनारा पार करके लंकाकी कन्यासे विवाह करे यह लगभग नियम-सा बन गया।

इधर बंगालके नदीपुत्र नदी-मुखेन समुद्रमें प्रवेश करने लगे। जिस बंदरगाहसे निकलकर ताम्रद्वीप जाया जा सकता था, उस बंदरगाहका नाम ही उन लोगोंने ताम्रलिप्ति रख दिया। इस प्रकार ताम्रद्वीप—लंकामें अंग-बंगके बंगाली, उड़ीसाके कलिंग और पश्चिमके गुजराती एकत्र हुए। मद्रासकी ओरके द्रविड़ तो वहां कबके पहुंच चुके थे। इस प्रकार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत अब अपने-अपने अर्णवोंके आमंत्रणके कारण लंकामें एक हुआ।

भगवान बुद्धने निर्वाणका रास्ता ढूंढ निकाला और अपने शिष्योंको आदेश दिया कि 'इस अष्टांगिक धर्मतत्त्वका प्रचार दसों दिशाओंमें करो।' खुद उन्होंने उत्तर भारतमें चालीस साल तक प्रचार-कार्य किया। अपना राज्य आसेतु-हिमाचल फैलानेके लिए निकले हुए सम्राट् अशोकको दिग्विजय छोड़कर धर्म-विजय करनेकी सूझी। धर्म-विजयका मतलब आजकी तरह धर्मके नाम पर देश-देशांतरकी प्रजाको लूटकर, गुलाम बनाकर, भ्रष्ट करना नहीं था, बल्कि लोगोंको कल्याणका मार्ग दिखाकर अपना जीवन कृतार्थ करनेका अष्टांगिक मार्ग दिखाना था। जो भगवान बुद्ध खुद गैंडेकी तरह अकुतोभय होकर जंगलमें घूमते थे, उनके साहसिक शिष्य अर्णवका आमंत्रण सुनकर देश-विदेशमें जाने लगे। कुछ पूर्वकी ओर गये, कुछ पश्चिमकी ओर। आज भी पूर्व और पश्चिम समुद्रके किनारों पर इन भिक्षुओंके विहार पहाड़ोंमें खुदे हुए मिलते हैं। सोपारा, कान्हेरी, धारापुरी आदि स्थल बौद्ध मिशनरियोंकी विदेश-यात्राके सूचक हैं। उड़ीसाकी खंड-गिरि और उदयगिरिकी गुफाएं भी इसी बातका सबूत दे रही हैं।

इन्हीं बौद्ध-धर्मी प्रचारकोंसे प्रेरणा पाकर प्राचीन कालके ईसाई भी अर्णव-मार्गसे चले और उन्होंने अनेक देशोंमें भगवद्भक्त ब्रह्मचारी ईशुका संदेश फैलाया।

जो स्वार्थवश समुद्र-यात्रा करते हैं, उन्हें भी अर्णव सहायता देता है किन्तु वरुण कहता है, "स्वार्थी लोगोंको मेरी मनाही है, निषेध है। किन्तु जो केवल शुद्ध धर्म-प्रचारके लिए निकलेंगे, उन्हें तो मेरे आशीर्वाद ही मिलेंगे। फिर वे महिन्द या संघमित्ता हों या विवेकानंद हों। सेंट फ्रान्सिस जेवियर हों या उनके गुरु इग्नेशियस लोयला हों।"

अब अर्णवकी मदद लेनेवाले स्वार्थी लोगोंके हाल देखें। मकरानी लोग बलूचिस्तानके दक्षिणमें रहकर पश्चिम सागरके तटकी यात्रा करते थे। इसलिए हिन्दुस्तानकी तिजारत उन्हींके हाथमें थी। आग्रहके साथ वे उसको अपने ही हाथोंमें रखना चाहते थे। अतः एक वरुणपुत्रको लगा कि हमें दूसरा दरियायी रास्ता ढूंढ निकालना चाहिये। वरुणने उससे कहा कि अमुक महीनेमे अरबस्तानसे तुम्हारा जहाज भर-समुद्रमें छोड़ोगे तो सीधे कालिकट तक पहुंच जाओगे। एक-दो महीनों तक तुम हिन्दुस्तानमें व्यापार करना और वापस लौटनेके लिए तैयार रहना; इतनेमें मैं अपने पवनको उलटा बहाकर जिस रास्ते तुम आये उसी रास्तेसे तुम्हें वापस स्वदेशमें पहुंचा दूंगा। यह किस्सा ई० स० पूर्व ५० सालका है।

प्राचीन कालमें दूर-दूर पश्चिममें वाइकिंग नामक समुद्री डाकू रहते थे। वे वरुणके प्यारे थे। ग्रीनलैंड, आइसलैंड, ब्रिटेन और स्कैन्डिनेवियाके बीचके ठंडे और शरारती समुद्रमें वे यात्रा करते थे। आजके अंग्रेज लोग उन्हीके वंशज है। समुद्र किनारे पर स्थित नार्वे, ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन और पुर्तगाल देशोंने बारी बारीसे समुद्रकी यात्रा की। इन सब लोगोंको हिन्दुस्तान आना था। बीचमें पूर्वकी ओर मुसलमानोंके राज्य थे। उन्हें पारकर या टालकर हिन्दुस्तानका रास्ता ढूंढ़ना था। सबने वरुणकी उपासना शुरू की और अर्णवके रास्तेसे चले। कोई गये उत्तर ध्रुवकी ओर, कोई गये अमरीकाकी ओर। चंद लोगोने अफ्रीकाकी उलटी प्रदक्षिणा की और अंतमें सब हिन्दुस्तान पहुंचे। समुद्र यानी लक्ष्मीका पिता। उसमें जो यात्रा करे वह लक्ष्मीका कृपापात्र अवश्य होगा। इन सब लोगोंने नये नये देश जीत लिये, धन-दौलत जमा की। किन्तु वरुणदेवका न्यायासन वे भूल गये। वरुणदेव न्यायका देवता है। उसके पास धीरज भी है, पुण्यप्रकोप भी है। जब उसने देखा कि मैंने इनको समुद्रका राज्य दिया, किन्तु इन लोगोंने राजाके उचित न्याय-धर्मका पालन नहीं किया, तब वरुणराजाने अपना आशीर्वाद वापिस ले लिया और इन सब लोगोंको जलोदरकी सजा दी। अब ये देश हिन्दुस्तान और अफ्रीकासे जो संपत्ति लाये थे, उसका उपयोग आपसमें लड़नेके लिए करने लगे हैं और अपने प्राणोंके साथ वह सारी संपत्ति जलके उदरमें पहुंचा रहे हैं। समुद्र-यान हो या आकाश-यान हो, अंतमें उसे समुद्रके जलके उदरमें पहुंचना ही है। अब वरुणराजा क्रुद्ध हुए हैं। उन्हें अब विश्वास हो गया है कि सागरसे सेवा लेनेवालोंमें यदि सात्विकता न हो तो वे संसारमें उत्पात मचानेवाले हो जाते हैं। अब तक उन्होने विज्ञानशास्त्रियों

और ज्योतिषशास्त्रियोंको, विद्यार्थियों और लोकसेवकोंको समुद्र-यात्राकी प्रेरणा दी थी। अब वे हिन्दुस्तानको नये ही किस्मकी प्रेरणा देना चाहते हैं : हिन्दुस्तानके सामने एक नया 'मिशन' रखना चाहते हैं। क्या उसे सुननेके लिए हम तैयार हैं।

हम पश्चिम समुद्रके किनारे पर रहते है। दिन-रात पश्चिम सागर[1] का निमंत्रण सुनते हैं। अब तक हम बहरे थे। यह संदेश हमारे कानों पर जरूर पड़ता था; किन्तु अंदर तक नहीं पहुंच पाता था। अब यह हालत नहीं रही है। यूरोपकी महाप्रजाने हमारे ऊपर राज्य जमाकर हमें मोहिनीमें डाल रखा था। अब यह मोहिनी उतर गयी है। अब हमारे कान खुल गये हैं। संसारके नक्शेकी ओर हम नयी दृष्टिसे देखने लगे हैं। अब हम समझने लगे हैं कि महासागर भूखडोंको तोड़ते नहीं, बल्कि जोड़ते हैं। अफ्रीकाका सारा पूर्व किनारा और कलकत्तासे लेकर सिंगापुर आल्बनी (ऑस्ट्रेलिया) तकका पूर्वकी ओरका पश्चिम किनारा हमें निमंत्रण देता है कि "ईश्वरने तुम्हें जो ज्ञान, चारित्र्य और वैभव दिया है, उसका लाभ यहांके लोगोंको भी पहुंचाओ।" एक ओर अफ्रीका है, दूसरी ओर जावा है, बाली है, ऑस्ट्रेलिया है, टास्मानिया है और प्रशांत महासागरके असंख्य टापू है। ये सब अर्णवकी वाणीसे हमें पुकार रहे हैं। इन सब स्थानोंमें सागरसे प्रेरणा लेकर अनेक मिशनरी गये थे। किन्तु वे अपने साथ सब जगह शराब ले गये, वंश-वंशके बीचका ऊंच-नीच भाव ले गये। ईसा मसीहको भूलकर सिर्फ उनका बायबल ले गये और इस बायबलके साथ उन्होंने अपने अपने देशका व्यापार चलाया। अर्णव उन्हें जरूर ले गया था। किन्तु वरुण उन पर नाराज हुआ है। हम भारतवासी प्राचीन कालमें चीन गये, यवनोंके देश ग्रीस तक गये, जावा और बालीकी ओर गये। हमने 'सर्वे सन्तु निरामयाः' की संस्कृतिका विस्तार किया। किन्तु हमने उन स्थानोंमे अपने साम्राज्यकी स्थापना करनेकी दुर्बुद्धि नही रखी। दूसरोंके मुकाबलेमें हमारे हाथ साफ है। अतः वरुणका हमें आदेश हुआ है—अर्णव हमें आमंत्रण दे रहा है और कह रहा है, "दूसरे लोग विजय-पताका लेकर गये; तुम अहिंसा धर्मकी तिरंगी अभय-पताका लेकर जाओ और जहां जाओ वहां सेवाकी सुगंध फैलाते रहो। शोषणके लिए नहीं, बल्कि पिछड़े हुए लोगोंके पोषण और शिक्षणके लिए जाओ। अफ्रीकाके शालिग्राम वर्णके तुम्हारे भाई तुम्हें पुकार रहे हैं। पूर्वकी ओरके केतकी सुवर्ण वर्णके तुम्हारे भाई तुम्हारी राह देख रहे हैं। इन सब लोगोंकी सेवा करनेके लिए जाओ और सब लोगोंसे कहो कि अहिंसा ही परम धर्म है। ऊंचनीच भाव,

---

१. हमारे इस पड़ोसीको हम 'अरबी समुद्र' के नामसे पहचानते हैं, यह विचित्र बात है! विलायतसे आनेवाले गोरे लोग उसे 'अरबी समुद्र' भले कहें। हमार लिए तो वह बम्बई समुद्र या पश्चिम सागर है। यही नाम हमें चलाना चाहिये।

अभिमान, अहंकार जैसी हीन वृत्तियोंको इस धर्ममें स्थान नहीं हो सकता। भोग और ऐश्वर्य, दोनों जीवनके जंग हैं (जीवनको दूषित करनेवाले हैं)। संयम और सेवा, त्याग और बलिदान, यही जीवनकी कृतार्थता है। यह धर्म जिन लोगोंने समझा है, वे सब निकल पड़ो। पूर्व सागर और पश्चिम सागरके बीचमें दक्षिणकी ओर घुसनेवाला हजारों मीलका किनारा तैयार करके हिन्दुस्तानको हिन्द महासागरमें जो स्थान दिया गया है, वह समुद्र-विमुख होनेके लिए हरगिज नहीं है। वह तो अहिंसाके विश्वधर्मका परिचय सारे विश्वको करानेके लिए है।"

यूरोपके महायुद्धके अंतमें दुनियाका रूप जैसा बदलनेवाला होगा वैसा बदलेगा। किन्तु असंख्य भारतीय प्रवास-वीर अर्णवका आमंत्रण सुनकर, वरुणसे दीक्षा लेकर, धीरे-धीरे देश-विदेशमें फैलेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है। सागरके पृष्ठ पर हमारे अनेकानेक जहाज डोलते हुए देख रहा हूं। उनकी अभय-पताकाओंको आकाशमें लहराते देख रहा हूं और मेरा दिल उछल रहा है। अर्णवके आमंत्रणको अब मैं खुद शायद स्वीकार नहीं कर सकता, फिर भी नौजवानोंके दिलों तक उसे पहुंचा सकता हूं, यही मेरा अहोभाग्य है। वरुणराजको मेरा नमस्कार है! जय वरुणराजकी जय!!

अक्तूबर, १९४०

६२. दक्षिणके छोर पर

१

धनुष्कोटिमें मैं पहले-पहल आया उसको अब करीब बीस साल हो चुके हैं। जहां तक मुझे स्मरण है, श्री राजाजीने मेरे साथ श्री वरदाचारीजीको भेजा था। वरदाचारी ठहरे रामायणके भक्त। रास्ते भर रामायणकी ही रसिक बातें चलीं। हम धनुष्कोटि पहुंचे और वरदाचारीजीकी सनातनी आत्मा श्राद्ध करनेके लिए तड़पने लगी। एक योग्य ब्राह्मणका पता लगाकर वे इस विधिमे मशगूल हो गये और हम लोग आमने-सामने गरजनेवाले रत्नाकर और महोदधिकी भव्य शोभा देखनेके लिए स्वतंत्र हो गये।

दो नदियोंका संगम या प्रयाग अनेक स्थानों पर देखनेको मिलता है। संगमका काव्य आर्योंके हृदय या मस्तिष्क तक पहुंचा कि तुरन्त उन्हें वहां यज्ञ-याग करनेकी सूझी ही है। यज्ञ-यागके लिए ऐसे प्रकृष्ट या प्रशस्त स्थानको वे प्र-याग कहते हैं।

जब दो नदियां मिलती हैं तब अधिकतर अंग्रेजी Y के जैसी आकृति बनती है। महाराष्ट्रमें कह्लाड़के पास दो नदियां आमने-सामने आकर मिलती हैं और बादको समकोणमें एक ओर बहती हैं। उनकी अंग्रेजीके T जैसी पांच किनारोंकी आकृति

बनती हैं। दो नदियां आमने-सामने आकर एक-दूसरेको गले लगाती हैं, इसलिए उसे प्रीति-संगम कहते हैं।

गंगासे जहां यमुना मिलती है वहां पर भी लगभग T के जैसी ही आकृति बनती है। सिर्फ उसमें गंगा सीधी जाती है और यमुना किसी आग्रहके बिना और कुछ संभ्रम (घुमाव) के साथ गंगासे मिलती है।

यमुना प्रथम तो 'आत्मनि अप्रत्यय' दिखाई देती है। किन्तु गंगासे मिलते ही दोनों बहनें उल्लासके उन्मादमें आ जाती हैं; और इस डरसे कि यदि एक-दूसरेमे झट ओतप्रोत हो गई तो मिलनेका आनंद मिट जायगा, दूर-दूर तक दोनों कम-ज्यादा मिला ही करती हैं। धर्मकवियोंने इस स्थानको 'प्रयाग-राज' जैसा गौरव-भरा नाम यों ही नहीं दिया है।

किन्तु जब कोई नदी सागरसे मिलती है तब यह सागर-सरिता-संगमका उन्माद शिव-पार्वतीके मिलनके समान अद्‌भुत-रम्य होता है। इसका वर्णन भक्त-वृत्तिमे या संतानकी भाषामे हो ही नही सकता। मनुष्यको यह भूल कर कि वह मनुष्य है, और अपनी शक्तिसे भी अधिक ऊंचे उड़कर सागर-सरिताके इस अ-समान संगमका वर्णन करना होगा।

मगर धनुष्कोटिमे तो विष्णु और महादेवके मिलनेके समान दो समुद्रोका सागर-संगम है। रत्नाकर मानार (Manar) की ओरसे आता है। महोदधि पाल्क (Palk) की सामुद्रधुनीका प्रतिनिधि है। इन दोनोंको झट कैसे मिलने दिया जाय ? पृथ्वीने मानो राम-धनुषकी कमानदार कोटि बीचमे आड़ी डालकर एक कोस तक इन दोनोंको मिलनेसे रोका है। इधर रत्नाकर उछलता है तो उधर महोदधि गरजता है और पवनकी सूचनाके अनुसार वे अपने-अपने प्रवाहको दौडाते हैं।

और इन दोनोंका सलाह-मशविरा कैसा अनोखा होता है ! महोदधि यदि हरा रंग धारण करता है तो रत्नाकर पूरा नीला हो जाता है; और जब रत्नाकर पर हरा रंग चढता है तो महोदधि आकाशको भी दीक्षा दे सके ऐसा गहरा नीला रंग बहाने लगता है।

जब तक उन्हें लगता है कि मिलनेकी इच्छा होने पर भी मिला नही जा सकता, तब तक दोनो क्रोधसे तमतमाते रहते है। क्षण-क्षणमे नया क्रोध जताते है। और एक बार मिलनेकी छूट मिली कि ऐसी शांति और सहजता चेहरे पर दिखा-कर दोनों मिलते हैं, मानो मिलनेकी दोनोंको कोई उत्सुकता ही नही थी। मिलना था इसलिए मिल लिये ! व्याकुलताको मानो दूर ही छोड़ दिया। जहां दोनोंका प्रत्यक्ष मिलन होता है, वहा तो सरोवरकी शांति ही फैली रहती है और इसमें आश्चर्य क्या है ? अद्वैतमे आनंदकी परिसीमा ही हो सकती है, उन्मादको स्थान कैसे हो सकता है ?

धनुष्कोटिके छोर पर खड़े-खड़े एक बार गोल चक्कर लगाकर देख लेना चाहिये। जहांसे चलकर आते हैं उतनी जमीनकी जीभको छोड़ दें तो सब ओर महासागरकी विशाल जलराशिका क्षितिजके साथ बनता वलय ही देखनेको मिलता है।

रंगून या कराची जाते समय बीच समुद्रमें चारों ओर समुद्रवलय और क्षितिज-वलय मिलकर एक हो जाते हैं, उसकी मस्ती कुछ कम नहीं होती। मनमें यह कल्पना आये बिना नहीं रहती कि पानीके इस क्षितिज-विस्तार पर आकाशका उतना ही बड़ा किन्तु अनंत गुना ऊंचा ढक्कन रखा हुआ है, और इस बड़े डिब्बेश्वर में एक छोटे जहाज पर बैठे हुए 'कोटश्च कीटायते'—हम मोतियोंकी तरह संगृहीत किये गये हैं। ज्यों-ज्यों इस परिस्थिति पर हम अधिक सोचते हैं, त्यों-त्यों मनमें अपनी तुच्छताका अधिकाधिक भान हमें होने लगता है।

धनुष्कोटिकी बात इससे अलग है। पृथ्वीके साथ हम अनुबद्ध हैं, पैर तले मज-बूत जमीन है और यह जमीन धीरे-धीरे फैलकर एक विशाल देश और खंडकी ओर ले जा सकती है—यह खयाल हमें न सिर्फ आश्वासन देता है, बल्कि प्रचंड आत्म-विश्वासका अधिकारी बनाता है। धनुष्कोटिके छोर पर मैं जितनी बार पहुंचा हूं, उतनी बार मुझे मनुष्यके आत्म-गौरवका भान विशेष रूपसे हुआ है। इसीलिए वहां अपनी 'भूमिका' पर स्थिर रहकर मैं सागरकी उपासना कर सका हूं।

जब-जब मैं मंडपम् छोड़कर पुल परसे पामबन गया हूं, तब-तब इस प्रदेशका 'रघुवंश' में लिखा हुआ कालिदासका वर्णन मुझे याद आया है। कालिदासकी वर्णन-शक्ति मुझमें भले न हो, किन्तु इस बारेमें मेरे मनमें तनिक भी सदेह नहीं कि मैं उनका समान-धर्मा हूं। मैं 'कवियश: प्रार्थी' थोड़े ही हूं कि कालिदासके साथ अपना नाम देनेमें संकोच करूं? मुझ पर हंसनेवाले टीकाकारोंको मैं एक टीकाकार कवि-का ही वचन सुना दूंगा : 'पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम्।'

मगर मैं जब धनुष्कोटिके पास आता हूं, तब कालिदासको भूल जाता हूं और लंकामें किस तरह पहुंचा जाय इस उधेड़बुनमें पड़े हुए हनुमानकी दृष्टिसे दक्षिण-की ओर देखने लगता हूं। जिन-जिन वानर-यूथ-मुख्योंने सेतुकी कल्पना की और उसे कार्यरूपमें परिणत किया, उनकी दृष्टिसे तलाईमानारकी दिशामें देखने लगता हूं। और इस प्रकार कल्पनाको दौड़ाते-दौड़ाते जब थक जाता हूं, तब चारों धामकी यात्रा पूरी करके रामेश्वर पहुंचे हुए वृद्ध यात्रियोंका हृदय धारण करके कल्पना करता हूं : "एक पूर्ण जीवन लगभग पूरा करके मैंने भारतवर्षके जितने ही विशाल जीवन-प्रदेशकी यात्रा कर ली। अब वापस लौटकर क्या करना है? इहलोकका काम ज्यों-त्यों पूरा कर लिया। सफलता मिली हो या विफलता, वही जीवन फिरसे नहीं बिताना है। अब तो यह सारा जीवन पीठके पीछे रहे यही अच्छा है। मुड़कर उसकी ओर देखनेका स्मरण-रस भी अब नहीं रहा है। अब तो साम्पराय-

का, परजीवनका परमार्थकी दृष्टिसे विचार करनेमें ही श्रेय है।" जब इस प्रकार-की विचार-परंपरा मनमें उठती है, तब मन एक प्रकारसे बेचैन हो उठता है, और दूसरे प्रकारसे परम शांतिका अनुभव करता है।

अबकी बार जब मैं धनुष्कोटि आया, तो परंपराके अनुसार मैंने महोदधिमें स्नान किया। महासागरसे क्षमा भी मांगी। किन्तु मनमें तो एक ही विचार आया कि यहां अब फिरसे नहीं आना होगा। सीलोन कभी जाना है। मगर धनुष्कोटिके जो दर्शन किये, वे अंतिम हैं। यह विचार मनमें क्यों आया, कहना मुश्किल है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि मनमें तृप्तिका विचार इसी बार उत्पन्न हुआ।

२

रामेश्वर-धनुष्कोटिके बाद कन्याकुमारी। एक स्थान यदि भव्य है तो दूसरा भव्यतर है। यहां दो नहीं बल्कि तीन सागरोंका संगम है। संगमका यह वायुमंडल अभेद-भक्तिके आनंदके समान है। 'यहां हिन्द महासागर पूरा होता है,' 'यहां बम्बईका यानी पश्चिम समुद्र शुरू होता है, और 'यहां बंगालका पूर्व समुद्र शुरू होता है'—यों न तो यहां कह सकते हैं, न मान सकते हैं। यहां भारतवर्षका दक्षिणका छोर है और तीनों सागर उसको तीनों ओरसे लिपटे हुए पड़े हैं। संगम तो हम कहते हैं। सागरोंके लिए यहां संगमके जैसा कुछ भी नहीं है। संगमकी कल्पना हमारी है। सागरोंसे यदि पूछेंगे तो वे कहेंगे कि जिस भेदका अस्तित्व ही नहीं है, उसके मिट जानेकी बात भी भला कैसे करें? 'सं-गम' की कल्पना ही बिलकुल गलत है। कहना ही हो तो उसको 'सं-भवन' कहिये। जहां पूर्ण एकता है वहां किसी भी हिस्सेको चाहे जो नाम दे सकते हैं। नाम और रूपका द्वैत यहां फीका पड़ जाता है, धुल जाता है, और फिर शुद्ध अद्वैत ही अपनी अखंड मस्तीमें गर्जना करता है।

कन्याकुमारीमें मैंने जिस भव्यताका अनुभव किया है, वैसी भव्यता हिमालय-को छोड़कर और गांधीजीके जीवनको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी अनुभव नही की है।

कन्याकुमारीका महत्त्व मैंने पहले-पहल गांधीजीके ही मुंहसे सुना था। वे शायद ही किसी दृश्यका वर्णन करते हैं। किन्तु कन्याकुमारीसे आश्रममें लौटनेके बाद उन्होंने मेरे सामने इस स्थानका उत्साहपूर्वक वर्णन किया था।

सन् १९२७ में जब मैंने उनके साथ दक्षिण हिन्दुस्तानकी यात्रा की थी, तब नागर-कोविल पहुंचते ही उन्होंने अपने मेजबानसे खास तौर पर सिफारिश की कि 'काकाको कन्याकुमारी जाना है; मोटरका बंदोबस्त कर दीजिये।' उस दिन उन्हों-ने दो बार पूछताछ की कि काकाके कन्याकुमारी जानेका प्रबंध हुआ या नहीं।

पू० बाको ललचानेमें मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। दूसरे दो भाई भी हमारे साथ हो गये।

जिस दृश्यकी प्रशंसा पू० बापूजीके मुंहसे सुनी थी, वह दृश्य देखनेकी मेरी

उत्कंठा बहुत बढ़ गई थी। यहां पहुचनेके बाद तो उसका नशा ही चढ़ गया। उसके बाद जितनी बार यहां आया हूं, वही नशा मुझ पर चढ़ा है।

और आश्चर्यकी बात तो यह है कि इस नशेके साथ ही मनमें ब्रह्मचर्यके बारेमें भी गहरे विचार उठे बिना नहीं रहते। देवी कन्याकुमारीका यह स्थान है, इसी-लिए ये विचार मनमें उठते हों, ऐसी बात नहीं है। मैंने तो ऐसा कभी नही माना। स्वामी विवेकानंदने इस स्थान पर वही नशा अनुभव किया था, यह जाननेके कारण भी यहां आते ही मेरे मनमें ब्रह्मचर्यके विचार नही उठते। गांधीजीकी भव्यताकी भव्य साधनाके साथ भी ये विचार संलग्न नही हैं। किन्तु ये विचार स्वयंभू रूपसे मनमें उठते ही हैं।

इस समय (ता० ५-१-१९४७) तीसरी दफा मैं यहां आया हूं। आते ही सबसे पहले समुद्रकी लहरें, आकाशके बादल, पूर्व-पश्चिमके क्षितिज और पीछेकी पहा-ड़ियां—सब स्नेहियोंको मैंने देख लिया।

आज पौषका महीना है और शुक्ल पक्षकी त्रयोदशी है। आज चंद्र रोहिणीमें या मृगमें होना चाहिये। हम मंजिल-ब-मंजिल मोटरकी रफ्तारसे कन्याकुमारीकी ओर जब दौड़ रहे थे, तभीसे चंद्र आकाशमें ऊंचा चढ़कर इस ताकमें बैठा था कि कब सूर्यास्त हो और कब मैं आकाश पर अधिकार करूं। संध्याको अपना वर्ण-विलास फैलानेके लिए उसने अधिक अवकाश नहीं दिया। फिर भी जितना अव-काश मिला उतनेमें ही संध्याने रंगोंके अनेक सुन्दर दृश्य दिखला दिये।

सूर्यास्त देखनेकी हमारी बड़ी अभिलाषा थी। किन्तु पश्चिमके बादलोंने कुछ उलाहना देते हुए हमसे कहा, 'क्या किसीका अस्त देखनेकी उत्कंठा रखी जा सकती है? वास्तवमें सूर्यका अस्त होता ही नहीं है। आपकी दृष्टिसे ही प्रकाशका अस्त होता है। उसके लिए सूर्यको देखनेके बदले उदय या अस्तके अवसरों पर वह जो एकरूपता धारण करता है उसके रंगको ही क्यों नहीं देख लेते?'

उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमने तथा।
संपत्तौ च विपत्तौ च महताम् एक-रूपता॥

यह श्लोक बादलोंने भी बचपनमें कंठस्थ कर लिया होगा!

सूर्य जब क्षितिजके नीचे गया, तब बादलोंके गवाक्षोंमेंसे सूर्यप्रकाशकी लाल किरणें ऊपर तक फैलीं। और ऊपर फैलीं उससे भी अधिक दक्षिण तथा उत्तरकी ओर फैल गईं। गवाक्ष अधिक नही थे, किन्तु जो थे वे बहुत बड़े थे। अतः किरणें ऐसी दीखती थी मानो लाल रंगके पट्टे खींचे गये हों। और आकाश अपने वैभवमें प्रतिष्ठित मालूम होता था। मैंने माना था उससे कुछ अधिक समय तक यह शोभा कायम रही; इससे उसीको देखते रहनेकी अभिलाषा रखनेवाला मन कुछ तृप्त-सा हुआ।

जहां कुमारीके न-हुए-विवाह-के अक्षत बिखरे हुए हैं, उस ओरकी शिला पर

हम लहरोंका तांडव देखनेके लिए जा बैठे। देखते-ही-देखते संध्या पश्चिममें विलीन हो गई और चंद्रका राज्य आरम्भ हुआ। बादलोंने आकाशको घेर लेनेका मनसूबा अभी पूरा नहीं किया था, इतनेमें दक्षिणकी ओरके बादलोंमेंसे एक बड़ा सितारा चमकने लगा। वह दूसरा कौन हो सकता था? स्वयं अगस्ति महाराज दक्षिण-पूर्व दिशा पर आरूढ़ हो रहे थे। सौभाग्यसे यमुना और याममत्स्य भी तिरछी रेखामें आकाशमें दिखाई दिये। दक्षिण दिशाका ध्यान करनेका फल मिला। संतुष्ट हुई आंखोंसे हमने उत्तरकी ओर दृष्टि डाली। वहां आकाशमें देवयानी (कैसियोपिया) का M ऊपर तक चढ़ा हुआ था। उसके नीचे लगभग क्षितिजके पास एक ताड़के जितनी ऊंचाई पर उसी ताड़के पत्तेका आसन बनाकर ध्रुवकुमारने हमें अपना सुभग दर्शन दिया। देवयानी और ध्रुवको देखते-देखते दृष्टि पश्चिमकी ओर मुड़ी; वहां हंसने बताया कि श्रवण तो कबके अस्त हो गये हैं। अतः पूर्वकी ओर देखा। ब्रह्महृदयने कहा कि ब्रह्ममंडलका विस्तार इतनेमें ही कहीं होना चाहिये।

हमने फिर दक्षिणकी ओर मुंह किया। अगस्ति इतना ऊंचा नहीं आया था कि हम उसकी कुटियाकी कल्पना कर सकें। किन्तु व्याध तो दिखना ही चाहिये। व्याध चाहे जितना तेजस्वी हो, तो भी बादलोंके मोटे स्तरको किस तरह बींध सकता है? फिर हमने अपनी दृष्टिसे बादलोंका स्तर भेदनेका प्रयत्न किया। संदेह हुआ कि बादलोंका जो हिस्सा कुछ विशेष उजला मालूम होता है उसीके पीछे व्याध होना चाहिये। बादलोंके उस पार व्याधका प्रकाश और इस पार हमारी दृष्टि—दोनोंके हमलेसे बादल पतले हुए; और जिस प्रकार पतले परदेके पीछेसे नाटकके पात्र दिखाई देते हैं, उसी प्रकार व्याध दिखाई देने लगा। देखते ही देखते व्याध पूर्ण रूपमें सामने आया और उसके बाद व्याध, अगस्ति, यमुना और याममत्स्यकी शोभा तेलुगु अक्षरोंकी शिरोरेखा जैसी दिखाई देने लगी।

अभी मृग दिखाई देगा, रोहिणी चमकेगी, प्रश्वन झांकेगा, ऐसी आशासे हम आकाशकी ओर ताक रहे थे, इतनेमें रजनीनाथने अपने आसपास कुंडल फैलाया और इस सुवर्ण-वलयके साथ आकाशमें बादल भी बढ़े। आकाशमें चंद्रिका फैली हो तो भी क्या? रातके बादल हमारा ध्यान बहुत आकर्षित नहीं कर सकते थे। अतः हमने अत्यन्त काले समुद्रके गंभीर जल पर नाचते सफेद फेनकी चमकती हुई रेखाओंकी पंक्तियां देखकर ही आंखोंको तृप्त किया।

समुद्रके जल पर और आकाशके बादलों पर विविध रंगोंके नाच जी भरकर देखनेके बाद यह गंभीरता इतनी तृप्तिदायक मालूम हुई कि इस तृप्तिके साथ स्थित-प्रज्ञका आदर्श गानेमें और संध्याकी उपासना करनेमें अनोखा आनंद आया। यह सागर पूर्ण है। उस पर फैला हुआ आकाश पूर्ण है। इन दोनोंके दर्शनसे जीवनकी संध्याके समय हृदयमें उद्‌भूत हमारा शांति-प्रधान आनंद भी पूर्ण है। अब इस त्रिविध पूर्णतामेंसे कुछ भी निकाल लीजिये या कुछ भी उसमें जोड़ दीजिये, पूर्णत्व-

में कोई कमी नहीं होगी। पायी हुई पूर्णता कम हो सकती है, क्योंकि वह सच्ची पूर्णता नहीं है। साधी हुई पूर्णता स्थायी है; क्योंकि इस विरासतके साथ ही हम पैदा हुए थे। वहां तक पहुंचनेमें विलंब हुआ यही दोष है। जो पूर्णता साधी वह आत्मसात् हो गई। अब वहांसे चढ़ने-उतरनेका प्रश्न ही नहीं है।

जो विराट् है, अनन्त है, बृहत्तम है, उसके साथ एकरूप होनेके बाद जो जीवन स्वाभाविक रूपमें जिया जा सकता है, वही सच्चा ब्रह्मचर्य है। वासनाको दबा देने पर वह फिर कभी भी उछल सकती है। वासनाको मार डालने पर वह भूतकी तरह हैरान कर सकती है। वासनाको तृप्त करनेके उपाय किये जायं तो व्यसनकी तरह वह सदाके लिए चिपक जायगी और बढ़ेगी। वासनाका स्वागत किया जाय तो वह दिमागमें मंडराने लगेगी। वासनाका तो मुकाबला करके उससे पूछना चाहिये कि तू कौन है? मित्रके रूपमें शत्रुता करने आयी है या जीवनको समृद्ध करनेकी साधनाके रूपमें आयी है? वासना जब तक स्पष्ट और खुली नही होती, तब तक ही वह मोहक मालूम होती है। मोह अस्पष्टताका होता है, एकांगी दर्शनका होता है। वासनाके वश होनेमें मुख्य मदद अंधेपनकी ही होती है। वासनाका अंधा विरोध भी उसको मजबूत ही बनाता है। दो आंखोंसे देखकर हम वासनाको पहचान नही सकते। उसकी ओर महादेवजीकी तरह तीन आखोंसे देखना चाहिये। फिर उसकी शत्रुता अपने-आप खतम हो जाती है।

वासनाका सामना केवल तपस्यासे नही हो सकता; सच तो यह है कि प्रज्ञाके स्थिर होनेके बाद वासनाका विरोध ही नहीं करना पड़ता।

जीवनमें जब तक हमे अपूर्णताका भान है, तब तक हम यह नहीं कह सकते कि ब्रह्मचर्य सिद्ध हुआ है। अपूर्णता स्वयं बाधक नही है। बालकमें अपूर्णता कम नही होती। वह निर्मल भावसे जीवन जीता रहता है और उसकी अपूर्णता स्वाभाविक क्रमसे कम होती जाती है। अपूर्णताका भान हुआ कि तुरंत मनुष्य पामर बन जाता है। सागरकी तरह पूर्ण होनेके बाद लहरें चाहे उतनी उछलती-कूदती रहें, पानीका जत्था चाहे वहां दौड़ता रहे; किन्तु सागरको बहनेकी आवश्कता नही रहती। वह 'आत्मनि तृप्तः' है, इसीलिए उसको अपनी मर्यादा छोड़नेकी जरूरत नही होती। उसको अपनी मर्यादाका भान ही नहीं है; इसीलिए अनायास, अभावित रूपमें मर्यादाका पालन उसके द्वारा होता रहता है। यही सच्चा ब्रह्मचर्य है।

प्रार्थना पूरी की और पिछले चार दिनके संस्मरण लिखनेकी ऊर्मि जागी। कुछ लिखनेके बाद ही नींद आ सकी।

दूसरे दिन ब्राह्म-मुहूर्तमें भूतकी तरह मैं समुद्र-तट पर जा बैठता, किन्तु बारिशने रोक दिया। प्रार्थनाके समय समुद्र-तट पर जाते-जाते फिरसे आकाशकी ओर देखा। दक्षिण दिशा इतनी साफ, सुन्दर और पारदर्शक थी कि पूर्वकी ओर जमे हुए बादलों पर मनमें गुस्सा आया। उन्होंने यदि दक्षिणका अनुकरण किया

होता तो उनका क्या बिगड़ जाता ?

दक्षिण दिशामें त्रिशंकु बराबर खड़ा था। जय-विजय उसके द्वारपालोंका काम कर रहे थे। 'कैरीना' या झूठा क्रॉस एक ओर जाकर पड़ा था। उन दोनोंके बीच कुछ ऐसे सुन्दर तारे चमक रहे थे, जो वर्धा या बंबईके लोगोंको जीवनमें कभी भी देखनेको नहीं मिलते।

उत्तरकी ओर सप्तर्षि पूर्ण नम्रताके साथ फैले हुए थे। ध्रुव रातकी तरह करीब-करीब जमीनको छूने जा रहा था। स्वाति और चित्रा सिर पर चमक रहे थे। हस्त कुछ टेढ़ा हो गया था। पश्चिमकी ओर चंद्र अस्त हो चुका था, किन्तु चंद्रिका अभी अपना अस्तित्व बता रही थी। पुनर्वसुकी नावमेंसे केवल प्रश्वन ही बादलोंको भेदकर झाक रहा था। अकेला तारा ऐकाकी अपने स्वभावके अनुसार प्रश्वन और मघासे कुट्टी करके दूर जा कर खड़ा हो गया था। मघाका हंसिया फाल्गुनीके चौकोनको संभाल रहा था। पूर्वकी ओर विशाखाके नीचे गुरु और शुक्र शोभायमान थे। और ये दोनों काफी ऊंचे चढ़ आये थे, इसीलिए पतली अनुराधा, टेढ़ी ज्येष्ठा और नुकीला मूल उनको सहारा दे रहा था। गुरु और शुक्र जब पारिजातके पास आते हैं, तब इन तीनोंकी तुलना सुन्दर होती है। और मंगलके उनके पास न होनेका दुःख नहीं होता।

मुझे हिन्दुस्तानकी एक ज्योतिर्मयी व्याख्या सूझी है। कन्याकुमारीके दक्षिणमें यदि हम जायें तो ध्रुव दिखाई नहीं देता; और कश्मीरके उत्तरकी ओर जायें तो दक्षिण दिशामें अगस्ति दिखाई नही देता। अतः मैंने यह व्याख्या बनाई है कि जिस प्रदेशमें ध्रुव और अगस्ति दोनों दिखाई पड़ते हैं वही हमारा भारत देश है।

प्रार्थनाके बाद, सब प्राणियोंको जो उदर-भरण नामक यज्ञकर्म करना पड़ता है उसे हमने भी पूर्ण किया और नहानेके लिए तैयार किये हुए कुंडमें उतरे। नये ढंगसे बनाये हुए इस कुंडमें समुद्रका पानी निरन्तर आता रहता है। आधा कुंड चार फुट गहरा है। बाकीका आठ फुट गहरा है। कपड़े बदलनेके लिए दो कमरे भी बनाये गये हैं। इस तरहकी सुघड़ व्यवस्था धार्मिक पुण्यको कम करती है, ऐसा नहीं मानना चाहिये। नहाकर हम कन्याकुमारीके दर्शन करने गये। यह मंदिर त्रावणकोरके हिन्दू राज्यमें है, अतः हरिजनोंके लिए वह बहुत समयसे खुला कर दिया गया है। मंदिरके द्वार पर सरकारका घोषणापत्र लगा है कि जो जन्म या धर्मसे हिन्दू हैं, वे ही इस मंदिरमें प्रवेश कर सकते हैं।

मंदिरका स्थापत्य सादा किन्तु प्रशस्त है। पत्थरके खभों पर छतके तौर पर पत्थर ही आड़े रखनेके कारण अन्दरसे सारा मंदिर तहखानेकी तरह मालूम होता है। देवीकी मूर्ति पूर्व दिशाकी ओर देखती है किन्तु उस ओरका बाहरका दरवाजा बंद होनेसे देवीको समुद्रका दर्शन नहीं होता, न समुद्रको देवीका दर्शन होता है! बेचारे बंगाल-सागरने कभी यह दावा नहीं किया होगा कि वह जन्म या धर्मसे हिन्दू

है ! और समुद्र होनेके कारण मर्यादाका उल्लंघन करके भी वह मंदिरमें प्रवेश कर नहीं सकता ! !

कन्याकुमारीकी कथा बड़ी करुण है। यहांके किनारे पर बिखरी हुई अक्षतके जैसी सफेद मोटी रेत, माणिकके चूर्ण जैसी लाल रेतका गुलाल और स्याहीचूसके तौर पर उपयोगमें लाई जानेवाली काली रेत—ये सब प्राकृतिक चीजें उस करुण कहानीको और भी करुण बनानेमें मदद करती है। संसारके सभी महाकाव्य यदि करुणान्त होते हैं, तो हिन्द महासागरकी अधिष्ठात्री देवी कन्याकुमारीकी कथा भी करुणान्त हो यही उपपन्न है। करुण रसमें जो गहराई होती है, उसीके द्वारा जीवनकी प्रतीति हो सकती है।

दु:खं सत्यं सुखं माया; दु:खं जन्तो: परं धनम्।
..................दु:खं जीवन-हृद्‌गतम्॥

छिछला जीवन मानता है कि सुख ही जीवनकी अनुभूति है, जीवनका सार-सर्वस्व है। इस भ्रमको मिटानेका काम दु:खको सौंपा गया है। दु:खसे परास्त न होकर जो मनुष्य जीवनकी साधनाके तौर पर दु:खको स्वीकार करता है, वही सुख-दु:खसे परे होकर जीवन-समृद्धिका आनंद भोग सकता है। यह आनंद सुख-दु:खातीत होनेके कारण सागरके जैसा गभीर और आकाशके जैसा अनंत होता है।

इस आनंदके भाग्यमें किसीके साथ विवाह-बद्ध होना नही लिखा है !

दिसम्बर, १९४७

६३. वर्षा-गान

कालिदासका एक श्लोक मुझे बहुत प्रिय है। उर्वशीके अंतर्धान होने पर वियोग-विह्वल राजा पुरूरवा वर्षा-ऋतुके प्रारंभमें आकाशकी ओर देखता है। उसको भ्रांति हो जाती है कि एक राक्षस उर्वशीका अपहरण कर रहा है। कविने इस भ्रमका वर्णन नहीं किया; किन्तु वह भ्रम महज भ्रम ही है, इस बातको पहचाननेके बाद, उस भ्रमकी जड़में असली स्थिति कौनसी थी, उसका वर्णन किया है। पुरूरवा कहता है—"आकाशमें जो भीमकाय काला-कलूटा दिखाई देता है, वह कोई उन्मत्त राक्षस नही किन्तु वर्षाके पानीसे लबालब भरा हुआ एक बादल ही है। और यह जो सामने दिखाई देता है वह उस राक्षसका धनुष नही, प्रकृतिका इन्द्र-धनुष ही है। यह जो बौछार है, वह बाणोंकी वर्षा नहीं, अपितु जलकी धाराएं हैं और बीचमें यह जो अपने तेजसे चमकती हुई नजर आती है, वह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं, किन्तु कसौटीके पत्थर पर सोनेकी लकीरके समान विद्युल्लता है !!"

कल्पनाकी उड़ानके साथ आकाशमें उड़ना तो कवियोंका स्वभाव ही है किन्तु

आकाशमें स्वच्छन्द विहार करनेके बाद पंछी जब नीचे अपने घोंसलेमें आकर इत-मीनानके साथ बैठता है, तब उसकी उस अनुभूतिकी मधुरिमा कुछ और ही होती है। दुनियाभरके अनेकानेक प्रदेश घूमकर स्वदेश वापस लौटनेके बाद मनको जो अनेक प्रकारका संतोष मिलता है, स्थैर्यका जो लाभ होता है और निश्चिन्तताका जो आनन्द मिलता है, वह एक चिर-प्रवासी ही बता सकता है। मुझे इस बातका भी संतोष है कि कल्पनाकी उड़ानके बाद जलधाराओंके समान नीचे उतरनेका संतोष व्यक्त करनेके लिए कालिदासने वर्षा-ऋतुको ही पसन्द किया।

• ० •

आजकल जैसे यात्राके साधन जब नहीं थे और प्रकृतिको परास्त करके उस पर विजय पानेका आनन्द भी मनुष्य नहीं मनाते थे, तब लोग जाड़ेके आखिरमें यात्राको निकल पड़ते थे और देश-देशान्तरकी संस्कृतियोंका निरीक्षण करके और सभी प्रकारके पुरुषार्थ साधकर वर्षा-ऋतुके पहले ही घर लौट आते थे।

उस युगमें संस्कृति-समन्वयका 'मिशन' (जीवन-कार्य) अपने हृदय पर वहन करनेवाले रास्ते अनेक खण्डोंको एक-दूसरेसे मिलाते थे। जीवन-प्रवाहको परास्त करनेवाले पुलोंकी संख्या बहुत कम थी—जो थे, वे सेतु ही थे। उन सेतुओंका काम था, जीवन-प्रवाहको रोक लेना और मनुष्योंके लिए रास्ता कर देना। लेकिन जब जीवनको यह बंधन असह्य-सा मालूम होने लगता था, तब सेतुओंको तोड़ डालना और पानीके बहावके लिए रास्ता मुक्त कर देना प्रवाहका काम होता था। यह था पुराना क्रम। यही कारण था कि नदीनालोंका बढ़ा हुआ पानी रास्तों और सेतुओंको तोड़े, उसके पहले ही मुसाफिर अपने-अपने घर लौट आते थे। इसीलिए वर्षा-ऋतुको वर्षकी 'महिमामयी ऋतु' माना है।

असलमें 'वर्ष' नाम ही वर्षासे पड़ा है। 'हमने कुछ नहीं तो पचास बरसातें देखी हैं!' इन शब्दोंसे ही हमारे बुजुर्ग प्रायः अपने अनुभवोंका दम भरते हैं।

० ० ०

बचपनसे ही वर्षा-ऋतुके प्रति मुझे असाधारण आकर्षण रहा है। गरमीके दिनोंमें ठण्डे-ठण्डे ओले बरसानेवाली वर्षा सबको प्रिय होती है। लेकिन बादलोंके ढेरोंसे लदी हुई हवाएं जब बहने लगती हैं, बिजलियां कड़कती हैं और यह महसूस होने लगता है कि अब आकाश तड़क कर नीचे गिर पड़ेगा, तबकी वर्षाकी चढ़ाई मुझे बचपनसे ही अत्यन्त प्रिय है। वर्षाके इस आनन्दसे हृदय आकण्ठ भरा हुआ होने पर भी उसे वाणीके द्वारा व्यक्त नहीं कर पाऊंगा और व्यक्त करने जाऊंगा तो भी उसकी तरफ हमदर्दीसे कोई ध्यान नहीं देगा, इस खयालसे मेरा दम घुटता था।

० ० ०

आसपासकी टेकरियों परसे हनुमानके समान आकाशमें दौड़नेवाले बादल जब आकाशको घेर लेते थे, तब उसे देखकर मेरा सीना मानो भारसे दब जाता था।

लेकिन सीने परका यह बोझ भी सुखद मालूम होता था। देखते-देखते विशाल आकाश संकुचित हो गया, दिशाएं भी दौड़ती-दौड़ती पास आकर खड़ी हो गईं और आसपासकी सृष्टिने एक छोटेसे घोंसलेका रूप धारण किया। इस अनुभूतिसे मुझे वह खुशी होती थी जो पक्षी अपने घोंसलेका आश्रय लेने पर अनुभव करता है।

लेकिन जब हम कारवार गये और पहली बार ही समुद्र-तट परकी वर्षाका मैंने अनुभव किया, तबके आनन्दकी तुलना तो नयी सृष्टिमें पहुंचनेके आनन्दके साथ ही हो सकती है।

० ० ०

बरसातकी बौछारोंको जमीनको पीटते मैंने बचपनसे देखा था लेकिन उसी वर्षाको मानो बेंतसे समुद्रको पीटते देखकर और समुद्र पर उसके सांट उठे देखकर इतने बड़े समुद्रके बारेमें भी मेरा दिल दया और सहानुभूतिसे भर जाता था। बादल और वर्षाकी धाराएं जब भीड़ करके आकाशकी हस्तीको मिटाना चाहती थी तो उसका मुझे विशेष कुछ नही लगता था, क्योंकि बचपनसे ही मैं इसका अनुभव करता आया था। लेकिन वर्षाकी धाराए और उनके सहायक बादल जब समुद्रको काटने लगते थे तब मैं बेचैन हो जाता था। रोना नही आता था, लेकिन जो कुछ अनुभव करता था उसे व्यक्त करनेके लिए 'फूट-फूटकर' यह शब्द काममें लेनेकी इच्छा होती है। वर्षा चाहे तो पहाड़ों पर धावा बोल सकती है, चाहे खेतोंको तालाब और रास्तोंको नाले बना सकती है; लेकिन समुद्रको अपनी दरी समेटनेके लिए बाध्य करना मर्यादाका अतिक्रमण-सा मालूम होता था। अवज्ञाके इस दृश्यको देखनेमे भी मुझे कुछ अनुचित-सा प्रतीत होना था।

० ० ०

मेरी यह वेदना मैंने भूगोल-विज्ञानसे दूर की। मैं समझने लगा कि सूर्यनारायण समुद्रसे लगान लेते हैं और इसीलिए तप्त हवामें पानीकी नमी छिपकर बैठती है। यही नमी भापके रूपमे ऊपर जाकर ठण्डी हुई कि उसके बादल बनते हैं, और अन्तमे इन्ही बादलोंसे कृतज्ञताकी धाराए बहने लगती हैं, और समुद्रको फिरसे मिलती हैं।

गीतामे कहा गया है कि यह जीवन-चक्र प्रवर्तित है इसीलिए जीवसृष्टि भी कायम है। इसी जीवन-चक्रको गीताने 'यज्ञ' कहा है। यह यज्ञ-चक्र यदि न होता तो सृष्टिका बोझ भगवानके लिए भी असह्य हो जाता। यज्ञ-चक्रके मानी ही हैं परस्परावलबन द्वारा सधा हुआ स्वाश्रय। पहाड़ों परसे नदियोंका बहना, उनके द्वारा समुद्रका भर जाना; फिर समुद्रके द्वारा हवाका आर्द्र होना; सूखी हवाके तृप्त होते ही उसका अपनी समृद्धिको बादलोके रूपमें प्रवाहित करना और फिर उनका अपने जीवनका अवतार-कृत्य प्रारंभ करना—इस भव्य रचनाका ज्ञान होने पर जो संतोष हुआ वह इस विशाल पृथ्वीसे तनिक भी कम नहीं था।

तबसे हर बारिश मेरे लिए जीवन-धर्मकी पुनर्दीक्षा बन चुकी है।

० ० ०

वर्षा-ऋतु जिस तरह सृष्टिका रूप बदल देती है, उसी तरह मेरे हृदय पर भी एक नया मुलम्मा चढ़ाती है। वर्षाके बाद मैं नया आदमी बनता हूं। दूसरोंके हृदय पर वसन्त-ऋतुका जो असर होता है, वह असर मुझ पर वर्षासे होता है। (यह लिखते-लिखते स्मरण हुआ कि साबरमती जेलमें था तब वर्षाके अन्तमें कोकिलाको गाते हुए सुनकर 'वर्षान्ते वसंत' शीर्षकसे एक लेख मैंने गुजरातीमें लिखा था।)

० ० ०

गरमीकी ऋतु भूमाताकी तपस्या है। जमीनके फटने तक पृथ्वी गरमीकी तपस्या करती है और आकाशसे जीवन-दानकी प्रार्थना करती है। वैदिक ऋषिओंने आकाशको 'पिता' और पृथ्वीको 'माता' कहा है। पृथ्वीकी तपश्चर्याको देखकर आकाश-पिताका दिल पिघलता है। वह उसे कृतार्थ करता है। पृथ्वी बालतृणोंसे सिहर उठती है और लक्षावधि जीवसृष्टि चारों ओर कूदने-विचरने लगती है। पहलेसे ही सृष्टिके इस आविर्भावके साथ मेरा हृदय एकरूप होता आया है। दीमकके पंख फूटते हैं और दूसरे दिन सुबह होनेसे पहले ही सबकी-सब मर जाती हैं। उनके जमीन पर बिखरे हुऐ पंख देखकर मुझे कुरुक्षेत्र याद आता है। मखमल-के कीड़े जमीनसे पैदा होकर अपने लाल रंगकी दोहरी शोभा दिखाकर लुप्त हुए कि मुझे उनकी जीवन-श्रद्धाका कौतुक होता है। फूलोंकी विविधताको लजानेवाले तितलियोंके परोंको देखकर मैं प्रकृतिसे कलाकी दीक्षा लेता हूं। प्रेमल लतायें जमीन पर विचरने लगी, पेड़ पर चढ़ने लगीं और कुएंकी थाह लेने लगी कि मेरा मन भी उनके जैसा ही कोमल और 'लागूती' (लगौहां) बन जाता है। इसीलिए बरसातमें जिस तरह बाह्य-सृष्टिमें जीवन-समृद्धि दिखाई देती है, उसी तरहकी हृदय-समृद्धि मुझे भी मिलती है और बारिश शेष होकर आकाशके स्वच्छ होने तक मुझे एक प्रकारकी हृदय-सिद्धिका भी लाभ होता है। यही कारण है कि मेरे लिए वर्षा-ऋतु सब ऋतुओंमें उत्तम ऋतु है। इन चार महीनोंमें आकाशके देव भले ही सो जायं, मेरा हृदय तो सतर्क होकर जीता है, जागता है और इन चार महीनोंके साथ मैं तन्मय हो जाता हूं।

'मधुरेण समापयेत' के न्यायसे वसन्त-ऋतुका अन्तमें वर्णन करनेके लिए कालिदासने 'ऋतुसंहार' का प्रारंभ ग्रीष्म-ऋतुसे किया। मैं यदि 'ऋतुभ्यः' की दीक्षा लूं और अपनी जीवन-निष्ठा व्यक्त करने लगूं, तो वर्षा-ऋतुसे एक प्रकारसे प्रारंभ करके फिर और ढंगसे वर्षा-ऋतुमें ही समाप्ति करूंगा।

जुलाई, १९५२

६४. समन्वय-साधिका सरस्वती

सरस्वती का नाम याद करते ही मन कुछ ऐसा विषण्ण होता है। भारत की केवल तीन ही नदियोंका नाम लेना हो तो गंगा, यमुनाके साथ सरस्वती आयेगी ही। अगर सात नदियोंको पूजामें मददके लिए बुलाना है तो उनके बीच बराबर मध्यमें सरस्वती को याद करना ही पड़ता है :

गगे च, यमुने चैव, गोदावरि, सरस्वति !
नर्मदे, सिंधु, कावेरि ! जलेस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

और अगर तीन भारतीय पहाड़ोंकी असंख्य कन्याओंका स्मरण-चिंतन करना है तो उनमे न मालूम कितनी छोटी-छोटी नदिया सरस्वतीका नाम धारण करके हमारे सामने खड़ी होंगी, लेकिन संस्कृतिपूजक भारतीय हृदय विषादके साथ कहता है कि हमारी असली सरस्वती नदी, जो एक दफे बहती थी और आज जो लुप्त हो गई है, वह कहांसे निकली, कहां भूमिमें छिप गई, और किस रेगिस्तानमे सदाके लिए लुप्त हो गई, यह निश्चित रूपसे कह नही सकते।

दुनियाकी सब नदियां अपना-अपना जल सागरको देकर कृतार्थ होती हैं, लेकिन चंद नदियां अधिक परोपकारी होती हैं। वे कहती है, "असंख्य नदियोंका जल सतत लेते हुए भी जो खारा-का-खारा ही रहता है, उसे हम पति क्यों बनावें ? जहां लोगोंको पीनेके लिए पानीकी बूंद भी नहीं मिलती, वहां कभी जमीनके ऊपर और ज्यादातर जमीनके अंदर, गुप्त रूपसे बहकर रेतके मैदानमें समा जाना, यह भी एक पवित्र जीवन-साधना है।" ऐसा कहकर रेगिस्तानको अपना जीवन सौप देनेमें वे धन्यता अनुभव करती है।

यह देखकर संस्कृतिकी उपासना करनेवाले उत्तरकालीन ऋषियोंने तय किया कि अनेक सरोवरोंके कारण, जिसे हम सरस्वती (सरसवती) कहते थे, उस पुरानी नदीको बाजू पर रखकर हमारे मानस-सरोवरमें जिसका उद्गम हुआ, अपने जीवनसे जो हमारा जीवन कृतार्थ करती है, और हमारे हृदय-सागरमें जा पहुंचती है, उस 'संस्कृति-विद्यारूपी' सरस्वतीको ही हम अपनी पूजामे स्थान देंगे। जहां गंगा और यमुना अपना जल एकत्र करती हैं, उस तीर्थ-स्थानमें बैठकर ऋषियोंने यज्ञ-याग चलाये। यज्ञ-यागके लिए उस स्थानको प्रकृष्ट माना, और उसे नाम दिया प्रयाग (आज लोग उसे इलाहाबाद कहते हैं)।

इस प्रयाग तीर्थमें गंगा-यमुनाका संगम तो है ही, लेकिन हमारे सारे ऋषि-मुनि अपनी सारी विद्याओंके प्रवाहोंको संस्कृतके अध्यापनके द्वारा यही बहाते हैं। इस तरह वहां पर त्रिवेणी-संगम है। गंगा-यमुनाका जल आंखोंसे देखा जाता है; सांस्कृतिक सरस्वतीका दैवी प्रवाह हम श्रद्धाकी आंखोंके द्वारा ही देख सकते हैं। इसीलिए प्रयागको हम 'त्रिवेणीसंगम' कहते हैं। हमारी सरस्वती यहां अखण्ड

बहती रहेगी और सारे भारतको और सारी पृथ्वीको चैतन्यका जल देती रहेगी। स्थूल सरस्वती तो विस्मृतिके रेगिस्तानमें लुप्त हो गई होगी। संस्कृत-संस्कृतिकी यह विद्या—सरस्वती—कभी भी लुप्त नहीं हो सकेगी। दुनियाकी सब संस्कृतियोंका भारतमें संगम होता रहेगा, और एक दिन आयेगा, जब दुनिया भारतको समन्वय-तीर्थ कहेगी। त्रिवेणी-संगम अनंतवेणी-संगम बनेगा।

भारत-भाग्य-विधाता चाहता है कि इस माहात्म्यके लिए योग्य बनना, यही हमारी जीवन-साधना बने!

१२ मार्च, १९७३

६५. भारतका सबसे बड़ा नद ब्रह्मपुत्र

और तो सब नदियां हैं, केवल सिंधु और ब्रह्मपुत्र ये दो नद—ऐसा भेद हम भारतीयोंने कबका तय किया है। ये दोनों हैं ही ऐसे। विशालकाय और दीर्घवाही जलप्रवाह, जो कैलास मानस-सरोवरके एक ही प्रदेशमें जन्म लेकर परस्पर भिन्न दिशामें बहते नगाधिराज हिमालयकी प्रदक्षिणा करके पश्चिम और पूर्व भारतकी सेवा करते-करते, हिंद महासागरके दो विभागोंको अपने विशाल जलका अर्घ्य अर्पण करते हैं। सिंधुको तो पंजाबकी सब नदियां अपना जल अर्पण करती ही है, उसके बाद सिंधुने पंजाबके दक्षिणवर्ती प्रदेशको अपना ही नाम अर्पण किया है।

इधर ब्रह्मपुत्रने हिमालयका पूरबका सिरा देखकर, दक्षिणकी ओर जानेका सोचा।

पौराणिक इतिहास कहता है कि सौराष्ट्रके श्रीकृष्णके लड़के प्रद्युम्नने भारतके दूसरे सिरेकी, शोणितपुरकी राजकन्याके साथ विवाह करके भारतको एक कर दिया। जो हो, कैलास प्रदेशकी सांग्पो नाम धारण करनेवाली नदी ब्रह्मपुत्रका नाम लेकर भारतकी ओर मुड़ गई है। असलमें सांग्पो नदी ही 'दीहंग'का नाम लेकर भारतकी ओर मुड़ती है और पूर्वकी लोहित नदी सदियाके पास दीहंगसे मिलकर ब्रह्मपुत्रका नाम धारण करती है।

मैं इस प्रदेशमें काफी घूमा हूं। वहांके पहाड़ों परसे इन नदियोंका मैंने भव्य दर्शन किया है। पासीघाट, सदिया, दुमदुमा और डिब्रूगढ़ आदि स्थानोंमें बैठकर इस प्रदेशका वर्णन मैंने अनेक प्रकारसे लिखा है। लेकिन अब वे सारी बातें पुरानी हो गई हैं। वह सारा वर्णन एकत्र करके अगर मैं ब्रह्मपुत्रको अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करूं, तो ब्रह्मपुत्रके लिए वह सच्ची श्रद्धांजलि होगी। आज मैं इतना ही कहूंगा कि ब्रह्मपुत्र नद पूरबकी ओर गोआलपाड़ा तक जाकर वहांसे दक्षिणकी ओर मुड़ता है। फिर यह नद जमुनाका नाम लेता है। आगे जाकर वह पद्मा

बनकर मेघनाके पानीको स्वीकार करता है और उसीका नाम धारण करके अनेक मुखों द्वारा समुद्रको मिलता है। यह सारा प्रदेश अब पाकिस्तानसे स्वतंत्र हुए बंगला देशके अंतर्गत है।

हुगली-गंगासे लेकर मेघना तक सारे प्रदेशको सुन्दरवन कहते हैं। यह सारा प्रदेश गंगा और ब्रह्मपुत्रके असंख्य मुखोंसे बना हुआ है। ये सब नदिया अपना पानी बंगालके उपसागरको देकर कृतार्थ होती हैं।

१२ मार्च, १९७३

९९. सह्याद्रिको श्रद्धांजलि

जिस तरह कृष्णाके किनारे महाराष्ट्रकी राजधानी सातारामें जन्म होनेके कारण मैं अपनेको कृष्णापुत्र कहलाता हूं उसी तरह सह्याद्रिकी गोदमें पला हुआ होनेके कारण मैं अपनेको सह्यपुत्र भी कहलाता हूँ। औरंगजेबने हमारे शिवाजी-के प्रति अपना तिरस्कार बतानेके लिए भले ही उसे 'पहाड़का चूहा' कहा हो, मैं हमारे सह्याद्रिका चूहा होने पर भी गौरव अनुभव करता हूँ। सह्याद्रि तो भारत-भूमिकी पश्चिमकी रीढ़ है। खंभातसे लेकर कन्याकुमारी तक जो पश्चिम सागर फैला हुआ है उसका स्वागत करनेका, उसके साथ बातें करनेका अधिकार सह्याद्रि-का ही है। और पश्चिम सागर भी हर साल ग्रीष्मकालके बाद अपने लवण जलसे मीठे बादल बनाकर सह्याद्रिका अभिषेक करता रहता है। प्रकृति माताका वह बड़ा वार्षिक महोत्सव है। सह्याद्रिके ऊंचे-ऊंचे शिखरों पर जब ये बादल बरसने लगते हैं तब हम पर्वत-पुत्र आनन्द-विभोर हो जाते है और उन्मत्त होकर नाचने लगते हैं। सह्याद्रिकी नदियां अपने पिताका गौरव कभी नही भूलतीं। पक्षपात-रहित पूर्व और पश्चिम दोनों सागरोंको अपनी श्रद्धांजलियां अर्पित करती रहती हैं। जो नदियां पूर्वकी ओर जाती हैं, उन्हें दूर-दूरकी यात्रा करनी पड़ती है। पश्चिमकी नदियां मस्तीमें आकर कायोत्सर्ग करके बड़ी ऊंचाईसे नीचे कूद पड़ती हैं और देखते-देखते पूरे वेगसे सागरमें जा मिलती हैं। इसीलिए शायद पश्चिमकी ओरका सागर इतना ज्यादा गहरा है। हिमालय अगर भारतका पूर्व-पश्चिम अन्तर नापता है, तो सह्याद्रि भी 'दक्षिण प्रदेश'का उत्तर-दक्षिण अन्तर नापता है।

रामायण, महाभारत और भागवत हमारे देशकी और हमारे संस्कृतिकी गाथाएं होनेके कारण हमारे लिए वंदनीय और शिरोधार्य हैं ही। लेकिन दक्षिणके हम लोगोंकी जीवन-गाथा हम यहांके लोकगीतोंमें पाते हैं।

पेड़ जिस तरह अपने फूलों और फलोंसे सुशोभित होते हैं उसी तरह हमारा सह्याद्रि हमारे पुरखोंके बांधे हुए पहाड़ी किलोंसे सुशोभित है। इनको हम

दुर्ग कहते हैं। जहां जाना आसान नहीं है, वे होते हैं दुर्ग। बादशाह औरंगजेबने हम लोगोंको पहाड़के चूहे कह कर हमारी अवहेलना की, लेकिन वह हमें दबा नहीं सका। दिल्लीकी फौजें और दिल्लीका खजाना लेकर वह चूहोंको दबानेके लिए हमारे राज्यमें आया। हमारे किले जीत लेना उसके लिए अशक्य नहीं था, लेकिन हमने एक भी किला शत्रुके और अपने गरम-गरम लोहेकी कीमत लिये-दिये बिना छोड़ा नहीं और हम जानते भी थे कि विजयी औरंगजेबके पास एक भी किला अपने वशमें रखनेकी ताकत नही थी। नया किला लिया और जीता हुआ पुराना किला खो दिया—ऐसा खेल उन्नीस बरस तक वह खेला। और न जाने किस मुहूर्तमें वह महाराष्ट्र आया था, कि फिर दिल्ली लौट नहीं सका। उसकी हडडियां महाराष्ट्रकी मध्यकालीन राजधानी औरंगाबादके पास ही आराम कर रही हैं। मैंने औरंगजेबको महाराष्ट्री बादशाह कहा है। महाराष्ट्रमें जन्म लेनेसे, महाराष्ट्रकी हवामें प्रथम सांस लेनेसे अगर कोई आदमी महाराष्ट्री बन सकता है तो मेरी दलील है कि बारह बरससे अधिक जिसने महाराष्ट्रका अन्न-जल खाया और अपनी अंतिम सांस महाराष्ट्रमें ली, उसे भी हम महाराष्ट्री क्यों न कहें? औरंगजेबको हम पहाड़ी चूहोंके एक दरमें ही अंतिम आरामका स्थान मिला है।

सह्याद्रिके कारण महाराष्ट्रके दो विभाग होते हैं—'कोंकण' और 'देश'। इन दो विभागोंका जीवनक्रम बिलकुल अलग-अलग है। आबोहवामें तो फर्क है ही, आहारमें भी फर्क है। स्वभावमे भी दोनोंकी अलग-अलग खूबियां पायी जाती हैं। यहांतक कि ब्राह्मणोंकी जातियोंमें भी इस स्थान-भेदके कारण दो अलग नाम हुए हैं—कोंकणस्थ और देशस्थ। सह्याद्रिके शिखर तीन हजार और चार हजार फुटसे अधिक ऊंचे होते हुए भी पूर्वसे पश्चिम या पश्चिमसे पूर्व आना-जाना कठिन नहीं है—हमारा पर्वत सह्य जो ठहरा! उसने अपने शिखरोंके बीच आने-जानेके लिए घाटियां रखी हैं। चन्द बहुत कड़ी हैं, ज्यादातर आसान हैं। कोंकण विभागके महत्त्वाकांक्षी लोग अक्सर इन घाटियोंके द्वारा ही सह्याद्रिको लांघकर 'देश' पर जाते हैं और अपने भाग्योदयकी आजमाइश करते हैं। यह प्रक्रिया सदियोंसे चलती आई है और 'देश'के जवां-मर्द इन्ही घाटोंसे नीचे उतरकर कोंकणके बंदरोंमें अपनी शक्तिका परिचय देते हैं और मेहनतकी रोटी कमाते हैं। इन दोनोंके बीच पहाड़के आश्रयसे जो जातियां रहती हैं वे तो मानो गरुड़ पक्षीकी औलाद हैं। इनका युद्ध-कौशल श्रीकृष्णके जमानेसे आजतक अनेक लोगोंने कबूल किया है। पहाड़ परसे बड़े-बड़े पत्थरोंको, नीचेसे आनेवाले शत्रुके सिरकी तलाश लेनेके लिए, भेज देनेकी कला इन्हींकी थी। इनकी मददसे श्रीकृष्णने कई बार आत्म-रक्षा की है।

मैंने बचपनसे लेकर आजतक इन घाटियोंमें कई दफे यात्रा की है। कभी पैदल तो कभी बैलगाड़ी पर, कभी मोटरसे की तो कभी रेलसे, और किश्तीकी मुसाफिरी भी कहीं-कहीं सह्याद्रिकी ही मुसाफिरी गिनी जा सकती है। इन घाटियोंका

आरोहण और अवरोहण मेरे बचपनका असाधारण आनंद था; उसका वर्णन तो विस्तारसे अलग ही करना होगा।

सह्याद्रिकी वनस्पतियां, सह्याद्रिकी वनौषधियां और यहांके महावृक्षोंकी समृद्धिसे किसी भी देशके लोग ईर्ष्या कर सकते हैं। सह्याद्रिके हरेक हिस्सेमे घासके और पेड़के फूल अलग-अलग होते हैं। आर्युवेदमे इन फूलोसे मिलनेवाले शहदके अलग-अलग उपयोग बताये हैं। फ़लां रोगके लिए बैजनाथ पहाड़का शहद अच्छा, फ़लां रोगके लिए महाबलेश्वरका अच्छा, ऐसी खूबियां पुराने ग्रंथोंमें पाई जाती हैं।

मराठी-साहित्यमें सह्याद्रिके अलग-अलग किलोंका वर्णन मिलता है। वनौषधि का विस्तार भी पाया जाता है। वहांके सांपोंके बारेमें भी किसीने कुछ लिख रखा है। यहांके पहाड़ोंकी चट्टानोंमें जो गुफाएं और लयन खोदे हुए हैं उनका वर्णन तो अखिल भारतीय साहित्यमें जगह-जगह पाया जाता है। सोपारा, धारापुरी जोगेश्वरी, कान्हेरी, कारला, भाजा, नासिक, लेण्याद्रि, अजन्ता, वेरूल—ये सब स्थान महाराष्ट्रके और महाराष्ट्रकी संस्कृतिके जरा-जर्जर लेकिन अमर स्मारक है।

पहाड़ोमें जहां नदीका उद्‌गम है वहां सस्कृतिका भी उद्‌गम ढूंढ़नेके लिए साधु-संत गये बिना नही रहते।

इंद्रायणीका उद्‌गम-स्थान लोणावला, भीमाका भीमाशंकर, कृष्णा आदि कई नदियोंका उद्‌गम-स्थान पवित्र महाबलेश्वर, कावेरीका और तुगभद्राका गगामूली आदि सब स्थानों पर सह्याद्रिके तपस्वियोंने ध्यान-चिंतन किया है। उनके आशीर्वाद आज भी हमें मिलते हैं।

सह्याद्रिने तो कन्नड़, तुलू और महाराष्ट्र तीनों भाषाओंके लोगोंको आश्रय दिया हुआ है। तीनोंका इतिहास मिलकर सह्याद्रिका इतिहास होता है।

और दक्षिणका मलय पर्वत तो सह्याद्रिका ही एक उपनिवेश है। उसे अगर सह्याद्रिके साथ ले लिया तो केरलका इतिहास भी ऊपरके इतिहासमें सम्मिलित करना होगा।

जिस तरह एक दफे कलकत्तासे कराची तक बीचमें कहीं ठहरे बिना एक ही उड़ानमे हवाई जहाजकी मुसाफिरी मैंने की थी, अथवा कराचीसे बम्बई तक आकाशमें १८ हजार फुटकी ऊंचाई परसे देशका निरीक्षण किया था, उसी तरह किसी दिन कन्याकुमारीसे लेकर विन्ध्याद्रि तक अगर सह्याद्रिका आपादमस्तक व्योम-दर्शन कर सका तो मैं अपनेको धन्य-धन्य समझूंगा। किसी समय कोलम्बोसे बम्बईकी सीधी हवाई सफर कर सका, तभी यह शक्य होगा। तुलसीदासके पुष्पक-आरोही रामचन्द्रके जैसा स्थान-स्थानके पवित्र तीर्थोंको वंदन करता-करता सह्याद्रिका आंखें भरकर निरीक्षण करूंगा तब तो सरस्वती ही स्वयं उस आनंदका वर्णन कर सकेगी।

परमपिता सह्याद्रिको कोटि-कोटि वंदन! २६ मार्च, '५७

६७. वैगै और कावेरी

भारतीय एकताके प्रखर समर्थक हमारे धर्माचार्योंने और संस्कृत-कवियोंने जिन नदियोंको एक श्लोकमें बांध दिया और अपने पूजा-जलमें जिन नदियोंकी सन्निधि मांग ली, उनमें कावेरीका नाम है :

गंगे च, यमुने चैव, गोदावरि, सरस्वति !
नर्मदे, सिंधु, कावेरि ! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

इसलिए मुझे कावेरीसे ही सबसे पहले क्षमा मांगनी चाहिये। परन्तु मैं कावेरीसे भी सुदूर दक्षिणमें बहनेवाली वैगैसे प्रारम्भ करूंगा। इसका कारण बहुत कम लोगोंके ध्यानमें आयेगा लेकिन सुननेके बाद वे भी मेरे साथ सहमत होंगे कि वैगै की वैसी विशेषता है जरूर। दक्षिणमें मेरे मनमें मद्रासके बाद सबसे अधिक महत्त्वका कोई शहर है तो वह है मदुरा, अथवा मदुरै। और मैंने वैगैके अनेक बार दर्शन किये मदुरैमें ही। वहां वैगैके किनारे-किनारे अनेक बार घूमा हूं और करीब-करीब नदीके पात्रमें ही खड़े एक मंदिरमें दक्षिणके ब्राह्मणेतर भाइयोंके साथ मैंने बड़े उत्साहके साथ खाना भी खाया है। उस मंदिरके एक पत्थरमे एक बड़ी मछली उकीरी हुई देखकर मैंने दरियाफ्त भी किया कि यह मंदिर किन्ही मच्छीमार लोगोंके पुरखोंका बनवाया हुआ तो नही है ?

यह वैगै नदी मेरे सह्याद्रिकी पूर्व बाजूकी दो सुन्दर घाटियोंसे निकलनेवाले प्रवाहोंसे बनती है और मदुराको अपना दूध पिलाकर, रामेश्वर, पंबन पहुचनेके थोड़ा पहले ही रामनाथके उत्तरमे समुद्रसे जा मिलती है।

वैगै नदीको मैं समन्वयकी नदी कहता हूं। पश्चिम-घाटके दो स्रोतोंका पानी वह एकत्र करती है। केवल इसीलिए मैं उसे समन्वय-नदी नहीं कहूंगा। ऐसे तो दुनियाकी असंख्य नदियां अनेक स्रोतोंको एकत्र करती आई हैं। गंगा-यमुनाका संगम तो कवियोंने गाया ही है। मुला-मुठाके संगम पर महाराष्ट्रकी राजधानी-स्वरूप पूना शहर बसा है। उस संगमने एक नदीका नाम दबाकर दूसरी नदीका नाम आगे चलानेका पक्षपात नहीं किया है। मुला और मुठा दोनों नामोंका द्वंद्व समास बनाकर मुलामुठा आगे बहती है। यही न्याययुक्त व्यवहार तुंगभद्राने भी किया है, क्योंकि तुगा और भद्रा मिलकर तुंगभद्रा बनती है।

ऐसी-ऐसी नदियोंको भी जब मैंने समन्वय-नदी नहीं कहा, तब वैगैको मैं समन्वय-नदी क्यों कहता हूं ? इसका मुख्य कारण यह है कि यह संगम अथवा समन्वय मनुष्यके पुरुषार्थसे हुआ है।

जिस तरह वैगै नदी पश्चिमी घाटका पानी साठ-सत्तर मील बहानेके बाद पूर्वी समुद्रको दे देती है, उसी तरह उसी पश्चिमी घाटके उस पारकी पेरियार नदी उस बाजूका पानी पश्चिमी समुद्रको देने ले जाती है। अंग्रेजोंने सोचा कि पेरियार

नदीका इतना ढेर पानी देखते-देखते अरबी समुद्रमें फेंका जाय, यह कोई न्याय नहीं है। पेरियार नामका अर्थ ही होता है महानदी। अगर सह्याद्रिको बींधकर पहाड़के पेटमेंसे करीब एक मीलकी नहर खोदी जाय तो पेरियारका बहुत-सा पानी उस पारकी वैगै नदीको सौंपा जा सकता है। इस तरह जिस पानीको कुदरतने पश्चिमी समुद्रको देनेका सोचा था, उसे उलटाकर तमिलनाडुकी सेवा करते-करते पूर्वी समुद्रतक पहुंचाया जा सकता है।

किंतु ऐसा करनेके लिए पेरियार नदीका पानी एक बड़े बांधसे रोककर वहां एक छोटा-सा सरोवर बनाना पड़ा और फिर यह पानी उस सरोवरमेंसे एक मील से अधिक लम्बी नहरके द्वारा सह्याद्रिके पूर्वकी ओर छोड़ दिया गया है। पहाड़के उस पार जानेके बाद वही नहर छत्तीस मील आगे जाकर पानीको अनेक दिशाओंमें छोड़ देती है। इतने बड़े पुरुषार्थके इतिहासको रोमांचक समझना चाहिए। ऐसा 'विपरीत' काम करें या न करें, इसका अंग्रेजोंने भी सौ साल तक चिंतन किया।

ऐसे मनुष्य-कृत पुरुषार्थके फलस्वरूप जो नदी जल-पुष्ट बन गई, उस समन्वित वैगैको सर्वप्रथम श्रद्धांजलि अर्पण करनेको जी चाहा तो उसमें आश्चर्य क्या ?

२

अब आती है दक्षिणकी रानी कावेरी नदी। इसका पौराणिक इतिहास कैसा भी रम्य और भव्य क्यों न हो, आज कावेरीका स्मरण हम इसलिए करते है कि यही एक भारतीय नदी है, जिसके पानीका मध्यकालसे हम अधिक-से अधिक उपयोग करते आये हैं। पूर्वी समुद्र भले ही हमसे इस कारण नाराज हो, असंख्य मनुष्य और पशु, पक्षी (और खेतकी वनस्पतियां भी) हमे इस पुरुषार्थके लिए हमेशा आशीर्वाद देते रहेंगे।

जब मैं कुर्ग प्रांतकी राजधानी मरकारा (मडीकेरे-शुद्ध शहर) गया था तो किसीने आसपासका और दूरका प्रदेश दिखाते हुए कावेरीके उद्गमकी दिशा भी बताई थी। ब्रह्मगिरिसे यह नदी निकलती है। उसका नाम है तलैकावेरी। जिस तरह तापी (ताप्ती) नदीके उद्गमको मूलतापी कहते हैं, उसी तरह कावेरीके उद्गम स्थानको तलैकावेरी कहते होंगे। कन्नड़ भाषामे सिरको तलै कहते हैं। पहाड़के ऊंचे स्थानसे नदीका उद्गम है, इसलिए भी उसे तलैकावेरी कहते होंगे। बड़ा काव्यमय और लुभावना स्थान है वह। यहां कावेरी कुर्ग और मैसूर इन प्रांतों या राज्योंको बींधकर तमिलनाडूकी भूमिको अनेक शाखाओं और नहरोंके द्वारा अपने पानीका दान करते-करते जो कुछ पानी बच जाता है, समुद्रको दे देती है। इसी कावेरीकी उत्तरकी बड़ी शाखाको स्वतंत्र नदी समझकर कोलेरूनका नाम मिला है। अंग्रेज लोगोंने अपनी सहूलियतके लिए हमारे नामोंके मनमाने रूपांतर किये हैं, उसका यह एक नमूना है।

कावेरीको अपना पानी अर्पण करनेवाली उप-नदियोंकी संख्या कम नहीं है। फिर समुद्रकी ओर पहुंचते उसकी शाखाएं अनेक बनें, तो उसमें आश्चर्य क्या है?

महाराष्ट्रके हम लोग हमारी गोदावरीको 'दक्षिण-गंगा' कहते हैं। पुराणोंने भी इस नामको स्वीकार किया है, तो भी दक्षिणके लोग कावेरीको 'दक्षिण-गंगा' कहनेका आग्रह रखते हैं। किसने कहा है दक्षिणमें एक ही गंगा होनी चाहिए गोदावरी और कावेरी दोनोंको हम समान-भावसे दक्षिण-गंगा कहें तो इसमें किसीको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मैंने कावेरीका भव्य दर्शन किया था टीपू सुलतानके श्रीरंगपत्तनमें। कावेरी-ने अपने प्रवाहमे श्रीरंगपत्तन शिव समुद्रम् और श्रीरंगम् ऐसे तीन सुन्दर टापुओं को जन्म दिया है। इनका वर्णन मैं नही करूंगा। कावेरीको स्कंदपुराणमें आया हुआ इतिहास, चोल राजाओंका कावेरीके पानीसे सेवा लेनेका पुरुषार्थ, कावेरीके मार्गमें आनेवाले अप्रतिम सुन्दर प्रपातों आदिका वर्णन भी मैं नहीं करूंगा, क्योंकि वह अनधिकार-चेष्टा होगी।

भारतकी नदियोंके बारेमें लिखते हुए मैंने गुजरातकी विपुल-जला नदियोंके बारेमें कुछ भी नही लिखा, हालांकि गुजरातमें मैंने अपने जीवनके सर्वोत्कृष्ट दिन बिताये थे। कारण पूछने पर मैंने कहा, "अपनी लेखमाला मै गुजरातीमें लिख रहा हू तो गुजरातके बाशिंदोंके सामने उन्हींके प्रदेशकी नदियोंके बारेमें क्यों लिखूं? यह काम गुजरातके सुपुत्रोंका है।

कावेरीके बारेमें लिखने बैठा और वैसा ही विचार आया कि तमिलनाडूकी नदियोंके बारेमें तमिल भाषामें लिखनेका अधिकार तमिलनाडूके सुपुत्रोंका और सुकन्याओंका है।

हम सब भारतवासी नदी-पुत्र और नदी-भक्त हैं। इसी कारण हम एक-दूसरे का हृदय अच्छी तरहसे पहचान सकते हैं। नदी-भक्तिके द्वारा भी हम भारतवासी भारतकी एकताको मज़बूत और समृद्ध बना सकते है।

६८. कटि-मेखला, विंध्य-सतपुड़ा

विंध्य और सतपुड़ा नर्मदाके बलवान् रक्षक हैं। इन दोनोंने मिलकर नर्मदा को उसका जल भी दिया है और उसका रक्षण भी किया है। ये दोनों पहाड़ नर्मदा-के अति निकट होनेके कारण नर्मदाको न अपना पात्र बदलनेका मौका मिला है, न अपने पानीके आशीर्वादसे दूर-दूर तक खेती करनेकी जमीन उसे मिली है।

जहां नर्मदा नदीका उद्गम है, वहां विंध्य और सतपुड़ाको जोड़नेवाला मेकल या मेखल पहाड़ चन्द्राकार खड़ा है। मेखल ऋषिकी यह तपोभूमि है। यहां

से अनेक नदियोंका उद्‌गम है। नर्मदा पश्चिमकी ओर बहती हुई भृगुकच्छके पास समुद्रसे मिलती है। शोणनद इसी पहाड़से निकलकर गर्जना करता हुआ अपना सारा पानी गंगाको प्रदान करता है। गुप्तदान वह जानता ही नही। महानदी और जोहिल्ला, ये दो नदिया भी मेकल पहाड़से ही निकलती हैं। प्राचीनकाल में इस प्रदेशमें अच्छी बस्ती आबाद थी। उड़ीसाके उत्कल लोग, और इस ओरके मेखल लोग, रामायणमें और पुराणोंमें अपना उल्लेख पाते हैं।

नर्मदा नदी को 'मेखल-कन्या' कहते हैं। कभी-कभी उसे 'मेखला' भी कहते हैं। भारतमाताकी कटिमेखला तो वह है ही।

जिस तरह नर्मदाके उत्तरके पहाडोंको विंध्य कहते हैं, उसी तरह दक्षिणके पहाड़ोंको सतपुड़ा कहते हैं।

इन पहाड़ोंके पश्चिम विभागका ही असली नाम था सातपुत्र या सतपुड़ा। विंध्यपर्वतके ये सात लड़के गिने जाते थे। कोई कहते हैं कि प्राचीन भूविप्लवके कारण यहांकी किसी जमीनके सात पुड़े या झुरियां बन गईं, इसीलिए इसे 'सातपुड़ा' कहते हैं। आज ये सब पहाड़ियां नर्मदा और ताप्तीके बीच अपना स्थान ले बैठी हैं। राजपीपला और अशीरगढ़की ओरसे इनकी शोभा अच्छी दीख पड़ती है।

सतपुड़ा और मेकल इन दो पहाड़ियोंके बीच हुशंगाबाद और हरादके पास जो टेकड़ियां हैं, उन्हें 'महादेवके डोंगर' कहते हैं। उनकी शोभाको छिंदवाडासे अच्छी तरह देखा जा सकता है।

यों देखा जाय तो मंडला, बालाघाट, सिवनी, छिंदवाडा और बेतूल ये सब तहसीलें मिल करके सतपुडाकी अधित्यका बनती है। मराठीमें अधित्यकाको 'पठार' कहते हैं, जो शब्द अब हिन्दीने ले लिया है।

सतपुड़ा, महादेव और मेखल पर्वतोंका सारा प्रदेश आदिवासियोंकी पैतृक भूमि है। यहां गोंड, बैगा, भील, कोल, कोरकू आदि अनेक आदिवासी जातियां रहती हैं।

जिस तरह सह्याद्रिमें और हिमालयमें और कुछ हद तक आसामकी पहाड़ियोंमें घूमा हूं, वैसा विंध्य-सतपुड़ामें घूमनेका मौका मुझे मिलता तो यह जीवनकी धन्यता होती लेकिन रेलके रास्ते और कभी-कभी मोटरके रास्ते भी इस पहाड़में काफी घूमा हूं। नागपुरसे इटारसी और इटारसीसे जबलपुर कई बार, अनगिनत बार, रेलका सफर किया है और तब यहांकी छोटी-मोटी पहाड़ियों, उनके गर्वोन्नत शिखरों और उनके बीचसे बहनेवाली छोटी-मोटी नदियोंको देखनेका सौभाग्य मिला है।

इसी तरह गोंदियासे जबलपुर भी रेल द्वारा सफर करके मैंने अपनी हड्डियां ढीली की हैं।

एक बार स्वातन्त्र्य-प्राप्तिका उत्सव मनानेके लिए आधे लाखसे अधिक

आदिवासियोंके बीच जब नयनपुर गया था, तब भी इन पहाड़ोंका नयन-सुभग दर्शन पाया था। राजपीपलाके पास जो सतपुड़ा और सह्याद्रिका समकोण होता है, वहां ये दोनों पहाड़ इतने नम्र हैं, मानो एक-दूसरेको नमस्कार ही करते हैं।

नर्मदाके दक्षिणी किनारे पर बड़वानीके पास भगवान ऋषभदेवकी बावन-गजी मूर्ति पहाड़ी सतपुड़ामें गिनी जाती है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता; लेकिन अगर खंडवा व अशीरगढ़ तक सतपुड़ाकी पहुंच होगी तो बड़वानीके पासकी पहाड़ीको भी मैं सतपुड़ामें ही शुमार करूंगा।

किसीने कहा है कि जैन संस्कृति पहाड़ी संस्कृति नहीं है, मैदानकी और खेती-के साम्राज्यकी संस्कृति है। बात सही मालूम होती है। फिर भी मैं कहूंगा कि इस संस्कृतिने पहाड़के लोगोंको अपने असरके नीचे लानेकी कोशिश किसी समय जरूर की थी।

विंध्य और सतपुड़ा, नर्मदा और ताप्ती, शोण और मही, इन नामोंके साथ जो प्रदेश ध्यानमें आता है, वहांकी संस्कृति भूमिजन या गिरिजन आदिम जातियोंकी ही संस्कृति है।

स्वतन्त्र भारतने राज्योंकी जो नई सीमाएं बनाईं, उनके अन्दर मध्यप्रदेश एक इतना अच्छा विशाल राज्य बनाया, कि उसके अन्दर विंध्य-सतपुड़ा मेखलाके सबके सब आदिवासियोंका अन्तर्भाव हुआ है। इस राज्यमें ऐसे ही मन्त्री और कर्मचारी नियुक्त होने चाहिये, जिनका इस प्रदेशके साथ पूरा-पूरा परिचय हो और जिनके हृदयमें यहांके गिरिजनोंके प्रति आत्मीयता और आदर हो। विंध्य पर्वतने (इसके साथ सतपुड़ा भी आ गया) अगस्त्यके सामने सिर झुकाया, उस घटनाको हुए कई युग बीत गए। अब विंध्य और सतपुड़ाके लिए नये अर्थमें सिर ऊंचा करनेके दिन आ गये हैं।

जब हम भारतका चित्र नजरके सामने रखते हैं, तब नर्मदाके रक्षक भाई वीर विंध्य और वीर सप्तपुत्रको कमरके स्थान पर देखते हैं। नर्मदा कटि-मेखला है ही और ये दो पहाड़ कमरकी मजबूत हड्डियां हैं। अब लोकोन्नतिके लिए कमर कसनेके दिन आ गये हैं। सबसे अच्छे लोकसेवकोंको अब इसी प्रदेशमें जाकर वहां-की आदिम जातियोंको जरूरी शिक्षा देनी चाहिये, ताकि वे भारतके अच्छे-से-अच्छे नागरिक हो जायें और स्वराज्यकी धुरी वहन करनेकी योग्यता और उसका उत्साह उनके हृदयमें प्रकट हो।

११ मार्च, १९७३

६९. दूसरी कटि-मेखला ताप्ती

विंध्य और सतपुड़ा पर्वत, नर्मदा और ताप्ती (तापी) नदियां, चारों मिलकर भारतमाताकी कटिमेखला बनते हैं।

नर्मदा और ताप्ती एक ही पिताकी दो कन्याएँ हैं। दोनों अपना पानी पश्चिमी सागरको देकर पतिभक्ति पूर्ण कर सकीं। नर्मदा तो दो पहाड़ोंके बीच बहती रहने के कारण उसके लिए इधर-उधरका पानी लेना मुश्किल नही था। लेकिन दो पहाड़ोंके बीच होनेसे अपने पानीसे, दूरके वृक्ष-वनस्पतिको और पशु-पक्षियोंको तृप्त करनेका आनन्द उसे नही मिल सका। पिताकी भक्ति और पतिकी सेवा इतने से उसको सन्तोष मानना पड़ा।

तो भी नर्मदाका भाग्य नर्मदाका ही है। सारी दुनिया उसे दक्षिण गंगा कहती है, इससे अधिक क्या चाहिये ? मेखल पहाड़से जन्म पानेके कारण उसे 'मेखला' नाम भी मिला है।

ताप्ती नदीको इधर-उधरसे पानी लेना आसान तो था ही, लेकिन पानी देनेका आनन्द उसे अधिक मिलता है, हालाकि गोदावरी, कृष्णा, तुगभद्रा आदि पूर्व-गामिनी नदियोंके जितना तो नही।

गुजरातमे रहनेवाले लोगोके लिए सूरत शहर अगर प्रेमका स्थान है, तो ताप्ती नदी भी भक्तिकी अधिकारिणी है।

और अंग्रेजोंने जब भारतमे शुरू-शुरूमे अपना व्यापार आरम्भ किया तब उनके लिए सूरत शहरका महत्त्व सबसे ज्यादा था और समुद्रके रास्ते सूरत जानेके लिए ताप्तीके मुखसे ही प्रवेश करना पड़ता था।

भारतके कपड़ोंका और गृह-उद्योगोका आकर्षण यूरोपके लोगोंको यहा खीच सका। उनमे सबसे पहले आये पुर्तगीज। उनका यह अधिकार छीन लेनेमें सफलता पाई अंग्रेजोंने। यह विजय आसानीसे थोड़े ही मिल सकती थी! जहा ताप्ती नदी समुद्रको मिलती है, वहा सुवाली बन्दरगाहके नजदीक पुर्तगीज और अंग्रेजोंके बीच एक बड़ी सामुद्रिक लड़ाई हुई। इसमे जब पुर्तगीज हारे तभी अंग्रेजोंको भारतके व्यापार पर अधिकार करनेका आत्मविश्वास जागृत हुआ।

व्यापारके लिए आनेवाले लोगोंको अपना राज्य दे देना, यह तो भारतीयोंका स्वधर्म ही रहा। ब्रिटिश साम्राज्यके संस्थापकोंके लिए सुवालीका बन्दरगाह एक बड़ा तीर्थस्थान था। आज उसका तनिक भी महत्व नही रहा। ताप्ती माताने कितने ही साम्राज्य देखे होंगे। वह तो महादेवके पहाड़ोंमे पानी लाकर विष्णु भगवानके सागरको अर्पण करनेका काम निरन्तर करती ही रहेगी।

११ मार्च, १९३९

७०. अवन्तिकी शिप्रा

जिस नदीका भूगोलमें कोई नाम या महत्त्व नहीं हो सकता, ऐसी नदी कभी-कभी इतिहासमें अच्छा स्थान पाती है और हमारे आदरयुक्त स्मरणकी अधिकारणी बनती है। महाराष्ट्रकी इन्द्रायणीको लीजिये। लोणावलाके पास पहाड़में जन्म लेकर देहू-आलन्दीके रास्ते आगे जाकर वह भीमासे मिलती है। भीमा अपनी वक्र गतिके कारण चन्द्रभागा नाम पाकर कृष्णामें जा गिरती है। और, कृष्णा ऐसी ही अनेकानेक नदियोंका जलभार लेकर महाराष्ट्र और आंध्रको बींधती और मनुष्य और पशु-पक्षियोका कल्याण करती पूर्वी समुद्रको अपना जीवन-सर्वस्व अर्पण करती है। कहां सागरकामिनी कृष्णा और कहां छोटी-सी इन्द्रायणी! लेकिन तुकाराम और ज्ञानेश्वर जैसे लोकोत्तर सन्तोंके कारण यह नदी इतिहास-प्रसिद्ध हुई है। उसकी पावनता तो निर्विवाद कबूल की जाती है।

ऐसी ही एक छोटी-सी नदी मालवामें पुराण-विश्रुत, इतिहास-प्रसिद्ध और काव्य-गीत हुई है। उसका नाम है सिप्रा, शिप्रा या क्षिप्रा। पता नहीं कि यह नाम किस ऋषिकी ओरसे उसे मिला। हमारे पुराणकार किसी भी नामका संस्कृत बनानेमें चतुर होते हैं। इतना ही नहीं, उसके नामको सिद्ध करनेके लिए कोई टेढ़ी-मेढ़ी पौराणिक वार्ता भी बना देते है। शिप्राके शि,प और र ये तीन अक्षर लेकर उन्होंने कहा, शिवजीकी ओरसे पातित रक्तसे बनी हुई नदी है शिप्रा। शिवजीने भगवान् विष्णुकी उंगलीमें अपने त्रिशूलसे छेद किया और उंगलीसे निकलनेवाला खून अपने कमण्डलमें ले लिया। कमण्डलको भरकर वह बहने लगा। वही है शिप्रा नदी। यह कथा हमें तो बिलकुल रोचक नहीं मालूम हुई। महाराष्ट्रियोंने शिप्राका क्षिप्रा कबका कर डाला है। मुझे यही नाम अच्छा लगता है। क्षिप्रा माने तेजीसे दौड़नेवाली। नर्मदा नदीका असली नाम है रेवा। वह नर्म देती है, इस वास्ते उसके गुणगान रूप नर्मदा नाम बादमें प्रचलित हुआ। रेवा के मानी हैं कूदने वाली। जिसके प्रवाहमें अनेक छोटे-छोटे प्रपात होते हैं, उसे रेवा ही कहना चाहिए। इसी तरह जो पहाड़ोंसे द्रुत गतिसे दौड़ती है, वह क्षिप्रा ही हो सकती है। कुछ भी हो, पुराणोंमें और काव्योंमें क्षिप्रा नही, किन्तु सिप्रा या शिप्रा नाम पाया जाता है।

इस नदीका वर्णन करते हुए पुराणकार और कवि थकते ही नहीं। तपस्विता, ज्ञानोपासना, रसिकता और विलासिता—मनुष्य-जीवनके इन सब पहलुओंका उत्कर्ष इस नदी के किनारे हुआ है। हिरण्यकशिपुके पुत्र भक्त प्रह्लादकी बात हम छोड़ दें। प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण और उनके बड़े भाई बलराम दोनोंने, जबतक वसुदेव-देवकी दास्यमुक्त नहीं हुए थे, पढ़ाईकी बात सोचनेसे इनकार किया। पितृऋणसे इस तरह मुक्त होते ही उन्होंने मथुरा-वृन्दावन छोड़कर उज्जयिनी जाकर सांदीपनि ऋषिके आश्रममें विद्याध्ययन करनेकी ठानी। आज भी

सांदीपनि ऋषिका आश्रम उज्जयिनीके पास, क्षिप्रा नदीके किनारे बताया जाता है। नदीका दर्शन करते ही मनमें कृष्ण, सुदामा आदि ब्रह्मचारी यहाँ पानी-में कैसे नहाते होंगे, तैरते होंगे और एक-दूसरेके मुंह पर पानी उछाल-उछालकर साँस लेना भी कैसा मुश्किल करते होंगे, इसका चित्र अन्त:चक्षुके सामने खड़ा होता है।

जब मैं पहली बार इन्दौरसे उज्जैन गया था, तब शिप्राका दर्शन महा-कालेश्वरके पास ही प्रथम किया था। सुभग-सलिला शिप्रा क्षीणस्रोता थी। महाकालेश्वर भारतके विख्यात द्वादश ज्योतिर्लिगोंमेंसे एक है। इसलिए असंख्य यात्री यहां आते ही है। और कुम्भ मेलेके चार स्थानोंमें उज्जयिनी भी होनेके कारण सारे भारतके असंख्य साधु समय-समय पर यहां आ जाते हैं। शिप्रा नदी का अपना निजी माहात्म्य नही होता, तो भी भारतके लक्षावधि सन्त-महन्तोंके और भक्तोंके स्नान-पान-दानसे इस नदीको एक अपूर्व माहात्म्य मिलता।

अत्यन्त भक्ति-भावसे शिप्राको प्रणाम करके हमने महाकालके दर्शन किये थे। लेकिन, शिप्राका विशेष स्मरण मनमें रहा उज्जैनके पासके कालियदहके कारण। प्राकृतिक सुन्दरता और पुरुषार्थी राजाओंकी विलासिताके कारण यह स्थान आकर्षक हुआ है। कहते हैं, पुराणोमें इस स्थानको ब्रह्मकुण्ड कहते थे और एक सूर्य-मन्दिर यहां पर बना हुआ था, जो किसी विलासी राजाने तोड़कर उसके पत्थर नदी पर पुल बनानेके काममें लिये और यहां पर एक विलासगृह बांधा।

असली बात यह है कि यहाँ पर नदीका स्रोत दुभंग होकर काफी दूर तक दो धारामें बहता है और फिरसे दोनों धाराएं एकत्र होकर आगे बहती है। यही है बीचके द्वीपकी प्राकृतिक सुन्दरता। इस द्वीप पर आनदसे रहनेके लिए बादशाह ने दो महल बंधवा लिये। इतने ऊंचे कि ऊपर चढ़नेसे सारे बेटकी, आस-पासके मुल्ककी ओर नदीकी दोनों धाराओंकी शोभा नयनोंको तृप्ति देती है।

बादशाहोंको इतनेसे सन्तोष नही हुआ। उन्होने पुलके नीचे आती हुई धारा-को बड़े-बड़े पत्थरोंके अनेक कुण्डोंमें भर दिया और बहा दिया। कुण्डोके आस-पास बैठनेके लिए अच्छे-अच्छे मण्डप बनाये, जहाँ गरमीमे दोपहरको भी अच्छी ठण्डकका अनुभव हो। इन कुण्डोंमें बादशाह और उनकी बेगमे दोपहरको आकर स्नान करती थी और आमोद-प्रमोदमें आस-पासकी गरमीको भूल जाती थी।

कहते हैं कि किसी बादशाहने अपनी विलास-शक्ति बढ़ानेके लिए पारेकी कुछ दवा खाई, जिसके कारण उसके शरीरमे दाह होने लगा। उससे बचनेके लिए वह इन कुण्डोंमें घंटों तक सोता था। एक दिन राजा इस कुण्डमें बेहोश हालतमें पड़ा था तब एक नौकरने घबराकर उसके जिस्म को कुण्डसे बाहर निकाला। जब राजा होशमें आया, तब नौकर पर गुस्से होकर राजाके शरीरका स्पर्श करनेके गुनाहकी सजाके तौर पर उसके दोनों हाथ कटवाये। बादमें जब राजा सचमुच

पानीमें डूब गया, तब आस-पासके नौकर देखते ही रहे। किसीने उसे बचानेकी हिम्मत नहीं की। जब राजाकी लाश पानीमें ऊपर आकर तैरने लगी, तब लोगों ने उसे बाहर निकालनेकी हिम्मत की !

कहते हैं कि कालियदहके दो विलासगृहके बीच जो काफी अन्तर है, उसे काटनेके लिए जमीनके अन्दरसे एक गुप्त रास्ता था। वहां रहनेवाले राजा यजमान और मेजबान गुप्त रीतिसे एक-दूसरेको इस रास्ते मिल सकते थे।

इस बार जब हम कालियदह देखने गये, तब शिप्रामें पानी बहुत था। बहुत-से कुण्ड प्रवाहमें डूब गये थे। रानियोंको कपड़े बदलनेके लिए जो दीवारसे ढका हुआ कुण्ड था वहां तक हम जा भी नहीं सके।

अवन्तिका यह सारा प्रदेश प्राचीन राजाओंके शौर्यके कारण, संस्कारिताके कारण और विलासिताके कारण भी बड़ा ही मशहूर है। लेकिन, इस स्थानका असली महत्त्व इसलिए है कि पृथ्वीका मकरवृत्त साढ़े तेईस आक्षांश पर होता है, इसी उज्जैनसे पसार होता है। गुजरातका कड़ीपाटण, मालवाकी उज्जयिनी, रतलाम, भोपाल, जबलपुर, सोनहाट, रांची आदि सब स्थान इसी मकरवृत्तके नजदीक कहीं हैं और जिस तरह आज दुनियाके रेखांश लन्दनके पास ग्रीनविचमें, जो विश्वविख्यात वेधशाला है, वहींसे गिने जाने लगे हैं, उसी तरह प्राचीनकालमें भारतके विद्या-वैभवके दिनोंमें उज्जयिनीको ही शून्य रेखांश मानकर वहांसे सब रेखांश गिने जाते थे। और, महाकालेश्वर भी काल-गणनाके हिसाबसे ही उज्जयिनी में आकर बसे थे। महाकालके मन्दिरमे एक ऐसा छेद है, जहांसे अमुक तिथिको सूर्यकी किरणें सीधे लिंग पर आ गिरती है। उज्जयिनी ज्योतिर्लिंगके कारण विख्यात थी ही, लेकिन ज्योतिर्विद्याकी वेधशालाके कारण भी उज्जयिनी नगरी-का भारतमें प्राधान्य है। यह वेधशाला भी शिप्रा नदीके किनारे ही राजा मानसिंह ने बंधवाई, जो आज भी अपना काम नियमित रूपसे कर रही है।

इस नदीके किनारे किसी अनुकूल गुफामें राजा भर्तृहरि आदि अनेक योगी भी रहे हैं। काश ! कोई भक्तहृदय इतिहास-संशोधक शिप्रा नदीका और उसके किनारे घटी हुई घटनाओंका अद्यतन इतिहास और शिप्रासे संलग्न दन्तकथाएं इकट्ठा कर देता।

७१. 'पतित-पावनी' वैगैई

अगर मदुराईके जैसा इतिहास प्रसिद्ध नगर और तीर्थ-स्थान उसके किनारे पर नही होता तो वैगैई नदीकी ओर मेरा ध्यान ही नहीं जाता। कृष्णा, गोदावरी, तुंगभद्रा, कावेरी आदि दक्षिणकी विख्यात नदियोंके साथ वैगैई नदीका नाम कभी

सुना नहीं था। लेकिन मदुराई जैसी संस्कृतिधानी जिस नदीके तट पर विराजमान है उसके महत्त्वका इन्कार कौन करेगा ? उज्जयिनी जैसी नगरीके कारण ही क्षिप्रा नदीको महत्त्व मिला और कवियोंने उसकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की। मैं तो कहूंगा कि हिमालयके उस पारसे आनेवाली सरयू या घाघरा नदीका महत्त्व भी अयोध्याके कारण ही इतना बढ़ा है। किसी ग्रामकन्याका स्वीकार जब राजा करता है तब वह रानी बनती है, उसके सारे कुलका उद्धार होता है। यही न्याय नदियोंके बारेमे भी है। किसी विख्यात नगरी या तीर्थधामके कारण नदीका माहात्म्य एकदम बढ़ता है। द्वारिकाके कारण गोमती जैसी तुच्छ नदीका भी नाम यात्रियोंमें मशहूर हो गया।

यूं भी वैगैई नदी काफी लम्बी है। उसका उद्‌गम-स्थान तुंगभद्राके जैसा ही सुन्दर है। पळणी जैसे सुन्दर और उत्तुंग पहाड़के पानीसे वैगैईका बाल्यकाल समृद्ध हुआ है। लेकिन दुर्दैव इस नदीका कि बादमें उसे कहींसे भी विशेष मदद नही मिली है। जब नदीके पास जीवन-समृद्धि होती है तब वह अपने प्रवाहमें तपस्याके लिए बैठे हुए विशालकाय पत्थरोंको अपने प्रवाहमे डुबो देती है और इस पुण्यकर्मका आनन्द अपने कलकल ध्वनिसे और फेनधवल हास्यसे व्यक्त करती है। लेकिन वैगैई इतनी क्षीणस्रोत है कि पत्थरोंके बीचमेसे उसको अपना रास्ता ढूढ़ते देखकर उसके प्रति मनमें करुणाका भाव ही पैदा होता है।

दो खिडके पानीके प्रवाहोंको एकत्र करके वैगैई जन्म लेती है और उत्तरकी ओर बहती है। वहां पळणीका पहाड़ उसे सलाह देता है कि उत्तरकी अपेक्षा ईशानकी दिशा ही उसके लिए अनुकूल है। तुरन्त वह ईशानकी नहीं, लेकिन पूर्वकी दिशा लेती है और उसमें भी स्थिर न रहकर सोचती है कि जब पूर्वी समुद्रके संगमके लिए जाना ही है तब अग्निदिशा होकर मदुराई-निवासिनी मीनाक्षीके दर्शनके लिए जाना ही अच्छा है।

मदुराईसे आगे बढ़कर वैगैई रामनाथके प्रदेशमें जाकर रामेश्वरकी यात्रा करनेका सोचती है, लेकिन उसे सलाह मिलती है कि समुद्र उसका वहां स्वीकार नही करेगा। उसे तो पूर्वकी ओर ही जाना चाहिये।

अपने उद्‌गमसे मदुरा तक आते सौ मीलकी यात्रा और वहांसे उसके मुख तक सौ मीलकी यात्रा ऐसी दो सौ मीलकी यात्रा पूरी करके वैगैई अपना सारा करभार पूर्वी समुद्रको दे देती है।

करीब सौ बरस होने आये है वैगैईके भाग्यमे एक पुण्यकर्म आया लेकिन उस पुण्यके कारण भी उसका जीवन समृद्ध न हो सका।

त्रावणकोरके राज्यमें पेरियार नामकी एक छोटीसी नदी है। इतनी छोटी कि उसे कोई नदी कहनेके लिए राजी नही होगा। सह्याद्रिके दक्षिण सिरेसे निकलकर दौड़ते-दौड़ते पश्चिम सागरमें कूद पड़ना यही था उसका पुरुषार्थ। लेकिन पूरे सौ बरस भी नहीं हुए होंगे, चन्द पुरुषार्थी अंग्रेज पेरियारके उद्‌गम तक पहुंच गए और

उन्होंने सोचा कि पेरियारके उद्गमसे लेकर मुख तक सारे प्रदेशमें इतनी बारिश होती है फिर भी पेरियारका पानी न कोई खेतीके लिए काममें लेता है, न बगीचेकी समृद्धि बढ़ानेके लिए। पहाड़का मीठा पानी खारे समुद्रमें पहुंचाकर बिगाड देने के लिए पेरियारका जन्म है ? अंग्रेजोंको उसकी दया आयी। उन्होंने सोचा कि इस पर्वतकन्याके लिए अगर पहाड़मेंसे विवर खोद दिया जाय तो यह नदी अपना कल्याण-जल सह्याद्रिकी पूर्वकी ओरके उर्वर प्रदेशको दे देगी और जहां अनाज नहीं उगता है वहांकी भूमिको शस्यशालिनी बना देगी। उन्होंने बारह फुट चौड़ा और आठ फुट गहरा प्रवाह पूर्वकी ओर ले जानेके लिए एक लम्बा-चौड़ा-करीब एक मीलसे भी ज्यादा लम्बा—विवर खोदा और पश्चिमवाहिनी पेरियार-को पूर्ववाहिनी बना दिया।

पूर्वकी ओर बहनेका रास्ता तो हो गया। लेकिन पश्चिमकी ओर उसका प्रवाह रोके बिना वह पूर्वकी ओर क्योंकर जायेगी ? इन अंग्रेजोंने पेरियारके प्रवाहमें पौने दो सौ फुटका एक ऊंचा बांध बांध दिया। और पेरियारके उद्गममें ही एक बहुत बड़ा सरोवर बना दिया। हाथकी उंगलियां जैसे फैलती हैं अथवा सप्तपर्णीके पत्ते जैसे अनेक दिशामें फैलते हैं, उसी तरह पेरियारका यह मनुष्यकृत सरोवर पहाड़में ५-७ दिशाओंमें फैल गया है।

पानीका इतना खजाना मिलते ही वृक्ष-वनस्पति सन्तुष्ट हो गए। उनका आश्रय पाकर हाथी, बाघ आदि वन्य पशु भी वहां आरामसे रहने लगे। ऐसे वन्य पशुओंका दर्शनानन्द पानेके लिए मनुष्यने इस सरोवरके इर्द-गिर्दके जंगलोंको अभयारण्य बनाया और वह स्थान अब भारतकी अनेकानेक सौंदर्य भूमियोंमेंसे एक हो गया है।

और पेरियार नदी पूर्ववाहिनी बनकर समुद्रकी ओर चली। जाते-जाते बीचमें उसे वैगैई नदी मिली। उसके पात्रका भी उपयोग करनेका मनुष्यको सूझा। वैगैई नदीने खुशीसे यह पुण्यकार्य अपनाया और पूर्ववाहिनी पेरियारको एक नहरके रूप-में पूर्वकी ओरकी जमीनको उपजाऊ करनेकी सेवा करनेका मौका दिया।

एक दफे जब मैं मदुराई गया था तब वैगैईके किनारे करीब-करीब उसके पात्र-में बंधे हुए मन्दिरमें कई हरिजनोंको और हरिजन-सेवकोंको मिलनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उन दिनों मैं रात्रिभोजन तो करता ही नहीं था। लेकिन भोजनमें केवल दूध, दही और फल ही खाता था। उन दिनोंका वह मेरा व्रत था। मन्दिरकी दिवालके और छतके पत्थरोंमें बड़ी-बड़ी मछलियां खोदी हुई थीं। समुद्रजीवी आदिवासियोंके भगवानका शायद वह मन्दिर होगा। वार्तालापके बाद हरिजन भाइयोंने अपने साथ बैठकर खानेका मुझे आग्रह किया। मैंने उन्हें अपने व्रतकी बात समझाई। वे समझ तो गए, लेकिन उनके चेहरेपर संतोष दीख न पड़ा। वे जानते थे कि मैं ब्राह्मण हूं। ब्राह्मण बड़ी-बड़ी बातें करनेमें चतुर होते हैं। लेकिन

युक्ति-प्रयुक्तिसे अपना 'धर्म' भी संभालते हैं। मैंने वैगैईके किनारे मन्दिरमें बैठे हुए ईश्वरकी प्रार्थना की और प्रेरणा मांगी। जवाब मिलते ही मैंने उन हरिजनोंके-बर्तनोंमेंसे पका हुआ दालका एक दाना अपने मुँहमे डाला। तुरन्त हरिजनोके चेहरे प्रसन्नतासे खिल उठे। मैंने मनमें सोचा आत्मशुद्धिके लिए और सेवाशक्ति बढ़ानेके लिए जो व्रत लिया उसका यत्किंचित् भंग हुआ तो भले हो। लेकिन इन उपेक्षित और बहिष्कृत मानवताका आशा-भंग और विश्वासभंग नही होना चाहिये। उन हरिजनोंकी प्रसन्नता देखकर मुझे विश्वास हुआ कि हरिजनोंके हाथका पका हुआ दालका एक दाना खानेसे मेरा पुण्य बढ़ा ही होगा।

उस दिनकी वह पुण्यस्मृति वैगैई नदीके प्रवाहके साथ जुड़ी हुई है। जब-जब मदुरा जाता हूं तब-तब वैगैई नदीका दर्शन किये बिना सन्तोष नहीं होता। तामिल संस्कृतिकी वह माता है, पाड्य और चोल राजाओंका वैभव उसने देखा है, तिरूमल नाईक जैसे राजाओंके वैभवको उसने परिपुष्ट किया है। स्थान-स्थानपर राज्य करनेवाले पाळीगारोंमे न्यायनिष्ठा और प्रजावात्सल्य उसने पैदा किया है। मीनाक्षी देवीके अवतार-लीलाकी वह साक्षी है और वैगैईकी पुण्य प्रेरणासे ही भारत में हरिजनोंको सबसे पहले मन्दिर प्रवेशका अधिकार मिला। गाधीजीके अस्पृश्यता-निवारणके प्रयासोंको सबसे पहली और सबसे बड़ी सफ़लता वैगैईके किनारे' मीनाक्षीके मन्दिरमे ही मिली। उसके बाद अस्पृश्यता-निवारणका काम बड़ा आसान हुआ। मीनाक्षीके मन्दिरमें हरिजन जा सके इसके फलस्वरूप सुदूर कन्या-कुमारीके मन्दिरमे हरिजनोको प्रवेश मिल सका।

आज मैं वैगैईको पतितपावनी कहता हू क्योंकि उसने सवर्णो जैंमे पतितोको सद्बुद्धि देकर पावन किया। उसका माहात्म्य गंगा ओर यमुनाके माहात्म्यसे कम नही है। जय-जय वैगैई, जय-जय वैगैई !"

७२. अनेक नखरेवाली नदी सतलज

बचपनमें जब हमने भगवानकी पूजाके मंत्र कण्ठ किये तब एक मंत्रमें भारतकी मुख्य सात नदियोंकोहमारी पूजाके कलशमे (लोटेमें) आकर बैठनेकी प्रार्थना करते थे। उसमें सिंधु नदी थी। हमने सुना कि सिंधु बड़ी होनेके कारण उसे सिंधुनद कहते हैं। सिंधु, ब्रह्मपुत्र और शोणभद्र ये भारतके प्रख्यात नद हैं।

बादमें हमने भूगोलमें पढ़ा कि सिंधुनद हिमालयके उस पार मानस सरोवरके प्रदेशमें जन्म लेता है। और पश्चिमकी ओर बहकर हिमालयके पश्चिम सिरे तक जाकर वहांसे दक्षिणमें आकर सिंधप्रदेशको पानी पिलाकर पश्चिम समुद्रमें करांची

के पास मिलता है। सिंधुके आखिरी प्रवाहके कारण ही सिंध प्रांतको उसका नाम मिला है।

ऐसे बड़े सिंधुनदको पांच पहाड़ी नदियोंका पानी पहुंचाया जाता है। जिस प्रदेशमेंसे ये पांच नदियां बहती हैं उसका नाम हो गया पंजाब। पंजाबका प्राचीन नाम पंचनद है। पंच = पांच + आब = पानी; पांच पानीवाला प्रदेश।

सिंधुनदीसे मिलनेवाली पांच नदियोंके नाम हमने बचपनमें कण्ठ किये थे। आज भी वैसेके-वैसे याद हैं। झेलम, चिनाब, रावी, व्यास और सतलज। इन पांच नदियोंमें झेलम तो अलग थी। बाकीकी चार आपसमें मिलती-जुलती थी। चिनाब, रावी और व्यास ये नदियां सतलजसे मिलती हैं और सतलज जाकर इन सब नदियोंका पानी सिंधुको अर्पण करती है।

इतना सुननेके बाद सतलजके बारेमें ज्यादा जाननेकी इच्छा हुई।

पता चला कि इस नदीका नाम वेदोंमें पाया जाता है। वहां उसके तीन रूप हैं, शतद्रु अथवा शुतुद्री। नामका अर्थ होता है 'सौ प्रवाहोंमें बहनेवाली नदी' (द्रु याने बहना, गीता ११-२८)

इस नदीका इतिहास भी विचित्र है। कभी यह एक नदीके साथ बहेगी, कभी उस नदीको छोड़कर दूसरीको साथ लेगी। इतिहासमें यह भी लिखा है कि किसी समय पर नदी अपना-अपना पानी सिंधुको न देते हुए सीधा कच्छके रणमें छोड़ देती थी। ई० स० १०००के करीब यह नदी अपना पानी हकरा नदीको देती थी। कभी वह घग्गर नदीमें बहती थी। अब लोगोंने इस नदीमेंसे अनेक नहरें निकाली हैं।

इस नदीने जिस तरह अपना प्रवाह अनेक बार बदला वैसे उसके नाम भी बदल गये हैं—मच्छुवाह, हरियाणी, दण्ड, नुरनी नीली, घरह इ० अनेक नाम उसने धारण किये हैं। अगर किसी कविने सोचा—तो इस नदीके इतिहासको लेकर एक बड़ा उपन्यास बना सकेगा। अपने आठ सौ मीलके प्रवाहमें उसने जितने नखरे किये हैं वैसे दुनियाकी और किसी नदीने नहीं किये होंगे। इसके प्रवाह तो सौसे अधिक हैं ही। इसके नखरे सौसे कम कैसे हो सकते हैं?

७३. पुनर् अपि नर्मदा

कितना अच्छा हुआ कि संक्रांतिके दूसरे ही दिन हम नर्मदा मैयाका काव्यमय दर्शन करके पुनीत हो सके! धुआंधार, चौंसठ योगिनीवाला गौरीशंकरका मंदिर और सफेद, नीले, पीले, हरे, काले पहाड़ोंके बीच रास्ता निकालनेवाली शांत गंभीर और प्रसन्न शीतल पानीवाली नर्मदाका भेड़ाघाट यह प्रेरणादायीत्रयी है।

पता नहीं यहाँ कितनी दफा आया हूं। लेकिन हर दफे नर्मदामाताका नया ही दर्शन होता आया है। केवल सनातन है आस-पासके कुदरतका दृश्य, ऊपरका आकाश और भक्तिभावसे इस स्थानका दर्शन करनेवाला भोला सनातनधर्मी यात्री।

पता नही हमारी संस्कृतिमें पुण्यकी कल्पना कहासे आयी? पुण्यके स्थान, पुण्यके प्रसंग और पुण्यके प्रकार अनंत दीख पड़ते हैं।

भोले लोगोंकी पुण्यकी कल्पना धनके लोभी या सर्राफोके जैसी ही संकुचित और अनुन्नत होती है। आदमी दूसरा कुछ भी नही सोचेगा। पुण्य किसमे है, किस-लिए है अथवा है या नही, इस बातको विचारे बिना पुण्यको इकट्ठा किया जाता है। मेरे मन असली पुण्यके जैसी व्यापक भावना शायद ही दूसरी कुछ होगी। जो भी चीज उन्नतिकारक है, श्रमसाध्य है और आदरके साथ याद रखने लायक है सबमे पुण्य ही पुण्य है। आज हमने सचमुच पुण्यके ढेर प्राप्त किए और हम उन्नत हुए।

जबलपुरसे आते हुए रास्तेमें किसी आदिवासी राज्यके पुराने महल दीख पड़ेंगे ऐसी अपेक्षासे ही मैं यहाकी यात्राका प्रारंभ करता हूं।

'यहाके प्रदेश पर असली अधिकार आदिवासियोका था। इनको हटाकर, दबाकर, इनका राज्य हमने ले लिया' ऐसी भावना उठकर हमेशा मनमे ग्लानि रहती थी। अफ्रीकाके काले लोगोंको हटाकर, दबाकर, यूरोपके गोरोने उनकी जमीन ले ली। ऐसे गोरोंके साथ हमारे पूर्वजोकी मै तुलना करता था और दु:खी होता था।

जब गोरोंने अफ्रीकाकी भूमि अपनायी तब वहां सुधरी बस्ती तैयार करनेके लिए रास्ते और मकान बांधनेके लिए मजदूरोंकी जरूरत खड़ी हुई। गरम मुल्कमे खेती करना भी गोरोंके लिए कठिन था। दोनों कामोंके लिए मजदूर चाहिये। अफ्रीकाके काले बाशिंदे मजदूरी करनेके लिए तैयार नही थे। चाहे जितनी मज-दूरीका प्रलोभन दिखाइये, शराब भी पिलाइये, अफ्रीकावासी काला आदमी मज-दूरीके लिए आता ही नही था।

सब गोरोंने एक तरकीब निकाली। गोरोंने 'अपने' मुल्कमें रहनेवाले इन काले लोगों पर टैक्स लगाया और कहा टैक्स न दोगे तो हमारे मुल्कमें रह नहीं सकोगे। अब ये काले लोग टैक्सके पैसे कहांसे लावें और जायें भी कहां? मजबूरन उनको मजदूरी करनी पड़ी। कहीं-कही गोरोने उनको जानवर जैसा गुलाम भी बनाया। वह सारा इतिहास यहां याद नही करना है।

अच्छी जमीनमें हम लोग आ बसे और आदिवासियोंको जंगलमें अथवा बंजर जमीन पर जाकर रहना पड़ा।

यूरोपके गोरोंने अफ्रीकाके काले लोगोंको जिस तरहसे सताया वैसे हम

लोगोंने आदिवासियोंको सताया सही, किन्तु 'ये आदिवासी हमारे जैसे संस्कारी नहीं हैं और हमारे संस्कार सीखनेका अधिकार भी इन्हें नहीं है' ऐसा सोचकर हम लोगोंने उनका सामाजिक बहिष्कार किया। (यूरोपके लोग लोभ और शोषण से प्रवृत्त हुए थे। हम लोग अभिमानसे और तिरस्कारसे प्रवृत्त हुए थे। यह बड़ा सांस्कृतिक फर्क था।

आज मेरे चिन्तनमें पुराने ढंगके विचार नहीं रहे हैं। मैं मानता हूं कि जमीन किसीकी भी नहीं है। पशु-पक्षी और कृमिकीटक जमीन पर रहते हैं इसलिए जमीन उनकी नहीं होती। जमीन पर मालिकी हक किसीका नहीं। हवा, पानीऔर जमीन कुदरतकी देन है। आदिवासी यहां आकर रहे इस वास्ते यहां रहनेका उनका अधिकार हो गया। उसके बाद आसपाससे हम लोग आये। हमारा भी यहां रहनेका अधिकार स्वाभाविक था, शर्त यही कि यहांके आदिवासियोंका अग्रिम अधिकार मान्य करके हम उनके साथ रहें, उन्हें हम अपनावें। खेती, गृहनिर्माण, औजारोंकी बनावट आदि जीवन-कलाएं हम उनको सिखायें और आदिवासियोंके साथ हम घुलमिल जायें, ओतप्रोत हो जायं, यही स्वाभाविक धर्म था। यूरोपके गोरे अफ्रीका में जाकर बसे और वहांकी प्रकृतिसे उन्होंने लाभ उठाया, इसमें आजमैं दोष नहीं देखता। किन्तु गोरे लोग अपनेको श्रेष्ठ मानकर अलग ही रहे और कालोंको हीन मानकर शोपित प्रजा बनानेको तैयार हुए। यह उनका पाप था, मानवताका द्रोह था। हमारे यहां हम लोग अपनेको श्रेष्ठ जातिके मानकर आदिवासियोंसे अलग रहे, हमने आदिवासियोंको अपने साथ न लिया, उनको हमने हटाया और अपनी जीवन-कला उनको नहीं सिखायी। जातिभेद निर्माण करके ऊंचनीच भेद चलाया। यह था हमारा पाप।

सारीकी सारी जमीन पर अपना हक मानना और लोगोंको दूर रखना, लड़ाई करके लोगोंको हराना यही बडा पाप था। जीवन-कला और सांस्कृतिक लेनदेन करते रहना और सबको अपनाना यही है सार्वभौम मानवधर्म।

हम यात्राको निकले हैं, चिंतन चलानेके लिए नहीं; इसलिए यह विचार परंपरा यहीं पर छोड़ देना अच्छा है।

दुनियामें मोटरोंका आविष्कार हुआ और हर देशमें रास्ते बहुत अच्छे हो गये। आना-जाना, मालका लेनदेन करना बड़ा आसान हो गया है।

करीब बीस किलोमीटर या कमकी यात्रा करके हम धुआंधारके नजदीक पहुंचे। मोटरसे उतरकर पहाड़ी, पत्थरोंके बीच हम पैदल जाने लगे। जवानीके दिनोंमें हम पत्थरोंके सिर पर पांव रखते हुए करीब दौड़ते-दौड़ते धुआंधारके प्रपात तक पहुंच सकते थे। अब वह दिन रहे नहीं। बड़ी मुश्किलसे अपना तोल संभाल-कर जाना पड़ता था। सारा ध्यान तोल संभालने पर देनेवालेके लिए कुदरतका निरीक्षण और प्राकृतिक सौंदर्यका पान कठिन होता है। तो भी अनुभवी आंखें

बीच-बीचमे ठहर कर सौन्दर्यका निरीक्षण करती ही चली।

इस पहाड़ी प्रदेशमे छोटीसी झोंपड़ी बांधकर रहनेवाले और यात्रियोमे मुफ्त आहार पानेवाले साधुओंकी ईर्ष्या करना स्वाभाविक था। लेकिन यहा अनेक बार आया हूं। इसलिए मै न यहाँके पेड़ोकी ईर्ष्या करता हू, न साधुओकी अदेखाई (दूसरोकी अच्छी स्थिति देख न सकनेके कारण होनेवाला द्वेप)।

मै इर्दगिर्द संगजराहतके मुलायम पत्थर ढूढने लगा। इन पत्थरोकी मुझे तो दया आती है। कोई भी आदमी उन्हे उठाकर उनके टुकड़े आसानीसे कर सकता है करवत लेकर लकडीके जैसे पत्थरोको काट भी सकता है। सगमरमर-की जिस तरह मूर्तिया बनाते है उसी तरह सगजराहतकी बहुत आसानीसे मूर्तिया बन सकती है। लेकिन टिकेगी तभी तो इनकी कीमत! यह भेद न जाननेवाले लोग बहुत दाम देकर भी यहाम मूर्तिया और ताजमहल जैसी चीजे खरीदते है।

सनातनधर्मी पूजक नर्मदाके किनारे आते ही मजबूत पत्थरके अनेक रगके शिवलिग खरीदेगे। उनका सूत्र है 'नर्मदाके प्रवाहमे जितने है ककर, सब है शकर'।

हमने बचपनमे सुना था, नेपालकी गडकीके किनारे शालिग्राम मिलते है और नर्मदाके प्रवाहके पत्थर एक-दूसरेसे घिसकर लबगोल अडे जैसे शिवलिंग बनते है। बादमे हमने देखा कि सच्चे शालिग्राम पानीके कीडेके बनाये हुए उनके घर है। और पानीके प्रवाहकी मददके बिना आदमी नर्मदाके पत्थर घिसकर शिव-लिंग बनाता है। जो हो, शालिग्राम और शिवलिंगकी पूजा भारतमे सर्वत्र होती है और इसीलिए गडकी और नर्मदा गंगाके जितनी ही पवित्र मानी जाती है।

हम पत्थरोंको लाघते और सहयात्रियोको सभालते धुआधार पहुच गए। बारिशके दिनोमे जब सारा प्रदेश जलाकार हो जाता है तब कहाँका धुआधार और कहाका पथरीला रास्ता, पानीके विस्तारमे सब कुछ डूब जाता है।

गर्मीके दिनोमे नदीका प्रवाह जब क्षीण हो जाता है उस वक्त धुआधारकी शोभा अलग होही जाती है। धार तो प्रमाणमे क्षीण, लेकिन नीचे पत्थरो पर पटकते ही उसमेसे जो तुषार उडते हैं उनका धुआं सारी घाटीमे व्याप्त हो जाता है। मैने वह सौन्दर्य कई बार देखा है। आज वह नही था। धार बडी तेज थी और धुआं कम। जिसकी शोभा कुछ कम ही कहनी चाहिए।

अबकी बार ऊपरका पानी जोरोंसे आता था इसलिए प्रपातका रग बिल्कुल हरा दीखता था। उसकी दो बाजुओकी किनारी सफेद नही होती तो उसको देखने का मजा भी नही आता। अबकी बार बड़ी निराशा इसलिए हुई कि हम जरा जल्दी पहुंचे थे। सूरज सिर पर नही आया था और धुआ भी कम था। इसलिए धूपमे इंद्रधनुष देखनेकी मेरी इच्छा तृप्त नही हुई। (मै तो पुराना यात्री। दुनियामे ऐसे अद्भुत और दिव्य दृश्य अनेक देखे हैं। इसलिए पुराने सारे दृश्य कल्पनामे

जाग्रत कर सकता हूं और उनका आनन्द ले सकताहूं । लेकिन साथियोंको दिखाने का आनंद कहांसे खड़ा करूं ?)

उभयान्वयी नर्मदाका दर्शन पाते ही वहां बैठकर ध्यान करनेकी इच्छा प्रबल होती ही है। मैंने आराममे बैठनेका स्थान ढूढा। पुरानी परिचित जगह पर हर किसी यात्रीने धोती सुखानेके लिए फैलायी थी। दूसरी अच्छी जगह थी नही। आगे जाकर थोड़ा उतरता तो वहा पर अच्छी जगह मिलती, जहां मैंने पिछली दफे ध्यान किया था। लेकिन वहा तक जानेकी अब हिम्मत नही रही इसलिए जहा खड़ा था वहा बैठकर द्विविध ध्यान किया, आंखें मूंदकर भी और आंखे खुली रखकर भी।

२

प्रपातोंके सामने बैठकर या खड़े रहकर जब-जब मैंने ध्यान किया है, बड़ा आनंद आया है। चिंतन अच्छा चला है लेकिन शात, एकाग्र ध्यान हो नही सका। यह पुराना अनुभव है इसलिए उस वक्त भी सच्चे ध्यानकी अपेक्षा ही मैंने नहीं की थी। पानीके प्रपातका अखड स्रोत देखकर थोड़ा चिंतन करू तो बस है। जिस तरह गानेके लिये तंबूरा या वीणा साथ देते है उसी तरह चिंतनके लिये प्रपातका साथ अच्छा रहता है। वीणा या तंबूरेको बजाना पडता है। उसकी ध्वनि बद भी पड सकती है। फिर तो केवल उसके स्मरणमे ही संतोष मानना पड़ता है। यहा प्रपात-का दृश्य और उसकी ध्वनि अखड चलती रहती है। उसकी मस्ती कुछ अलग ही रहती है। प्रपातके सामने कोई ध्यान धरे या वार्तालाप करे, कोई फोटो ले या पानीकी मछलियोको पकडे, प्रपातको उसकी परवाह ही नही। वह अपनी मस्तीमे तल्लीन रहता है। उसकी यह मस्ती चिंतनके लिए अत्यन्त पोषक किन्तु ध्यानके लिए बाधक होती है ऐसा मेरा पुराना अनुभव है। गिरसप्पाके चार प्रपात हिमालय के अनेक प्रपात और पूर्व आफ्रिकामे नाइल नदीके उद्गमका छोटासा प्रपात सब जगह एक ही अनुभव था। अमेरिकाके नायगराके प्रपातके सामने यात्रियोकी भीड़ इतनी थी और दृश्य इतने विविध थे कि उसकी मस्तीका लाभ चिंतनके लिए भी ठीक मिल न सका था।

आज नर्मदाके धुआंधारके सामने बैठते ही एकदम ध्यान लग गया। जिस पत्थर पर बैठा था वह विशेष अनुकूल नही था। उसका विक्षेप क्षण-दो-क्षण सहन करना पडा। लेकिन ध्यानकी उत्कटतामें ऐसे सारे विक्षेप गल गये और प्रपातके सामने पहली बार मैं ध्यान-मग्न हो सका। बड़ा आनंद आया।

बचपनमे मैंने मूर्तियोंका ध्यान किया होगा। उसमें तो ध्यान नहीं किन्तु कल्पनाका ही बालविलास था। पत्थरकी मूर्ति हो या पूजाका नारियल हो; उनकी आंखें देखकर मैं प्रसन्न आशीर्वादकी अपेक्षा करता था। अपेक्षा उत्कट हो गयी तो

लगता था कि मूर्ति (अथवा नारियल, मेरी ओर देख रहे हैं। कल्पनामें भिन्न-भिन्न भाव जाग्रत होते थे। कभी लगता था कि आंखें गम्भीर हुई हैं, कभी लगता था कि आंखें उपेक्षा कर रही हैं। एक दो दफे लगा था कि आंखोंमें असंतोष या डांट है। मैं तुरन्त अंतर्मुख होकर अपने दोष ढूंढ़ता था। (और बचपनके दोष, बचपनकी अंतर्मुखता दोनोंका आज स्मरण करता हूं तब उस समयके दत्तुके प्रति आज मनमें कौतुकका ही भाव जाग्रत होता है।) कभी-कभी मूर्तिकी आंखोंमं और खास करके महीनों तक जिनकी मैंने पूजा की थी उस नारियलकी आंखोंमें प्रसन्नता दीख पड़ती थी। और मैं धन्य होकर उसीकी मस्तीमें दिन व्यतीत करता था। जोरों-जोरोंमे नाम स्मरण चलाता था—'साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव'।

आगे जाकर किसीने मुझे सिखाया-**शिव हर शंकर गौरीशं, वंदे गंगाधरमीशम्**॥

बाल्यकालके ऐसे ध्यानके दिन चले गये। पौराणिक वार्ताएं पढ़नेसे कल्पना-शक्ति बढ़ी और ध्यानकी जगह नाटकके दृश्यके जैसी मानस-पूजा चली। उसका विस्तार यहां नहीं करूंगा। उसका महत्त्व भी कुछ नहीं है।

बीचके दिनोंकी बात भी यहा करना अप्रस्तुत है। जब मैं वेदान्तके अध्ययनमें मग्न हुआ तब आत्मा-परमात्माका ध्यान करनेकी कोशिश मैंने चलायी। तब तो ध्यान माने ज्ञानका स्मरण और संकीर्तन ही बना। उसे मैं चिंतन भी नहीं कहूंगा। अद्वैत वेदान्तका और मायावादका स्मरण करनेमें ही सारी शक्ति लगाता था। स्मरण करते-करते नीद आनेका अनुभव उन दिनों मुझे नहीं था। किन्तु स्मरण करते-करते लौ लग जाती थी। उसे मैं अपने मनोषके लिए Thoughtlessness कहता था अंग्रेजीमें Thoughtlessness का अर्थ अलग है सो मैं जानता था। उसकी मुझे परवाह नही थी। निर्विकल्प स्थितिके जैसी ही यह स्थिति थी, ऐसा मैं कह सकता हूं। वह स्थिति ज्यादा देर तक टिकती नहीं थी। उस स्थितिका आनंद तो था लेकिन कबूल करना पड़ता है कि उस स्थितिका आनंद कम और अभिमान ज्यादा होने लगा और बादमें मै शरमाया। एक क्षणके लिए निर्विकल्प स्थिति आ गयी तो उसमें बहादुरी कैसी? उसे तो 'अकस्मात्' (संयोग, आकस्मिक घटना) ही कहना चाहिये। जबतक चित्तशुद्धि नही हुई है, वासना-विजय नही हुई ह, तब तक थोड़ीसी ध्यान-सिद्धिका कोई महत्व नहीं है। (उस अवस्थाका थोड़ासा अनुभव हुआ इसलिए उस पर विश्वास जम गया और आस्तिकताका उदय हुआ। इतना ही लाभ समझना चाहिये।)

मैंने सोचा कि बचपनकी मूर्ति-उपासना और सगुण-ध्यानके अनुभवके कारण 'परमात्माका ध्यान' एक तरहका हो सकेगा सही। वह अच्छा भी होगा। लेकिन मुझे तो प्रथम अपनी आत्माका ही ध्यान करना चाहिये। संकल्प-विकल्पसे परे वासनाओंसे भिन्न, और अपने गुणदोषोंसे अलिप्त, उसी आत्माको (Soul या Self को पहचानना और उसके साथ तादात्म्यका अनुभव करना, यही सबसे बड़ा काम

था। लेकिन मैं ही वह हूं ऐसा साक्षात्कार कैसे हो? वर्षों तक लड़ता रहा। मुश्किलें मैं जानता था। लेकिन जाननेसे क्या लाभ? मुश्किलें दूर होनी चाहिये। जब मैं अपनेको समझाता था कि दार्शनिक चिंतनकी वही आत्मा मैं ही हूं तब मैं की जगह आत्मा नहीं किन्तु एक तरहका अभिमान ही स्थानापन्न होता था। अभिमान (Pride) को हटाना आसान था। किन्तु अहम्-प्रत्यय (Personality) को ही आत्मा समझनेको मैं तैयार नही था। आत्मा उससे परे है यह न समझूं तो मैं जीवात्मदशामे ही रह जाऊंगा, इतना तो मैं जानता था।

इस कालका मेरा ध्यान और चिंतन एकरूप था। अपने ही साथ लड़ना था। शिकायत किसकी करूं? किसके सामने करूं? संतोंके वचन मैं जानता था। शास्त्र-वचन मुखोद्‌गत थे। सब तरहकी नसीहतें मेरे सामने थी। लेकिन मैं कूदकर अपनी आत्माको, विशुद्ध, निर्लिप्त आत्माको पकड़ नही सकता था। मेरे ध्यान चिंतनका मुख्य हिस्सा यही है। इसका सुख-दुःख, इसकी आशा-निराशा किसे कहें?

मैंने मान लिया कि मंत्रके जापसे मदद मिलेगी। जाप जोरोंसे चलाया। उससे कितनी मदद मिली कह नहीं सकता। ओम्‌कारके जापकी (प्रणवके जापकी) मस्ती कुछ अलौकिक होती है। उसके द्वारा आंतरिक शुद्धि बहुत हुई। अलिप्तता जोरोंसे बढ़ने लगी। वासनाओंका जोर क्षीण हुआ। लेकिन मेरे दार्शनिक अध्ययनमें जो प्रगति हुई उसमें ब्रह्मविद्याकी दैवी शक्तिकी उपासना आवश्यक है ऐसा विश्वास हुआ। और मैंने शाक्तमंत्र और शाक्त-उपासना चलायी। उसके विविध अनुभव यहां देने नही बैठूंगा।

शुद्ध शाक्त-उपासनाके साथ मैं हिमालय गया। वहां ध्यान करते-करते सगुण-निर्गुणका भेद यकायक टूट गया। सगुण साकारमूर्ति अवतारी पुरुषोंका चिंतन, संत-महात्माओंके प्रति कृतज्ञता, यह सब गौण होकर 'विशाल विश्वको ही ईश्वर-का आद्य अवतार' समझकर उसीकी सगुण और सरूप उपासना शुरू हुई।

मेरी जीवन साधनामें यह सबसे बड़ा और महत्त्वका परिवर्तन हुआ।

बचपनस ही मैं सफरका शौकीन और कुदरतके सौन्दर्यका आशिक था। अपने छः भाइयोंमें और एक बहनमें सबसे छोटा था। बहन ससुराल पहुंची थी। बचपनमे धर्मोपदेश सुना था। उसमें प्रधान बात थी कि 'छोटे भाईको बड़े भाईकी वैसी ही भक्ति करनी चाहिये, जैसी लक्ष्मणने रामकी की थी'। मैं पांच भाइयोंकी भक्ति करने लगा और पाचों बड़े भाई मेरी भक्ति अथवा आज्ञाकारिता वसूल करने लगे। मेरा दम निकल गया, लेकिन कभी भी बगावत न सूझी। परेशान होकर मैं कुछ अंतर्मुख और एकान्त-प्रिय बना। मां-बापको छोड़कर औरोंके संपर्कसे कुछ अरुचि पैदा हुई। मनोमंथनकी वह उम्र नही थी। लेकिन अपने ही सहवासमें रहनेकी आदत बढ़ी। खूब कल्पना चलाने लगा। साथ-साथ समाजमें घुलमिल जाने की हिम्मत कम होने लगी।

इस परिस्थितिके कारण मुझे अपना आनंद आसपासकी प्रकृतिसे—कुदरतसे लेना सूझा। और कल्पनाशक्ति बढ़नेसे यथासमय मैं अंतर्मुख होने लगा।

यह मुख्य कारण है कि मुझे बहुत ही जल्दी अध्यात्मवाद प्यारा हो गया था। कुदरतके सहवासमें मेरी असामाजिकता मुझे तनिक भी नही अखरी।

बचपनकी इस स्थितिको समझाये बिना मैं कैसे स्पष्ट कर सकता कि हिमालय में जाते ही मेरी सगुणोपासक और ध्यानकी आदत कुदरतकी ओर मुड़ी? विशाल प्रकृतिको मैंने अपनी सगुणोपासक साधनाका ध्येय या लक्ष्य बनाया। बचपनका प्रकृति-प्रेम, सौंदर्यानुभूति और भव्यताकी अनुरक्ति उच्चगामिनी हुई और मेरा कलाप्रेम अध्यात्मकी सुगन्धसे सुगन्धित हुआ।

वेदान्तने दुनियाके प्रति अरुचि अथवा वैराग्य बढ़ानेका सिखाया था। मैंने वह सारी अरुचि सामाजिक जीवनके प्रति केन्द्रित की।

जब राष्ट्रसेवाका और स्वराज्य-प्राप्तिका आदर्श सिर पर सवार हुआ तब स्वजनोंकी सेवा उत्साहके साथ करते हुए भी मेरी अलिप्तता खंडित न हो सकी। और कुदरतके साथ जो मेरी प्रथम आत्मीयता थी उस पर दैवी तत्त्वका रंग चढ़ा।

परमात्माके लिए वेदान्तके उत्तम दो शब्द हैं 'भूमा' और 'ब्रह्म'। (भूमा शब्द अल्पका विरोधी है। जिसमें विशालता है, समृद्धि है, आनत्य है वह है भूमा। ब्रह्म शब्द भी बृहद् परसे आया है। बृहत् याने बड़ा, विशाल। जो सर्वव्यापी है, विशाल, विराट है वही ब्रह्म है।)

प्रारंभकालमे मैंने आत्माका चिंतन, (अंतरतर आत्मतत्वका ध्यान) चलाया था। वह जब निराकार निर्गुण हुआ तब आत्मा और परमात्मा भिन्न नही हैं इसकी अनुभूति होने लगी थी।

(कॉलेजके दिनोंमे जर्मन फिलसुफ इमॅन्युअल कॅन्टका तत्त्वज्ञान पढ़ते Thing-in-itself का वर्णन आता था। पदार्थोंके स्वरूप आदि तमाम गुणधर्म बाजू पर रखनेसे, दूर करनेसे, जो बाकी रहता है उसे कॅन्ट Thing-in-itself कहते हैं। अब पदार्थोंकी संख्या भी एक गुण है। उसे भी जब हम दूर करते हैं तब Thing-in-itself का अनेक वचन हो नही सकता यह बात ध्यानमे आयी और वस्तु परमार्थतः विराट् है इसका साक्षात्कार हुआ। इसका चिंतन करते-करते ध्यानमें आया कि जीवात्माका व्यक्तित्व दूर किये बिना आत्मतत्त्व प्रगट नही होगा। इस तरह जीवात्माका व्यक्तित्व दूर होते ही वही परमात्मा है, विराट परब्रह्म है इसका विश्वास, इसकी तसल्ली, और इसका साक्षात्कार यकायक हो गया।)

मुझे याद है, कॉलेजके दिनोंमे सुबह चार बजे अपने कमरेमें टेबुल पर बैठकर इस चीजका ध्यान करता था। Thing-in-itself के लिए मैं तत् कहता था। तत्‌को पूर्णरूपसे समझनेकी मेरी खोजको मैं "तत्ताकी शोध" कहता था।

इस खोजमें जब मैं मुकाम पर पहुंच गया और आत्मा-परमात्माका ऐक्यभाव हृदयमें उतर गया तब मुझसे रहा न गया। मैं एकदम टेबुल परसे कूद पड़ा।

कूद पड़ना था तो स्वाभाविक लेकिन बादमें मुझीको उसमें आश्चर्य हुआ कि आत्मा-परमात्माके ऐक्यका क्षणमात्र अनुभव होनेसे इतना आनंद और उत्साह हुआ कि मैं आपेसे बाहर होकर छलांग मारकर टेबुल परसे नीचे खड़ा हो गया। तबसे यह 'तत्ताकी शोध' मेरे जीवनकी एक महत्त्वकी बात हो गयी है। इस शोध-ने मेरे ध्यानकी बहुत कुछ मदद की है।

बहुत वर्षोंके बाद जब मैं पातंजल योगदर्शन ले बैठा तब मुझे धारणा, ध्यान और समाधिकी त्रिपुटीके लिए पारिभाषिक शब्द 'संयम' मिला। मुझे वह अच्छा लगा। अब ध्यानके लिए जो भी चीज पसंद करूं उस पर संयम करना आसान हो गया।

योगसूत्रोंमें और हमारे सबके सब धर्मग्रंथोंमे किसी चीजकी जब फलश्रुति बताते हैं तब शास्त्रकार भी ठोस अनुभवको छोड़कर गगनविहार करते है और मनमानी फलश्रुति बताते हैं। फलश्रुतिमें थोड़ा कुछ सत्य रहता होगा, लेकिन कल्पना-विहार ही अधिक। और जब शास्त्रियोंको हम छेड़ते हैं और पूछते है कि फलश्रुति कहां तक सही है? फलश्रुतिका अनुभव किसीको है तो बताइये, तो निर्लज्ज होकर हंसते-हंसते कहते हैं, **रोचनार्था फलश्रुतिः**। शास्त्र-साधनाकी ओर लोगोंको आकर्षण हो रुचि हो इस वास्ते मनमाना लाभ बताया जाता है।

शास्त्रग्रंथोंमें भी सत्यनिष्ठाको बाजू पर रखी हुई देखकर बड़ी ग्लानि होती है।

ध्यानमें 'एकाग्रता' चाहिये इसमे शक नही लेकिन एकाग्रतासे भी बढ़कर 'उत्कटता' चाहिये। इस बारेमे मैंने अन्यत्र लिखा है उसकी पुनरुक्ति यहां नही करूंगा।

धुआंधारमे ध्यान करते नया अनुभव हुआ कि जिसका ध्यान करते है वह चीज स्थिर और शांत स्थितिमें हो, इसकी आवश्यकता नही है। प्रपातोंके सामने मै ध्यान नहीं कर सकता था यह कमी दूर हुई और अबकी बार पहली दफे यहां ध्यान कर सका। इससे बड़ा लाभ हुआ।

विश्वमें सब कुछ गतिशील है। पृथ्वीकी तीन गतियां (एक दैनंदिनगति, दूसरी वार्षिकी और तीसरी अयनचलनकी। चंद्र, पृथ्वी, ग्रह, सूर्य, तारे, नक्षत्र, निहारिका, विश्व, सब कुछ गतिशील हैं। उसमें प्रगति हो या न हो।) गति तो चैतन्यका लक्षण ही है। स्वयं आत्मतत्त्व भी हृदिसंस्फुरत् है इसका अनुभव होता गया, तबसे मेरा साराका सारा तत्त्वज्ञान नया रूप धारण कर सका है। यही कारण था कि धुआंधारमें ध्यान उत्तम ढंगसे हो सका। अबकी बार कूद न पड़ा यही गनीमत।

३

इसीकी मस्तीमें धुआंधारसे हम लौटे और चौंसठ योगिनियोंकी टेकरीके नीचे पहुंचे।

मैं चाहता था कि हम पहले भेडाघाट जाकर नौका विहार करें और बादमे गौरी-शंकरका दर्शन करके टूटी फूटी योगिनियोंका आशीर्वाद लेकर वापस लौटें। लेकिन साथियोंको यह सूचना पसंद नही आयी।

आजकल मैं सीढ़िया चढ़ना-उतरना टालता हूं। रहनेका प्रबन्ध और सभाओं का प्रबन्ध जमीनमे ऊंची जगह न हो, सीढ़ियां चढ़नी न पड़े ऐसी सूचनाएं भी देता हूं। ऐसी हालतमें एक-सौ आठ सीढ़ियां चढ़नेकी हिम्मत कैसे करें? और ये सीढियां भी बूढ़ोंके लिए, बच्चोंके लिए या बीमारोंके लिए बनी हुई नही बल्कि तगडे यात्रियोंको ध्यानमें रखकर बनाई हुई थी। बाकी सब लोग दर्शन करके आवे और मैं अकेला नीचे आराम करूं यह भी मनको पसंद न था। धुआंधारके पास बैठकर जो ध्यान किया था उससे शरीरमें काफी फुरती आयी थी। पेटमें ताजा गन्नेका रस भी आश्वासन देता था। मैंने साथियोंसे कहा "चढ़नेकी कोशिश करूंगा। अगर थकान मालूम हुई तो आधे रास्तेसे भी वापस आ जाऊंगा। उत्साह से अंधा होकर बेवकूफी नही करूंगा। ऊंचाई मुझे हमेशा आमंत्रण ही देती है। उसके सामने हारनेको जी नही चाहता।"

हम धीरे-धीरे चढ़े। सीढ़ियां टालकर बाजूसे चढ़नेका भी प्रयोग किया। उत्साह ने पौनी ऊंचाई पार कर दी। अब शक्ति हो या न हो, बाकीकी ऊंचाई तय करनेमें ही बुद्धिमानी थी। (इसका वर्णन करनेकी भी इच्छा नही होती।) किसी तरह चढ़े। योगिनियोंका दर्शन करते-करते मंदिरकी और टेकरीकी भी प्रदक्षिणा हो गयी। अंदर जाकर नवविवाहित दपंतिके जैसे नंदी पर बैठे शिवपार्वतीका दर्शन किया, नृत्यगणपतिको नमस्कार किया और बाहर आकर भूमिशायी बन गया। टेकरी परकी ठंडी हवा और सकलगात्रोंको शिथिल करनेवाले शवासनकी मददसे थकान उतर गयी। और हम धीरे-धीरे टेकरी उतरकर अपने तैलवाहन तक पहुंच गये।

लोग कहते हैं आरोहणं तु सायासं अनायासं तु पातनं (इसमे पातन शब्द ठीक नही है। ऊपर चढ़नेमें आयास—तकलीफ बहुत, नीचे उतरनेमें कोई आयास नही।

मेरा अनुभव ऐसा नहीं है और पर्वतारोहण करनेवाले अनेकोंका अनुभव भी मेरे जैसा ही है। चढ़नेमें परिश्रम है सही, किन्तु हम सुरक्षित रहते हैं। अपनी शक्ति देखकर हम चढ़े। धीरे-धीरे चढ़े। सांस संभालकर चढ़े। लेकिन उतरते समय तौल सारे शरीरका संभालना पड़ता है। और जो भी कदम आगे रखते हैं उसको

सारे शरीरका भार सहन करना पड़ता है। चढ़नेकी हिम्मत हो सकती है। मुझे तो उतरनेका डर ही लगता है। और चढ़नेके बाद उतरे बिना चारा ही क्या? लाचार होकर उतरना ही पड़ता है।

खैर, मोटरमें बैठकर भेड़ाघाटके आरामगृह तक पहुंच गए। आराम करना तो था ही नही। फिर नीचे उतरना पड़ा। बड़ी समस्या थी। लेकिन सामने नर्मदा मैयाका शांतस्वरूप और दोनों बाजू ध्यानस्थ खड़े हुए संगमरमरके विशाल पाषाण। दोनोंने अपना मूक आग्रह चलाया और हम हिम्मतपूर्वक पानीके किनारे तक उतर गये। वहां एक सज्जन व्यवस्थापक मिले, जिन्होंने कहा "आप चिंता न करें वापस जाते समय आराम कुर्सी पर बिठाकर आपको ऊपर कार तक ले जानेका प्रबध आसानीसे हो जाएगा।" केवल वाणीने नहीं किंतु हमारी आंखोंने, पांवोने और सांस लेनेवाले फेफड़ोंने उनको धन्यवाद दिया और हम किश्तीमें जा बैठे। हमारी किश्तीका नाम था ज्योति। उमीके नजदीक दूसरी किश्ती थी जिसका नाम 'अप्सरा' अन्वर्थक था! लेकिन उसमें जानेका हमारा भाग्य नहीं था। हम थोडे ही स्वर्गके देव थे कि अप्सराका सहारा ले! (जो पानीसे निकली है अथवा पानीमे सर (चल) सकती है उसीको अप्सरा कहते हैं। अप् याने पानी।)

(४)

धुआंधार और भेडाघाटके बीच दो मीलका भी अंतर नहीं होगा। दोनों जगह नर्मदा नदी ही है। लेकिन दोनोंका वायुमंडल एकदम भिन्न। धुआंधार जाते हम टेढ़े-मेढ़े (किन्तु गोल) छोटे बड़े पत्थरके सिर पर पांव रखकर नर्मदाके प्रवाहका दर्शन करने जाते है! और धुआंधारोमें नर्मदा नदीका जल मानो उन्मत्त होकर ऊंचाईसे नीचे कूद पडता है? क्या उसका वेग और क्या संभ्रम! आसपास के पत्थर कहते हैं कि देखनेको हैं हम पत्थर, लेकिन असलमें हैं नर्मदाके प्रवाहके खिलौने। आज एक जगह पर और नर्मदाने चाहा तो कल दूसरी जगह पहुच जायेंगे। पता नहीं हम यहां किस वक्त और कैसे आ पड़े हैं? हमारा एक ही अनुभव है कि नर्मदाका प्रवाह जब जोरोंसे बहता है तब हम एक-दूसरेसे घिसकर गोलमटोल बनते हैं। हम हैं प्राचीन, सख्तसे सख्त पत्थर। किन्तु हमारे बाजू पर जैसे सफेद पत्थर हैं संगजराहत, जिन्होने पत्थर बनना चाहा किन्तु उस कलामेंवे असफल ही रहे उनको देखकर हमें दया आती है।

धुआंधारके आसपासका प्रदेश खुला है। इसलिए यहां पर हवा स्वच्छंद दौडती है और सारे प्रदेशको शीतलता बख्शती है।

इधर भेडाघाटमें संगजराहतका नाम नहीं। भिन्न-भिन्न रंगके संगमरमरकी ऊंची-ऊंची चट्टानोंके पांव धोती नर्मदाके शांत-शीतल ध्यानमग्न प्रवाहमें नौका चलाकर सफेद, पीले, नीले पत्थरोंकी भव्य शोभा देखते-देखते नौकाविहार करते

डर लगता है कि हम जोरसे बोलें या नौकाके डाडसे पानीकी आवाज हो जाय तो घाटीकी शातिका भंग होगा और दोनों बाजूके पहाड़ोके शिखर नाराज होकर हमे डांटेंगे।

इस घाटीमे जहांमे पानी आता है वहा पानीकी जरा-सी कलकल सुनाई देती है। दूसरी तरफ भेड़ाघाटको खत्म करके पानी जहा दौड़ता है वहा पर भी प्रवाह मुखर है। लेकिन बीचके सारे प्रवाहमे मानो सरोवरकी शाति है और किश्तीमें बैठकर जब प्रतीप जाते है तब ऐसा ही लगता है कि तीन बाजू पहाड़ है। आगेके लिए रास्ता ही नही। नजदीक जाने पर आगेका रास्ता प्रगट होता है।

टेढे-मेढे प्रवाहमे नौकाविहार करते और सगमरमरकी शोभा देखते भूल ही जाते है कि बाहरकी दुनिया कैसी है।

एक जगह प्रवाहके दोनों बाजुओके ऊचे पहाड़ इतने नजदीक आये है कि कहते है, मध्यकालीन किसी सरदारने पहाडके एक शिखरसे अपना घोडा कूदाकर प्रवाह-के दूसरे बाजूके शिखर पर छलाग मारी। आज उस स्थानको बदर-कूद कहते है। क्योंकि बडे-बड़े बंदर यहा प्रवाहके एक बाजूसे दूसरे बाजू कूदकर आसानीसे अपने खेल खेलते हैं।

जब भेडाघाट देखने सबसे पहले आये थे तब मध्यकालीन क्षात्र-जीवनके ऐसे अनेक किस्से सुनते मजा आया था। और मध्यकालीन इतिहासका चित्र खड़ा करते कल्पनाको अद्भुत रस चखनेको मिला था। अब तो ऐतिहासिक रस पुराना हो गया है अब तो 'निसर्ग भव्य शातिकी ठोस आध्यात्मिकता' ही चित्तको घेर लेती है और मानो हम बुद्धिके परे कल्पनाके अतीत ध्यान-समाधिका अनुभव ले रहे है। ऐसी गूढता यहां प्रत्यक्ष होती है।

चादनी रातमे भेड़ाघाटमे नौकाविहार करनेका काव्य तो और भी अद्भुत होता है। सिर परका चांद जरा टेढ़ा हो तो थोडा पतलासा सुवर्ण प्रकाश और आस-पास घना अंधकार दोनोका साहचर्य भय और कुतूहलका अजीब मिश्रण कर देता है।

नर्मदाका एक नाम है रेवा! रेवा याने कूदने वाली। नदीके आठ सौ मीलके प्रवाहमे वह इतनी बार कूदती है कि नर्मदा नौका-यात्राके लिए बिलकुल कामकी नही है। भेड़ाघाटमे नर्मदा इतनी शात है कि यहा रेवा नाम लेते भी अयुक्तसा लगता है।

जितनी दफे भेड़ाघाटके दर्शनके लिए आया हू, मनमे ख्वाहिश उठी है कि साधनाके लिए यहा आकर दो-तीन महीनेके लिए पड़ाव डालकर रह जाऊं और एक-एक जगह आकर दो-दो चार-चार दिनका आनद लेकर स्थान बदलता जाऊं। नर्मदा का दृश्य, नर्मदाका वायुमंडल और नर्मदाका अध्यात्म अपने जीवनके द्वारा चूस

लिये बिना तृप्ति होगी ही नहीं। सचमुच भारतवर्षके असंख्य रमणीय स्थानोंमें भेड़ाघाटकी स्तब्ध शोभा अजीब है, मंत्रमुग्ध करने वाली है।

७४. पहाड़ोंका पितामह अरावली

हमारे देशमें बड़े-बड़े मकानोंके और शहरोंके भग्नावशेष अनेक जगह पाये जाते हैं। अच्छे और नये मकानोंकी अपेक्षा इन अवशेषोंका काव्य कुछ अधिक होता है। कर्णके जैसा कोई दानी पुरुष जब दारिद्र्यसे क्षीण होता है, कोई बड़ा पहलवान या योद्धा जब जराजरजरित होकर लकड़ीके सहारे चलता दीख पड़ता है तब उसके प्रति हमारा आदर करुणाके साथ मिश्रित होकर भक्तिभाव पैदा करता है। इसी तरह प्राचीन किलेके या नगरके अवशेष हमारे चित्तको अन्तर्मुख करके उनके प्राचीन गौरवका विषादमय स्मरण कराते हैं।

हमारे मनकी यही हालत थी जब हमने सिंध लारकाना जाकर इतिहास-पूर्वकालीन मोहन-जो-दड़ोका उत्खनन देखा था। बिहारमें पटनाके पास जब हमने सम्राट् अशोकके राजप्रासादके अवशेष देखे तबभी चित्तकी ग्लानिने दो आंसू सारकर 'कालाय तस्मै नमः' का उद्घोष किया था। बनारसके पास सारनाथ और बिहारमें नालन्दा जाकर जब वहांके अवशेष देखे तब भी इतिहासप्रेमी चित्त ऐसा ही अस्वस्थ हुआ था। पंजाबसे कश्मीर जाते करीब अबटाबाद तक पहुंचा था, लेकिन तक्षशिलाके अवशेष नहीं देख पाया इसलिए उसके बारेमें चित्तमें कोई संस्मरण अंकित नही है। जब जरासंधकी राजधानी बिहारमें देखी तब प्राचीन मल्लयुद्धका चित्र नजरके सामने खड़ा हुआ सही, लेकिन उसके साथ कोई विषाद जुड़ा हुआ नही था। भग्नावशेष मानवी जीवनकी एक विशेष विरासत है।

लेकिन क्या प्रकृतिके घरमें भी भग्नावशेष नहीं हैं? भारतकी आजकी भूरचना स्थायी नही बनी थी उन दिनों जो प्राचीन नदियां बहती थी वे आज कहां हैं? आज तो हम राजस्थानमे बहनेवाली प्राचीन नदी सरस्वतीके अवशेषका ही स्मरण कर सकते हैं जिसे भूस्तर-शास्त्र हकराके नामसे पहचानते हैं। इसे हम नामशेष भी नही कह सकते क्योंकि लोगोंमें उस नदीका नाम तक नही रहा है।

ऐसे ही एक अवशिष्ट पर्वतका आज हम स्मरण करना चाहते हैं जो भूस्तर-शास्त्रके अनुसार भारतका सबसे प्राचीन पर्वत है। लोगोंको आश्चर्य होता है जब हम कहते हैं कि पहाड़ोंकी जमातमें सबसे युवान है हिमालय। दुनियामें यह कितना ही ऊंचा क्यों न हो, उसकी उम्र थोड़े ही लाख वर्षोंकी है। विंध्य और पारियात्र जैसे बुड्ढोंके सामने वह कलका बच्चा ही है। भारतके कुल पर्वतोंकी सूचीमें उसे स्थान तक नहीं है। महेन्द्रो (उत्कल), मलयः (केरल) सह्यः (कोंकण), शुक्तिमान्,

ऋक्षपर्वतः (सौराष्ट्र), विन्ध्यश्च (मध्य भारत), पारियात्रश्च (राजस्थान) सप्तैते कुलपर्वताः। यह प्राचीन पारियात्र ही आजका अरवली पर्वत है ऐसा माना गया है। भूचाल होकर, लाखों वर्षकी गरमी और बारिशके कारण और केवल कालबल-से यह प्राचीन पहाड़ छिन्न-भिन्न हो गया है। अब उसके अवशेष ही पाये जाते हैं। राजस्थानमें यह पहाड़ नैऋत्य दिशासे चलता हुआ ईशान्य दिशामें करीब दिल्ली तक पहुंचा है। अगर गुजरातके किनारे अर्बुद या आबूका पहाड उसका एक सिरा है तो दिल्लीके पासकी छोटी-छोटी पहाडियां, जिन्हें अंग्रेजोंने दी रिज (The Ridge) नाम दिया और हमारी भोली जनताने जिसका धीरज रूप बना दिया, वह है इस पारियात्रका दूसरा सिरा। आबूके पहाडका सबसे ऊंचा शिखर गुरुशिखर पाच हजार फुटसे भी अधिक ऊचा है और हमारी धीरज टेकरियोंकी ऊंचाई पचास फुटकी भी नही होगी !

अरावली नाम कहासे आया ? शायद उसका असली नाम आडावली है। सिन्धुको लाघकर मध्यप्रदेशकी ओर जाते यह पहाड और उसकी अनेक शाखाए आडी आती हैं इसलिए इसका आडावली नाम पड़ा होगा। लेकिन चन्द लोग कहते है कि चमार लोग चमडेको काटनेके लिए जिस आर या आरीका उपयोग करते हैं उसीके जैसा इस पहाड़का आकार है इसलिए उसे आरावली या अरवल्ली कहते हैं।

जो हो, यह प्राचीनतम पहाड़ आजके आक्रमणकारी शत्रुओंको तो रोक नही सकता, किन्तु पश्चिमकी ओरसे आने वाली रेतकी बाढको भी पूरी तरहसे रोक नही पाता। इसका दक्षिणका सिरा, जिसे आबू या अर्बुद कहते है वह तो पश्चिम समुद्रमे आनेवाले बादलोको रोककर उनसे बारिशका करभार आज भी लेता है सही। आबूका विशाल नखी तालाब देखते यही ख्याल आता है कि बादलोसे पाया हुआ करभार संभालकर रखनेका यह उसका खजाना या कोश है।

आडावलीके पहाड बडे हों या छोटे, वनस्पति-सृष्टिको आज भी प्रश्रय देते है और उन जगलोंमें शेर, चीता आदि वन्य पशुओको भी प्रश्रय मिलता है और यहां कई पहाडी वन्य जातिया भी उसके आश्रयसे कृतार्थ होकर लोकगीतोमे अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती है।

अरावलीके परिसरमे जन्म लेनेवाली नदियोंकी संख्या भी कम नही है। केन, बेतवा, धसान, सिन्ध, पार्वती, काली सिन्धु, बनास और सबसे अधिक पुरानी और अधिक महत्त्वकी चर्मण्वती ये सब नदिया, एक ओर अरावली और दूसरी ओर विन्ध्य पर्वतमालाके समकोनमे जन्म लेकर अपना जीवनकार्य सफल करती है और इन सब नदियोंका करभार एकत्र करनेका काम यमुना ईमानदारीसे करती है। कोटा, टोंक और साभर ये सब प्रदेश इन्हीं नदियोंकी कृपासे उपजाऊ होते हैं। लावण्यवती लूनी, सुकी और बनास आदि नदियां भी अरावलीकी ही लड़कियां

हैं लेकिन वे अपना पानी पश्चिमकी ओर ले जाती हैं। साबरमती और मही ये दो गुजरातकी नदियां आबूके पहाड़का दक्षिणी पानी अपनी अनेक सखियोंकी मददसे इकट्ठा करके स्तम्भतीर्थ—खम्भातकी ओर ले जाती हैं।

आबूके पहाड़ोंमें मैं घूमा हूं। पृथ्वीके बाल्यकालमें जब उस पहाड़पर बर्फ गिरती थी तब वहांके पत्थरोने बर्फके घर्षणसे जो विचित्र आकार धारण किये हैं उन्हें मैंने ध्यानसे देखा है। दिल्लीकी धीरज टेकड़ी और उसपर खड़े किये अशोकके शीलस्तंभका भी दर्शन मैंने किया है। रेल्वेका सफर करते अरावलीकी कुछ पहाड़ियां अनेक बार देखी होंगी। लेकिन जितना परिचय हिमालय का या सह्याद्रिका है उतना अरावलीका नही है। काश, राजस्थानका कोई सहृदय भक्तिमान, भारतपुत्र अरावलीका विविध परिचय करा देता! ऋग्वेदमे अर्बुद नामक असुरका जिक्र आता है और वहां कहा है कि इन्द्रने उस असुरको बर्फके प्रहारसे मार डाला। क्या इस आख्यायिकाका अर्थ हम भूस्तर-शास्त्रसे पा सकेंगे?

स्वतन्त्र भारतके नवयुवकोंका काम है कि वे भारतके कोने-कोनेकी यात्रा करें, वेद और पुराणोंमे लेकर अद्यतन विज्ञान तककी सब मदद लेकर भारतका सम्पूर्ण परिचय अपने लोगोंको और दुनियाको करायें। हमारी जाति, हमारी संस्कृति भग्नावशिष्ट नही है। वह चिरंतन है, सनातन है और इसीलिए आज भी वह यौवनपूर्ण है।

७५. भारतके प्रधान सरोवर

जिस तरह भारतमें असंख्य नदियां हैं और उन्हें हमारे पुरखोंने लोकमाता कहा, उसी तरह भारतमे छोटे-बड़े सरोवर भी असंख्य है। सर, सरोवर, सरसी, तालाब, ताल, तलैया, झील, पुष्कर, पुष्करिणी, ह्रद, कासार, खात, तडाग ऐसे तरह-तरहके कई नाम हमारे लोगोने जलाशयोंको दिये है। जिसके प्रति हमारी अधिक-से-अधिक भक्ति है ऐसा सरोवर तो हिमालयके उस पार कैलासके रास्ते है। उसे मानस-सरोवर कहते हैं। उसीके पड़ोसमें उतना ही बड़ा दूसरा सरोवर है, जिसे हमारे पुरखोंने नाम दिया है 'रावण-ह्रद'।

मैं मानता हूं कि जिस नदीके प्रवाहमें बीच-बीचमें सरोवर बनते हैं ऐसी नदी को सरस्वती कहते होंगे। ऐसी नदीको ह्लादिनी तो कहते ही है। कश्मीरकी नदी झेलम अथवा वितस्ता एक ओरसे वूलर-सरोवरमें जा गिरती है और दूसरी ओरसे निकलकर आगे बढ़ती है। उसे हम जरूर ह्लादिनी कह सकते है।

मानस-सरोवर और रावण-ह्रदके परिसरसे ही सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, सतलुज और सरयू (घोग्रा) ये चार नदियां निकलती हैं। मैंने अन्य स्थान पर लिखा ही है कि

जो नदियां सरोवरसे निकलती हैं उन्हें हम या तो सरोजा कहें या सरयू कहें। भारत को महत्त्वकी चार नदियां देनेवाले इन दो सरोवरोंके परिसरको भारतने अपनी कृतज्ञता यात्रियोंके द्वारा हमेशा अर्पण करनेका रिवाज चलाया ही है। इसलिए, इनको प्रथम नमस्कार करके ही भारतके उन सरोवरोका स्मरण करना है, जिनके दर्शनसे और स्नान-पान-दानसे कृतार्थ हुआ हू।

भूगोलवेत्ता कहते है कि भारतके चार सरोवर सबमे बड़े है, जिनमेरो दोका पानी है मीठा और दूसरे दोका है खारा। इनमे सबसे प्रथम नाम आता है वूलर का, जो कश्मीरका नगीना गिना जाता है।

यो देखा जाय तो कश्मीरकी उपत्यका ही पौराणिक कालमे एक बडा सरोवर था, जिसका नाम था सतीसर; क्योकि सती पार्वती अपनी सखियोके साथ इस सरोवरमे जलविहार और नौकाविहार करती थी। लेकिन, बडे-बडे असुरोंने इस सरोवरका आश्रय लिया। उनको स्थानभ्रष्ट करनेका एक ही तरीका था कि इस सारे सरोवरका पानी ही निकाल दिया जाय। श्रीविष्णुने वराहका रूप धारणकरके जहा पहाड तोडकर सरोवरका पानी नदीके रूपमे बहाया, उस स्थानको 'वराह-मूलम्' कहने लगे उसीको आज बारामुल्लाके नाममे पहचानते है। आज भी बारामुल्लाके पास नदीका पात्र गहरा बनानेके लिए यन्त्रके द्वारा कीचड निकाल दिया जाता है।

सतीसरका सकोच होनेसे अब वूलर सरोवर ही बचा है। आज कभी-कभी बारिश बढ़ने पर इस सरोवरका विस्तार १०३ वर्गमील्का होता है। लेकिन, मामूली तौर पर उसका विस्तार १२-१३ मीलसे ज्यादा नही है। अक्सर सब सरोवर शात होते है, लेकिन वूलर अथवा उल्लोल सरोवरमे कभी-कभी पहाडोंके बीचसे ऐसा तूफानी झंझावात चलता है कि बडी-बड़ी किश्तियोको भी डूबने देर नही लगती। यही कारण है कि जो पहले 'महापद्मसरस्' नामसे मशहूर था, उसे लोग उल्लोल सरोवर कहने लगे। (संस्कृतमे बडी-बड़ी लहरोको उल्लोल कहते है।)

उल्लोल सरोवरके बाद आता है मंचर सरोवर, जिसमे सिन्धु-नद प्रवेश करके बाहर निकल आता है। इसका वर्णन तो मैने अन्यत्र किया ही है। यह सरोवर जब पानीमे भर जाता है, तब मीठे पानीके सागरकी शोभा देता है। जब उसमे कमल खिलते हैं, तब उसे सचमुच पद्मकासार नही, किन्तु पद्मसागर ही कहना चाहिए। और, जब पानी कम होता है, तब उसके किनारे गेहूकी खेती होती है, जिसका सिन्धके लोगोको बडा सहारा है।

हमारा तीसरा बड़ा सरोवर है साभर, जो राजस्थानमें जयपुर-जोधपुरके बीच सफेद नमकके कारण हमेशा चमकता रहता है। स्थानिक लोगोंमें इस सरोवरके बारेमे एक सुन्दर कथा प्रचलित है।

देवी अन्नपूर्णाका एक अवतार है शाकंभरी। इस शाकंभरीने भक्तोंकी सेवा-से संतुष्ट होकर कहा कि 'जहां तुम लोग रहते हो, वहांके सारे प्रदेशको चांदीका बना देती हूं।' देवीके वरदानका यह फल देखते ही अनुभवी गरीब लोग डर गए। हाथ जोड़कर मातासे उन्होंने कहा कि 'चांदी तो हमारी मौतका कारण होगी। इतनी चांदी देखकर आसपासके राजाओंकी नीयत बिगड़ेगी। वे इस भूमि पर अधिकार जमानेके लिए आपसमें लड़ेंगे और हमारा तो खात्मा ही हो जायेगा।' शाकंभरीको अपने भक्तोंकी दलील जंची और उसने कहा, 'अच्छा तब मैं इस स्थानको चांदीके जैसे चमकनेवाले शुद्ध नमकका सरोवर बनाऊंगी।' वैसा ही हुआ। और तबसे आजतक इस सरोवरके इर्द-गिर्द बसे हुए गरीब लोगोंको अच्छा रोजगार मिल रहा है।

चौथा बड़ा सरोवर उत्कलके पूर्व किनारे गजामके पास है, जो चिलका नामसे विख्यात है। समुद्रके किनारे होनेसे यह स्वाभाविकतया खारा सरोवर है। लेकिन, इसमें आकर गिरनेवाली नदियोंका जोर जब बढ़ता है, तब यह सरोवर करीब करीब मीठा बन जाता है। और, नदियोंका पानी जब कम होता है और समुद्रमें बाढ़ आती है, तब यह सरोवर फिरसे खारा हो जाता है।

मुझे वह दिन ठीक याद है, जब हम लोग महात्माजीके साथ रंभाके जमीदारके मेहमान थे। राजा साहबके वाफर (Steam Launch) Lady of the Lake ने हमें सरोवरमें काफी घुमाया। नाचते पानीका रग, आसपासकी टेकरियोंके ऊपरके पेड़ोंका रंग और आकाशका नीला रंग, मानों एक नुमाइश हो। बीचमें वाफर ने ज्यों ही सीटी फूंकी, आस-पासकी ध्यानास्थ टेकरियां एकदम मुखरित हो गईं और सीटीकी प्रतिध्वनियां अनेक दिशाओंसे आने लगी।

सरोवरमें काफी चक्कर लगानेके बाद हम एक छोटे-से टापूके पास पहुंचे, जो एक मामूली कमरेसे बड़ा नहीं था। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके एक गोरे अमल-दारने इस बेट पर बैठनेके लिए छोटा-सा चबूतरा बनाया था और ऊपर छायाके लिए गुंबज भी बनाया था। स्थानिक लोगोंसे सुना कि वह गोरा रोज किश्तीमे आकर इस बेट पर बैठकर छोटी हाजिरी या नाश्ता करता था।

कम्पनी बहादुरके दिनोंका और एक किस्सा यहां सुना। ईस्ट इण्डिया कम्पनी-का एक एजेन्ट यहां रहकर मनमाना कारोबार करता था। न पैसोंका हिसाव, न नियमोंका पालन। जब शिकायत कलकत्ता पहुंची, तब इस एजेंटसे जवाब-तलब किया गया। उसने कहा, पाई-पाईका हिसाब मौजूद है। आप किसी हिसाब-नवीसको भेज दीजिए।

जब बड़ा हिसाब नवीस आ गया, तब सरोवरके किनारे उसकी अच्छी-से अच्छी आवभगत—खातिरदारी की गई और उससे कहा कि हिसाबके बही-खाते और कागजात एक बेट पर रखे हुए हैं, वे तुरन्त मंगवाये जायेंगे। जब सारे हिसाब-

किलाब एक जहाज पर लादकर किनारे पर लाये जाते थे, पानीमें कुछ तूफान हुआ और जहाज पानीमें डूब गया ! बेचारे मल्लाह मुश्किलसे बच पाए ! एजेंट-ने और बड़े लेखा-निरीक्षकने खूब अफसोस किया और सारा प्रकरण वही पर खतम हुआ !! ईस्ट इण्डिया कम्पनीके एजेंट हमारे यहाँके नवाबोंसे भी बढ़े-चढ़े थे ।

चिलका सरोवर, उसके अन्दरके टापू और आसपासके पहाड़ प्राकृतिक सौंदर्य का निधान है। हमारी सिफारिश है कि भारतके सौंदर्यधामोंकी यात्रा करनेवालों को चिलकासे वंचित नही रहना चाहिए। लार्ड कर्जनकी गवाही देकर हम कहते हैं कि इतना सुन्दर स्थान आपको अन्यत्र नही मिलेगा।

चिलका सरोवरके किनारे अनन्तकालसे एक प्राकृतिक द्वन्द्व चलता आया है। भार्गवी, दया आदि अनेक नदियां अपने प्रवाहके साथ कीचड़ और मिट्टी ला-लाकर इस सरोवरमें छोटे-बड़े टापू बनाती है और समुद्र नदियोंके आक्रमणसे चिढ़कर अपनी ओरसे ज्वार-भाटेके साथ रेत लाकर सरोवरके खिलाफ एक बांध खड़ाकर देता है। जिन्होंने मद्रासके समुद्र-किनारे अड्यार नदीके खिलाफ समुद्रका खड़ा किया हुआ बांध देखा है, या सौराष्ट्रके पश्चिम किनारे मेखल नदीको रोकनेवाला सागरी बाध देखा है, उन्हीको इस समुद्र लीलाका ठीक खयाल हो सकेगा।

कहते है किसी अंग्रेज इंजीनियरने चिलका सरोवरका पानी और पूर्वसागर का पानी दोनोंको एक करनेके लिए बीचका बांध तोड़नेका पुरुषार्थ किया। मिट्टी इधरसे खोदी, उधरसे खोदी और समुद्रसागर मिलनके महोत्सवके दिन तोड़नेके लिए जमीनका थोड़ा-सा टुकड़ा रहने दिया।

उत्सवके लिए बुलाये गए बड़े-बड़े मेहमानोंके देखते बारूदके द्वारा बीचका मिट्टीका हिस्सा उड़ा दिया गया और दोनों पानी एक हो गये ! इजीनियरी पुरु-षार्थकी महिमा गाते-गाते लोग इधर उत्सव पूरा करते थे, इतनेमें समुद्रने खूब रेत लाकर टूटा हुआ बाध भर दिया और सारे लोग मायूस होकर अपने-अपने स्थान चले गए !! मनुष्यके पुरुषार्थकी भी मर्यादा है। इधर कुदरतकी लीला भगवान्‌की लीला होनेसे उसके लिए कोई मर्यादा नही। चिलका और समुद्रके बीच कम-से-कम २०० गज चौड़ाईका बांध कुदरतकी लीलाका महत्त्व आज भी सिद्ध करता है। चिलका सरोवर करीब ४० मील चौड़ा और २० मील लम्बा है। सरो-वरकी गहराई पाच-सात फुटसे अधिक नहीं है। सरोवरके बीच एक जगह नल-बन नामका एक पांच मीलके घेरावेका बेट है, जिसकी जमीन आसपासके पानीसे सिर्फ पाच-सात इंच ही ऊची है। ऐसे बेट पर मनुष्य रह नहीं सकता, लेकिन अपने मकानके छप्परके लिए यहांसे चाहे जितना मसाला ले जा सकता है। नदी ऋषिकुल्या अगर चाहती, तो अपना पानी चिलकामें ही छोड़ देती। लेकिन, उसने अपना पानी समुद्रको ही देना पसद किया। लोगोंने दोनोंके बीच नहर बांधकर

समझौता करनेकी कोशिश की, लेकिन ऋषिकुल्याने वह नही माना। चिलकाका तो उससे कुछ नुकसान नही हुआ।

मद्रासमे कटकके रास्ते कलकत्ता जाते ट्रेनसे यह सरोवर दीख तो पड़ता है, लेकिन उसकी सच्ची शोभा किसी सरोविहारिणी किश्तीमें बैठकर ही देखनी चाहिए।

भारतके इन चार सरोवरोंके साथ जिसकी तुलना हो सके, ऐसा एक विशाल सरोवर मैने मणिपुर, आसामकी ओर खास जाकर देखा। उस 'लबतक' सरोवर का वर्णन तो स्वतत्र रूपसे ही होना चाहिए।

७६. भारतीय भक्ति-मानसका सनातन केन्द्र मानस-सरोवर

हिमालयके उस पार त्रिविष्टप, यानी तिब्बतमें हमारी देवभूमि है। वहां दुनियाके सबसे ऊंचे, सबसे सुन्दर और सबसे प्रभावी तीन सरोवर हैं। एक है पैंसठ मीलके घेरेवाला मानस-सरोवर। उससे कुछ छोटा उसीके पड़ोसमें है रावण-ह्रद या राकसताल। और उनके उत्तर-पूर्वमें कैलासके नजदीक है, इन दोनोंसे छोटा, लेकिन इन दोनोंमे भी ऊंचा गौरीकुंड। इनके आसपास; हर दिशामें पहाड़ ही पहाड़ फैले हुए है जो चिर-हिमके श्वेत मुकुट पहनकर ध्यानी मुनिके जैसे बैठे रहते हैं।

इन पहाड़ोंमे भी अपनी ऊंचाईसे अलग दिखनेवाले दो भव्यतम पहाड़ है—कैलास और गुर्ला मान्धाता। मानस-सरोवर और राकसतालके उत्तरमें, समस्त जम्बू द्वीप या एशिया-खंडके बिल्कुल केन्द्रमे विराजमान है कैलास शिखर, जिस पर महायोगीश्वर, देवाधिदेव शंकर भगवान, पार्वतीके साथ रहते है। और दक्षिण में है मान्धाता पर्वत, जो प्राचीन कालके एक विश्वविजेता भारतीय सम्राट्का नाम धारण किए हुए है। सम्राट् मान्धाता और सम्राट् रावण दोनोंका इसी स्थान पर युद्ध हुआ था। कवियोंने रामका यश बढ़ाया और रावणका घटाया। लेकिन, रावण कुछ कम नहीं था। कुबेरका भाई, दुनियाका सम्राट्। भाईसे लड़नेके बाद समझौतेके तौर पर हिमालय छोड़कर, लंकामें जा बसा। वहांके राक्षस लोगों की प्रीति उसने हासिल की। और उसने कुबेरसे पुष्पक विमान छीन लिया। ऐसा यह बड़ा सम्राट्, मान्धाताका प्रतिस्पर्धी, इन सरोवरोंमें नहाता था और एकाग्रतासे शिव-पार्वतीकी उपासना करता था।

लोग कहते हैं, मानस-सरोवर हिमालयके उस पार कैलास और मान्धाता पहाड़के बीचमें है। बात सही है। लेकिन, हमारा मानस-सरोवर तो भारतवर्षके भूत, वर्तमान और भविष्य—सब भारतवासियोंके हृदयमें है। भारतके ऋषिमुनि,

संत, महंत, तपस्वी, योगी, कवि और दार्शनिक सबके सब इस मानसका ही ध्यान चिंतन करते आये हैं। तुलसीदासने रामचरित लिखा। किन्तु, अपने महान् काव्य को 'मानस' कहे बिना कविवरको संतोष नहीं हुआ। भारतके समस्त कवियोंके सुवर्ण-वर्ण कल्पना-कमल इस मानसमें ही उगते हैं। नवखंड पृथ्वीकी व्योमयात्रा करनेवाले राजहंस भी इस मानसका ही आश्रय लेते हैं। प्राचीन कालसे आजतक भारतके उग्र तपस्वी कैलास और मानसकी परिक्रमा करते आये हैं। बौद्धधर्म और उनके महायान-सम्प्रदायकी योगविद्या इसी मानस-सरोवरके आसपास जो आठ या अधिक बौद्धमठ हैं, उन्हींके द्वारा संगृहीत हैं। पन्द्रह मील लम्बा, दस-बारह मील चौड़ा, दो सौ वर्गमीलके विस्तारका और ४० फुट गहरा यह सरोवर वैदिक और बौद्ध आध्यात्मिकताकी जीवन-राशि है। भारतकी चार प्रधान नदियां मानस के परिसरमें ही निकलती हैं। पूर्वगामी ब्रह्मपुत्र और पश्चिमगामी सिन्धु—ये दोनों महानद हिमालयके उस पारका सारा पानी इकट्ठा कर इस ओर लाते हैं। और सतलुज तो हिमालयको बींधकर रावणह्रदका पानी सिंधु तक पहुचाती है।

इधर छोटी करनाली नदी मानसके पवित्र जलको लेकर सरयूको देती है। और सरयू प्रभु रामचंद्रके अश्रुसे मिला हुआ वह पानी गंगा को दे देती है।

उधर चीनकी प्राचीन और विशाल संस्कृतिकी दो माताएं ह्वागहो और यंगत्सी कियग भी तिब्बतके ही प्रदेशमें जन्म लेकर, दो-दो हजार मील बहकर, एक पुरानी प्रभावशाली जातिको परिपुष्ट करती हैं। मानस-सरोवर सचमुच अनेक जातियोंके मानसको चैतन्य प्रदान करता आया है।

इस तरह भारतीय मानसका केन्द्र बना हुआ यह मानस-सरोवर सनातन कालसे एक बड़े विश्वकी सेवा करता आया है।

मानस-यात्राके लिए हिमालयके लांघनेके अनेक मार्ग है। सबसे नजदीकका है लेपूलेख घाटीका रास्ता, अल्मोड़ासे दो सौ चालीस (२४०) मील जाने पर आप कैलासके मानस-सरोवरको पहुंच सकते है। इससे पश्चिममें दूसरा रास्ता है मीलम होकर जानेवाला ऊंटा-धुरा घाटीका। इस रास्ते यानी पहले ग्यानिया मडी पहुचता है। और फिर कैलाश और मानस-सरोवरके बीच जाकर दोनोंकी परिक्रमा अलग-अलग कर सकता है। ऊंटा-धुराके भी पश्चिममें 'होती' और 'नेती' ये दो घाटियां हैं। बदरीनाथ होकर जानेवाले लोग इसी रास्ते मानस-सरोवरकी ओर जाते हैं। और जो लोग जमनोत्री-गंगोत्री होकर कैलाश जाना चाहते है, उनके लिए है माणाघाट। धर्मराज प्रमुख पांच पाडव शायद इसी रास्ते कैलाश गये थे। यह सबसे पश्चिमकी तरफका रास्ता है और सबसे लम्बा और कठिन भी है।

आजकल ज्यादातर लोग अल्मोड़ासे गरब्यांगसे ताकलाकोट होकर मानस-सरोवर जाते है। इसमें गरब्यांग है लेपुघाटीके इस पार और ताकलाकोट है उस

पार। तिब्बती भाषामें ताकलाका अर्थ होता है सिंह। इसलिए, ताकलाकोटको हम सिंहगढ़ कह सकते हैं।

नेपालके लोग अकसर टिंकरकी घाटी लांघकर खोजरनाथके दर्शनके लिए जाते हैं। और, वहांसे ताकलाकोट पहुंचते हैं। फिर, वहांसे उत्तुंग मान्धाताको दाहिनी ओर छोड़कर धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। वहां दाहिनी ओर है मानस-सरोवर और बाईं ओर है राकसताल। और, बीचकी छोटी-सी भूमि आपको कैलाशकी ओर ले जाती है।

सनातनी साधु हो या बौद्धभिक्षु, कुदरत-प्रेमी तो होते ही हैं। वे ऐसे स्थान पर अपने मठ खड़े कर देते हैं, जहांसे प्रकृतिका भव्य-से-भव्य दृश्य एक ही नजरमें पिया जा सके। ऐसे भी स्थान हैं, जहां मानस-सरोवर और राकसताल दोनोंका विस्तार एक साथ दीख पड़े, और मान्धाता और कैलाश दोनों शिखरोंका एक साथ दर्शन हो सके। इतना भव्य, इतना उन्मादक, इतना पावन और इतना शांतिदायक स्थान न यूरोपमें कहीं है, न अमेरिकामें, न अफ्रिकामें, न आस्ट्रेलियामें। जहां हरेक मनुष्य भक्तिनम्र ओर योगाग्र हो सकता है, ऐसा सारी पृथ्वीका गौरव-स्थान, अगर है तो वह मानस और उसके आसपासका प्रदेश। मानस समुद्रकी सपाटीसे करीब पन्द्रह हजार फुटकी ऊंचाई पर है और उसमें मानवी-मानसके सब लक्षणदीख पड़ते हैं। जब वह शान्त होता है, तब आकाशके जैसा निश्चय होता है और आकाश के सब तारे भी उसमें प्रतिबिंबित होते हैं। लेकिन जब उसमें तूफान उठते हैं, तब वाल्मीकिका रावण, व्यासका दुर्योधन, मिल्टनका शैतान और होमरका एगेमेमनन—सबके दुर्दान्त भावावेगका सम्मेलन वहां जम जाता है। कहते हैं कि रावणह्रदका पानी लोग अपवित्र समझने लगे, इसलिए मानस-सरोवरने अपने पवित्र जलकी एक छोटी-सी नदी अपने यहांसे वहांतक भेज दी और रावणह्रदको पवित्र बना दिया। इस उभयान्यवयी नदीको गंगाचु कहते हैं। यह नदी सरो-गा भी है और सरो-जा भी। दो सरोवरोंको जोड़नेवाली, युक्त करनेवाली नदी ही सचमुच सरयू है।

भारतके और तिब्बतके कवियोंने इस प्रदेशके काल्पनिक काव्यमय वर्णन किये हैं। यहांसे बहनेवाली नदियोंमेंसे एकका उद्‌गम सिंहमुखसे होता है। दूसरीका उद्‌गम गोमुखसे। तीसरीका अश्वमुखसे होता है और चौथीका गजमुखसे। कैलाशकी चार बाजू पर बुद्ध भगवानके चार पदचिन्ह हैं। कैलाशके शिखर पर, जहां हमारे शिवजी रहते हैं, वहां उनके धर्मपाल रहते हैं, इत्यादि।

कितना उचित था कि महात्मा गांधीके बलिदानके बाद उनकी अस्थियोंका विसर्जन भारतके जो अनेकानेक पवित्र स्थान हैं, वहां किया गया। गंगा यमुना और मध्ये गुप्ता सरस्वतीके त्रिवेणी-संगममें उनकी अस्थियोंका प्रधान हिस्सा विसर्जन करनेके बाद, बाकीके अवशेष और चिताभस्म भक्त भारतीय अनेक जगह

पर से ले गये। थोड़ा हिस्सा गोवाके किनारे समुद्रमें विसर्जन किया। थोड़ा हिस्सा वर्धाके पास पवनार नदीमें, जहां अब परमधाम आश्रम है। और कुछ अवशेष साबरमती नदीमें विसर्जन किये, जहां गांधीजीने सत्याग्रह आश्रम खोलकर हिन्द स्वराजकी और विश्व-सर्वोदयकी साधना की थी। अफ्रिका तो सत्याग्रहकी जन्म-भूमि है। उसका महत्त्व स्वीकार कर कुछ अवशेष, जिंजाके पास नील नदीमें बहाये गये। पता नही, भारतमें लोग इस तरह कहां-कहां तक उनके अवशेष ले गये। लेकिन भारतीय मानसको पूरा संतोष तो तब हुआ, जब कुछ लोग, हिमालयके उस पार गये और मानस-सरोवरके दक्षिण किनारे, मोमोड़ुंगु अथवा मोनोटुकुके स्थान पर वे पवित्रतम जलमें समर्पित कर सके। मुझे विश्वास है कि भारतके लोग, एवं युगावतार बुद्ध भगवान्‌के तिब्बत-चीनके शिष्य मिलकर इस स्थान पर एक गांधी-स्मारक खड़ा कर देंगे, जो हमारे लिए भारत-भक्तिका एक नया और उत्कृष्ट आकर्षण होगा। क्योंकि, भारतीय मानसमें प्रकट हुए सब-के-सब सर्वोच्च आदर्शोंका केन्द्रस्थल यह मानस-सरोवर ही हमेशा रहा है।

उसका एक छोटासा स्तोत्र गानेका यह मौका मिला, इसे मैं अपना अहोभाग्य समझता हूं। जय कैलास! जय मानस-सरोवर! जय भारतकी देवभूमि, पुण्यभूमि और ध्यानभूमि!! जय जय!! जय जय!! जय जय!!!

१२ अप्रैल, १९५९ ई०

७७. कन्याकुमारीकी भव्यता

१९७०के सालके अंतिम दिन थे। सुबह तड़के उठकर, नहा-धोकर, प्रार्थना करके मदुराईसे हम चल पड़े। विरुध नगरके पास साढ़े छः बजे सूर्योदय—पूर्वकी शोभा देखी और साढ़े दस बजे हम कन्याकुमारी पहुंचे।

अभी सागरके दर्शन होंगे, अभी होंगे ऐसी उत्कण्ठासे दक्षिणकी ओर देखते-देखते हम समुद्रतट पर पहुंचे। सागर-दर्शनके कंफका मजा लूटनेकी यहां बात नही थी परंतु बढ़नेवाले कैफसे कैसे बच जायें यही मुख्य बात थी।

एक यात्री सारे भारतकी असंख्य बार यात्रा करके रामेश्वर या कन्याकुमारी आ पहुंचा है, उसके सारे संकल्प पूरे हुए हैं और केवल हृदयमें कृतार्थता धारण कर रत्नाकर महोदधिके दर्शन करता है ऐसा एक चित्र बहुत वर्ष पहले देखा था। आज लगा कि वह चित्र मेरा ही था।

कन्याकुमारीका करुण माहात्म्य मैंने कभीका पढ़ा है। दक्षिणके अगस्त्य ऋषिसे लेकर स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधीकी आंखोंसे सागर-दर्शन करते हुए, भारतीय अध्यात्मके साथ एक हृदय हुआ हूं। मैंने एक विराट एक्यात्म्य

अनुभव किया है। और फिर भी कन्याकुमारी याने तीन सागरोंका संगम यह विचार मेरे मनमें प्रधान स्थान रखता था।

जब-जब कन्याकुमारी आया हूं तब-तब तीन महासागरोंके संगमका ध्यान किया है। परन्तु यहां तो पश्चिम, दक्षिण और पूर्व 'तीन दिशाओंके संगम'से अलग 'सागर-संगम' नजर नहीं आया। सर्वत्र विशाल जलराशि। इसलिए संगमके बाद जिस अद्वैतका अनुभव होता है उसीके माहात्म्यका मैंने अनुभव किया और गान किया।

आज एक नया ही विचार आया।

जिसे हम हिंद महासागर कहते हैं वह दक्षिण महासागर अलग और पूर्व तथा पश्चिम सागर भी अलग ऐसा भूगोलवेत्ताओंने भले ही कहा हो परंतु सचमुच तो हिंद महासागर अकेला ही यहां विराजमान है।

इस अनुभवके साथ एक नयी कल्पना स्फुरी कि हिंद महासागरने भारतभूमि-को अपने आलिंगन (बाहुपाश)में लेनेके लिए अपने दाहिने हाथका पूर्वसागर बनाया और बायें हाथका पश्चिम सागर बनाया है यही बात सच है।

फिर तो कल्पनाके विमानमें बैठकर काफी ऊंचे जाकर वहांसे हिंद महासागर भारतभूमिको अपनाना चाहता है यह दृश्य देखा।

और तुरन्त मेरी पुरानी कल्पनाके साथ इसका मेल बैठ गया।

भूगोलके शिक्षककी हैसियतसे नक्शेके सामने खड़े होकर विद्यार्थियोंको मैंने समझाया है (और लेखोंमें भी लिखा है) कि चन्द्राकार हिमालयने कश्मीरसे असम तक फैले हुए अपने हृदयके साथ भारतभूमिको एक करनेके लिए दो बाजू अपने दो हाथ फैलाये हैं। कश्मीरसे अफगानिस्तान और बलूचिस्तानको अलग करनेवाले छोटे-बड़े पहाड़ मानो हिमालयका दाहिना हाथ हैं और पूर्ववत कोई पहाड़ोंसे प्रारंभ होनेवाली गिरिमाला असमको अलग करती हुई ब्रह्मदेशके किनारे जा पहुंचती है वह हिमालयका बायां हाथ है। और हिमालयने दो हाथोंसे भारतभूमिको अपनी छातीसे लगानेका मानो संकल्प किया है यह चित्र मैंने जैसा देखा और अनुभव किया वह अपने विद्यार्थियोंके सामने और पाठकोंके सामने प्रकट करनेका प्रयत्न किया हैं।

आज कल्पनाके द्वारा आकाशमें ऊंचे पहुंचकर देखता हूं तो एक ओर हिमालय अपनी दो भुजाएं फैलाकर खड़ा है और उसके साथ ताल जमानेवाला दक्षिण महा-सागर अपने सामुद्र बाहु फैलाकर खड़ा है। सबसे ऊंचा विस्तीर्ण हिमालय और सबसे गहरा विशाल हिंद महासागर। दोनोंके प्रेमपूर्ण आशीर्वाद मेरी भारतमाता अनुभव करती है यह चित्र आंखोसे देखा और धन्य-धन्य हो गया। बड़ा सवाल यही है कि यह मस्ती दिल हजम करेगा या दिल अपने बंधन तोड़नेको तैयार हो जायेगा।

दिल देखनेमें भले ही छोटा हो परंतु उसकी शक्ति भगवानकी ही शक्ति है।

छोटी-सी दो आंखें आसमानकी तमाम ज्योतियोंको आत्मसात् करती हैं तो दिल स्वयं भारतमाताकी धन्यता क्यों अनुभव नही करेगा ? आज प्रथम दर्शन पर ही धन्यता भी तृप्त हो गई है। अब जो कुछ देखूंगा, चिंतन करूंगा, आनंदानुभव करूंगा वह इसी तृप्तिकी खुशबू ही होगी।

प्राचीन ऋषियोंने वेद द्वारा हमें जो धर्मज्ञान और अध्यात्मका ज्ञान दिया उसे समझनेके लिए और उसका विस्तार करनेके लिए इतिहास और पुराणोंकी सहायता लेना ऐसा उन्ही ऋषियोंने कहा है।

इतिहास-पुराणाभ्याम् वेदं समुपबृंहयेत्।

हमारे लोगोंने वेदका रहस्य समझनेके लिए भाष्य और पुराणोंका उपयोग किया। अब हम इतिहासकी मददसे वेदान्त और धर्मरहस्य समझनेकी कोशिश करेंगे।

भारतमाताकी भक्ति करते हुए और आजादीके लिए मेहनत करते हुए मैं देवीका उपासक बना। देवीके पौराणिक चरित्र पढ़े। परन्तु इतिहास पूर्वकालसे शुरू होनेवाले भारतभूमिके इतिहासको यादकर भारत भाग्य-विधाता हमें कौन-सा काम सुपुर्द करता है इसका विचार करने लगा। उसमेसे मैं नये ढंगका देवी उपासक हुआ और इतिहासमें जिसकी क्रीडाके दर्शन होते हैं उस काल-भगवान और उनकी शक्ति काली—उनकी लीला समझनेका प्रयन्न करता रहा हूं।

जब-जब कन्याकुमारी आया हूं, इतिहासका आध्यात्मिक रहस्य भी समझनेका मैंने प्रयत्न किया है और कालातीत प्रेरणाका विचार भी करता रहा हूं।

उसमें ब्रह्मचर्यका चिंतन हमेशा गहरा हुआ है। साथ ही ब्रह्मचर्यकी एक विभूति अलिप्तताका भी चिंतन करता हूं। अलिप्तता यानी निवृत्ति नही, तटस्थता।

आज यह सारा चिंतन उग्रतासे किया और फिर कालातीत भगवानका चिंतन जोरोंसे चलाया।

कालः काल्या भुवनफलके क्रीडते पाणि-शारैः।

इस वचनका इतिहासके लिए उपयोग किया और अलिप्तभावसे तमाम इतिहासको एक ओर रखकर परमात्माका उत्कट चिंतन किया। उसमेंसे क्या-क्या मिला यह तो असंख्य लेखोंके द्वारा व्यक्त और स्पष्ट करना होगा।[1]

---

१. मूल गुजराती से

७८. सूर्य-दर्शन

हमारे असंख्य पूर्वजोंने भारत भक्तिके लिए खास स्थान पसंद किये हैं और भारत दर्शनका क्रम भी बांध दिया है। 'चार धामकी यात्रा' इस व्यवस्थाका एक सर्वमान्य नमूना है। पश्चिममें द्वारका, उत्तरमें बदरी नारायण अथवा अमरनाथ, पूर्वमें जगन्नाथपुरी और दक्षिणमें (शंकर आचार्यके भक्त कहेंगे शृंगेरी, मेरे जैसा देवीभक्त कहेगा) कन्या कुमारी। इन चार धामोंकी यात्रा अगर की तो भारतके सारे प्रेक्षणीय पवित्र धाम उसके अंदर आ ही जाते हैं।

हमारी संस्कृतिके आचार्य कहते हैं, 'भारत माता कहनेसे केवल भूमिका ख्याल मत करो। इस भूमिमें रहनेवाले ऋषि-मुनि, संत-महंत, आचार्य और पंडित सबका दर्शन और परिचय करनेसे ही भारत दर्शन पूरा होता है।

'कन्या कुमारी' कहते ही शिवजीकी पौराणिक कथा याद आती है और उस कथाकी करुणामें दिल पिघल जाता है। कन्या कुमारीका दर्शन करने गये हुए ऋषियोंका स्मरण करते-करते हम स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी तक आ पहुंचते हैं। यह तो है ही; लेकिन भारत-भक्तिका जब ख्याल करता हूं तब कन्याकुमारीकी यात्रा इसलिए करता हूं कि वहां तीन सागरोंका संगम है। करांची, द्वारका, बंबई, मुरगांव, मंगलूर, कारवार कालीकट आदि स्थानोंमें जिसका दर्शन मैंने असंख्य बार किया है, उस पश्चिम सागरको, पुरी, मछली-पट्टम, मद्रास और रामेश्वर तक जिसका दर्शन मैंने कई बार किया है, उस पूर्व सागरको दक्षिण महासागरके साथ एक होते देखनेका महद्भाग्य हमें कन्याकुमारी में ही प्राप्त होता है। दुनियाके लोग हमारे दक्षिण महासागरको हिंद महासागर कहते हैं। इसके लिए दुनियाके तमाम भूगोलवेत्ताओंके प्रति मेरे मनमें कृतज्ञता है।

कन्याकुमारीके अंतरीपमें मैं सूर्यनारायणको समुद्रमें डूबते देख सकता हूं और दूसरे दिन उसी सूर्यनारायणको पूर्व समुद्रमें ऊपर आते देखकर मैं अपनेको धन्य-धन्य मानता हूं।

पता नहीं क्यों, सूर्यका उदय और अस्त समुद्रमें देखते मुझे बड़ा आनन्द आता है।

पिछले दिनों बम्बईमें अम्बेसेडर होटलके शिखर परसे मैंने सूर्यास्त देखा था और 'कोई अद्भुत दर्शन करता हूं' ऐसा आनन्द-गद्गद् हो गया था।

इसके कुछ ही समय बाद हमारे ब्रिगेडियर ध्रुवके भाई चक्रपाणीकी कृपासे मद्रासके पूर्व-समुद्रमेंसे उगते सूर्यको अडियार पुल पर खड़े होकर मैं देख सका। बादल हमारी भक्तिके साथ अठखेलियां कर रहे थे। आकाशमें सूर्य किरणोंकी दिशाएं दिखानेका उपकार बादलोंने प्रारम्भ किया। फिर तो सूर्योदयका स्वाग

करनेके लिए कई छोटे-छोटे बादल पूर्वाकाशमें दीखने लगे। उनका रंग प्रथम लाल था, बादमें गुलाबी हो गया और देखते-देखते सारा रंग गायब होकर केवल सफ़ेद रंग ही आकाशकी नीलिमाको उठावदार बनाने लगा। इतनेमें पूर्वके बादलोंमे बिलकुल क्षितिजके जैसी एक तेजस्वी लकीर दीखने लगी। वह लकीर इतनी आकर्षक थी कि समुद्रको और आकाशको जोडनेवाली क्षितिजकी रेखा दीख नही पडती थी, इसका विषाद हम भूल गये।

पुल पर खड़े-खड़े आधा घटा हुआ, पौन घटा हुआ और उसी लाल लकीर पर सूर्य भगवानका दर्शन हुआ। प्रथम केवल चमकीला बिंदु, देखते-देखते वही प्रकाश बिंदु, सूर्य-मंडलका ऊपरका भाग बन गया। उसका आनन्द आंखोंमे भर लेते, इतनेमे सूरजका मंडल आधेसे अधिक हो गया। उसकी चमक भी आखोकी ध्यान-शक्तिकी कसौटी करने लगी।

अब जब सूर्य-मण्डल पूरा, सम्पूर्ण दीख पडा तब मेरे मुंहमे श्लोक निकला :

ध्येयः सदा सवितृ-मण्डल-मध्यवर्ती,
नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्ट.।
केयूरवान् मकर-कुंडलवान् किरीटी,
हारी हिरण्मयवपूर् धृत-शंख-चक्रः ।।

सूर्यनारायणका स्वागत करता था, इतनेमे विश्वामित्र ऋषिने आज्ञा की, "जनेऊ पाकर जब द्विज बनते हो और वेदके अध्ययनका अधिकार तुम्हे मिलता है तब मेरे देखे जिस मंत्रमे ही प्रारम्भ करते हो वही याद करो।" सविताके मण्डल मे जो नारायण विराजमान है, उनका ध्यान करनमे ही बुद्धि धर्मज्ञानकी ओर प्रवृत्त होती है। आज्ञा सुनते मैंने ही चलाया :

तत् सवितुर वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

और इसी वैदिक मंत्रका सामान्य संस्कृत वाणीमे ही एक सुन्दर अनुवाद बचपनमे कंठ किया था, उसी श्लोकसे सूर्य-दर्शनकी पूर्णाहुति करके हम कृतार्थ भावसे लौटे कि सूर्यास्त भी देख लिया और सूर्योदय भी देख रहे है। भारत-दर्शन के साथ सूर्यनारायणका ध्यान हो रहा है। कैसी धन्यता !

यो देवः सविताऽस्माकं, धियो धर्माधिगोचरे।
प्रेरयेत् तस्य तद् भर्गः तद् वरेण्य उपास्महे।।

७९. पहाड़ी नदियोंका सांस्कृतिक संदेश

मै पहाड़ी नदी-पुत्र हूं, इसलिए और संस्कृति-उपासक होनेके कारण भी

सारस्वत हूं। आज हिमालय-कन्या कोसी, तीस्ता और अन्य अनेक पर्वती नदियोंका दर्शन कर उत्तेजित हुआ हूं। नदियां यहांके मनुष्योंको, पशु-पक्षियोंको और मत्स्योंको जीवन देती हैं, यह तो है ही, परन्तु यहांके निवासियोंका जीवन बनानेमें भी इन नदियोंका हिस्सा सबसे ज्यादा है। राजा और राज्य आते हैं और जाते हैं। उनके सैन्य और कानून राज्य चलाते हैं, परन्तु लोकजीवनकी स्वामिनियां तो ये पर्वती नदियां ही हैं। जिस दिन विज्ञान और यंत्रविद्याका विकास होगा, उस दिन नदीके प्रवाहमेंसे बिजली पैदा की जायगी। उस बिजलीके बल पहाड़, अरण्य काबू में आयेंगे और यहां एक अनोखी संस्कृतिका विकास होगा। अनाजकी खेतीकी अपेक्षा फलोंके बाग या उपवन अहिंसक संस्कृतिके ज्यादा पोषक हैं, यह गांधीजीका विचार इस प्रदेशमें सिद्ध होगा। विज्ञानके साथ जीवनकी सादगीका विकास हम कर सकेंगे तो मानव-संस्कृति धन्य होगी। विज्ञान भी ईश्वर-दर्शनका साधन हो सकता है, यह सिखानेवाले अध्यात्मका अब हमें विकास करना होगा।

८०. हिमालयकी पार्वती नदियां

चन्द नदियां पहाड़ोंसे निकलती हैं और चन्द नदियां सरोवरोंसे बहने लगती हैं। जो सरोवरोंमें जन्म लेती हैं, वे हैं सरोजा। हिमालयके उस पार दो बहुत बड़े और अत्यन्त पवित्र सरोवर हैं। एकका नाम है मानस-सरोवर, दूसरेका राकसताल या रावण-ह्रद। इन सरोवरोंसे निकलनेवाली नदियोंको सरोजा ही कहना पड़ेगा। यों देखा जाय, तो हिमालयकी सभी नदियोंको पार्वती नाम दिया जा सकता है। नदियां यानी अप्सरा। पहाड़ोंसे अप् यानी पानी जब सरने लगता है, बहने लगता है, दौड़ने लगता है, तब उस प्रवाहको जिस तरह हम आप-गा या नदी कहते हैं, उसी प्रकार उसे 'अप्सरा' कहनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। पार्वती और सरोजा अप्सराओंके दो स्वतंत्र कुल कहे जा सकते हैं। यह सारा विचार नया है, लेकिन उससे कल्पनाको अच्छी चालना मिल सकती है।

हिमालय कहते ही जिस तरह गंगा और यमुना ये दोनों प्रमुख नदियां पहले ध्यानमें आती हैं, उसी प्रकार हिमालयका आदरपूर्वक चक्कर काटकर, हिमालयके उत्तरकी तरफका सारा पानी, एक बूंद भी बेकार न जाने देने तथा दक्षिणकी ओर हिन्दुस्तानमें लाकर छोड़नेवाली इन नदियोंका भी स्मरण हुए बिना नहीं रहता। इन नदियोंका माहात्म्य इतना अधिक है कि हमारे पूर्वजोंने इन्हें नदी कहनेके बजाय नद कहना तय किया। सिन्धु और ब्रह्मपुत्र—ये दो नद मानस-सरोवर और रावण-ह्रदके परिसरमेंसे निकलकर दो भिन्न-भिन्न दिशाओंमें बहने लगते हैं। सिंधु-नद पश्चिमकी ओर जाकर, हिमालयका चक्कर काटकर, हिन्दुस्तानमें ही

(अब पाकिस्तानमें) दक्षिणकी ओर बहने लगता है। ब्रह्मपुत्र जिसका तिब्बती नाम 'सांग्पो' है, पूर्वकी तरफ दूर तक दौड़ लगाकर फिर एक गहन कातार (अरण्य) मे प्रवेश करता है और आखिर असम देशमे प्रकट होता है। यह प्रदेश सचमुच देखने लायक है। हाथकी उंगलिया फैलाने पर उनका जिस प्रकार पंखा बनता है, उस प्रकार असम प्रदेशमें सदिया गावके आस-पास लोहित, डिहंग, सुबनसेरी आदि अनक नदियोंके प्रवाह, पंखेकी उगलियोके समान, ब्रह्मपुत्रमे आकर मिलते हैं।

वहा पंजाबकी तरफ स्वात, कुभू (काबुल) आदि नदियोंका पानी साथ लेकर सिंधुनद पंजाबमें प्रवेश करता है और फिर कश्मीर या मिट्ठनकोट तक जेहलम, चिनाब, रावी, बियास और सतलुज इन नदियोंके पानीसे बननेवाला पंचनद कब आकर अपनेमे समा जाता है, इसकी राह देखता दौड़ता है। यह सगम भी अद्‌भुत रम्य है।

आज हमने सिंधु और ब्रह्मपुत्र दोनों नाम स्त्रीलिंग बना दिये है, और ब्रह्मपुत्र को ब्रह्मपुत्र कहने लगे हैं।

कुछ भी हो, इतने बडे प्रचंड हिमालयको मानो अपने भुजपाशमें लेनेके लिए भारतमाताने सिंध और ब्रह्मपुत्र ये अपने दो बाहुलम्बे फैलाकर फिर आपसमें जोड़ दिये हैं। उनके इस भव्य काव्यका चितन करते मानवीय मन करीब-करीब समाधिस्थ हो जाता है। सिंधु और ब्रह्मपुत्रा—ये प्रौढ़ कन्यकाएं हिमालयका चक्कर काटती हैं। इसके विपरीत उसकी दो अल्हड़ लड़किया कहती है, "हम आदर-वादर कुछ नही जानती। हमे हिमालयके उस पारका जल लेकर हिन्दुस्तान-मे प्रवेश करना है। पिताजीको हमे राह देनी ही पडेगी।" छोटी और लाडली लड़किया हमेशा शरीर (उधम मचाने वाली) ही होती हैं। उन्होंने अपना सीधा मार्ग ढूंढ़ निकालकर, वृद्ध हिमालयको बिलकुल आर-पार छेदकर, दक्षिणकी तरफ आनेका निश्चय किया। अपत्यवत्सल हिमालय करता भी क्या? उनकी बात मान गया और दबकर उसने लड़कियोंको राह दे दी। सतलुज और घाघरा ही हैं वे दो लड़कियां। इनका उद्‌गम भी मानस-सरोवर और रावण-ह्रदके परिसरमे ही होता है। घाघराको ही रामायणमे सरयू कहा है। इसका उद्‌गम भी उसके नामके अनुसार किन्ही सरोवरोंमेसे ही होनेकी संभावना है।

मैंने हिमालयका सारा प्रदेश किसी-न-किसी समय आख भर देख लिया है। हिमालयके वायव्यमे अबट्टाबाद और कश्मीर-श्रीनगरसे लेकर ठेठ उत्तर-पूर्वकी तरफ सदिया और परशुराम कुण्ड तकका सारा प्रदेश मैंने अपनी आखोंसे देख लिया है। जहां मेरे पैर या आंखें पहुंच नहीं पाईं, वहां कल्पनाकी मददसे विहंगावलोकन किया है और अब तो इस काममें फोटोग्राफीकी उत्कृष्ट सहायता होती रहती है। इस प्रदेशमें असंख्य नदियां वक्र गतियोंसे बहती रहती हैं। जगह न मिले या बहुत संकरी हो, तो वे कुछ ऐसी चिढ़ जाती हैं कि उनका वह हुलिया देखकर दिलमें

प्रेम ही उमड़ आता है !

समतल भूमि पर आहिस्ता, बिलकुल शांतिसे, बहनेवाली नदियां हिन्दुस्तानमें असंख्य हैं। उनकी शोभा अलग प्रकारकी है। उनका दर्शन करनेके लिए हमें किसानकी दृष्टि धारण करनी चाहिए और जरूरतके मुताबिक छोटी-बड़ी नहरें निकालनेका पुरुषार्थ भी करना चाहिए; लेकिन हिमालयीन नदियोंकी बात अलग है। उनके किनारे पहुंचकर उनके पवित्र जलका आचमन करनेके लिए भी २००-४०० फुट नीचे उतरना पड़ता है। फिर, कहांकी खेती और कहांकी नहरें।

कोई ऐसा न मान बैठे कि सिन्धु और ब्रह्मपुत्र, गंगा और यमुना, सरयू और सतलुज इनके नाम लेने पर हिमालयकी मुख्य नदियां पूरी हुईं। बिहारकी पुरानी और नई दो नदियों—गंडक और तूफानी कोसी—इनका नाम भी आदरके साथ ही लेना पड़ता है, लेकिन मेरी अत्यन्त प्रिय नदी है तीस्ता। यह नदी सिक्किमकी तरफके कांचन-जोंगा या पंचहिमाकर पर्वतके हिम-प्रपातसे बनती है और दक्षिण-की तरफ बहते-बहते ब्रह्मपुत्रमें आ मिलती है। इनमें आकर मिलनेवाली रंगपो और रंगीत आदि अनेक नदियोंके संगम मैंने देखे हैं। नदियोंका संगम यानी दो भिन्न रंगोंका विलास। यह बात मानो निश्चित ही हो गई है। दो नदियोंका जल आपसमें मिल जानेसे पहले बहुत समय तक खेल करता रहता है। गंगा-यमुनाके मिलनोत्सवका वर्णन कालिदासने इतना लम्बा-चौड़ा किया है कि हमें महसूस होने लगता है कि मानो हम एक नदीमें ही तैर रहे हैं।

गंगाके बारेमें भारतीयोंकी भक्ति ध्यानमें रखकर हम उसे भारतमाता कहते हैं, लेकिन वास्तवमें वह भारतीयोंके पुरुषार्थसे बनी हुई भारतकन्या है। गंगा, यानी भागीरथी, अलकनन्दा, मंदाकिनी आदि अनेक प्रवाहोंके अनेक संगम। हरेक संगमको 'प्रयाग' कहा जाता है। ऐसी गंगाका जब यमुनाके साथ संगम होता है, तब उस स्थानको हमारे पुरखोंने प्रयागराजका गौरवपूर्ण नाम दिया है।

हमारी नदियां—यानी हमारा पौराणिक इतिहास और इतिहास-कालीन पुरुषार्थ। हिमालयकी नमसाका नाम लेते ही विश्वामित्रका स्मरण होगा ही। यमुना कहते ही वृन्दावन-बिहारी श्रीकृष्ण और कुरुक्षेत्र परके गीतागायक जगद्गुरु उभय विभूतियोंका स्मरण होना अपरिहार्य है। सरयू, यानी प्रभु रामचंद्रकी करुण कथा। सप्तसिंधुके किनारे वैदिक आर्योंने महान पुरुषार्थ किये। युद्ध और यज्ञ उनके पुरुषार्थकी दो धाराएं थीं, और गंगा तो भगीरथसे लेकर ठेठ कबीर तक भारतीय संस्कृतिके सब प्रतिनिधियोंकी प्रवृत्तियोंका प्रवाह। बिलकुल दूर-दूर उत्तर-पूर्व ईशानमें लोहित ब्रह्मपुत्रके उद्गमके पास जाने पर ही वहां परशुरामका कुण्ड देखने को मिलता है। इक्कीस बार ब्राह्मण-क्षत्रियोंका आत्मघातक झगड़ा चला, पर थक जानेके बाद इस स्थान पर उपरत परशुरामके हाथसे उसकी कुल्हाड़ी छूट गई और उसको शांति मिली। गीताका उपदेश सुनानेवाली यमुनाके किनारे शांतिका वही

पाठ गांधीजीके बलिदानके रूपमें आज हमें सुनाई देता है।

हिमालयके हिमधवल शिखरोंने शांतिका जो सूचन किया, उसे ही ऋषि-मुनियोंने हिमालयके अपने आश्रमोंमें बैठकर किये हुए चिंतनमें विकसित किया और उसी निर्वैरताके, अहिंसाके संदेशका अनेक युद्धोंके अन्तमें भारतीयोंने अपने विषादपूर्ण अंतःकरणोंमे अनुभव किया। हिमालयकी सब नदियां इस विविध शांतिकी साक्षी हैं और हमें अपना इतिहास-सिद्ध शांति-गीत अखंड रूपसे सुना रही हैं।

८१. पर्वत और उनकी नदियां

(१) **हिमालय पर्वतमेंसे उद्गम पानेवाली नदियां**—गगा, सरस्वती, चंद्र-भागा (चिनाब), यमुना, शुतुद्री (सतलुज), वितस्ता (झेलम), इरावती (रावी), कुहू (काबुल), गोमती, धूतपापा (शारदा), बाहुदा (राप्ती), दृषद्वती (चितंग), विपाशा (बियास), देविका (दीग), सरयू (घाघरा), रंक्षू (रामगगा), गंडकी (गंडक), कौशिकी (कोसी), त्रित्या और लोहित्या (ब्रह्मपुत्र)।

(२) **पारियात्र याने अरावली पर्वतमेंसे उद्गम पानेवाली नदियां**—वेदस्मृति (बनास), वेदवती (बेरछ), वृत्रघ्नी (उतंगन), सिंधु (काली सिंध), वेण्या या वर्णाशा नंदिनी अथवा चंदना (साबरमती), सदानीरा या सतीरापारा (पार्वती), चर्मण्वती या धन्वती (चंबल), तूपी या रूपा या सूर्य (गंभीर), विदिशा या विदुषा (बेस), वेत्रवती या वेणुमती (बेतवा), शिप्रा या अवर्णी या अवती।

(३) **ऋक्ष पर्वतमेंसे उद्गम पानेवाली नदियां**—मंदाकिनी, दशार्णा (धसान), चित्रकूटा, तमसा (तौंस), पिप्पलिश्रोणी (पैंसुनी), पिशाचिका, करमोदा या कर-तोया (कर्मनाशा), चित्रोत्पला या नीलोत्पला, विपाशा या विमला (बेवास), वंजुला या चचला (जम्नी), बालुवाहिनी (वर्धन), सुमेरुजा या सितेरजा (सोनर-बीरमा), शुक्तिमती (केन), शुक्ली या मक्षुणा (सक्री), त्रिविदा या ह्रदिका और क्रमू या क्रमात (क्रम्ह)।

(४) **विन्ध्य पर्वतमेंसे उद्गम पानेवाली नदियां**—शिप्रा या भद्रा (सिप्रा), पयोष्णी, निर्विध्या (नेवुज), तापी, निषधा या निषधावती (सिंद), वेण्वा या वेणा (वेणगंगा), वैतरणी (बैत्रणी), सिनीवाली या शितिबाहू, कुमुद्वती (स्वर्णरेखा), करतोया या तोया (ब्राह्मणी), महागौरी (दामोदर), और पूर्णा, शोण (सोन), महानद (महानदी), और नर्मदा।

(५) **सह्य (सह्याद्रि) पर्वतमेंसे उद्गम पानेवाली नदियां**—गोदावरी, भीम-रथी (भीमा), कृष्णवेण्या (कृष्णा), वेण्या (वेणा), तुंगभद्रा, सुप्रयोगा (हगरी),

वाह्या (वरदा), कावेरी और वंजुला (मंजीरा)।

(६) **मलय पर्वतमेंसे उद्‌गम पानेवाली नदियां**—कृतमाला (ऋतुमाला, वैगाई), ताम्रपर्णी, पुष्पजा (पुष्पवती, पंबिअर) और सत्पलावती (उत्पलावती, पेरियर)।

(७) **महेन्द्र पर्वतमेंसे उद्‌गम पानेवाली नदियां**—पितृसोमा अथवा त्रिसामा, ऋषिकुल्या, इक्षुका या इक्षुला (बहुदा), त्रिदिवा या वेगवती, लांगुलिनी (लांगुलिया) और वंशकरा अथवा वंशधरा।

(८) **शुक्तिमत पर्वतमेंसे उद्‌गम पानेवाली नदियां**—ऋषिका, कुमारी अथवा सुकुमारी (सुकतेल), मंदगा (मंड), मंदवाहिनी (महानदी), कृपा (अर्प), पलाशिनी (जोंक), और वामन (सुदामा)।

१. भारतीय संस्कृति कोशसे

प्रकृतिका संगीत
और
पहाड़ोंका सान्निध्य

सत्य, संयम, सेवाके संगीतकी याचना

'प्रकृतिका संगीत' मेरे सत्रह लेखोंका संग्रह मेरे पुराने साथी रवीन्द्र केळेकरने तैयार किया है और उन्हीके जैसे प्रिय साथी यशपाल जैनने उसे प्रकाशित करनेका भार उठाया है।

मैं देखता हूं कि यह लेख संग्रह-व्यवस्थित बन जाय और उनका सगीत स्पष्ट हो जाय, इसलिए उन्होंने मेरी ही पुरानी किताबोंसे तीन-चार छोटे लेख भी यथा-स्थान डाल दिये है जिससे बाकीके लेखोंका संदर्भ स्पष्ट हो जाय। [इस ग्रथावली मे हमने पहाड़ोके बारेमे लिखे हुए कुछ और लेख जोड़कर इस विभागका नाम 'प्रकृतिका संगीत और पहाड़ोंका सान्निध्य' रखा है। — संपादक मडल]

बाकीके सब लेख मेरे हिंदी पाक्षिक 'मंगल-प्रभात'में समय-समय पर प्रकाशित हुए थे। पुस्तकके रूपमें इनका व्यवस्थित प्रचार हो जाय तो जनताको इसमे अच्छा लाभ होगा, थोड़ी प्रेरणा भी मिलेगी, ऐसे विश्वाससे ये दो साथी इसमे प्रवृत्त हुए है।

अब मेरी उम्र नब्बे वर्ष पूरे कर रही है। पुरानी बातें तो भूल जानेका वृद्धों-का अधिकार ही रहता है। लेकिन भूल जानेकी इस मेरी कमजोरीमे पक्षपात नहीं है। पुरानी तो क्या, नई बातें भी इतनी आसानीसे भूलने लगा। लेकिन इसकी मुझे चिता नही है। मेरे पुराने साथी देशकी और साहित्यकी उत्तमोत्तम सेवा वर्षो मे करके साहित्यके क्षेत्रके अधिकारी प्रेरक बन चुके हैं। दोनो मेरी विचार-परम्परा और मेरे साहित्यिक आदर्श अच्छी तरहसे जानते है। इसलिए 'प्रकृतिके संगीत'में कर्णकठोर कुछ भी नही होगा, इतना विश्वास केवल मुझमे नही, पाठक-वर्गमे भी है।

मानव-जाति जानती है कि मानवी जीवनका पुरुषार्थ प्रकृतिको पहचानकर, विकृतिको टालकर, उसे मिष्ट और समर्थ संस्कृतिकी ओर ले जानेमें ही है। इसी-लिए तो हम संस्कारिताको जीवनका संगीत कह सकते है।

यूं देखा जाय तो मानवी पुरुषार्थमें विकृतिके लिए भी काफी स्थान है। भगवानने हमे इंद्रियां दी हैं, वासनाए दी है और इससे भी अधिक हमें काफी स्वतन्त्रताए दी हैं। पाप करनेकी स्वतन्त्रता अगर न हो तो पुरुषार्थकी कीमत ही कितनी? प्रकृतिके पास पक्षपात है नही। अगर वह संस्कृतिका उच्च आदर्श मान्य रख सकती है तो विकृतिके प्रयोग करनेकी स्वतन्त्रता भी उसे (प्रकृतिको) होनी चाहिए, नहीं तो संस्कृतिके पुरुषार्थकी कीमत ही कितनी होगी?

स्वतन्त्र प्रकृतिको योग्य रास्ते ले जानेके लिए धर्मोंका अवतार हुआ। छोटे या एकांगी धर्मोंकी बात हम छोड़ दें। मानवी जीवनको सर्वांगीण प्रेरणा देनेवाले दस-

बारह धर्मोंको ही हम लें। हरेकने इतिहास-कालमें मानव-संस्कृतिको उद्धारके रास्ते ले जानेका पुरुषार्थ किया है।

हमने कहा कि मानवी प्रकृतिने विकृतियों द्वारा बहुत दोष किये ही हैं। दुःख-के साथ कहना पड़ता है कि इन धर्मोंके भले-बुरे प्रचारकोंने भी संस्कृतिके नाम पर इधर-उधर अनेक विकृतियां पैदा की हैं।

पता नहीं, किस हेतु इतिहास-विधाताने दुनियाके सब धर्मोंको भारतमें ला छोड़ा है। इन धर्मोंका अध्ययन करनेके लिए भारतवासियोंको भारतसे बाहर नहीं जाना पड़ेगा। हम कहना नहीं चाहते कि हम भारतसे बाहर न जायें। यह सारी पृथ्वी तो हमारा क्षेत्र है ही, किन्तु भगवानने जो वैज्ञानिक शक्ति हमें दी है, उसकी मर्यादा कौन निश्चित करेगा? आज जिस तरह हम पृथ्वी परके सब खण्डों में आ-जा सकते हैं और पृथ्वीका लाखों सालोंका इतिहास ढूंढ़ सकते हैं वैसे ही जिस सूर्य भगवानके हम कुटुम्बी हैं, उनके ग्रहोंके और उपग्रहोंके इतिहास भी हम यथा-समय ढूंढ़ नहीं सकेंगे, ऐसा कौन कह सकता है?

जिस तरह हम इतिहास ढूंढ़ सकते हैं, उसी तरह अपने आदर्शोंको भी अधि-काधिक उच्चतर बना सकेंगे और उच्चतमकी प्राप्ति कब होगी, सो तो आज कह नही सकते। इस उन्नतिके लिए आजके सारे धर्म व्यक्तिशः मदद नहीं दे सकेंगे, लेकिन विज्ञान और धर्मके मेलसे जो संगीत विकसित होगा, वही मानव-जातिके लिए धर्मोत्तम पुरुषार्थ होगा।

इसी धर्मोत्तमने हमारे हृदयमें बैठकर समझाया है कि विलासितासे बचनेके लिए तपस्या और संयम आवश्यक है। स्वार्थकी हीनतासे बचनेके लिए निष्काम सेवाका विकास आवश्यक है और इन दोनोंकी मदद लेकर भगवान सत्यके साक्षात्कार तक हमें यात्रा करनी ही है।

इसी दिशामें प्रवृत्त होनेके लिए यह किताब अगर प्रेरणा दे तो उसका हेतु सफल होगा। मैं तो इस उम्रमें पूर्ण तटस्थ-भावसे इस संग्रहको और उसके संगीत-को सत्य, संयम और सेवाके नामसे आशीर्वाद मांगता हूं।

सन्निधि, राजघाट
नई दिल्ली-१ — स्नेहाधीन काका कालेलकरके
नवम्बर १९७५ — सप्रेम वन्देमातरम्

१. साधना और आमंत्रण

पितामह हिमालय सनातन कालसे मौन धारण कर सफेद बर्फकी टोपी पहने, अपनी अखंड साधना कर रहा है। उसीसे आकर्षित होकर, असंख्य साधक हिमा-

लयमें जाकर अपनी-अपनी साधना करते आये है। उमा हेमवतीके पिताके घर पर शिवजीकी साधना चलाना स्वाभाविक है, क्योंकि छोटा-बड़ा हरेक पर्वत-शिवलिंग है। इन सब शिखरोंमें आकार-प्रकारसे अद्भुत कैलासका शिखर हिमालयके उस पार, रावणह्रद और मानस सरोवरके भी उस पार, विराजमान है। शिवजी तो योगियोंके योगेश्वर, वैरागियोंके दीक्षागुरु, तपस्याके प्रतीक और सनातन शान्तिके विग्रहधारी, ध्यानचिंतनके लिए ही बुला सकते है। लेकिन ऐसे शिवजीको भी वश किया प्रणव-रूपिणी उमा हेमवती पार्वतीने। इसलिए हिमालयमे शक्तिकीउपासना स्वाभाविकतया दृढ़मूल हुई। अमरनाथ, केदारनाथ, तुगनाथ, पशुपतिनाथ, पंच-हिमाकर, नीलकण्ठ वगैरा शैव उपासनाके धाम है तो क्षीरभवानी, श्रीनगरसे लेकर कामाख्या तक असंख्य स्थान शक्ति उपासनाके भी मौजूद है।

वैष्णवोंकी साधनाके स्थान पहाड़ोंमें कितने हैं, कहना मुश्किल है। विशाल बदरीनारायणका स्थान हम कैसे भूल सकते हैं? फिर भी हिमालयमे वैष्णव साधना पनपी हो तो उसका इतिहास हम नही जानते। नेपालके अनंतशयनने नील-कठका नाम क्यो और कैसे धारण किया, यह भी किसीने बताया नही है।

कामरूपके ईशान्यमे ब्रह्मकुड है। लेकिन हिमालयमे सौर उपासना चली थी, ऐसा भी किन्ही पुराणोने कहा हो तो हमारे देखनेमे नही आया है। गणपतिकी उपासनाके बारेमे भी यही हालत है।

भारतके जो-जो साधक हिमालयमें जाकर बसे, स्वयं त्याग-वैराग्यके प्रति-निधि होनेके कारण हिमालयके भूमिपुत्रोकी, पहाडी आदिवासियोकी कठिनाइया दूर करनेकी बात उनमेसे किसीको क्योकर सूझे? हिमालयीन जीवन अगर कष्टकर हो तो उन्ही कष्टोसे आकर्षित होकर, उनसे भी अधिक कष्टमय जीवन व्यतीत करना उन्होने अपना कर्तव्य माना। उनकी तपस्यासे प्रभावित होकर जो भी यात्री—भक्तगण हिमालयके धामो तक गये, उन्होंने अपनी सहूलियतके लिए कुछ रास्ते बनाये, कही-कही पानीका प्रबन्ध किया और धर्मशालाए खड़ी की। इससे अधिक कुछ करनेका, या स्थानिक जनताकी सेवा करनेका किसीको सूझा ही नही। शाक्तोंने स्थानिक लोगोंके बीच धर्मप्रचार किया, या स्थानिक लोगोकी स्वाभाविक शक्ति-उपासना स्वयं अपनाई, यह भी कहना मुश्किल है। भारतीय आर्योंने प्राचीन कालसे हिमालयका सेवन किया, लेकिन हिमालयीन पहाड़ी प्रजाकी तनिक भी सेवा नही की, ऐसा ही, विस्मय और विषादके साथ, कहना पड़ता है।

इसके बाद आता है बौद्ध युग। गौतम बुद्ध स्वयं हिमालयकी तलहटीके एक राजपुत्र थे। नेपालके दक्षिणमें कपिलवस्तुके पास, लुंबिनीदेवीके उपवनमे उनका जन्म हुआ था। धर्मकी खोज करते वे बिहारकी समतल भूमिमें आये। निरंजरा नदीसे लेकर वाराणसी या सारनाथकी गंगा नदी तक उन्होंने धर्म-विहार किया और कुशीनारामें कायारूपी उनकी कुटीका ध्वंस हुआ।

बुद्ध भगवानका मध्यममार्गी और कल्याणकारी उपदेश आसेतु हिमाचल, भारतवर्षमें फैल गया। उन्होंने ब्राह्मण या क्षत्रिय, आर्य या आर्येतर, ऐसा भेद मनमें लाये बिना, समस्त मानव-जातिको धर्मकी दीक्षा दी और सब पापोंको न करना, कुशल कर्मोंको करना और अपने चित्त पर काबू पाना—यही सनातन धर्म है, यह रहस्य समझाया।

आश्चर्य नहीं कि बुद्ध भगवानका यह मंगल उपदेश हिमालयके आदिवासियोंके बीच भी पहुंच गया और हिमालयके उस पार जाकर तिब्बत और चीनके लोगोंको भी उसने आकर्षित किया। चीनी प्रवासियोंने हिमालयकी परिक्रमा करके भारतकी यात्रा की और बुद्ध भगवानके कल्याणकारी उपदेशोंको सारे जंबूद्वीपमें—उत्तर, पूर्व और दक्षिणमें फैलाया। अशोक जैसे सम्राटने तथागतकी वाणी सुनानेके लिए बड़े-बड़े धर्मोपदेशक पश्चिमकी ओर भी भेज दिये। इतना ही नहीं, किन्तु मनुष्य और पशुके स्वास्थ्यके लिए रोग-निवारण करनेवाली वनस्पतियां भी देश-देशान्तरमें बो दीं। आज भी कश्मीरके अन्दर, लेह-लद्दाखसे लेकर, सुदूर प्राग्ज्योतिषके और शोणितपुरके उत्तरमें (नेफामें) बौद्ध धर्मके अनुयायी पाये जाते हैं। हिमालयके आदिवासियों पर अगर किसी धर्मका प्रभाव है तो वह तथागतके महायान संप्रदाय का ही है और उस धर्मको अगर स्थानिक लोगोंकी साधना अपनानी पड़ी, तो वह शाक्त धर्मकी ही थी। शिवजीका ध्यानमार्ग, तंत्रउपासनाका अद्वैत योग और बोधिसत्त्वोंका विश्वकल्याणका सेवामार्ग—इसका विचित्र मिश्रण अथवा रसायन ही हिमालयवासियोंका साधनाक्रम है। बुद्ध भगवानके मंगलकारी उपदेशको बोधिसत्त्वोंने जो जनभोग्य रूप दिया, उसीका शोधन और संस्करण करना और उसीको भक्तिपूत बनाकर, समन्वयके द्वारा उसका प्रचार करना—यह है आजका युगकार्य।

इस कार्यकी थोड़ी कुछ झांकी असम देशके महापुरुष श्री शंकरदेवके प्रचार-कार्यमें हमें दीख पड़ती हैं। लेकिन हम जानते हैं कि धर्मयात्रा भूतकालकी ओर नहीं जा सकती। उसे भविष्यकी ओर ही प्रयाण करना है। इतना ही नहीं—उज्ज्वल भविष्यका निर्माण भी करना है।

भूतकालकी धर्मसाधना और संस्कृतिका विस्तार हमारी पैतृक संपत्ति है। वर्तमानकाल हमारे पुरुषार्थका क्षेत्र है। उसकी रगरग पहचानना हमारा परम कर्तव्य है। लेकिन हमारी वर्तमान साधना तो उज्ज्वलतम भविष्यके निर्माणके लिए ही हो सकती है। भूतकालके प्रति श्रद्धा और आदर, वर्तमानकालके प्रति अवधान और जागृति और भविष्यकालके प्रति निष्ठा और भक्ति, यही है सर्वोदयकारी साधना। विश्व समन्वय है उसका तंत्र और सर्वमुक्ति है उसका अंतिम ध्येय।

आज अगर हम हिमालयमें बैठकर साधना करना चाहते हैं, तो सर्वधर्म-समन्वयसे प्रारंभ करना चाहिए। लेकिन उसके साथ, वहांकी आदिवासी जनताके प्रति

आज तक जो उपेक्षा हुई है उसका हमें प्रायश्चित करना होगा। उनका जीवन अज्ञान और अबुद्धिसे मुक्त हो, ज्ञान और कौशल्यसे सुवासित हो और हिमालयकी निसर्ग-दत्त समृद्धिसे समर्थ बने, इसके लिए कोशिश करते रहना हमारी धर्म-साधनाकी बुनियाद होनी चाहिए। हिमालयके स्रोत और हिमालयकी नदियां चाहे जितनी भौतिक शक्ति प्रदान करनेके लिए उत्सुक हैं। हिमालयके घने वन, लकड़ियां, तेल और फलफूल दे ही रहे है। दुनियाभरके सब तरहके फल जगह-जगह पर उगाकर हिमालयकी भूमिको हम फलसमृद्ध कर सकते हैं। हिमालयके वृक्षोंमें ऐसे अनेक पेड़ हैं, जिनके बीजोंमेंसे खाद्य और अखाद्य तेल निकाल सकते हैं। हिमालयके पेटमें जो खनिज-संपत्ति भरी हुई है इसका तो किसीको ख्याल ही नही है।

केवल लश्करकी सहूलियतके लिए नहीं, किन्तु हिमालयमें रहनेवाले लोगोंकी सेवाके लिए दुर्गम प्रदेशोंको सुगम बनाना चाहिए। पहाड़ोंमें जहां रास्ता बनाया, वहां टेलीफोनका प्रबन्ध होना ही चाहिए। काश्मीरके आजके नेता भारतवासियों-को वहां जाकर बसने नहीं देते, इसकी शिकायत करनेकी बजाय जहां हम जा सकते हैं वहा जाकर वहांकी जनताकी सेवा करें, उन्हें अपनायें और उन्हीके बन-कर, विज्ञान और स्थापत्यकी मददसे उनका जीवन अद्यतन और समर्थ बनाये तो हमारे पुरुषार्थके लिए वह शोभादायक होगा। बुद्ध भगवानके कल्याणकारी धर्मसे प्रभावित होकर ही हमें इस सेवा-कार्यमें सफलता मिलनेवाली है। बुद्ध भगवानके उपदेशसे प्रभावित राजा भर्तृहरिने ऐसे सेवाभावी लोगोंका सुन्दर शब्दोंमे वर्णन किया है:

स्वार्थान् संपादयंतो विततपृथुतरारंभयत्नाः परार्थे।

अपना थोड़ा-सा स्वार्थ सम्पादन करना हो तो उसके लिए ये (सेवाभावी) लोग औरोंके लिए—सारी जनताके लिए—विशाल, बड़ी-बड़ी प्रवृत्तियां खड़ी कर देते हैं। दो प्रतिशत स्वार्थके लिए ९८ प्रतिशत पदार्थ—विशाल सेवाकार्य करने-वालेका मत्सर कौन करेगा? सबको सुखी कर, अपनेको सुखी करनेवाले लोगोंको ही धर्मात्मा कह सकते हैं। हिमालय ऐसी युगानुकूल धर्म-साधनाके लिए आमंत्रण दे रहा है।

२. हिमालयका संदेश

कहते हैं, दुनियाके सब पहाड़ोंमें हिमालय कलका बच्चा है। मुझे इसका न रंज है, न अभिमान। कलका बच्चा सही, लेकिन उसकी उम्र कम-से-कम पांच-दस लाख बरसकी जरूर है। पहाड़ोंके परिवारमें कोई तो सबसे बूढ़ा और कोई सबसे जवान होगा ही। हमारे भाग्यमें पिताके तौर पर हिमालय हमें मिला है, इसकी

धन्यता मैं जरूर अनुभव करता हूं। हिमालयकी पर्वतमाला दो हजार मील लम्बी, और दो सौ मील चौड़ी है, और सारा हिमालय एक विशाल चन्द्ररेखाके जैसा है, इतनी बात भारतके हरेक बच्चेको मालूम होनी ही चाहिये। हिमालयके इस पार शिवालिक पहाड़ है और उस पार मांधाता है, यह भी हम कभी भूलें नहीं।

मुझे इस बातका रंज है कि हमारे अच्छे-अच्छे हिन्दू भी नहीं जानते कि त्रिविष्टप (तिब्बत) के राजा कुबेर और लंकाके राजा रावण मां-जाये भाई थे। रावणने कुबेरको हराया और बादमें तिब्बतका सारा राज्य हारे हुए भाईको देकर स्वयं लंकाका राजा बना और सम्राटके वैभवसे रहने लगा।

लोकमान्य तिलक कहते हैं कि आर्योंका मूल वसतिस्थान उत्तर ध्रुवकी तरफ था। उन्होंने इसके लिए वेद ग्रंथोंमेंसे अकाट्य प्रमाण दिये हैं। ज्योतिष और भू-स्तर शास्त्रके सिद्धान्त भी इसका समर्थन करते हैं। फिर उनकी बातका प्रतिवाद हम कैसे करें ? यूरोपके चन्द लोग कहते हैं कि आर्योंका मूल स्थान स्विट्ज़रलैंडकी ओर कहीं था। समर्थनके लिए वे भाषाशास्त्र अथवा शब्द-शास्त्रको ले आते है। आर्योंका मूल स्थान यूरोपमें था, ऐसा कहे बिना उन लोगोंको सन्तोष नहीं होगा। जर्मनीके लोग कहते हैं, "असली आर्य हम ही थे। आर्य जातिको वे कहते हैं 'इंडो जर्मेनिक' जिनका इतिहास उज्ज्वल है। उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेका कोई प्रयास करे, तो हम उनका प्रतिवाद नहीं करेंगे।

हमारे बचपनमें हमें सिखाया गया था कि आर्योंका मूल स्थान एशिया-यूरोपके बीच जो केस्पियन सागर है, उसीके आसपास था। हमने तुरन्त मान लिया कि केस्पियन समुद्र 'काश्यपीय सागर' ही होगा।

ऐसी-ऐसी बातें बहुत सुनी हैं। आज मुझे कोई पूछे कि आपका दिल क्या कहता है; तो मैं एक क्षणके लिए भी दुविधामें पड़े बिना कहूंगा कि हमारा आदिम स्थान हिमालय ही है। इसके पहलेके इतिहाससे और प्राग्-इतिहाससे मुझे कोई मतलब नहीं है। आर्य जातिकी भावना कहती आई है कि हमारे ऋषि-मुनियोंने हिमालय में तपस्या की है। आर्य जातिके माता-पिता शंकर-पार्वती हिमालयके तिलक—कैलाश पर्वत पर विराजमान हैं। हमारे देवी-देवता हिमालयमें रहते हैं। इसलिए कालिदासने हिमालयको 'देवतात्मा' कहा है। ये सारे देव और ऋषि-मुनि स्नान करनेके लिए मानस-सरोवरमें जाते हैं। उसके नजदीक ही रावणह्रदका सरोवर है, और गौरीकुंड भी इन दोनोंके नजदीक ही है। भारतकी चार नदियोंका उद्गम और चीनकी दो प्रधान नदियोंका उद्गम कैलास मानस सरोवरके इर्द-गिर्दके विशाल प्रदेशमें ही है।

हमारे हृदयकी भावनाएं जितनी हिमालयके इस पारके प्रदेशके साथ बंधी हुई हैं, वैसी ही हिमालयके उस पार भी निगड़ित हैं।

और हमारे शाक्यमुनि भगवान बुद्धकी कृपादृष्टि भी हिमालयके दोनों ओर

एक-सा आशीर्वाद दे रही है।

हिमालयका दर्शन हरेक भारतीयके आशयको पावन करता है। हिमालयकी हवा प्राणदायिनी है। हिमालयके झरनोंमेंसे अमृतजल बहता है और हिमालयकी वनस्पतिया और जड़ीबूटियां आज भी हमारे साधुओंके बटुवेमे पायी जाती है।

जबतक हमारे ऋषिमुनि और धर्मकार आचार्य हिमालयके साथ सम्बन्ध रखते रहे, तबतक हमारी संस्कृतिकी उज्ज्वलता कायम रही। जबतक हमारे सम्राट् अपने वैभवसे छुटे नही थे तबतक वे अपने अन्तिम दिन व्यतीत करनेके लिए हिमालयमें ही जाते थे। उस कालके तीर्थ-स्थान और कलापूर्ण मन्दिरोंके अवशेष आज भी हिमालयमें जगह-जगह पाये जाते हैं।

किसीने सही कहा है कि पहाड़ोंका संदेश है 'स्वावलंबन और स्वराज्य', और बड़े-बड़े विशाल मैदानोंका संदेश है 'साम्राज्य'।

मॉस्को, पटना, इन्द्रप्रस्थ, पीकिंग—ये सब साम्राज्यवादकी राजधानियां हैं। सिर्फ गांधीजीने कहा कि विशाल मैदान, लोकमाता नदियां और समृद्ध खेती और बागबगीचे ही हमें अहिंसाका संदेश देते हैं।

हम यह सब माननेको तैयार हैं लेकिन हम कहेंगे कि मानव-जीवनके सब प्रश्नोंका चिन्तन तो हिमालयके हिमधवल शिखरोकी सन्निधिमें ही हो सकता है। बुद्ध भगवान कहते थे कि ध्यानके लिए नजरके सामने पानीका या भूमिका मंडल बनाओ और चिन्तनके लिए चंक्रमण करते रहो। हमारी संस्कृतिके संस्थापक, संचालक और सरक्षक साधु-संतोंने ध्यानके लिए चिर-हिम-विभूषित शिखरोंको ही पसन्द किया है और चिन्तनके लिए गंगोत्री, जमनोत्री, केदार, बदरी, महाबलेश्वर, अमरकंटक आदि नदियोंके उद्गम-स्थानोंकी यात्रा ही बतायी है।

जब पूर्व अफ्रीकाकी यात्रा की, हर दफे नील नदीके उद्गम-स्थान पर, अमर सरोवरके किनारे भी यही अनुभव हुआ। लोनावलामे जब इन्द्रायणी नदीका उद्गम देखने गया तब वहां भीमा, चन्द्रभागाका भी दर्शन हुआ। दृश्य कैसा भी हो, वहांके वायुमंडलमें अध्यात्मकी लहरियां शान्त तेजीसे चलती हैं और हृदयको धो डालती हैं।

ध्यान-चिंतनकी परम्परा हम भूल गये हैं। हमारे अध्यात्मके साथ हमारा साधनात्मक परिचय टूट गया है। हम तो केवल तार्किक और दार्शनिक चर्चा तक ही अध्यात्मका स्वीकार कर रहे हैं इसलिए हमारे संतोंकी वाणी और हिमालयकी प्रेरणा हमारे हृदयको पूरी तरहसे जाग्रत नहीं करती और हमे प्राणोंकी समृद्धि नही मिलती।

लेकिन हमारी त्रुटियां कितनी भी हों, हम अपने पुरखोंके वंशज हैं। उन्हींका खून हमारी नसोंमें बहता है। थोड़ेसे प्रयत्नसे हम अपनी पैतृक, आध्यात्मिक संपत्ति फिरसे प्राप्त कर सकेंगे। बाह्य प्रकृति और हमारी मानसिक प्रकृति

दोनों हमें अवश्य मदद देंगी। विघ्न आता है हमारी आधुनिक शिक्षाकी संकुचितता की ओरसे। मैं मानता हूं कि अगर हम पश्चात्ताप करेंगे और भक्ति नम्र होकर हिमालयकी यात्रा करेंगे, तो हमें हिमालयका संदेश अवश्य सुनाई देगा।

दिशा और काल मनुष्य-जीवनको घेरे हुए हैं। दोनोंका संबंध विस्तारसे है। कहते हैं, तत्त्वत: दिक् और काल एक ही चीज है, लेकिन इसकी गहराईमें हम न उतरें।

हिमालयका दर्शन करते उसकी ऊंचाई और उसके विस्तारकी ओर, और उसके असंख्य शिखरोंकी विविधताकी ओर सबसे प्रथम ध्यान जाता है, लेकिन ध्यान उसमें ठहरता नहीं। ध्यान कहता है कि जब चिर-हिम-शिखरोंको देखते हो तब कालका ही चिंतन होना चाहिए। ये शिखर हमेशा एक-से रहते हैं। बरफका जत्था कभी घटेगा, कभी बढ़ेगा। इन शिखरों पर वायु कभी मंद बहेगी कभी प्रभंजन-के तांडवकी मस्ती ऊधम मचायेगी; लेकिन यह सब होते हुए भी इन शिखरों की शांति अक्षुण्ण रहती है। इन शिखरों पर न हैं कोई वृक्ष-वनस्पति और न वहां मंडराते हैं कोई पक्षी। बादलोंकी लीला देखनेके लिए भी आज तक कोई वहाँ पहुंचता नहीं था। काले पत्थर और सफेद बर्फके सिवा वहां कुछ है नहीं। चार या छ: ऋतुएं पृथ्वीको खिलाती हैं, लेकिन इन शिखरोंकी ऊंचाई तक भी उनकी पहुंच नहीं है। वहां तो सनातनकाल अपनी समाधिमें निमग्न है।

ऐसे स्थान पर कालके छोटे-मोटे विभाग अर्थविहिन होते हैं। आज और कल, इस साल और पार साल, इस युगमें और अन्य युगमें, यह काल गणना उसके लिए नहीं है। वहां कालके लिए दो ही रूप सत्य हैं। एक है दृश्यमान वर्तमान क्षण और और दूसरा है संस्फुरत् अनंतकाल। वेदांतकी परिभाषामें सत्य तो वर्तमान क्षण है और अनन्तकाल है। बाकी सब उपाधि है, माया है, मिथ्या है।

इस कालमें मनुष्यका इतिहास तो क्या, पृथ्वीका, सूर्यमालाका और तारा-समूहोंका इतिहास भी तुच्छ और हास्यास्पद मालूम होता है। सान्तके द्वारा ही अनन्तका चिंतन हो सकता है, साक्षात्कार हो सकता है। यही है सान्तकी उपयोगिता। यह प्रत्यक्ष चिर-हिम-शिखर और वर्तमान क्षण—दोनोकी सहायतासे ही हम कालके आनन्त्यका चिंतन कर सकते हैं। यह आलम्बन नहीं होता तो चिंतन ही शून्य हो जाता है।

हिमालयके इन शिखरों पर केवल बर्फ-ही-बर्फ है। बर्फकी अखण्ड एकता है। किंतु जब यह बर्फ पानी होकर नीचे बहने लगती है तब कैसी अद्‌भुत और विविध सृष्टि तैयार करती है! देवदार, चीड़ और चिनारके बड़े-बड़े वृक्ष, बांस और पदमके छोटे वृक्ष, उनके फल और फूल और इनके सहारे जीनेवाले और जीवनानंदका अनुभव करनेवाले पशु-पक्षी और कीट-पतंग, सब जलकी ही प्रजा हैं।

अनंत कालके प्रवाहकी ओर जब ध्यान जाता है तब इतिहास सत्यके रूपमें

प्रकट होता है और मानव-जीवनके अनंत युगीन विकासकी ओर ध्यान जाता है। इन पहाड़ोंमें बैठकर ऋषि-मुनियोंने जो इतिहास हमें दिया, वह कोई दशकोंका और शतकोंका नही, युगोका और कल्पोंका है। कालके चिंतनसे अगर हमे भव्यता-का साक्षात्कार न हुआ हो तो वह चिंतन किस कामका ? मनुष्य जब क्षुद्र बनता है तब पाप, किल्बिष, अघ उसका वध करता है। अगर हम पापसे मुक्ति चाहते हैं, अघका मर्षण चाहते हैं तो हमे अनेक कल्पोंका एकसाथ आकलन करना चाहिए। आज जो सूर्य-चद्र दीख पड़ते है, ऐसे ही दूसरे सूर्य-चद्र इनके पहले थे। पहाड़ और समुद्र, मनुष्य और उसका साम्राज्य, सूर्य और उनकी ग्रह-मालाए पैदा होती हैं। इन सबका नियमन करनेवाला है, 'ऋत' और उस ऋतका आधार है 'सत्य' का। इसके दर्शनसे ही, साक्षात्कारसे ही, मनुष्य पापमुक्त होता है। हिमालय अगर किसी चीजकी दीक्षा देता है तो वह है भूमाकी, और मनुष्य गद्‌गद् होकर बोल उठता है :

यो वै भूमा तद् अमृतम् नाल्पे सुखमस्ति।

इसी हिमालय पर पहुचते ही युधिष्ठिरने भारतकी सन्तानको सदेशा भजा—ऋतु और सत्य पर आधारित धर्ममे ही अपनी बुद्धि लगाओ और इसके लिए 'मनस्तु महद्स्तु च'—अपने मनको, चित्तको, हृदयको जितना हो सके बड़ा करो। अनंतकी भाषामे सोचो। कर्म करो और अलिप्त होकर उसका चिनन करो।

व्यक्तिके रूपमे, समुदायके रूपमें, राष्ट्रके रूपमे और समस्त मानवताके रूप मे हम आज जो प्रवृत्ति करते है उसके दोष और उसकी व्यर्थता हम तभी समझ सकेंगे जब हम हरएक चीजको अनतताकी कसौटी पर कसनके आदी बनेगे।

कहते हैं, नौकाधीशकी नजर जब तक ध्रुवके ऊपर स्थिर है, तब तक उसका नोकानयन और समुद्र-प्रवास सुरक्षित है। राष्ट्रके जहाजको इतिहासके प्रवासमें अगर सुरक्षित ले जाना है तो हमे हमेशा भूमाका ही दर्शन स्थिर रखना चाहिए। हिमालयके शिखरोंको देखते यह स्थिरता नजदीक की होती है और हर चीजका तारतम्य स्पष्ट होनेसे जीवनकी गति और नीति शुद्ध होती है। हिमालयके इस ओर भारतवासी रहते हैं, उस ओर हमारे चीनी बंधु रहते हैं। आज इनसे हमारा भले हीं झगडा हो, लेकिन वह अनन्तकाल तक टिकनेवाला नही है। टिकनेवाला है हमारा पड़ोस, हमारा सान्निध्य, हमारा सहजीवन, हमारा साहचर्य और हमारा बढ़नेवाला सहयोग। यही बात है पाकिस्तानके बारेमे। जो कर्तव्य वर्तमान क्षणके लिए प्रवाहपतित है, अनिवार्य है, उसके प्रति निष्ठा कायम रखते हुए हमारे चिरजीवनके योग्य ही हमारी नीति रहेगी। वंश आपसमे लड़ेंगे आखिरमें सहयोगके लिए, और सहयोग भी चलेगा ओतप्रोत होनेके लिए। धर्म चलेंगे धार्मिकताके विकासके लिए। धार्मिकता सिद्ध होने पर धर्मोंका त्याग ही करना है। जिस तरह हम ज्ञान-विज्ञान पाने पर ग्रंथोंका त्याग करते हैं, उसी तरह धार्मिकता सिद्ध होनेके बाद धर्मोंके ,सब कलेवरोका विसर्जन करना ही है। जिस:

कवचने अंडेके अंदरके जीवकी रक्षा की, उसी अंडेको तोड़कर अंदरसे बच्चा बाहर आयेगा। अंडे होते ही हैं यथासमय टूटनेके लिए। अंडे अगर टूटे नही तो जिन जीवोकी उन्होने रक्षा की, उन्हीकी हत्याका उन्हें पाप लगेगा। केवल धर्मके ही नहीं, वंशके ही नहीं, तमाम संकुचितता और एकांगिताके अंडे तोड़कर बाहर आनेका और जीवनको कृतार्थ करनेका समय आ गया है। यही होगा मानवजाति के लिए मुक्ति-महोत्सव। यही है हिमालयके शिखरोंका जीवन-संदेश।

संयम, तप या तपश्चर्याका जीवन कितना रुक्ष होता है? खाना, पीना, गाना, सुनना हर बातमें परहेज। चित्तकी हरएक चीज पर अंकुश और अखड जागरूक रहना। कही भी प्रमाद हुआ तो गिर गये। तपश्चर्याका भंग हुआ। फिर पहलेसे शुरू करो। अपने प्रति जितने कठोर बन सकें उतना अच्छा। तपश्चर्याका मार्ग सीधा, संकरा और चढ़ाईका है। हांफते जाओ और चढ़ते जाओ और नजर एक शिखरके साथ बंधी हुई। न दाहिनी ओर देखो, न बायी ओर। न नयी बात सोचो न सुनो। एकरूप और एकाग्र। चढ़ते जाओ, चढ़ते जाओ। ऐसे जीवनमें रस काहेका?

इसीलिए विरले ही लोग तपश्चर्याका जीवन पसंद करते हैं।

लेकिन जीवनके रस देनेवाले जितने भी क्षेत्र है, उनमें लोकोत्तर प्रगति कर दिखाई है तपस्वी लोगोंने ही। हम संगीतका आनन्द लेते हैं। संगीतका अलाप सुनकर तल्लीन होते हैं लेकिन जिन ऋषि-मुनियोंने संगीतके रागोंको जन्म दिया और छः राग और छत्तीस रागिनियोंका विस्तार किया, उनका जीवन देखिये। नादब्रह्मकी उपासना करते हुए जीवनकी और सब बातें उन्होंने छोड़ दी थी।

वर्ण और आकृतिके द्वारा चित्रोंको खींचकर एक नई सृष्टि-निर्माण करनेवाले चित्रकारोंका जीवन देखिये। रंग और आकृतिकी उपासना करते-करते सारी जिंदगी कैसे व्यतीत हुई, उसका ख्याल तक उनको नही रहा। अपनी चित्र-सृष्टि-में ही वे मस्त रहे। पदार्थ-विज्ञान, रसायन, वनस्पति विज्ञान, प्राणिविज्ञान, अर्थ-शास्त्र, मानसशास्त्र खगोल ज्योतिष आदि किसी भी विद्याके संस्थापक और संशो-धकको देखिये। उसके जीवनमे तितलीके जैसी चंचलता नही दीख पड़ेगी। थोड़ा यह चखा, थोड़ा वह सुना, थोड़ी बाता की, थोड़ा विनोद किया और जीवनका रस चखा, ऐसा उनका जीवन नहीं था। संयम, त्याग, एकाग्रता, प्रयत्नका सातत्य और उसके लिए जरूरी ध्यान और जागरूकता—यही मिलेगा उनके जीवनमें।

भीषण गहन और विस्तीर्ण अरण्योंकी सृष्टि पैदा करनेवाले लेकिन स्वयं एकरूप नंगे ध्यानस्थ रहनेवाले हिमालयके शिखर देखकर ख्याल आता है कि ये भी तपस्वी ऋषिमुनि ही हैं। ये स्वयं हैं ब्रह्मचारी, लेकिन इनके कृपा-प्रसादसे, इन्हींके आशीर्वादसे, बड़ी-बड़ी अद्‌भुत सृष्टियां और संस्कृतियां जन्म लेती हैं, पनपती हैं और यथासमय लुप्त होकर नई सृष्टिको और नई संस्कृतिको अवकाश

देती हैं। ये चिर हिमशिखर स्वयं निर्जन, निर्जीव, वनस्पतिविहीन, स्थिर और शांत होते हैं, लेकिन इन्हींके प्रभावसे समृद्धिका विस्तार होता है। इनके जलप्रपातसे दिन-पर-दिन अधिकाधिक बिजली पैदा होगी। इनके जलस्रोतसे हजारों एकड़की भूमि सुजला और सुफला होगी। जलचर, भूचर, खेचर आदि विविध सृष्टिका सम्भव इन्हींके कारण होगा। और पहाडी संस्कृति, समथल मैदानोंकी संस्कृति और समुद्र-किनारेकी सागरी संस्कृति, तीनोंकी मूलप्रेरणा इन पहाड़ोंकी बदौलत होती है। वेदमंत्रोंके ऋषियोंने ध्यान करनेके लिए पहाड़ोको ही पसद किया। इनके उत्तुंग शिखरोंको देखकर ही उनके चिंतनने उत्तुंग सिद्धांतोंको जन्म दिया। अनन्त-काल और कालातीत भगवानका आकलन भी इन्ही शिखरोके एकाग्र चिंतनमे हो सका। इसीलिए भगवानने स्वयं कहा कि संस्कृतियोंका उद्‌गम स्थान हिमालय मेरी ही एक विभूति है। पुराणकार कहते हैं कि भगवान महादेव हिमालयमे रहते हैं। ध्यानी मुनि कहते हैं कि ये कपूर धवल ध्यानस्थ पहाड़ ही स्वय शिवजी हैं।

हिमालयके वायुमण्डलमें मनुष्य कालके अधिकारसे मुक्त होकर चिरंतनका साक्षात्कार करता है और समृद्ध शांतिका अधिकारी बनता है।

३. ॐ पुण्याहम्

जब-जब हिमालयके दर्शन होते हैं तब-तब मन न जाने क्यों, अस्वस्थ होता है; लेकिन जब उसके अनेक पहाड़ोंके बीच और छोटे-बड़े शिखरोंके बीच पहुंच जाता हूं तब कई सालोंके बाद मैकेमें पहुंचनेका समाधान मिलता है और फिर यह आनंद टिकनेवाला नही, यह स्थान छोड़कर वापस गये बिना चारा नही, ऐसी कल्पनासे मनमे एक विषादकी तरंग उठती है। ऐसी मनःस्थिति तो होगी ही। इतना स्वीकार करनेके बाद ही दिमाग और दिल उस पूर्ण आनंदको भोगनेकी स्थितिमें आ सकते हैं।

'हिमालयकी गिरिशृंगमाला अनेक बार देखी है, किन्तु उसके दर्शन पुनःपुनः जाग्रत होते हैं। पहली बार जब अलमोड़ा गया था तब नंदादेवी और नंदाकोटीके शिखर पहली बार देखनेका आनंद इतना उत्कट था कि आजतक वह ताजा है और जब, बहुत साल बाद कौसानी गया था तब पैरके नीचेकी विशाल घाटीका निरीक्षण कर महात्माजीकी आखोंसे हिमालयके शिखरोंको कतारमे देखा, तब इतना बड़ा, लम्बा विस्तार एक साथ देखनेका भाग्य इतना बड़ा उत्तेजक और फिर भी तृप्ति-दायक था कि वह भी चित्तमें ताजा ही रहता है। इन दो भव्यतर दर्शनोंके साथ-साथ दूसरे इतने सारे दर्शन चित्तमें इकट्ठे हुए हैं कि सब मिलकर पृथ्वी पर न पाया जाय, ऐसा शिखर-सम्मेलन कल्पनाकी प्रतिभा एकत्र करता है। पूर्व-दर्शनोंका

इस प्रकार नांदीश्राद्ध करनेके बाद ही आजके शिखर-दर्शनानंदका उत्सव मना सकता हूं।

ककनीका स्थान काफी ऊंचा है (६५०० फुट)। वहांसे हिमालयके शिखर सुंदर दीख पड़ते है, यह नेपाली लोगोंसे सुननेके बाद आंखका औत्सुक्य अनेक चित्र खींचता था। लेकिन अनुभवी आंखोंको भी यह आनंद सूझा नहीं था।

काठमांडूसे त्रिशूलीका रास्ता तैंतालीस मीलका है। इस रास्ते अठारह मील चढ़कर हम ककनी आ पहुंचे। काठमांडूके घर पीछे छोड़े कि तुरंत वनश्रीका विविधता मनको आकर्षित करने लगी। पहले ऊंचाईके कारण आसपासकी घाटी दूर-दूर तक फैलकर अपना सौंदर्य प्रकट करने लगी। बीच-बीचमें खेत, उनके बीच बारिशके पानीसे खोदी हुई कोहें, कहीं-कहीं मनुष्यबस्ती, तो कहीं ऊंचे-ऊंचे पेड़ों के झुंड, तो कहीं अकेली टेकरियां! रास्तेका मोड़ बदला कि दूसरी घाटी अपनी शोभा दिखानेको तैयार।

यों हम ठीक-ठीक ऊपर चढे। अब विशाल घाटी और सपाट खेत अदृश्य हो गये। अब तो मनुष्यने शिखरोंको थोड़ा-थोड़ा काटकर घाटकी खेती कैसे की है, उसके तरह-तरहके नमूने दिखाई देने लगे। बीच-बीचमें जंगल और बीच-बीचमें घाट-खेती।

मनुष्यको दोनोंका उपयोग है। और ऐसे कुदरती वातावरणमें नन्हींसी झोंपड़ी बांधकर अपना गुजारा चलानेबाले किसी ईमानदार किसानका कुटुम्ब! एक जगह एक नन्हीं-सी बाला अपने अर्भक भैय'को गोदीमें लेकर चलती हुई और सामनेका दृश्य निहारती हुई दिखाई दी तब विचार आया कि उसकी आंखोंसे वह सारा दृश्य कैसा दिखाई देता होगा? किन्तु तुरंत दूसरा विचार आया कि यह कुदरती दृश्य उसके लिए रोजका है—यह इसका ख्याल करे ही क्यों? उसके मन तो अपने नन्हें भैयाके प्रति छूटनेवाला प्यार ही सब कुछ था।

हम आगे बढ़े। अब एक ओर गगनचुंबी वृक्षोंके ऊंचे पहाड़ और दूसरी ओर ऐसे ही वृक्षोंको अपनेमें रखनेवाली घाटी। बीचमेंसे हमारा स्टेशन-वेगन चला। रास्ता खास कारके लिए बनाया नहीं था इसलिए कारमें गति कहांसे आये? इससे हमें दुःख होनेकी बजाय लाभ ही हुआ। आरामसे दायें-बायें देखते जाओ। कोई जल्दी नहीं! थोड़ा आगे बढ़े और दो टेकरियोंके बीचके जीने पर पहुचे। अब जहां ऊंचा पहाड़ था, वहां घाटी दिखाई दी और जहां घाटी थी, वहां पहाड़ने सिर ऊंचा किया। इस प्रकारके विपर्यय देखनेको अनेक बार मिले और—यकायक एक जीने पर पहुंचते ही हिमशिखर दिखाई देने लगे। मैं तो रास्ते-के मोड़में ही उलझा हुआ था। चि० दीपकने चिल्लाकर कहा, "स्नो पीक्स! स्नो पीक्स!" हिम-शिखर! हिम-शिखर! मेरे पीछे बैठी हुई चि० सरोजने हिम-शिखरोंकी तरफ उंगलीसे निर्देश किया और गणेशहिमालके दर्शनका पुण्य लेकर मैं

करने लगा।

पुण्य यानी क्या ? स्वर्गमें काम आनेवाली देवोके बैंकमें जमा होनेवाली संपत्ति ? लोगोकी कल्पना भले इतनी ही हो। मेरे मन तो पुण्य माने दसो इन्द्रियो को मन, बुद्धि, अहंकार, कल्पना और श्रद्धा—सबको एक साथ मिलनेवाला आनद, आह्लाद और प्रसाद। इसका नाम पुण्य है। ऋषि जब गधके लिए पुण्यका विशेषण इस्तेमाल करते हैं और शुभ दिन को 'ॐ पुण्याहम्' कहकर उसका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करते हैं तब मै कहता हू, वही अर्थ उनके मनमे पुण्य शब्दसे प्रकट होता है।

अब नोककनीके शिखर पर विराजमान आरामगृह दिखाई देने लगा; लेकिन पहाडी रास्तोमे जो नजदीक दीखता है वहा पहुचनेमे असख्य टेढे-मेढ़े और सीधे-सरल मोड लेने पडते है। आखिर हम विश्रामगृहमे स्थानापन्न हो गये।

भले ही स्टेशनवेगनके प्रतापसे, लेकिन हम इतनी ऊचाई पर पहुचे, काठमाडू छोडकर हिमशिखरोकी सन्निधिमे पहुचे, इसलिए इतने पुरुषार्थके अतमे नाश्ता करनेके हम पूरे-पूरे हकदार बने। दरअसल नाश्ता था ही स्वादिष्ट, किन्तु साढे छः हजार फुटकी ऊंचाई पर मिलनेवाला प्राणवायु और सामनेके काव्यकी भव्यता—उन्होने उसको और भी स्वादिष्ट किया। इतनेमे सामनेके पहाड़ोंने शिखरोके दर्शनके लिए मुझे निमत्रण दिया। सामने गणेशहिमालके चार शिखर बिल्कुल स्पष्ट दीखते थे। श्वेत हिमकी सुशोभित राशियोके बीच नाना प्रकारकी घाटिया अपनी छटा विकसित करती थी। किसी मल्लके गठीले शरीरकी सुडौल मासपशिया जैसे ध्यान खीचती है और आदर-पात्र होती है, वैसे ही इन शिखरोमे उभरे हुए हिस्से और उनके बीचकी घाटिया ध्यान खीचती थी।

जापानके शिखरराज फूजीयामाके एक अग्रेज-भक्तने बरसों तक पहाड़का ध्यान धरकर और अनेक ओरसे दर्शन करके अपना अभिप्राय व्यक्त किया है कि "फूजीयामाका सर्वतोभद्र शिखर किसी तरफसे देखे, भव्य-सुदर ही दीखता है। किन्तु जब बादलोके कारण या हवाके कोहरेके कारण वह अस्पष्ट दीखता है तब उसकी शोभा सुन्दरतर और भव्यतर होती है और जब वही शिखर सौ फीसदी अलोप और अदृश्य होता है तब उसकी शोभा सुदरतम, भव्यतम, अद्भुत और दिव्य बनती है।" एक निष्ठावान भक्तके ये वचन है। ये कहा तक सच्चे है, इसकी चर्चा करे सो पामर। भक्तके वचनोका हम कहा तक अनुभव कर सकते है, यही नम्रतापूर्वक सोचनेका काम हमारा है। गणेशहिमालसे जब बायी ओर देखने लगे तब हिमाल-चुलीके शिखर धुधले दीखे, और उससे आगे अन्नपूर्णाके शिखर किसीको दिखाई दें, किसीको नही। और जिसको दिखाई दें उसको भी पलमे दिखाई दे और पलमें उनकी कल्पना ही करते रहना पड़े। तीन शिखरोके यह त्रिविध अनुभव एक साथ जुगालते उस फूजीयामा के बारेमे वचन ताजा हुए और उस भक्तकी नजरसे और

भावनासे हमने अपना आनंद द्विगुणित किया।

अब नजर दाहिनी ओर गई। वहां बादल और हवाकी मुश्किल न थी। लेकिन समीपका एक बर्फविहीन पहाड़ सिर ऊंचा करके लोंगटेंगके हिमशिखरोंको ढंक देनेका प्रयत्न करता था। उसका यह प्रयत्न ज्यादातर सफल हुआ तो सही, लेकिन लोंगटेंगके सबसे ऊंचे शिखरकी किनार झांकती हुई हमसे कहने लगी, "निराश नहीं होना, देखो, मेरी किनारकी चमक। इतनी चमक तो तुम्हें गणेश-हिमाल पर भी देखनेको नही मिली थी।" बात सच थी। किनार तो किनार, लेकिन वह चित्तमें अमिट अंकित हो गई। हम दाहिनी ओर आगे बढ़े। वहां हमने दोर्जेलाग्याके शिखर देखे। इनमें तो उज्ज्वलता और धुंधलापनका संमिश्रण था। तदुपरांत इन शिखरोंके आसपास बादल भी छाने लगे थे। जिसे शिखर मानें वह तो अपना आकार बदलकर खुद बादल होना साबित करता था। और जिन्हें हमने बादल समझा, वे हमें निःशंक बनाकर अपना शिखरत्व साबित करने लगे। कई बार हमें, 'हां' की जगह 'नही' और 'नहीं' की जगह 'हां' कहना पड़ा। बादमें विचार आया, शिखर हो या बादल, आपको तो उसकी सुन्दरताका ही आनंद लेना है न? फिर उसकी इतनी छानबीन क्यों? बादलका आकार भले ही अल्पजीवी हो, लेकिन उससे उसकी सुन्दरतामें न्यूनता नहीं आती। दलील थी लाजवाब, परन्तु मन पर उसका कोई असर न हुआ। हम यहां इतनी दूर बादलानंद का मजा लेने नहीं आये थे। इस विश्रामगृहके रक्षक युवकने हमें कहा कि दोर्जेलाग्यासे जरा आगे देखिये, अभी-अभी गौरीशंकरके तीन शिखर दीखने लगे हैं। हमें तो वे दिखाई नही दिये, परन्तु नही कहनेकी बजाय फूजीयामाके भक्तकी आस्तिकताका उपयोग करना ही यहां योग्य है, ऐसा समझकर हम आसमानके एक भागमें कल्पनासे गौरीशंकरको उत्कटतासे देखने लगे। हमारी यह तपश्चर्या सफल हुई और उन तीन शिखरोंने, भले ही अस्पष्ट, अपने पार्थिव दर्शन हमें दिये, भले ही एक क्षणके लिए, किन्तु उसके बाद आसमानके उस भागमें हम उन शिखरोंको ठोस कल्पनासे देखने लगे।

लेकिन हमारे सच्चे स्नेही तो गणेशहिमालके चार शिखर थे। उन पर एकाध बादल आकर उनकी घाटीमें आराम करता, कुछ ही क्षणमें पिघल भी जाता। थोड़ी देरमें चार बादलोंने आकाशमें लटककर गणेशहिमाल पर अपना छत्र किया।

अब तो इस सारे प्रदेशमें बादलोंका खेलनेका समय हुआ, हम उन पर चिढ़े नहीं, उलटे पूरे एक घंटे तक हिमशिखरोंका मनसोक्त दर्शन करनेकी अनुकूलता कर दी, इसके लिए हमने उनको धन्यवाद दिया। मैंने उनसे कहा, "ठीक है। अब तुम अपना खेल खेलो। मैं अपना आनंद इस बीच लिख लूं।" बादलोंने अपना खेल शुरू किया, लेकिन बीच-बीचमें उन सब शिखरोंके थोड़े बहुत दर्शन करनेका

अवसर हमें देते रहे। सब बादल शिखरोंके जैसे ही सफेद थे। श्याम कह सकें, ऐसा एक भी मेघ उनमें नहीं था। कर्पूरधवल शिवजीके इस प्रदेशमें बादल भी शिवगणों की तरह सुधाधवल रहनेका ही अपना धर्म मानते होंगे।

शिखर देखता हूं और हिमालयकी पुरानी यात्रामें उनको नजरके सामने रख कर किये हुए ध्यान-चिंतनका स्मरण होता है, खासतौर पर एक शाम एक शिखरके गेरुए रंगके बीच महादेवकी आकृति देखी थी, उसका स्मरण तो अचूक होता है। किन्तु उस आनंदमें किसीको साझेदार नही बनाया जा सकता। उसका तो स्मरण कर—हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।

५. गिरिनगरी मसूरी

जिस तरह बम्बईके लिए माथेरान या महाबलेश्वर गरमीसे भागनेके ठण्डे स्थान हैं, गुजरातके लिए आबूका शिखर है। नागपुरके लिए पंचमढ़ी, कलकत्ताके लिए दार्जिलिंग, करसियांग या कालिंगपाग और असम प्रान्तके लिए शिलांग, उसी तरह दिल्लीके लिए मसूरी है, हालांकि चन्द लोग नैनीताल भी जाते है।

दक्षिणके लोगोंके लिए ऊटी और कोडायकनाल है। लंकाके लिए न्यूरेलिया है और कश्मीरके लिए गुलमर्ग। सारा कश्मीर स्वयं ही शीतनिवास है, लेकिन वहां-के लोगोके लिए गरमीके दिनोंमे गुलमर्ग जैसे स्थान पर जाना हितकर मालूम होता है।

दिल्लीका सरकारी ग्रीष्मनिवास शिमला रहा है अवश्य, लेकिन वह पहलेके जैसा आकर्षक नही रहा।

मसूरी दिल्लीसे केवल १७० मीलकी दूरी पर है। उसकी ऊंचाई साढ़े छः और सात हजारके बीच है। हवा ठण्डी, पानी अच्छा और दूर-दूर हिमाच्छादित शिखर भी दिखाई देते हैं। त्रिशूल, बन्दरपुच्छ, नन्दादेवी, बदरीनारायण, गंगोत्री-जमनोत्री जैसे स्थानोंका कहीं-न-कहींसे दर्शन हो ही जाता है। दिल्लीसे इतना नजदीक और सुन्दर दूसरा स्थान नही है।

लेकिन जिस तरह रांची, शिलांग या महाबलेश्वरमें खुली, समतल भूमि मिल सकती है, वैसी मसूरीमें नही है। यहां तो पहाड़की बाजू काट-काटकर इधर-उधर थोड़ी-थोड़ी जगह कुदरतसे मांग लेनी पड़ती है। दो-तीन रास्ते काफी दूर तक सम तल हैं। इन रास्तोंके दोनों बाजू, ऊपर या नीचे, अलग-अलग छोटे-मोटे मकान दीख पड़ते हैं। दो-तीन बाजार भी अच्छे हैं और अंग्रेजोंके जानेके बाद थोड़ी शिथिलता भले ही आई हो, लेकिन नगरपालिकाका काम आज भी अच्छा चलता है। स्वच्छता, पानी और बिजलीका प्रबन्ध होनेके कारण और रास्ते भी हर

साल अधिकाधिक वस्त्रालय होनेके कारण मसूरीका जीवन बहुत-कुछ सुखी हो रहा है। सुबह-शाम मसूरीके लोग रास्ते पर घूमने निकलते हैं और जैसे वे पहाड़के सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखते हैं, वैसे ही मेहमानोंके चेहरे और कपड़े देखनेका भी आनंद लेते हैं। छोटा-सा शहर। लोगोंकी संख्या भी ज्यादा नहीं। उस पर बाहरसे आनेवाले लोगोंका स्वभाव भी मसूरी आते ही मिलनसार बन जाता है। एक-दूसरेको मिलने जाना यहांका एक आनन्ददायी व्यवसाय है। चढ़ना, उतरना और चलना हरएक नवागत व्यक्तिके लिए नियम-सा बन जाता है। दुपहरके बारह बजे भी सैलानी रास्ते पर दीख पड़ते हैं।

सन १८१४ या २६से अंग्रेजोंकी नजर मसूरी और लांडोरके पहाड़ों पर रही। अंग्रेज अमलदार, मिलिट्री अफसर, मिशनरी लोग अक्सर यहां जाकर बसने लगे। बादमें आधे अंग्रेज ऐंग्लोइंडियन भी जाकर रहने लगे। लेकिन ऐसे ऐंग्लोइंडियन लोगोंको मसूरीके गोरे लोगोंके क्लबमें प्रवेश नही मिलता था। सौ प्रतिशत यूरोपियन गोरोंके लिए ही उस क्लबकी स्थापना हुई थी। अंग्रेजोंके स्वभावमें जातिभेदकी कड़ाई हमसे ज्यादा होती है। उसे वे जातिभेद नहीं कहते। वर्णभेद कहते हैं। काले लोगोंसे सेवा लेनेमें उनको उज्र नहीं होता। खाना पकायें और परोसें काले लोग, लेकिन पासकी कुर्सी पर बैठकर समान भावसे एक ही मेज़ पर काले लोग खाना खायें तो गोरोंका अपमान होता है। पिश्चमी रिवाजमें पले हुए धनी लोगोंके लिए यह नियम लागू नहीं। मसूरीके हिमालयन क्लबमें धीरे-धीरे ऐंग्लोइंडियन मंजूर होने लगे, और अब तो सारा जमाना ही बदल गया है।

मसूरीका सच्चा उपयोग आज भी गोरोंके लिए ही है। अनेकानेक मिशनके मिशनरी लोग वहां जाकर रहते हैं। यूरोप-अमरीकाके भारतमें बसनेवाले गोरे बच्चोंकी पढ़ाईका प्रबन्ध वहां अच्छा है। लड़के-लड़कियोंको प्राणदायी ठंडी हवामें रहनेका प्रबन्ध भी वहां है और जैसी पढ़ाई उन्हें स्वदेशमें मिलती है, वैसी पढ़ाई उन्हें यहां भी मिलती है। अब तो वहां अच्छे-अच्छे गिरजाघर भी बन गये हैं, अस्पताल भी खुले हैं और रास्ते भी सुधर गये हैं। गोरोंके लिए तो मसूरी और लांडोर मानो स्वर्ग है।

मसूरीमें अब सनातन धर्मके और आर्य समाजके मंदिर भी बनने लगे हैं। मुसलमानोंकी मस्जिदें भी हैं। फिर भी मसूरी कोई तीर्थस्थान नहीं है। मसूरीको हम आरोग्य, शिक्षा, तिजारत और विलासका स्थान कह सकते हैं। फौजके लोगोंके लिए भी मसूरी-लांडोरका उपयोग अच्छा है। मसूरी है ही गोरोंका बनाया हुआ आधुनिक ग्रीष्म नगर।

फिर भी हम कैसे भूल सकते हैं कि यह पहाड़ हिमालयका ही एक अंग है? उसे हिमालय कहें या शिवालिक, आध्यात्मिक दृष्टिसे ऋषिमुनियोंकी तपोभूमिमें ही उसका अंतरभाव है। जिन पहाड़ों परसे गंगोत्री, जमनोत्री जैसे चिर

हिमाच्छादित शिखर दीख पड़ते हैं, वे सब पहाड़ हमारी तपोभूमि ही हैं। वहां जाते ही और वहांकी आबोहवा पेटमें लेते ही चित्तमें आध्यात्मिक भाव जाग्रत होते हैं, आत्मचिंतन आसान बनता है और भारतका दस हजार वर्षोंका सांस्कृतिक इतिहास यात्रीके साथ बातें करने लगता है। आधुनिकताका आक्रमण चाहे जितना हुआ हो, मसूरीमें भगवान शंकर महादेवका स्मरण हो ही जाता है और हमारी इच्छा हो या न हो, तपस्याकी महतीका हृदयमें उदय हो ही जाता है। ऐसे स्थान पर बैठकर गीता, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र जैसी प्रस्थानत्रयीका अध्ययन भी करना चाहिए और अगर श्रुति, स्मृति पुराणोक्त उदार सनातनधर्मका साक्षात्कार करना हो तो भव्य दृष्टिसे भारतीय समाजशास्त्रकी रचना करनेकी दृष्टिसे पुराणों का अध्ययन भी करना चाहिए।

हमारा मकान मसूरी-लांडोरके पूर्व सिरे पर है। घर उत्तराभिमुख होनेके कारण चिर-हिमशिखरोंकी शोभा जब दृष्टिगोचर होती है तब शीतल भव्य और उज्ज्वल शात होती है। कांचके खिड़की-दरवाजोंकी सुविधा होनेके कारण सारे दृश्यका विस्तार आसानीसे दिखाई देता है।

मेरा कमरा पश्चिमकी तरफ होनेसे सूर्यास्तकी शोभा देखनेकी सुविधा मुझे अतिरिक्त प्राप्त हुई है।

उत्तर और पश्चिम दोनों तरफ गहरी घाटी होनेके कारण घाटीके बादके पहाड़ोंकी हरियाली अधिक उभारदार दिखाई देती है, और जिस पहाड़ पर हम बसे हुए हैं, उसकी ऊंचाई अधिक ध्यानमें आनेसे हमारे ख्यालसे हमारी प्रतिष्ठा भी बढ़ती है। हमारे लिए यह स्थान ध्यानभूमि है, जब कि बादल कहते हैं, "तुच्छ मानवोंका यहां अधिकार ही क्या है? पक्षियोंके घोंसले छोटे और आपके बड़े, इतने-भरसे क्या इस विशाल भूमिभाग पर आपका अधिकार हो गया? पक्षी तो आसमानमें भी उड़ते हैं, आपको तो कीड़ोंकी तरह जमीन पर ही चलना पड़ता है।

"यह तो हमारी क्रीड़ाभूमि है, लीलाभूमि है और सदा रहेगी। हिम्मत हो तो जाड़ोंमें यहां आकर खुले बदन घूमकर बताइयेगा। पक्षी हैं हमारी तरह गगन-विहारी। वे अपनी खुराक दूर-दूरसे लाकर यहां खाते हैं। आपका अधिकार यहां है ही नहीं। अपनी किताबमें आप भले चाहे सो लिखें और उसके आधार पर अदालतमे क़ज़िया चलायें।"

बादलोंकी बात सही है। अगर हमारा यहां अधिकार होता तो हम जब जो चाहते सो अपनी मर्जीसे देख पाते। हम तो पवनको प्रेरित नहीं कर सकते, बादलोंको खिसका नही सकते, कुहरेको हटा नहीं सकते और चाहने पर उसे उतार भी नहीं सकते। भिखारी अपनी मर्जीके मुताबिक कुछ पा नहीं सकता। जिस समय जो मिलता है, उसे गले उतारता है और उसीमें अपनेको धन्य समझता है।

बादल यहांके अधिकारी हैं निस्संदेह, किन्तु अतिथिशील और उदार हैं। रोज

नये-नये नजारे पेश करते हैं और प्रतिभावान होनेके कारण हर समयका दृश्य अपूर्व होता है।

हमारे बंगलेके आसपास ऊंचे-ऊंचे पेड़ बहुत हैं। बांझ, पदम, देवदार वगैरा-वगैरा अनेक प्रकारके पेड़ सीधे ऊंचे जाते हैं और रंगभूमिके प्रेक्षकोंकी तरह हम चुपचाप सारा दृश्य निहारते हैं। निहारते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि अखण्ड रूपसे उसका आनन्द भी लेते है।

इन वृक्षोंने कोई कारखाने नहीं चलाये, फिर भी बारिशके दिनोंमें उनके तनों पर और टहनियों पर ऐसी कुछ मोटी सिवार उगती है कि हमें ऐसा ही प्रतीत होता है मानो कुदरतने उनको ओढ़नेके लिए ओवरकोट (चोला) बख्शा है। यह सिवार-की मोटी परत ही शीतकालमें उनकी रक्षा करती है। ग्रीष्मके आगमनपर ओढ़ी हुई यह परत पुरानी होकर झड़ने लगती है और कुदरतकी खूबी यह है कि जिस प्रकार फटेहाल बादलोंकी शोभा अधिक होती है, वैसे ही इन तपस्वी वृक्षोंका चिथड़े-चिथड़े हुआ हरा कम्बल अधिक सुहाता है।

इन वृक्षोंको भले ही बोलना नहीं आता हो, लेकिन सुनते हैं सबकुछ। हमने देखा कि उनके जितने पर्ण उतने कर्ण। पक्षियोंका कलरव भी सुनते हैं और मेघ-गर्जना भी सुनते हैं।

बड़े-बड़े पक्षी इस सिरेसे उस सिरे तक उड़कर बड़ी-बड़ी घाटियां लांघते हैं, जब कि तितलिया धूपमे इधर-उधर भटकती हुई कहती हैं, "आप अपना मौन भले पालन कीजिये, लेकिन आपका ध्यान-भंग तो हम करेंगी ही।"

मैंने माना था कि इस प्रदेशकी जानकारी यहां आसानीसे मिल सकेगी, लेकिन जहां अंग्रेजी जाननेवाले पहुंच गये, वहा देशी स्थानिक जानकारी गायब ही होगी। फिर तो स्थलोंको नाम देंगे अंग्रेज, और दन्तकथाएं गढ़ेंगे भी अंग्रेज ही और स्थानिक देशी गरीब लोग इतने कंगाल और उत्साहविहीन होते हैं कि उनसे कोई जानकारी नहीं मिलती। देहरादूनमें एक अद्वितीय फॉरेस्ट कॉलेज है, लेकिन वहां सब जानकारी अंग्रेजीमें मिलती है। गजेटियरमें थोड़ा इतिहास मिल सकता है, लेकिन पौराणिक माहात्म्य पेश करनेकी जिम्मेदारी उनकी नहीं है।

लगभग बीस दिनसे हम शिखरोंकी शोभा, बादलोंकी लीला और सन्ध्याका वर्णविलास देखा करते हैं, रोज नया-नया दृश्य देखते अघाते नहीं और प्रकृति कहती है—

नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे

उत्तरकी ओर पहाड़ोंकी एकके बाद एक चार परतें दिखाई देती हैं—हमेशा नहीं, हमेशा तो तीन ही परतें दिखाई देती हैं। सवेरे जब सबकुछ शांत होता है, और बादल भी सोये हुए होते हैं तब उत्तरकी ओरकी चौथी परत फीका, नीला रंग धारण करती है। अतः उत्तरके होते हुए भी उन्हें नीलगिरि कहनेका दिल होता

है। हमने चौकीदार और ग्वालेसे पूछकर देखा कि ये कौन-से पहाड़ हैं? बन्दरपूंछ? जमनोत्री? गंगोत्री? वे कुछ कह नही सके।

कौसानीसे उत्तरकी ओर हमारे सब पौराणिक पहाड़ श्रेणीबद्ध दिखाई देते है। उसमें त्रिशूल आसानीसे पहचाना जा सकता है। नन्दादेवी और नन्दाकोटा अलमोड़ासे देखे थे, इसलिए वे भी कुछ याद थे। लेकिन अब तो सब कुछ भूल गया हूं। फिरसे एक बार कोई अच्छी किताब देख लू तभी इन शिखरोंके नाम निश्चित हो सकते हैं।

एक दिन दोपहरको हमारा नीलगिरि धवलगिरि हो गया। उसके ऊपर सफेद बरफकी झलक दिखाई देने लगी। 'हिमशिखरोंके आज दर्शन हुए सही,' ऐसी धन्यताका अनुभव करें, उससे पहले बादलोने जाहिर किया, "ना, भूल हो गई। आज आपको हिमगिरिके दर्शन कराने नही थे।" फिर तो बादलोंके सफेद ढेर ही दिखाई देने लगे। लाचारीसे हमने सन्तोष मान लिया—बादलोंके शिखर क्षण-जीवी रहे तो क्या, उनकी शोभा कम नही होती। वे आकार बदलते तो है, लेकिन कितनी सौम्यतासे! उस दिन दर्शनानन्दकी अपेक्षा कल्पनानन्द ही हमने प्राप्त किया और दिलको मनाया कि दिन सार्थक हो गया।

उसके बाद लगातार तीन-चार दिन उत्तरकी ओर चौथी परतवाले सब पहाड़ बरफसे पूरे-पूरे ढके हुए दिखाई देने लगे। उसमें बाईं ओरके दो-तीन पहाड़ तीसरी परतके पीछेसे सिर ऊंचा कर सकते थे। उनको थोडा-कुछ मान्यताका उत्तेजन देकर हमने दाहिनी ओरकी हिमसमृद्धि पर अपनी आखें जमायी। जैसे-जैसे शाम होनी जाती, वैसे-वैसे सूरजकी किरणें उन शिखरोंको ओप चढ़ाती जाती। अब हम सच्चे दिलसे कह सके कि चिरहिमशिखरोंका वैभव हमने देखा सही! स्नेहियोको लिखे जा रहे हमारे पत्रोंमे अब दर्शनानन्दका उत्साह प्रकट होने लगा।

यह तो मनुष्यका स्वभाव ही है कि रूपका साक्षात्कार होने पर उसे नामकरण करनेकी इच्छा होगी ही। बच्चे पैदा होते हैं तब चार दिन सभी 'बाबा' होते है, फिर एकके बाद एक नामोंके अनेक सूचन होने लगते हैं और फिर सब रिश्तेदार एक समिति नियुक्त करके बाबा का या बेबीका नाम निश्चित करते है। हमने भी पौराणिक नामोंके अभावमे हरेक छोटे-बड़े शिखरोंके लिए अपनी-अपनी पसन्दके नाम निश्चित करनेका सोचा। मैं जानता था कि पुराने नाम मिल जायेंगे तब हमारे नये नाम पिघल जायंगे। इसलिए इन शिखरोको ध्यानावस्थाकी अलग-अलग भूमिकाओंके वजनदार नाम दे दूं। कौन जाने मेरी यह मुराद बादलों तक किस तरह पहुंची! उनको मेरा यह विचार पसन्द नही आया और उन्होंने अपना वीटो सारी उत्तर दिशामे फैला दिया।

हमने बहुत चाहा कि हमारे मेहमान जल्दी आ जायं तो अच्छा। उनको हम हिमवैभव दिखा सकेंगे। मेहमान समय पर न आये और हमारे वैभवके हम मालिक

नहीं थे। हमारी तो सौगन्ध खा-खाकर ही कहनेकी नौबत आई कि बरफका दृश्य अद्‌भुत था और सांझ-सवेरे सूर्यकी किरणोंकी लीलासे वह दैवी बन जाता था। हमने मित्रोंको यह भी लिखा कि ये हिमके शिखर आसमानमेंसे मानो आराम करने नीचे उतरे हैं। पृथ्वीके साथ उनका सम्बन्ध है ही नहीं। हमारा यह वर्णन बादलों-को बहुत पसन्द आया होगा, क्योंकि जिस दिन हमने यह सब लिखा, उस दिन बादल सबसे अधिक मेहरबान थे और रातको मन्द चांदनीमें भी हम हिमशिखर देख सके।

लेकिन मेहमान आनेसे पहले ही बादल बिफरे थे और उन्होंने ओस, कुहरा और तुहिनके रूपमें आकाश पर कब्जा जमाया।

एक दिन हम घूमने निकले और हाथ पर, सिरपर एक-दो बूंदें गिरीं। यह तो सज्जनोंकी सौम्य चितौनी ही थी। हमने उस तरफ ध्यान नहीं दिया। बूंदें इतनी कम थीं कि बहुत उम्मीद भी पैदा नहीं हुई। बादलके किसी टुकड़ेने आंसू बहाने का कुछ सोचकर फिर ख्याल छोड़ दिया होगा। सौम्य धूप और मंजुल-मंजुल पवन हमारे मसूरी-निवासको आह्लादक बनाते थे। किसी समय बाजारकी ओर जाते तब दक्षिणकी ओर दूनकी घाटीमें श्यामवर्ण बादल नीचे बरसते दिखाई देते और हमें लगता कि मैदानोंके लोग संतुष्ट होते होंगे कि हाश! धूपकी तकलीफसे बच गये। अब वे हमारी ईर्ष्या कम करेंगे, इतना सन्तोष हमने मान लिया। हम स्वर्गके देव थोड़े ही थे कि अभिमान और ईर्ष्या, गर्व और मत्सरको ही जीवनका प्रधान रस मानते?

अब सनसनाता पवन, बादलोंका आक्रमण, मूसलाधार वर्षा, आसपासकी घाटियोंको निनादित करती मेघगर्जना और दिशाओंकी लंबाई-चौड़ाई नापती विद्युल्लताओंका विलास प्रारम्भ हुआ। कोई गायक रागका मुखड़ा जरा आजमा-कर देखता है, वैसे पहले दिन थोड़ा-सा ही रंग जमा और मिट गया; लेकिन उतने-भरसे हम तैयार हो गये।

एक दिन शामको ऐसा कुछ अंधेरा छाया और रणभूमिपर कोलाहल मचा, इस प्रकार मेघगर्जना शुरू हुई कि हम सब अपनी-अपनी प्रवृत्तियां छोड़कर पश्चिम की खिड़कीके पास इकट्ठे हो गये। कमरेमें बत्ती न हो तो बाहरका अंधेरा अधिक भीषण प्रतीत होता है। यह जानते हुए भी बत्तीकी ओर हमारा ध्यान न गया। हम बिजलीके चमकारे देखते रहे। बीचमें ही बिजलीकी एकाध लकीर क्रुद्ध नागिनकी तरह एक सिरेसे दूसरे सिरे तक आकाशको बींध जाती थी। तब हम सब एकसाथ 'वह देखो' कहकर वह अद्‌भुत दृश्य देखनेकी रसीद एक-दूसरेके पास से वसूल करते थे।

कुदरतकी बिजली और घरकी बत्तियोंकी बिजली जन्मसे भले भिन्न हों, लेकिन हैं तो एक ही जातिकी। अतः जब बाहरकी बिजली चमकी तब उसके सम्मानमें घरके सब दीये आप-ही-आप बुझ गये।

लेकिन यह अनुभव करनेके बाद कि बत्तीके अभावमें आंधीका दृश्य अधिक आकर्षक बनता है, बत्तीकी मदद कौन ले ? हमने अपने हाथोंसे बत्तियां बुझा दीं और आंधीके विश्वरूप प्रदर्शनका आंखों द्वारा आस्वाद लेनेको तैयार हो गये।

हम तो गरम कमरेमें सुरक्षित रहकर आंधी देख और सुन रहे थे, लेकिन उस आंधीके साथ एकरूप होकर उसका आनन्द लूट रहे थे अंधेरेमें भूत-से दिखाई देते जंगली वृक्ष।

अक्सर हवा चलती है तब पेड़ उनका सामना करने तनकर खड़े रहते हैं और केवल अपने पत्तों द्वारा ही पवनका स्वागत करते हैं—स्वागत न कहें, पवनके साथ ताल धरते हैं, ऐसा कह सकते है, लेकिन वह केवल पर्णनृत्य द्वारा ही।

लेकिन अब उन ऊंचे-ऊंचे पेड़ोंको मानो आंधीकी मस्ती चढ गई। बिजलीकी कौंधें पी-पीकर वे उन्मत्त हो गये और ऐसे डोलने लगे कि पता न चले कि पवन उनको नचाता था या ये मस्त पेड़ पवनको सिसकाते थे।

बिजली कहने लगी, "मैं कभी पीछे नही रही हू। लो, मै तुम्हारे साथ ताल धरती हूं।" पवन चीखे, पेड अपनी-अपनी टहनियां घुमाकर द्वन्द्व-युद्ध चलावें। पलमें अन्धकार और पलभरमें बिजलीकी चमकती पीली कौंध। हमारा हृदय भी नाचने लगा। कमरेकी गरम सुरक्षितता असह्य होने लगी। मन हुआ कि दरवाजे खोल दें। आंधीके ताण्डवमे एकरूप हो जायं और रावणके समान पंचचामरका स्तोत्र ललकारें।

उमरका सयानापन आड़े नहीं आता तो हमारे हृदयने गरम और सूती सभी कपडे फेंककर प्रकृतिके तांडवनृत्यके साथ एकरूप होना पसन्द किया होता।

उत्साह और दूरंदेशीके बीच गजग्राह चला और उसमेंसे समझौतेका रास्ता सूझा।

हम उत्तरकी ओर गये। वहांके दरवाजे खोलकर सीढ़ी पर खड़े हो गये, क्योंकि वहां बारिशकी फुहार अन्दर नही आती थी।

हमारी बुद्धिमानी पवनके ध्यानमें नहीं आई। उसने बारिशकी बूंदोंसे कहा, "कहां गया आपका आतिथ्यका संभ्रम ? इतने सारे मेहमान दरवाजा खोलकर बाहर आये है, उनका स्वागत नही करोगे ?"

पवनकी बात बारिश न माने, यह कैसे संभव है ? फुहारने हमारे ऊपर अपना आतिथ्य बरसाया। हमें तुरन्त कहना पड़ा कि हमें पर्याप्त आतिथ्य मिल चुका है। अधिक कष्ट न करें। हम झट अन्दर आये, दरवाजा बन्द कर दिया और फिरसे पश्चिमकी ओर मुड़े। आंधीकी मस्ती पुरजोशमें आई थी। पेड़ोंको उनकी मूलियोंका संयम मानो असह्य हुआ हो, इस प्रकार वे जोर-जोरसे डोलने लगे। अब हमें डर लगने लगा कि अद्भुत रस शोकान्त बननेवाला है। पेड़ अगर उखड़ जायं और मकानकी दीवारसे मिलने आवें तो आनन्दका अतिरेक होगा।

लेकिन बादल और पवन दोनोंको एकायक संयम सूझा। पश्चिमकी ओर बादलोंका पर्दा फट गया और उसमेंसे निशीथकालका क्षीण बनता लावण्य थोड़ा-सा दिखाई दिया। पवन शांत हो गया। बिजलीका ताल भी विलम्बित हो गया। पेड़ संजीदा बनकर खड़े रहे, मानो सारा नशा उतर गया था। केवल बूंदोंने अपनी ताल चालू रखी। हमें भी लगा कि हाश! एक अद्‌भुत दृश्य देखा सही—देखा क्या, अनुभव किया। जरा-जरासे भीगे हुए कपड़ोंने भी कहा, "हां-हां, बिलकुल ठीक। हमने भी उस आनन्दका आस्वाद लिया है।"

कपड़े उतारनेकी अपेक्षा गरम रजाईके अन्दर अपने-आप उनको सूखने देनेमें ही हमको बुद्धिमानी लगी।

हममेंसे कुछ लोगोंको स्वप्नोंमें आंधीने फिरसे दर्शन दिये, उसकी जांच-पड़ताल हमने नहीं कीं। हरएककी स्वप्न-सृष्टि अलग। लेकिन वही अनुभव जब दूसरे दिन हमको हुआ तब एक-दूसरेके अनुभवकी तुलना करने जैसा कुछ नहीं रहा। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि एक रात्रिका अनुभव दूसरी रात्रिके अनुभव जैसा नहीं था। प्रकृतिकी प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी ही होती है।

हिमशिखर दो-तीन दिन अच्छी तरह दिखाई दिये और फिर ऐसे अदृश्य हो गये, मानो जो देखा वह स्वप्न ही था। जहां देखें, वहां बादलोंकी ही लीला! और उसे भी मानो महंगी बनानेके लिए बीच-बीचमे कुहरा फैल जाता।

कुहरा दो प्रकारका होता है। एक होता है उत्साहनाशक और रोनी सूरत। उसे देखनेमें मजा नहीं आता। दूसरा ऐसा होता है, मानो क्षीरसागरका विश्वदर्शन, या मानो आसमान जम गया हो और दूधिया कांच बन गया हो। वह जब फैलता है तब नजदीकके तपस्वी पेड़ ही दिखाई देते हैं। लेकिन वे सफेद कुहरेके कारण ऐसे शानदार लगते हैं कि आखें उनकी फोटो खीच लेती है। हमने ये दोनों किस्मके कुहरे देखे, किन्तु हिमशिखरोंकी लगन कम न हुई।

एक शामको रविबाबूका 'सामंजस्य' पढ़ रहा था कि किसीने कहा, "काकासाहेब, इन्द्रधनुष!"

प्रथम तो मैं पश्चिमके दरवाजेकी ओर बढ़नेवाला था, लेकिन इतनेमें ध्यान आया कि सूरज जब पश्चिममें डूब रहा है तब इन्द्रधनुष ठीक उसके सामने पूर्वकी ओर ही तना हुआ होना चाहिए। इसलिए मैं गया उत्तरी दरवाजे पर और वहां क्या देखा! इन्द्रधनुषकी कमान नहीं, किन्तु मानो एक सप्तरंगी स्तम्भ ईशान दिशाके आसमानको सहारा देनेके लिए खड़ा किया है।

सूर्यास्तके समयका इन्द्रधनुष लम्बा-चौड़ा होता है। शुद्ध पूर्व दिशा हमारे दरवाजेसे दिखती ही नहीं है, क्योंकि जिस टेकरीकी गोदमें हम बसते हैं, उसका सिर वहां आड़े आता है।

द्वार खोलकर हम बाहर गये। देखा तो इन्द्रधनुषका ज्वलन्त विजयस्तम्भ सामनेकी टेकरी और हमारे बीचकी घाटीकी तलहटी तक पहुंचा है। इन्द्रधनुष तो आसमानके बादल पर ही हो सकते हैं, इस तरहकी सामान्य मान्यता हमने कबकी छोड़ दी थी। क्या हिमालयमें और क्या असममें, इन्द्रधनुषका पट्टा टेकरीके भाल-पर फैला हुआ हमने अनेक बार देखा था।

सामनेकी घाटीमें बादलोंका झीना कुहरा फैला हुआ होनेसे सूर्यकिरणोंके सफेद रंगका पृथक्करण हो गया था और वह सारा स्तम्भघाटीकी तलहटीमें मजबूत खड़ा था। उसका ऊपरका छोर जब देखा तो वह थोड़ा दाहिनी ओर झुका हुआ था। उसके बाद ही कल्पना अनुमान कर सकी कि सारा धनुष दिखाई पड़ता तो कितना विशाल होता!

ऐसा यह इन्द्रधनुष यहां कहांसे आया? क्यों दीख पड़ा?

बादलोंको लगा होगा कि हिमशिखरोंकी सुदीर्घ श्रेणियोंका इन लोगोंको दो-तीन दिन तक दर्शन करने दिया तो अब उन्हें सप्तवर्णी शोभाका चमत्कार जरा दिखावें।

शास्त्रमें लिखा है कि यदि आप इन्द्रधनुष देखें तो उसको देखनेके लिए किसी-को निमंत्रित न करें। लेकिन हम कैसे रह सकते थे? दीपकने दौड़ते हुए जाकर दुतल्ले पर रहनेवाले भगत-कुटुम्बको इन्द्रधनुषके समाचार पहुंचाये। वे लोग देखने के लिए बाहर निकले, इतनेमें तो धनुषकी तेजस्विता कुछ फीकी पड़ गई। घाटीकी तलहटीमें धनुषका छोर अब पिघल रहा था और शायद इसीलिए, धनुषकी बांकी गरदन ज्यादा ऊंची हो गई थी। सात वर्णोंकी कीमिया ठेठ बचपनसे देखते आये हैं और धनुषके प्रकार भी कितने? ठेठ सिरपर, ठेठ पांवतले, निकलते हुए और अस्त होते हुए, धनुष और प्रतिधनुष—कल्पनाकी जा सके, उतने प्रकारके धनुष देखे हैं। और हवाई जहाजमें बैठकर, जान लेकर दौड़ते हुए इन्द्रधनुषोंको वफादारीसे हमारा साथ करते भी देखा है, और फिर भी उसका कुतूहल, उसका जादू और उसका रहस्य कम होता ही नही।

चि० सिद्धार्थ और मैं बिल्कुल एक ही आश्चर्यसे उसे देख रहे थे। उसकी आंखें भी मानो पूछती थी, "किमिदम् यक्षम्" और मेरी आंखें कहती थी, "नाहम् वेद्मि किमिदम् यक्षम् इति।"

यदि मेघधनु स्वयंभू होता तो उसका हमारी नजरके सामनेसे हट जानेका मन ही नहीं किया होता। हमारी मेहमान आंखोका आतिथ्य पूरा किये बगैर उसको सन्तोष नही होता, लेकिन मेघधनुषने दुःखित नजरसे विदा लेते हुए इतना ही कहा, "परवशो अयम् जनः।" सेवक पराधीन है, लाचार है। सूर्य भगवान हटे तो हमें भी हटना ही पड़ा। सूर्य भगवान क्षितिजके नीचे अलोप हुए और इन्द्रधनुषकी शोभा आसमानमें ऊपर-ऊपर सरकती हुई फीकी होती हुई अलोप हो गई।

ऐसे समयमें मनकी स्थिति बहुत विचित्र होती है। कैसी अद्भुत शोभा अभी-अभी दीख रही थी, और देखते-ही-देखते अलोप हो गई ! अब वह कभी नहीं दिखेगी ! देखनेकी तृप्ति, अदृश्य होनेका विस्मय और उस सारे चमत्कारकी क्षण-भंगुरता, सबका मनमें मंथन होता रहता है। यह मिश्र भावना लम्बे समय तक टिकती है, क्योंकि वह सूर्याधीन नहीं, ध्यानाधीन होती है।

मेघधनुषकी स्मृतिका रोमन्थ कब पूरा हुआ, उसका पता भी न चला और ध्यान गया सामने सदा खड़े ध्यानी वृक्षोंकी तरफ। क्या उनकी तपश्चर्या ! गरमी, वर्षा और जाड़ेमें एक ही जगह खड़े रहकर बरसात, ओले और झंझावात सहन करके इन लोगोंने तितिक्षाकी परिसीमा की है। जन्मसे मृत्यु तक और मृत्युके बाद भी देह पंचभूतमें विलीन न हो जाय तब तक उनकी तपस्या अखण्ड, अनुस्यूत चलती ही रहती है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ये वनचर तपस्वी किसी एक संकल्पको लेकर पुरश्चरण कर रहे हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये लोग कोई सजा भुगत रहे हैं। प्राणी हो या वनस्पति, अपना जीवन उसको सजारूप लगता ही नहीं। जीवनानन्द इतना स्थायी और अद्भुत होता है कि सुख-दुःख दोनों से परे जाकर वह आस्तिकताका साक्षात्कार करवाता है। गरमीकी धूप, चौमासेकी सतत नमी और जाड़ेकी चमड़ी फाड़ डालनेवाली ठंड, ये लोग हर साल सहन करते हैं, ऐसा कहें या उनका मजा लेते हैं, कहें ?

पेड़ तो जवाब देंगे नहीं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' इस न्यायसे हमें अपने-आपसे ही पूछना चाहिए। हम बीमार न हों तो हम छहों ऋतुओंका आनन्द लेते हैं। बाल्य, यौवन और वार्धक्य तीनोंमें जीवनकी समृद्धि हमें कृतार्थ करती है। तब इन वृक्षोंकी अनुभूति हमसे अलग क्यों हो ? हम अपनी भावनाओंको बोलकर व्यक्त करते हैं, मुखचर्या पर उन्हें व्यक्त करते हैं। पेड़ोंको भी ये सभी भावनाएं होती हैं। फरक इतना ही है कि हम उन्हें व्यक्त करते हैं। सहानुभूतिसे वनस्पतियोंके साथ तादात्म्य अनुभव करनेवाले ऋषियोंने कहा है—"अंतः संज्ञा भवन्त्येते।" उनकी संज्ञा और भावनाओंका प्रवाह अंदर-ही-अंदर होता है।

५. प्रकृतिका सान्निध्य

ये पेड़-पत्ते, ये बादल और कुहरा तथा ये बर्फके शिखर—इनसे मेरा क्या लेना-देना ? उनके दर्शन और सहवासके लिए मैं क्यों तरसता हूं ? इन पहाड़ोंको देखनेसे क्या मिलता है ?

ऐसे विचार अथवा आशंकाएं मेरे मनमें कदापि नहीं उठीं। लेकिन कई व्यवहार-कुशल लोगोंने इन्हीं शब्दोंमें मुझसे पूछा है। इतना ही नहीं, लेकिन

जाहिरमें, भले ही सज्जनता और सौम्यतामे, मेरी आलोचना भी की है। "काका साहब जैसे गंभीर पुरुष, विचारक और नेता अफ्रीकाके जंगलोंमें वहाके जानवर देखनेके लिए क्यों घूमे होंगे? जान जोखिममें डालते हैं, यह तो है ही, लेकिन जिंदगीके कीमती दिन इस तरह बरबाद करते हैं। इतना ही नहीं, इस धुनका व्यवस्थित उत्साहपूर्ण वर्णन करते हुए किताबें भी लिखते है, यह कुछ समझमे नहीं आता।" इस तरह एक-दो स्नेहियोंने कहा भी है और लिखा भी है।

उनको क्या जवाब दूं? मैंने तो इतना ही कहा कि असलमें मैं इन पेड़-पत्तों और पशु-पक्षियोंमेंसे ही एक प्राणी हूं। भूलसे ही आप लोगोंकी सयानी दुनियामें आ गया हूं। इसलिए कभी-कभी मेरे अपने जंगलके वातावरणके लिए, प्राकृतिक परिस्थितिके लिए तरसता हूं और वह जब असह्य होता है तब अपने यहां हो आता हूं।

वास्तवमें हम सब प्रकृतिके बालक हैं। शहरी जीवन और कृत्रिम दुनिया बडी करके हम प्रकृतिमे बिछुड़ गये हैं, अन्यथा पेड-पौधोंके बिना हमसे रहा ही नही जाता। शहरमें बालिश्त-भर जमीनमें कृत्रिम बगीचा बनाकर दो-चार पौधे उगाकर, हम मानते हैं कि कुदरतके साथ हमने मेल साध लिया। यह तो सवा रुपया या चार आने ब्राह्मणको देकर गोदानका समाधान मानने जैसा हुआ! भव्य कुदरतके बीच जब हम बालक जैसे दिखाई दें तभी कहा जा सकता है कि हमने कुदरतके साथ संपर्क साधा।

किसी पहाड़के शिखर पर खड़ा रहकर जब एक ओर असंख्य शिखरोंके अनेक वृन्द मै देखता हूं और दूसरी ओर नीचे मैदानका सुदीर्घ विस्तार और उसके अन्दर चमकती दो-तीन नदियोंके मोड़की रेखाएं देखता हूं, तब यह विचार उठनेसे कि मैं कितनी विशाल दुनियाका बाशिन्दा हूं, जीवन यथायोग्य लगता है और मै एक तरहकी कृतार्थता अनुभव करता हूं।

अपरिचयकी भड़क मिटनेके बाद पेड़ और उनके पत्ते मेरे साथ बातें करते हैं, और विश्वासपूर्वक अपने सुख-दुखकी गाथाएं पेश करते है। पशु-पक्षी भी मुझे एक क्षणके लिए दुश्मनके तौर पर देखनेके बाद मेरी आंखोंमें मानवता—नही, मानवता नहीं, लेकिन आत्मीयता देखते हैं। (मानवताके हमारे ऊंचे-ऊंचे आदर्श पशु-पक्षी नहीं जानते, क्योंकि मानव-जातिका उनका अनुभव बहुत कड़वा है। हम जैसे 'हैवानियत' शब्द तिरस्कारके साथ इस्तेमाल करते हैं, वैसे ही पशु-पक्षी 'आदमियत' शब्द इस्तेमाल करते होंगे और उसमें अपना सारा कड़ुवा अनुभव और उसमेंसे इकट्ठा हुई सारी चिढ़ व्यक्त करते होंगे! कुछ पाले हुए कुत्ते या पक्षियोंको स्वजन-द्रोह करते देख वे कहते होगे कि क्या करें, पशु तो पशु ही हैं, और पक्षी, पक्षी। लेकिन आदमियतका रंग लगनेसे वे बिगड़ गये है।)

एक जमाना था जब देहातके और जंगलके पशुओंके साथ अपनी आत्मीयता

मैं ज्यादा महसूस करता था। जब सिंहगढ़ पर रहता था तब पक्षी मुझे अपनाते थे और मेरे बारेमें उनका विश्वास देख मुझे धन्यता महसूस होती थी।

हिमालयमें कभी-कभी नाटे बने हुए मनुष्योंको और जानवरोंको देखकर दुःख होता है, और उनका सारा विषम जीवन-क्रम मेरी नजरके सामनेसे गुजरता है। लेकिन वह तो उनको देखता हूं तबतक ही। बाकी समय तो पेड़-पत्तोंसे और उनके बीचसे रास्ता निकालनेवाले झरनोंमे अपनी आत्मीयता जागती है, और फिर जीवनका विचार करते वर्षोंकी गिनती नहीं, बल्कि शताब्दियोंकी गिनती चलती है। देहरादूनके पास गुच्छूपानी और सहस्रधारा देखने गया था, वे प्रसंग किसी तरह भुलाये नहीं जा सकते। हजारों सालोंका उनका चरित्र समझनेका प्रयत्न करते मुझे मुश्किल नहीं होती, और वहांके अनेक बिन्दीवाले पत्थरोंको हाथमें लेते ही भूस्तर विद्याकी मददसे उनकी जन्म-कथाके साथ भी मैं समरस होता था।

पांच हजार और सात हजार फुटकी ऊंचाई पर मसूरीमें आनेके बाद लगता है कि यहांके जंगलों पर साम्राज्यका उपभोग करनेवाले बादल ही मेरे बराबरिये हैं। कभी-कभी एकाध पक्षीको एक पहाड़से दूसरे पहाड़ तककी घाटी लांघकर जाते हुए देख मुझे भी हुआ है कि पक्षी होकर नहीं, लेकिन बादल होकर इन शिखरोंके बीचमें व्योम-विहार जरूर करूं!

'विस्तार' मेरा अत्यन्त प्रिय शब्द है। कभी विस्तार शब्दके साथ रेतके रेगिस्तान नजरके सामने विस्तीर्ण होते हैं। कभी वह विस्तार रेगिस्तानकी रेत में पड़े रहनेसे इनकार करता है, और जहाजमें बैठकर चारों और फैले हुए विशाल सागरकी लहरोंके ताण्डव नृत्यके साथ सागर-गर्जन करता है। कभी वही शब्द मुझे तुंगनाथ जैसे गिरिशिखर पर ले जाकर आसपासकी दुनिया कितनी खुरदरी और दुर्गम है और इसीलिए पुरुषार्थके लिए कितना भव्य क्षेत्र है, उसका साक्षात्कार करवाता है, और कभी सूचित करता है कि चलो, इस बाहरकी दुनियाको जैसी है वैसी रहने देकर चित्तकी गहराईमें गोता लगाकर, वह दुनिया कितनी चौड़ी और गम्भीर (गहरी) है, इसका अन्दाज करें।

उस गोतेसे प्रथम उत्साह खूब बढ़ा और बादमें धीरज खूटी, घबराहटसे पसीना आ गया, तब विस्तार शब्द कहने लगा, "हम हारे नहीं हैं। निकलो बाहर। हम पृथ्वीके वातावरणसे बाहर जाकर, सितारोंके बीच, आकाश गंगाके तट पर विहार करेंगे। आधुनिक ज्योतिषशास्त्रका परिचय तूने किया है, इसलिए इस अनन्त विषयका तू जानकार हुआ। जब तक मेरे पास कल्पना-शक्ति है तबतक तुझे अपने लिए स्पूतनिक खरीदनेकी जरूरत नहीं है। तू किसी भी आकाश-यात्रीका साथी हो सकता है।" विस्तार शब्दकी इस सूचनाका स्वीकार करके मैं गगनविहार करने लगा। उतनेमें विस्तार शब्द अपनी जादुई (तिलस्माती) लकड़ी घुमाकर कहता है, "अब तू काल भगवानके साम्राज्यमें आ पहुंचा है। अनन्त भूतकाल

और अनन्त भविष्यकालके बीच वर्तमानकालकी सारी दुनिया एक बिन्दुके समान है।" यह विश्व कहांसे आया और कहा जायेगा, उसका विचार करते-करते स्थल-काल अपना स्वरूप खो बैठते हैं और वही विस्तार शब्द हमें चिदाकाशमे ले जाकर कहता है, "यहां तो सिर्फ आत्मतत्त्वका घनीभूत विस्तार है। मैं शब्द हूं, लेकिन श्रवणगोचर नहीं हूं। शब्द ही आत्मा है।" यहा विस्तारका अर्थ भी बदलता है। समझ, साक्षात्कार और अद्वैतकी अनुभूति, यह सारा एक ही है और अनन्त है। विस्तारका यह साक्षात्कार होनेके बाद शांति और अशाति ऐसा भेद भी नही रहता। अद्भुततामें ही समाधान और स्वास्थ्य मिलता है।

सा काष्ठा सा परा गतिः।

इन चिर हिमशिखरोंमें यह सब सूचन करनेकी शक्ति है, इसीलिए उनके दर्शनको तरसता हूं। ये बादल देखने-ही-देखते अपना आकार, अपना स्वरूप — अरे, अपना गठन भी बदलते रहते हैं और फिर भी वह वही-का-वही तत्त्व है। जिन बादलोंका चिंतन ध्यानमे कितना सहायक है, उसका ख्याल बिना अनुभवके नही आयेगा। "यो वै भूमा तत् सुखम् नाल्पे सुखम् अस्ति," ऐसा कहकर बादल आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दशों दिशाओंमें दौड़ते हैं, फूलते हैं और पिघल जाते है। क्षणमे सफेद, क्षणमें नीले, क्षणमे श्याम और क्षणमें वर्णविहीन! ये बादल कहते है, "परिवर्तनसे न अकुलाना हमारा व्रत है। परिवर्तनका आनन्द लेना और बादमे उससे परे होना ही हमारी जीवन-साधना है," यह कहते-कहते ये बादल बारिश बन गये और उन्होंने हमें नखशिखान्त भिगो दिया और फिर उन्होंने कहा, "तेरी निर्झरिणीमे मसी यानी स्याही हो तो यह सब लिख डालना। स्वधर्म पालनका तुझे समाधान मिलेगा।" बादलका समाधान बारिशमे और मनुष्यके चिंतनका समाधान लेखनमें है, क्योंकि मनुष्य जानता है कि उसके समानधर्मी पृथ्वी पर सब जगह फैले हैं और कालके उदरमे जन्म लेनेकी राह देखते है। उनके साथ सम्पर्क-साधनका एकमात्र साधन यह जमे हुए शब्द ही हैं। उनका वैभव कुछ कम नही है।

६. ईश्वरकी प्रकृति और आध्यात्मिक संस्कृति

हम यहां साततालमें ईसाइयोंके एक आश्रममें चार-पांच दिन रहनेके लिए आये हैं। इस स्थानका नाम है सातताल आश्रम, क्योंकि इसके आसपास, छोटे-बड़े, सुन्दर सात तालाब हैं। यह सारा प्रदेश कुमाऊं (कूर्मांचल) कहलाता है। लेकिन इसका पुराना दूसरा नाम है षष्टिखात, क्योंकि इस प्रदेशमें दस-बीस नहीं, साठ अच्छे-अच्छे सरोवर हैं।

साततास आश्रमके पांवके पास जो छोटा सरोवर है, उसका नाम रखा है पन्नालाल। (सफेद रत्नको हीरा कहते हैं, लाल रत्नको माणिक और हरे रत्न को पन्ना अथवा पाचु), और सचमुच इस तालाबका पानी आसपासके पेड़ोंसे कम गहरा हरा नहीं है। इस तालाबके किनारे रोज शामको ईसाई प्रार्थना होती है। हम भी उसमें शरीक होते हैं। आश्रमकी जमीनके किनारे दो तालाब हैं। लोगोंने उनको नाम दिये हैं—रामताल और सीताताल। मैं नही मानता कि राम और सीता जब यहां आये होंगे, अलग-अलग तालाबमें नहाते होंगे। लेकिन लोगों को दो नाम चाहिए थे। राम और सीतासे बढ़कर पवित्र नाम कहां और कैसे मिलते? रामायणके महाकवि वाल्मीकिने सरोवरके पानीका वर्णन करते समय कहा है, "यहांका पानी सज्जनोंके मनके जैसा पवित्र और पारदर्शक है। जब हवा नही चलती और पानी शांत होता है, तब तालाबके अन्दरके सारे पत्थर स्पष्ट दीख पड़ते हैं।"

लेकिन आज साततालके बारेमें ज्यादा नही लिखूंगा। आज लिखना है नैनीतालके बारेमे, जो बड़ा सरोवर पचास बरस पहले मैंने कई बार देखा था।

भारत सरकारने मुख्य-मुख्य पहाड़ी रास्ते बड़े सुन्दर बनाये हैं। वाहनोंको बचानेके लिए रास्तेके किनारे जो छोटी दीवारें बीच-बीचमें खड़ी की जाती हैं, उनके सफेद रंग पर बीच-बीचमें लाल, पीले, हरे, नीले पट्टोंकी शोभा बनायी है। कही-कही रंगीन पत्थर भी खूबीसे बिठाये हैं। जगह-जगह लिखा भी है "सावधान", "धीरे चलाइये", "जान बचाना अच्छा ही है", इत्यादि। यह सब देखकर किन्ही धर्मात्मा लोगोंने उपदेश वचन भी लिखे हैं—"बीड़ी मत पीओ।" "शराब मत पीओ।"

हम तो ऊंचे-ऊचे पहाड़ोंकी और उनके पेड़ोंकी शोभा पीते-पीते (जिसके लिए कोई मनाही नही थी!) नैनी पहुंचे।

नैनीतालके दर्शन करते ही मुझे एकसाथ बड़ा आनन्द हुआ और कुछ दुःख भी हुआ। अर्धचन्द्राकार तालाबकी शोभा अद्‌भुत थी। आसपासके सुन्दर-सुन्दर मकानोंकी बहुतायत भी प्रसन्नता बढ़ाने वाली थी। यहांकी नगरपालिकाने शहरका इन्तज़ाम अच्छा रखा है। सचमुच नैनीताल उत्तरप्रदेशकी सौदर्य-नगरी है।

लेकिन पचास वर्ष पहले जो नैनीताल हमने देखा था, वह यह नहीं था। उस नैनीतालकी शांति, पवित्रता और प्राकृतिक सादगी अब कहांसे दीखेगी? उन दिनों इतनी भीड़ नही थी। आसपासके पहाड़ोंके ऊपर जाकर विशाल हिमालयका भव्य वैभव देखते मनुष्य-सृष्टिको भूल जाना उन दिनों आसान था। अब तो यह जगह न रही ध्यानभूमि, न योगभूमि। अब तो यह भोग और विलास की वैभवभूमि बन गई है।

मोटर छोड़कर हम पैदल चलने लगे। दोपहरके ग्यारह बजेका समय था।

तालाबकी ठंडी हवा और ऊपरसे चुभनेवाली धूपका आनन्द लेनेके लिए सैकड़ों लोग रास्तेसे जा रहे थे। उनमें हम भी शरीक हुए। थोड़ा काम पूरा करके हमने नौका-विहार करनेकी ठानी। रास्तेसे नीचे उतरे। वहां कई लड़के-लड़कियां मकईके ताजे-ताजे भुट्टे अंगीठी पर सिकवाकर खानेका आनन्द ले रहे थे। दूर-दूर सरोवरके अन्दर किश्तियां घूम रही थी। सफेद-सफेद बतखें भी जल-विहार कर रही थी और सफेद पालवाली पांच-दस नौकाएं हवाकी मददसे दौड़ रही थी। हवा जोरसे आते ही किश्ती ऐसी एक बाजू ढल जाती और डर लगता था—अब लुढ़क जायगी।

हमने एक किश्ती किराये पर ले ली। बैठते-बैठते याद आया कि आज पंडित जवाहरलालजी की पुण्य-तिथि है। वे भी पानीमें तैरनेके, किश्तियां चलानेके और लहरों पर सवार होनेके शौकीन थे।

हम किश्तीमे बैठकर थोड़ी दूर गये तो सरोजसे रहा न गया। उसने मल्लाहसे कहा, "मुझे भी किश्ती चलानी है। दो डाड़ोंको लगा दीजिए।" मुझे पूनाके दिन याद आये जब चि० सरोजका नया-नया परिचय था और वह मुझे बंड गार्डनके पास नौका-विहारके लिए ले जाती थी। तब भी मैने देखा था कि सरोज नौका चलानेकी कलामे प्रवीण है।

हम चले। मल्लाहसे हमने कहा, "आराममे चलो। हम शोभा देखते-देखते जायगे।"

दोनों बाजू—अथवा चारों बाजू—ऊंचे-ऊंचे पहाड़, तीन बाजू पर पेड़ोंकी घनी बस्ती। और एक बाजू—जहां पहाड़का शिखर ऊंचा है और ठंडी हवा जोरोंसे शिखरको पीटती रहती है, वहां पेड़ उगनेकी हिम्मत नही करते। हवाके कारण नैनीतालका जल इतना चंचल था कि पहाड़ोंका प्रतिबिम्ब उसमें देखनेका सवाल ही नही था। यह सारा प्राकृतिक दृश्य देखकर मैं अन्तर्मुख हो गया, लेकिन मैने आंखें मूंदी नही थी। अब नैनीतालकी आधुनिक शोभा देखते-देखते गायब हो गयी। मनुष्यबस्तीको भी मैं भूल गया। केवल उत्तुग पहाड़ और विमलतम जलराशि और ऊपरका नीला आकाश—इतना ही रह गया, यानी अंतर्मुख और बहिर्मुख ऐसा भेद ही नष्ट हो गया। प्रकृतिमाता और सर्जनहार दोनों एक होकर जब अपना अद्भुत-भव्य दर्शन देनेको कृपावन्त हुए तब भेदके लिए अवकाश ही कहां!

इतनेमें चि० सरोजने धीरेसे कहा "यहां आप ईशोपनिषद् नहीं गायेंगे?" मानो मेरे हृदयानंदको ही वाचा मिली। भावमें आकर मैंने देखा तो हम सरोवरके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक आ पहुंचे हैं। मैंने कहा, 'मल्लाह, किश्ती घुमा ले, फिर तो सरोवरके शैत्यपावनत्वको ऋषिवाणीके आत्मस्तोत्रसे भर देंगे। प्रकृतिके साथ और जगदीश्वरके साथ ऐक्य अनुभव करते जगतका सारा विषाद हम

भूल जायंगे। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वं अनुपश्यतः। यहां हम सचमुच खुली आंख एकत्वको देख रहे हैं।'

किश्ती धीरे-धीरे चली। आसपासके पहाड़ ईशोपनिषदके मंत्र कान देकर सुनने लगे।

सिर पर सूर्य भगवान अपनी कृपाकिरण बरसा रहे थे और मैं गा रहा था—पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य, व्यूह रश्मीन्। इत्यादि।

नौकाविहारसे संतोष हुआ। ध्यानविहारका नया आनन्द मिला और वह आनन्द ईशोपनिषद् के भक्तोंको बांट सका, इसकी धन्यता हुई।

७. हिमशिखरोंका दर्शनानन्द

बादलोंमें फटे हुए बादल बड़े सुहावने लगते हैं। बादलोंके पुंजोंके ढेर जब बनते हैं तब तो वे बर्फके पहाड़ोंके जैसे भव्य और स्वर्गीय दीख पड़ते हैं लेकिन घने बादल शायद ही विशेष शोभास्पद होते हैं।

हिमाच्छादित शिखरोंका ऐसा नहीं है। हिमाच्छादित शिखर कैसे भी हों, चित्तको आकर्षित करते ही हैं।

यह लिख रहा हूँ तब पिछले चालीस बरसमें देखे हुए तीन खण्डोंके हिम-शिखरोंके स्मृति-चित्र नजरके सामने ला रहा हूं। एक भी शिखर ऐसा याद नहीं आता जिसकी शोभा अलोनी दीख पड़ी हो।

हिमशिखर सबसे पहले देखे काठगोदामसे अलमोड़ा जानेके रास्तेमें। बचपनमें पहली बार समुद्र देखकर जैसा अचम्भा मुझे हुआ था वैसा ही नन्दादेवी और नन्दाकोटाके शिखर देखकर हुआ था।

इसका कारण यह था कि ये धवल शिखर पहाड़के ही हिस्सेके रूपमें नहीं दीख पड़ते थे। शिखर इतने ऊंचे थे कि नारंगी रंगके बादल कुछ नीचे शिखरोंको घेरे हुए थे। इसलिए ऐसा ही लगता था कि ये हिमगिरिशिखर आकाशमें उड़ रहे हैं। और इनका पृथ्वीके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं। शिखरोंकी ऊपरकी किनारी नीले बादलोंके पृष्ठभाग पर ऐसी रेखीव थी कि वही इन शिखरोंकी सबसे अच्छी शोभा थी। शिखरोंका नीचेका भाग भी करीब-करीब बर्फाच्छादित ही था लेकिन कहीं-कहीं पहाड़का भाग खुला होनेसे काले श्याम वर्णकी शोभा बढ़ाता था।

विशालकाय सफेद-सफेद शिखर देखकर ही मैं तृप्त और मस्त हुआ था। लेकिन देखा कि वे भव्य पहाड़ भी अपने ढंगका नखरा कर सकते हैं। जब सूरज पश्चिमकी ओर ढल पड़ा तब शिखरोंके रंग कुछ फीके पीलेसे हो गये। अब वे पहलेसे ज्यादा मोहक दीखने लगे।

जब पीला रंग कुछ बढ़ा तब मनमें आया कि चम्मच लेकर शिखरोंके इस पीले रंगको पेट भरके खा लेना चाहिये।

कला-मीमांसाका एक सिद्धान्त है कि कलात्मक आनन्द तटस्थ ही रहना चाहिए। जो भोगरूप है वह कलात्मक नहीं है। जब विदूषकने चन्द्रको खण्ड-मोदककी उपमा दी तब राजाने उसकी हीन कला-रसिकताको कोसते हुए कहा, पेटू आदमीको हमेशा खानेकी बात ही सूझती है।

मैं भी शरमाया कि चिरशान्तिको व्यक्त करनेवाले ऐसे पीले शिखरको देखकर मुझे चम्मचसे उसे खानेकी बात क्यों सूझी? 'सर्वत्र औदरिकस्य अभ्यवहार्यम् एव विषयः।' मैंने उस नीरस कल्पनाको मनसे हटा दिया और यह देखने लगा कि बादलोंके रंग पीलेसे सुनहरे कैसे बनते हैं।

उसके बाद शिखर परके बर्फके रंग देखते-देखते ऐसे कुछ बदलने लगे कि एक क्षणके लिए भी नजर उन परसे हटाना कोई अजीब सुन्दरता खोने जैसा था।

और कितना आश्चर्य कि इतनी विलक्षण चंचलताका प्रत्यक्ष साक्षात्कार होते हुए भी पहाड़के चेहरे परकी गम्भीरता यत्किंचित् भी नष्ट नहीं होती थी।

फिर तो जब हम अलमोड़ा पहुंचे तब नन्दादेवी, नन्दाकोटा शिखरोंका दर्शन रोज-रोज होने लगा। वे शिखर अब दुर्लभ या सुदुर्दर्श नहीं रहे। और अलमोड़ामें रहनेवाले लोगोंके जैसा इन शिखरोंके साथ हमारा अतिपरिचय भी नहीं हुआ था। इसलिए बार-बार उनकी तरफ देखनेकी इच्छा तो रहती ही थी।

अलमोड़ामें कुछ दिन रहकर हम उत्तराखण्डकी यात्राके लिये निकले। फिर तो पूछना ही क्या? गंगोत्री, जमनोत्री, केदारनाथ, तुंगनाथ, बदरीनाथ आदि प्रदेशोंके शिखर नित्य परिचयके हो गये। इनमें मुझे विशेष आकर्षण होता था त्रिशूल शिखरका। उसका गौरव और शिखरोंसे कुछ अलग ही है।

इन सब अनुभवोंको गौण बनानेवाले एक-दो नजारे हमने देखे। लेकिन याद नहीं वे कहाँ-कहाँसे देखे थे। हम बहुत ऊंचे शिखर पर पहुंच गये हैं और आसपास दूर-दूर तक छोटे-मोटे शिखरोंका एक मिलाजुला सम्मेलन हुआ है और सब सदस्य मिलकर कोई सनातन या गम्भीर चर्चामें निमग्न हैं। ऐसा देखकर दस-बीस बरससे अधिक कार्यक्रमका ख्याल ही नहीं करनेवाले मानवी सम्मेलनोंकी तुच्छता ध्यानमें आ सकी।

एक जगह खड़े रहनेपर हिमालयके अनेकानेक शिखरोंकी एक पंक्ति उत्तरकी ओर जब प्रकट होती है तब उसकी शोभा और उसकी भव्यता तो अवर्णनीय है ही। लेकिन इससे भी अधिक ऊंचे जाकर जब नजरके सामने बीस-पचीस मीलके प्रदेशोंमें शिखरोंका बैठा हुआ सम्मेलन दीख पड़ता है तब वह भव्यता गौण होती है और विराट् विस्तारकी समृद्धि ही हृदयको दबा देती है।

हिमालयके इस दर्शनका कुछ थोड़ा-सा आभास मुझे तब मिला जब मैं यूरोप-

में हवाई जहाजमें सफ़र करते आल्पस् पर्वतके विस्तारको कभी दाहिनी ओर तो कभी बाईं ओर देख सका। एक दफे रोमसे स्विट्‌जरलैंड जाते और दूसरी दफे उसी इटलीकी राजधानीसे जर्मनी जाते आल्पस्‌के अनेकानेक शिखरोंका निर्मेघ दर्शन करनेका अहोभाग्य मिल सका था लेकिन उसका वर्णन तो कभी दूसरे समय ही करना चाहिये।

जब मैं रावलपिंडीसे श्रीनगर पैदल गया तब हरमुख पर्वत और नंगा पर्वत जैसे पहाड़ोंके शिखर देख सका था। लेकिन न जाने क्यों, गंगोत्री जमनोत्रीकी ओर हिमाच्छादित शिखरोंमें गेरुआ रंगकी शोभा देखनेको मिलती थी वैसी काश्मीरमें मुझे न मिली। काश्मीरकी यात्रामें शिशनाग, अमरनाथके सुधाधवल पहाड़ ही अब कुछ याद हैं।

काश्मीरसे पीरपुंजाल और जम्मूके रास्ते लौटनेके बाद मैंने गंगामैयाकी गोद-में पुरश्चरणमें दिन बिताये। और ध्यान-चिंतनका कुछ अभ्यास किया। लेकिन हिमालय-दर्शनकी लालसा कैसे छूट सकती थी? हम नेपाल गये। अब आखें हिमालयके दृश्यकी इतनी आदी बन गई थीं कि कहीं मैदान दीख पड़े या उपत्यका का दर्शन हो जाय तो आश्चर्य होता था। शिखर तो हमारे साथी थे ही। चन्द्रा-गिरिके पहाड़ परसे जो विशाल पहाड़ दीख पड़े उनका इतना स्मरण नही जितना काठमांडू, भादगांव और ललितपट्टन जैसे छोटे और सुन्दर पहाड़ी शहरोंको गोदमें लिये बैठी नेपालकी उपत्यकाका स्मरण है।

हिमालयके बर्फीले पहाड़ोंका यह जो एक सिरेसे दूसरे सिरे तक दर्शन हुआ उनका स्मरण और उस अनुभवका रोमंथ बरसों तक चला और जिस तरह आसव पुराने होनेपर ज्यादा स्वादिष्ट बनते हैं वैसे ही हिमशिखरोंका दर्शन स्मृतिकी कोठीमें अधिकाधिक काव्यमय होने लगा।

आसवोंकी उपमा तो मैंने दी, लेकिन उनके स्वादका प्रत्यक्ष अनुभव नही है और हिमालयके हिमशिखरोंका दर्शन, चिंतन और मनन इतना गहरा है कि उसके लिये उपमाकी जरूरत ही नही थी और आसवोंकी उपमा तो हीनोपमा ही हे।

हिमालयके सुधाधवल शिखरोंका फिरसे आकंठ दर्शन हुआ जब मैं करमियाग दार्जिलिंग और कालिम्पांग के दर्शनके लिये गया था।

असम प्रान्तकी ग्रीष्म राजधानी शिलांगके इर्दगिर्द घूमते बर्फाच्छादित शिखरोंके दर्शन अनेक बार किये हैं। लेकिन उनमें हिमाकरका इतना वैपुल्य नही जितना उत्तराखण्डमें, काश्मीरमें या नेपालकी ओर पाया जाता है।

इसके बाद जब मैं एक बार नैनीताल अलमोड़ा होकर कौसानी गया था, तब वहांसे उत्तरकी ओर हिमालयकी जो सुदीर्घ, प्रदीर्घ, अनवरत शिखरमाला दीख पड़ती है, उसका दर्शन मैंने महात्माजीकी आंखोंसे किया। कौसानी रहते अपना गीताका अनुवाद पूरा करते महात्माजी उस दृश्यसे इतने प्रभावित हुए थे

कि जिन्दगीमें पहली बार उन्होंने अपना निश्चित कार्यक्रम तोड़कर कौसानीमें ही कुछ दिन व्यतीत करनेका निश्चय किया।

कौसानीमें हमें शिखरोंका दर्शन अखण्ड या सतत नही होता था। बीच-बीच में बादल आकर सारे दृश्य पर अपना परदा फैला देते थे और बीचमें हम पर दया लाकर सारा दृश्य हमारे लिये खुला कर देते थे। इनमें भी रंगकी शोभा तो घड़ी-घड़ीमें बदलती ही थी और उसके साथ हमारे हृदयके भाव भी पलट जाते थे। मैं नही मानता कि ध्यानी साधु इन शिखरों पर संयम करके चिरकाल तक एकाग्र होकर ध्यान कर सकते हों। ये शिखर हैं अत्यन्त शीतल। उनका दर्शन भी उपशम-प्रेरक शान्त-शीतल ही है। लेकिन एक तो इनका दर्शन अभीक्ष्ण निरन्तर नही हो सकता और जब होता है तब ऐसे उत्कट और जीवन-समृद्ध भावोंको वे जागृत करते है कि उनका दर्शन ध्यानके लिए नही किन्तु कविकी प्रतिभाके लिए ही पोषक है। जिस तरह एकरूप बादलोमे भी अनन्त और अखूट विविधता भरी रहती है, उसी तरह इन कर्पूरगौर हिमशिखरोंमे भी केवल आकृतिकी नही, रंगों-की छटाकी ही नही किन्तु भावोत्कटताकी भी अमर्याद विविधता होती है। जीवन-के विविध और समृद्ध अनुभवोंको जागृत करके उनका नवनीत निकालनेके लिए इन शिखरोका दर्शन, स्मरण और चिंतन हर तरहसे उपकारक है।

हिमालयमे सबसे ऊचे शिखर एवरेस्ट, गौरीशंकर, कांचनजंगा आदि सारी दुनियामे मशहूर है। इनके बारेमें प्रवास-रसिक लोगोंने लिखते अपना हृदय उंडेल दिया है। जब मैं अपने स्नेही श्री आपासाहेब पंतसे मिलनेके लिए सिक्किमकी राजधानी गंगटोक गया था तब रोज सुबह एक पेड़के नीचे अपनी जोड़िया दूरबीन लेकर कांचनजंगाका दर्शन करने घण्टों बैठता था। दुपहरको सारा दृश्य बादलोसे भर जाता था। केवल सुबहको ही चन्द घण्टोंके लिए सूर्योदयके शुभ मुहूर्त पर मैं पंच-हिमाकरका दर्शन कर सकता था। कांचनजंगा यह तिब्बती नाम है। पंच-हिमाकर यह है मेरा किया हुआ उसका अनुवाद। पंच-हिमाकरके बारे में मैंने सिक्किमसे लौटते 'मंगल प्रभात' में लिखा ही है। लेकिन पंचहिमाकरके ध्यानमे जो जीवनानन्द मिला और जीवन-समृद्धि हासिल की उसका वर्णन शब्दोंमे हो ही नही सकता। गूढ़ बातोंका वाणीसे थोड़ा कुछ सूचन हो सकता है और गूढ़ बातें वाणीमें पूरी-पूरी व्यक्त हो नही सकती, उसका असन्तोष भी हम अनुभव कर सकते हैं। जब उत्कट अनुभव वाणीसे व्यक्त नही होता तब उस पराजयसे होने वाला हार्दिक दुःख भी एक तरहसे आनन्द-प्रेरक ही होता है।

अभी-अभी दो दिनके लिए पठानकोट गया था। पंजाबकी गर्मीका काफी अनुभव हो रहा था और ऐसे वायुमण्डलमे और उबलते हुए वातावरणमें हिमालय-के बर्फाच्छादित शिखर दाहिनी ओर, और बाई ओर सामने फैले हुए देख सका था। समय दोपहरका था। हवा उष्माबिरल थी और पहाड़के शिखर अपने सफेद

रंगमें कभी बकुलकी, कभी हाथीदांतकी और कभी अस्पष्ट गेरुआ रंगकी खूबियां बताते थे।

कुछ भी हो बर्फाच्छादित शिखर अनन्तकालसे अनन्त वैभव दिखाते हुए जीवनानन्द और वैराग्यानन्द दोनोंका शांत शीतल समन्वय करते ही आये हैं और श्रद्धा कहती है कि मानवी संस्कृति कैसा भी रूप धारण करे, ये हिमाच्छादित शिखर अपना यह दीक्षाकार्य सतत करते ही रहेंगे।

८. हिमालयके तीन आनंद

प्रिय बहन,

'हिमालयका प्रवास' पढ़कर आपको हिमालयकी यात्रा करनेका सूझा, इसका मुझे संतोष है। वह किताब लिखनेमें मेरा उद्देश्य यही था कि हिमालयकी भव्यता और पवित्रताका असर पाठकोंके मन पर हो और केवल साहित्यके रससे संतोष न मानकर वे यात्रानंद, दर्शनानंद और ध्यानानंदकी ओर मुड़ें।

आप लिखती हैं कि मेरी किताबसे आपको हिमालयकी ओर देखनेकी एक विशेप दृष्टि मिली। पढकर मुझे विशेष संतोष हुआ। सच कहूं तो वह दृष्टि मेरी नहीं किंतु अनेक युगके भारतीयोंकी वह सम्मिलित भक्ति-दृष्टि है। इस भक्तिमें कविका हृदय अपना काम करता ही है। साथ-साथ सर्वत्र अभेद याने ऐक्य देखनेवाले वेदांती ऋषिकी तत्त्वदृष्टि भी उसमें अपना काम करती है। महाभारतका विष्णुसहस्रनाम जिसने लिखा उसने भगवानके नामोंका प्रारंभ ही 'विश्व' से किया है। हम अपनी छोटीसी दो आंखोंमें कितने बड़े विशाल विश्वको समा सकते हैं! स्मृति कहती है कि इस वक्त जितना देख रहे हो उसके साथ आज तक जितना देख लिया उसे भी मिला लो। विश्वके मानी ही हैं सबका संग्रह, सबका स्वीकार।

लेकिन हम केवल बाह्य सृष्टिको देखकर संतुष्ट कैसे हों! हमारे मनके अन्दरकी सृष्टि क्या कुछ कम है?

और कल्पना तो कहती है, मेरे लिए बाह्य-सृष्टि और आंतर-सृष्टि ऐसा भेद है नहीं। मैं दोनोंको एकरूपसे ही देखती हूं।

कल्पनाके तुरंत बाद आती है ध्यानकी समाधि-भावना। वह कहती है कि विश्वके अंदर तो विष्णु भरा हुआ है। वह अंदर भी है और बाहर भी है। हमारा व्यक्तिगत जीवन और विश्वका विराट् जीवन जहां एक होते हैं वहीं विश्वका स्वामी प्रकट होता है और वह बताता है कि इस ऐक्यका अनुभव करनेके लिए व्यापक जीवन जीना चाहिये। व्यक्तिगत आशा-आकांक्षा छोड़कर सबके साथ एकताका अनुभव करना चाहिये। इस तरहके 'छोडने' में ही जो आनंद है उसीको

ऋषिने कहा है त्यक्तेन भुजीथा:। यही भावना सहस्त्रनामका जो तीसरा नाम है 'वषट्कार' उससे व्यक्त होती है। "विश्व, विष्णुर्, वषट्कारो।"

घरबार छोडकर अथवा भूलकर जब हम हिमालयमे घूमते है तब हमे विशालताके साथ एकताका थोडा-थोडा अनुभव होता है और उसकी मस्ती ही एक अनोखा आनद देती है।

हिमालयका यात्रानद और दर्शनानंद तो उस किताबमे मैने दिया है। ध्याना-नदका जिक्र कही आया हो तो आया हो। मैने जानबूझकर उम इस किताबमे आने नही दिया। मुझे तो सामान्य पाठकोको काव्यानदके भव्यानदकी ही दीक्षा देनी थी।

कुदरतके घरमे छोटे-बडे सब पहाड़ एकस है। हिमालयके शिखर सारी दुनियामे अधिकसे अधिक उत्तुग है, यही उसकी विशेषता आजकी दुनिया भले माने। हमारे लिए हिमाल्यकी विशेषता इस बातमे है कि 'जिनकी विभूति हिमाल्यके जैसी ही उत्तुग थी ऐसे ऋषिमुनियोने और विरक्त व्यक्तियोने वहाँ ध्यानचितन किया है, और जीवनका परम रहस्य ढूढनेकी कोशिश की है।'

जिन लोगोने रामायण, महाभारत और पुराण-ग्रथ पढे है और काव्यग्रथोके साथ सतचरित्र भी पढे है उनके लिए हिमालय मामूली पर्वतश्रेणी नही है, भगवानकी ही वह दुर्गम शीतल विभूति है। जब झंझावात आता है तब पहाडोका सारा भौतिक वायुमडल बिखर जाता है। लेकिन हिमालयका आध्यात्मिक वायु-मडल बिखेरनेकी शक्ति, न है झझावातमे और न है किसी ज्वालामुखीमे। वह तो सदाके लिए चिदानंदघन है। अनुभवी ही उससे पूर्णरूपसे अनुप्राणित हो सकते है। कमस कम यात्रीमे साधक-दशा तो होनी ही चाहिये। पश्चिमके टूरिस्टकी मनो-दशा लकर जो जायेगा उसके लिए हिमालयका अध्यात्म नहीके बराबर है।

स्वराज्य आनेके बाद मै अनेक देशोमे गया हू और वहाँ हिमालयके अनेकानेक सहोदर देखे है। हिमालयने मुझे जो दृष्टि दी उस दृष्टिसे देखते मुझे हरएक पहाड-का अध्यात्म अब कुछ समझमे आने लगा है। उसमे भी स्विट्जरलैंडमे कोह नगर-के पास जो पहाड है उससे और पूर्व आफ्रिकाके किलिमान्जारोसे तो मेरी बातचीत हो सकी लेकिन इनके बारेमे कुछ न कहना ही अच्छा है।

फिरसे हिमालय जानेका मौका मिले तो उसे छोडना नही।

काकाके सप्रेम शुभाशिष

९. सरित्पतिके पवित्र स्थान

समुद्रको हम सरित्पति कहते है; क्योकि सब नदिया अपना पानी लेकर समुद्र-की ओर दौडती है और उसमें विलीन होकर अपनेको कृतार्थ मानती है। समुद्र है

नदियोंका खाविंद अथवा पति।

इसी तरह पहाड़को हम सरित्पिता कहते हैं, अथवा कहना चाहिए। पर्वतसे निकलनेवाली नदीको पार्वती कहते हैं। हिमालय, पार्वतीके पिता, मशहूर हैं ही। सब-के-सब पहाड़ अपनी-अपनी नदियोंके पिता ही हैं। इसलिए पहाड़ोंको सरित्पिता कहें, तो सब तरहसे वह उचित ही है।

हिमालयमें से छोटी-मोटी अनेक नदियां निकलती हैं। सिंधु, जेहलम, चिनाब अथवा चन्द्रभागा, रावी, व्यास, सतलुज, तमसा, यमुना, भागीरथी, अलकनंदा, मंदाकिनी, गंगा, काली, कर्नाली, सरयू, घोग्रा, गंडकी, बाघमती, कोसी, अरुण, तीस्ता, चुम्बी, सुबनसेरी, ब्रह्मपुत्र, डिहंग, लोहित, सानपो आदि अनेक नदियोंका पिता हिमालय भारतके उत्तरमें डेढ़ हजार मीलका एक चन्द्र बनकर खड़ा है।

और, हिमालय है भी कैसा? जैसे कोई बड़ा हार! हारमें अनेक मालाएं एकत्र होती हैं, उसी तरह प्रथम शिवालिककी पहाड़ियां, उसके बाद छोटा हिमालय, उसके बाद चिरहिम प्रदेशवाला बड़ा हिमालय, उसके बाद मान्धाता, कैलास, झस्कर, काराकोरम, कुनलुन आदि पहाड़ियोंकी छोटी-बड़ी मालाएं। ये सब मिलकर हिमालय बनता है। इस हिमालयमें भी सबसे पवित्र स्थान है कैलास। क्योंकि, उसके परिसरमें सिंधु, सतलुज, सरयू और ब्रह्मपुत्र जैसी प्रख्यात नदनदियों-का उद्गम है।

जैसे कैलास ४-६ कन्याओंका पिता है, वैसे ही भारतके मध्यमें एक स्थान है, जहांसे नर्मदा, महानदी, शोण और वैनगंगा, ब्राह्मणी, शिवनाथ आदि अनेक नदियां निकलती हैं। वह स्थान अमरकंटक और उसके इर्द-गिर्दके मेखला-पर्वत हैं। अथवा, हम कह सकते हैं कि मेखलासे लेकर महादेव और हजारीबाग आदि सब छोटा नागपुरके पहाड़ ही असंख्य नदियोंके पिताके स्थानमें हैं।

इधर अर्बुदादेवीके इर्द-गिर्द अरावली पहाड़को भी हम बनास, मही, चंबल, काली, सिंधु, पर्वती आदि अनेक नदियोंका पिता कह सकते हैं।

दक्षिणमें महाबलेश्वरके इर्द-गिर्द भी बहुत-सी नदियां निकलती हैं। अगर आप महाबलेश्वर जाकर किसी तीर्थ-पुरोहितको पूछेंगे, तो वह आपको एक जगह दिखलायेंगे, जहां कृष्णा, वेण्या आदि पांच-सात नदियां एक ही स्थानसे निकलती हैं।

कैलास, अमरकंटक, त्र्यंबक, महाबलेश्वर इत्यादि सब स्थान शिवभूमि या शिवक्षेत्र हैं। भारतकी प्रजाको दूध पिलानेवाली नदियोंका उद्गम जहांसे है, उन सब स्थानोंकी खास तीर्थयात्राकी रचना अब करनी चाहिए और, उन-उन स्थानों का नया माहात्म्य भी हमें लिखना चाहिए, जो माहात्म्य परलोकमें नहीं, अपितु इसी लोकमें फल दे सकेगा।

नदीके उद्गम, नदीके संगम और नदीके समुद्रगामी मुख जिस तरह पवित्र

स्थान हैं, हमारी भक्तिके विशेष स्थान हैं, उसी तरह पुराने ऋषि-मुनि प्रकृतिकी भव्य विभूति देखकर उसमें परमात्माका दर्शन करते थे, और असंख्य जीवोंको दर्शन के लिए वहां खीचनेके वास्ते उन स्थानोंका माहात्म्य गाते थे। अब नये लोगोंको अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनोंके लाभके लिए नये स्थानोंकी फेहरिस्त बनाकर विद्यार्थियोंको, देशभक्तोंको, देशप्रेमियोंको और संस्कृति-धुरीणोंको भेंटके रूपमें देनी चाहिए।

पहाड़के शिखर ध्यानके स्थान होते हैं। पहाड़की नदियां प्रजाका संगोपन और संस्कृतिका वितरण करती हैं। नदियोंके संगम यज्ञयागके लिए प्रकृष्ट स्थान होने से उन्हें प्रयाग कहते हैं और नदीके मुख देशांतरकी यात्राका आमंत्रण देते हैं। हमारे जीवनमें और हमारे इतिहासमें पहाड़से समुद्र तक फैली हुई सरिताओंका जितना माहात्म्य है, वैसा ही सरित्पिता और सरित्पतिका माहात्म्य भी उनसे कम नही है।

११ अगस्त, १९५९ ई०

१०. गंगोत्री

यों तो हर एक देशके लोग पहाड़ोंमें घूमना, शिखरोंके दर्शन करना और शिखरों पर पहुंचकर आसपास दूर-दूर तकका भूमि-भाग देखना पसन्द करते ही हैं और ऐसा पर्वतानन्द पानेके लिए हर तरहके कष्ट उठाते हैं और जानका खतरा भी मोल लेते हैं।

नदीका उद्गम ढूंढनेके लिए अन्य देशोंमें शायद कम लोग जाते होंगे। लेकिन, नदीके पृष्ठभाग पर नौका-विहार करनेकी इच्छा तो सबकी होती है। लाखों बरस तक स्थिर रूपसे रहनेवाले पहाड़ और लाखों बरसोंसे अखंड बहनेवाली नदियां मनुष्योंके आकर्षणके विषय हमेशा रहे है।

लेकिन, भारतवासियोंका हिमालयका आकर्षण और उनकी नदी-भक्ति और लोगोंसे न्यारी ही है। गंगा नदी भारतीय संस्कृतिकी माता है और हिमालयकी घाटियां और गुफाएं तो भारतकी आत्मसाधनाका पीहर हैं।

भारतकी श्रद्धा कहती है— शालिग्राम कोई पत्थर नही है, जनेऊ सूतका धागा नही है, हिमालयका पहाड़ पत्थरोंकी राशि नही है और गंगा नदी कोई पानीका स्रोत नहीं है। हिमालय तो अध्यात्मका घर है और गंगा नदी भारतकी पुण्य तपस्याकी परम्परा है।

हिमालयसे भारतको पार्थिव लाभ कम नही हुआ है। उत्तर तरफकी शीत वायुका आक्रमण और उत्तरकी आक्रमणकारी प्रजाओंका धावा—दोनोंसे भारतको

बचानेका काम हिमालयने किया है। वार्षिकी वर्षा-धारासे भारतकी खेतीको जैसा लाभ है वैसे ही हिमालयकी बरफके पिघलनेसे उत्तरी नदियोंमें ग्रीष्म कालमें जो बाढ़ आती है, उससे भी हर साल लाभ होता ही है। हिमालयकी वृक्ष-वनस्पतियां भारतकी अक्षय उद्‌भिज संपत्ति हैं। हिमालयकी खनिज-संपत्तिका अभी पूरा पता ही नहीं लगा है। हिमालयकी छोटी-मोटी नदियोंसे और उनके छोटे-मोटे प्रपातोंसे जो बिजली पैदा होगी, उससे तो भारतकी समृद्धि सौगुनी बढ़ जायगी। हिमालय-की घाटियोंमें आज जितने अमृतफल पैदा होते हैं, उनसे लाखगुना फल देनेकी शक्ति हिमालयमें है। हिमालयके कस्तूरी-मृग और चमरी-मृगको हम भूल नहीं सकते। लेकिन, हिमालयकी असली संपत्ति वहांकी भेड़-बकरियोंका ऊन ही है। सचमुच, हिमालय भारतवासियोंके लिए हर तरहकी समृद्धिका अक्षय भंडार है, जिसका पता धनपति कुबेरको भी आज तक नहीं लगा।

मनुष्य-जातिके लिए यह गौरवकी बात है कि हिमालयकी ऊंचाई, उसके दुर्गम पहाड़ और बरफकी चट्टानें इधरके और उधरके मनुष्योंको हिमालय लांघनेसे रोक नहीं सकी। प्राचीन कालसे साधु और वैरागी ही नहीं, व्यापारी और कारीगर भी इधरसे उधर और उधरसे इधर आते-जाते रहे हैं और जहां उद्यमी, वाणिज्य वीर और सार्थवाह पहुंचे, वहां किसी-न-किसी दिन राजाओंकी फौजें पहुंचने वाली हैं ही। हिमालयमें जहां हमारे तीर्थ-स्थान हैं, वे सब तिजारतके रास्ते हैं और लश्करी दृष्टिसे मार्केके स्थान भी हैं। गंगोत्री हो या बद्रीनारायण, अमरनाथ हो या खोजरनाथ, इन स्थानोंका लश्करी महत्त्व है ही।

अब प्राचीन कालके राजा लोग यहां बड़ी-बड़ी फौजें कहांसे रखें? इन दुर्गम प्रदेशोंमें तिजारतकी राजकीय आमदनी इतनी कभी थी ही नहीं कि यहां बड़ी फौजें रखी जायं। लेकिन, इन स्थानोंकी रक्षा करना देशके लिए अपरिहार्य था।

जो बातें राजाओंके लिए दुःसाध्य थीं, उन्हें धर्म-भावनाने सिद्ध कर दिखाया। लोक-हितचिन्तक सत्पुरुषोंने धर्मकी उपासना करते यहां आकर रहना पसन्द किया। उनकी लोकोत्तर संकल्प-शक्ति, अतिमानुषी तितिक्षा और दीर्घकालसेवित तपस्या देखकर धर्मपरायण समाज उनके दर्शनके लिए और उनका योगक्षेम चलाने के लिए इन दुर्गम स्थानोंकी यात्रा करने लगा। माहात्म्य लिखे गये, पुण्य पर्वके दिन मुकर्रर हो गये और दानी लोगोंने रास्तों पर अत्यावश्यक सहूलियतें पैदा कर दीं। व्यापारी निर्भय हुए। लोगोंको सौंदर्योपासनाके साथ तपस्याकी दीक्षा मिलने लगी और आसेतु-हिमाचल फैले हुए धर्मनिष्ठ लोगोंकी संस्कृतिका प्रचार होने लगा।

'स्थावराणां हिमालयः'—इन शब्दोंमें जिसकी विभूतिका जिक्र है, ऐसे हिमालयमे 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी'वाली भागीरथीका जहां उद्‌गम है, ऐसा एक नितान्त रमणीय और परम पवित्र स्थान है, जिसे लोग गंगोत्री कहते हैं। उसीका

स्मरण करके अपने-आपको पावन करनेका और पाठकोंको आकृष्ट करनेका आज सोच लिया है।

हमारे धार्मिकोंने हिमालयके पांच खंड माने हैं—कश्मीर, जालन्धर, उत्तराखंड, कूर्मांचल और नेपाल। इन पांच खंडोंमें बीचका उत्तराखंड सबसे पवित्र माना जाता है। गंगोत्री, जमनोत्री, केदार और बद्री—इन परम पुण्यधामोंके कारण उत्तराखंड साधुओंका भक्ति-भाजन बना है। इन चारों धामोंका अपना-अपना वैशिष्ट्य है। बद्री विशाल अगर पुराण प्रसिद्ध और लोकप्रिय है, तो जमनोत्री तितिक्षा और तपस्याकी कठिन-से-कठिन कसौटी करके मनुष्यको धन्यता अर्पण करती है। केदारनाथ अगर वैराग्यका धाम है, तो गंगोत्री परम पावन प्रदेश है। सात्त्विकताकी यहां परम सीमा पाई जाती है। 'गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि, मुच्यते सर्वपापेभ्य:'—सैंकड़ों मीलकी दूरी पर रहनेवाला भक्त अगर गंगाका नाम भी ले, तो उसके सब पाप दूर होते हैं। गंगाजीका दर्शन होते ही भक्त कहता है—'गंगा वारि मनोहारि पापहारि पुनातु माम्।' उसका बिश्वास है, 'दर्शनात् स्पर्शनात् पानात् तथा गंगेति कीर्त्तनात्। स्मरणात एव गंगाया सद्य: पापात् प्रमुच्यते।' जराग्रस्त श्रद्धालु व्यक्ति यह कहकर कि, 'औषधं जाह्नवीतोय वैद्यो नारायणो हरि:' त्रिविध शान्तिको पाता है।

पुराणोका नया अर्थ करते दीख पड़ता है कि जब महासमुद्रसे भारतकी भूमि ऊपर आई, तब आजके बंगालके दक्षिणमें जो सुन्दरवन है, उसे बसानेकी सगर-राजाओने कोशिश की लेकिन पानीके अभावमे उन्हें सफलता न मिली। उनके संकल्पकी राख हो गई।

इसलिए, उनके वंशज हिमालयमें जाकर पुश्त-दर-पुश्त वहांके पहाड़ोंकी सर्वे करके एक बड़े स्रोतको ले आये और उसे दक्षिण पश्चिमके रास्ते खीचते खीचते युक्तप्रांत, (उत्तर प्रदेश), बिहार और बंगालसे होकर मुन्दरवन तक ले गये। अंशुमान्, दिलीप और भगीरथ ऐसी राज परम्पराने यह कठिन काम किया और युक्तप्रात, बिहार और बंगालको दक्षिणके समतल प्रदेश तकको उपजाऊ बना दिया। गंगा नदी प्राकृतिक स्रोत नहीं है। आर्योंके पुरुषार्थसे ही वह भारतवर्षमें बहती है। इसीलिए, भागीरथी और जाह्नवी कहते हैं।

भागीरथीका जहां वास्तविक उद्गम हैं, उसे 'गोमुख' कहते हैं। बहुत कम यात्री वहां तक जाते हैं। वहांसे बद्रीनारायण नजदीक है। हिम्मतवान् तपस्वी गोमुखसे सीधे बद्रीनाथ चले जाते है। मामूली लोगोंको आसान रास्ते जाते कई दिन लगते हैं।

भक्तोंने गंगाके सच्चे उद्गमके नीचे आठ-दस मील पर एक अच्छी जगह पसन्द करके गंगाजीका मन्दिर खड़ा किया उसे नाम दिया गगोत्री। भक्तोंको गंगाजीका अमिश्र पानी ही पसन्द होता है। गोमुखसे लेकर गंगोत्री तक गंगाजी

का एक ही प्रवाह है। गंगोत्रीके नीचे दूसरे-दूसरे प्रवाह आकर उससे मिलते हैं।

जो लोग हिमालयकी यात्रा नहीं कर सकते, वे हरिद्वारसे गंगाजीका जल भर लेते हैं। उतनी भी श्रद्धा जिनकी नहीं है, वे इलाहाबाद-प्रयागके पास जमुनाजीके संगमके पहले गंगाजीका पानी ले सकते हैं। प्रयागके संगमके बादभी गंगाजीका जल पवित्र है सही लेकिन वह जल लोटेमें भरकर कोई नहीं ले जाता। मृत्युके पहले जिस गंगाजलकी बूंद गले तक पहुंचानेकी भक्तोंकी ख्वाहिश रहती है, वह तो प्रयागके संगमके पहलेकी गंगा है।

जब यात्राकी कठिनाई थी तब यात्राका पुण्यभी बहुत था। हमारे जमानेमें हिमालयकी पैदल यात्रा हरिद्वार-भीमगोडासे शुरू होती थी। आज तो बस जैसे आधुनिक तैलवाहन धरासु तक जाते हैं और जीप तो उत्तर काशी तक जाती है। वहांसे गंगोत्रीका पैदल रास्ता ५६ मीलका ही है। तीर्थ तपस्वी कहेंगे, गंगाके ढाई हजार या सोलह सौ मीलके प्रवाहमें अब सत्ययुग तो इन छप्पन मीलोंमें ही रहा है। उनकी भाषामें बाकीका 'सब बाजार हो गया है, बाजार !' गंगोत्रीकी सारी शोभा नदीका सुन्दर प्रवाह, पत्थरों पर टक्कर खाकर होनेवाला पानीका कलरव, आसपासके ऊंचे-ऊंचे देवदारके प्रचण्ड वृक्षोंके शंकु और पर्वतके शिखर पर की सनातन बर्फकी धवलिमा—यही है। और ऐसे उन्नत वातावरणमें देह-दमन करते साधुओंका आत्मचिंतन तो मानों इस सारे आकर्षणका निचोड़ है।

जिस तरह दक्षिणमें नीलगिरिके बीच उटकमण्डमें (उदधिमण्डलमें) युकेलिप्टस (तमाल) के वृक्षोंकी सुगन्धसे सारा वायुमण्डल अखण्ड भरा हुआ रहता है, उसी तरह गंगोत्रीमे आत्मचिंतनका आध्यात्मिक वायुमंडल लबालब भरा हुआ पाया जाता है। जो लोग कहते हैं कि आत्मा-जैसी चीज ही कोई नही है, उनको चाहिए कि वे गंगोत्री जाकर रहें। बिना किसी तर्कके वे अनुभव करेंगे कि इस दुनियांमें, इस विश्वमें, इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें अगर कोई सनातन तत्त्व है, तो वह अन्तरतर आत्मा ही है। गंगोत्रीकी भव्यता उस अनुभवका केवल बाहरी रूप है। उसका आन्तरिक सच्चा रूप तो 'हृदि संस्फुरद् आत्मतत्त्व' ही है। केवल मनुष्यके हृदयमें ही नही, अखिल विश्वके हृदयमे उस आत्मतत्त्वका प्रणवनाद यहां गूंजता रहता है।

सितम्बर, १९५६ ई०

११. केदारनाथ-बदरीनाथ

जेरूसलमके प्रति ईसाइयोंकी जो भक्ति है और मुसलमानोंमें अरबस्तानके काबाके प्रति जो निष्ठा है, इससे भी बढ़कर हम लोगोंका आदर और आकर्षण

पर्वत-शिरोमणि कैलासके प्रति है। देवाधिदेव शंकर महादेव हमेशाके लिए वहां रहते हैं। कैलासका यह सुन्दर शिखर हिमालयके उस पार, मानस सरोवर और रावण-ह्रदके भी परे, त्रिविष्टप या तिब्बतमें है, जिसके ऊपर अभी तक कोई मानव पहुंच नहीं सका है।

स्वर्गारोहण जैसी कठिन इस कैलास-यात्राके रास्ते अनेक पार्वती नदियोंके पवित्र उद्‍गम हैं, जिनकी यात्रा भी भारतीय मानसका महान् आकर्षण है।

माना और नेती घाटियां लांघकर कैलास जानेके रास्तेमें भागीरथी, मंदाकिनी, अलकनंदा, यमुना आदि अनेक नदियोंके उद्‍गम स्थान हैं। बीस-बीस हजार फुट ऊँचाईके शिखरोंके नीचे इन नदियोंके उद्‍गम दस-बारह हजार फुट ऊंचाई पर हैं और कुदरतकी लीला ऐसी है कि बरफसे ढके इन स्थानोके पास गरम पानीके कुंड भी हैं। फिर तो हमारे साधु-सत्पुरुष भगवान्‌का ध्यान करनेके लिए, कठिन-से-कठिन तपस्या करनेके लिए और योगविद्यामें नये-नये आविष्कार करनेके लिए वहां जाकर बसे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

जहां साधु-सत्पुरुष तपस्या और एकान्तवासके लिए गये, वहां भक्तलोग भी सब तरहके कष्ट उठाकर उनके दर्शनके लिए और हो सके तो उनकी सेवा करनेके लिए जायेंगे ही। इन स्थानोंमें, बारह महीने और सब ऋतुओंमे रहनेकी अगर गुंजाइश होती, तो भक्तोंने जगलमें मंगल करते-करते इन यात्रा-स्थानोंको धीरे-धीरे बाजारका रूप कबका दिया होता। बनारस, प्रयाग, हरद्वार आदि स्थानोकी हालत हम जानते ही हैं।

लेकिन, इन नदियोंके उद्‍गम स्थान गंगोत्री, जमनोत्री, केदार और बदरी, काफी दुर्गम हैं और वर्षके चार महीने वे बरफसे ढके हुए भी रहते है। इसलिए, इन स्थानोकी पवित्रता आजतक कमोबेश अक्षुण्ण रही है। वहांके मन्दिर भी चार महीनोके लिए बन्द करके पुजारियोंको उखीमठ और जोशीमठ जैसे स्थानोंपर आकर रहना पडता है।

गगोत्री, जमनोत्रीकी यात्रा कुछ कठिन है। भगवान् नारायणका बदरीनाथ और सदाशिव शंकरका केदारनाथ ये दो स्थान कुछ आसान हैं, और इसीलिए ज्यादा लोकप्रिय भी हैं। ये स्थान है तो उत्तराखण्डके, लेकिन इनके दर्शनके लिए जानेवाले भक्त रामेश्वर-कन्याकुमारीसे भी आते हैं और बंगाल-आसामसे भी आते है, सिंध राजस्थानसे भी जाते हैं और मध्यप्रदेशसे भी वहां पहुंचते हैं। सारे भारतवर्षकी श्रद्धा बदरी-केदारनाथके अन्दर केन्द्रित हुई है।

सनातन हिंदू-धर्मकी रचना अगर भगवान् वेदव्यासने की है, तो हमारे समाज-का धार्मिक संगठन भगवान् आदिशंकराचार्यने किया है। कलिवर्ज्य संन्यास-आश्रम का जैसा शंकराचार्यने पुनरुद्धार किया, पंचायतन पूजाके द्वारा उपासनाकी विविधतामें एकताकी स्थापना की, उसी तरह चार धामकी यात्राका संगठन करके

अपने जमानेके सारे भारतवर्षकी एकता भी उन्होंने दृढ़ की। दक्षिणमें रामेश्वर, पश्चिममें द्वारका, पूर्वमें जगन्नाथपुरी और उत्तरमें बदरी-केदार इस तरह चार धामकीजो यात्रा करता है, वह साथ-साथ भारतके सब तीर्थस्थानोंका, मन्दिरोंका और संत-सत्पुरुषोंके दर्शन करता ही है। शंकराचार्यके किये हुए इस संगठनके कारण बदरीनारायणके मन्दिरकी व्यवस्था आज भी केरलके नांबुद्री ब्राह्मणोंके हाथमें है और केदारके मन्दिरके रावल भी अक्सर कर्नाटकके होते हैं।

यों हिसाब किया जाय, तो केदार और बदरीके बीच सीधा अन्तर केवल ढाई कोसका ही है। लेकिन, बीचमें बड़े-बड़े पहाड़ होनेके कारण यात्रियोंको नौ दिनका चक्कर काटकर इन दोनों स्थानोके दर्शन करने पड़ते हैं। यात्री लोगोंमें कहावत ही हो गई है—नौ दिन चले ढाई कोस, केदारनाथके प्रांतरमे मंदाकिनी आती है और बदरीनारायणसे अलकनन्दा तथा सीधे गंगोत्रीसे भागीरथी आती है। इन सबका संगम विष्णुप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग, देवप्रयाग जैसे पवित्र स्थानोंमें होता है। ये सब नदियां मिलकर ही हमारी परम पावनी गंगा नदी बनती है।

जिन लोगोंने यात्रा की नही, उनके लिए ये नदिया और उनके संगम केवल भौगोलिक नाम ही होते है। लेकिन, जबसे भक्तहृदय यात्रियोंको इन स्थानोंके दर्शनसे कृतार्थता मिली है, तबसे उनके लिए ये स्थान परम पवित्र और ये नाम जीवित व्यक्तिका रूप धारण करते है।

जब मैंने इन स्थानोंकी यात्रा की थी, तब मानवी संस्कृति आजके जितनी वहां बढ़ी नहीं थी, बिगड़ी नही थी। पैदल चलना, हाथसे पकाकर खाना या किसी पहाड़ी शिखरपर झोंपड़ी दीख पड़े, तो वहां जाकर भिक्षा पाना, रातको दो कम्बल के बीच ठिठुरते पड़े रहना, दोपहरको एक घण्टा सोकर फिरसे ताजा होना और उत्तुंग-भव्य-विशाल प्रकृतिमाताका दर्शन करके यात्राकी थकानको और मैदानकी मानवी-संस्कृतिको भूल जाना यह लोकोत्तर आनन्द अब पहलेके जैसा रहा नहीं।

सन् १९१२ ई० में मैंने उत्तराखण्डकी यात्रा की थी। सन् १९३० ई० मे मैंने अपना यात्रा-वर्णन प्रकाशित किया और आज सन् १९५९ ई० में बदरी और केदार का स्मरण कर रहा हूं। जी चाहता है कि फिरसे एक बार इन पवित्र धामोंका दर्शन कर आऊं। फिर भी, मनमें डर रहता है कि ४०—५० बरस पहले यात्रा करके जो पवित्र और काव्यमय संस्मरण मैंने अपने हृदयमें संभालकर रखे हैं, उनको आज फिरसे उन स्थानोंका उनके नये रूपमें दर्शन करके मैं खो तो नहीं बैठूंगा?

मनुष्य ध्यान, चिंतन और तपस्याके लिए कोई अच्छा काव्यमय और भव्य निर्जन स्थान पसन्द करता है। लेकिन, उसके वहां जानेसे ही उस स्थानकी निर्जनता तुरन्त नष्ट होती है। फिर तो एककी देखा-देखी दूसरा आदमी जाता है। उसका

यात्रानन्द सुनकर और पांच-दस आदमी जाते हैं। वे अपने परिश्रम और सकटका जब रसभरित वर्णन करते है, तब ऐसे सकटोका ही आकर्षण प्रबल होकर वहा सैकडों लोगोंको उस स्थानकी ओर ले जाता है। फिर, पुजारी और पण्डा लोग भक्त-सत्पुरुषोंकी खुशामद करके उनसे अपने तीर्थोंके माहात्म्य लिखवाते हैं और करुणापेलव दानी लोग पुण्य प्राप्तिके लोभसे, यात्राके कष्ट कम करनेके लिए और यात्राका सुफल लाखों लोगोके लिए सुलभ बनानेके निमित्त वापी, कूप, तडाग, याने कुएं, तालाब, चश्मे, झीलें और हौज बाधकर पानीकी सहूलियत कर देते है रास्ते बनाते है। प्रथम-प्रथम चट्टिया और बादमे धर्मशालाए खडी हो जाती है। अन्नछत्र और दुकान उनके पीछे-पीछे आती जाती है। यात्रा सुगम होती है, लोकप्रिय होती है; इसी कारण उसका काव्य और पुण्य दोनो घट जाते है। फिर तो धंधादार साधु-सत्पुरुष ही ऐसे स्थान पर रहकर यात्रियो पर 'अनुग्रह' करनेकी कृपा करते है और सच्चे तपस्वी जनसपर्कसे ऊबकर यात्रा-लाइनको छोडकर गहरे या घने अरण्यमे भाग जाते हैं।

इस तरह तपस्वियोकी अरण्य-सस्कृतिपर मनुष्य-बस्ती हमेशा धावा बोलती है और वहा धीरे-धीरे मानव-निर्मित पुण्य-सस्कृति (बाजारू सस्कृति) पहुच जाती है। केदार और बदरीका ऐसा ही हुआ है। कहते है कि बदरीनारायणका मन्दिर श्री शंकराचार्यने बनवाया था। उसका तो कबका नाश हो चुका। उसकी जगह पर अनेक बार नये मन्दिर बनवाये गये और हिमस्रोतके कारण वे टूट भी गये। केदारनाथका मन्दिर काफी प्राचीन मालूम होता है, हालाकि मन्दिरका कपाल तो ग्रीक पद्धतिके गेबल त्रिकोणकी आकृतिका है।

स्वय सदाशिवने पाडवोसे बचनेके लिए पाडेका रूप ले लिया और इसी स्थान पर भूमिप्रवेश किया। केदारनाथ उसीके प्रतिनिधि है। पाडेके शरीरका अगला भाग और कही प्रकट हुआ है। पिछला भाग पत्थरके रूपमे इसी मन्दिरमे विराजमान है। भक्त लोग इसी केदारनाथकी बडी शिलाको अपनी छातीमे स्पर्श करते है और धन्यताका, कृतार्थताका, अनुभव करते है। इतने बरसोके बाद आज भी उस पावन स्पर्शका अनुभव मै भूल नही पाया हू। मेरे जैसे असख्य, श्रद्धालु लोगोने सैकडो और हजारो वर्षोंसे उसी केदानाथका स्पर्श पाया होगा। उनके और मेरे बीच स्थापित हुई यह एकता जबतक कायम है, धर्मश्रद्धाके शिथिल होनेका डर नही है।

२४ मार्च, १९५९ ई०

१२. ऊटी और मसूरी

यात्राके साधन बढ़नेसे जीवनमें सहूलियतें बढ़ी हैं, लेकिन जीवनका काव्य बहुत कुछ कम हो गया है। खर्च करनेके लिए पैसे पास न हों, तो आधुनिक सहूलियतें कुछ भी मदद नहीं करती और आधुनिक सहूलियतें उपलब्ध हैं इसी कारण मन अब पुराने ढंगके कष्टसाध्य, किन्तु अनुभवप्रद और आनंदप्रद उपाय आजमानेको तैयार नहीं रहता। पदयात्राके कितने उत्कृष्ट लाभ हैं इस पर सुन्दर लेख लिखनेवाले लोग बहुत मिलेंगे। किन्तु केवल अनुभव-समृद्धिके हेतु और आनंद पानेके हेतु पदयात्रा करनेवाले कितने मिलेंगे? साधु लोग आज भी पैदल यात्रा करते हैं, चारों धामोंकी यात्रा करते हैं। उन्हें आनंद जरूर मिलता होगा लेकिन आनंद पानेकी क्षमता भी हरएककी एक-सी नहीं होती और जीवन-समृद्धि तो उसीके लिए साध्य है जिसमें दृष्टि-समृद्धि और सूक्ष्मता हो। खैर।

आधुनिक सहूलियतकी मददसे यानी हवाई जहाजमें बैठकर मैं एक दफे कलकत्तेसे करांची तक बीचमें कही रुके बिना उतरे बिना, पहुंच गया था। सारे देशका अथवा देशके एक बहुत बड़े हिस्सेका पूर्व-पश्चिम दर्शन करनेकी भव्यता कुछ अजीब थी।

एक दिन ईजिप्तसे भारत लौटते हवाई जहाजमें इतनी ऊंचाईसे उड़ रहा था कि आकाशके एक स्थानपरसे सारा सौराष्ट्र एक नजरसे देख सका। कच्छका अखात (खाड़ी) और खंभातका अखात दोनों एक साथ देखना, गिरनार और बरडा दोनोंका एक साथ वामन-दर्शन करना और सौराष्ट्रकी छोटी बड़ी नदियोंको तीन दिशाओंमें बहती देखना सचमुच अजीबसा अनुभव था। इसी तरह जब पाकिस्तान नया-नया बना था तब हवाई जहाजमें कलकत्तेसे उत्तरकी ओर जाना और बिहार-में काफी उत्तरकी ओर जाकर ब्रह्मपुत्रको देखते-देखते गौहाटी जाना यह भी सुजला-सुफला बंगभूमिका नितांत सुंदर दर्शन था। और बिहारमें तो छोटे-छोटे हवाई जहाजमें घंटेके अस्सी मीलकी गतिसे इतना घूमा हूं, बिहारकी छोटी-मोटी सब नदियोंसे नागमोडी मार्ग इतने देखे हैं कि उसका समग्र चित्र आज भी नजरसे ओझल नहीं हुआ है।

इस तरह दुनियाके कई समुद्रोंका दर्शन कर सका हूं। सिर्फ हवाई जहाजकी मददसे अफ्रीकाके सहाराको लांघकर भी उस रणभूमिका दर्शन न कर सका, क्योंकि यह यात्रा मध्यरात्रीको ही की जाती है।

यह हुई हवाई जहाजकी सहूलियत। रेल होनेके कारण भी एक दफे आज सिंधुके किनारे या एक सप्ताहके अंदर गंगाके और ब्रह्मपुत्रके किनारे जा पहुचा। पुराने जमानेमें ऐसी यात्राके लिए तीन-तीन साल लगते थे। एक सप्ताहके अंदर सिंधसे आसाम पहुंचना आसान हुआ है, लेकिन तीन सालकी जीवन-समृद्धि एक

सप्ताहके अंदर ठूंस देना मनुष्यके लिए असंभव है। हमारे श्रद्धाधन पूर्वज कहते थे कि यात्राकी सहूलियतें बढ़नेसे यात्राका पुण्य घटता है।

इस पुण्य शब्दमें क्या-क्या नहीं आता? यात्राके परिश्रम, उन परिश्रमोंके द्वारा इंद्रियोंकी शक्ति बढ़ाना, उस शक्तिके अनुभवसे मिलनेवाला आनंद, यात्राके बीच होनेवाला देशदर्शन, लोकपरिचय, सज्जन-संगति, बहुश्रुतता, सूझ-बूझ बढ़नेके मौके ऐसी हजारों और लाखों चीजें मिलकर संस्कृति बनती है और ऐसी संस्कृति-समृद्धिको ही हम पुण्य कहते हैं। पुण्य कोई तपस्या बेचकर उपभोग खरीदनेका चलन या सिक्का नही है।

एक दफे अशोकके शिलालेखोंका अध्ययन करते उड़ीसामे जौगढ़ और धवली गया था। उसके बाद तुरन्त देहरादूनके पास कालसी जाकर वहांकी चित्रशिला देखी थी। जिस पत्थरपर धवलीमें अशोकका शिलालेख खुदा है उसे अश्वत्थामा कहते हैं। अश्वत्थामासे चित्रशिला तक एक दो सप्ताहमें जाकर पहुचना और अशोकके साम्राज्यका विस्तार और हृदयकी विशालताका अनुभव करना सचमुच इसी जमानेमे शक्य है।

मैने सोचा था कि अभी-अभी मैं दक्षिणमे ऊटकमंड—ऊटीसे उतरकर मद्रास, दिल्ली, हरद्वार, देहरादून होकर मसूरी पहुंचकर उनका वर्णन लिखू। लेकिन दक्षिण उत्तरके दो पहाड़ एक लेखमें एकत्र लानेके पहले पुराने तरह-तरहके अनुभव पर्वत-शिखरके जैसे ऊपर उठने लगे और असली उद्देश्य ही बाजूपर रह गया। कालान्तर, देशान्तर और विषयान्तरकी ओर जब ध्यान गया तब हवामे उडनेवाली स्मृति और कल्पनाको खीच ला सका हूं। अब हम स्मृति और कल्पनाको थोड़ा आराम देकर उन्हीकी पीठ पर बैठकर जहां सह्याद्रि पूरा होता है और नीलगिरि आकाश-से बातें करता है वहासे चलकर यमुनाका कलरव सुनते मसूरीके पहाड़की सैर करे।

(२)

एक जमाना था जब किसी स्थलका वर्णन करते उसका पुराना इतिहास मैं ढूढ़ता था। उस स्थानके बारेमें लोग क्या कहते है, लोककथाओंमें उसका कैसा जिक्र आया है—आदि सब कुछ इकट्ठा करनेमे मुझे बड़ी दिलचस्पी रहती थी। पौराणिक, ऐतिहासिक और लोकजीवनात्मक कथाए और कविताएं इकट्ठा किये बिना चैन नहीं पड़ता था। देशभक्तिका आवश्यक अंग समझकर ये चीजें मैं ढूंढ़ता था। आज भी ऐसी चीजें सुनते मुझे आनंद आता है। किन्तु अब तो केवल प्रकृतिके विविध दर्शनोंसे और स्थानिक लोकजीवनके परिचयसे पूरा संतोष हो जाता है। पुराणोंमें ऐसे अनेक सम्राटोंके जिक्र आते हैं जिनका इतिहास भी देश भूल गया है। और पुराण भी आज कितने लोग पढ़ते होंगे? पहाड़ी प्रकृति तो सनातन है

और रोज नया-नया जल लेकर बहनेवाली नदियोंके स्रोत भी सनातन हैं। उनका दर्शन और स्मरण भी चित्तको आह्लादित और पुनीत करनेके लिए काफी है।

पहले मैंने सुना था कि उटकमंड यह नाम 'उदधि-मंडल'का अपभ्रंश है। शंका हो रही थी कि पहाड़के शिखरके स्थानको उदधिसे संबंध क्या ? हालांकि पश्चिमी समुद्र यहांसे बहुत दूर नही है ।

अब पता चलता है कि उटकमंड यहांके आदिवासियोंकी भाषाका शब्द है। उसका अर्थ तो मुझे कोई नहीं बता सका। लेकिन आदिम जातिका दिया हुआ वह नाम है, इसमें शक नहीं।

अबकी बार ऊटी गया कोइम्बतूरसे मोटरके रास्ते। इसके पहले दो दफे ऊटी देखा है। पहली बार गया सो मेट्टुपालयमसे नीलगिरि पहाडी रेलगाड़ीमें बैठकर। सारा दृश्य सुहावना था। रास्ता इतना टेढा-मेढ़ा कि इन्जिन चलानेवाला और आखरी डिब्बेका गार्ड एक-दूसरेकी निशानी भी नहीं देख सकते थे। हरएक डिब्बे-में लाल और हरा झंडा लिए हुए एक-एक कर्मचारी बैठता था। गार्डने जो निशानी बताई, वही इन्जिन चलानेवाले तक पहुंचानेका काम इन लोगोंका था। उस समय हम डेढ ही दिन रहे। लेकिन उतनेमें हमने वहांका वानस्पत्यम् (बोटेनिकल गार्डन) देखा और युकेलिप्टसके सुगंधी वृक्षोंके बीच रास्ता तय करते डोड्डा-बेट्टा के शिखर तक पहुंच गये थे।

दूसरी दफे गया था तब मैसूरसे ऊटी जाकर वहांसे पेरिनायकम् पालयम् तक मोटरसे गया था। आते-जाते प्राकृतिक दृश्यका आनद लेते जी भर गया था। और अंग्रेजोंसे प्रेरणा लेकर हम लोग भी ग्रीष्मारामकी जगह कैसे बनाते गये इसका चिंतन किया। हम लोगोंकी अभिरुचि और स्वास्थ्यके लिए ऊटकमडकी अपेक्षा कुन्नूर ही अच्छा है।

अबकी बार तो आठ दिन रहनेके संकल्पसे ही हम ऊटी गये। छोटे-छोटे बच्चोंको भी साथ ले गये। नौकामें बैठकर जलविहार करना, बच्चोंको टट्टू पर बिठाकर सैर करवाना और अनेक बाजुओंसे नीलगिरिकी विशाल-भव्य सुन्दरता देखना यही हमारा काम था। और दक्षिण भारतीय ढंगके भोजनका आस्वाद लेना यह भी हमारे कार्यक्रममें था ही।

ऊटीके आसपास दूर-दूर तक कहीं भी जाइए, वही पहाड़ी सुन्दरता आपको मिलेगी। इस प्रदेशके आदिमनिवासी तोड़ा और दूसरे लोग हमारी दृष्टिसे जगली हैं। लेकिन विज्ञान हमारे देशको ऐसा बदलने पर तुला है कि उसके सामने देखते-देखते हम जंगली बननेवाले हैं।

मुझे ख्याल है कि प्रख्यात देशभक्त लाला हरदयालने कही कहा या लिखा है कि गरम-गरम मुल्कके सपाट मैदानमें राज्यकर्ता तैयार होते ही नही। विशाल दृष्टि और राजकर्तृत्वका अगर विकास करना है तो उसके लिए अच्छी-से-अच्छी संस्थाएं

पहाड़ोंके शिखर पर ही खोलनी चाहिये। लाला हरदयालकी बात इस जमानेके राज्यकर्ताओंको जंच गयी है। ऊटीमें और मसूरीमें कार्यकर्ता निर्माणकी संस्थाएं मिशनरिओंकी तरफसे और सरकारकी तरफसे चलाई जा रही हैं।

और अब हमारे उद्योगपति और राष्ट्रपति भी उद्योगहुनरकी दृष्टिसे पहाड़ोंको पसद करने लगे हैं। देशरक्षाका फौजी विभाग और मुल्की विभाग भी अपनी-अपनी संस्थायें देहरादून, कुन्नर, वेलिंग्टन, ऊटी, मसूरी आदि जगहों पर चला रहे हैं। किसीने कहा है कि सपाट भूमिमें और मैदानमे पशु ही पनपते हैं। बड़े-बड़े गरुड़ पर्वत-शिखर पर रहते हैं और ऊपरसे झप करके नीचे आकर बकरा-मेढा जो कुछ मिला उठाकर ले जाते हैं। राज्यकर्ताओंका और पुरुषार्थी लोगोंका पहाड़ों पर और पर्वतों-दुर्गोंमें रहना ही अच्छा। दूसरे, भूगोलवेत्ताने कहा है कि पहाड़ पर स्वराज्यवृत्ति पनपती है, मैदानोंमे साम्राज्यवृत्ति। गाधीजीने एक दफे कही लिखा है कि युद्धविरोधी शांतिवाद मैदानका ही सन्देशा है।

जो हो हमारे देशके उन्नत शिखरवाले भूभागका हम पहलेकी अपेक्षा अधिक अच्छा उपयोग कर रहे हैं। कुदरतने भी गरम-से-गरम मुल्कमे ऊंचे-से-ऊंचे पहाड़ोंको बर्फका ठंडा मुकुट देकर मनुष्यको आमंत्रण दिया है कि धूपसे बचनेका, गर्मियों से जान छुड़ानेका उपाय हमने तुमको बख्शा है।

ऊटीका मौसम खत्म होने पर हम कन्याकुमारी जानेवाले थे और जहां तीन महासागर एकत्र आते है उस पवित्र स्थानका दर्शन तीसरी दफे करनेका सोचा था। लेकिन यह सब छोड़कर हमें दिल्ली लौटना पड़ा और यहासे हम रुड़की, हरिद्वार, देहरादून होकर मसूरी पहुंचे। रुड़कीमें एक इन्जिनियरिंग कॉलेज है। लेकिन रुडकी मुझे इसलिए याद आयी कि वहां पर गगाजीकी एक नहर सोलाना नदीके ऊपरसे एक पुलके सहारे आगे बढ़ रही है।

अगर ऊटीमें उत्तुग सौदर्य है तो मसूरीमें भीषण भव्यता है। ऊटीमें तोड़ा आदि आदिवासी रहते हैं तो मसूरीमें टेहरी गढ़वालके मुल्कके पहाड़ी लोग रहते हैं। जिस तरह ऊटी परसे पेरिनायनपालयम और कोयम्बतूरका मैदान दीख पड़ता है उस तरह मसूरी परसे शिवालिककी पहाड़ियां और देहरादूनके इर्द-गिर्दका सारा दृश्य दीख पड़ता है। दोनों स्थान करीब आठ हजार फुटकी ऊंचाई पर हैं। इनमेंसे सबसे बड़ा भेद यह है कि मसूरीमें शीतकालमें बरफ गिरती है और यहांसे हमेशा हिमालयके चिरहिमाच्छादित शिखर दीख पड़ते है। ऊटी दक्षिणमें होनेके कारण वहां शीतकालमें भी बरफ नही गिरती है। अगर गिरी भी तो टिकती नही। जाड़ेके दिनोंमें भी वनश्री प्रसन्न-मंगल दीख पड़ती है। हमेशा वहां रहनेवाले लोगोंका कहना है कि ऊटीकी सच्ची शोभा तो जाड़ेमे ही होती है।

ऊटीमें और मसूरीमें हम लोगोंने, याने मध्यम वर्गके और उच्चवर्गके नागरिकोंने, और राज्यकर्त्ताओंने अपनी सहूलियतके लिए बहुत अच्छे साधन बनाये हैं।

लेकिन मनुष्य-हृदयको तभी संतोष होगा जब दोनों जगहके आदिवासियोंके सुखमय जीवनके लिए हम विशेष प्रयत्न करें और उनको ऐसा न लगे कि उनकी निवास-भूमि उनसे छीन ली गयी है। इन भूमिपुत्रोंका इस भूमि परका अधिकार मंजूर रखनेसे ही हमारा गिरिनिवास मंगलमय होगा।

१३. पवित्र शान्तिधाम कौसानी

स्वामी आनंदके कहने पर महात्माजीने गीताका अनुवाद तैयार किया और उसमें अपना दृष्टिकोण समझानेवाली टिप्पणियां जगह-जगह दीं। 'अनासक्तियोग' के नामसे वह अनुवाद प्रकाशित हुआ है। गीताका वह प्रामाणिक अनुवाद होते हुए भी गांधीजीकी इच्छा है कि उसे एक स्वतंत्र ग्रंथ ही माना जाय। जिस तरह हीब्रू और ग्रीक बायबलका अनुवाद अंग्रेजीमें होने पर अंग्रेज लोग उस अनुवादको ही अपना मूल धर्मग्रंथ मानते हैं, या जिस तरह महाराष्ट्रके अभेद-भक्तिमार्गी वारकरी लोग श्रीज्ञानदेवके गीता-भाष्य ज्ञानेश्वरीको ही अपना धर्मग्रंथ समझते हैं और उसीको लेकर चलते हैं, उसी तरह अनासक्तियोग भी गांधीमतको पसंद करनेवाले लोगोंके लिए गीता-ग्रंथ है।

गांधीजीने अपने भारत-भ्रमणके दरमियान गीताका अनुवाद थोड़ा-थोड़ा करके पूरा किया। उसकी पूर्णाहुति उन्होंने हिमालयमे कौसानी नामके स्थान पर की। और, उस ग्रंथकी अपनी प्रस्तावना भी वही पर लिखी। कौसानीका स्थान इतना ऊंचा, इतना भव्य और शांतिप्रद है कि गांधीजीने वहां दस दिन वास्तव्य किया।

स्वामी आनंदसे मिलनेके लिए और कौसानीका वह स्थान देखनेके लिए मैं अभी-अभी हिमालय हो आया। बम्बईसे मथुरा होकर सीधा काठगोदाम जाना, और काठगोदामसे अलमोड़ा होकर एक सौ सोलह मीलकी बसकी यात्राके द्वारा कौसानी पहुंचना मेरे जैसे सतत प्रवासीको भी उत्तेजना देनेवाली बात थी। बम्बईका सागर-दर्शन और कौसानीके चिर-हिमावलीका विशाल दर्शन ढाई दिनके अंदर ही होने पर, चाहे सो हृदय उत्तेजित हो उठेगा। १३ अक्तूबरकी शामको मैंने बम्बई छोड़ा। १४की शामको यमुनाके किनारे मथुराकी आरती देखी। १५की शामको आलमोड़ाके पहाड़ों परसे चिर-हिमावलीका दर्शन किया और १६ अक्तूबर को दोपहरके पहले मानों मैं हिमालयकी गोदमें खेलने लगा।

काठगोदामका स्टेशन छोड़ते ही हिमालयकी ऊंची-ऊंची पहाड़ियां शुरू होती हैं। और हिमालय अपना असर शुरू कर देता है। सौ-दो सौ मीलका सारा रास्ता गहरी वनशोभासे और असीम गिरि-भव्यतासे भरा हुआ है।

हिमालयकी ऊंची-ऊंची चोटियोंका और विशाल अधित्यकाओंका वर्णन कवियोंने और यात्रियोंने बहुत किया है। लेकिन तीन-तीन या चार-चार पहाड़ोंके बीच विराट् द्रोणका आकार धारण करनेवाली उपत्यकाओंका सौंदर्य कुछ कम नही है। और, जब ऐसे विराट् द्रोण सुबह और शाम सूर्यप्रकाशकी विशाल राशि भर-भरकर आंखोके सामने उपस्थित होते हैं, तब उस प्रकाश-समृद्धिके पानसे हृदय भर आता है, और उसका कैफ ब्रह्मरंध्र तक पहुचता है।

कौसानीकी चोटीसे उत्तरकी तरफ देखनेसे चिरहिमावलीकी अनेक कपूरधवल चोटियां दीख पड़ती हैं। केदारनाथ, बदरीनारायणका चौखंबा, नीलकण्ठ, नंदा-घुंटी, उत्तुंग त्रिशूल, नदादेवी, नदाकोटा आदि शिखर देखते-देखते दाहिनी ओर पंचचूली तक सारा पहाड़ सनातन हिमकी पवित्र शातिसे भरा हुआ दीख पड़ता है और हमारे तथा इस चिरहिमावलीके बीच जो आधी दुनिया समा सके. ऐसी विशाल निम्नभूमि हें। उसमे गरुड, बैजनाथ आदि प्राचीन स्थान दीख पड़ते हैं। और, जब वह सारा स्थान सूर्यकिरणोंसे भर जाता है, तब लगता है कि दुनिया-भरके सब ऊष्मपा पितर यहां आकर उष्णताका पान करते होगे।

इन शिखरोंका दर्शन आसानीसे नही होता। कभी-कभी बादलोके ढेर ऐसे लग जाते है कि महीनों तक एक भी शिखर नही दीख पड़ता। हमारा भाग्य कुछ अच्छा था। हम गये, तब बादलोंने कुछ थोड़ा-सा नखरा किया सही। कभी यहांके एक-दो शिखरोंको ढंक देते थे, कभी वहांके। लेकिन, जिस दिन हमने कौसानी छोड़ा, उस दिन सुबहके चार बजेसे हम सब शिखरोंको एक साथ देखते ही रहे। बादलों-का नामोनिशां नही था। सब-के-सब शिखर संगमरमरकी मूर्त्तियोके जैसे साफ दिखाई देते थे। और, क्या उनकी पावन शाति! भगवान्‌की उस विशाल विभूति-का ध्यान करके जब हम लौटे, तब उसकी धन्यता हृदयमें कायम हो गई। सुन्दरताका असर इतना गहरा नहीं होता है, जितना भव्यताका। मानों सुन्दरता ऐहिक चीज है और भव्यता पारलौकिक।

कौसानीकी आबोहवा जैसी आध्यात्मिक साधनाके लिए अनुकूल है, वैसी शारीरिक स्वास्थ्यके लिए भी मुफीद है। वहांका पानी ठंडा, मीठा और हलका है। भूख ऐसी लगती है कि देखते-देखते आहार बढ़ जाता है। देवदार, चीड़ (pine) बाझ (oak) आदि उत्तुंग वृक्षोंसे यहांके पहाड़ ऐसे हरे-भरे दीख पड़ते है, और यहांकी हवाको ऐसी खुशबूदार बनाते हैं कि क्षय रोगीके लिए यह संजीवनी स्थान प्रतीत होगा।

गांधीजीकी यूरोपियन शिष्या सरला बहनका एक छोटा-सा आश्रम नजदीककी पहाड़ी पर है। और, कौसानी जाते रास्तेमें आचार्य कृपालानीजीके गांधी-आश्रम-का एक उत्पत्ति-केन्द्र भी है, जहां हिमालयीन और तिब्बती ऊनके अच्छे कम्बल बनाये जाते हैं।

जिस डाकबंगलेमें महात्माजी ठहरे थे और जिस बरामदेमें बैठकर उन्होंने अपना 'अनासक्तियोग' पूरा किया, उस पवित्र स्थानको देखनेके लिए आयंदा यात्रियोंका तांता लगेगा। उस स्थानको गांधीजीका स्मारक बनाना चाहिए। वहां पर संगमरमरकी दो तख्तियां लगानी चाहिए। एक पर इतना ही हो कि महात्मा गांधीने यहां पर सन् १६२६ ई०के जून महीनेमें (संवत १६८५के जेठ महीनेमें) निवास किया था और अपना 'अनासक्तियोग' यहीं पूरा किया था। दूसरी पर वे वाक्य खुदवाने चाहिए, जो गांधीजीने कौसानीकी प्रशंसामें अपने साप्ताहिक पत्रमें लिखे हैं।

सरकारसे इस स्थानको प्राप्त करना कोई कठिन बात नहीं होगी। लेकिन, यहां रहकर जनसेवा कर सके, ऐसे आदमीको पाना आसान नहीं है। योग्य व्यक्ति मिलने पर यहां आश्रम खोलना चाहिए। स्वामी आनन्द इसका भार ले लेते तो पूछना ही क्या था! लेकिन वे पूर्णतया निवृत्त हुए हैं। किसी और व्यक्तिको ही ढूंढ़ना होगा। योग्य व्यक्ति मिलने पर इस स्थानको आश्रमका रूप देना चाहिए।

और उसका नाम क्या रखा जाय? क्या यह भी सोचनेका विषय है? उसका एक ही नाम हो सकता है, 'अनासक्ति-आश्रम।'

नवम्बर, १६५० ई०

१४. पहाड़ोंका उपस्थान

मनुष्यके शरीरमें जिस तरह पीठकी रीढ़ और हाथ-पैरकी हड्डियां होती हैं, उसी तरह संसारके भिन्न-भिन्न देशोके लिए वहां पर स्थित पर्वत है, ऐसा माना जाता है। उत्तर और दक्षिण अमेरिकाका भूखण्ड ठेठ उत्तर ध्रुवसे दक्षिण ध्रुव तक फैला हुआ है। उसकी पीठकी रीढ़ स्पष्ट दिखाई देती है। रॉकी पर्वतसे ॲण्डिज पर्वतके सिरे तक फैली हुई इस रीढ़के अतराफमें सारी नई दुनिया अपनेको संभाले हुई है।

यूरोप और एशिया मिलकर यूरेशिया बनता है। वहां भी एक बड़ी रीढ़ आड़ी फैली हुई है। यह दुनिया पुरानी होनेके कारण इसकी रीढ़ भी अलग-अलग टुकड़ोंमें सिर ऊंचा करती है। फ्रांस और स्पेनमें फैला हुआ पेरिनीज पर्वत, इटलीके उत्तरकी तरफका आल्प्स पर्वत, एशिया और यूरोपके बीच फैला हुआ कॉकेशियस पर्वत, हिन्दूकुश और हिमालय पर्वत आदि मिलकर यह बड़ी रीढ़ बनती है। इसके अलावा उत्तर-दक्षिण दौड़नेवाले छोटे-बड़े पर्वत मिलकर यूरेशियाका अस्थिपंजर बनाता है।

हिन्दुस्तानके तांत्रिक त्रिकोणके भी त्रिकोणी अस्थिपंजर हैं ही। हिमालय,

विन्ध्य, अरावली, सह्याद्रि, सातपुड़ा आदि पहाड़ोंने हिन्दुस्तानकी काठी मजबूत की है। उनमें भी हिमालय है इस तरफकी पृथ्वीकी तेहरी रीढ़ और वहा ब्रह्मदेश है दक्षिणोत्तर फैली हुई पहाड़ोंकी सलवटे।

पुराणमें कहा गया है कि पृथ्वीको सभालनेवाले आठ दिशाओके आठ दिग्गज है। ये दिग्गज अन्य कोई नही हैं, बल्कि पेपरवेटका काम करनेवाले पहाड़ ही है। इन पहाड़ोंके नग, अचल, अद्रि आदि यथार्थ नाम है और सचमुच पृथ्वीके इतिहासमे अगर कुछ स्थिर है, तो वह पहाड़ ही है। सरोवर सूख गये, नदियोंने अपने मार्ग बदले, टापुओने जलाशयमे डुबकिया लगाई या फिर ऊपर उठाया, लेकिन पुराने जमानेकी निशानियां बतानेवाले स्थिर रूपसे खड़े पहाड़ ही हैं।

जिस तरह नदियां मानव-संस्कृतिकी माताएं है, उसी तरह पहाड़ है मानव-सस्कृतिकी मर्यादाएं।

नदियोंकी दृष्टिमे सोचा जाय, तो पहाड़ है उनका पीहर और समुद्र है उनकी ससुराल। पहाड़की गोदमे जन्म लेना और अनेक तरहसे घूम-घामकर रास्ता खोजने और समृद्धिकी खैरात करते आखिर समुद्रके पेटमे घुस जाना यही है नदियों-का जीवनक्रम। एक-दूसरे पर आधार रखनेवाली वनस्पतिया और प्राणी इन दोनों कोटियोको संभालनेका काम है इन नदियोका।

लेकिन मनुष्यने तो पहाड़, नदियां, सरोवर, समुद्र सबको परेशान करके अपनी स्वच्छन्द क्रीड़ा चलाई है। उसने कभी पहाड़ या समुद्रकी मर्यादा कबूल नही की। इस मनुष्यका सबसे पहला नटखट प्रतिनिधि था अगस्ति। सुनते है कि उसने पहाड़को औंधा सुला दिया और वह समुद्रको भी पी गया।

पचमहाभूतोमेसे आकाश सर्वव्यापी होनेके कारण वही सचमुच जीवनाधार है। लेकिन, ईश्वरके समान सर्वव्यापी होनेके कारण हम उसे भूल जाते है। वायु सर्वव्यापी नही है, लेकिन सर्वगामी है। वह हमारे पेटमे भी क्रीडा करता है और बाह्य जगत्मे भी दौड़-धूप करता है। लेकिन उसकी पहुंच पृथ्वीसे अधिक दूर तक नही है। अनन्त आकाशका अवकाश होने पर भी पृथ्वीको छोड़कर वह अधिक दूर नही, जा सकता।

अग्नि या तेज सचमुच तो अलग तत्त्व ही नही है। तेज, यानी वस्तु-मात्रके अन्दर रहनेवाली मस्ती। वह कभी समान रूपसे फैली हुई नही होती। सम्पत्तिके सम-समान वितरणसे शायद संसार सुखी होगा, लेकिन तेजरूपी मस्तीका अगर समान वितरण किया, तो संसारका सारा व्यवहार ही रुक जायगा। जबतक असमानता है, तबतक युद्ध और विग्रह चलते ही रहेंगे, ऐसा कहनेवालोंको यह भी भली-भांति याद रखना चाहिए कि जब तक असमानता हैं, तबतक ही जीवन है। असमानता नष्ट हुई कि बहती हुई नदियां रुक जायेगी, मनुष्यको भूख भी नही लगेगी और बिजलीके प्रवाह भी कायमके लिए रुक जायेंगे, ज्ञानके क्षेत्रमे असमानता होनेके

कारण एक वर्ग दूसरे वर्गका शोषण कर सकता है, यह जैसा सही है, वैसे ही यह बात भी ध्यानमें रखनी पड़ेगी कि ज्ञानकी असमानता है, इसीलिए शिक्षणका कार्य चल सकता है, विचार-विनिमय हो सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि सेवाको भी प्रेरणा मिलती है। समानता यानी दूसरा कुछ नहीं है—निरा जलप्रलय है, जल-प्रलय ! ऐसा जलप्रलय टालनेका काम अगर किसीने किया हो तो वह छोटे-बड़े पहाड़ोंने ही किया है। इसलिए हमें उनको सारी सृष्टिके उद्धारक कहना चाहिए।

ऐसे आत्मोद्धारक और जगदुद्धारक पहाड़ोंका उपस्थान न किया, स्मरणपूर्वक उनका स्तोत्र न गाया, तो जीवन कृतार्थ नहीं होगा, ऐसा सोचकर बाल्यकालसे छोटे-बड़े पहाड़ोंकी पार्थिव उन्नतिका जो दर्शन मुझे हुआ है, उसका स्मरण करनेका सोच रहा हूं। विस्मृतिने समानता स्थापन करनेका पूरा प्रयत्न करनेके बाद भी स्मृतिके जो कुछ शिखर अभी सिर ऊंचा किये हुए हैं, उनकी मददसे ही यह ज्ञानमय तप करना होगा।

२०-८-१९५७

१५. भाग्य-पलटके पहाड़ी स्थल

शिमलामे एक जगह है—टेकड़ीकी धार या चट्टान, जिसकी एक बाजू पर पड़ा हुआ पानी बहता-बहता सिन्धुमें मिलता है और सिन्धुकी मददसे पश्चिमी सागरमें जा गिरता है। अगर हवाकी तरंगसे वही पानी ५-१० हाथ पर दूसरी बाजू गिरा, तो वही पानी बहता-बहता गंगाजीमें जा मिलता है और गंगा उसे हीरा बन्दरगाहके पास पूरब सागरमें छोड़ देती है। प्रारंभमें छोटा-सा फर्क हुआ, तो भाग्यकी गति ही उलट जाती है, इसका यह उदाहरण है।

जब शिमलाकी उस टेकरी पर पहुंचा और यह बात सुनी, तब घंटों तक उसी का चिन्तन चला। दुबारा जब शिमला गया था, तब उसी टेकरी पर एक सरकारी होटलमें ठहरनेका मौका मिला। तब वहांसे आसपासका मुल्क दूर-दूर तक देखा, लेकिन नाविन्य नही होनेसे गहरा चिंतन न हुआ। आज जो स्मरण है वह प्रथम दर्शनका ही है।

एक इंजीनियर मित्रके साथ जब सबसे प्रथम लोनावला गया था, तब घूमते-घामते मनुष्यकृत तालाब देखते एक ऐसे स्थान पर पहुंचा, जहां इन्द्रायणी नदीका उद्गम था। जरा आगे जाकर एक पहाड़ी खेतके किनारे हम खड़े हुए। एक छोटे-से बांधके ऊपर मैं खड़ा था। एक पांव एक खेतमें और दूसरा दूसरेमें। अय्यरजीने मुझसे कहा कि, 'यहां अगर बारिश हुई, तो आपके दाहिने पांवके पासका पानी बहता-बहता उल्हास नदीके जरिये बम्बई समंदरमें आकर मिलेगा। और जो बूंदें

आपके बायें पांवके नीचे गिरेंगी, वे सब दूसरे रास्ते इन्द्रायणी, भीमा, कृष्णाका प्रवाह लेकर मच्छलीपट्टणके पास पूर्व समंदरको पहुंच जायेंगी। यह है उनका भाग्य-स्थान। हवाकी छोटी-सी बयार इनके भाग्यमें इतना बड़ा फर्क करेगी।' मैंने कहा, 'लेकिन, अगर उनका भाग्य ऐसा ही सिकन्दर रहा, तो ये दो बूंदें नाचती-कूदती उन्मत्त होकर कन्याकुमारीके पास एक-दूसरेसे मिलेंगी। नही तो लंकाके दक्षिण देवेन्द्रके पास जाकर एक-दूसरेमें विलीन हो जायेंगी। अन्तिम लक्ष्य तो अद्वैत ही है न?'

हम दोनों हंस पड़े। क्योंकि अय्यरजी भी अद्वैत वेदांतके अभ्यासी थे।

अरावली पहाड़मे एक ऐसा स्थान है, जहासे दो नदियां निकलती हैं। एक पश्चिमकी ओर जाती है, दूसरी पूरबकी ओर। जो पश्चिमकी ओर जाती है, उसकी यात्रा कच्छके रणमें जाकर विफल होती है। दूसरीकी यात्रा पूरबकी ओर जाकर चर्मण्वतीमे समाप्त होती है। चर्मण्वती अपनेको यमुनामें विलीन करती है। यमुना गंगासे मिलती है और गंगाका अनेकमुखी संगम पूर्व सागरके साथ होता है।

यहां खूबी यह है कि हमारे पूर्वजोंने इन दोनों नदियोंको एक ही नाम दिया है—बनास। किसीने लिखा है, बनासके मानी होते हैं वनकी आस, जंगलकी उम्मीद। पश्चिम बनासकी उम्मीद सफल न हुई, लेकिन रणके अन्दर जाकर बारिशके दिनोंमें पश्चिम समुद्र तक पहुंचनेकी संभावना उसके पास भी है। कैसा भी हो, इन नदियोंके और जलकी बूंदोंके भाग्यके जैसा कई भारतवासियोंका भाग्य भी जन्मकालमें ही थोड़े-से स्थल-भेदसे बदल गया है और भारतवासी मानते हैं कि अगर इतिहासको लाघकर हम अनन्तकालका चिंतन करेंगे तो हरएकको नाम और रूप छोड़कर परमात्मामें विलीन होना ही है। जहां सबका परम भाग्य एक है, वहां स्थल-कालकी मर्यादासे बंधे हुए छोटे-मोटे भाग्यका ख्याल कौन करे? अनन्तके उपासक सांतकी चिंता नही करते।

२३-७-१९५७

१६. पहाड़का प्रथम दर्शन

बचपनमें हमारे घरमें मेज-कुर्सियोंकी भीड़भाड़ नहीं थी। नीले रंगके या लाल बेलबूटेवाली जाजम जमीन पर बिछाई हुई रहती थी। इसलिए हम बच्चोंको उधम मचानेके लिए काफी जगह रहती थी। घरके नौकर महादू ये जाजम कितनी भी सावधानीसे कमरेमें समतल बिछाकर रखे, तो भी हम खेल-कूदकर उन जाजमों पर सलवटें ड़ालते और देखते-देखते जाजम पर तरह-तरहकी टेकरियां खड़ी होतीं।

यह मजा देखकर एक दिन मेरे मनमें आया कि यह जो अपने-आप पहाड़ी सलवटें पैदा होती हैं, उतना काफी नहीं है। हम अगर इन जाजमोंको चुटकियां भरके बीच-बीचमें तम्बू खड़े करते हैं, तब उनकी शोभा कुछ और ही होती है और जब चुटकी छोड़ देते हैं, तब तम्बूकी एकाध टेकरी तैयार होती ही है। अगर शिक्षक चुटकी भर सकते हैं, तो हम भी इन जाजमोंको चुटकी क्यों न भरें? ऐसा विचार मनमें पैदा होते ही जाजमी टेकरियों पर सांभरके सिंग के-से शिखर भी तैयार होने लगे।

मुझे कल्पना भी नहीं थी कि मेरा यह जाजमी खेल भूकम्प-विज्ञानका प्रारम्भ ही था।

साताराके हमारे घरसे बाहर आते ही दाहिनी ओर ऊंची टेकरी पर अजमतारा या अजिक्यताराका किला दिखाई देता। मैं उठ-बैठ करता, तब किला भी ऊपर-नीचे होता था। मुझे लगा कि यह टेकरी सचमुच किसी राक्षसके द्वारा पृथ्वी को चुटकी भरके ऊपर उठाई गई सलवट ही होगी।

पहाड़का मेरा यह प्रथम दर्शन और प्रथम चिंतन। छोटी-मोटी कोमल घास उस पहाड़से चिमटकर रहती। ग्रीष्मकी धूपने उसे झुलसा दिया, तो भी वह तो पहाड़से ही चिपकी रहती। इक्का-दुक्का पेड़, उस पार क्या है, यह देखनेके शौक से टेकरी पर चढ़कर खड़ा था। पहाड़ देखकर मुझे बड़ी खुशी होती थी। मनमें आता कि तलहटीतक जाकर नजदीकसे उसका दर्शन करूं। लेकिन, हमे तो ढोल्या गणपतिके मन्दिरसे अधिक दूर जानेकी इजाजत नही थी। अगर मैं पेड़ होता, तो टेकरीके माथे पर खड़ा हो सकता था, बड़ा होने पर यह किला देखनेके लिए अवश्य जाऊंगा—ऐसे संकल्प मनमें उठते। लेकिन, किसीने कहा कि वहां जानेके लिए इजाजत लेनी पड़ती है और वह आसानीसे नही मिलती।

उसी समय यह भी सुना हुआ याद है कि सातारा शहरमें कही-कही जो नल हैं उनका पानी यवतके पहाड़से लाया गया है।

एक दिन हम साताराके पासके पहाड़की सुरंग देखने गये।

[सुरंगका नाम लेते ही बचपनका एक प्रसंग याद आया। उसका बयान करके ही आगे बढ़ना उचित होगा। एक दिन किसीने कहा कि सुरंगके मुखके पास पहाड़ में से एक झरना बह रहा था। उस झरनेका पानी पीनेके लिए एक आदमी झरनेके पास गया और अंजलिसे पानी पीने लगा। इतनेमें ऊपरसे एक बड़ा पत्थर छटककर नीचे आया और उसके नीचे उस आदमीकी 'चापटपोली' (चपाती) हो गयी।

सुरंग किस चीजको कहते हैं और 'चापटपोली' मानी क्या, दोनोंसे मैं अनजान था। मेरा भाई गोंदू (गोविंद) सुरंग देख आया था। उससे मैंने पूछा। उसने कहा, 'सुरंग बिलकुल कुएंके जैसी होती है। फर्क इतना ही है कि कुआं जमीनमें खोदा हुआ होता है जबकि सुरंग पहाड़में आड़ी खोदी हुई होती है। हम नलीमें

से देखते हैं, उसी तरह इस सुरंगमेंसे देखा, तो उस पारका आसमान दिखाई देता है। मुझे कुछ भी बोध नहीं हुआ। उसने जमीन पर सुरंगकी आकृति खींचकर दिखाई। उससे तो आदमीकी ऐसे स्थान पर चापटपोली कैसे हुई, यह भी समझना मुश्किल हुआ। 'तुम कुछ समझ नहीं सकते।'—कहकर गोंदूने बातचीत समाप्त की। इसे कुछ भी समझाना नहीं आता, ऐसा मेरे मनने निश्चय किया और सुरंग और चापटपोली अज्ञात शब्द हैं, इतनी बात मेरे मन पर अंकित हुई।]

हम सुरंग देखने गये। प्रत्यक्ष दर्शन होते ही गोंदूका आड़ा कुआं मनको जंच गया। इतना ही नहीं, बड़े पत्थरके नीचे, चापटपोली बने हुए आदमीकी भी मैं कल्पना कर सका।

सुरंगके आरपार जाने पर एक नई ही सृष्टि दीखने लगी। हम बहुत ऊंचाई पर थे। ऊपरसे नीचे तकका प्रदेश ठिंगना मालूम होता था। वहां पर चरनेवाले मवेशी बिलकुल छोटे-छोटे दिखाई देते थे। सारा दृश्य बड़ा मजेदार लगा। दाहिनी तरफ दूर एक पहाड़ दिखाई देता था। मनीने मांसे कहा—उस पहाड़ पर ही रामदास स्वामीका सज्जनगढ़ है। मनीकी मांने उस दिशामें हाथ उठाकर नमस्कार किया। मेरी मांने भी किया और उनकी देखादेखी मैंने भी किया। नमस्कार करनेमें हमारा क्या जाता है! उसमें कुछ पुण्य ही होगा, इतना ही विचार उस समय मनमें आया।

२४-६-१९५७

१७. अंचलोंका तर्पण

संस्कृतमें पहाड़ोंको 'नग' कहा जाता है। न चल सकने वाली वस्तुएं जगत्में कितनी ही हैं। सामान्य दृष्टिके लिए पृथ्वी स्थिर है। पेड़-पौधे स्थावर है। घर-मकान भी जगह-की-जगह ही रहते हैं। उनमेंसे किसीको नग न कहकर पहाड़को ही नग क्यों कहा होगा? पहाड़को देखकर अगर मनमें यह अपेक्षा उत्पन्न होती कि वह चले, आगे बढ़े, सरके और ऐसा कुछ नहीं होता देखकर अगर आश्चर्य हुआ होता, तभी मनुष्यका पहाड़को 'न-ग' कहना ठीक होता। बेचारा भोला भीम-सा, मस्त, अपनी जगह पर खड़ा है। उसे किसीने 'गच्छ-गच्छ' कहा नहीं, 'सर्प-सर्प' कहा नहीं। फिर उसे ही 'यह मुरदार-जात चलता नहीं, बिल्कुल न-ग है' ऐसा क्यों कहा?

'रहो-रहो कहने पर भी, नहीं रहता, और दिलको चाव लगाकर चल ही देता है,' इसलिए पाहुनेको लोगोंने अतिथि कहा यह ठीक है। 'अतति, गच्छति, न तिष्ठति इति अतिथिः' ऐसी अतिथिकी व्याख्या कही है। पहाड़से किसीने वैसा

नहीं कहा। ऐसे ही कोई समर्थ पुरुषने पहाड़से कहा होता कि 'बाबा, बड़ा जरूरी काम है, चल पड़ो।' तो अवश्य इसने उसकी बात सुनी होती। ज्ञानेश्वरने दीवार-को 'चल' कहा, तो वह चली कि नहीं ?

जैसे भी हो, लेकिन पहाड़का दोष निकालनेकी दुर्बुद्धि मनुष्यको हुई और उसने उसके लिए नग यह छोटी-सी गाली ढूंढ निकाली। एक चलनेकी बात छोड़-कर बाकी सब धंधे यह पहाड़ करता आया है। दौड़ती हवाको रोके रखना यह उसका पहला काम है। आकाशके बादलोंको धर-पकड़ कर उससे वृष्टि वसूल कर लेना उसका दूसरा काम है। इस वृष्टिके जोरसे असंख्य वनस्पति-जगत्‌के बड़े-बड़े साम्राज्योंको बढ़ाना यह उसका सबसे महत्त्वका काम है।

वृष्टि बड़ी मनमौजी होती है। थोड़ी देर पड़ती है, फिर कई महीने यों ही काले (श्याम) करती है। उसपर भरोसा नहीं किया जा सकता। इसीलिए वृष्टिका जल अपने पेटमें संचित करके उसे जगह-जगह झरनेके रूपमें बहा देना यह पहाड़का सबसे बड़ा कौशल है। ऐसे असंख्य झरने एकत्र होकर उनसे नदी बन गई, तो पहाड़का दिल वात्सल्यसे उमड़ पड़ता है। पर्वतकी कृपासे ही नदीको जन्म मिला है, यह देखकर मनुष्यने नदीका नाम रखा 'पार्वती'। कभी-कभी आकाशका और उसके बादलोंका प्रतिबिम्ब अच्छी तरह लिया जा सके, इसलिए पहाड़ एक द्रोण या अंजलि तैयार करता है और उसमें सरोवरको स्थान देता है। सरोवर अगर अंजलि में समाये नहीं और द्रोणमेंसे छलकने लगे, तो उसमेंसे सरोजा नदी बहने लगती है। पार्वती और सरोजा दोनों पर्वतकी बेटियां हैं।

[आकाशके पंछी, पृथ्वी परके जानवर और सरोवरके मगरमच्छ ये सब सच-मुच पर्वतके ही अपत्य हैं।]

पेड़ स्नान करते हैं। आलस आता है, तो अंगड़ाई लेते हैं। गरमीसे तप जाने पर पर्जन्य स्तोत्र गाते हैं। फिर ताप, वर्षा स्नान और वे सूखे पत्ते हम सबके सह-योगसे पृथ्वीके लिए उत्तम-से-उत्तम खाद्य (खाद) तैयार करके ये पेड़ पृथ्वीके ऋणसे उऋण होते हैं। पृथ्वीसे अगर रस मिला है, तो उसे पूरा-पूरा कस (अर्क-सार) देना यह यज्ञ-कार्य है। यज्ञ माने कर्ज चुकाना। यह काम जिस प्रकार बादल करते हैं, उसी प्रकार पेड़ भी करते हैं। 'संचय करना तो देनेके लिए ही है' यह बात सूर्यकी किरणों को भी मालूम है। समुद्र, सरोवर, नदी, तालाब, पोखर जहां कहीं पानी हो, वहां से अदृश्य भापका कर वसूल करना यह सूर्य-किरणोंका काम है। फिर, उस भापको बादल बनाकर नाना देशों पर लटका देना और प्यासी जमीनसे पूछना कि 'पानी चाहिए ? पानी चाहिए ?' और फिर, ज्यों ही तपी हुई जमीनने मांग की और बादलोंका धीरज छूटा कि बस बादलोंसे पानीकी सजल किरणें छोड़ देना यह भी सूर्यके तापका काम है। सबसे तप किस प्रकार करवाया जाय, सूर्यको ही मालूम है।

इन सब उठा-पटकका उद्‌गम-स्थान अपना पहाड़ है।

सचमुच 'रत्नाकर' नाम समुद्रको क्यों दें ? पहाड़को क्यों न दें ? यह एक बड़ी समस्या ही है। समुद्रके गर्भमें मोती और मूंगेके सिवा और कौन-से रत्न हैं ? पहाड़के गर्भमें हीरे होते हैं, माणक होते हैं, पन्ना और वैदूर्य होते हैं, नीलमणि और शनि होते हैं। स्फटिक, अकीक, चकमक, पहाड़के गर्भमें क्या नहीं है ?

और, फूलोंकी सुगन्ध, हरिणोंकी नाभीकी कस्तूरी, सिन्दूरका रंग, संन्यासीके लिए गेरू, सब कुछ पहाड़के पेटमें सचित है। सब-की-सब खनिज सम्पत्ति, याने पहाड़के घरका खजाना।

किस देशकी आबोहवा कैसी हो, यह पहाड़ ही ठीक कर देता है। ब्रह्मदेशमे पहाड उत्तरसे दक्षिणकी तरफ लम्बे पड़े हैं, इस कारण चीन देशकी हवाओंको ब्रह्मदेश होकर हिन्द महासागर तक जानेकी सुविधा हो गई। यहा हमारे देशमे माधाना, हिमालय, शिवालिक, विन्ध्य, सातपुड़ा सब आड़े सोये हुए है, इसलिए उत्तरकी ठण्डी तिब्बती हवाएं हमारे यहां नहीं आ सकती। फलत:; यहांकी हवा हमारे लिए इतनी अनुकूल हो गई।

बादल, नदी और सरोवर ये सब पहाड़के बनाये हुए पानीके खजाने शायद कम पड़ें, इस डरसे बड़े-बडे पहाड़ोंने एक नया व्यूह रचा। भापका पानी बनाकर उन्हें संतोष नही हुआ। उस पानीका उसने पहले चूर्ण किया और फिर उसकी चट्टानें बनाईं। संगमरमरके पत्थरसे भी ज्यादा शुभ्र और संतोंके हृदयसे भी ज्यादा शीतल ऐसी पानीकी चट्टानें उसने अपने माथे पर धर ली और सूर्यसे कहा—"आ, तुझे खेल खेलनेका सुभीता कर देता हूं। मेरी इन पानीकी चट्टानों पर अपनी किरणें धंसाना जा, तो उससे छोटे-छोटे नाले बनेंगे। उन्हें मैं धीरे-धीरे नीचे उतार दूगा। ऐसा करनेसे नदीकी दो बाढ़ें आयेंगी—एक बरसाती बाढ़ और एक गरमीके दिनोंकी बरफीली बाढ़। कैसा मजा है ?"

मनुष्य जब कंधे पर कावर उठाता है, तब भार बराबर हो, इसलिए वह एक पल्लेका माल दूसरे पल्लेमें धरता है। गाड़ीमें रखे हुए सामानका बोझ बैलकी गरदन पर अधिक न हो या पीछेकी तरफ भार अधिक होकर बैलोके गले ऊपर न खिच जाय, इसलिए सामान आगे-पीछे सरीखा रखा जाता है। नावमें सामान भरते समय अगर वह एक तरफ ज्यादा हो जाय, तो नाव झुककर उलट जायगी, इसलिए वहां भी दाईं-बाईं तरफ समभार करना पड़ता है। इन सब अनुभवोंके आधार पर मनुष्यने कल्पना की कि पृथ्वी भी अपना भार समप्रमाणमे झेल सके, वह एक तरफ झुक न पड़े, इसीलिए ये पहाड़ ठौर-ठौर रखे गये हैं। ऐसे पहाड़ोंको कुलपर्वत कहते हैं। दक्षिण भारतके हिस्सेमें ऐसे सात कुलपर्वत आये हैं। 'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः, विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः।' इनमें सिर्फ हिमालयको स्थान नही है। सिन्ध, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल यह सब प्रदेश जब समुद्र था और दक्षिण हिन्दुस्तान एक बड़ा टापू था, उस

समयकी यह स्मृति होनी चाहिए।

ऐसे सर्वकल्याणकारी पहाड़ोंका अब स्मरण करनेका विचार है। 'लोकमाताओं' की भक्तिपूर्वक उपासना करनेके बाद और 'जीवन-लीला' का कौतुक करनेके बाद अब स्थिर होकर इन प्राचीन पितरोंका श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करना क्रमप्राप्त ही है।

इस कामके लिए नगाधिराजका हमे आशीर्वाद हो!

१३-३-१९५७

१८. पंचहिमाकर

[सिक्किमकी राजधानी गंगटोकसे दीखनेवाला हिम-शिखर कांचेनझांगा।]

गानटोकके मानी ही हैं उच्च शिखर। उसमें भी यह कोठी सबसे ऊंची जगह पर है। यहांसे कांचेनझांगा (जिसका अर्थ अंग्रेजीमें दिया है—Five Treasures of Snow) बहुत ही सुन्दर और भव्य दीखता है। मैंने तुरन्त उसका नाम रखा—'पंचहिमाकर। समुद्र अगर रत्नाकर है, तो कांचेनझांगा अपने छोटे-बड़े पाच शिखरोंके साथ अवश्यमेव हिमाकर है।

दो दिन हुए, सुबह उषःकालसे ही इन शिखरोंकी शोभा पीकर हम मस्त हो रहे हैं। क्षण-क्षण बदलते उनके रंग देखते ही बनता है। प्रथम तो केवल सुधाधवल रंग—मानों ऋषियोंकी तपस्या। उसपर प्रभातकी छटा पहुंचते ही सारे शिखर चमकते हाथी-दांतकी शोभा धारण करते हैं। उसके बाद अपनी ऊंचाईके क्रमसे वे उषाकी लालिमा बनाने लगते हैं। शिखर परसे यह पाटल रंग जब नीचे उतरने लगता है, तब खयाल आता है कि ये सब महादेव स्नान कर रहे हैं। अब पाटल रंग गुलाबी बन जाता है, लेकिन एक क्षणके लिए ही। तुरन्त उसका रूपान्तर अग्नि-शिखाके तेजस्वी गेरुएमें हो जाता है। लेकिन, देखते-देखते वह ताम्रवर्ण बननेका प्रयत्न करते सुवर्ण बन जाता है। यह रंग जब अपनी कान्तिको सब खाइयोंमें और दरियाओंमें पहुंचा देता है, तब बरफको भान होता है कि ये रंग अपने नहीं हैं। हमे तो सारा दिन चांदीसा सफेद ही दिखाना है।

कल सुबह पंचहिमाकरने अपने शिखरके नीचे, कपालके इर्द-गिर्द बादलोंका उष्णीष लपेटा था; क्योंकि वह प्रथम दर्शन था। आज सब-के-सब बादल पहाड़की घाटीमें सोये हुए थे और आकाश निरभ्र, स्वच्छ नील रंगमें था। एक बाजू चन्द्र बताता था कि यहीं पर तुमने एक घंटेके पहले मंगलको देखा था। उसका लाल रंग मेरे पास नहीं है, लेकिन उसका स्थान तो मैं बता सकता हूं।

[गंगटोक, सिक्किमसे लिखे हुए पत्रमेंसे]

सितंबर, १९५६ ई०

१९. पहाड़का फूल : सिक्किम

हिमालयकी गोदमें नेपाल और भूटानके बीच सिक्किम एक छोटा-सा राज्य है। इन तीनोंका आकार देखते हुए किसीने सही कहा है कि नेपाल और भूटान दो पत्तोंके जैसे फैले हुए हैं और इन दोनोंके बीच सिक्किम एक सुन्दर फूल-सा खिला हुआ है। सिक्किमका सारा राज्य ही पहाडी है, लेकिन इसमें भी उत्तर, पूर्व और पश्चिम, तीनों ओर ऊंची-ऊंची पर्वतमालाएं होनेके कारण सिक्किम राज्यका आकार कुदरतने ही तय कर दिया है। बौद्ध गुफाओंके द्वारके ऊपर जो बहुत बडा गवाक्ष होता है, उसीके जैसा इस राज्यका आकार है। अंग्रेज लोग इसे घोड़ेकी नालकी उपमा देते हैं।

इस छोटेसे, सुन्दर हिमालयीन मुल्क पर त्रिविष्टप (तिब्बत) वंशके बौद्धधर्मीय राजा राज्य करते हैं। इस राज्यमें नेपाली, भूटानी और लेपचा लोग भी काफी संख्यामें रहते हैं और ये चारों प्रकारके लोग आपसमें अच्छी तरहसे घुलमिल गये हैं। जब राजाका ही राज चलता है, तब राजवंशी लोगोंकी प्रतिष्ठा कुछ अधिक रहती है। लेकिन प्रजा चाहे जितनी पचरंगी क्यो न हो, अमन-चमनसे आपसमें घुल-मिल जाती है। जब राजसत्ता कमी-बेश प्रजाके हाथमें जाती है, तब प्रजाकीय जागृतिके साथ लोगोंमें कुछ अस्मिता आ जाती है और फिर जनताके सब हिस्सोंको सन्तोष देनेके लिए कुछ-न-कुछ व्यवस्था करनी पड़ती है अगर खूबीसे काम लिया, तो प्रजाकीय संगठन करना और लोगोंको उन्नतिके पथ पर ले जाना कठिन काम नहीं है। केवल राज्यके अधिकार उपभोग करनेकी बात आती है, तब लोग एक ढंगसे सोचते हैं, लेकिन जब प्रगति करने चारों ओर पुरुषार्थ बढ़ानेकी तैयारी करनी पड़ती है, तब तो प्रजाका मानस रचनात्मक ढंग पकड़ता है, परस्पर सहयोग बढता है और सबको उन्नतिका अवकाश मिलने पर लोग सन्तोषके साथ आगे बढ़ते है।

कुछ दिन हुए, तीस्ता नदीका परिसर देखनेके हेतु सिक्किम गया। तीस्ताका पोषण करनेवाले बड़े-बड़े पहाड़ और उनके गगनभेदी शिखर भी देखने थे। पर्वतीय प्रदेशोंमें पहाड होते हैं पिता और नदिया होती है उनकी पुत्रियां। पहाड़ और नदियोके आश्रयमें रहनेवाले मनुष्यमे कुछ खासियत आ जाती है। उनकी संस्कृतिकी एक बिशेषता होती है। उसका अध्ययन करना भी आनन्दका विषय होता है। मैंने देखा कि सिक्किमकी प्रजा बड़े ही सन्तोषसे प्रगतिके पथपर पहुंच गई है और अब उसका विकास अच्छी तरहसे होगा।

एक बात खास ध्यानमे रखनेकी है। जबतक विज्ञानकी प्रगति नही होती, तबतक पहाड़ी प्रदेशके मनुष्यको प्राकृतिक कठिनाइयोंका कड़ा सामना करना पड़ता है। इससे उसकी कुछ शक्तियोंका विकास होता है, जीवट (Vitality) बढ़ती है; किन्तु प्रकृतिके साथ असमान युद्ध चलाते-चलाते प्रजा कुछ थक भी जाती है। उसका

सर्वतोमुखी विकास नहीं होता; केवल जीवन कलहमें सारी शक्ति खर्च होनेसे उसकी सारी महत्त्वाकांक्षा नष्ट होती है।

विज्ञान बढ़नेसे मनुष्यकी ताकत बढ़ती है, प्रतिकूल वस्तु अनुकूल होती है और जो प्राकृतिक शक्तियां बाधक थीं, वही हर तरहसे साधक बनती हैं।

पहाड़ोंमें ऊंचे-ऊंचे प्रदेश जीवन-विकासके लिए अनुकूल होते हैं। वहांकी आबोहवा प्राणदायी होती है। तरह-तरहके फूल प्रसन्नता देते हैं। स्वादिष्ट मेवे पुष्टि देते हैं। लेकिन, इन ऊंचे स्थानों पर मनुष्य तभी आरामसे रह सकता है, जब ठण्ड और विज्ञानकी मददसे वह बिजली पैदा करता है, अच्छे-अच्छे पुल बनाता है, बरफसे अपना रक्षण कर सकता है और शिक्षाके प्रचारसे लोगोंमें ज्ञान और सहयोगका वायुमण्डल बन जाता है।

पहाड़ोंकी तराईमें जहां नदियां बहती हैं और घाटियोंके अन्दर दंश-मशक आदि कीटसृष्टिका साम्राज्य होता है, वहां रहनेवाले लोगोंका जीवन बड़ा ही कष्टप्रद होता है। तरह-तरहके रोग वहां फैलते हैं। पहाड़ोंके गरम हो जानेसे घाटियोंमें जीना मुश्किल हो जाता है। समतल जमीन नही होनेसे नदियोंके पानी का पूरा उपयोग नहीं होता, खेती कम उपजाऊ होती है और बारिशके कारण उसका कस भी बह जाता है।

विज्ञानकी मददसे दशं-मशक आदि कीटोंका इलाज हो सकता है। नदीके स्रोत-से बिजली पैदा हो सकती है। छोटे-छोटे कल-कारखाने चल सकते हैं। पहाड़ी लोगोंको टेकरीकी बाजूपर नदीके घाटके जैसी (Terrace cultivation) खेती करनेकी आदत तो होती ही है। इससे जमीनका कस बह जानेसे रुकता है और जगह-जगह पानी ठहरनेसे खेती अच्छी होती है। इसी पद्धतिको जब विज्ञानकी मदद मिलेगी, तब सारा पहाड़ फसलसे भर जायगा।

हिमालयकी ऊंचाई पर जो हिमराशि (Glaciers) होते हैं, उनसे भी विज्ञान तरह-तरहकी मदद ले सकता है। विज्ञानकी मददसे हिमालयीन पहाड़ी जीव बिलकुल बदल जायगा। शर्त इतनी है कि विज्ञानके अच्छे जानकार लोगोंको पहाड़में जाकर बसना चाहिए। मुट्ठी-भर विज्ञानवेत्ता पहाड़ी लोगोंका जीवन देखते-देखते बदल देंगे। पैसेकी जरूरत होगी सही, लेकिन इस दिशामें जो कुछ भी खर्च होगा, वह राष्ट्रीय समृद्धि बढ़ानेमें मदद करेगा।

चीनी सरकार तिब्बतकी ओर नये-नये सुधार कर रही है। इस ओर हमें भी उतनी ही प्रगति करनी होगी। आजकी हालतमें हिमालयकी भूमि बहुत कम लोक-संख्या बरदाश्त कर सकती है। वहांके लोग कहते हैं कि कुदरतकी प्रतिकूलताके कारण ही हमारे यहां प्राचीन कालसे कन्या-विक्रय और द्रौपदीके जैसी बहुपति-प्रथाको बरदाश्त करना पड़ा है। विज्ञानकी मदद पहुंचाते पच्चीस-पचास बरस जरूर लग जायेंगे। इतनेमें पहाड़ी लोगोंका जीवन आमूलाग्र बदल जाएगा। आज

का पहाड़ी जीवन-क्रम इतना कठिन है कि विज्ञानसे मिलनेवाली सहूलियतें वहांके लोग बड़ी खुशीसे अपनायेंगे और जो लोग आज सबसे पीछे हैं, वे शायद विज्ञान-वेत्ताओंकी मदद मिलने पर सबके साथ अग्रसर हो जायेंगे।

भारतके उद्योगपतियों और भारत-सरकारको भी चाहिए कि वे हिमालयके पहाड़ोंमें जगह-जगह विज्ञानकी प्रयोगशालाएं खोल दें। पहाड़के भेड़-बकरोंका और अन्य पशुओंका जीवन सुखमय करना यह भी हमारा काम है। हिमालयसे और तिब्बतसे आनेवाली ऊन अच्छी होती है। विज्ञानकी मददसे उसे हम मुलायम भी बना सकते हैं।

सिक्किमका दर्शन करते ऐसे अनेक विचार मनमे आये।

सिक्किममें बौद्ध, शाक्य और वैष्णव ऐसे तीन धर्मोंका सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इस समन्वयने अपनी एक विशेष ढंगकी चित्रकला भी पैदा की है, जिसके आध्यात्मिक भावका नये सिरेसे अध्ययन होना चाहिए।

हमारी युनिवर्सिटियां भारतकी प्रधान भाषाओंका अध्ययन अभी-अभी करने लगी हैं। संस्कृत, पाली, मागधी आदि भाषाओका अध्ययन अब जरूर बढ़ेगा। अंग्रेजीके अलावा यूरोपकी अन्य भाषाएं पढ़नेका प्रबन्ध भी होगा। लेकिन, चन्द विद्यार्थी ऐसे भी तैयार होने चाहिए जो हिन्दुस्तानकी पहाड़ी जातियोंकी भाषाएं सीखें और भाषाशास्त्रकी प्रगति करें तथा पहाड़ी लोगोंकी सेवा भी करें। हमारे पड़ोसी देशकी भाषाएं भी जाननेवाले लोगोंकी सख्या काफी मात्रामें होनी चाहिए।

भारत स्वतन्त्र होनेसे हमारे पुरुषार्थके लिए अनेक नये-नये क्षेत्र खुल गये हैं। लोककल्याणके लिए, लोक-सेवा करनेका उत्साह अब बढ़ना चाहिए।

जो चिंतन मैंने यहां किया है, वह केवल सिक्किमके लिए नही है, सारे हिमालयीन प्रदेशके लिए है। इसमे कही भी राजनीतिक दृष्टि नही रखी है। मानव कल्याणकी ही दृष्टि है। नेपाल, सिक्किम और भूटानके लोग इसे सोचें। हम सब लोगोको एक साथ प्रगति करनी है।

१७-११-१९५६

२०. करसियांग

यदि दार्जिलिंग जैसी उसकी जबरदस्त प्रतिस्पर्धी नगरी बीस मीलके अन्दर ही खड़ी न होती, तो करसियांग ही इस प्रदेशकी प्रमुख पहाड़ी नगरी हुई होती। हवा, पानी और शोभाकी दृष्टिसे करसियांग बड़ा ही अनुकूल स्थान है।

हम करसियांग, दार्जिलिंग और कालींगपोंग इन तीन स्थानोंसे भेंट करने आये हैं। रातमें कलकत्तासे निकले और सारी रात उत्तरकी यात्रा करते हुए सवेरे

सिलिगुड़ी आ पहुंचे। पार्वतीपुर रातमें कब निकल गया, इसका कुछ पता भी नही चला। कलकत्तासे सिलिगुड़ी तकका सफ़र किसी भी ऋतुमें आह्लाद-दायक ही होता है। हरे-हरे खेत, उनके बीच सिर ऊंचा करनेवाले पेड़, संगमरमरके समान बादलोंको प्रतिबिम्बित करनेवाले जलाशय और उनके बीच अपनी सुघड़ता से सुहानेवाली झोपड़ियां सभी कुछ देखनेवालेको प्रसन्न करते हैं। इस आर्द्र मुल्कमें रहनेवालेको कितना सुख होता है, सो तो वही जाने। लेकिन, देखनेवालेको तो यह आंखोंके लिए बिछी हुई दावतके समान ही प्रतीत होता है।

सिलिगुड़ीसे हम हिमालयन लाइट रेलवेमे बैठकर पहाड़ चढ़ने लगे। कोई भी समझदार आदमी यहां रेलकी यात्रा पसन्द नहीं करता। घुमाव-फिरावोंमें मुड़ती हुई, चीखती हुई और तुच्छ-सी मालूम होती हुई ट्रेनमें बैठकर खचक-खचक तीन घंटेकी यात्रा कौन करे। इतना ही प्रदेश मामूली मोटर एक घंटेमें तय कर जाती है। हमने सीधा दार्जिलिंगका टिकट कटाया था और रेलको पूरे पैसे दे चुके थे, इसलिए रेलके ही रास्ते चले। हमारे मनमें यह संतोष तो था ही कि पहाड़का मनोज्ञ दृश्य एक घंटेमें जल्दी-जल्दी जैसे-तैसे भकोसनेकी अपेक्षा तीन घंटों तक चखते जानेमें और धीरे-धीरे उसका मजा लेते जानेमें अधिक लाभ है। तबियत ऊबने लायक यहां एक भी भूमिभाग नही है।

सिलिगुड़ीसे सूकना तक लगभग सपाट जमीन थी, यद्यपि दोनों तरफ देखनेमें आनन्द तो आता ही था। सूकनाके बाद हमने एकदम तराईके जंगलमें प्रवेश किया ऊंचे-ऊंचे वृक्षोंके अरण्य देखते ही मेरे मनमें एक विचार हमेशा आया करता है: मनुष्योंकी आबादीकी अपेक्षा पेडोंकी आबादी असंख्य गुना अधिक है। फिर भी, ये पेड़ पृथ्वी पर मानव-जातिके जितना उत्पात नहीं मचाते, यह कितना आश्चर्य? पेड़ स्थावर हैं, इसीलिए सात्त्विक हैं। समृद्धि, सेवा और सन्तोष उनका स्वभाव जान पड़ता है। पशु, पक्षी, मछलियां और मनुष्य जंगम हैं, इसीलिए जहा-तहां उत्पात मचाते हैं।

लेकिन, जब मैं यह सोचने लगा कि ये स्थावर वृक्ष भी मौका पाने पर बड़ी-बड़ी संस्कृतियोंको निगलनेमें नही चूकते और दीमक जैसे तुच्छ कीट, जिनके शरीर-में न खून है, न हड्डियां कुछ कम उत्पात नहीं मचाते, तब विश्वास हो गया कि कुदरत सर्वत्र एक-सी ही है। उत्पात सर्वत्र चलता है। दुनियामें उत्पात न होता, तो नये-नये खेलोंके लिए नई-नई रचना न मिलती।

कुदरतकी एकाध घटना देखकर जीवनके सारे तत्त्वज्ञानका विचार करना, जंगलमेंप्रवेश क के सारा अरण्य कैसा होगा, इसकी कल्पना करनेके समान है। जंगल देखते ही उसके अंदर जानेको जी चाहता है और जी भरके भटकनेके बाद अब कब बाहर निकलूंगा, ऐसा भी लगने लगता है। हम जंगलमेंसे बाहर निकले और पहाड़की कगार पर चढ़ने लगे।

खण्डाला घाट (बम्बई और पूनाके बीच) का यह अनुभव है कि रेलके रास्तेमें जितनी भव्यता है और देखनेकी तृप्ति है, उतनी मोटरके रास्ते नही है। इसलिए, मोटरके रास्ते जाने वालेको पछताना ही पड़ता है। यहां ऐसा नही है। जिस प्रकार सिरकी वेणीकी लटें एक दूसरीमे गूथी जाती है, उसी प्रकार रेलका रास्ता और मोटरका रास्ता क्षण-क्षणके बाद एक दूसरेको काटते हुए, मानो 'दाडियारास' खेल रहे है। बीचमे रास्ता एक पूरा चक्कर लगाकर पुलकी मददसे ऊपर चढ़ता है। ऐसी गांठे हम, अधिक नही, तो तीन चढ़े होगे। किसी-किसी जगह चढ़नेके लिए रास्ता न पाकर ट्रेन खण्डाला घाट या कासारा घाट बम्बई (नासिकके बीच) के पुराने रिवर्सिंग (मुहफेर-निहोर) के समान दो जगह 'मुहफेर-निहोर' करके ऊपर उठती है और आगे बढ़ती है। इस तरहके दोहरे 'पलटाव' को यहा 'झेड' Z कहते है। ऐसे 'झेड' हम तीन बार चढे। एजिन दौड़ता जाता है और रास्ता बन्द देखकर उलटे पाव लौटता है। लेकिन, नीचे उतरनेके बदले नया सुयोग पाकर ऊपर ही चढ़ता है। पीछे हटते हुए भी चढनेकी कला दरअसल मनुष्यके सीखने लायक है। पूरा पीछे हटने पर फिर आगे कदम ! वहां भी चढ़ना तो होता ही है।

रास्तेमे जगह-जगह बगीचे दिखाई देते है, मनुष्यकी बस्तिया दिखाई देती है और हंसते हुए बालक और फूल ठौर-ठौर मिलते है। ट्रेनके यात्रियोमे अधिकतर नेपाली ही थे। इनके चेहरे देखकर पता नही लगता कि ये हंसनेका इरादा कर रहे है या रोनेका। लेकिन किसी-न-किसी तरहका इरादा अवश्य दिखाई देता है। बीडी पीनेमे पुरुष, स्त्री या बालकका भेद इनमे होता ही नहीं। हम जिस प्रकार बच्चा पैदा होते ही उसे शहद चटाते है, उसी प्रकार ये लोग बालकके मुहमे बीड़ी देते हो, तो आश्चर्य नही।

रास्तेमे चुनभट्टी और तिनधारिया स्टेशनोने विशेष रूपसे ध्यान आकृष्ट किया।

ज्यों-ज्यो हम ऊपर चढ़ते गये, त्यो-त्यो बादल हमारी ऊचाईसे नीचे दिखाई देने लगे। बार-बार दूर-दूर विस्तीर्ण मैदान दिखाई देते थे और दूसरी तरफ दृष्टि-पात करने पर विशाल पर्वत नजर आता था। इन दो भव्यताओके बीच हमारी नन्ही-सी ट्रेन तो बिलकुल हास्यास्पद लगती थी। लेकिन, फिर भी इसीकी मददसे हम मैदान और पहाड़का सयोग साधते है, यह कृतज्ञताका भाव मनमे आये बिना नही रहता।

जब हम बिलकुल ऊपर आ गये, तब दूर मैदानमे एक लम्बी नदी अजगरकी तरह फैली हुई दीख पड़ी। इस नदीका नाम मै किसी भी मुसाफिरसे न जान सका। परन्तु, यह अनुमान तो किया ही कि हो न हो, यह तीस्ता है और थोड़े ऊचे चढ़ने पर तीस्ता दूर चली गई और महानदीका पाट अधिक स्पष्टतासे दिखाई पड़ने लगा। दर्शन-समृद्ध और अनुभव-परिपक्व मन पग-पग पर तुलना करने ही वाला

है हम जब ऊटकमंड गये थे, तब भी इसी तरहकी हल्की पहाड़ी ट्रेनमें बैठे थे। वहां की चढ़ाई ज्यादा सख्त होनेके कारण दो पटरियोंके बीच एक दांतेदार पहियेके लिए सीढ़ियां-सी बनी थीं। इस तरह ट्रेन नीचे खिसक न जाय, ऐसा इंतजाम किया था। दार्जिलिंगके रेलवेमें इस तरहका कोई बन्दोबस्त नहीं करना पड़ा। ऊटकमंडके रास्ते पर जिस तरह कुन्नूर है, उसी तरह दार्जिलिंगके रास्ते पर करसियांग है। ऊटकमंडका रास्ता ज्यादा खूबसूरत है या दार्जिलिंगका, यह कहना मुश्किल है। क्योंकि पुराने संस्कार जब फोटो-ग्राफिक ताजगी रखते हों, तभी तो तुलना हो सकती है? शिमला, शिलांग, ऊटी और दार्जिलिंग ये चार पहाड़ी मार्ग अगर एक साथ नजरके सामने लाये जा सकें, तो क्या ही अच्छा हो? अमृतलालके मतसे शिलांगका रास्ता दार्जिलिंगके रास्तेकी अपेक्षा कई तरहसे बढ़िया है। सिर्फ ऊंचाईमें ही नहीं, अपितु शोभाकी विविधतामें भी। जहांतक मुझे स्मरण है, शिमलाकी चढ़ाईकी बनिस्बत ऊटीकी चढ़ाई अधिक आकर्षक है। इसलिए, अब ऊटी और शिलांगके बीच ही निर्णय करना बाकी रह जाता है।

पहाड़ चढ़ते वक्त मेघोंकी शोभा कुछ न्यारी ही होती है। बालक जिस तरह क्षण में रुष्ट होते हैं और क्षणमें तुष्ट, उसी तरह ये बादल अपनी वृत्ति प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। कुछ बादल आलसी बनकर एकाध घाटीमें समा जाते हैं और थके-मांदे ढोर जिस तरह बड़ी मुश्किलसे आगे बढ़ते हैं, उस तरह घाटीमेंसे ऊपर उठते और आंखें रगड़ते-रगड़ते स्कूलको जाते हैं। हम जब मेघ-खंडसे ऊंचे चढ़ते हैं, तब बिछी हुई रूईके समान ये बादल हमारे पैरों तले दूर-दूर तक फैले हुए नजर आते हैं। धूपमें गद्दे बिछे हुए देखकर बालकोंका जी उन पर लोटनेको चाहता है, उसी तरह हमें भी यहां यह इच्छा होती है कि अगर पहाड़की ऊंचाई परसे छलांग मारें, तो इन बादलोंके गद्दे पर हम लोट सकेंगे।

यह हुई पके हुए बादलोंकी बात। कुछ कच्चे बादल धुनी हुई रूईकी तरह हमारे आसपास घेरा डालते हैं और बड़ी मधुर रीतिसे हमारा गला घोंटते हैं। और जहां हमने जरा फटकार सुनाई कि तुरन्त रोना शुरू कर देते हैं। रो-रोकर समझदार बनना तो ये बादल ही जानें। देखते-ही-देखते हवा साफ हो जाती है। भीगे हुए पत्ते चमकने लगते हैं और प्रकृति प्रसन्नतापूर्वक हंसने लगती है।

आखिर हम करसियांग पहुंचे। दोपहर हो गई थी। मेरे मेजबान श्री लक्ष्मी नारायण अग्रवाल हमारी बाट जोह-जोहकर थक गये थे। इनकी अतिथिशीलता की तारीफ पहले ही सुन चुका था। तीसरे प्रहर सभा हुई। भाई लक्ष्मी नारायण जीने पुरुषार्थ न किया होता, तो इतने थोड़े समयमें इतने सारे आदमी जमा न हुए होते। श्रोतृसमुदायमें नेपाली भी थे और बंगाली भी। दो पारसी भी थे। तीन-चार जेसुइष्टपादरी भी थे—दो गोरे और दो देशी। इन्हींमेंसे एक विद्वान्‌भाईने अध्यक्ष-पद लिया। यह मूलतः बेलजियमके हैं। भारतीय तत्त्वज्ञान और हिन्दी-

साहित्यका उन्होंने अच्छा अध्ययन किया है। सभाके आरम्भमे और अंतमे वह हिन्दीमें ही बोले। मैंने बगालियोंसे कहा —"बगला राष्ट्रभाषा क्योंकर नही हो सकती, ऐसा सवाल उठानेके बदले जो राष्ट्रभाषा बन चुकी है, उसके प्रचारका काम अपने हाथमें लो और उसपर बंगला-भाषाका असर डालो।" नेपाली भाइयों से मैंने कहा कि अपनी भाषाका विकास करनेके प्रयत्नमे हिन्दीसे दूर-दूर जानेकी कोशिश न करो, प्रत्युत अपनी भाषा पर हिन्दीका अधिक-से-अधिक प्रभाव पड़ने दो।

बंगला और हिन्दीमें सहयोग स्थापित हो, इस अभिप्रायसे मैने सारे समुदायसे कहा, एक हमारी राष्ट्रभाषा है, वहा दूसरी हमारे राष्ट्रगीतकी भाषा है। दोनोंके लिए हमारे मनमे प्रेमादर है। हम दोनोंका विकास और प्रचार एक-सा चाहते है। दोनोको 'मा विद्विषा वहै' की दीक्षा लेनी चाहिए।

सभा समाप्त करके हम पासकी एक ऊंची पहाड़ी पर गये। रास्तेमे बर्दवानके महाराजका बंगला देखा। कुछ पारसी बालक रास्तेमे खड़े-खडे शोभा देखते थे और तुतलाते हुए मधुर गुजराती बोल रहे थे। उसे सुनकर हम तुरन्त रुक गये। गुजरातीके शब्द कानमे पड़ते ही हृदय हर्षोत्फुल्ल हो जाता है। उसके प्रति अपना आदर प्रकट करनेके लिए हम जरा-से ठहरे और चायके छोटे-छोटे पौधोके बीच होकर पहाडीकी चोटी पर पहुंचे। यहांसे सारा करसियाग भलीभांति दिखाई देता था। पहाड़ी शहरोकी शोभा आड़े-तिरछे जमाये हुए नाटकके परदों जैसी प्रतीत होती है। खूबसूरत बंगले झुरमुटोसे माथा ऊपर उठाते है। लाल, सफेद, हरे रंगसे रगे हुए घरोंका चित्तपर कुल मिलाकर एक विशेष असर पड़ता है। हमारे साथ रास्ता दिखानेके लिए दो युवक आये थे। सस्कारी और शरमीले होनेके कारण ज्यादा बोलते नही थे। लेकिन जो पूछा जाय, उसका जवाब बडी प्रसन्नता से देते थे।

पहाड़की चोटी पर पहुचे। वहा सामने एक नीची पहाडीकी धारा दूरतक गई थी। पहाड़ी धाराके ऊपरसे एक ही पगडण्डी बन सकती थी। एक ओर नीचेकी तरफ जेल पेड़ोंमेसे सिर ऊंचा कर रहा था। बंगालके प्रधानमंत्री फजलुल हकका बंगला, हम भी कोई है', कह रहा था और एस० डी० ओ० का बगला पहाडीके एकदम छोर पर जाकर प्रतिष्ठाकी अस्पृश्यताका पालन कर रहा था।

दूसरी एक पहाड़ीकी चोटी पर एक बंगालीने लाख-दो लाख रुपया खर्च करके क्षय रोगियोंके लिए एक सुन्दर आरोग्य-भवन बनवाया है। उसके सन्तान नही है। इसलिए, इन मरीजोंको ही वह अपनी सन्तान मानता है और खुद मेहनत-मशक्कत से जोड़ा हुआ पैसा रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषामें खर्च करता है। पीछेवाली ऊंची पहाड़ी पर जेसुइष्ट लोगोंका कॉलेज है। प्रतिष्ठामें यही सबसे अधिक आकर्षक प्रतीत हुआ। हमारे साथी मदनलालने कहा—"परली तरफ जो ऊंची पहाड़ी

दिखाई देती है, उसपर कुहरा छा रहा है और उससे कुछ नीचे उतरते ही दार्जिलिंग दिखाई देता है। उसके पीछे अगर बादल घिरे हुए न होते, तो कांचनजंगाका भव्य शिखर हम देख सकते।"

हम जिस पहाड़ी पर खड़े थे, वहां किसी भूटियाकी कब्र बनी हुई है। कब्रके आकार परसे निश्चय हुआ कि भूटिया जातिका कोई बड़े-से-बड़ा प्रतिष्ठित आदमी यहां सोता होगा। सामने पश्चिमकी तरफ ऊंचे पर्वत पर आकाशमें कितने ही बादल मंडरा रहे थे और सूर्यनारायणको सता रहे थे। बादलोंके पीछेसे सूर्य-नारायण नीचेवाली घाटीमें सर्चलाइटके मयूख फेंक रहे थे। इन मयूखोंका पंखा हवामें इतना शोभा दे रहा था कि सामनेवाला पहाड़ और पैरों तलेकी जमीन अक्षरश: स्वर्णभूमि बन गइ थी।

कोई सवा छह बजे होंगे। सांझकी प्रार्थनाका समय अभी हुआ नहीं था। फिर भी, मनमें विचार उठा ऐसा दैवी दृश्य छोड़कर घर जाकर आंखें बन्द करके प्रार्थना करनेसे क्या लाभ? प्रत्यक्ष भगवान् जिस क्षण दर्शन देते हैं, वही प्रार्थनाके लिए सुमुहूर्त्त समझना चाहिए। हम ध्यान लगाकर बैठ गये और खुली आखों हिमालयका पावन-दृश्य आंखोंमें भरते हुए प्रार्थना शुरू की—'ईशावास्यमिदं सर्वम्'। सचमुच सामनेवाला पहाड़, उसके माथेपर दिखाई देनेवाला जगमगाता हुआ आकाश, उसके अंतर्गत सुनहले बादल और हम जिसपर बैठे थे, उम पहाड़ी-का शिखर—सभी ईश्वरके सान्निध्यसे वासित हो गया। उस वातावरणमें सारी प्रार्थना सम्पन्न हुई। जहां-तहां कञ्चन बरस रहा था। लेकिन, उस आकाश-धन-का लोभ कौन कर सकता है?

सूर्य-भगवान् बादलोंमेंसे नीचे उतरे। आंखें एकदम चौंधिया गई। सामनेवाले पहाड़की धारा सुलग उठी और हरे पेड़ सिंदूरवर्ण हो गये। थकी हुई आंखोंने दाहिनी तरफ देखा। हमारे आसपासके, दूरके और नजदीकके, पहाड़ोंपर बसे हुए बंगलोंकी खिड़कियोंके कांच चमकने लगे। पहाड़ियां इस तरह जगमगा उठीं, जैसे असंख्य हिलियोग्राफ सूर्यका फोटो उतारनेके लिए प्रस्तुत हुए हों। ये सब हीरे हैं या तारे हैं, ऐसी शंका मनमें आती थी। प्रार्थना समाप्त होनेको आई। इतनेमें सूर्य सामनेवाले पर्वतके पीछे अस्त हो गया और तुरन्त जो मयूख घाटीमंसे उठकर हमारे ऊपर प्रकाशकी बौछार कर रहे थे, वे सब ऊर्ध्वबाहु होकर आकाशको पर-चाने लगे।

यह दृश्य थोड़ी देर ही रहा। एकर्षि पूषाने रश्मियोंका समूह किया और हम वहांसे उठकर संध्या-प्रकाशमें चायके खेत पार करते हुए घर आनेको तैयार हुए। पुन:-पुन: पश्चिमके बदलते हुए रंगोंकी तरफ देखते थे और बार-बार सारे कर-सियांगका विस्तार आंखोंसे नापते थे।

मेरे मनमें सहसा विचार आया—"हमारे पीछेके स्तूप या स्तम्भके नीचे सोये

हुए उस प्राचीन भूटियाने भी क्या हमारी प्रार्थना सुनी होगी? यहां सोनेवाला मनुष्य भूटिया जातिका कोई राजा या अगुआ होगा, या फिर कोई 'संत-पियारा' होगा? जंगली लोगोंके धर्ममें शक्तिशालिता और साधनाके बीच विरोध नहीं होता। शक्तिके उपासक जहां-जहां सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति देखते हैं, वहां-वहां दैवी शक्तिका आरोपण करते ही हैं। इसलिए, यहां सोनेवाला व्यक्ति अगर कोई सन्त-सतपुरुष रहा हो, तो उसे उसकी कौमका नेतृत्व प्राप्त हो ही गया होगा। अगर शक्तिमें कोई इन्द्रतुल्य राजा रहा हो, तो लोगोंने उसकी पूजा शुरू की ही होगी।"

आज इन भूटिया लोगोंका राज्य कहीं भी नहीं रह गया है। बेचारे जहां-जहां जाते हैं, बोझा ढोनेका ही काम करते हैं। जिन पहाड़ियों पर वे सिंहकी तरह राज्य करते थे और अनिरुद्ध रूपसे विचरण करते थे, वे पहाड़ियां अब उनकी नही रहीं। देशी लक्ष्मीपुत्र और विदेशी राज्यकर्त्ता इन भूटियोंके माथे पर हर तरहका माल लादकर यहां ले आये और उन्होंने यहां गन्धर्व नगरीका निर्माण किया। इसका पुराना नाम खरसान है, लेकिन अब बदलकर करसियांग हो गया है। जबतक कब्रिस्तानका वह स्तंभ हवा, पानी और धूपके असरसे नष्ट नही होता, तभी तक इस भूटियाके पुराने जमानेकी स्मृति भी जीवित रहेगी। बादमें सब कुछ इतना बदल जायगा कि उस वातावरणमें सारी भूटिया जातिका दम घुटने लगेगा। आज भी वे शराब और तरह-तरहके व्यसनोंका शिकार हो रहे हैं। विदेशी वस्तुएं खरीदकर अपना सर्वस्व खो बैठे हैं। शक्ति, नीति, संपत्ति और प्रगति, सभी गंवाकर वे वर्त्तमानकाल व्यतीत करते हैं। उनमें न तो भूतकालकी स्मृति शेष है, न वर्त्तमान कालकी टेक है, न भविष्य कालकी आशा ही नजर आती है। आधुनिक संस्कृति यहां सब तरफ फैल गई है। लेकिन, हम नहीं भूल सकते कि उसकी नीवमें भूटिया जातिकी बलि चढ़ाई गई है।

सब तरफ अंधेरा छानेसे पहले हमें घर जाकर पेट-पूजा करनी थी। इसलिए, भूटिया जातिका संक्षिप्त श्राद्ध वही समाप्त करके हम घर गये और नाना प्रकारसे खिलनेवाले फूलोंमें तथा घरके हंसते हुए बालकोंकी बातोंमें बाकी सब कुछ भूल गये।

२१. गहरी चिन्ता

जब कभी हिमालयका स्मरण करता हूं या इससे भी आगे जाकर उत्कटताके साथ उसका ध्यान करता हूं, मेरे मनमें सबसे प्रधान भाव तो उसकी भव्यताका ही उगता है। उसका हजारों योजनोंका विस्तार, सैकड़ों मीलोंकी गहराई, उसकी

गगनभेदी ऊंचाई, भारतीय संस्कृतिके जैसे उसके असंख्य गहन अरण्य, मानवी हृदयमें प्रकट होनेवाली चिद्‌विलास-समान उसकी नदियां और झरने, समाधि-सुख का स्मरण दिलानेवाले सरोवर—सब मिलकर भव्यताकी जो राशि नजर और दिल-के सामने खड़ी होती है, उसमें इस प्रदेशकी दुर्गमता भी एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्वहै।

यात्राके प्राकृतिक कष्ट कम करनेकी कोशिश हमारे पुरखोंने नहीं की, बल्कि इन कष्टोंको अल्प सिद्ध करनेवाली कठिन तपस्या और तितिक्षाके द्वारा उन्होंने हिमालयके पावनत्वमें वृद्धि ही की।

ऐसे स्थान तो वहां रहनेवाले प्रकृतिके बच्चोंके लिए होते हैं या चिर-हिमाच्छादित शिखरोंके साथ होड़ लगानेवाले तपस्वी या तत्त्वचिंतकोंके लिए होते हैं। किन्तु, ऐसे तपस्वियोंके दर्शनसे कृतकृत्य बने भक्तोंको भी वहां हो आनेका दिल होता ही है। फिर, ऐसोंके कष्ट कम करनेका प्रयत्न करनेवाले बाबा काली-कमली-वाले जैसे साधु पैदा होंगे ही।

यहां तक तो सब ठीक है। किन्तु अब प्रकृतिकी भव्यताका आकर्षण दुनयावी लोगोंमें भी बढ़ने लगा है। वे विज्ञानके सहारे इन स्थानोंको सुगम जरूर बनायेंगे। उन्हें क्या मालूम कि ऐसी सुविधाओंके लिए जो कीमत चुकानी पड़ती है, वह मुकाबलेमें कम नहीं होती! उत्तुंग पहाड़ और दुर्गम अरण्य सुगम बननेके बाद उनकी भव्यता पहलेकी भांति कायम नही रह सकती। आकाशकी गहराई क्या भव्यतामें कम है? किन्तु, उसके नित्यसंपर्क या अतिपरिचयके कारण हम उससे अनंततत्त्व-की दीक्षा नही ले सकते। रात्रिके आकाशमें अनन्तकोटि ब्रह्मांडके जो प्रतिनिधि चमकते रहते हैं, उनका हर रोज दर्शन करने पर भी—या हर रोज दर्शन करते हैं, इसी कारण हमें उन सितारोंको देखकर ब्रह्मांडनायक परमात्माका स्मरण नही होता।

एक आम अनुभव लीजिए।

बम्बईसे पूना जाते समय रास्तेमें खंडालाघाट आता है। उसके पहाड़ोंकी ऊंचाई, घाटीकी गहराई, बारिशमें दर्शन देनेवाले उसके शरारती जल-प्रपात—सब कम उन्मादकारी नहीं होते। फिर भी, बम्बई-लोनावालाके बीच रोज दो बार यात्रा करनेवाले सीजन टिकटवालोंका ध्यान तक उनकी ओर नहीं जाता।

अभी-अभी असम प्रांतकी प्रजाधानी गोहाटी जाते समय मोटरकी सहायतासे कामाख्या पहाड़के शिखर तक हो आया। और, वहांसे मैंने विशालकाय ब्रह्मपुत्रके विस्तारको निहारा। किन्तु, इसके पहले कामाख्याके दर्शनके लिए मैं पैदल गया था, उस समय जिस धन्यता और पवित्रताका अनुभव किया था, इस बार कतई नहीं हुआ।

पूर्व आफ्रिकामें नीलांबिका नाईल नदीका उद्‌गम-स्थान देखनेके लिए कितनी

श्रद्धाभक्तिके साथ गया था। वहां अमरसरका विस्तार देखकर हृदयको हंस परमहंसका आनन्द हुआ। किन्तु, वहा मनुष्यने एक शहरकी स्थापना की है और इस पवित्र नदीके द्वारा वह अपने नित्य व्यवहारके लिए जबरदस्ती काम लेना चाहता है। यह देखते ही भव्यता और पवित्रता तो क्या, उस स्थानकी काव्यात्मकता भी मालूम नही हुई।

अब तो एक ओरसे हमारे लोग और दूसरी ओरसे हमारे पड़ोसी चीनी लोग हिमालयका परिचय प्राप्त करनेकी कोशिश करेंगे। और, आजतक इसका किसी-ने भी 'उपयोग' नही किया, इस बातका दुःख व्यक्त करेंगे। हिमालयका वे पेट काटेंगे। उसकी लडकियोंके प्रवाहोसे जबरन यन्त्रोको चलानेका काम लेंगे। भव्य-भव्यतर स्थानों पर होटल चलायेंगे और वैदिक मन्त्रोसे नही, प्रणवजापसे भी नही, बल्कि फिल्मी गीतोंमे हिमालयकी घाटियां निनादित करेंगे।

हिमालय पर विजय प्राप्त करनेके लिए कृत निश्चय आजका युग यह सब करनेवाला ही है, इसमे कोई सन्देह नही है। फिर, हमारी सरकारें 'गाइडबुक और 'आल्बम' तैयार करके देश-विदेशके शौकीन लोगोको अपनी जेबें खाली करने-के लिए बुलायेगी। पहले हिमालयके पडे हमे कहा करते थे कि आप ही हमारी खेती है। अब पडे नही, बल्कि देशके वित्तमन्त्री अभिमानके साथ कहेंगे कि 'टूरिज्म' भी राष्ट्रीय उत्पादन बढानेका एक महत्त्वका साधन है।

यह सब होनेके पहले ही भव्यताके सच्चे उपासकोको चाहिए कि वे कष्ट उठाकर हिमालयकी यात्रा दूर-दूर तक करें और तपःपूत हृदयके साथ उसकी धन्यताका सग्रह करें।

२२ जुलाई, १९५७ ई०

२१. नीलगिरि—दक्षिण भारतका उत्तुंग काव्य

नीलगिरि दक्षिण भारतका मनोहर उत्तुग काव्य है। पूरब घाट और पश्चिम घाट, सह्याद्रिका यहा मिलन होता है। जो भव्यता कन्याकुमारीमे तीन सागरोके सम्मेलनसे पाई जाती है, उतनी नही, लेकिन उसी ढगकी भावना नीलगिरि पर्वत के आसपासकी सृष्टि देखनेसे कल्पनामे आती है। पूर्व और पश्चिम समुद्रके इतने नजदीक होने पर जमीनका भी आठ हजार फुटसे अधिक उकसना कोई मामूली बात नही है।

कोई भी ऊंचा पहाड़ दूरसे देखनेसे नीला ही दीख पडता है। फिर, इसी पहाड़को हमारे पुरखोने नीलगिरि क्यो कहा होगा? और, नीलगिरि नाम क्या कम काव्यमय था कि अंग्रेजोंने अनुवाद करके उसे Blue Mountain कहा है।

जब मद्रासससे ऊटी ले जानेवाली रेलको Blue Mountain ट्रेन कहते हैं, तब अच्छा नहीं लगता। नीलगिरि आंखको और कानको कैसी ठंडक देनेवाला नाम है। तलाश करने पर मालूम हुआ कि नीलगिरिके ऊपर आसपास जहां देखें, दूर-दूर तक दो-तीन किस्मके नीले-ही-नीले फूल छा जाते हैं। इसीसे इस पर्वतराजका नाम हो गया नीलगिरि।

संस्कृतमें नीले और हरेमें ज्यादा भेद नहीं किया जाता। नीलगिरि पर जैसे घने जंगल हैं, वैसे हरेक पहाड़ पर नहीं होते।

नीलगिरिका दर्शन और आरोहण मैंने दो बार किया है। पहली बार मद्राससे पेरीयनायकम-पालयम और मेट्टूपालयम होकर पहाड़ी दंतूर रेलवे (Rack Railway) से ऊटी अथवा उटकमण्ड गया था। दूसरी बार मैसूरसे मोटर लेकर ऊटी गया और वहां कुछ ठहरकर उसी मोटरको लेकर पेरीयनायकम-पालयम गया। इस तरह नीलगिरिकी शोभा भिन्न-भिन्न बाजूसे, भिन्न-भिन्न समय देख सका।

दंतूर रेलवे एक तरहका खिलौना ही है। रास्ता इतना टेढ़ा है कि एक छोटी-सी ट्रेनमें भी तीन-चार नागमोड़ी हो जाती है। इंजिन चलानेवाला सारथी और ट्रेनको संभालनेवाला रक्षक गार्ड एक-दूसरेको नहीं देख सकते। इसलिए, हरेक डिब्बेमें एक-एक आदमी हाथमें लाल और हरे झंडे लेकर बैठता है। गार्डने लाल झंडा दिखाया, तो नजदीकका डिब्बा वैसा ही लाल झंडा दिखाता है। तुरन्त उसके नजदीकका दूसरा डिब्बा वैसा ही झंडा दिखाता है। ऐसा करते-करते रक्षककी सूचना सारथी तक पहुंच जाती है।

इस रेलवेका चढ़ान इतना कड़ा है कि रेलवेके रास्तेके बीचमें एक दांतवाली पट्टी बिठाई होती है। उसपरसे दांतवाला एक पहिया चलता है। जब सारथी अंकुश (ब्रेक) लगाता है, तब यह दंतूर चक्र दंतूर पट्टीमें कस जाता है और रथमाला (ट्रेन) नीचे फिसलती नहीं।

थोड़े समय तक तो इसी तरकीबने हमारा सारा ध्यान रोक लिया। मेरे साथ जाजूजीकी कन्या अनसूया थी और नाना धर्माधिकारी। उन्हें मैं ये बातें समझाता था। इतनेमें आसपासके पहाड़ोंकी तरफ ध्यान गया। फिर तो कहांका चढ़ाव और कहांकी दंतूर तरकीब। पहाड़की शोभामें हम मस्त हो गये।

पहाड़ोंकी खूबी यह होती है कि जैसे-जैसे हम ऊपर जाते हैं, वैसे-वैसे वनस्पति सृष्टि बदलती जाती है। फलाने वृक्ष अमुक हजार फुटकी ऊंचाई तक ही उगनेको राजी होते हैं। राजस्थानके ऊंट भी कभी पहाड़ पर चढ़नेको राजी हो जायेंगे; लेकिन ये वृक्ष अपनी मर्यादा छोड़कर न ऊपर जाते हैं, न नीचे उतरते हैं। इनकी यह वर्णव्यवस्था तुरन्त ध्यानमें आये बिना नहीं रहती।

प्रथम आया कुन्नूर। यहांकी आबोहवा सौम्य और खुशनुमा है। मैं तो इतना

ही जानता था कि कुन्नूरमे भारत-सरकारकी ओरसे हरेक प्रान्तके लोगोके आहार की खूबी और शक्तिका संशोधन चलता है। मेक्केरिसनकी किताब मैंने पढी थी। बादमें अक्रोइडकी पढ़ी और आहार-शास्त्रका जरूरी ज्ञान पा लिया।

कुन्नूरके बाद आ गया ऊटकमण्ड, जिसका अंग्रेजोने संक्षेप किया है ऊटी। असली नाम कितना भव्य है ? उदधि-मण्डल केरल-मण्डलका जिस तरह गोरोंने कारोमण्डल किया, उसी तरह उदधि-मण्डलका ऊटकमण्ड किया। इन लोगोंको अपने सुन्दर फलोंको भी सुन्दर ललित नाम देना नही आता ! हमारे सुन्दर नाम भी बिगाडे बिना ये बोल नही सकते ! !

उदधि-मण्डलमे हम एक दिन और एक रात ही रहे, लेकिन इतने समयमें काफी घूमे। वहांके गवर्नरके प्रासादके इर्द-गिर्द एक बडा वानस्पत्यम् (बोटानिकल गार्डन) है। इसमें हर तरहके वृक्ष पाये जाते हैं। देखने जानेमे रुकावट नही थी, इसलिए हमने घूम-घूमकर सब देखा।

बादमे हमने रामकृष्ण-मिशनके सेवाश्रममे जाना चाहा। लेकिन, बारिश ऐसी जोरोंसे चली कि पांवके नीचेकी जमीन ही फिसलने लगी और वैसे ही वापस आये। दूसरे दिन हमने सोचा कि इतने ऊंचे आये है, तो यहाके दोड्डाबेट्टाके शिखर तक क्यों न जायं ? इसकी ऊंचाई ८६० फुट है।

घोडे पर या हाथी पर चढनेसे जैसा अनुभव होता है कि इस पशु-वाहनकी शक्ति हमारी ही है, मोटर चलाते जैसा शरीरमे आवेश आता है कि यह गति हमारी ही है, उसी तरह पहाड़के शिखर पर जानेसे मनुष्य इतना कल्पना-मस्त होता है कि यह ऊंचाई हमारी ही है।

यहां अगर कल्पनाकी मस्ती नही होती, तो भी मस्तीका, नशेका दूसरा एक कारण वहां मौजूद था। यह सारा प्रदेश युकेलिप्टसके ऊंचे-ऊंचे वृक्षोसे भरा हुआ है। एक जगह ऐसे वृक्ष ८०-९० फुट ऊंचे थे। हमारे साथ एक भोमिया (मार्गदर्शक) था। उसने कहा, 'These are mere babies,' ये तो छोटे बच्चे हैं। इनकी सुगन्धि अभी परिपक्व नही हुई है। सचमुच युकेलिप्टसके पेड जब बडे होते हैं, सारी हवा उनकी सुगन्धसे ऐसी तर हो जाती है कि उसका नशा ही चढ़ता है।

नीलगिरि पर जो एक छोटी-सी उपत्यका है, उसकी शोभा तो इतनी ऊंचाई पर होनेके कारण ही थी।

हम नीलगिरिसे उतरकर मेंगलोर गये और वहासे बम्बई लौटे।

दूसरी बार जब हम ऊटी गये, तब मैसूरका विजयादशमीका दरबारी उत्सव पूरा करके मोटरमे गये थे। वहासे हमें नीचे उतरकर मदुरा जाना था। अबकी बार मेरे साथ चि० सरोजिनी थी। कुछ रास्ते तक पृथ्वीराज आसर भी अपनी मोटरमे आया था।

मैसूरके रास्तेमे बड़, पीपल, नीम आदि बडे-बड़े वृक्ष पथिकोको छाया देते

थे। हम दोपहरको जब ऊटी पहुंचे, तब ऐसे थक गये थे कि खाना खानेका भी जी न हुआ। लेकिन, वहांकी ठंडी हवाने हमारा अध्वखेद उतार दिया। फिर तो खाने-का भी मजा आया और हम उसी परिचित नीलगिरिका दुबारा दर्शन कर सके।

इसके बाद जब चि० सरोजिनी और मैं स्विट्जरलैंड गये थे, तबMontreux से Rocher de Naya तक भी ऐसी ही दंतूर रेलवेमे बैठे थे।

सच देखा जाय, तो नीलगिरिका प्रदेश टोडा, कुरुम्बा आदि वन्य आदिम जातियोंका ही है। यहां जब हिन्दू राजाओंका राज था, तब वे इन टोडा आदि लोगोंके स्वाभाविक अधिकारोंकी रक्षा करते थे। अंग्रेजोंका राज्य हुआ और इनकी परेशानी बढ़ती गई। उनका सर्वस्व लुट जानेके बाद इनके लिए थोड़े हिस्सेमें बहुत-कुछ अधिकार दिये गये। गुजरातीमें एक कहावत है—'अहरन (निहाई) लूटकर सुईका दान किया।' वैसा ही यह प्रकार था।

हम नीलगिरि दो दफे गये, लेकिन न हमने यहांका पायकारा प्रपात देखा, न कारतेरीका।

इस पहाड़में कॉफीकी उपज बहुत होती है। युकेलिप्टससे जो तेल निकलता है, उसे नीलगिरि-तेल कहते हैं। क्विनाइनके सिन्कोना वृक्ष भी यहां बहुत होते हैं। प्राणी-सृष्टिमें यहांकी जैसी विविधता शायद ही कही मिलती होगी। हाथी और शेरसे लेकर हिरन तक और प्रवासी पक्षियोंसे लेकर छोटे-बड़े सर्पों तक सब तरहके प्राणी नीलगिरिके आश्रयमें रहते है।'

अंग्रेजोंने यहां आकर इस स्थानकी शोभा बहुत कुछ बढ़ाई। आरामके साधन बनाये और ठण्डे मुल्कमें आराम कैसे लेना चाहिए, वह भी हमें सिखाया। हम लोगों ने ऊंचे-ऊंचे स्थान, ऋषि-मुनियोंकी तपस्याके लिए ही अंकित कर रखे थे। ऊंचे पहाड़ पर कपड़े भी ज्यादा पहनने पड़ते हैं और आहार भी ज्यादा लेना पड़ता है। ऐसी जगह पर क्यों कर रहें? जिन्दगीका आराम लूटनेका तरीका पहले हमने मुगलोसे सीखा, बादमे अंग्रेजोंसे।

नीलगिरि दक्षिणका उत्तुङ्ग काव्य है और वैसा ही हमेशा रहेगा। सह्याद्रिका जहां अंत होता है और मलयाद्रिका प्रारंभ होता है उनके बीच पालघाटकी बड़ी घाटी पर निगाह रखनेवाला यह बड़ा सन्तरी है, पासवां है। साधु लोग कहेंगे, 'यह तो हमारी तपोभूमि है।' गिरिजन कहेंगे कि यह हमारी ईश्वरदत्त मातृभूमि है। नीलगिरि कहेगा कि मैं तो हर तरहकी वनस्पतिका विश्राम-धाम हूं। बाकी सब मेरी वनस्पतिके ही आश्रित हैं। उनका हिसाब कौन करे!

२३-४-१९५७

२३. अहिंसाकी पुण्यभूमि

राजगीरसे हम पावापुरीके लिए रवाना हुए। राजगृहके आसपास जो पांच पहाड एकत्र हैं, उनमेसे लम्बे विपुलगिरिको दाहिनी तरफ करके हम चले। रास्तेमें काम आयेगा, इस ख्यालसे मकदूम-कुण्डका पानी भरकर साथ ले लिया। मकदूम-कुण्डका स्थान स्वाभाविक रूपसे ही रमणीय है। वहा नहानेकी व्यवस्था करनेमें इन्सानियतका ख्याल रखा गया है, देखकर सन्तोष हुआ। परन्तु, आसपास मछलियोंकी और मुरगियोकी हत्या होती हुई देख चित्तमे ग्लानि पैदा हुई। जिस इन्साननें पहलेसे निश्चय कर लिया था कि काबाके मन्दिरमे मनुष्य या पशुकी हिंसा नही होनी चाहिए, वह इस्लाम क्या ऐसा नियम भी नही बना सकता कि जहा-जहा तीर्थस्थान या इबादतकी जगह है वहां-वहा अमुक एक निर्दिष्ट मर्यादा तक प्राणीकी हत्या नही होनी चाहिए। इस्लामका दावा है कि वह आखिरी और सहल धर्म है। ऐसे धर्ममें भी इतनी बात तो सोची जा सकती है कि जो अभयदान काबाके मन्दिरमें है, वही अभयदान हर एक पवित्र स्थानके लिए भी होना चाहिए।

मेरे विचार तेजीके साथ अहिंसाकी खोजमे भविष्य कालकी तरफ दौड़ रहे थे और उतने ही वेगसे हमारी मोटर अहिंसाकी पुण्यभूमिकी तरफ हमे ले जा रही थी।

विपुलगिरिके साथ हम सात मील तक पूर्वकी तरफ चले और वहां सूर्यके अस्त की तैयारीके साथ-साथ हमारे भाग्यका उदय हुआ; क्योकि यहां हमने जो प्राकृतिक दृश्य देखा, वह सहज नही भुलाया जा सकता। जहा विपुलगिरिका उत्तुग शिखर समाप्त होता है। वहीं सुभग-सलिला पचान या पंचान वेद नदी रास्तेमे आड़े आती है। यह स्पष्ट दिखाई देता था कि वह हमसे कहना चाहती थी, 'यहां एक रात ठहरकर नहीं जायेंगे ?' पर, हमारी मोटरकी तरफ ध्यान जाते ही उसने सोचा—'ये लोग जीवन-प्रवाही नही हैं; तैल-प्रवाही हैं।' (या पेट्रोल-प्रवाही कहे ?) ये ठहरेंगे नही।

सचमुच, यह स्थान इतना सुन्दर था कि अगर सीता माता यहा आई होती, तो कम-से-कम तीन रात ठहरे बिना आगे न जातीं। भव्य पहाड़की छाया, पूजाके अक्षत-जैसी धवल रेत और 'हम कोई सामान्य पादप नही हैं, कुदरतके दरबारके दरबारी है', ऐसे गर्वसे झूमने वाले ताड़के वृक्ष और बीच-बीचमे घास और हरियालीका गलीचा सभी कुछ चित्तको तर करनेवाला था। 'मैं आई, मैं आई' कहती हुई मध्याने सोनेकी छीटें छिड़कना शुरू कर दिया था और पिताके समान पहाड़ उसे रोक रहा था।

रेतमें मोटर चलाना कोई सहज काम नही था। परन्तु, गांवके लोगोंने ताड़के

विशाल हाथ रेतमें समानान्तर पसार दिये थे। इसलिए, हम आसानीसे उस पार जा सके और वहांसे पीछेकी तरफ मुंह फेरकर अतृप्त आंखोंसे उस सारे दृश्यका फिरसे पान कर सके। हम जहां खड़े थे, वहां हमारे पीछे छोटा-सा गिरियक गांव ब्यालूकी तैयारी कर रहा था।

गिरियक पार करते ही हम वज्रलेप रास्ते पर आये और बाईं ओर हमने पांच मीलकी दौड़ लगाई। यह सारा रास्ता तय करते वक्त हमारी आंखें पश्चिम दिशाकी तरफ लगी हुई थी! पहाड लांघते ही सूर्यनारायणके फिर दर्शन हुए, जिसका प्लैटिनम अब सोनेका रूप ग्रहण कर रहा था। ताड़के पेड़ खिलाड़ी बालकोंकी तरह दौड़-दौड़ कर दर्शनमें अन्तराय करते और दर्शनका आनन्द दसगुना बढ़ाते थे। अस्तायमान सूर्य अपनी शोभासे यह सिद्ध कर रहा था कि आर्यजन प्रत्येक स्थितिमें आर्य ही रहते हैं और आदरके अधिकारी होते हैं। क्या यहांकी खेती, क्या ताड़के और दूसरे पेड़, क्या रास्ता सभी कलामय नजर आते थे। आधे बुने हुए खेत अपनी सीधी लकीरोंसे सारे चित्रको रेखांकित कर रहे थे और सूरज हलके-हलके अपना ऊंचा स्थान छोड़कर पृथ्वीको पुचकारने और सहलानेके लिए नीचे उतर रहा था। आंखोंको चौंधियानेवाला अपना तेज अब उसने उतार रखा था। सूर्यास्तको आखिर तक देखते रहें या नहीं, इसका निर्णय कर सकनेके पहले ही हमारी दाहिनी तरफ रास्ते परके खम्भोंने 'पावापुरी रोड' की गर्जना की और हमने तुरन्त ही दाक्षिण्य-का सेवन किया।

हरे-हरे खेतोंके विस्तारमें पावापुरीके शुभ्र मन्दिर कैसे शोभा देते हैं? इस जगह एक आर्यहृदयके जीवन-कालका अन्त हुआ था। इस जगह 'वायुः अनिलं, अमृतं अथेदं भस्मान्तं शरीरं' की वेदवाणी कृतार्थ हुई थी और यहींसे भगवान् महावीरके गणधर अहिंसाका संदेश लेकर दसों दिशाओंमें फैल गये थे। जिसने उस स्थानको 'अपापापुरी' का नाम दिया, उसे अतिशयोक्ति करनेकी आदत थी, ऐसा कोई नहीं कह सकता। अहिंसा, अपरिग्रह और तपस्या अगर पापको हटानेमे समर्थ न हों तो मनुष्यको कभी पुण्यके मार्गका सेवन करना ही नहीं चाहिए।

कहते हैं कि गोरखपुर जिलेमें काशियाके पास पुप्पोर नामका जो गांव है, वहीं महावीरका वास्तविक निर्वाण-धाम है। बेशक पावापुरीकी अपेक्षा पुप्पोर नाम ही अपापपुरसे अधिक मिलता-जुलता है। कैनिंघम और राहुल सांकृत्यायन भले ही सिद्ध करते रहे कि पुप्पोर ही असली स्थान है। लेकिन, अगर जैनोंकी श्रद्धा उसे वहांसे घसीटकर पावापुरीमें लाई हो, तो वैसा करनेका उसे अधिकार है। हम तो इतिहासको खोद-खोदकर देखनेवाली दृष्टिकी अपेक्षा भक्तोंकी श्रद्धाका ही अधिक आदर करेंगे।

और, हमने लगभग बीस वर्ष पहले यह स्थान देखा था। इसलिए, अब तो मन-ही-मन हमारा यह निश्चय बंध चुका है कि अपापपुर दूसरा हो ही नहीं सकता।

रास्तेकी एक बड़ी सर्पाकृति मोड़ पार करके हम जल-मन्दिरके महाद्वारके पास जा पहुंचे। दूसरे तीर्थस्थानोंमें जैसी एक तरहकी घबराहट होती है, वैसी यहां नहीं हुई। यहां सब कुछ शांत और प्रसन्न था। नया महाद्वार और उसपर बना हुआ नक्कार खाना, जो अबतक पूरा नही हुआ है, जल-मन्दिर तक बना हुआ चौड़ा पुल सब कुछ एक खास किस्मके लाल पत्थरसे पटा हुआ है। पुलके दोनों तरफ बागीचे हैं और तालाबके अन्दर कमलके पत्ते सारे तालाबको ढक देना उचित होगा या नहीं, इसके अनिश्चयमें सहज भावसे डोल रहे हैं। नीचे घाटके सामनेवाला मन्दिर पुलसे ठीक समकोणमे नही है, यह विशेषता तुरन्त ही ध्यान खींचती है। इसलिए कुछ अटपटा-सा लगता है। परन्तु, अन्तमें मनमें यही निर्णय होता है कि इसमें भी एक प्रकारकी विशेष सुन्दरता है।

पानीकी तरह पैसा खर्च करके स्थापत्य-कलाकी मिट्टी पलीद करनेका आरोप मैंने आजकलके जैनों पर किया है। परन्तु, पावापुरीका जल-मंदिर एक आह्लाद-दायक अपवाद है।

यहां आनेके बाद भला अमृतसरका सुवर्ण-मन्दिर याद आये बिना कैसे रह सकता, पर अमृतसरका तालाब एक तो कुछ छोटा है, दूसरे वह है मनुष्यकी बस्तीके बीच और तीसरे उसमे कमल नही हैं। इसके अतिरिक्त सुवर्ण-मन्दिरमे कबूतरोंका उपद्रव आध्यात्मिक शांतिका नाश करता है। यहां पावापुरीमें धानके खेतोंके बीच शोभा देनेवाला यह कमल-कासार अपनी स्वाभाविकतासे राज करता है और उसमे बना हुआ जल-मन्दिर किसी लोभी मनुष्यकी तरह सारे द्वीपको व्याप नही लेता। उसने अपने चारों तरफ घूमने-फिरनेके लिए काफी खुली जगह रख छोड़ी है और अपरिग्रहका वातावरण बनाया। मदुराके विशाल मन्दिरोंमे अगर भव्यता है, तो पावापुरीके इस छोटे-से मन्दिरमें लघिमा और लावण्यकी सिद्धि है।

यहांकी तरह अगर जैन लोग अपने मन्दिरोंमें संगमरमरका उपयोग करें, तो उनकी कोई निन्दा नहीं करेगा। हां, उन्हें एक बात छोड़ देनी चाहिए। मालूम होता है कि जैनोंमें भगवान्‌की भक्तिकी अपेक्षा अपने नामकी अभिलाषा कुछ अधिक होती है। जहां पर नजर डालिए, दरवाजों या महाद्वारों पर बड़ी-बड़ी तख्तियां दिखाई देंगी· और उनपर नाम लिखे हुए पाये जायेंगे। एक तो उन्होंने कितने पैसे दिये हैं, इसका व्यापारी हिसाब भी खुदवाते हैं। यह सब जाहिर ही करना हो, तो दरवाजोंके माथेकी अपेक्षा यदि दरवाजेके दोनों तरफकी दीवार पर जमीनसे दो-तीन फुटकी ऊंचाई पर, ही किया जाय, तो ख्याति भी मिलेगी और नम्रताकी क्षति नहीं होगी।

कुछ वैष्णव भक्त दूसरे छोर पर जाकर मन्दिरके महाद्वारके सामनेके फर्श पर अपने नाम और आकृतियां खुदवाते हैं। मंशा यह होती है कि दर्शनोंके लिए आये हुए असंख्य भक्तोंकी चरणरज हमारे नाम पर पड़ेगी, तो उससे हम पावन होंगे।

इसमें नम्रताकी पराकाष्ठाका परिचय मिलता है, लेकिन मुझ-जैसे दर्शनार्थियोंको जो परेशानी होती है, उसका तो कोई खयाल ही नहीं किया जाता। उस भाईको नम्रताने घेरा, इसलिए क्या मैं उसके उद्धारके लिए लापरवाही अख्तियार करूं और धूलसे मलिन पैर उसके नाम पर रखूं? वैष्णव भक्तोंको जरा तो दया-धर्म निबाहना चाहिए।

इस बार पावापुरीके सरोवरमें सांप न देख सकनेसे कुछ निराशा हुई। सांप जब पानीमें नाचता है, तब वह दृश्य मछलियोंके विहारसे कहीं अधिक कलात्मक होता है और पावापुरीको छोड़ दूसरे किस स्थानमें ऐसा दृश्य देखनेको मिलने वाला था? मद्रासकी 'जलचरी' (अक्वेरियम) है सही, किन्तु वह है छोटी। और, कांच-कुण्डके कगारोंसे बिजलीके प्रकाशमें देखनेमें सुविधा होते हुए भी उसे कृत्रिम ही कहना चाहिए।

संध्याकी शांतिका समय था। हम सीधे मन्दिरके भीतर पहुंचे। वहां एक भाई और एक बहन बीचोबीच बैठकर कुछ पाठ कर रहे थे। भाईको पढ़नेमें कहीं कठिनाई हुई, तो बहन तुरन्त उसकी सहायताके लिए दौड़कर उसकी कठिनाई दूर कर देती थी। हमारे देशमें ऐसा दृश्य स्वागतके योग्य है।

अहिंसाका साक्षात्कार करनेवाले तपस्वी महावीरका कुछ क्षणके लिए ध्यान करके मै बाहर निकला और गुंधा हुआ आटा लेकर मनोविनोदके लिए मछलियोंको चुगानेके हेतु द्वीपकी सीढ़ियोंके पास गया। हिन्दू- मात्रको यह कार्य पुण्यप्रद मालूम होता है। मैंने इसमें पुण्य तो कहीं नहीं पाया, परन्तु विनोद खूब पाया। मछलियों-का आकार कलापूर्ण होता ही है। खासकर जब वे झुंडमें इकट्ठी होती हैं और क्रीडा करती हैं अथवा खानेके लिए छीना-झपटी करती हैं तब। मोड़ों, ऐंठनोंका नृत्य एक जीवित काव्य बन जाता है। मैंने आंखें फाड़कर सांपोंको खोजा और निराश होकर इस मत्स्य-नृत्यसे ही संतोष माना।

यह जल-मन्दिर महावीरका निर्वाण-स्थान नहीं है, वह तो गांव-मन्दिरके नाम-से पहचाने जानेवाले स्थल-मन्दिरमें है। जल-मन्दिरके स्थान पर महावीरकी देहका अग्नि-संस्कार किया गया था। जैनोंको बड़ी भारी संख्या और अतिशयोक्तिके बिना कभी संतोष नहीं होता। उन्होंने एक कहानी गढ़ डाली है। अग्नि-संस्कारके वक्त यहां तालाब नहीं था। परन्तु उस समय अरबों स्त्री-पुरुष आखिरी दर्शनके लिए यहां एकत्र हुए थे, उन्होंने अपने माथेमें लगानेके लिए एक-एक चुटकी मिट्टी ली। इससे अग्नि-संस्कारके स्थानके चारों ओर गहरा गड्ढा हो गया और उसमें पानी भर जानेसे इस तालाबका निर्माण हुआ।

कलकत्ताके कला-रसिक श्रीबहादुर सिंह सिंघीकी धर्मशालामें थोड़ा-सा आराम किया। प्रकाश और अन्धकारके बीच होनेवाले गजग्राहके समय उस तरफ से हमने जल-मन्दिरका अन्तिम दर्शन किया। मैं उसके काव्यका अनुभव करने जा

रहा था कि पड़ोसके किसी मन्दिरसे उदात्त-स्वरित घंटानाद सुनाई दिया और संध्या-काव्य सहसा मुखरित हो उठा। मेरा शरीर हर्षोत्फुल्ल होने लगा कि इतनेमें आकाशके तारोंने प्रकट होकर रात्रिके आकाशको भी पुष्पित कर दिया। इस स्थितिका उन्माद अरसिक क्या जाने ?

जल-मन्दिर देखनेके बाद गांव-मन्दिरमें जाना क्रमप्राप्त ही था। अंधेरेमें हाथमें बिजलीकी कर-दीपिकाएं लेकर हम गांव-मन्दिरमें गये। हमारे साथ सदाकत-आश्रमके मथुरा बाबू जैसे विज्ञापनपटु सज्जन होनेके कारण लोगोंको मालूम हो गया कि यह तो 'महात्माजीके साथ रहनेवाले काका कालेलकर है।' एक स्थानीय महाशयने शायद 'जैनेतर दृष्टिसे जैन' नामक पुस्तिका पढी होगी, इसलिए उन्होंने मेरे विषयमें और भी यह जानकारी दी कि काका साहब अट्ठारह साल पहले पावापुरीमे आये थे और सम्मोसरणके स्थान पर उन्होंने एक प्रवचन भी दिया था। अब तो एकान्तका अनुभव करनेकी गुंजाइश ही नही रह गई। वहां एकत्र हुए भक्तोंमें राजमहेन्द्रीकी तरफसे आया हुआ एक गुजराती परिवार था। एक बार मैं उनका मेहमान रह चुका था। फिर तो पूछना ही क्या ! बहुत-सी बाते हुई।

गांव-मन्दिरमें किसी साधुकी अनेक उक्तियां जहा-तहा लिखी हुई थी। स्वर्ग, नरक और जैन तीर्थस्थानोंके चित्र तो होने ही चाहिए। ये वचन चाहे जितने बोधप्रद हों और ये चित्र-प्रसंग चाहे जितने भव्य हों, तो भी मेरी दृष्टिमें मन्दिरमें अप्रस्तुत हैं। अगर रहा ही न जाता हो, तो मन्दिरके पास एक स्वतन्त्र मंडप बनवाकर उसमें चित्रों और वचनोंके प्रदर्शनका आयोजन किया जा सकता है। लेकिन, मन्दिरोंको तो अपने-आप अपनी सहज मौन भाषामे बोलने देना चाहिए। मन्दिरोमें फूल रखे जा सकते हैं, धूप-दीप जलाये जा सकते है और सगीत भी गूंज सकता है। भक्ति-रसमें इनसे बाधा नही पहुंचती; उल्टे कुछ सहायता ही मिलती है। परन्तु, चित्र और अक्षर तो दूसरी ही सृष्टिके प्रतिनिधि हैं।

पुराने जमानेमे तीर्थ करने गये होते, तो पण्डोकी बहियोंमें नाम, गांव, ठौर-ठिकाना लिखना पडता। आजकल कोई संस्था देखने जाइए, तो भेंट-संग्रहमे कुछ-न-कुछ लिखना पड़ता है,। अब तो अजायबघरोकी तरह मन्दिरोंमें भी अभ्यागतों की सम्मतियोंकी पुस्तक रखी जाती है। 'देखा हमारा मन्दिर ? लिख दीजिए आपके दिल पर जो छाप पड़ी हो और आपको जो आनन्द हुआ हो उसे', ऐसा कहकर जब किताब आगे रखी जाती है, तब मै असमंजसमे पड जाता हूं। आनन्द व्यक्त करनेमें मुझे संकोच नही होता। अगर वैसा होता, तो मैं यह यात्रा-संस्मरण नही लिखता। परन्तु, आनन्दको भी जमने और पकनेमे समय लग जाता है। अगर पुजारी विनताकी तरह उतावली करेंगे, तो उसमेंसे विकलांग अरुणका ही जन्म होगा।

बड़े प्रेमसे सबसे बिदा लेकर हम तैल-वाहनमे सवार हुए और समय पर पटना पहुंचनेके लिए मुख्य रास्ते पर आ पहुंचे। आकाशके सितारोंने हमें समझाया कि

अब हम पश्चिमको जा रहे हैं, दोनों तरफके पुराण-पुरुष जैसे वृक्ष यात्राकी सफलताका आशीर्वाद दे रहे थे। अब तो रास्तेके दोनों तरफ मोटरके प्रकाशसे चार-छह क्षणोंके लिए प्रकट होनेवाले और फिर तिरोहित होनेवाले वृक्षोंके सिवा देखनेकी कोई चीज नहीं थी। एकाध खरगोश या लोमड़ी मोटरके प्रकाशसे भड़ककर भागने लगती थी, तो अलबत्ता ध्यान खींचती थी। परन्तु पावापुरीकी अहिंसा-भूमिके जी-भरके दर्शन करनेके बाद और कुछ देखनेकी इच्छा ही नहीं हो रही थी। आकाशके नित्य-नूतन तारे भी बड़े प्रेमसे कहने लगे, "हम तो हमेशाके लिए हैं ही आज हमारे साथ बातें न करो, तो हर्ज नहीं है। हम चिरसाक्षी हैं। यहां हमने अनेक अवतारोंको देखा है। कई घटनाएं हमने अपनी आंखोंके निमेष और उन्मेषोंमें नोंधकर रखी हैं। आज हम तुम्हारे ध्यानमें अन्तराय नहीं करेंगे। तुम ध्यान करते जाओ और हम अपनी आध्यात्मिक तालसे तुम्हारा साथ करेंगे।"

उपासनाके योग्य अगर सार्वभौम देवता है, तो वह जीवन है। परन्तु, जीवनके देवताकी उपासना विकट होती है। मनुष्यके लिए अगर कुछ हिततम है, तो जीवनको पहचानना ही है। जीवन-देवता बहुरूपिया है। वह देता है और लेता भी है। जन्म और मृत्यु उसकी दो विभूतियां हैं। दोनोंको उसके कृपा-प्रसादके तौर पर स्वीकार करना चाहिए। इस प्रसादका हमारी ओरसे दान करनेसे काम नहीं चलेगा। चाहे हम किसीको जन्म दें या मरण, जीवन-देवता तो असन्तुष्ट ही होता है। जीवन-रहस्य परखनेकी साधनाके लिए मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, इसी साधनाके लिए जान-बूझकर मृत्युको नेवता देनेमें अध्यात्मिक प्रगति नहीं है।

जन्म और मृत्यु जीवनके दो पहलू हैं। इन दोनोंके प्रति जिसे मोह हो, वह जीवननिष्ठ नहीं हो सकता। भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा दोनों जीवन-द्रोही हैं। इसलिए, जो कोई जीवन-देवताकी उपासना करना चाहे, उसे अहिंसाके द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करनी चाहिए और तपस्याके द्वारा जीवनका साक्षात्कार करना चाहिए।

मृत्युको जीतनेके अनेक प्रयत्नोंका उल्लेख हर एक धर्मके ग्रन्थोंमें पाया जाता है। हजारों वर्षों तक शरीरको बनाये रखना, वार्धक्य टालना, रसायन खाकर वज्रकाय होना आदि अमर होनेके सच्चे उपाय नहीं हैं। अमर होना हो, तो मृत्युको परास्त करना चाहिए। जिसका मृत्युमें विश्वास है, वही दूसरेको मारनेका और अपने लिए मृत्यु टालनेका प्रयत्न करेगा। जिसने यह जान लिया कि मृत्यु निर्वीर्य है, वह किसीको उसकी इच्छाके विरुद्ध मारेगा नहीं और जहां मरजाना आवश्यक हो, वह मृत्युका स्वागत करनेमें हिचकेगा नहीं; उसीको मृत्युंजय कहा सकते हैं।

ऐसे जो इने-गिने मृत्युंजय महापुरुष संसारमें हो गये हैं, उनमें महावीरका स्थान अनोखा है; क्योंकि उन्होंने मनुष्य-जातिमें विश्वास करके अहिंसाके अन्तिम

स्वरूपका उपदेश किया है। आज हम कहते हैं, "मनुष्य-मनुष्यका वैर शांत नहीं हुआ है, भाईकी हत्यासे भाई नही हिचकता। जिसका वह दूध पीता है, गाय आदि पशुको मारकर खानेमें भी मनुष्यने कोई कोर-कसर नही की। जिन जानवरोंको पालकर अपने परिवारमें दाखिल किया, जिनकी मेहनतसे अपना आहार जुटाया, उनको कत्ल करनेमे भी जिसका दिल नहीं पिघलता, उस मनुष्य प्राणीसे यह कहना कि 'तू हिंस्र पशुओंकी भी हत्या न कर, कृमि-कीटकोंको भी यथाशक्ति बचाने की कोशिश कर और वनस्पति आहारमे भी जहांतक हो सके, जीवरक्षाका ध्यान रख', शुद्ध मूर्खता है।"

परन्तु, किसीने यह नही कहा है कि जीव-मात्रके लिए आदरभाव रखना हमारा धर्म नही है। और, अगर हिंसाके आत्यन्तिक त्यागमे ही जीवनकी सफलता हो, तो जिसे उसका साक्षात्कार हुआ हो, उसे उस सिद्धांतको जनताके सामने रखना तो अवश्य चाहिए। उस वस्तुका स्वीकार करनेकी पात्रता आज मनुष्य-जातिमें भले ही न हो, उसमेसे कहीं-कही केवल हास्यास्पद दम्भ भले ही पैदा होता हो, तो भी सत्य वस्तु मनुष्य-जातिके सामने रखनी तो जरूर चाहिए। जो अहिंसा-सिद्धिके क्रमको नही पहचानेंगे, उनका जीवन विफल होगा। वे आगे बढ़ने के बदले पिछड़ जायेंगे। परन्तु, ज्ञानके अभावसे या साधनाकी त्रुटिके कारण साध्य को छिपाकर नही रख सकते।

जिसे अहिंसाका अधिक-से-अधिक साक्षात्कार हुआ था और जिसने अहिंसाकी साधना सिद्ध करनेके लिए अपनी और अपने साथियोंकी जिन्दगी श्रद्धापूर्वक न्योछावर कर दी, उस महावीरकी वाणी जहां सुनाई दी, उस स्थानके दर्शन होते ही यह स्वाभाविक है कि मन अहिंसामय हो जाय और अहिंसाके बिना मनुष्यता किस तरह निस्तेज हो रही है, इसकी तरफ ध्यान जाय।

जो जीवन-देवताका स्वरूप और उसका हृदय जानकर अखण्ड उपासना तथा अनन्य भक्ति करना चाहता है, उसके लिए महावीरका जीवन और उनकी वाणी हमेशा आकर्षक रहेगी। हां, परन्तु इतनी सावधानी रखनी होगी कि कही यह सब यान्त्रिक और कृत्रिम न बन जाय, उपासना केवल धूप-दीप वाली पूजा न बन जाय और भक्ति केवल नामधारी अभियानमे ही परिणत न हो। ज्ञान और तपस्याके द्वारा जीवनका जंग छुड़ाया जा सकता है। परन्तु, अगर ज्ञान और तपस्यामें ही जंग लग जाय, तो किसकी शरण ले?

['सर्वोदय', अप्रैल, १९४१ ई०]

२४. नर्मदा-सहोदर सातपुड़ा

विंध्य और सातपुड़ा नर्मदाके बलाढय रक्षक हैं। इन दोनोंने मिलकर नर्मदा को उसका जल भी दिया है और उसका रक्षण भी किया है। ये दोनों पहाड़ नर्मदा के अति नजदीक होनेके कारण नर्मदाको न अपना पात्र बदलनेका मौका मिला है, न अपने पानीके आशीर्वादसे दूर-दूर तक खेती करनेकी जमीन ही उसे मिली है।

जहां नर्मदा नदीका उद्‌गम है, वहां विंध्य और सातपुड़ाको जोड़नेवाला मेकल या मेखल पहाड़ चंद्राकार खड़ा है, मेखल ऋषिकी यह तपोभूमि है। यहांसे अनेक नदियोंका उद्‌गम है। नर्मदा पश्चिमकी ओर बहती हुई भृगुकच्छके पास समुद्रसे मिलती है। शोणनद इसी पहाड़से निकलकर गर्जना करता-करता अपना सारा पानी गंगाको प्रदान करता है, गुप्तदान वह जानता ही नहीं। महानदी और जोहिल्ला—ये दो नदियां भी मेकल पहाड़से ही निकलती हैं। प्राचीन काल में इस प्रदेशमें अच्छी लोकबस्ती थी। उड़ीसाके उत्कल लोग और इस ओरके मेखल लोग रामायणमें और पुराणोंमें अपना उल्लेख पाते हैं।

नर्मदाको मेखल-कन्या कहते हैं। कभी-कभी उसीको मेखला कहते है। भारत माताकी वह कटिमेखला है ही। इसके उत्तरके पहाड़ोंको विंध्य कहते हैं, दक्षिणके पहाड़ोंको सातपुड़ा कहते हैं।

इन दक्षिणी पहाड़ोंके पश्चिम विभागका ही असली नाम था सातपुत्र या सातपुड़ा। विंध्य पर्वतके ये सात लड़के गिने जाते थे। कोई कहता है कि प्राचीन भूविप्लवके कारण यहांकी किसी जमीनके सात पुड़े या झुर्रियां बन गईं, इसलिए इसे सातपुड़ा कहते हैं। आज ये सब पहाड़ियां नर्मदा और ताप्तीके बीच अपना स्थान ले बैठी हैं। राजपिपला और अशीरगढ़की ओरसे इनकी शोभा अच्छी दीख पड़ती है।

सतपुड़ा और मेखल—इन दो पहाड़ोंके बीच हुशंगाबाद और हरदाके पास जो टेकड़ियां हैं, उन्हें महादेवके डोंगर कहते हैं। उनकी शोभा छिंदवाड़ासे अच्छी तरह देखी जाती है।

यों देखा जाए, तो मंडला, बालाघाट, शिवनी, छिंदवाडा और बैतूल ये सब तहसील मिल करके सातपुड़ाकी अधित्यका बनती हैं। मराठीमें अधित्यकाको 'पठार' कहते हैं, जो शब्द अब हिंदीने लिया है।

सातपुड़ा, महादेव और मेखलका सारा प्रदेश आदिवासियोंकी पैतृक भूमि है। यहां गोंड, बैगा, भील, कोल, कोरकू आदि अनेक आदिवासी जातियां रहती हैं।

जिस तरह सह्याद्रिमें और हिमालयमें कुछ हद तक आसामकी पहाड़ियोंमें

घूमा हूं, वैसे विंध्य-सातपुड़ामें घूमनेका मौका मिलता, तो जीवनकी वह धन्यता होती। लेकिन, रेलके द्वारा और कभी-कभी मोटर द्वारा भी इस पहाड़मे काफी घूमा हूं। नागपुरसे इटारसी और इटारसीसे जबलपुर अनगिनत दफे रेलका सफर किया है और तब यहांकी छोटी-मोटी पहाड़िया, उनके गर्वोन्नत शिखर और उनके बीचमे बहनेवाली छोटी-मोटी नदिया देखनेका सौभाग्य मिला है।

इसी तरह गोंदियासे जबलपुर भी छोटी रेलके द्वारा मुसाफिरी करके मैने अपनी हड्डियां ढीली की हैं।

एक दफे स्वातंत्र्य-प्राप्तिका उत्सव मनानेके लिए आधा लाखसे अधिक आदिवासियोंके बीच जब नयनपुर गया था, तब भी इन पहाडियोका नयन-सुभग दर्शन पाया था। राजपिपलाके पास जो सातपुड़ा और सह्यादिका समकोण होता है, वहा ये दोनों पहाड़ इतने नम्र हैं, मानो एक दूसरेको नमस्कार ही करते हैं।

नर्मदाके दक्षिण-किनारेसे बड़वानीके पास जो हमने भगवान् ऋषभदेवकी बावनगजी मूर्ति देखी थी, वह पहाडी सातपुड़ामे गिनी जाती है या नही, सो मै नही कह सकता। लेकिन, अगर खंडवा और अशीरगढ़ तक सातपुडाकी पहुच होगी, तो बड़वानीके पासकी पहाड़ी भी मैं सातपुडामे ही शुमार करूंगा।

किसीने कहा है कि जैन सस्कृति पहाड़ी संस्कृति नही है, मैदानकी और खेती के साम्राज्यकी सस्कृति है। बात सही मालूम होती है। तो भी मै कहूगा कि इस संस्कृतिने पहाड़के लोगोंको अपने असरके नीचे लानेकी कोशिश किसी समय जरूर की थी।

विंध्य और सातपुड़ा, नर्मदा और ताप्ती, शोण और मही—इन नामोंके साथ जो प्रदेश ध्यानमे आता है, उस प्रदेशकी संस्कृति भूमिजन या गिरिजन आदिम जातियोकी ही संस्कृति है।

स्वतंत्र भारतने राज्योंकी जो नई सीमाएं बनाई, उनके अंदर मध्यप्रदेश एक इतना अच्छा विशाल राज्य बनाया कि जिसके अन्दर विंध्य, सातपुडा, मेखल के सब-के-सब आदिवासियोंका अन्तर्भाव हुआ है। इस राज्यमें ऐसे ही मन्त्री और कर्मचारी नियुक्त होने चाहिए, जिनका इस प्रदेशके साथ पूरा-पूरा परिचय हो और जिसके हृदयमे यहांके गिरिजनोंके प्रति आत्मीयता और आदर हो। विंध्य-पर्वतने (इसके साथ सातपुड़ा भी आ गया) अगस्त्यके सामने सिर झुकाया, उस घटनाको हुए कई युग बीत गये। अब विंध्य और सातपुड़ाके लिए नये अर्थमे सिर ऊंचा करनेके दिन आ गये हैं।

जब भारतका चित्र नजरके सामने रखते हैं, तब नर्मदाके रक्षक भाई वीर विंध्य और वीर सप्तपुत्रको हम कमरके स्थान पर देखते हैं। नर्मदा कटि-मेखला है ही और ये दो पहाड़ कमरकी मजबूत हड्डियां हैं। अब लोकोन्नतिके लिए कमर

कसनेके दिन आ गये हैं। सबसे अच्छे लोकसेवकोंको अब इसी प्रदेशमें जाकर वहां की आदिम जातियोंको जरूरी शिक्षा देनी चाहिए, ताकि वे भारतके अच्छे-से-अच्छे नागरिक हो जायं और स्वराज्यका धुरा वहन करनेकी योग्यता और उसका उत्साह उनके हृदयमें प्रकट हो।

२-७-१९५७

२५. सह्याद्रिके घाट

हमारी तरफके सह्याद्रिके घाटोंमें आंबोली घाटके बाद आता है तिनई घाट और तिनई घाटके बाद आरबैल घाट। बेलगाम धारवाड़से कारवार कुमठाकी ओर जानेके लिए आरबैल घाट उतरना पड़ता है। इस रास्ते हल्याल और यल्लापुरका घना जंगल आता है। यह प्रदेश सचमुच तो कुदरतने हाथी और वनमहिषों के विहार करनेके लिए बनाया था। सब प्राणियोंका शत्रु, जीव-सृष्टिका दुश्मन है मनुष्य। उसने यह सारा प्रदेश उनसे छीनकर अपना बनाया है और उसे उसकी कीमत भी देनी पड़ती है। जंगलोंके शत्रु मनुष्यको, दीर्घकाल तक सजा देनेके लिए कुदरतने मच्छर और मलेरिया पैदा किये हैं। मलेरियाका मारा मनुष्य ऐसा हीन और रंक हो जाता है कि उसका जीवन मौतसे भी बदतर होता है।

लेकिन, हाथी और वनमहिष, मच्छर और मलेरिया सबको परास्त करके अपना राज्य बढ़ानेका और चलानेका दृढ़ निश्चय मनुष्यके पास है। एटम-बम और हाइड्रोजन-बमके नाम सुनकर जिस तरह मनुष्य-प्राणी भयभीत होता है, किंकर्त्तव्यविमूढ़ होता है, उसी तरह D. D. T. का नाम सुनकर मच्छर और मलेरियाके जन्तु भयग्रस्त हो गये हैं। एटम-बम बनानेसे शायद मनुष्य-प्राणी बाज आयगा। लेकिन कीट-सृष्टिका संहार करानेवाला जहर D. D. T. बन्द होनेके चिह्न दीख नहीं पड़ते। कीट-सृष्टिके प्राणी कहते होंगे कि दुनियामें सबसे श्रेष्ठ है भगवान् और भगवान्से भी श्रेष्ठ हैं यह सर्वसंहारकारी मानव।

आरबैल घाटके नीचे उतरते अघनाशिनी नदीके दर्शन कई बार होते हैं। यह सर्पिणी उंचल्लीसे निकलती है और गोकर्ण महाबलेश्वरके पास समुद्रसे मिलनेके पहले किसी अखबारके संवाददाताके पद पर अपनी नियुक्ति हुई हो, इस ढंगसे दुनिया-भरकी खबरें पूछनेको इधर-उधर घूमती है।

इससे भी दक्षिणमें जाकर मैंने एक बार अगुम्बा घाटका दर्शन किया था। मंगलूरसे उत्तरकी ओर कारकल गया था। किसी समय यह प्रदेश हैदर अली और टीपूके हाथमें था। उनसे पुरस्कृत हुआ हनुमानका एक मंदिर देखकर मैं अगुम्बा

घाटसे ऊपर पहुंचा। वहांका दृश्य भी सौंदर्यकी दृष्टिसे अत्यन्त आकर्षक है। वहांके लोगोंने हमसे कहा था कि प्रकृतिके सौन्दर्य-दर्शनका आकंठ पान कीजिए। लेकिन, वहांकी कुदरतका पानी पीनेकी भूल न करें। पानी इतना खराब है कि एक कटोरा भर पीनेसे वहांका बुखार आपको छह महीनों तक नहीं छोड़ेगा। अगुम्बा घाटसे तीर्थल्ली होकर मैं धारवाड़की ओर गया था।

इससे भी दक्षिणमें जब हम जाते हैं, तब सह्याद्रिका पहाड़ पूरा होता है और मलयका पहाड़ शुरू होता है। बीचकी घाटीको पालघाट कहते हैं। पूर्वकी रेलवे पालघाट होकर पश्चिमकी ओर आती है और उसकी दो शाखाएं होकर एक उत्तर-की ओरमंगलूर तक जाती है और दक्षिणकी शाखा आपको केरलमें पहुंचा देती है।

सह्याद्रिके ऐसे ही दो घाट उत्तरकी ओर मैंने देखे हैं। इनमेंसे खण्डाला घाट का जिक्र तो मैंने किया ही है। पूनासे लोनावाला होकर जब बम्बईकी ओर जाते हैं, तब खंडाला घाट आता है। यहां भी पहाड़को अट्ठाईस बार बींधकर रेलवे करजत तक पहुंचती है। खंडालासे नीचे जाते ही एक ओर उल्हास नदीका उद्गम है और दूसरी ओर पाताल-गंगाका। यहांका दृश्य अनेक प्रपातोंके कारण बारिश के दिनोंमें निनादित रहता है। एक प्रपात तो सह्याद्रिकी चोटीसे कूदकर एकके पीछे एक सात दफे सुन्दर प्रपात बनाकर उल्हास नदीमें पहुंच जाता है। मैंने इस प्रपातका नाम ही रखा है सातकूद।

दूसरे एक प्रपातकी तन्वंगी धारा ऊपरसे नीचे तक सीधी ही पहुंच जाती है। बारिशके दिनोंमें पता नहीं चलता कि यह प्रपात है या बारिशका ही धारासार है। एक जगह पर तो दो सुरंगके बीच खिड़कीके पास जाते ही दो ओरसे दो प्रपात गिरते देखकर बड़ा ही विस्मय होता है कि यह कुदरतकी कृति है या मनुष्यने इसकी रचना की है।

खंडाला घाट पर हमेशा निगाह रखनेका काम शिवाजीका बनाया हुआ राजमाचीका किला करता है। यह किला इतनी ऊंचाई पर है कि शायद गरुड़ पक्षी भी अपना घोंसला इतनी ऊंचाई पर बांधनेकी हिम्मत नही करेगा। दूसरी घाटी कासारा घाटके नामसे मशहूर है। बम्बईसे मध्यभारत जानेवाले लोग कासारा इगतपुरीवाला रास्ता और नासिकका सारा प्रदेश; और यहांके सह्याद्रि के चित्र-विचित्र शिखर जानते ही हैं। जब कभी ये शिखर देखता हूं, तब भूस्तर-शास्त्रके जितने भी अध्याय किसी समय पर पढ़े थे सब-के-सब याद आते हैं।

मैं सह्याद्रिका बालक हूं। सह्याद्रिकी एक लड़की कृष्णाके किनारे मेरा जन्म हुआ है। सह्याद्रिकी ऐसी अनेकानेक कन्याओंका मैंने स्तन्यपान किया है। पूरबकी ओर जानेवाली कन्याओंने पूरब सागरसे शादी की है; पश्चिमकी ओर कूदनेवाली कन्याओंने पश्चिम सागरको वरमाला पहनाई है। इन कन्याओंका भक्ति-स्तोत्र मैंने 'जीवनलीला' में गाया है। अब इनके पिता सह्याद्रिकी मानस-पूजा कर रहा

हूं। सात कुल पर्वतोंमेंसे सर्वश्रेष्ठ स्थान सह्याद्रिका ही है। ज्येष्ठ स्थान भले ही अरवलीका हो या दूसरे पहाड़का हो, सह्याद्रिकी प्रतिष्ठा अबाधित रहेगी। दुनिया के लोग गौरीशंकर या एवरेस्टकी ओर जिस इज्जतकी निगाहसे देखते हैं, वैसे ही हम महाराष्ट्रीय लोग सह्याद्रिके शिखर कलसा बाईको मानते हैं।

१६-७-१९५७

२६. असममें

आखिर गोहाटीमें कामाख्याकी टेकरी पर चढ़ तो गया! हुआ यह कि बिरिंची-कुमार बरुआ, डॉ० काकती, इन दो प्राध्यापकोंसे मिलनेके बाद एक मकान देखने गया। वह मकान खरीदनेका विचार था। वह था ऊंची टेकरी पर, लेकिन वहां पानीका इन्तजाम नहीं था। यह मकान देखकर वापस लौट रहे थे कि आसमानने रोना बन्द करके सूरजके साथ हंसना शुरू कर दिया। साथके नवीनचन्द्र कलितसे मैंने पूछा, "क्या हम कामाख्या जायंगे?" मेरा विशेष आग्रह था ही नहीं, लेकिन उसको दुर्बुद्धि सूझी। कहने लगा, "जाकर लौटने जितना समय नही है। मै स्वयं तो नीचेसे दौड़कर टेकरीके ऊपर आधे घण्टेमें पहुंच सकता हूं, लेकिन आपसे वह नही होगा।" बस! मैंने तुरन्त कहा, "तब तो कामख्या जाना ही पड़ेगा।" हमने अपनी मोटर उस दिशामें हांकी और बीस मिनटमें टेकरीकी तलहटीमें जा पहुंचे। बेशक, चढ़ाव कठिन था और लम्बा भी था। लेकिन मेरी महाराष्ट्रीय हड्डियां पहाड़के सामने नही हारतीं। मैंने एक समान रफ्तार रखकर चढ़ना शुरू कर दिया और कामाख्याके मन्दिरकी नंगे पैर प्रदक्षिणा करके, अमृत-कुण्ड पर घड़ी देखी। ठीक २८ मिनटमें पहुंच गया था! कलित तो हक्का-बक्का रह गया। मेरे साथ चढ़ते बेचारेका दम निकल गया था और दस मिनट, और मैं कामाख्याकी पड़ोसी टेकरी भुवनेश्वरीकी चोटी पर पहुंच गया। इतनी मेहनत-का फल भी कुछ कम न मिला। ब्रह्मपुत्रका विशाल पट और नदीकी अनेक धाराएं दोपहरकी धूपमें चमक रही थीं। सर्वत्र हरियाली! पहाड़ तो बादलोंके किरीट धारण करके अपना दरबार सजाये हुए थे और पूर्वकी तरफ गोहाटीका खूबसूरत शहर (इसका प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिषपुर है) शांति और प्रसन्नताकी मूर्ति बन बैठा था। दक्षिणकी ओर पहाड़ी जगलोंका विस्तार वैराग्यकी हरी साधना कर रहा था। दुनियाके अप्रतिम दृश्योंमेंसे यह दृश्य था। आंखोंको धन्यता लगती थी कि ऐसी दावत भी हमारे भाग्यमे थी!

वापस कामाख्याके मन्दिरके पास आये और हाथ-पैर सलामत रखकर वह टेकरी बीस मिनटमें उतर आये! कुल सवा घण्टेमें एक महोत्सव पूरा किया और

घर आकर खा-पीकर जोरहाटके लिए चल दिये। सारी रातका सफर किसी तरह पूरा किया। सोनेके लिए जगह तो मिली, लेकिन दूसरे मुसाफिर मुश्किलमे हों और हम बिस्तरा फैलाकर सो जाय, यह बात हृदयको अस्वस्थ करती थी। जैसे-तैसे जोरहाट पहुच गये। वहाका स्वागतका कार्यक्रम कैसे फिसल पड़ा, यह एक मनोरजक किस्सा है।

जोरहाटमे तीन दिन बहुत काम था। असमिया-हिंदी परिषद्, असम प्रचारक सम्मेलन, असम समितिका वार्षिक अधिवेशन—इसके अलावा लोगोसे मिलना और कई एक नाजुक उलझनोंको सुलझाना।

जोरहाटसे हम गये मोटरसे शिवसागर। यह स्थान आसामके इतिहासमे बहुत विख्यात है। परदेशसे आकर यहा बसे हुए और अन्तमे यहीके बने हुए आहोम राजाओकी यह राजधानी थी। वहा एक अत्यन्त निर्मल और प्रसन्न सरोवर है। उसके किनारे तीन मन्दिर है। विष्णु, शिव और देवी उनमे क्रमसे विराजमान है। शिवके मंदिरके शिखरपर सोनेकी चद्दर मढ़ी हुई है। ऊपर चढ़कर सोना निकालना मुश्किल है, इसीलिए कुछ चोरोने शिखरकी चद्दरको बदूककी गोलीसे बीधकर जो छोटे टुकडे नीचे पडे, उनसे संतोष माना। ये छिद्र नीचेसे आज भी दिखाई देते है।

शिवसागरसे वापस लौटते एक गावमे जाकर वहाका रेशमी खादीका काम देखा। वहा जाते समय हमारी मोटर, मोटर मिटकर, जर्मन टैक बन गई थी। रास्ता हो या न हो, वह तो चलती ही थी।

जोरहाट वापस लौटकर हम एक कृषक परिषदमे गये। वहा मैने आखिरी भाषण दिया। वहामे गोलाघाट—राजेन्द्र बरुआके यहा कुछ देर रुके और फिर चलकर सारी रात लगभग जागरण करके लमडिग आये। फरफिटिगमे लमडिग तक अकलमदी बरतकर आरामसे सफर किया।

और कहनेकी मुख्य बात यह है कि सवेरे सात बजे लमडिगसे चल दिये, तब से शामको पाच बजे बदरपुर पहुचे तबतक, एक सुदीर्घ और विस्तीर्ण महाकान्तार-मेंसे हम गुजर चुके। इतना बड़ा जगल दक्षिण अमरीका छोडकर अन्यत्र कही भी नही होगा। घास, झाड़झखाड़, वनस्पति, वृक्ष, वेल और महावृक्षोंकी इतनी ससृष्टि किस तरह पैदा हुई होगी, इसकी कोई कल्पना नही हो सकती। इतना सौन्दर्य कुदरतको सूझा ही कैसे?

और इन पर्वतोंके झरने और नदिया तो बिलकुल पागल हैं। एक दिशा जानते ही नही। कई एक पूर्वकी ओर बहती हैं। तो कई पश्चिमकी ओर। कई एक दक्षिणकी ओर तो कुछ उत्तरकी ओर—पृथ्वी पर जितनी दिशाएं हो सकती है, उतनी सब इन स्रोतोंने आजमाई हैं। उनका उन्माद सार्गिक सिद्ध हुआ तो उसमें आश्चर्य ही क्या?

कालेलकर खानदान है मंगेश और महालक्ष्मीका उपासक। मंगेश याने शिवजी। यह नाम कैसे आया, इसकी लम्बी-चौड़ी कथा है। शिवजी और शक्ति-देवीकी उपासनामें समन्वय तो है ही। 'शक्तिकी उपासना' और 'माताकी भक्ति' यह भी एक अद्‌भुत समन्वय ही है। बचपनमें जब मैंने सुना—**जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गाद् अपि गरीयसी**, तब ईश-भक्ति, देश-भक्ति और मातृभक्ति तीनोंका समन्वय हो गया। (इस समन्वयमें 'वामाचारी' शक्ति-उपासनाको कोई स्थान नहीं था।)

वंदेमातरम् गाते मेरे मनमें केवल देश-भक्ति खड़ी नहीं होती थी। अपनी माताकी भक्ति, भारतमाताकी भक्ति और विश्वमाता त्रिभुवनेश्वरीकी उपासना, तीनों एक ही हो जाती थीं। इसलिए मेरी भारत यात्रामें, और भारतके बाहर भी, पृथ्वी माताके भव्य दर्शन होते ही प्रेम-भक्ति, सौंदर्योपासना, भव्योपासना और अध्यात्म सब-के-सब जागृत होते हैं।

मानव-मन प्रथम वर्तमानकालमें विश्वव्यापी बननेकी कोशिश करता है। फिर उद्‌गम ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वह स्थूलमें सूक्ष्मका दर्शन करता है। इतना होनेके बाद ही उसे भविष्यके यथार्थका साक्षात्कार होता है।

मैंने सगुणोपासनासे प्रारम्भ किया। बादमें निर्गुणोपासना अधिक सत्य और संतोषकारक मालूम हुई। निर्गुणोपासना परिपूर्ण होते ही उसमें स्थिरता आती है। स्थिरतामेंसे संतोष प्रकट होता है, क्योंकि 'पूर्णता' आने पर 'उपासना' के लिए अवकाश ही नहीं रहता। अद्वैतके साक्षात्कारके बाद भी अद्वैतानंदका उपभोग करनेके लिए साधनाका तत्त्व रहना ही चाहिए। पूर्णत्व अनन्त है तो साधना भी उससे कम नही हो सकती।

अब मैं आध्यात्मिक शक्ति-उपासनाकी आदिम स्थिति ढूंढ़ रहा हूं। आजतक मैं आदिम स्थितिको स्थूल, अनगढ़ और विकृतिशील मानता था। अब आदिम स्थितिमें जो स्थूल, होता है, उसके अन्दरका सूक्ष्म समझनेकी स्थिति प्रकट हो रही है। इसलिए स्थूल और सूक्ष्म दोनोंके प्रति आदरभाव और पूज्यभाव प्रकट हो रहा है। गोहाटीके पास उमानन्द शैलद्वीप है। ब्रह्मपुत्रके इस उमानन्द टापूमें 'लिंग पूजा' है और नीलपर्वत पर कामाख्यामें 'योनि-पूजा' है। दोनों प्राग-ऐतिहासिक और आर्येतर हैं। आर्येतर वस्तुओंको असंस्कारी अथवा विसंस्कारी माननेकी आदत हमारे लोगोंमें आज भी है। आर्यदृष्टिसे मैं मर्यादित (बंधा हुआ) नहीं रहा हूं। इसलिए कामाख्याके दर्शनके लिए जाते अबकी बार नई दृष्टि, नई भावना, लेकर ऊपर चढ़ने लगा।

अबकी बार एक दूसरा लाभ हुआ। प्रथम-प्रथम कामख्याकी पहाड़ीका (नीलपर्वतका) आरोहण पैदल करता था। अबकी बार मोटरसे ऊपर गया। (इसके पहले एक दफा मोटरसे ऊपर गया हूं।) सचमुच तो अबकी बार ही नील-पर्वतकी 'उच्चगामी परिक्रमा' करते ऊपर पहुंचा। इसलिए नीलपर्वतकी सम्पूर्ण

शोभा देख सका और नीलपर्वतका आरोहण करते आसपासके प्रदेशका दर्शन भी कर सका।

जैसे कि सर्वत्र होता है, हमारे अच्छे-से-अच्छे तीर्थ-स्थान और मन्दिरोंके प्रति कोई लोभरहित, निःस्पृह और विरक्त साधु केवल नैसर्गिक शोभा और भव्यताको देखकर आकर्षित होता है। कभी-कभी शोभाके साथ सामान्य, गरीब, असहाय जनताकी उपयोगिता देखकर भी साधु प्रेरित होता है और वह स्थान पसन्द करता है। फिर तो भक्त लोग स्थानका गौरव बढ़ानेके लिए वहां कलात्मक मंदिर खड़ा करते हैं।

सामान्य भक्त-जन भक्तिका आनन्द बढ़ानेके लिए कोई वार्षिक या षाण्मासिक तिथि पसन्द करके उत्सव करते हैं और मेला लगाते हैं।

इसके बाद उस स्थानका दुर्दैव शुरू होता है। हमारा समाज योजनाका महत्त्व जानता ही नहीं। लोभी लोग वहां भद्दी दुकानें लगाते हैं। भक्तोंके भक्तिभावसे लाभ उठानेवाले पंडे लोग और दूसरे-दूसरे लोग वहां इकट्ठा होकर सारे स्थानकी कलात्मकता नष्ट करते हैं। जनता तो पुण्यकी लोभी। भक्ति और धार्मिकताका प्रधान लक्षण बनाता है अंधता। स्थान पवित्र है, सन्तोंने पसंद किया है, इतनी बात लोगोंके लिए काफी है। फिर उस स्थानमें भीड़ बढ़े, सारा प्रदेश गंदा बने तो भी उसे सहन करनेमें ही श्रद्धाकी कसौटी मानी जाती है।

गंगाके किनारे क्या-क्या चलता है, सो मैं जानता हूं और वहां पर रहने-वाले यात्रियोंकी क्या अपेक्षा होती है, सो भी जानता हूं। भक्तिका तत्त्वज्ञान, भक्तोंका जीवनक्रम, मंदिरोंके पुरोहितोंके आदर्श और साधुओंका समाज-धर्ममें आमूलाग्र परिवर्तन करनेकी आवश्यकता है। सारी बात बिगड़ गई है और भक्ति-की सारी कल्पना ही जड़ और विकृत हो गई है। भक्तोंका जीवन एक तरहका नशा हो गया है। जीवन-विमुख बनना, सामाजिक जिम्मेदारियोंका इनकार करना और छोटी-मोटी बातोंमें चमत्कार देखना, उनका स्वभाव हो गया है।

जो लोग सच्चे भक्त हैं, उन्हीका कर्तव्य है कि भक्तजीवनके आदर्शमें सुधार करें और भविष्यका तत्त्वज्ञान भी शुद्ध और यथार्थदर्शी बनावें। सच्चे, ज्ञानी और कर्मठ-भक्तोंने अपना यह कर्तव्य छोड़ दिया, इसलिए धर्ममात्रका विरोध करने-वाले बुद्धिवादी लोग, भक्तोंकी जड़ताका वर्णन करके धर्ममात्रका विरोध करते हैं। फलतः समाज शुद्ध-धर्म जैसी भव्य और पावक वस्तुको खो बैठता है।

सकाम-भक्ति और निष्काम-भक्तिकी चर्चा भी यांत्रिक बनकर एकरूप प्रवाह-में बहती जाती है। सकाम भक्तिके दो विभाग करने चाहिए—इष्ट और अनिष्ट, और निष्काम भक्तिमें जो असामाजिकता घुस गई है और भक्तिको उसमें नशेका रूप दिया गया है, उसका भी सुधार होना चाहिए।

कामाक्याकी पहाड़ी चढ़ते, विशाल ब्रह्मपुत्रका बिस्तीर्ण रेतीला पट देखते और

प्रकृतिमाताके प्रसादरूप शुद्ध हवाको पेटमें लेते जो चिंतन चला उसका इशारा ऊपर किया है। भक्तोंकी भाषामें बोलूं तो कहूंगा, "मैं पहाड़ चढ़ता गया, त्रिभुवनेश्वरी माताका चिंतन करने लगा। तब माताने मेरे चिंतनमें घुसकर कहा, 'अभी जो सोच रहे हो, मेरी ही प्रेरणा है। इस क्षण तुम्हारा मानस ईश्वरी प्रसाद ग्रहण करनेके योग्य है। इसीलिए मैंने ही तुम्हें इन विचारोंकी प्रेरणा दी है। देखो, इसका सबूत।' एक क्षणमें आसपासकी हवामें कुहरा छा जायगा। देखते-देखते कुहरा दूधके जैसा घनीभूत होगा और तुम मेरे दूधसागरमे घेरे जाओगे, यही है मेरा आशीर्वाद।"

हम मस्तीमें ऊपर चले। भुवनेश्वरीमाताके मंदिरमें पहुंचे। लोभी पुरोहितने सशंक होकर हमारा स्वागत किया। लाभकी आशा टूटते ही उसका मिजाज बिगड़ गया।

मुझे हंसी आयी। शांत स्वरमें मैंने उससे कहा, "अजी, जरा हम पर क्रोध तो कीजिये। थोड़ी निंदा तो कीजिये। उसके बिना हमारी यात्राका सुफल हमें कैसे मिलेगा?" पुरोहित कुछ ठंडे हुए। शर्मिंदा होनेकी मनकी तैयारी उन्होंने दबा दी।

उन्हें वहीं छोड़कर हम लौटे।

कामाख्या देवीके मंदिरमें जाकर दर्शन करनेकी इच्छा थी। लेकिन मंदिरकी गहराईमें उतरनेकी और फिर चढ़नेकी पांवमें शक्ति नही रही थी। इसलिए दूरसे ही कामाख्याको नमस्कार करके चले आये।

जाते-जाते वह चित्र स्मृतिमें ताजा हुआ जब हम कामाख्याके मदिरमें जाकर अंधेरे में ऊपर आ रहे थे और एक बाजू पर वध किये हुए बकरेके बच्चेका सिर अपने मत्थे पर रखा हुआ तेलका दीया हमे थोड़ा-थोड़ा प्रकाश दे रहा था। मनुष्य-की विकृत जड़ताने माताकी भक्तिकी पूर्णताके लिए मासूम पशुओंकी हत्या आवश्यक मानी है!

२७. नेफाकी यात्रा

मैं नेफा हो आया। तेजपुरसे बोमडी-ला, और वहांसे से-ला लांघकर तवांग तक हो आया।

नेफा कोई पुराना या नया नाम नहीं है। जिस तरह पंजाबकी तरफ पेप्सु नाम प्रचलित हुआ, उसी तरह आसामकी उत्तरकी ओर नेफा नाम प्रचलित हुआ है। 'North East Frontier Agency' ऐसे लम्बे-चौड़े अंग्रेजी नामके आद्याक्षर लेकर नेफा (NEFA) नाम बना है। सच तो यह ईशान्य प्रदेश है। किसीने इसे

'उर्वशी' नाम दिया है। कई साल पहले मैंने नेफाके सूदूर पूर्व विभागमें यात्रा की थी। तब मैंने इसे 'परशुराम क्षेत्र' के तौर पर पहचाना था।

बम्बईकी ओर सह्याद्रिका पहाड़ और समुद्रके बीच जो भूमिभाग है, उसे 'परशुराम क्षेत्र' कहते हैं। ब्राह्मण अवतार परशुरामने क्षात्र-वृत्ति धारण कर भारतके क्षत्रियोंके साथ कई बार युद्ध किया था। वे कुल्हाड़ी लेकर लड़ते थे। इसलिए उनका नाम हुआ परशुराम। कहते हैं, परशुरामके हाथसे कुल्हाड़ी चिपक गई थी। छूटती नही थी। जब ब्रह्मपुत्र और लोहित नदोका दर्शन करके परशुरामने ब्रह्मकुण्ड जाकर उसमे स्नान किया तब उनके हाथकी कुल्हाड़ी छूट गई। उनका आवेश उतर गया। उनका अवतार-कृत्य पूरा हुआ।

उसके बाद मैं वहांसे लौटकर सदिया, पासीघाट और निजामघाट तक गया था? और वहांके मीरी, डफला आदि आदिमजाति लोगोंकी झोंपड़ियोंमे जाकर मैने उनका जीवनक्रम देखा था। रुईमेंसे वे लोग अच्छे गलीचे (कालीन) तैयार करते हैं, उनमेंसे एक-दो बढ़िया कालीन मैंने खरीद लिये थे। सारा मुल्क जंगलसे भरा हुआ सुन्दर है। पासीघाटके पास दिहग नदी बहती है और निजामघाटके पास दिबंग।

मै इस प्रदेशमें घूमा था, इसके बाद वहां पर बड़ा भूचाल आया। सदिया शहर सारा-का-सारा नष्ट हुआ और पौराणिक कालसे जिसका माहात्म्य था, वह ब्रह्मकुण्ड अथवा परशुराम कुण्ड भी टूट गया। तब मेरा विचार यालोंग होकर तिबेटन केन्द्र रीमा तक जानेका था (रीमा तिब्बती प्रदेश है।) लेकिन वह हो नही मका। सदियाके इर्द-गिर्द अनेक नदियोंके सगम हैं लेकिन वहाकी भूमि अभी स्थिर नही हुई है। भूचाल और नदीकी बाढ बारबार सारे प्रदेशकी शक्ल बदल देती है।

और एक दफे आसाम गया था, तब श्री जयराम रामदास दौलतराम आसामके राज्यपाल थे। उन दिनों नेफामें जो स्थानिक गड़बडी चल रही थी, उसकी सब बाते बड़े नक्शेके जरिये समझ ली थीं। भूचाल और बाढ़के साथ स्थानिक गडबड़ीके कारण ही उस प्रदेशमें कुछ अस्थिरता रहती है। लेकिन मेरा ख्याल है, उस प्रदेशके लोग यूं तो शान्तिसे रहना चाहते हैं, जब गलतफहमी होती है, तब बिगड़ बैठते हैं। उन्हें तो कुदरतके साथ अखंड लड़ना ही पड़ता है। उनका आधुनिक जगतकी सुविधाओंसे परिचय कम है। मेरे मनमें तो उसी समय विचार आया था कि जिनको पहाड़ी जीवनकी आदत है, ऐसे हमारे लोग अगर नेफामें जाकर रहें और वहांके लोगोंकी सेवा करें, तो बहुत जल्दी वह सारा प्रदेश सुधर जायगा। पहाड़ी झरनोंसे चाहे जितनी बिजली पैदा हो सकती है। जंगलोंकी वनस्पति संपत्ति अमर्याद है। पहाड़ी रास्तोंके साथ टेलीफोनका प्रबन्ध हो जाय और वहांके नवयुवकोंको इन्जीनियरिंगकी शिक्षा दी जाय तो भारतमें स्काटलैंडकी शोभा और

समृद्धि हम खड़ी कर सकेंगे। कुदरतने देनेमें कंजूसी नहीं की है, लेकिन हमारी शक्ति ही कम है।

अबकी बार जब हम नेफा गये, तब बहुत बरसोंके बाद आसामका दर्शन हो रहा था। हम दिल्लीसे गोहाटी पहुंचे। हवाई जहाजके अड्डेसे मोटरमें बैठकर जाते हुए मनमें दो ही कुतूहल थे। एक था गोहाटी युनिवर्सिटीके मकानात देखनेका; क्योंकि असम राज्यके सबसे पहले मुख्य मन्त्री गोपीनाथजी बरदलैने मुझे उसकी सेवाके लिए बुलाया था। उनका बहुत आग्रह होने पर भी मैंने इनकार किया था, यह कहकर कि गोहाटी युनिवर्सिटीका पहला वाइस-चान्सलर असमका ही व्यक्ति होना चाहिए। महात्माजीने मेरे साथ सहमत होकर कहा था कि वह पद स्वयं गोपीनाथजीको ही लेना चाहिए। चीफ मिनिस्टर होते हुए भी उनके लिए वाइस चान्सलर बनना कठिन काम नहीं था; लेकिन गवर्नर साहबने कहा कि बरदलैजीका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। उन पर दो बोझ डालना अच्छा नहीं होगा। अगर गोपीनाथजी वाइस-चान्सलर बनते तो गोहाटी युनिवर्सिटीकी शक्ल दूसरी ही बन जाती।

मेरा दूसरा कुतूहल था ब्रह्मपुत्र नदके ऊपर नया बना हुआ पुल देखनेका। ब्रह्मपुत्रको मैं माता कहनेको तैयार नहीं था। वह नदी नहीं किन्तु नद है, इस कारणसे नहीं, किन्तु ब्रह्मपुत्र नद हर साल जो संहारलीला करता है, उसे याद करते स्नेहमयी माताका चित्र ही खड़ा नहीं होता। ब्रह्मपुत्रके लम्बे-चौड़े विस्तारमें एक ही पुल है, जो जवाहरलालजीने खोला था। आज तक आमीन गांवसे पांडु तक यात्रियोंको स्टीमरमें बैठकर ही जाना पड़ता था। अब दिल्लीका यात्री ट्रेनसे नीचे उतरे बिना सारे असम प्रांतमें जहां जाना चाहे वहां जा सकता है। इस नये विशाल पुलका लश्करी महत्त्व भी कम नहीं है।

मैं जब कभी असम प्रान्तमें गया हूं, ब्रह्मपुत्रके इस बाजू ही ज्यादा घूमा हूं। जैसा एक दफे ब्रह्मपुत्र लांघकर सदियाके पास उस पार गया था, उसी तरह तेजपुर जानेके लिए सिर्फ दो बार ही ब्रह्मपुत्र नद लांघा था।

अबकी बार हम पुलकी मददसे उस पार होकर तेजपुर जा रहे थे। रास्तेमें धानके खेतोंकी शोभा दूर तक फैली हुई थी और स्वच्छ आकाशमें तारे भी अच्छी तरहसे फैले थे, पश्चिमकी ओर स्वाति अस्तकी तैयारी करती थी। उत्तरकी ओर सप्तर्षि डूबनेकी तैयारी कर रहे थे। हमारे सामने देवयानी—केसोपिया—अपनी आरामकुर्सी पर बैठकर उलटी-उलटी डूब रही थी। पूरबकी ओर शायद गुरु ही चमक रहा था।

हम जब तेजपुर पहुंचे, रातके आठ हो गये थे। सुदूर पूर्वके इस प्रदेशमें सूर्योदय भी जल्दी होता है और सूर्यास्त भी उतना ही जल्दी होता है। हमारे आठ सचमुच वहांके स्थानिक नौ ही समझना चाहिए।

यहां जब पहले आया था, तब भगवान श्रीकृष्णके समयका बाणासुरका महल

हम देखने गये थे। एक बड़ी टेकरीपर बड़े-बड़े पत्थर इधर-उधर गिरे थे, जो मूक भाषामें उषा और अनिरुद्धकी कहानी आज भी कह रहे थे। तेजपुरका पुराना नाम शोणितपुर है। यहांकी भाषामें शोणित याने रक्तका तेज कहते हैं, इसलिए शोणितपुरका तेजपुर हो गया होगा।

तेजपुर ब्रह्मपुत्रके किनारे बसा हुआ सुन्दर शहर है। काफी ऊंचाई पर होनेके कारण ब्रह्मपुत्रमें चाहे जितनी बाढ़ आये, उसका पानी तेजपुरमे प्रवेश नही कर सकता। डिब्रूगढ़ और गोहाटी चाहे पानीमें डूब जायं, तेजपुर सुरक्षित ही रहेगा।

अबकी बार हमें बीबी अमतुस्सलामके आश्रममें ठहरना था। आश्रम नदके किनारे पर ही है। यहांसे ब्रह्मपुत्रका विस्तार दूर तक दीख पड़ता है और उसमें छोटे-छोटे टापू पानीकी शोभामें वृद्धि करते हैं। ये टापू हर साल अपना स्थल बदलते हैं, इसलिए किश्ती वालोंको ढूंढ-ढूंढकर अपना रास्ता तय करना पडता है। तेजपुरसे किश्तीमें बैठकर लोग सीलघाट पहुंचते हैं, वहांसे नवगाव जाते हैं। अब तो थोड़े ही दिनोंमें लोग स्थानिक हवाई जहाजकी मददसे आसाममे जहां चाहे वहां जा सकेंगे।

तेजपुर पहुंचे तो वहां पर भगवान विश्वकर्माका उत्सव घर-घर मनाया जा रहा था। विश्वकर्मा कारीगरोंका देव है। तरह-तरहके औजार लेकर मिट्टी, लकड़ी, तांबा, सोना, लोहा इत्यादि पदार्थो पर काम करके मनुष्यके लिए झोंपड़ी, घर, शाला, प्रासाद आदि बस्तीकी सहूलियतें और कौशल्य बढानेमे मदद करनेवाले, तरह-तरहके औजार बनानेवाले कुम्हार, राज, बढ़ई, लोहार, सुनार आदि कारीगरोंका वह देव है। संस्कृतमें विश्वकर्मा-माहात्म्यके नामके ग्रथ भी पाये जाते हैं। इसी वैदिक देवने इन्द्रके लिए वज्र बनाया। विष्णुके लिए सुदर्शन, शंकरके लिए त्रिशूल। इसीने श्रीकृष्णके लिए द्वारिका बसाई और वृन्दावन भी तैयार कर दिया; इन्द्रके लिए लंका बनाई, त्रिपुरासुरके नाशके लिए इन्द्रका रथ बनाया। दधीचिकी हड्डियोंका वज्र बनाया। विश्वकर्माने यज्ञके समय ब्रह्मदेवका मुडन भी किया। इसलिए यह नाइयोंका भी देव है। उसने माली, कसेरा, दर्जी, संगतराश (पत्थरफोड़ा), छीपी जैसे अनेक कारीगर तैयार किये। विश्वकर्माके नाम घर बनानेका एक शास्त्र भी मौजूद है।

मनुष्य जीवनमें संस्कृतिका प्रारम्भ औज़ार बनानेसे ही होता है। मनुष्य प्राणीकी अनेक व्याख्याएं हैं। मनन करनेवाला यानी सोचनेवाला सो मनुष्य। समाज बनाकर रहनेवाला सो मनुष्य। जो हँस सकता है, जो औजार बनाता है, जो तर्क कर सकता है, मनुष्यकी ऐसी अनेक व्याख्याएं हैं। औजार बनाकर उसके द्वारा हाथ-पांव, आंख, कान आदि इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ानेका काम तो मनुष्य ही कर सका है, और किसी प्राणीकी यह ताकत नहीं है।

यही शक्ति जिसने मनुष्यको दी, उसकी पूजा मनुष्य करेगा ही, इसलिए

विश्वकर्माका माहात्म्य विश्वसाक्षी इन्द्रसे कम नहीं रहा।

असलमें अन्तरात्मा और परमात्मा ही विश्वकर्मा है। हमारी यह दुनिया और इसीके जैसी असंख्य दुनियाएं जिसने बनायीं और चलायीं, वही है विश्वात्मा। इसीने सारे विश्वका रूप धारण किया, इसलिए उसे विश्वरूप कहते हैं। वही विश्वचक्षु है, विश्वतोमुख है। सब तरहके काम उसीके द्वारा होते हैं। इसलिए वह विश्वकर्मकृत् है। विश्वतश्चक्षुः, विश्वतष्पात्, विश्वतोमुखः, विश्वतोबाहुः, इत्यादि उसीके नाम हैं। इस विश्वको बनानेके बाद इसको धारण करनेवाला, इसका उपभोग करनेवाला वही है। सारे विश्व पर राज्य करना, उसका नियंत्रण उसीके हाथों होता है। इसलिए उसके नाम हैं विश्वभृत्, विश्वभृक्, विश्वशास्ता, विश्वविन्, विश्ववेदसम्, विश्वस्यकर्ता। उसे अनेक नाम देनेके बाद थककर कह दिया कि वह 'विश्वनामा' है। सब उसीके नाम हैं। और वह विश्वेश्वर भी है। और फिर कहना पड़ा कि वह विश्वाधिक है। यानी अनन्त कोटि ब्रह्मांडके रूपमें प्रकट होने पर भी उसमें वह पूरा समाया हुआ नहीं है। उसका बहुत-सा अंश रह ही गया है। इसी चीजको ध्यानमें लेकर उसे विश्वाधिक कहा।

महाभारतमे विष्णुके सहस्रनामका जो स्तोत्र बनाया है, उसका प्रारम्भ ही विश्वमे है। वही सारा विश्व है और इस विश्वमें प्रवेश कर उसको धारण करनेवाला विष्णु भी वही है।

मनुष्यकी शक्तियां दो हैं। एक सोचना और दूसरी काम करना। मनुष्य जो कुछ भी सोचता है, उसे अमलमें लाये बिना उसे सन्तोष नहीं होता। सोचनेके लिए उसे मन मिला और काम करनेके लिए करण यानी इन्द्रियां मिली। इसीलिए मन को कहा है, अन्दरूनी इन्द्रिय अथवा अन्दरूनी औजार—अंतःकरण। उसके सब औजार करण ही हैं।

जबतक हम लोग इस विश्वकर्माकी प्रत्यक्ष रूपसे उपासना करते रहे तबतक हमारी उन्नति हुई, संस्कृतिमे हम आगे बढ़े। संस्कृतिमें मतिसे भी कृतिको अधिक प्रधानता दी है।

यह सब बताता है कि हमें सामर्थ्य और संस्कृति बनानेके लिए विश्वकर्माकी ही उपासना करनी चाहिए। हम कर्मशील बनें, हमारी कारीगरी बढ़े, तभी हमारा भाग्योदय होगा।

तेजपुरमें जगह-जगह पर काम करनेवाले हमारे कार्यकर्ता समय-समय पर इकट्ठा होते हैं, आश्रममे रहकर प्रशिक्षण लेते हैं और फिर अपने-अपने काममें लगते हैं। अपने उत्सवके लिए एक छोटा-सा मण्डप तैयार किया था। विश्वकर्माकी मूर्तिकी स्थापना की थी। रोज पूजा, अर्चा, संगीत, नृत्य आदि चलता था। जब हम वहां थे, तब हमें उस पूजामें शरीक होनेका आमंत्रण मिला। उस समयके प्रवचनमें मैंने ऊपरकी बातें थोड़ेमें समझायी। प्रवचनके लिए मैंने श्वेताश्वेतर

उपनिषद्का नीचेका वचन लिया था :

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः,
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुः अमृतास्ते भवन्ति ।।

वह परमात्मा सबकुछ करनेवाला है, महात्मा है, हमेशा लोगोंके हृदयमें रहता है। मन, बुद्धि और हृदयके द्वारा वह व्यक्त होता है। जो लोग उसे इस तरह पहचानते हैं उनका कभी नाश नही होता। वे कभी हारते नही, हमेशा विजयी होते हैं।

जब हमारे देशमें राम और कृष्ण जैसे अवतारी पुरुषोंने हमारी संस्कृतिको अमलमें लाकर दिखाया, तब हम लोगोंने इन्द्र, रुद्र, वरुण और विश्वकर्मा आदि अनेक देवोंकी उपासनाकी जगह राम और कृष्णकी उपासना चलाई और महाभारत-कालीन महायुद्धके अन्तमें जब वैर और हिंसाका भयानक परिणाम देखा तब हमने संस्कृतिके रुद्र रूपको गौण बनाकर शिव रूपको प्रधानता दी और हम बुद्ध और महावीरके अनुयायी बने। युद्धको छोड़कर अजातशत्रु बनकर हम लोगोंने केवल मैत्री, करुणाका विकास किया।

वह संस्कृति भी जब जीवन-सिद्धिके लिए साधन-विहीन हुई, तब हमने संस्कृति के लिए साध्य बनाया सर्वोदय और साधनके तौर पर दो ही औजार पसन्द किये : निष्काम सेवा और निर्वैर सत्याग्रह। इन दो साधनोंके बिना मैत्री-करुणामे सिद्धि-दायी वीर्य प्रकट नही होता।

२८. मणिपुर-इंफालका दर्शन

मणिपुरका नाम लेते ही अर्जुन, चित्रांगदा और स्त्री-राजका स्मरण हो आता है। और, इस प्राचीनकालकी कल्पना-सृष्टसे बाहर निकलकर आधुनिककालमें आने ही जापानकी मददसे भारतको आजाद करानेके लिए कष्ट उठानेवाले नेताजी सुभाषचन्द्रबोसका स्मरण होता है। मगर, बीचके कालको भी बिलकुल अंधकारमय नही कहा जा सकता। क्योंकि इतिहासके कई दृश्य बीच-बीचमें 'झिल-मिल करके चमक उठते हैं। ऐसे इस मणिपुरको देखनेकी इच्छा किसे न होगी? और, जब यह मालूम होता है कि मणिपुर देखनेके लिए बाहरके लोगोंको खास इजाजत की जरूरत होती है, जो आसानीसे नहीं मिलती, तब तो ऐसी नगरी देखनेका कौतूहल और भी बढ़ेगा। सामान्यतः स्त्रियोंके प्रति उदासीन रहनेवाले मनुष्यको भी यदि अवगुंठनवतीका रूप कैसा होगा, यह देखनेकी जिज्ञासा हो सकती है, तो जिस नगरीके साथ काव्यमय संस्मरण बुने गये हैं, उसे देखनेका कुतूहल बढ़े, तो अचरज ही क्या?

जब अंग्रेजोंका राज था और विशेष परिचयके बिना मैं आसाममें घूमता था, तब एक-दो बार मणिपुर जानेके लिए इजाजत पानेकी कोशिशें मैंने की थी। मेरी तरफसे कई व्यापारियोंने भी लिखा-पढ़ी करके देखा था। लेकिन, उस समय इजाजत नहीं मिली।

आखिरकार (शायद सन् १९४० ई० में) मणिपुर जानेकी परवानगी आ गई। किन्तु, जिन भाईके हाथमें वह आई, वह परवानगी घर पर ही रखकर मुझे विदा करनेके लिए गोहाटी स्टेशन पर आये! मैंने फौरन ही मणिपुरके पोलिटिकल एजेन्टको १५ रुपयेका तार भेजा और तारसे दीमापुर स्टेशन पर परवानगी मंगाई। यह सारा किस्सा दिलको ऊंचा-नीचा करनेवाला था। तड़के दीमापुर पहुंचते ही तारघरमें जाकर बेचारे बाबूको मैंने जगाया। वह कहने लगे, 'कोई परवानगी नहीं आई है।' मैंने कहा: 'न आई हो, तो आयेगी। अपने यंत्रके सामने बैठे रहो।' वह भले आदमी तो बैठे रहे। लेकिन, मणिपुरकी बसें (Buses) थोड़े ही बैठनेवाली थी। वह तो चलने लगीं। एकके बाद एक करके सारी बसें चली गईं। लेकिन मेरा धीरज न छूटा। तेलके पीपोंवाली एक आखरी बसको मैंने रोक लिया और तारघरमें खड़ा ही रहा। आखिरकार परवानगी आई और 'स्नेह' के भंडारके साथ मैं मणिपुरके लिए निकल पड़ा।

रास्तेमें जो रमणीय प्राकृतिक दृश्य देखे, उसीसे दिलको लगा कि मणिपुर में कुछ काम बन पाये या न पाये, किन्तु इतनी मेहनत करके जो यात्रा की है, वह सार्थक हुई। प्रथम कुछ हिस्सों तक घने जंगलमेंसे हमारा रास्ता गुजरता था। हम दोनों ओरकी शोभा निहारते चले। बादमें तो पहाड़ोंकी भूल-भुलैयामें प्रवेश किया। जंगल कितनी अद्‌भुत शोभाका निर्माण कर सकते हैं, इसका ख्याल तो मुझे पहले था ही; फिर भी यहांकी शोभा देखकर मैं आश्चर्यमुग्ध हुआ। बादमें आये पहाड़ों पर के धानके खेतोंके घाट। सीढ़ी-सीढ़ी पर होकर घाट जिस प्रकार नदीकी ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार ये 'घाट-खेत' अपने पेटमें जितना पानी भर सकते हैं, उतना लेकर घाटीके दामन तक पहुंचते हैं। किसीने पूरी घाटीमें आइनेके घाट बनाये हों और उनमें हो सके, इतने झुकाव साधे हो, ऐसा मालूम होता था। गुजरातीमें आइनोंको 'आभला' क्यों कहते हैं, इसका ख्याल इसी समय अच्छी तरहसे आया। आभ (आसमान) की रोशनीको प्रतिबिंबित करनेवाले सुन्दर पृष्ठभागको 'आभला' ही कहेंगे न? एक 'आभले' का अतिरिक्त पानी दूसरे आभलेमें उतरता जाता है और उसके चेहरे पर सौम्य सुन्दर रेखाएं खींचता जाता है, यह दृश्य देखकर हमारे चेहरे पर भी आह्लादकी रेखाएं खिंचे बिना नहीं रहतीं।

चक्कर लेते-लेते हम कोहिमा पहुंचे। वहां नागा जातिके पहाड़ी लोगोंकी टोलियों पर टोलियां दिखाई दीं। कइयोंने तो लटकते घासके लहंगे पहनेथे। कइयोंकी पीठ पर ऐसे ही घासके ओवरकोट थे। जब वे मुड़कर देखते थे, तब गीले

मुर्गोंके जैसे जान पड़ते थे। हमे उस समय ख्याल भी नही था कि यही कोहिमा कुछ समयके बाद युद्धकी भूमि होगी।

स्कूल-कॉलेजके विद्यार्थी तागेकी जालीदार थैलीमे किताबें लेकर जाते हों, उसी प्रकार बेंतकी जालीदार तंग थैलियोंमे कुत्तोको डालकर भोजके ख्वाब देखकर चलते इन नागा लोगोंको देखकर मेरे मनमे न जाने क्या-क्या आने लगा। मछलियोंके जबड़ोंमे सलाई पिरोकर उनके हार हाथमे लेकर चलनेवाले लोग मैने पहले-पहल कारवारकी ओर देखे थे। अनेक मुरगोके पाव-बाधकर उन्हें औंधे सिर लटकाते ले जानेवाले मांसाहारी लोग किसने नही देखे होगे? बासके पिटारोमें बतखों को भरकर उनके बनाये हुए पारसल स्टेशन पर पड़े हुए कई लोगोने देखे होगे। फिर, इन कुत्तोंमे ही मुझे विशेषता किसलिए लगी? हो सकता है कि चूकि हमारे यहां कुत्तेका मांस कोई नही खाता, इसलिए मुझे ऐसा मालूम हुआ हो, या हाथी, ऊंट, घोड़ा, गाय, बैल और कुत्तोके जैसे पालतू जानवरोको, जिनसे हम कीमती सेवा लेते है, ऐसोंको अभयदान देनेकी हिंदूवृत्ति होती है, यह भी इस अप्रसन्न भाव के पीछेका मुख्य कारण हो सकता है। कुत्तोको खाते है, इस ख्यालसे ही मेरे बदन पर रोंगटे खड़े हुए। 'श्वपच यानी चाडाल, मानव-जातिमे सबसे नीची जाति', यह गीताकालसे हम मानते आये हैं। किन्तु, इन गठीले बदनवाले और उमदा स्वभावके नागा लोगोको हीन माननेकी बात मनमे आती ही नही।

सुबह सात बजेसे शामके सात बजे तक अखंड यात्रा करनेके बाद हम मणिपुर पहुचे थे। शामके कुअवसर पर मासाहारी समाजमे मेहमान रहना आसान बात नही है। इसलिए हमने मारवाड़ी धर्मशालामे पड़ाव डाला था और मच्छरदानीकी कृपासे ही महीसलामत वापस लौट सके थे। मै गया था राष्ट्रभाषा-प्रचारके लिए। यह काम तो एक दो भाषण और पन्द्रह-बीस मुलाकातोके द्वारा कर लिया। बाकी का समय खूब घूमकर मणिपुर देखा। मणिपुरके राजाकी तरफसे चलनेवाला बड़ा मन्दिर देखा। कुछ ऐतिहासिक स्थान देखे। गावकी बहनें ही जहा तरह-तरहकी चीजें बेचती हैं, ऐसे बाजार देखे। वहांका प्रख्यात बुनाईका काम देखा। कपड़े परके कलायुक्त कसीदोंका बखान किया। अत्यन्त मजुल आवाज करनेवाले कांसे के मंजीरे और बरतन खरीदे। रातको एक पौराणिक नाटक भी देख आये। आते समय जितना सृष्टि-सौदर्य लूटा था, उतना ही वापस लौटते समय दोनो आखोसे अघाकर पी लिया और मणिपुरके दर्शनकी कृतार्थताका सग्रह किया। एक बात तो भूल ही गया। वहांके पोस्ट ऑफिसके पासके एक छोटेसे हौजमे इतने सुन्दर लाल कमल खिले थे कि इतने बड़े, प्रसन्न और यौवनमत्त कमल मैने और कही नहीं देखे होंगे। हौजमें समा नही सकते, इतनी उनकी भीड़ थी। भला उन्हे मै कैसे भूल सकता हूं।

इस बार जब (सन् १९४८ ई० में) मणिपुर गया, तब आसामके गवर्नर

श्री अकबर हैदरीकी सिफारिशसे दरबारका मेहमान बनकर गया था। किन्तु मुझे सानंदाश्चर्य तो इस बातका हुआ कि वहांके दीवान साहबसे लेकर छोटे-बड़े सभी लोग आठ साल पहलेकी मेरी मुलाकातको अब भी याद करते थे और उस समय जो राष्ट्रभाषाके बीज मैंने बोये थे, उनकी जड़ें सारे राज्यमें कितनी गहरी फैली हैं, इसकी बात करते थे। अपने कार्यके बारेमें मनमें अभिमान लानेकी मुझे आदत नहीं है, और अब तो मेरी वह उम्र भी नहीं है; फिर भी मुझे कबूल करना चाहिए कि जहां-तहां मेरी आठ साल पहलेकी दो दिनोंकी पुरानी मुलाकातका एक जिक्र सुनकर समाधान हुआ। गांधीजीका संदेश इस प्रकार देशके कोने-कोनेमें पहुचाने का सद्‌भाग्य मुझे मिला और जगह-जगह अच्छे-अच्छे सज्जनों और देशसेवकोंके साथ परिचय हुआ, यह जीवनकी एक कृतार्थता है।

इस समय मैंने लोगोंसे यही कहा कि "आठ साल पहलेका पाठ आपने झेल लिया है, इसलिए गाधीजीका बताया हुआ दूसरा और आखिरी पाठ आपके सामने पेश करनेके लिए आया हू। आप हिन्दुस्तानके एक कोनेमें रहते हैं। दूसरे कोनेमें केरल और तीसरे कोनेमें कश्मीर। कश्मीरका एक सुपुत्र हिन्दुस्तानका राज्य चलाता है। केरलके कई 'मेनन' अपनी बुद्धि-शक्तिसे उन्हें मदद करते है; तो मणिपुरके निवासी यह महत्त्वाकांक्षा क्यों न रखें कि हम भी एक रोज दिल्लीमें जाकर स्वतंत्र भारतकी अद्वितीय सेवा करेंगे ? लेकिन इसको अमलमें लानेके लिए आपको हिन्दुस्तानी अच्छी तरहसे सीखनी चाहिए। उसमें भी अगर आप उर्दू-लिपि सहज सीख लें, तो आपके पड़ोसमें पूर्व पाकिस्तान है, वहां कमोबेश प्रवेश पा सकेंगे। किन्तु; सिर्फ हिन्दुस्तान आपके लिए काफी नहीं है। आपके यहांके निसर्ग-रमणीय पहाड़ तीन महादेशोंके बीचकी ग्रंथिके जैसे हैं। हिंददेश, ब्रह्मदेश और चीन देश इन तीन महादेशोंकी भाषा सीख लेंगे, तो तीनों देशोंमें गांधीजीके सिद्धांतोंके प्रतिनिधिके तौर पर शांतिदूतका काम करनेके लिए जा सकोगे।"

इस बार जो हम मणिपुर गये, वह धूमधामके साथ गये, ऐसा कहना चाहिए। अब भी परवानगी पानेका नियम चालू ही है। किंतु सारी रात रेलवेकी यात्रा करके आखिर सुबह दीमापुर पहुंचे, तब कोरी परवानगीके बदले स्टेशन पर ही दीवान साहबकी प्रेमल निमंत्रण भरी चिट्ठी मिली। नाश्ता-पानी करके हम चल दिये। हिन्दुस्तानके पूर्व हिस्सोंमें सुबह जल्दी होती है। चार बजे ही सभी जगह स्पष्ट प्रकाश दिखाई देता है। चारों तरफ फैला हुआ कोहरा भी रोशनीको रोक नहीं सकता। इससे ट्रेनमें ही हम आसामकी वनश्रीकी जियाफत शुरू करने लगे थ। ऊंची-ऊंची घास अपने वयोवृद्ध पुष्पगुच्छोंसे नतमस्तक होती थी। बेंतके कड़े पत्ते हवाको रोकते थे। कई लताएं बड़े-बड़े दरख्तोंके तनोंकी नग्नताको ढकती थी और कुछ एक पेड़से दूसरे पेड़ तक पहुंचनेके लिए पुल बनाकर बदरोंकी कृतज्ञता पाती थी!

हमने दीमापुर छोड़ा और सड़कके दोनों ओर मानो नाटकके परदे खड़े किये गये हों, ऐसी शोभा फैलने लगी। एक इंच जितनी जमीन भी आंखोंको फीकी नहीं लगती थी। जितना देखो, वनश्रीका लावण्य बढता ही जाता था।

हम आगे गये और पहाड़ भी एक दूसरेके करीब आकर भीड़ करके हमारे सामने खड़े रहे। हमने 'पर्वतभेद' शुरू किया। उसमें रास्ता बतानेका काम पहाड़ परके झरने ही करते थे। 'कलकल-कलकल' आवाज करके वह हमें रास्ता सुझाते थे। यहांके पहाड़ोंकी खूबी यह है कि कई जगह पर मानो सीधी दीवार खड़ी हो, इस तरह रास्तेमें वे नीचेसे ऊपर तक डरावना पहरा करते हैं। और किस्म-किस्म के दरख्त इन पहाड़ोंसे ऐसी खूबीसे चिपकते हैं, मानों महाराष्ट्रके शूर 'मालवे' डोरी पकड़कर किलेकी दीवार सर करते हों! आगे तो हमने ऐसे भी स्थान देखे, जहां इन पहाड़ी दरख्तोंकी कुछ चली नहीं और कुछ हिस्से तो बिलकुल वृक्ष-विहीन दिखाई दिये। अपनी लज्जाको ढकनेके लिए उन बेचारोंको केवल घासकी मदद लेनी पड़ती थी।

पहाड़ परके मोड़वाली सडकोंकी खूबी यह होती है कि दो-चार मील चलनेके बाद एक सारी दुनिया पीछे रह जाती है और एक नई ही दुनिया नजरके सामने फैलने लगती है। हमें यही महसूस होने लगता है कि रामायणको एक तरफ रख-कर महाभारत पढ़ना हमने शुरू किया है।

इस बारका कोहिमा युद्धोत्तर कोहिमा था। जहां-तहां युद्धमें 'काम आये' वीरोंकी कब्रपरके शिलालेख देखनेको मिले। सफरमें हमारे साथ गुरुंग नामके एक सेनानी थे। वे कोहिमामें कैसे फंसे थे और जापानियोंके घेरेमेंसे बहादुरीसे कैसे खिसक गये थे, इसका वर्णन उन्होंने शुरू किया। कोहिमामें हमने एकाध घंटा विश्रांति ली। पहाड़ी फूलोंके स्वागतको स्वीकार किया और घमासान युद्धकी किस्म-किस्मकी तसवीरें कल्पनासे आंखोंके सामने खड़ी की। इधर बम फूटता है उधर एक विमान चक्कर खाकर जलता नीचे गिरता है। नागा जातिके पहाड़ी लोग अंग्रेजोंको और जापानियोंको पक्षपात-रहित धमकियां देते हैं; और हिंदी सैनिक असंभव माने गये शिखरोंको लांघकर जापानियोंको अचरजमें डालते हैं: ऐसे कई दृश्य मैंने अंतःचक्षुसे देखे। जब कोहिमाका युद्ध चलता था, तब मैं जेलमें था। और, एक समय मणिपुरकी यात्रा की थी इस वास्ते युद्धके वर्णन मैंने ज्यादा दिलचस्पीसे पढ़े थे।

कोहिमा छोड़कर हम आगे गये और पूरा दृश्य बदल गया। लाखों साल पहले अनेक ज्वालामुखियोंके विस्फोट होकर यह पहाड़ बने होंगे। इसलिए जहां-जहां मिट्टी गिर पड़ी, वहां-वहां पत्थरोंकी बड़ी-बड़ी दरारें पड़ी। ये दरारें, यह झुर्रियां, मोड़ आदि सामान्य आदमीके दिमागमें भी भूस्तरशास्त्रकी दृष्टि प्रकट करते थे।

लेकिन, जब देख-देखकर आंखें थक जाती हैं, तब वाणी भी कुंठित होती है। हम आगे चले और हमारे सामने 'घाट खेत' फैले। आठ साल पहले जहां मैंने सीढ़ी-सीढ़ी पानीके 'आभले' देखे थे वहां इस समय शरद् ऋतुकी यौवनश्रीने हरे-भरे सोनेकी समृद्धि फैलाई थी। और, उसकी छटाएं भी कितनी ! मानो वाल्मीकि की ही प्रतिभा हो। कभी जान पड़ता था कि वाल्मीकि अधूरा पडनेसे यहांकी समृद्धि नें भवभूतिसे दीक्षा ली है। कभी यों लगता कि उनकी ताजगी तो रवीन्द्रनाथकी ही है। हमारी मोटर सौम्य गतिसे दौड़ती थी और मेरी तृप्त आंखें अखबार पर विश्राम लेनेकी सोचती थीं ! इतनेमे मेरा सौभाग्य जाग उठा। उसने मुझे झिझोड़-कर कहा : "अजी, बाहर तो देखो ! यह तुम्हारा 'पूजा-अंक' कहां भाग जायेगा?" मैं चौंक पड़ा और मैंने बाई ओर बाहर देखा। यह दृश्य मैं जिंदगीमें कभी नही भूलूगा। बाईं ओर एक बड़ी चौड़ी घाटीने अपनी चौड़ी शाखाओंको मीलों तक फैलाया है और उसके अन्दर एक बड़ी टेकरीके माथे पर···!

किन्तु, मुझसे रहा नही गया। मैं बोल उठा : "सरोज, सरोज ! वह देख पहाड़ परका आड़ा फैला हुआ इन्द्रधनुष ! अहाहा ! क्या मजा !"

सहानुभूति दिखलानेकी दृष्टिसे मैंने सरोजकी ओर देखा। उसका चेहरा एक क्षणमें कमलकी तरह खिल उठा। शब्दोंके अभावमें वह भी स्तंभित हुई थी। इन्द्र-धनुष तो आकाशमें ही दिखाई देता है; कभी-कभी उसका एक छोर जमीनको छूता भी है। किन्तु, पूरा इन्द्रधनुष जमीन पर उतरा हुआ मैने एक ही बार हिमा-लयकी यात्रामें देखा था। यहां इस टेकरी पर इन्द्रधनुषका एक टुकड़ा ही दिखाई देता था। लेकिन, क्या उसकी रमणीय भव्यता। सातों रंग खिल उठे थे और हरा रंग तो भड़क फिरोजी बना था। धनुष इतना चौड़ा था कि मुझे महादेवके सिर परके त्रिपुंडकी ही कल्पना सूझी। सप्तरंगी इन्द्रधनुषकी भस्मके पटेसे तुलना करनेवाला अरसिक कवि 'अप-तरंगी' ही होना चाहिए। वरना उसे ऐसी हीनो-पमा कैसे सूझेगी ? लेकिन मैं मजबूर हूं। उस विशाल घाटीके बीच प्रतिष्ठिततासे बैठा हुआ वह महाकाव्य पहाड़ अपने लिए महादेवसे कमतर उपमा सहन ही नही करेगा। और, एक बार उसका महादेवके तौर पर स्वीकार करनेसे उनके सिर पर के पट्टे त्रिपुंड जैसे ही लगेंगे !

इस तरहके दृश्य जगह-जगह देखनेको मिलें, तो तृप्ति भले बढ़े, किन्तु उस का काव्य तो कम ही होगा। दौड़ती मोटरके सामने बीच-बीचमें पेड़ आते थे, कभी मोड़ बदलते थे, लेकिन इस पहाड़ महादेवने प्रसन्न होकर हमें तीन बार दर्शन दिये और वरदवाणीसे कहा : 'तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।'

यह कैफ उतारनेके लिए काफी समय लगा। किन्तु, हमारे लिए दूसरा कैफ तैयार ही था। हम जैसे-जैसे आगे बढ़े, वैसे-वैसे कृषि-समृद्धि बढ़ती ही चली। मीलों तक फैले शस्यश्यामल और धान्य-पीतल खेत मैंने बंगालमें देखे हैं, उड़ीसामें भी

देखे है। लेकिन यहां तो पहाड पर, ऊपर-नीचे, इधर-उधर अनेक कोनोमे, दृष्टि जहा तक पहुच सकती है, वहा तक फैले हुए खेतोके घाट देखकर मै धन्य-धन्य हुआ। 'धन्य' और 'धान्य' शब्दोमे क्या कोई मबध है? मेरा ख्याल है कि इतना फैला हुआ सोना और कही भी देखनेको नही मिलेगा। शारदाकी यह विभूति भी मै कभी भी नही भूल सकूगा। एक जगह एक छोटा-सा गोल और सुन्दर तालाब खेतोके बीचोबीच फंसा था। जरा चमककर वह दूर हुआ, मानो सोनेकी कटोरी मे हीरा बिठाया गया हो। इससे 'आभलो' की कमी जो इस बार महसूस हुई थी, वह भी दूर हुई।

इस प्रकार कोहिमासे माओ तक और उमसे भी आगे पहाड़ी 'घाटी-खेती' देखते-देखते हम आगे चले। इतनेमे एक बडा मोड आया और पूरा दृश्य बदल गया। एक बड़ी नदी दो पहाड़ोके बीचकी मकरी घाटीके दामनमे अपने लिए राम्ना निकालनेमे सफल हुई थी। उसके मोड़ बहुत ही सुन्दर थे। नदी निम्नगा जरूर है, किन्तु साथ-साथ वक्रगा भी होती है। उसका प्रवाह कभी इस ओरके किनारेको छूता है, कभी उस ओरके। इस तरह अनेक प्रकारके 'नागमोड़ी' मोड लेती-लेती वह अपना पात्र फैलाती जाती है। ऐसा करते समय जिन दरख्तोकी जडे ढीली होती है, उनका भोग भी वह लेती है। बीचमे पत्थर मिला, तो स्त्रीकी सहनशीलतासे उस पर बरसो तक अपना सिर पटकती रहती है और आखिर उस पत्थरको वशमे करके ही छोड़ती है। पत्थर यदि मार्गसे न हटे, तो यथासमय उसका चूरा ही होता है।

सौ-सवा-सौ मीलका पहाड़ी सफर पूरा करके सीधे रास्ते पर आये, तब जी कुछ हल्का हुआ। मानो कभी सीधे रास्ते हमने देखे ही न हो, ऐसे आरामसे हमने बाकीका सफर तय किया और मुकाम पर पहुचे।

मणिपुरमे हिन्दुस्तानी-प्रचारकी दृष्टिसे मैने क्या-क्या किया, यह यहा नही लिखूगा। 'आसाम रायफल्स' के गुरखा लोगोने जो सुन्दर नृत्य बताये और दीवान साहबने मणिपुरी नृत्यके और मणिपुरी नाटकके जो उत्तम नमूनोका हमारे लिए प्रबध किया था, उनका वर्णन तो दूसरे ही लेखमे करना चाहिए। और, जिसके दर्शनके लिए मै आठ सालसे तरस रहा था वह लबतक या स्वर्णपात्र सरोवर हमने इस बार कैसे देखा तथा उसके गिर्द-गिर्द जो प्राचीन दतकथाएं पिरोई गई हैं, उनके अवशेष हमने कैसे देखे, और उसके लिए आने-जानेमे ५४ मीलकी 'जीप' की यात्रामे हमारी हड्डियां कैसे ढीली हुईं, इसका वर्णन तो तीसरे लेखमे लिखना पडेगा। १३३ मीलकी यात्राका यह वर्णन उस रास्तेकी तरह ही लबा हुआ है। इसलिए, पाठकोंको सिफारिश करके ही यह लेख पूरा करता हूं कि अर्जुनकी दृष्टिमे नही, किन्तु आधुनिक भारतीय देश-प्रेमीकी दृष्टिसे आप मणिपुरके आस-पासके पहाड़ोंका यह सम्मेलन एक बार जरूर देखकर आइये। घर बैठे मणिपुरी

नृत्य देखकर संतोष न मानें। जिस प्राकृतिक भव्य परिस्थितिमें मणिपुर नृत्य संभव हुआ। उस भूमिका भी दर्शन कर लेना चाहिए। मोतीके साथ मोतीका सीप भी तो देखना चाहिए।

मार्च, १९५३ ई०

२९. पिंजोरकी उद्यान-वाटिका

वैसे तो मैं पंजाबकी नयी राजधानी चण्डीगढ़ कई बार गया हूं। फ्रैंच स्थपति ली कोर्बुजियर (Le Corbusier) ने इसका नया स्थापत्य सुझाया, और उसीकी देखरेखके नीचे वह पूरा हुआ। आबोहवाकी दृष्टिसे, धूप और पवनकी दिशाका खयाल करके घर कैसे बनाये जायं, इसका इसमें विशेष ख्याल रखा है। जो हो, चण्डीगढ़ भारतके शहरोंमें अत्यन्त स्वच्छ और व्यवस्थित शहर है। रास्ते भी बहुत अच्छे हैं। प्रकृतिने भी चण्डीगढ़की अच्छी मदद की है। सुखना सरोवर की शोभा उसे मिली है।

लेकिन मुझे चण्डीगढ़के बारेमें नही, बल्कि वहांके एक काव्यमय बगीचेके बारेमें अपना आनन्द लिखना है। चण्डीगढ़से तेरह मीलकी दूरी पर मुगलकालीन एक सुन्दर विशाल भव्य बगीचा है, जिसे आज 'पिंजोर' कहते हैं। कहते हैं, पंचपुरका यह अपभ्रंश है।

जब पांडवोंको द्यूतमें हारनेके कारण वनवास और अज्ञातवास सहन करना पड़ा तब कुछ समयके लिए उन्होंने पंचपुरकी यह जगह अपने निवासके लिए पसंद की थी। अगर यह बात सही हो तो विराटनगरी भी यहीं कही नजदीक ही होनी चाहिए।

पिंजोरका बगीचा कालका स्टेशनसे सिर्फ तीन मीलके फासले पर है। दिल्लीके बादशाह जहांगीरके एक स्थपति फदाईखानको लाहौरकी बादशाही मस्जिद बनानेके बाद उसे पिंजोरमे एक बादशाही बगीचा बनानेकी सूझी। मध्य-पश्चिम एशियामें रहनेवाले मुगलोंको भारतकी गरम हवामें पानीकी बहुतायत देखकर स्निग्ध छायावाले बगीचे बनानेकी सूझेगी ही।

शिवालिक पहाड़ियोंकी सुन्दरता और पानीकी बहुतायत देखकर मुगल स्थपतिने पिंजोरके बगीचेकी कल्पना की। जमीनकी हल्की ढलान दूर तक फैली हुई देखकर स्थपतिने सोचा कि यहां एकके पीछे एक ऐसी चाहे जितनी बगीचेकी वेदियां (टेरेसिस) बनाई जा सकती हैं, और हरएक वेदी पर पानीके फव्वारे नचाये जा सकते हैं। उसने बगीचेके महाद्वारके पास बैठकर बगीचेकी सात वेदियोंकी शोभाका आनंद लेनेके लिए एक अच्छा सुन्दर मकान बना दिया, जिसके

नीचेसे एक पानीका स्रोत लाकर उसका एक मजेका प्रपात बनाया गया। प्रपातके पीछे छोटे-छोटे ताक बनाकर उनमे मोमबत्तिया जलानेसे बहते पानीके पर्देकी शोभा उठावदार बनाई जा सकती है और पानीके कलरवका संगीत भी ऊपर बैठकर सुना जा सकता है।

इस स्थानसे नीचेकी पहली वेदीकी शोभा नजरको सन्तोष देती है। सामने पानीकी छोटी-सी नहर और उसके हौज, उसके दो बाजू रग-बिरगे फूलोंकी शोभा और टहलनेके लिए छोटे-छोटे रास्ते, और उसके दाहिनी और बायी बाजू सुडौल पेड़। दिल बहलावके लिए इससे अच्छी व्यवस्था कौन-सी हो सकती है? बहता हुआ पानी, बीच-बीचमे पानीके फव्वारे, हसते हुए फूल और चिर यौवनके द्योतक हरे-हरे सुडौल पेड, यह तो उत्तम दृश्य है ही, लेकिन इनके बीच जब तरह-तरहकी पोशाकवाले नर-नारिया और छोटे-छोटे बच्चे घूमने लगते है या बैठकर आराम से वार्तालाप करते है और छोटे-छोटे बच्चे तितलियोके पीछे दौडते हैं तब सारा दृश्य जिदा बनता है। कुदरतके साथ मनुष्यका सहयोग जब पिरोया जाता है तभी उसकी सुन्दरता मुखरित हो उठती है।

जहा ऐसे बगीचेकी एक वेदी पूरी होती है, वहा फिरसे एक सुन्दर मकान खडा किया हे। वहा भी बैठकर आगेकी और पीछेकी विस्तीर्ण शोभा देखनेकी सहूलियत है। इसके आगे दूसरी वेदी, उसके आगे कुछ नीचे तीसरी वेदी, उसके आगे चौथी, ऐसी कुछ पाच या सात फैली हुई वेदिया ध्यानको बाधे रखती है। इस ध्यानसे छुट्टी मिलने पर ही आगेकी विशाल भूमि और ऊपरका नीला आकाश नजरके सामने प्रकट होते है। आकाशम जब सफेद-सफेद बादल इधर-उधर दीख पडते है तब लगता है कि शायद ये सफेद वस्त्रधारी यात्री आसमानसे नीचेकी शोभा देखनेके लिए जरा ठहर गये है। लेकिन जब सूरज पश्चिमकी ओर ढलता है और मध्या बादलोको रगीन बनाती है तब आसमान मानो कहना चाहता है कि रगका उल्लास केवल पृथ्वी ही बता सकती है, ऐसा न मानो। नील आकाशके पास भी चमकीले रंगकी शोभा खडी करनेकी शक्ति है।

जब पाडव यहा रहे थे तब पिछली बाजूके पहाड, आसपासकी उर्वरा भूमि और आकाशकी प्रसन्नता देखकर वे अपने भाग्यके कडे पलटेको भी भूल गये होंगे और शायद इन पच पाडवोने दिलबहलावके लिए पाच छोटी-छोटी बस्तिया यहां स्थापित करनेका सकल्प किया होगा, अथवा यह अधिक संभव है कि पाडवोके जानेके बाद यहाकी भोली जनताने उनके स्मारकके रूपमे यहा छोटे-छोटे पचपुर बसाये होगे। अपने एक ही पुरको पचपुरका नाम देकर पाच भाइयोंका स्मारक बनाया होगा।

जब मुगल वैभवने यह आरामगाह बनाया तब उनको तो पांडवोंका और उनके भाग्यका ख्याल भी नही होगा।

और जब जहांगीरसे लेकर मुगलवंशके दूसरे-दूसरे बादशाह यहां अपने वैभव-का अनुभव करनेके लिए विलासके क्षण यहां व्यतीत करते होंगे, तब उनको भी ख्याल नही होगा कि मुगल कालका अस्त होनेवाला है और अंग्रेजोंके सौ-डेढ़-सौ सालके विष्कंभकके बाद भारतीय जनताका यहां प्रजाराज्य होनेवाला है और बिजलीकी मददसे यह सारा सुन्दर प्रदेश उद्दीप्त होनेवाला है।

आज इस भूमिमे कौरव-पांडवोंका केवल नाम ही रहा है। आज भारत-वासियोंमें न कोई कौरव पक्षका है, न पांडव पक्षका। यह सारा झगड़ा ही खत्म हो चुका है और गृहकलह कितना दुर्दैवी और तुच्छ होता है, इसका ही बोध इस स्थान पर गूंज उठता है।

यहां वेदकालसे लेकर कई जातियां आयीं, आपसमें संघर्ष चलाया, और थकान के बाद सयानी होकर एक-दूसरेमें घुलमिल गयी। दुनियाके सब धर्म अपनेको जगद्गुरु मानते हैं। ऐसी अभिमानी अहंकारी प्रवृत्तियोंको सयानी कौन कहे? ये साम्राज्यवादी प्रवृत्तिया स्वयं थक जायं, उसके पहले मानवजातिको थका देती हैं। दुनियाके बड़े-बड़े धर्मयुद्ध इसी बातके साक्षी है। लेकिन कुदरतका नियम अटल है। अभिमान और मदसे प्रेरित साम्राज्यवाद जब पूरा-पूरा थक जाता है तब परस्पर परिचय, स्नेह, सहयोग और समन्वयका क्रमशः प्रारम्भ होता है। भगवान ने भारतभूमिको अपने इस विशाल प्रयोगकी प्रयोगभूमि बनाया है।

जहा हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि संस्कृतियोंके समन्वयका प्रारम्भ होना चाहिए, वहां हिंदू-सिक्ख जैसा कालग्रस्त और बच्चोंकासा झगड़ा फिरसे सिर ऊंचा कर रहा है और समान माताके विभाजनकी बात सोच रहा है। राज्य-व्यवस्थाके लिए जिस तरह हम शहर, तालुका, जिला और इलाकेका विभाजन करते हैं, इसी तरह भाषाकी सहूलियतके लिए छोटे-छोटे प्रांत बनाना अथवा राज्य बनाना स्वा-भाविक है, यह हम पसन्द करते हैं। लेकिन जिस तरह हम सनातनी और आर्य समाजियोंको अलग नहीं मानते, उसी तरह हिन्दू, जैनी, बौद्ध और सिक्ख आदि स्वजनोंको अलग-अलग नही मानते। इनको तो एक साथ रहना है, इन्हें तो आपस में घुलमिल जाना है। मैं सनातनी हिन्दू होते हुए सिख भी हूं। इससे मुझे कौन रोक सकता है। किसी भी ईसाईसे मैं कम ईसाई नही हूं। दूसरे ईसाई इस चीजको मानें, या न मानें इससे मेरी ईसाइयत कम नहीं हो सकती और जब तक ईसाइयोंके प्रति मेरा प्रेम कम नहीं होगा तब तक ईसाई मुझे दूर करनेमें सफल नहीं होंगे।

पिंजोर अब राजवंशोंके विलासका स्थान नहीं रहा। प्राचीन पांडवोंके निवास का स्मारक नही, किन्तु भारतीय एकताका संग्राहक और परिचायक बना है। यहां-का आनन्द सर्वभोग्य है, जिसमें स्वदेशियोंको स्थान है और परदेशियोंके लिए आमंत्रण है। जब-जब मैंने पिंजोरका दर्शन किया है, मेरा हृदय इसी आह्लादपूर्ण विचारसे भर गया है।

३०. महेश्वरका प्रेरणादायी प्रवास

महिष्मती अथवा महेश्वरका स्थान जैसा पुराण प्रसिद्ध है वैसा ही इतिहास-विख्यात भी है। लेकिन हम तो महेश्वरको प्रातः स्मरणीया, गंगा-जल-निर्मला देवी अहिल्याबाई होल्करकी राजधानीके तौर पर ही पहचानते हैं। उत्तर भारत और दक्षिण भारतके बीचकी सीमास्वरूप नर्मदा नदीके उत्तर किनारे और विन्ध्य पर्वतके पास, उसके दक्षिण किनारे महेश्वरका क्षेत्र बसा हुआ है।

बचपनमें अहिल्याबाईका चरित्र पढ़ते-महेश्वरका नाम आता था। बादमें पेशवाओंके इतिहासका बयान पढ़ते महेश्वरके दफ्तरमे पाये हुए पत्रोका जिक्र आता था। इसलिए भी महेश्वर नामका महत्व ध्यानमें बैठा था। एक दफा नर्मदा नदी लांघते किसीने दूरसे महेश्वरकी दिशा बतायी थी। तबसे मनमे इच्छा थी कि महेश्वर एक बार देखना चाहिए। वह इच्छा इतने वर्षोंके बाद फलित हुई।

हमारे यहा महिलाएं साड़ियां खरीदते महेश्वरकी साड़ियोकी तारीफ करती थीं। स्वदेशी उद्योग-हुनरके पुनरुद्धारमे दिलचस्पी रखनेवाले मनको भी महेश्वर का आकर्षण था। उसका भी जिक्र यहा करना चाहिए।

इन्दौरमे अहिल्याबाईकी पुण्य-तिथिका महोत्सव हर साल होता है। उसीका आमंत्रण स्वीकार करके वहा पहुचा। उत्सवके पहले महेश्वर देखनेका श्री काशीनाथजीने मुझे सुझाया। खा-पीकर पचपन मीलका सफर करके शामके पहले हम महेश्वर पहुचे। रास्ता मुन्दर था और अच्छी बारिश होनेके कारण हरियालीका विस्तार कुदरतको और हमारे चित्तको प्रसन्न करता था। डर था कि या तो बारिश या कुहरा यात्राका आनन्द किरकिरा करेगा लेकिन प्रकृति-माता हम पर प्रसन्न थी। सारी यात्रा दर्शनोल्लासको बढ़ाती ही गई।

हमें याद नही था कि इस छोटी-सी यात्रासे हमे विन्ध्य पर्वतको दो घाटोंके द्वारा लांघना होगा और मालवा प्रदेशको छोडकर हम नेमाडमे प्रवेश करेंगे।

कहां गगनचुम्बी हिमालय और कहा उसके सामने बच्चेके जैसा वामनमूर्ति विंध्य पर्वत! किन्तु पुराणोंने इस विंध्यको हिमालयका ईर्षालु—स्पर्धी बताया है।

कहते हैं कि युवा विंध्यको इच्छा हुई कि मैं हिमालयसे भी ऊंचा बनू। भगवान सूर्यको डर लगा कि यह पहाड़ मेरे रास्तेमे कही रुकावट तो नही डालेगा। अगस्त्य ऋषिने सूर्य भगवानको आश्वस्त करनेके लिए कहा, "आप चिंता न करें, विन्ध्य मेरा शिष्य है। उसे हमेशाके लिए ऐसा सुला दूगा कि कभी सिर ऊंचा न करे।" अगस्त्य ऋषि दक्षिणीयात्राके लिए निकले। गुरुभक्त विंध्यने उनको दंडवत साष्टांग नमस्कार किया। सूर्योपासक ब्राह्मणने शिष्यसे कहा, "वत्स! सौम्य! मैं दक्षिण-की यात्रासे लौटूं नहीं तबतक ऐसे ही पड़े रहना।" आर्य संस्कृतिका विस्तार करने

का मिशन लिये हुए अगस्त्य ऋषि दक्षिणसे लौटे ही नहीं और विंध्यको अपनी ऊंचाई नापनेका मौका मिला ही नहीं। आज भी जो लोग उत्तर भारतसे दक्षिणकी ओर जाते हैं, अगस्त्यके चमकीले तारेको देखकर ही रात्रिका सफर करते हैं और पहाड़ लांघते हैं। दक्षिणकी दिशा पहचाननेके लिए अगस्त्यका तारा उनके लिए उत्तम साधन है।

हमने तो दोपहरको मोटरमें बैठकर विंध्यको लांघा, लेकिन सारा समय हमारा चित्त अगस्त्यका ध्यान करता था और सहानुभूतिके साथ विंध्य पर्वतकी क्षमा भी मांगता था।

पहले आया भेरुघाट। अनेकानेक यात्राओंकी अनुभवी मेरी आंखें भी उसकी शोभासे प्रसन्न और उत्तेजित हो उठीं। जहां-जहां दूर-दूरके दृश्य और अनेक छोटी-बड़ी पहाड़ियोंके शिखर दीख पड़ते थे, वहां-वहां उतरकर विंध्यका विस्तार हमारी आंखोंने हमारे मनमें भर दिया। कई वृक्ष इशारा करके कहने लगे, 'हमें भी देखो', और 'हमें भूलना नहीं'। हमारी यात्राके नेता अचल रास्तेने अनेक मोड़ हमारे सामने प्रकट किये।

भेरुघाट पार किया तो दूसरा घाट तैयार। उसका नाम था बांकानेर। (नाम सुनते ही कल्पना सौराष्ट्रकी यात्रा कर आयी।) भेरुघाटसे यह बांकानेर कुछ नीचा है, लेकिन प्राकृतिक सौन्दर्यमें तनिक भी कम या फीका नही है।। सूर्य भगवानके साथ आकाशके बादल खेल करते थे, और हम दक्षिणकी ओर बढ़ रहे थे। इन्दौरसे ४५ मील पूरे हुए और हमें आगरा-बम्बईका राजमार्ग छोड़कर धामनोदसे महेश्वर जानेवाला एक छोटा रास्ता लेना पड़ा, जो हमें सारे गांवका दृश्य दिखाकर नर्मदाके किनारे ले गया। हमारे पास समय कम था और उसके हिसाबसे कुतूहल अधिक था।

देवी अहिल्याबाईके राजप्रासादके आंगनमें हम पहुंचे। वहां सामने एक बहुत बड़ी तोप दीख पड़ी। ऐसी मध्यकालीन तोपें मैंने अनेक जगह देखी हैं, लेकिन यह कोई विशेष बड़ी-सी मालूम हुई। मध्यकालीन इतिहासमें ऐसी तोपोंका महत्त्व बहुत था। उन दिनों जो शस्त्र अद्यतन और भयानक गिने जाते थे, वे अब कालग्रस्त और निर्जीव होकर केवल जगह रोकनेका काम कर रहे हैं। डेढ़ सौ-दो-सौ बरसके अन्दर विनाशकी कलामें मनुष्यने कितनी कल्पनातीत प्रगति कर ली है!

एक बाजू नर्मदाका दृश्य और दूसरी बाजू राजगद्दीका स्थान। हम अन्दर गये। वहां अहिल्याबाईकी एक काफी बड़ी मूर्ति थी। सुना कि कहीं एक संगमरमरकी मूर्ति है, उसीकी यह प्रतिकृति प्लास्टर ऑफ-पेरिसकी बनी हुई है। इतिहासमें अहिल्याबाईका जो वर्णन हम पढ़ते हैं, वैसा तो इस मूर्तिका चेहरा नहीं है। इतिहास लिखता है कि अहिल्याबाईका वर्ण काफी सांवला था और सौम्य प्रभावशाली होते हुए भी उसे कोई सुन्दर नहीं कहता। अहिल्याबाईके पति खंडेराव होल्कर उनका

आदर करते थे, लेकिन उनको आकर्षण तो दूसरी ही स्त्रियोंका था। अहिल्याबाई-को पिताके जैसा प्रेम दिया उसके श्वसुर मल्हाररावने। इतना ही नही, किन्तु उन्हे अपनी शिष्या समझकर युद्ध-विद्या और राज चलानेका कौशल भी सूबेदारने अपनी स्नुषा (पुत्र-वधू) को पूरा-पूरा सिखाया। दौलत संभालनेका काम, बड़े-बड़े कार्यकर्ताओसे काम लेनेकी खूबी और आसपासके लोगो पर अपनी धाक जमानेकी तेजस्विता अहिल्याबाईमे काफी मात्रामे थी। युद्धकी सफलता फौजके अच्छे प्रबन्ध पर ही निर्भर करती है और शान्तिसे राज चलाना है तो लड़नेकी तैयारी पूरी मात्रामे होनी चाहिए। प्रत्यक्ष लड़नेमे इतना लाभ नही है, जितना धाक जमानेमे है। यह सब अहिल्याबाई अच्छी तरह जानती थी, और अपने वैधव्यकी सिद्धि अनासक्त सयमी जीवनमे ही है, इतना निश्चय उनके पास था ही। पतिके देहान्तके बाद अहिल्याबाईने एक मोतीका हार छोड़कर कोई गहने नही पहने। पोशाक भी सादा रखती थी और सारा समय पूजा-अर्चा और दान-धर्मम व्यतीत करती थी।

हमने जो मूर्ति देखी उसका रग तो गोरा था ही, मुखमुद्रा भी सौम्य, सुन्दर और प्रभावशाली थी और उम्र वृद्धावस्थाकी नही थी। मूर्ति अच्छी थी। मनमे आदरभाव जगानेवाली थी। हमारे लिए इतना बस था।

शका थी कि अहिल्याबाईका पूजास्थान आदि बाकीका भाग देखनेमे कुछ कठिनाई आयेगी, लेकिन सारे स्थानकी देखभाल करनेवाले कुलकर्णीजी वहा आये। इतना ही नही, किन्तु सब बाते हमे अच्छी तरहसे बतानेकी सूचना देनेवाला तार भी इन्दौरसे उसी समय आया। अत सबकुछ आसानीसे और अच्छी तरहसे देख सके।

मन्दिरमे एक जगह सोनेका एक छोटा-सा झूला था। उसकी कीमत लाख रुपये से कम नही होगी। एक दफा उसकी चोरी हुई थी, जो थोड़े ही दिनोमे पकड़ी गई और झूलेके साथकी सब-की-सब चीजे भी यथायावत् मिल गईं। मुझे तो उनमे एक दक्षिणावर्त शंख ही आकर्षक मालूम हुआ।

कहते हैं कि ऐसे शखको राजविलासी नैवेद्य काफी मात्रामे मिले तभी उसके मालिकका कल्याण होता है, अन्यथा शंख रूठकर सत्यानाश कर डालता है। दक्षिणावर्त शंख मिलना दुर्लभ, और मिला तो उसे रखनेवाला उदार और भाग्य-शाली मालिक मिलना तो उससे भी अधिक मुश्किल।

इसी मन्दिरमे हमने नवरत्नोके आठ-नौ लिंग देखे। बाहर निकलकर हमें दिखाकर हिफाजतसे ये सब सोनेके शिवलिंग वापस रखना जिम्मेवारीका काम था। एक-एक लिंगके सिर पर हीरा, माणिक, पन्ना आदि जवाहर बिठाया हुआ था। लेकिन मेरा ध्यान तो एक बड़े प्रवालमेसे काटकर बनाये हुए गणपतिकी ओर गया। प्रवालका इतना बड़ा टुकड़ा मैंने कभी नही देखा था। याद आया कि करीब ऐसी ही, लेकिन पन्नेकी, एक मूर्ति शिवाजी महाराजकी पूजामे थी। उसे

मैंने कलकत्तेमें पूर्णचन्द्र नाहरजीके घरमें देखा था। और इससे भी बड़ी एक मूर्ति, हरे जेडकी चीनमें देखी थी।

और एक चीज हमने देखी देवी अहिल्याकी जपमाला। मैं नहीं मानता कि ऐसी माला नित्य जापके लिए अनुकूल हो सकती है। है तो शोभाकी चीज। एक रुद्राक्ष, उसके बाद एक मोती, उसके बाद लटकता हुआ एक सोनेका लिंग, फिर एक रुद्राक्ष, मोती और लिंग। इस तरहसे बनी हुई एक अच्छी बडी माला है। अहिल्याबाईके नामके और कर-स्पर्शके कारण वह शिरोधार्य है सही। धनी लोग जरूर इसकी कदर करें, लेकिन कलाकी दृष्टिसे और साधनाकी दृष्टिसे मुझे वह अनुकूल नही लगी। सभव है किसीने ऐसी माला बनाकर, देवीके प्रति अपना आदर बताया होगा और उसकी भावनाकी कदर करके देवीजीने उसका स्वीकार किया होगा। नवरत्नोंके शिवलिंग भी भक्तिकी पूजाके लिए अनुकूल नही दीख पडे। लेकिन वह जमाना ही धर्मके बाह्य स्वरूपको माननेवाला था। सहस्र भोजनका आकण्ठ सेवन करके दाताओका जय-जयकार करनेका वह जमाना था। नित्यप्रति हजारों सूर्य नमस्कार करके पूरी दक्षिणा मिलने पर, उसका पुण्य दाताको दे देने-वाला वह जमाना था। ऐसे धर्मका असर अहिल्याबाई पर इतना गहरा था कि उसने अपनी अधिकाश सम्पत्ति, सारे भारतमे जगह-जगह भगवानके मन्दिर और नदियोंके घाट बनवानेमे खर्च की। साधुओको, ब्राह्मणोको और अपाहिजोंको खिलानेके लिए अहिल्याबाईने आसेतु हिमाचल जो अन्नसत्र स्थापित किये, वे आज भी चल रहे हैं।

अहिल्याबाई राजनीति कुशल राज्यकर्त्री थी। एक बलिष्ठ सेनाके रखे बिना राज्यशासन चल नही सकता ऐसा महसूस कर उन्होने 'जय्यत' सेनाका प्रबन्ध अपनी निजी देखरेखके नीचे सुन्दर रखा था। तो भी वह मानती थी कि युद्ध अच्छी चीज नही है, युद्धमे विजय किसीकी भी हो, प्रजाको तो सहन करना ही पडता है। और राज्य है प्रजाके कल्याणके लिए। यह सब जानकर उन्होने युद्ध टालनेकी नीति हमेशा चलायी।

हमे भूलना नही चाहिए कि अहिल्याबाईका जमाना मामूली शान्तिका नहीं था। पानीपतकी लडाईसे मराठा राज्यको जो जबरदस्त धक्का लगा और उनकी उत्तर भारतकी नीति पर जो प्रतिकूल असर हुआ, उसमेसे बचकर, मराठों-की शक्तिको संगठित और समर्थ बनानेका वह जमाना था। लेकिन जब अवनति दिन आते हैं तब केवल लश्करी नीति ही नही, राजनैतिक चारित्र्य भी बिगड़ जाता है।

राघोबादादाका चारित्र्य कौन नही जानता? पेशवा खानदानमे उसने गृह-कलहकी आग लगाई। अहिल्याबाईका राज्य हजम करनेकी कोशिश की और अत-में अंग्रेजोंके साथ राष्ट्रद्रोही दोस्ती करके राज्यको ऐसा कमजोर किया कि देखते-

देखते अंग्रेजोंने मराठोंका सारा साम्राज्य खतम कर दिया।

ऐसे विपरीत समयमें अहिल्याबाईने गीताधर्मके अनुसार शुद्ध राजनीति चलाई, महादजी शिंदेके साथ दोस्ती रखी, उसके संकटके समय उन्हें मदद भी की। पेशवाओंकी गद्दीके प्रति अपनी निष्ठा तनिक भी ढीली नहीं होने दी। समय-समय पर अपने मालिकको नेक सलाह भी दी। पूनाके षडयन्त्रोंमें उसने अपनेको नेक बाजू पर रखा और अपने राज्यके भील, रामोशी आदि आदिवासियों पर अपना प्रभाव डालकर, उनकी शरारतें रोकते हुए उनकी हालत भी सुधारी।

"अहिल्याबाई आखिर एक स्त्री ही है। मददकी मुहताज होगी ही," ऐसा समझकर जब किसीने उन्हें छेड़ना चाहा, तब अहिल्याबाईने अपनी तेजस्विता भी पूरी मात्रामें प्रकट की। औरोंकी बात छोड दें, उनके दोस्त महादजीने जब देवीके सेनापति और उत्तराधिकारी तुकोजीरावको अनुचित बढ़ावा दिया तब देवीने दोस्त शिंदेको भी साफ-साफ कहला भेजा, "ऐसा दखल मैं सहन नहीं करूंगी। मल्हार-रावकी पुत्रवधू हूं। चूड़ियां पहनकर बैठी नहीं हूं।" एक विधवाके ऐसे तेजस्वी सन्देशसे महादजी शिंदे सधे हो गये और अहिल्याबाईका रास्ता साफ हो गया।

अहिल्याबाईका जीवन शुरूसे आखिर तक, दुःखमय ही रहा। लेकिन केवल प्रजाहितके लिए राज्य चलानेवाली इस तपस्विनीने कभी भी हिम्मत नहीं हारी। अनासक्तिसे उसने राजकाज चलाया और अपने जमानेको संभालनेकी भरसक कोशिश की। श्रीकृष्णचन्द्रकी गीताकी सीख प्रतिकूल परिस्थितिमें कैसी प्रेरणा दे सकती है, इसके उदाहरणके तौर पर देवी अहिल्याबाईका जीवन पेश हो सकता है।

अपने जमानेके सर्वोच्च आदर्शके अनुसार चलनेवाली और अपने जमानेके दोषोंसे दूर रहकर ऊंचा उठनेवाली इस पवित्र देवीका चिन्तन करते-करते और नर्मदाके विशाल पटके आखिरी दर्शनसे प्रसन्न होकर हम महेश्वरसे लौटे। महेश्वर जाते जिस सूर्यनारायणको हमने सिर पर पाया था, उसका सौम्य-मधुर दर्शन अब हमें पश्चिम आकाशमें मिलने लगा और महेश्वर आते जिन दो घाटोंमेंसे हम उतरे थे, उन्हींपर अब चढ़नेका आनन्द हमें मिला। तेज धूपके समय जो दृश्य उज्ज्वल किन्तु एक-सा दीख पडता था, वही अब सन्ध्याके कारण धूप-छांवके खेलसे अधिक रमणीय हुआ। प्राकृतिक दृश्यका जिस तरह मानवीय चिन्तन पर असर होता है, उसी तरह चिन्तनका असरभी प्राकृतिक दृश्यके अनुभव पर होता है, यह सूक्ष्म बात हमारे लिए प्रत्यक्ष हुई और ऐसी चिन्तन-पोषक समृद्धिके साथ हमने फिरसे इन्दौर-में प्रवेश किया।

दूसरे दिन हम लोगोंने इन्दौरके नागरिकोंके साथ अहिल्याबाईका जन्मोत्सव मनाया। उनकी छवि पालकीमें रखकर उसका जुलूस निकाला गया और अहिल्याबाईके प्रति जो हमारा ऋण है, उसका सबने स्वीकार किया। प्रेरणा पाने-

की बात अलग है। जिस किसीके भाग्यमें बदा हो, वही प्रेरणा पा सकता है, और प्रेरणा नवनवोन्मेषशालिनी होनेसे, हर जमानेमें वह नये ही ढंगसे प्रकट होती है। वह अपना महेश्वर स्वयं ढूंढ लेती है।

३१. संगमोंका मेला

प्रागैतिहासिक संस्कृतिके शुद्ध प्रतिनिधि आदिवासियोंके बीच पश्चिमकी अद्यतन संस्कृतिकी विजय जिसमें पायी जाती है, ऐसे लोहेके और इस्पातके प्रचंड, थी राक्षसी कारखाने स्थापित करना यही एक अद्भुत, अभूतपूर्व संगम है। बंगाल, बिहारकी पुण्य संस्कृतिकी पुण्य सीमा पर जहां पुण्यसलिला स्वर्णरेखा बहती है और भोली-भाली खरकाईके प्रेम-जलका स्वीकार करती है, वहां भारतपुत्र पारसी जमशेदने संकल्प किया कि भारतमें ऐसे असाधारण सामर्थ्यशील यन्त्रोद्योगका प्रारम्भ करूं, जिसकी हस्तीका स्वीकार वैभवोन्मत्त पश्चिमको भी आदरके साथ करना पड़े और उस संकल्पका मुहूर्त भी कैसा ! उन्नीसवीं सदीका अंधकार कम होकर बीसवीं सदीके उषःकालका जब प्रारम्भ हो रहा था, अंधकार और प्रकाशका जिसमें संगम है, ऐसे ब्राह्ममुहूर्तको ऋषियोंने ध्यानके लिए पवित्र, अनुकूल समय माना है। उद्योगवीर जमशेदजी टाटाने ध्यानके साथ युगान्तरकारी पुरुषार्थके लिए इस मुहूर्तको पसंद किया और सोचा कि आदिवासी नाम धारण करनेवाली नदी खरकाई जहां वैभवशाली संस्कृतिकी सूचना करनेवाली 'स्वर्णरेखा'[1] को अपना

१. स्वर्णरेखा कितना काव्यमय और आकर्षक नाम है ! विमानमें बैठकर इस नदीकी लकीरको देखनेवालेको ही ऐसा नाम सूझ सकता है।

कहते हैं इस नदीकी रेती धो-धोकर इसमेंसे सोनेके कण इकट्ठा करनेवाले स्वर्णकारोंने ही इसका नाम स्वर्णरेखा रखा था। हम मानते हैं कि ऐसा होता तो नदीका नाम सुवर्णकणिका रखा जाता। जो हो, नदीका दर्शन करके हमें इतना आनन्द हुआ कि हम उसे सुवर्णमुखी कहना चाहते हैं। लेकिन रेखा नहीं।ः

कहते है कि इस नदीका उद्गम रांची शहरसे दस मीलकी दूरी पर है। वहांसे उत्तर-पूर्वकी ओर बहती यह नदी त्रिमुहानीकी ओरसे दक्षिण-वाहिनी बनती है। जमशेदपुरके पास पश्चिमसे आकर उसे आदिवासी नदी खरकाई मिलती है। आगे आकर यह नदी मिदनापुर जिलेके जंगलमें प्रवेश करती है और आखिरकार बालासोर जिलेमें दाहिनी और बाईं ओर मुड़ती-मुड़ती नागमोड़ी आकारसे बंगालके उपसागरमें विलीन हो जाती है।

नदीकी कुल लम्बाई तीन सौ मीलसे कुछ कम है आखिरी सोलह मीलमें इस नदीके

पानी समर्पण करती है, वहीं पर भूमिगत लोहेको बाहर निकाल कर उद्योगोंका प्रारम्भ करूं। भूगर्भविद्याके प्रवीणोंने उन्हें विश्वास दिलाया कि स्वर्णभूमि भारत-के पेटमें कृष्णायस (लोहा) कम नहीं है, और पता नहीं किस प्राचीन युगके वानस्पत्य कांतारोंने इसी भूमिमें कोयला भी तैयार करके रखा था। लोहा और कोयलेका-एक ही प्रदेशमें संगम होना, यह कोई मामूली भाग्य नहीं है।

आर्य और ईरानी संस्कृतिने एकत्र होकर अशोकके दिनोंमें इसी बिहारकी भूमिमें एक अद्भुत प्रासाद खड़ा कर दिया था। मुगलकालमे ईरानी और भारतीय संगीतका जब संगम हुआ तब तानसेनके गुरु, गायनऋषि हरिदासने हिंदुस्तानी संगीतको जन्म दिया था। यमुनाके किनारे मुगल वैभवका स्मरण दिलानेवाला ताजमहल भी संगम-संस्कृतिका एक उज्ज्वल द्योतक है।

भगमलीलाकी समृद्धिमें रममाण होनेवाली इस भारतभूमिमें साकची संगमके पास जो नया भाग्य तीर्थ खड़ा हुआ है, उसका फिरसे दर्शन करनेके लिए हमें समय मिला सन् उन्नीस सौ साठ और इकसठके सन्धि-कालका।

अमरपुरी, वाराणसी और ऋषिपत्तन सारनाथ देखकर अशोकके पाटलीपुत्र पहुचे। वहांसे भगवान महावीरके निर्वाणधाम पावापुरी हो आये। चीनी यात्रीने जिसका वर्णन किया है, उस नालन्दाका महा-बिहार देखा। जरासंधका संघर्ष और महायानका समन्वय दोनों जहां पाये जाते हैं उस उष्ण जल राजगृहका दर्शन किया और विष्णुपदकी धर्मशिलाको स्पर्श करके बोधिगयाके उस स्थान पर पहुंचे, जहां कोशकार अमरसिंहने बुद्ध भगवानकी संकल्प-सिद्धिका उत्तुंग स्मारक खड़ा किया है। बोधिगया आज पूर्व एशियाका आकर्षण केन्द्र बना है और एक तरहसे उसे अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व भी प्राप्त हुआ।

गांधीजीके सुरेन्द्रजी और जयप्रकाशजीके द्वारकोजीके सत्संगमे दो दिन बिता कर हम कलकत्ताके रास्ते जमशेदपुर यानी टाटानगर पहुंच गये। जब कभी कलकत्ता जाते हैं, पुराने स्नेहको ताजा करनेका ही कार्यक्रम रहता है।

'टिस्को' और 'टेल्को' दो शब्दोंमें जमशेदपुरका सारा पुरुषार्थ व्यक्त होता है, लेकिन उसका बिवरण स्वतंत्र रूपमे ही करना अच्छा। जिस तरह कल-कारखानों-मे भी प्रसन्नता-मूर्ति फूलोंकी हस्ती आवश्यक होती है, उसी तरह उद्योगसिद्धिके कीर्तनके पहले प्रकृति माताके चिरन्तन यौवनको अर्घ्य देना उचित होता है।

हमने जमशेदपुर पहुंचते ही आतिथ्यके प्रतिनिधि श्री प्रेमनाथजीसे पूछा कि यहां सरोवरके दर्शनका लाभ तो मिलेगा ही न? उन्होंने कहा, "डिमना सरोवर दर्शनसे ही आपकी यात्राका मंगलाचरण होगा।"

प्रवाह पर समुद्रके ज्वार-भाटेका असर होता है और इससे नदी हुई नौकाओंके लिए आवागमन आसान हो जाता है।

छ:सात बरसके पहले चि० सरोज और मैं इसी सरोवरके दर्शन करके आनन्दित हुए थे। उस समय हमारे आतिथेय थे मीदिओमाह मादान, जिनको हमने पूर्णचन्द्रके नामसे पहचानना पसन्द किया था। एक गभीर रोगकी अमावस्याको उन्होंने अपनी हिम्मत और पुरुषार्थसे आरोग्यकी पूर्णिमा बनाया था।

डिमना सरोवर जमशेदपुरसे करीब आठ मीलकी दूरी पर है। यह कोई प्राचीन सरोवर नहीं है। आस-पासकी ऊंची-ऊंची पहाड़ियोकी तलहटीमें बरसातका थोड़ा पानी इकट्ठा होता था। वहां एक अनुकूल जगह देख टाटाओंने एक अच्छा-खासा बांध बांधा और मीलकी परिधिवाले नये सरोवरको जन्म दिया। कुदरतने इस सरोवरके बीच एक टापूको अवकाश देकर इस जलराशिको सौंदर्यराशि बना दिया।

सरोवरकी ओर जाते चि० सरोज और मैं पुराने संस्मरणोंको ताजा करते चले और इस तरह परिचित स्थानकी मुलाकातकी उत्कंठा बढ़ती गई।

भावनगरके बोर तालाबकी तरह यहां पर भी आखिर तक सरोवरके दर्शन नहीं होते। आखरी चढ़ाई पूरी करते ही यकायक सारा वारि-विस्तार नजरके सामने प्रकट होता है। सौंदर्यके साथ चमत्कृतिका मिलान होनेसे आनन्द द्विगुणित होता है। जमशेदपुरके नगरवासियोके लिए पीनेका शुद्ध पानी यहांसे जाता है। और वे भी इस सरोवरके किनारे वन-भोजनके लिए आकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते है। सुन्दर चमकीले पृष्ठभाग पर रंगोंकी अबरी बनानेकी कला सरोवरने संगमरमरसे सीखी या संगमरमरने सरोवरसे सीखी, इसका जवाब दोनों दे नही सकते और पानीमे अपना प्रतिबिम्ब देखनेवाले बादल हमारे अनुत्तरित प्रश्न पर हंसते रहते हैं, अथवा उनको भी आश्चर्य होता होगा कि पृथ्वीके इन छोटे-छोटे आईनोंमें इतना बड़ा आसमान कैसे समाता होगा? रातको जब बादल नही होते तब आकाशके सितारे इसी शांत सरोवरमें अपने-अपने प्रकाशकी तुलना करके अपने स्थानकी गहराईका नाप लगाते हैं।

लेकिन सरोवरके साथ सच्ची दोस्ती करनेवाली तो हैं पवनकी लहरें और उनको भी सबक सिखानेवाले परिन्दे। एक शिखरसे दूसरे शिखर तक दौडनेवाली हवाकी लहरें सीधी-सीधी कभी नहीं जायेंगी। जरा नीचे उतरकर सरोवरके कपाल को गुदगुदी किये बिना एक भी लहर आगे नहीं जाती है और पक्षी भी सरोवर पार करते हुए बीच-बीचमे नीचे उतरें बिना नहीं रहते। यह कहना कि वे तो मछलियोंकी खोजमें ही नीचे उतरते हैं, उनके प्रति सरासर अन्याय है। मछलियों-को उदरस्थ करके उनके साथ अद्वैत सिद्ध करनेका व्यापार तो कुदरतने ही उन्हें सिखाया है। उसमें कोई अनोखी या अनहोनी बात नही। लेकिन पक्षियोंको इस पारसे उस पार जाते बीच-बीचमें मन हो ही जाता है कि सरोवरके शैत्यपावनत्व-का थोड़ा-सा स्पर्श अपने सीनेको करावें।

हमारी नजर और हमारी स्मृतिने इन सब पूर्वाचार्योंका स्मरण करके सरोवर के विस्तारका विहार किया और अनुभव किया कि अपनी गहराई सरोवरकी गहराई और आसमानकी गहराईसे अलग ही कोटिकी है।

बढ़ती हुई भीनी संध्याने अपनी बूंदोंके द्वारा हमे स्मरण दिलाया कि आगे देखनेकी बहुत-सी चीजें है। हम चढ़े थे वैसे उतरे। स्वर्णरेखाके प्रवाहको फिरसे लाघा और देखते-देखते हम वृन्दावन पहुचे।

वृन्दावन शब्दकी यात्रा भी सोचने लायक है। श्रीकृष्णके जमानेमे, मथुराके पास वृन्दाके पौधोंका एक आकर्षक वन होगा। श्रीकृष्ण-गोपियोके रासके कारण उस वनका नाम अजरामर हुआ। अब दक्षिणके कृष्णराज सागरके भक्तोको इच्छा हुई कि पानीके फव्वारोकी रंग भरी रासक्रीड़ा खड़ी करे। बिजलीने उस रासमें इन्द्रधनुषका इन्द्रजाल बढ़ानेका ठेका लिया और लोगोंने देखा कि इस कलात्मक सौंदर्यको व्यक्त करनेके लिए वृन्दावनसे बढ़कर कोई शब्द है नही। इस तरह मैसूर मे वृन्दावन पहुचा। अब जमशेदपुरके सर्जकोको दक्षिण के वृन्दावनकी ईर्ष्या हुई उन्होंने अपने पुरवासियोके आमोद-प्रमोदके लिए एक वृन्दावन बहता किया। आकाशके सब तारे मिलकर भी अगर रात्रिक अधकारका नाश नही कर सकते तो इस उद्यानके चरण-पथको प्रकाशित करनेवाले दीए रात्रिका दिन बनानेकी महत्त्वाकाक्षा कैसे धारण करे?

अबकी बार भी अच्छे-अच्छे आतिथेय (मेजबान) मिलनेके कारण थोड़े समयमे बहुत-कुछ समझनेका सन्तोष हमे मिला था। लेकिन मेरे मनमे एक ईर्ष्या रह गई। सोमवार रातको मै जल्दी सो गया और अहसन तैयबजीका सारा परिवार आकर चि० सरोजको रातकी सैरके लिए ले गया। चांदनी तो मनुष्यको पागल करती ही है, उस पर संगमकी शोभा। उसका वर्णन सुनकर मेरी आखें ईर्ष्यासे नीली हो गई। दूसरे दिन सुबह देखा तो हमारे पास दो-तीन घटोंकी पूजी थी। प्रेमनाथ भी प्रसन्न हुए और हम तैलवाहनकी गतिसे उत्तर-पश्चिमकी ओर दौड़े। सूरजकी सुनहरी किरणे भी पीछेसे आकर हमें प्रोत्साहन देने लगी। वायुयानकी छोटी-सी विराम-स्थली पार करके आगे बढ़े और हम एक गहरे उपवनमें पैठ गए। उपवन बड़ा हो या छोटा, अच्छा वज्रलेप रास्ता उसकी शोभा बढ़ाता ही है, दूसरे आधुनिक साधनोके जैसे उसे विश्री नही कर देता।

अगर आगे संगमका आकर्षण नही होता तो भी इस उपवनके दर्शनसे हमारा प्रात.काल कृतार्थ होता। यहां हवाका जोर विशेप नही होगा। सब-के-सब पेड़ सज्जनोंके जैसे सीधे ही खड़े थे। टेढ़ा-मेढ़ा वृक्ष ढूंढने पर भी नही मिला। आगे जाकर देखा कि उस उपवनकी वन्द लताओंको यह पसंद नही आया कि यह सारे सज्जन पेड़ गुमसुम खड़े रहें। लताएं उनके गले लगीं और उन्होंने वृक्ष-वृक्षके बीच दोस्ती बांध ली।

उपवन पूरा हुआ और हमने देखा कि सामनेकी गहराईमें खरकाई नदी स्वर्ण-रेखाको मिलने आगे बढ़ रही है। खरकाई अपना प्रवाह मोड़कर यहां उत्तरवाहिनी बनी है। स्वर्णरेखा प्रसन्न गम्भीर मुद्रा धारण कर पश्चिमसे पूर्वकी ओर बह रही है। दोनोंको पता नहीं है कि आगे जाकर उनका कर-भार लेनेके लिए एक बड़ा बाँध उनके सामने खड़ा होने वाला है और तुरन्त एक पुल दोनोंकी अवज्ञा करके डिमना सरोवरकीओर जानेवालोंकी मदद करेगा।

संगमका वायु-मण्डल हमेशा ध्यान-गम्भीर और संस्कृति-समृद्ध होता है और जब उस पर चन्द्रिकाकी वर्षा हुई अथवा कोमल सूर्यकिरणोंने उस पर मुलम्मा चढ़ाया तब तो पूछना ही क्या? संगमका दृश्य देखते-देखते हम पेड़ोंके नीचे खड़े थे और भारतका सारा इतिहास नजरके सामनेसे गुजरने लगा। हमारे आदिवासियों की स्वतन्त्रता और उनके स्वच्छन्द जीवनके बारेमें श्रीकृष्णके जमानेसे हम सुनते आये हैं। भागवतके प्रारम्भमें ही, वैष्णव-भक्तोंने इन आदिवासियोंके बीच जो धर्म-कार्य किया था, उसका जिक्र है। इतिहासकालमें अनेक राजाओंने और सम्राटोंने इनको परेशान किया, लेकिन इनकी दुर्दमनीय प्राणशक्तिने ही इनको बचाया। इन आदिवासी भाइयोंको यथार्थ रूपमे समझनेका प्रयत्न हम पहली बार कर रहे हैं। अगर मेरे पास समय होता तो आदिवासियोंके इस प्रदेशमें घूम-घूमकर इनके लोकगीतों और लोक-कथाओंका संग्रह करता। हमने सुना कि पौषकी सक्राति के दिन, इस संगम पर आदिवासियोंका मेला लगता है। इस भूमिके हजारों बालक नर-नारी इन नदियोंको साक्षी रखकर अपने जीवनके आनन्दको गहरा बनाते हैं। जो लोग इन प्राकृतिक लोगोंसे संहयोग पाते हैं और जिन्हें इनकी भाषा आती है, उनका काम है कि वे उनके जीवनमें ओतप्रोत बनें और नवयुगकी प्रवृत्तियोंके द्वारा उन्हें अपना जीवन समृद्ध करनेमें मदद करें। आज तो केवल आर्थिक सम्बन्धके कारण संस्कृति-नाश ही हो रहा है।

संगम, समन्वय, सहानुभूति, सहयोग और समृद्धि यही है आजका युगधर्म। पौष सक्रांतिके दिन इस संगम पर केवल आदिवासी इकट्ठा हो जायं इतना बस नहीं है। जमशेदपुरमें भारतके सब प्रांतोंके लोग, सब भाषा बोलनेवाली जमातें और सब धर्मके अनुयायी एकत्र रहते हैं। इनके सह-जीवनसे एक समर्थ और समृद्ध संस्कृति रूप पकड़ रही है। पश्चिमके थोड़े लोग भी अब शुद्ध सहयोगके वायु-मंडल में उनके बीच आ बसे हैं। इन सबको चाहिए कि वे यहांके आदिवासियोंके साथ मिलजुलकर एक नया ही मेला लगायें और दो जीवन-स्तरोंके संगमसे दीक्षा पाकर सर्वोदयकारी नवसंस्कृतिका संकल्प करें। संगम, समन्वय, सहानुभूति, सहयोग और समृद्धि ही नवयुगकी दीक्षा है। यही है इस युगका सार्वभौम धर्म।

३२. दक्षिणकी दिल्ली

हैदराबाद और सिकदराबाद 'मा जाये जुडवें बालक' जैसे दो शहर माने जा सकते है, यद्यपि उनका जन्म एक साथ नही हुआ है। उत्तरमे सिकदराबाद, दक्षिणमें हैदराबाद। दोनोके बीच शायद ही चार मीलका अतर होगा। उसमे तीन सौ वर्ष पुराना हुसैन सागरका एक मील लंबा बाध है। हुसैन सागर, हिमायत-सागर, और उस्मान सागर ये तीन सरोवर इस शहरकी मुख्य शोभा है। शोभा भी है और गरमीमें हवाकी गरमी कम करनेवाली सेवा भी।

न जाने क्यों, ऐसे सरोवरोको मनुष्यकी आबादी चारो ओरसे घेर लेती है तब वह मुझे अच्छा नही लगता। सरोवरके सहवासका आनंद लेनेके लिए और आनंद अनुभव करनेके लिए मनुष्य सरोवरके एक ओर घर बना ले तो मुझे कोई आपत्ति नही है। घरोकी ऊंचाईसे दूर तककी सरोवरकी शोभाका रस लेनेकी सुविधा देख-कर मैं खुश होऊंगा। परन्तु हुसैन सागरकी तरह जब सामनेकी दिशामे भी 'घर, और घर ही घर' भीड़ करके खड़े रहते है तब प्राकृतिक सौदर्यकी पिपासु मेरी नजर हैरान हो जाती है। तीन-तीन जीने चढ़कर ऊंचाई पर आये और सामने मनुष्यके घरोको ही देखना! इतनी अरसिकताके लिए मेरी नज़र तैयार नही होती।

'सामनेका दृश्य बिगड़ गया तब दाहिनी और बायी ओर कुदरतका विस्तार देखनेको मिल जाय तो भी गनीमत' ऐसा समझकर नजर जरा तिरछी करके देखा और वहा भी मकानात ही दीख पड़ें तब तो नजर बिलकुल परेशान होती है।

ऐसी परेशानी न होती तो मै इस जुडवे शहरके वर्णनका प्रारभ तीन सरोवरोकी मुन्दरतासे ही करता।

इन तीन सरोवरोंके आसपासके एक जिले जितने प्रदेशको 'अतराफ इ-बल्दा' कहते है। इतना नीरस गद्य नाम इस प्रदेशके लिए अच्छा नही लगता। 'राजधानी के आसपास फैला हुआ यह प्रदेश' ऐसा होता है इस नामका अर्थ। खैर! हुसैन, हिमायत और उस्मान तीनोंको मैं सरोवर भी नही कहूंगा। दरअसल ये तीन बड़े तालाब ही है और वह भी नदीके प्रवाहके आड़े बंध बाधकर मनुष्य द्वारा तैयार किये हुए बड़े तालाब हैं। मनुष्यके पुरुषार्थके हिसाबसे इनता लाबोको सरोवर कहनेको मै उदारतासे तैयार हो जाऊंगा, परंतु जिसन जिदगीमे समुद्र देखा ही नही है, ऐसे दो पैरोंके मनुष्यने तीनोंको 'सागर'का नाम दिया है, यह तो असह्य है। इसी प्रदेशमें दूर-दूर उत्तर-पूर्वमे इन तीनोंकी अपेक्षा एक बड़ा तालाब है। उसे कहते है 'पाखाल सरोवर'। उस सरोवरका विस्तार तेरह चौदह मील है। पुराने लोगोंने उसे 'पाखाल सागर' कहनेकी धृष्टता नही की।

अपने स्वभावके अनुसार यहांके इस प्रदेशके नक्शे लेकर मैं बैठा। देखा कि सारे प्रदेशमें छोटे-बड़े असंख्य तालाब हैं। किसी भी दिशामें घूमिये, बीच-बीचमें

ये तालाब आपकी आंखोंको ठंडक बख्शेंगे। सचमुचमें यह प्रदेश कृष्णा और गोदावरी, दक्षिणकी इन महानदियोंका है। हैदराबाद और सिकन्दराबादके बीचसे मूसी नदी बहती है, जो डेढ़ सौ मीलकी यात्रा करके अपना जलभार कृष्णाको अर्पण कर कृतार्थ होती है।

लोक-संख्या और प्रतिष्ठाके हिसाबसे हैदराबाद-सिकन्दराबादका भारतके नगरोंमें पांचवा स्थान है, परन्तु इन सब बड़े शहरोंकी उम्र बनारस या वाराणसी जैसे प्राचीन शहरोंके आगे कुछ भी नही है। कलकत्ता, बंबई, मद्रास अंग्रेजोंके राज्य-कालमें पैदा हुए। हैदराबाद भी उतना ही प्राचीन माना जायगा। दिल्लीके बारेमें ऐसा नहीं कह सकते। कहते हैं, दिल्लीके आसपास हमारे लोगोंने पांडवोंके समयसे आजतक करीब चालीस राजधानिया कायम की हैं। उसके मुकाबले दक्षिणकी दिल्ली कहलानेवाले ये शहर कलके बच्चे ही हैं।

यहांके प्रदेशकी पुरानी राजधानी गोवलकोंडा है। वरंगळके एक हिंदू राजाने एक अच्छा किला बनवाकर उसके आसपास इस शहरकी स्थापना की। आगे जाकर ईसवी सन् १३६५मे हिंदू राजाने गोवलकोडा मुहम्मदशाह बाहमनीको सौप दिया। बादमे दो सौ बरसके अंतमे गोवलकोडाके मुस्लिम राजाने हैदराबादकी स्थापना की। पहले उसका नाम भागानगर था। हमारे कुछ लोगोंने फिरसे वह नाम चलाने की कोशिश की थी। इसलिए मैने दरयाफ्त किया कि भागानगरी नाम कब पड़ा और किसने यह नाम रखा, क्योंकि इस शहरकी स्थापना तो मुसलमानोने ही की थी।

कुतुबशाही घरानेके पाचवे राजा मुलतान मुहम्मद कुलीने ईसवी सन् १५९० मे इस शहरकी स्थापना की। 'भाग्यमती' नामकी उसकी कोई प्रियकरणी होगी। उसके नामसे इस शहरका नाम भाग्यनगर रखा। बादमे उसको बदलकर हैदराबाद रखा। इसलिए इस शहरकी उम्र साढ़े तीन सौ या चार सौ सालसे ज्यादा नही है।

दक्षिणके इस इतिहासमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं है। हम इतना ही याद रखें कि पठान लोगोंने उत्तरमें अपने छोटे-बड़े राज्य कायम किये। उसके बाद हिम्मत करके दक्षिण पर आक्रमण किया। वहांके राजाओंको हराकर अपने छोटे-बड़े राज्य कायम किये। पठान लोग भारतमें सर्वत्र फैल गये, परन्तु उनमें अखिल भारतीय साम्राज्य कायम करनेकी शक्ति या महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। पठानोंके बाद इस देश में पश्चिम मध्य एशियाके मुगल आये। वे साम्राज्यवादी थे। उन्होंने राजपूतोंकी मदद लेकर अपना उत्तरका साम्राज्य दक्षिणमें फैलाया। शाहजहांने प्रारम्भ किया। औरंगजेबने वह पूरा किया और दक्षिणमें मुगल राज्य चलानेके लिए एक अमलदार नियुक्त किया, जिसे निजामउल-मुल्क कहते थे। 'निजाम यानी वाइसरॉय—बादशाहका प्रतिनिधि।' आगे जाकर जब दिल्लीके बादशाहोंकी

शक्ति कमजोर हो गई तो निजामने स्वतन्त्र होना पसन्द किया।

औरंगजेबके विरुद्ध लड़नेवाले शिवाजीके वंशज आरामतलब हुए और उन्होंने सारा राज-कारोबार अपने ब्राह्मण मुख्यमंत्रीको सौंपा, जिसे 'पेशवा' कहते थे। दिल्लीके बादशाहोंके प्रतिनिधि 'निजाम' और सातारा के राजाओंके प्रतिनिधि 'पेशवा' दोनोंके बीच झगड़े कायम रहते थे। परिणामस्वरूप हैदराबादमें महाराष्ट्री काफी संख्यामें रहते थे। आगे जाकर अंग्रेजोंने दिल्लीकी और महाराष्ट्रकी सत्ता भी अपने हाथमें ले ली और हैदराबादके निजाम पर अपना काबू ढीला न पड़े, इसलिए सिकंदराबादमें अपनी छावनी कायम की। यह है इस जुडवां शहर का संक्षिप्त इतिहास। यहां आनेके बाद गोवलकोंडाका किला तो देखना ही चाहिए। दरअसल गोवलकोंडा, हैदराबाद और सिकंदराबाद मिलकर छोटी-सी त्रिस्थली बनती है। लश्करकी दृष्टिसे इन तीनों आबादियोंका गठन देखते युद्ध-कलाका विकास कैसे होता गया, इसका अच्छा ख्याल आता है।

आज युद्धकलामें इतनी सारी प्रगति हुई है कि ये सब किले, उनके आसपासकी खाइयां, जमीनके अंदरकी सुरंगे अब किसी कामके नही रहे। शिवाजीके जमानेमें जो सैकड़ों किले बने, उनका आज लश्करी दृष्टिसे कुछ भी उपयोग नही रहा। प्राचीन इतिहासके स्मारक और युद्धकलाके संग्रहालयके तौर पर भले ही उन्हें सुरक्षित रखा जाय।

यहां आते ही मैंने अपने मेजबानसे कहा कि निज़ामके एक मुख्यमंत्री सर सालारजंगने जो एक म्यूज़ियम यहां बनाया है, वह मुझे देखना है। वह संग्रहालय जब मैंने पहले पहल देखा था तब वह अपने एक पुराने मकानमे था। स्वराज मिलनेके बाद उस संग्रहालयके लिए एक सुन्दर विशाल खास मकान बनाया गया है। मेरी दृष्टिमे उस पदार्थ-संग्रहालयका उपयोग इतिहासके लिए नही, बल्कि 'भारतीय और यूरोपीय कलाकी तुलना करनेके लिए' बड़े महत्वका है। सालारजंग तीसरेने पश्चिमकी कलाके नमूनेके रूपमे चित्र, बरतन, जेवर और घरका सर-सामान लाकर रखे थे. वह यह म्यूजियम है।

और प्राचीन गोवलकोंडा तो जाना ही था। वहां पुराने रजवाड़के खंडहर देखनेको मिलेंगे।

वहां जानेके बाद मालूम हुआ कि वही पासमें ही एक बहुत पुराना पेड़ है, जिसका तना पांच सौ सालका पुराना होगा या आठ सौ सालका! इतना बड़ा तना हिन्दुस्तानमें तो और कही नही है, परन्तु सारी दुनियामें भी उसकी जोड़का मिलना मुश्किल होगा। उस तनेका घेरा ११६ फुट है। दूरसे ऐसा ही लगता है मानो काले पत्थरमेंसे एक स्वर्गीय गजराजका पैर कुरेदा हो।

अबतक देशमें या परदेशमें जितनी यात्राएं मैंने की हैं, उन सबमें इतिहास-संशोधनकी दृष्टि प्रमुख रहती थी, उसके बाद कुदरतका सौन्दर्य अथवा उसकी

भव्यताकी दृष्टि रहती थी। लश्करकी दृष्टिसे भी मैंने बहुतसे स्थान देखे हैं। अब वह उत्साह अस्त हो गया है। अभी इस वर्षमें, शरीरकी क्षीणताके कारण होगा, पुराने बहुतसे रस अस्त हो गए हैं। अब तो मानव-संस्कृतिके हजारों वर्षोंके विकास की दृष्टिसे प्रकृति और संस्कृतिके बीच जो गज-ग्राह चला है, उसीके नमूने मेरा ध्यान आकर्षित करते हैं।

और ज्योतिषकी दृष्टिसे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रोंके भी उस पार फैली हुई आकाशगंगाका गठन कैसा होगा इसकी कल्पना करनेवाला मैं कभी-कभी इहलोक छोड़नेके बाद परलोककी यात्राका आनन्द कैसा होगा, उसके चित्र भी खींचनेका प्रयत्न करता हूं।

परंतु वहां हो आनेवाले यात्री जबतक मिलते नहीं तबतक वे सब चित्र कल्पना के चित्र ही रहेंगे, फिर भले ही वे चित्र पुराणकार ऋषि-मुनियोंने खींचे हों या योगियोंने खींचे हों।

२३. दांडीका गांधी-वृक्ष

मेरी बड़ी इच्छा थी कि दांडीके उस पेड़का दर्शन करूं जिसके नीचे गांधीजी बैठे थे और उन्होंने वहां कुछ महत्त्वके खत लिखे होंगे अथवा संकल्प जाहिर किया होगा। स्वराज्य सरकारने उस पेड़के आस-पास सादा, किन्तु अनुरूप स्मारक बनाया है। पिछली दफे इस स्थान पर आया था, उसका स्मरण ताजा है।

फिर वहांसे हम नजदीक ही समुद्र-किनारे जाकर बैठे थे। दिलखुशभाई दीवानजीने कहा, "उस वक्त समुद्र-किनारे आपने कुछ श्लोक गाये थे।" सूर्यास्त के बारेमें कुछ कहा होगा। पूरा याद नही है। शायद सूर्यके बिम्बके अन्दर भगवान नारायणका जो दर्शन होता है (और मैंने कई बार किया है) उसी का श्लोक होगा :

ध्येयः सदा सवितृ-मंडल मध्यवर्ती।
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकर-कुंडलवान् किरीटी।
हारी हिरण्मय-वपुर् धृत-शंख-चक्रः।

मैंने दांडी जानेकी इच्छा जुगतरामभाईसे व्यक्त की और कहा, "स्थान यहांसे बहुत दूर नही है। हमारे पास समय भी है।" किन्तु जुगतरामभाईका उत्साह नही दीख पड़ा। मैंने कहा, "जाने दीजिए। पिछली दफे गये थे सो याद है। उतना बस है। बार-बार जानेमें विशेषता कुछ नहीं।"

बात खतम हुई। लेकिन पता नही, शायद चि० मोहनने हमारी बात सुनी होगी। वह जोर-जोरसे कहने लगा, "जरूर जाना ही है। समय है, मोटर तैयार है। अभी चलेंगे।" मोहनके सामने जुगतरामभाई ठंडे हो गये। (अथवा उनका

ठंडापन दूर हो गया।) मोहनके कारण हम अबकी बार उसी आकर्षक और पवित्र स्थान पर जा सके।

दिलखुशभाई ने कहा, "दिल्लीमें गांधी समाधि है, वैसा यहां यह स्थान है।" मेरे लिए यह वचन टीका-टिप्पणीके जैसा साबित हुआ। दिल्लीमे गांधी समाधिके पास ही हम रहते हैं। दूर-दूरके लोग कितनी श्रद्धा-भक्तिसे वहा 'दर्शन'के लिए जाते हैं! नजदीक होने पर भी मैं कभी जाता ही नही हूं, और मुझे उसका रज भी नही है। तब यहांके लोगोके मनमे यह स्थान वैसा ही चिर-परिचित है। इनके मनमे यहां विशेष भक्ति क्यों हो? मैं यहा पर उत्तेजित होता हूं, क्योंकि यहा शायद ही आ सकता हू। इसलिए यहा मेरे सात्त्विक भाव जागृत होते हैं। लोगोंकी अनास्था का ख्याल करनेके पहले अपनी अनास्था याद करनी चाहिए।

इस तरह नम्र होकर पेडके नीचे हम गये। हमारे साथ श्री लल्लूभाई मकनजी थे। पेडके नीचे सगमरमरके तीन पत्थर थे। उनपर जो भी वचन खुदे हुए थे, लल्लूभाईके पसंद किए हुए थे। मुझे अच्छे लगे। मैने उनकी सराहना की।

और फिर एकदम (भले कुछ क्षणके ही लिए) ध्यानमग्न हो गया।

पूज्य बापूजी अपनी जिंदगीका सर्वस्व एकाग्र करके ब्रिटिश राज्यको हटानेका सकल्प यहा कर रहे थे। भारत-माताका पूरा हृदय गाधीजीके हृदयके साथ एकरूप हो गया था। केवल आजके भारतवासी ही नही, न मालूम कितने जमानेके असख्य भारतवासी अपने हृदयकी वेदना और आशा लेकर इस पेडके नीचे गाधीजीके हृदय मे घुस गये होगे और गाधीजीके सकल्पके साथ एकरूप होनेमे धन्यता अनुभव करते होगे।

और उन दिनो बापूजीका हृदय हमारे हृदयमे बैठकर हम भी कितनी बडी दीक्षा दे रहा था! उन दिनो मै स्वय विद्यापीठके विद्यार्थियोंको दाडी कूचका महत्त्व समझाकर उन्हे गुजरातके कोने-कोनेमे भेज रहा था, 'जाओ जनताको इस आखरी फैसलेका महत्त्व समझाओ। हमारी अहिंसा पूरी-पूरी अहिंसक रहकर भी सब जगह आग लगा सकती है, इसका अनुभव जनताको कराना है।

"पूज्य बापूजी तो साबरमतीसे दाडी तकका दो सौ-ढाई सौ मीलका सफर करेगे। लेकिन तुम लोगोको तो गुजरातके कोने-कोनेमे जाना है। अपनेको भूल जाओ। गाधीजीके सैनिक बनो और गाधी-हृदयका सदेश गुजरातके हर आदमीको सुनाओ।"

मैंने चन्द विद्यार्थियोकी दो टुकडिया गाधी-यात्राकी पूर्व तैयारी करनेके लिए गांधीजीसे पहले भेज दी थी। उनका नाम मैंने रखा था 'अरुण टुकड़िया'। गांधीजीका आगमन मानो सूर्योदय। उसका सृजन मेरे विद्यार्थी करेंगे।

आज मेरे मनमे सारी बातें ताजा हो रही थी। इतनेमे श्री लल्लूभाईने मुझसे पूछा, "उन अस्सी लोगोमें आप शायद थे ही?" मैंने कहा, "मैं तो खुशीसे उनमें

शरीक होता, लेकिन मुझे तो एक महत्त्वपूर्ण कार्य करना था।" मैंने सब बातें उनको समझायी और कहा, "मेरा छोटा लड़का 'बाल' आश्रमसे निकलकर गांधीजी के लोगोंमें शरीक था। उस वक्त उसकी उम्र १८ सालकी थी। मेरा बड़ा लड़का सतीश कुछ महीने पहले मुझसे नाराज होकर (यानी आश्रमकी शिक्षासे असंतुष्ट होकर) सरकारी शिक्षा लेनेके लिए स्वतन्त्र हुआ था और बम्बईके कॉलेजमें पढ़ता था। सब छोड़कर, एकदम आकर गांधीजीके ७९ लोगोंमे शरीक होकर उसने संख्या अस्सी पूरी कर दी। उन दिनों बीच-बीचमें जाकर गांधीजीसे मिलता था। शंकर (सतीश) के शरीक होनेके बाद जब मैं गाधीसे मिला तब मुझे देखते ही प्रसन्न होकर उन्होंने कहा, "शंकरे लाज राखी। हु एना पर खुश छु।" (शंकरने लाज रखी। मैं उस पर खुश हूं।)

"इस तरह गांधीजीके अस्सी लोगोंमे मैं नही था, लेकिन मेरे दो लड़के थे। उसका आज भी मुझे गर्व है।"

दांडी-कूचके दिन याद कर आजकी स्थितिसे तुलना करनेकी इच्छा भी नही हुई। उन दिनोंकी मस्ती हृदयमें धारण करके भारत-माताके गौरवका स्मरण करना ही मैंने उचित माना।

वे सारे दिन फिरसे ताजे रखकर हम समुद्रके किनारे गये। सूर्यास्तको काफी देर थी। लेकिन सूर्यनारायणका बिम्ब हमें आशीर्वाद दे रहा था और समुद्रकी लहरें गम्भीर लापरवाहीसे मस्त होकर कह रही थीं, "हजारों वर्षके इतिहासकी हम साक्षी हैं। तुम मानवोंके उत्साह और निराशा, आकांक्षा और तृप्ति हमारे लिए क्षणिक है। हमारी हस्ती ही देखो। पानीसे ऊपर उठना एक बड़ी किनारी बना देना और नीचे गिरकर फेनके रूपमें हम पड़ना, यही हमारी लीला हजारों वर्षोंसे चली आयी है। हम जितनी क्षणिकताकी प्रतिनिधि हैं, उतनी ही अनंतता-की प्रतिनिधि है। क्या तुम्हारा इतिहास हमारे ज्वार-भाटेसे भिन्न है? मानवी इतिहासका महत्त्व तुम्हारे लिए चाहे जितना हो, सनातन कालसे भी जिसकी हस्ती अधिक गम्भीर है, उस आत्माका चिंतन करो। तुरन्त परमात्माका स्मरण होगा।"

सामनेका सूर्य-बिम्ब एक बादलके पीछे लुप्त हो गया और मैंने 'ईशावास्यं इदम् सर्वम्'से आरम्भ करके उपनिषद्के अठारह मन्त्र उन लहरोंको सुनाये। बादमें नित्यकी प्रार्थना करके गीताके स्थितप्रज्ञका आर्दिक श्राद्ध किया और गाधीजी-का ही नाम धारण करनेवाले हमारे मोहनको हार्दिक धन्यवाद देकर हम लौटे। कितना अच्छा हुआ, हम यहां आकर भूतकालको सजीव कर सके और उसे कालातीत परमात्माके चिंतनमें विलीन कर सके!

सचमुच भारतीयोंके लिए यह एक तीर्थ-स्थान है। हमारे लिए तो जीवनकी पवित्रतम और उच्चतम घड़ी यहां पर सदाके लिए जीवित है।

३४. कुदरतकी रौनक

१

दिल्लीकी बात है। युनिटी-कान्फरेन्सके दिन होंगे। जमुना नदीमे बाढ आयी थी। चारो तरफ पानी फैला हुआ था। कई देहात डूब गये थे। झोपडियां गिर गई थी। मवेशी बह गये थे। कुछ लोग पेड पर चढ बैठे, लेकिन पानी कम हो तभी न? कुछ लोगोने लकडियोंके टुकडोको एक साथ बाधकर बेडे बनाये और उनके ऊपर अपने बाल-बच्चोके साथ बैठकर उस कालनदीके प्रवाहमें अपना जीवन-सर्वस्व छोड दिया। नाश करनेके लिए जो बाढ आई थी, उसीके प्रवाहमें अपनेको छोड कर लोगोने बचनेका विचार किया। दिल्लीके लोगोने जमुनाके पुलपरसे बडी-बडी डोरियां और रस्सियां नीचे छोडी थी। एक बेडेपर एक मर्द अपने बाल-बच्चो को लेकर बहता आ रहा था। रस्सी देखकर उसको आखोंमें आशाकी किरण दिखाई दी। 'अगर मै यह रस्सी पकड लू, तो हम सबको कोई न-कोई ऊपर खीच लेगा। अब तो हम बच ही गये।' आशाका बहता हुआ बडा पुलक लाने आया। मर्द ने हिम्मतके साथ उछलकर रस्सीको पकड लिया।

लेकिन, हाय रे दुर्दैव! उसने रस्सी तो मजबूतीसे पकड ली लेकिन पानीके जोर से पैरका नीचेका बेडा खिसक गया। खुली आखो सारे कुटुंबका अपनेसे अलग होते उसने देखा। पुल परके लोगोने उसे नजीकके साथ ऊपर खीच लिया। लेकिन वह तो सन्न हो गया था। बच जानेका आनन्द उसे न था। 'क्या हो गया', इसका विचार करते हुए उसकी बुद्धि बहरी हो गई थी। जब उसे परिस्थितिका पूरा भान हो गया, तब उसने पुलपरसे पानीमे कूद पडनेकी ठान ली। जो लोग उसे रोक रहे थे, मानवी सृष्टिमें उसे जिन्दा रखना चाहते थे, वे सब उसे दुश्मन जैसे लगने लगे। उनकी अपेक्षा नीचेके पानीका भीषण प्रवाह ही उसे प्यारा लगता था। उसने छूट जानेके लिए बहुत प्रयास किये, लेकिन एक-दो दिनकी भूख और चिन्ता उठाने वाला उसका शरीर हार गया और वह बेहोश हो गया।

और उस बेडेकी क्या हालत थी? बेडे परके बाल-बच्चोंने जब देखा कि अपना एकमात्र आधार, एक मात्र धैर्यमेरु रस्सीसे लटक रहा है और हम उससे हमेशाके लिए अलग हो गये है, तब उन्होंने जोरसे चिल्लाना शुरू किया व सिर पीटने लगे और प्रवाहके वेगके साथ अलोप हो गये। किसीको खबर नही कि उनका आगे क्या हुआ।

२

उसी दिन तागेमे बैठकर मै 'धीरज पहाडी' (दि रिज् हिल्) की ओर जा रहा था। यह देखकर कि जमुनाका पानी कितना फैल गया है, मै विचार कर रहा था कि कितने देहातोमे हाहाकार मच गया होगा। इतनेमे हमारा तागवाला अपना

विस्मय व्यक्त करता हुआ बोला, 'कैसी खुदा की खूबी है! उसने दिल्लीमें बम्बईकी रौनक खड़ी कर दी है।' उसने बम्बईमें तांगा चलाया होगा। चौपाटी और अपोलो-बन्दरकी शोभा देखी होगी। इस प्रलयकालके अवसर पर उसे बम्बईकी वह रौनक याद आई! पहले क्षण तो मैं उससे चिढ़ गया, फिर अंतर्मुख हो गया। अंतमें रात-को जब ताराओंका शांत और सौम्य कोहिनूर प्रकाश मैं देखने लगा, तब मनमें विचार आया, 'यह ताराप्रकाश मुझे शीतल शांति प्रदान करता है, लेकिन उस तारे पर तो ऐसी दाहकता सुलग रही है कि जिसका अनुभव पृथ्वी पर कभी नहीं हुआ है।' इस ख्यालके आते ही मुझे ऐसा लगा कि मैं भी आखिर 'बम्बईकी रौनक'का ही आनन्द ले रहा हूं!

३

इसी महीनेकी बात है। हम असम प्रान्तमें लमडिंगके रास्ते सिलचर पहुंचे थे। आसपास बारिश होनेसे हर जगह बाढ़ आनेके समाचार सुन रहे थे, स्टेशनसे मकानपर पहुंचनेके वक्त सर्वत्र अंधेरा छाया हुआ था। पानी बरस ही रहा था। बीचमें जब बिजली चमकती, तब पानीका विस्तार एक क्षणके लिए चमक उठता था। खबर मिली कि रातमें इतनी बारिश हो गई है कि मोटरके रास्ते सिलहट जाया नहीं जा सकता। हमने दूसरी रातको ही ट्रेन पकड़ी। कलौरे पर गाड़ी बदलकर सवेरे सिलहट पहुंचे। रास्तेमें भी वही दृश्य! सभी खेत पानीमें डूब गये थे और पानी अंधेरेमें डूब गया था। एक जगह ट्रेन रुक गई। मुझे ऐसा लगा कि सामनेकी तरफ थोड़ेसे फासले पर एक स्टीमलांच खड़ी है। मुझे ताज्जुब हुआ। इतनेमें बिजलीकी क्षणिक जगमगाहट हुई और मैं साफ-साफ-साफ देख सका कि सामने स्टीमर नहीं, बल्कि टीनके छप्परका छोटा-सा स्टेशन है।

सिलहटमें भी बारिश नहीं रुकी। हमने अपना काम किसी तरह पूरा किया और मोटर लेकर चेरापूंजी पहाड़ पर चढ़कर शिलांगकी ओर जानेके लिए निकल पड़े। बराक नदीके किनारे हम मोटरमें बैठे। वहांसे तीस मील तक रास्ता सीधे खेतोंमेंसे होकर जाता था। जब सिलहट छोड़ा, तब एक-दो पहाड़ियां बताती थीं कि हम स्थिर पृथ्वी पर ही हैं। लेकिन, जरा आगे बढ़ गये और दोनों तरफ खेतों-का सरोवर बना हुआ दिखाई देने लगा। रास्तेके दोनों तरफके पेड़ अपने पत्तोंकी अंगुलियां पानीमें डुबोकर बालकोंकी तरह खेल रहे थे। हमारा रास्ता बन्दरोंके बनाये हुए लंकासेतुकी तरह दिखाई देता था। दायें और बायें दोनों तरफ खेतोंके स्थान पर शांत समुद्र फैला हुआ था। धुआंधार बारिशकी वजहसे समुद्रका मुंह मुरझाया हुआ और गमगीन दिखाई देता था। जो किसान अक्सर कीचड़में खड़े रहकर धानके पौधे रोपते हैं, वही किसान आज छोटी-छोटी किश्तियोंमें बैठकर अपने ही खेतोंमें मछलियां पकड़ने निकले थे। हमारी दौड़ती हुई मोटर बीच-बीचमें चिल्लाकर अपनी स्थितिपर आश्चर्य व्यक्त करती थी और नये-नये दृश्य हमारी

नजरके सामने खड़े कर देती थी।

इतनेमे कुछ दूरी पर एक पालवाली नाव दिखाई दी। अब तो निश्चय हो गया कि यह समुद्र ही है। छिछले पानीमे पालवाली नाव कहासे आयेगी ?

इतनेमे एक पुल आ गया और तब मै समझ गया कि इस पुलके नीचेसे एक नदी बहती है, उसका पानी और खेतोका पानी एक हो गया है और नदीमे घूमनेवाली ये नौकाए 'सर्वत' सम्प्लुतोदके'की स्थितिका लाभ उठाकर नदीमुख इस बरसाती समुद्रमे प्रवेश कर रही है।

यह समुद्र कहा तक फैला हुआ है ? बहुत दूर जहा कि नजर जा सकती है, कुछ पहाड़िया दिखाई देती थीं। उनके पाव पखारनेके लिए यह समुद्र वहा तक पहुचा हुआ दीख पड़ता था। लेकिन, वे टेकरिया बहुत देर तक दिखाई नही दी। बड़े-बड़े मेघोने इस क्षितिज पर एक सगमरमरकी दीवार खड़ी कर दी और आकाश और पृथ्वीके बीचकी लकीरको मिटा दिया।

कुदरतका ऐसा कोप यहाके लोगोके लिए लगभग हर सालकी बात हो गई है। लोग जमीनमे हल चलाते जाते है। अनाज बोते जाते है। बोया हुआ अनाज यदि उग आया, तो परमेश्वरके उपकार, और अगर मर गया, तो 'पुनश्च हरि ॐ'! यह है सुजला, सुफला मलयजशीतला, शस्यश्यामला बगभूमि ! यहाकी झोपड़ियोका आकार देखकर किसीको ऐसा नही लगता कि यहाके लोग इससे जीवनसे ऊब गये है। शायद मछलिया-भी-मछलिया खानेसे होगा, लेकिन यहाके लोग पानीमे मछलिया की तरह ही खुश रहते है और अपनी नावोके जरिए, अपने गीतोमे और अपने उत्सवोमे जीवनके आनन्दको ललकारते है।

उत्तर बगालकी यह रौनक देखकर मै भी खुश हो गया और मोटरकी मददसे डोकीका मनोहर पुल पार करके पहाड़ पर फैले हुए कुहरेके पारावारमे हमलोगोने प्रवेश किया।

३५. कुतुबमीनारके ऊपरसे

दृश्य चाहे कितना ही सुन्दर क्यो न हो, यदि उसे रोज-रोज ही देखना पड़े तो उसका काव्य धीमे-धीमे लुप्त हो जाता है। दो वर्ष पूर्व (ई. स. १९३८मे) मैने लिखा था कि बम्बई और पूनाके बीचमे स्थित खडाला घाटकी भव्यता अच्छे-अच्छे कवियों, चित्रकारो और गिरि प्रवासी परिव्राजकोको मुग्ध कर सकती है। किन्तु, रेलगाड़िया उस मार्ग पर रोज सात-आठ बार आती-जाती रहती है, अत: लोगोको आज उसका अति-परिचय हो गया है। परिणाम यह आया है कि हम लोग उस विश्वरूप दर्शनकी भी अवज्ञा करने लगे हैं, इस बातका स्मरण तक रेलके यात्रियोको नही होता।

प्रकृतिके प्रति इस कदर अलिप्त और अनासक्त भाव रखकर इन लोगोंको बाहर देखे बिना, बीड़ी पीते हुए, गप्पें मारते हुए या केक, बिस्कुट, चिवड़ा खाते हुए देखकर, मनमें ऐसी चिढ़ पैदा होती है कि एक-एकको उठाकर उस पहाड़के चरणोंमें फेंक दूं। यदि मनुष्य अपनी गरदन बाहर निकालकर इस विशाल दृश्यका पान करे, तो क्या उसे अपच हो जायगा ? आंखें थक जायेंगी ? या उनका प्रकाश मंद पड़ जायगा ?

लेकिन उन लोगों पर चिढ़नेसे पहले मुझे विचार करना चाहिए कि इतना विशाल आकाश मस्तक पर फैला हुआ है, फिर भी मैं गद्‌गद कंठ और सजल नयनोंसे इसका दर्शन कहां करता हूं ? परिचयके कारण औत्सुक्य नष्ट हो जाता है और बादमें वस्तुका वियोग हो जाने पर ही उसका रूप लावण्य या उसका गुण-समुच्चय ध्यानमें आता है।

० ० ०

दिल्ली जाने पर मुगल-वैभवके अवशेषोको देखनेकी इच्छा होती ही है। अभी हालमें ही वहां मध्य एशियासे लूटकर लाये हुए चित्रोंका एक संग्रहालय स्थापित हुआ है। इस प्रकार दिल्लीके नाना आकर्षणोंमे एककी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है।

इन सब वस्तुओंको दिल्ली जानेवाला मनुष्य जब चाहे देख सकता है। लेकिन, कुतुबमीनार कुछ दूर होनेसे—कुछ क्यों, खासा बारह-पन्द्रह मील दूर होनेसे—वहां सहज ही जाना नहीं हो पाता। इसका अपना सौन्दर्य, इसका इतिहास, इसके विषयमें पृथ्वीराजके समय तककी दंतकथाएं सभी कुछ आकर्षक है। परन्तु, कुतुबमीनार भी अतिपरिचयका शिकार हो गई है। कुतुबके विषयमें अब खोज-खबर करना बाकी नही रहा। इसका इतिहास इसकी प्रदर्शिका-पोथी (गाइड-बुक) में ठीक प्रकार छपा हुआ है। इस मीनारको मुसलमानोंने बनाया या हिन्दू कीर्ति-स्तम्भकी छाल उतारकर मुसलमानोंने इसकी तबलीग (शुद्धि) की है—इस विषय की समस्त चर्चा भी आपको एकाध हिन्दी मासिकमें मिल सकती है। कैमरा लेकर मीनारका एकाध फोटोग्राफ लेनेका भी उत्साह आपको नही होगा; क्योंकि हर एक तरफसे इनके अनेक फोटो ले लिए गये हैं। इतना ही नहीं, ये सब छपे हुए फोटो आपके सामने विज्ञापनकी तरह प्रस्तुत किये जाते है। ऐसी दशामें कुतुब मीनारके विषयमें मनमें काव्यका कुतूहल भला कहांसे पैदा हो ?

फिर भी, कुतुब तो कुतुब ही है। वह बम्बईका राजाबाई-टावर नही कि एक बार देख लिया और तृप्त हो गये। कुतुबके सामने यदि बम्बईका समुद्र होता, तो कौन कह सकता कि कितना उन्माद पैदा हो जाता ! मैंने अनेक बार कुतुबको देखा है। उसीके समीप, अपनी प्रतिष्ठाको सुरक्षित रखते हुए प्राचीन अद्‌भुत लौहस्तंभ को मैंने उतनी ही बार देखा है। इतना ही नहीं, स्तम्भकी ओर पीठ करके उल्टी

ओरसे उसे अपने भुजपाशमें लेनेका भी प्रयत्न किया है; क्योंकि वहांके उस स्थान माहात्म्यका अनादर नहीं किया जा सकता। अब जब भी मैं कुतुब मीनारके पास जाता हूं, तब कुतुबके सौन्दर्य दर्शनके लिए नहीं जाता। ऐसी सुन्दर मीनार किस प्रकार बनाई गई होगी? इसके लिए कितने रुपये खर्च किये गये होंगे? बनानेवाले लोगोंने कितने वर्षतक इसका चिंतन किया होगा? इसके कारीगरोंका मुख्य स्थपति (आर्किटेक्ट) हिन्दू था, हिन्दुस्तानका था या कोई परदेशी था? इन बातोंकी खोज करनेके लिए भी मैं नहीं बैठता। भूकम्पके कारण इसका मुकुट गिर गया था, वह कैसा होगा, इसकी भी मैं कल्पना नहीं करता। किसी अंग्रेज 'लुहार' ने इसके मस्तक पर एक चबूतरा बनाया था और उसे लार्ड हार्डिंगने नीचे उतरवा दिया था, उसे मीनारके ऊपरसे देखते हुए भी वह मीनारके मस्तक पर था, तब शोभित होता होगा या नहीं, इस बातकी मीमांसा करनेके लिए भी मैं नहीं बैठता। उसे उतारनेकी आज्ञा देते हुए उस वायसरायके मनमें क्या-क्या विचार आये होंगे, इसकी कल्पना भी अब मैं नहीं करता। कुतुब पर चढ़ते हुए या उतरते हुए इसकी ३७८ सीढ़ियां गिनता हूं, परन्तु यह भी केवल अपनी आदतके कारण।

मैं कुतुबमीनार पर चढ़ता हूं, तो उसका उद्देश्य जुदा ही होता है। यह ठीक है कि इसके आसपास समुद्रकी लहरें नहीं उछलतीं, परन्तु पांडव-कालसे लेकर गांधी-इरविन समझौते तककी इतिहासकी तरंगें स्मृति-सागरमें अवश्य उछल उठती हैं। तथा हृदय सरोवरको अस्वस्थ बना देती हैं, तब इस बातका अनुभव करनेके लिए ही मैं ऊपर जाता हूं।

कुतुबके ऊपरसे दूर पर दिल्ली दिखाई देती है—दिल्ली सदा दूर ही होती है—और यह दूर ही रहे, इसमें कुछ बुरा नहीं! अपनी कल्पनाकी आंखों द्वारा जब-जब मैं कुतुब परसे दिल्लीको देखता हूं, तब-तब दिल्ली मुझे श्मशान-भूमिमें उगे हुए एक सुन्दर-से फूल जैसी प्रतीत होती है। नाश, विनाश, संहार, मृत्यु, विस्मृति, विषाद और परिताप सर्वत्र दूर-दूर तक फैले हुए हों, और इनमेंसे केवल वैराग्यकी ही सुवास फूट रही हो, इस प्रकारका दिल्लीके आसपासका दृश्य दिखाई देता है। यहां जितने लोग आये, वे सब चले गये। छोटे-छोटे जमींदार भी गये और बड़े-बड़े सम्राट् भी चले गये। अपनी कीर्तिको अजर और अमर बनानेके लिए लोगोंने कठोर पत्थरोंको गढ़-गढ़कर भव्य और उत्तुंग कीर्तिस्तम्भ यहां खड़े किये, वे सब खंडहर होकर गिर पड़े हैं। कोई किसीका भाव तक नहीं पूछता।

पानीपत आदि महासेनाओंकी श्मशाम-भूमि है, तो दिल्लीके आसपासका प्रदेश साम्राज्योंके आसपासकी श्मशान-भूमि। इस प्रकारकी श्मशान-भूमिके वातावरणमें भी भोग विलासमें रचे-पचे रहने और क्षुद्र महत्त्वाकांक्षाके पीछे पागल होनेवाले मानव-समाजका सुन्दर निवास-स्थान है यह दिल्ली! मानों जरा-जर्जर माताओंकी गोदमें खेलता हुआ अल्हड़ बालक।

यों तो बम्बई, कलकत्ता और मद्रासके मुकाबलेमें दिल्ली कोई बड़ा शहर नही है, परन्तु दिल्लीको इसके योग्य वातावरणमे ही देखना हो, तो इसके आसपासके खंडहरोंके विस्तारमें, यह कैसी दीख पडती है, यही विशेष रूपसे देखना चाहिए। कुतुबमीनार इस कार्यके लिए सबसे अच्छी सहायक सिद्ध होगी। विशाल भूतकालमे वर्तमान कितना क्षणजीवी है, इसका ख्याल कुतुबमीनार ही दे सकती है। यह वैभव भी पुराने मार्ग पर ही जानेवाला है, यह विचार मनमे आते ही प्रेम-कौतुक के साथ विनोद मिल जाता है और चित्तवृत्ति सहजमें ही भर्तृहरि और उमर खैयामकी शरणमें जाती है।

मार्च, १९५५ ई०

३६. कल्पना-सिद्धिका महाकाव्य

सप्तखण्ड वसुन्धराके अनेक देशोंका पर्यटन जिसने किया है, उसने [illegible] सर्वत्र विख्यात भाखडा-नांगल बाध अभी तक नही देखा, यह जितना आश्चर्यका उतना ही दुःखका भी कारण है। लेकिन, मनुष्य-जीवन इतने कुछ आश्चर्योंसे भरा हुआ होता है कि आश्चर्यका भी हमे आश्चर्य नही होता। अमेरिकासे जापान तक के विश्वविख्यात प्रपात जिसने देख लिए है, वह मै, यही कहू कि गोकाकका प्रपात मैने नही देखा, तो कोई विश्वास भी नही करेगा। मेरा बचपन बेलगाम-शाहपुरके पास बीता हुआ है। वहासे गोकाक अधिक दूर नही है। बेलगामसे पूना जाते कई बार लोकमाता घटप्रभाका दर्शन मैने किया है। बचपनमें एक बार गोकाक गया भी था लेकिन वहासे प्रपात तक जाना भी सभव नही हुआ।

लेकिन, आश्चर्यकी और कुछ अशमे शर्मकी बात यह है कि सातारा मेरी जन्मभूमि होते हुए भी मै अब तक कोयनाका अद्भुत बाध देखने नही गया था। कऱ्हाड जाकर कृष्णा-कोयनाका प्रीति-सगम मैने देखा था। उस समय कोयनाको नमस्कार भी किया था। बादमे एक बार महाबलेश्वर गया था। वहा कृष्णा, वेण्या, कोयना आदि अनेक नदियोको एक ही स्थानसे पाच कोनोसे बाहर निकलते हुए मैने देखा था। पाच नदियोके पानीका एक ही समय प्राशन करनेका जो सुअवसर उस समय प्राप्त हुआ, उसकी धन्यताका वर्णन कैसे किया जाय?

लेकिन, उस समय कोयना पर बाध बाधनेकी और उसका कुछ पानी घाटकी तरफ ले जाकर बाकीका, तीन प्रातोमे फैलानेकी कल्पना किसीको सूझी नही थी। नदिया बेचारी निसर्गक्रमके अनुसार बहती रहती थी और पशु, पक्षी तथा मनुष्योंको स्तन्यदान करती थी। लेकिन, अब भगीरथके वंशज बढ़ गये है या यह भी कह

सकते हैं कि उन्मत हुए है। नदियोंका पानी कही भी रोक लेते हैं और कही भी ले जाते हैं।

ऐसे इस नये युगका प्रारंभ होनेके पहले ही दक्षिणमे पेरियार नदीमे भगीरथ-पुत्रोने अनुज्ञा प्राप्त की और तय किया कि यह नदी, जो पश्चिम घाटमेंसे कूदकर तुरन्त पश्चिम सागरसे जा मिलती है, उसे रोककर पहाडके पेटमेसे एक सुरंग खोदकर पूर्वकी ओर ले जाए। करीब-करीब उद्गमके पास ही बडा बाध बनाकर पेरियार नदीका पानी उन्होने रोक लिया और एक बड़ी सुरंगमेसे उसे पूर्व की ओर तमिलनाडुमे पहुचाया। हजारो एकड तृषित भूमिको पय.पान मिला, खेती बढ़ी और निसर्गके बालकोको पेट-भर अन्न मिलने लगा। इतना बड़ा परोप कार करके वह पेरियार नदी मदुराके पास वैगेको जाकर मिली। इसी प्रकारका, लेकिन इससे उल्टा एक बडा भागीरथ पुरुषार्थ हमारे लोगोने कोयनाके विषयमे किया है।

महाबलेश्वरके आसपाससे निकलनेवाली पाच नदियोमेसे कोयना को ही क्यो पसंद किया गया, इसका रहस्य मुझे समझ लेना था। कोयना पुरुषार्थ (Project) भागीरथ प्रयत्नको पूर्णता तक पहुचानेका गुरु भार जिनके जिम्मे है वे श्रीमूर्ति कहने लगे, "चलिए, हमारे कमरेमे हमने सह्याद्रिकी एक मूर्ति (Model) तैयार की है। यह आपको दिखाऊगा।"

श्रीमूर्ति आध्र प्रातके रहनेवाले, यानी कृष्णापुत्र है। उनका कृष्णाके उद्गम-के पास डेरा जमाना सर्वथा उचित ही था। मॉडलके पास हमे ले जाकर उन्होने समझाना शुरू ही किया था कि यहाके प्रदेशके ही निवासी श्री मानजी आगे आये। उन्होने श्रीमूर्तिसे कहा, 'आपका स्वास्थ्य आज अच्छा नही है। आपका गला भी थका हुआ है। इसलिए, मै ही इन मेहमानोको सबकुछ समझा दूगा।' मैने जब कहा कि 'मै मेहमान हू सही, लेकिन बहुत दूरका नही हू। मेरा जन्म सातारामे ही हुआ है।' तब सबको बडी खुशी हुई। कृष्णाबाईके कुटुम्बके ही हम सब लोग। मानेने बताया कि "यह देखिए अरबी समुद्र। यहा पानीसे भरे हुए बादल आकर सह्याद्रिके शिखर पर टकराते है। सह्याद्रिके पश्चिम तरफकी तलहटीमे विशेष बारिश नही होती। जैसे-जैसे शिखरकी ओर जाते है, वैसे-वैसे उसका प्रमाण बढता है। एक बार शिखर लाघने पर आगे उसका प्रमाण फिरसे कम होता जाता है। अब इन भगोडे या आवारा बादलोमे ज्यादा पानी वसूल करनेका काम कोयना ही कर सकती है। उसका कारण स्पष्ट है। यह देखिए, ये सब नदिया महाबलेश्वर-से निकलते ही पूर्वकी ओर दौडने लगती है। सिर्फ कोयना है कि जो सह्याद्रिकी दो कतारोंमेसे चालीस पचास मील दक्षिणकी ओर बहती है। अर्थात्, सह्याद्रिके शिखरोंके समानान्तर उसका प्रवाह बहता है। पचास मील तक बादलोंका पानी खीचकर इकट्ठा करनेका काम यह नदी ही कर सकती है। यह नदी इस प्रकार

जन्मसे ही जलसमृद्ध होनेके कारण हमने इस पर बांध बनानेका तय किया। यहां इस प्रकार हम बांध बना रहे हैं। इसके कारण यहां करेलेके पत्तेके जैसा, लेकिन ३०-४० मीलका टेढ़ा-मेढ़ा और इसीलिए सुन्दर एक सरोवर तैयार होगा। और फिर, इस तरह रोका हुआ पानी हम धीरे-धीरे महाराष्ट्र, मैसूर और आंध्र—इन तीन प्रदेशोंमें बांट देंगे। बहुत-सी परती जमीन इस तरह फलेगी, फूलेगी और भारतकी अन्न-समृद्धिमें वृद्धि होगी।

"यह हुई खेतीकी सुविधा। लेकिन हमें केवल अन्न नहीं, बल्कि अन्नके साथ बिजलीका सामर्थ्य भी चाहिए। इसलिए सरोवरके इस दक्षिण-पश्चिम तरफसे हमने सह्याद्रिको अंदरसे ढाई मील खोद डाला है। भारत-सरकारको सब प्रांतोंकी एक जैसी ही चिंता रहती है। कौन-सा काम कितने महत्त्वका है, उसका प्रमाण भी भारत सरकार निश्चित कर देती है। उसके अनुसार इस सरोवरमेंसे निश्चित परिमाणमें पानी हम इस ढाई मीलकी सुरंगमेंसे पश्चिमकी ओर चिपलून-दाभोल की तरफ ले जानेवाले हैं। यह देखिए, हमारे इस मॉडेलमें चार प्रवाह बताये गये हैं। सह्याद्रिके पेटमें ही तीन बड़े मंडप बनाये गये हैं। इन मंडपोमें बिजलीके यंत्र बिठाकर पानीके जोरसे जब वे चलने लगेंगे, तब उनमेंसे बहुत अधिक बिजली पैदा होगी। और फिर, उसे बंबई, कारवार, कोल्हापुर, चाहे जहां भी ले जा सकेंगे।"

"आप पूछेंगे कि यह बिजली-घर पहाड़के पेटमें ही क्यों बनाया जा रहा है? यहां काम करने लोगोंको डर नहीं लगेगा? लेकिन, हमने सब बातोंका ख्याल कर रखा है। इस सुरंगमेंसे बाहर पड़नेके लिए यह देखिए, हमने रास्ते बनाकर रखे हैं। ऊपरसे ताजी ठंडी हवा आती रहेगी। सर्वत्र बिजलीकी रोशनी रहेगी। अगर कुछ बिगड़ा और पानीका रेला आया, तो भाखड़ा-नांगलके समान यंत्र पानीमें डूब जायगा, इसलिए यह देखिए, हमने कैसी सुविधा बना रखी है। पानी बाजूके रास्तेसे निकल जायगा और यंत्र सुरक्षित रहेंगे। यह बिजलीघर पहाड़के पेटमें बन जानेसे बहुत सारा खर्च बच गया है।"

मैंने कहा, "आजके जमानेमें ऐसा राष्ट्रोपयोगी महत्त्वका स्थान पृथ्वीके पेटमें रहना ही अच्छा है। बाहर होनेसे शत्रु आसमानसे एकाध बम फेंककर आसानीसे उसका नाश करेंगे। इसलिए, राष्ट्रकी नब्ज इस तरह पहाड़के अन्दर सुरक्षित रहे, यही अच्छा है।"

मानेने कहा, "यह लाभ तो है ही। लेकिन, हमने इस दृष्टिसे सोचा नहीं था। सब तरहसे जिस तरह भी हो सके, खर्च बचानेका ही हमारा मुख्य उद्देश्य था।"

महाभारत जैसा महाकाव्य लिखते समय व्यास कहते हैं, 'पहले सारी कथा संक्षेपमें कहता हूं और बादमें उसका विस्तार करूंगा।' विद्वान् लोग पहले थोड़ेमें (समस्त) कहकर बादमें विस्तारसे व्यस्त कहना पसंद करते हैं—

इष्टं हि विदुषां लोके समस्त व्यस्तधारणम् ।

इसी तरह मानेजीने हमे समझाया और कहा—

"यहा इस कमरेमे वामन मूर्तिका मॉडेल आपने देखा, समझ लिया। अब प्रचड बाध, विशाल सरोवर, भयानक विवर और बिजलीका कारखाना यह सब प्रत्यक्ष देखना आपके लिए आसान हो जायगा।"

समयका हिसाब लगाकर हमने पहले घाट उतरकर चिपलूनकी तरफसे सुरंग-के नीचेवाले सिरेसे अदर प्रवेश करना तय किया।

मैसूरमे कोलारकी सोनेकी खानोंमे पाच हजार फुट नीचे उतरकर पृथ्वी-के पेटमे इधर-उधर चारो तरफ घूम आया हूं, इसलिए यह सह्याद्रिका विवर-प्रवेश मेरे लिए कुछ अचरजकी बात नही थी। फिर भी, केवल अपने ही लोगोकी कल्पनाके अनुसार, उनकी ही देखरेखके नीचे और यहीकी जनताके परिश्रमसे इतने प्रचंड काम बनने लगे है, इस बातका अभिमान और सतोष मैने अवश्य अनुभव किया।

तीन साल पहले जापानमे तेनरियु नदीके किनारे ऐसा ही एक बाधके कामका पुरुषार्थ देखा था। नदी एक टेकरीका चक्कर काटकर बिलकुल विरुद्ध दिशामे बहती थी। वहा ऊपरकी ओर बांध बनाकर इकट्ठा किया हुआ पानी टेकरीके पेट-मे विवर खोदकर नदीके नीचेवाले प्रवाहमे छोड दिया है और बीचमे यत्र बिठाकर पानीके जोरसे घूमनेवाले चक्रोकी मददसे बिजली तैयार करते है और वह बिजली आधे जापानमे पहुचती है। जापानकी दृष्टिसे यह पुरुषार्थ बडा था, लेकिन कोयना परके पुरुषार्थकी तुलनामे उसे छोटा ही कहना पडेगा। जापानमे भी जापानी लोगोके परिश्रमसे सारे काम चलते थे। वहाके इजीनियर और हमारे यहाके इजीनियर अब गोरे लोगोके समान प्रचंड काम करने लगे है, इसका हमे अभिमान क्यो न होगा।

कोयना-प्रोजेक्टका काम स्वदेशकी अनेक कपनियोमे बाट दिया गया है। इसमे महाराष्ट्री भी हैं और गुजराती भी हैं और अध्यक्ष आध्रके है। सभी मराठी बोलते थे, यह देखकर भी प्रसन्नता हुई।

बचपनमे बैलगाड़ीमे बैठकर सह्याद्रिके जो घाट हम तीन-तीन दिनमें पार करते थे, उसको अब तीन-चार घटोमे पार करना सभव हो जानेके कारण बैलगाडी का पुराना सनातनी काव्य नष्ट हुआ है। भूतकालके चले जानेका दु:ख मैने कभी नही किया। लेकिन, पुराने समयका बैलोंके गलेकी घटियोके नादसे स्फुरित होने-वाला वह काव्य नष्ट हुआ, इस बातका दु:ख अब भी कम नही होता। नई काल-गतिके नये काव्यका अनुभव करने जितना आधुनिक तो मैं हू। शातरसका लोप हुआ और उसकी जगह अद्भुत रसने ली। उसमे कुछ बुरा हुआ, ऐसा भी नही लगता। फिर भी, यह भावना भी नष्ट नही होती कि बाल्यपरिचित शातरस आज भी

कायम रहता, तो कितना अच्छा होता। उस समयका वह आनंद स्थायी था। आजका अद्‌भुत रस कितना भी अपूर्व होने पर भी उसे फीका पड़ते देरी नहीं लगती। अगर अद्‌भुत रस क्षणजीवी न होता, तो वह शांतरससे श्रेष्ठ सिद्ध होता। लेकिन, शांतरस आत्मानंद-सहोदर है। उसकी योग्यता शृंगार, वीर, करुण या अद्‌भुत किसी भी रसको प्राप्त नहीं हो सकती। लेकिन, इसका आकलन होते देरी लगती है। काफी जिन्दगी खर्च करनी पड़ती है। उसके बाद ही शांतरसका रहस्य समझमें आता है।

घाटके रास्तेसे वापस लौटते सारे दिनके अनुभवकी जुगाली चल रही थी और मानों उस अनुभवको सुन्दर, सुघड़ बनानेके लिए आसमानसे चांद अपनी चांदनीका अभिषेक कर रहा था।

दूसरे दिन भगीरथविद्याके आचार्य श्रीमूर्ति स्वयं हमें लेकर बांध बतानेके लिए निकले। बारह-बारह टन मसाला अपनी मुट्ठीमें पकड़कर योग्य स्थान पर ले जाकर धीरेसे छोड़ देनेवाले यंत्रोंका कौतुक हमने कुछ देर तक किया। सीमेंट-कंक्रीटकी बड़ी-बड़ी शिलाएं निश्चित स्थान पर कैसे आ गिरती है और 'एकमेकां साहाय्यं कुरु' (एक दूसरेकी मदद करें) इस प्रतिज्ञासे एक-दूसरेकी अंगुलियां आपसमें कैसे फंसती है, यह सब हमने देख लिया। उड़ीसाका हीराकुड-बांध हम देख आये थे। फिर भी, यहाके कामके बारेमें कौतुककी भावना पैदा हुए बिना नही रही। थाना जिलेकी सूर्या नदीको रोकनेके लिए भीमने बड़ी-बड़ी शिलाएं लाकर बांध बनाया था। आजके युगके बांध देखते भीमके भीमकृत्यको भी छोटे बच्चोंका खेल ही कहना पड़ेगा। बांध देखनेके बाद हम मोटरमें बैठकर विद्युत्-विवरके ऊपरके सिरेके पास गये। अगर समय होता, तो इस विवरमेंसे ढाई मीलकी यात्रा करके हमने फिसलनका अनुभव किया होता। बचपनके खेल बड़ी उम्रमें विराट् रूप धारण करेंगे ही।

सातारा, माहुली और कह्लाड, कृष्णा, वेण्या, कोयना, वारणा आदि नदियां इन सबके बारेमें बचपनकी कल्पना कहां और उसी प्रदेशका उत्तरावस्थामें खास जाकर लिया हुआ दर्शन कहां? एक ही जिन्दगीमें यह जो एक महान् युग-परिवर्त्तन देखनेको मिला, उसकी धन्यताका अनुभव लिखे बिना संतोष नहीं होगा इस विचार से 'स्वान्त सुखाय' यह पुरुपार्थ-स्तोत्र लिखा है। पुरुषार्थ जैसे-जैसे विशाल होता जाता है, वैसे-वैसे हृदय भी विशाल बनना चाहिए, वरना पुरुषार्थ जितना प्रचंड, जीवनकी वंचना भी उतनी ही बड़ी होगी।

३७. असमकी एक झांकी

कश्मीर, केरल और कामरूप हिन्दुस्तानके तान्त्रिक त्रिकोणके तीन सिरे हैं। प्रकृतिमाताने इन तीनोंको अप्रतिम सौन्दर्य अर्पित किया है। आज अगर मुझसे कोई पूछे कि इन तीनोमेंसे अधिक सौन्दर्य किस भूमि-भागका है, तो मेरे लिए इसका जवाब देना कठिन होगा। कामरूपका अति प्राचीन नाम था 'प्राग्ज्योतिष्'। आज इस प्रान्तको 'असम' कहते हैं।

गंगा और ब्रह्मपुत्रके अनेकमुखी पंखे (डेल्टा) से जिस सुन्दरवनकी शोभा बढ़ी है, उस प्रदेशका प्राचीन नाम है 'समतत'। 'समतत' माने समतल भूमिका विस्तार। इसके विरुद्ध 'असम' प्रान्तमें हिमालयसे डफलाकी पहाड़ियों तक और दक्षिणमें चेरापूंजीसे गारो पहाड़ियों तक, जहां देखिए, वहां पहाड़-ही-पहाड़ है, इसीलिए शायद इस प्रदेशको 'असम' कहते होंगे।

जहां ब्रह्मपुत्र बहती है, उसके दोनों ओर खेती करने लायक जो समतल जमीन है उसीमें असम-प्रान्तकी आबादी है। ब्रह्मपुत्र नदी ही असमिया लोगोंकी माता-पिता है। उत्तर-पूर्वमें सदियासे लेकर पश्चिममें धूब्री तक १५ डिग्रीके विस्तार तक 'असम'-प्रान्त फैला हुआ है।

एक दृष्टिसे देखा जाय, तो इस प्रान्तपर कुदरतकी असाधारण कृपा है। सबसे बड़ी और सबसे चौड़ी नदी इसी प्रान्तसे होकर बहती है। नदीका गाद (सिल्ट) और पहाड़ी वृक्षोंकी पत्तोंकी खादका अगर हिसाब किया जाय, तो यहांकी भूमिके जैसी उपजाऊ भूमि और कहीं भी नहीं है। मिट्टीका तेल और कोयला अगर कहीं पास-पास खोदा जाता हो, तो वह भी यहीं है। जंगलकी समृद्धि और खनिज पदार्थोंकी सम्पत्तिमें तो यह प्रदेश असाधारण सम्पन्न है ही। धान, रुई, आलू, तरकारी, चाय, नील जो चीज हम मांगें, यहांकी भूमि देनेको तैयार है। और, यहांके नारियल और सुपारीके पेड़ देखकर तो हिन्दुस्तानके पश्चिम किनारेकी याद आती है। मत्स्याहारी लोगोंके लिए तो यह नन्दनवन ही है और फलाहारी लोग अगर चाहें, तो कटहल और केले पर अपनी सारी जिन्दगी बसर कर सकते हैं।

जैसे कच्चे मालमें यह प्रान्त समृद्ध है, उसी तरहसे 'कच्ची' लोक-बस्तीमें भी वह कम समृद्ध नहीं है। नागा, खासी मिकीरी, गारो, मिरी आबोर, मिस-मिस आदि अनेक पर्वतीय और वन्य लोगोंकी आबादी ही इस प्रान्तके महत्त्वका भाग है। कच्चे मालकी कीमत वे ही कर सकते हैं जो उससे पक्का माल बना सकते हैं। इस पहाड़ी वनौकसोंकी कीमत तो वे ही कर सकते हैं, जो संस्कृतिधुरीण हैं। इतिहास-पूर्वकालीन मनुष्य-जातिका अध्ययन करनेवाले नृ-वंश-शास्त्रियोंके लिए 'असम' प्रान्त अध्ययनका सबसे श्रेष्ठ क्षेत्र है। समाजशास्त्रियोंके लिए यह अप्रतिम प्रयोग-भूमि है। अगर गोवाके, कोकणके और केरलके थोड़े हिम्मतवर

लोग यहां आकर बसें और यहांके लोगोंके साथ एकरूप हो जायें, तो इस प्रान्त में एक नये युगका प्रारंभ होगा; क्योंकि धान, सुपारी, नारियल, मछली, कटहल और केलोंका यह मुल्क है। पश्चिम भारतमें जो कुछ कारीगरी है, जीवन-कला है, उसका लाभ यहाँके लोगोंको मिलनेसे उनको अपनी शक्तिका साक्षात्कार होगा। यहांके पर्वतीय लोगोंको अपनानेसे असम प्रांतके लोगोंकी शक्ति कम-से-कम दसगुनी तो अवश्य बढ़ेगी। अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितिमें कुदरतके साथ किस प्रकार लड़ना है और अपनेको जीवित रखना है, इसकी कला इन आरण्यकोंके पास जैसी है, वैसी शायद थोड़े ही शहरी और ग्रामीण लोगोंके पास होगी। पादरियोंने इन लोगोंको अपना धर्म और अपनी संस्कृति देनेकी काफी कोशिश की है। इस प्रयत्नके पीछे कौन-कौन-से हेतु और आदर्श हैं यह कहना कठिन है। धर्मके नामसे ये लोग प्रचार करेंगे और समय आने पर अपने प्रचारसे राजनीतिक लाभ भी उठायेंगे। इनके मुखमें और हृदयमें धर्मशास्त्र होगा किन्तु इनके दिमागमें और आचरणमें साम्राज्यवादी समाजशास्त्र होगा। हिन्दुस्तानका सामाजिक, आर्थिक और भाषिक संगठन तोड़ डालनेमें इन पादरियोंने कुछ कम सफलता नहीं पाई है। 'असम' की अंगरेज-सरकारने आजतक इन वनचरोंकी शिक्षा इन पादरियोंके ही हाथमें रखी है। कहीं-कहीं इन पर्वतीयोंके प्रदेशमें मिशनरियों को छोड़कर और किसीको जाने न देनेकी नीति ही खुले तौर पर अख्तियार की थी। आज भी उस नीतिका अन्त नहीं हो पाया है।

इन पर्वतीयोंके बीच रहकर उनकी सेवा करनेवाले और अपनी गुजर करने वाले मारवाड़ियोंकी हम जितनी कद्र करते हैं, उससे अधिक कद्रके वे अधिकारी हैं। अंगरेज लोग यहां आकर जितना मुनाफा करते हैं, उतने मुनाफेका शायद ये मारवाड़ी स्वप्न भी नही देखते होंगे। तो भी मारवाड़ियोंको धन-लोभी और लुटेरे कहनेका रिवाज-सा पड़ गया है। अगर सब किस्मके कष्ट अत्यंत समाधान से सहन करनेवाले ये मारवाड़ी इन पर्वतीयोंके बीच नहीं बसते, तो उनका जीवन अशक्यप्राय हो जाता यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिए।

जबसे यहां मिट्टीके तेल और कोयलेकी खानें निकली हैं और चायके 'बागान' (बगीचे) बनाये गये हैं, तबसे अन्यान्य प्रान्तोंके मजदूरोंको अंगरेज यहां ले आये। वे यहां आकर कड़ी मेहनतसे अपना गुजारा तो अच्छी तरह कर लेते हैं, किन्तु यहाँके लोगोंके साथ अभी तक घुलमिल नही पाये हैं; हालाँकि यहांके लोगोंके साथ मिल जाना तनिक भी कठिन नहीं है। असमिया लोग परम्परासे खेती करने वाले हैं। किन्तु, पूर्व बंगालके मैमनसिंह जिलेसे जो लाखों मुसलमान असम-प्रान्तमें आकर बसने लगे हैं, उनकी जीवन-शक्तिके सामने यहाँके स्थायी लोग फीके पड़ जाते हैं। ये नये लोग गाय रखते हैं, आलू बोते हैं, साग-तरकारी बेचते हैं और यहाँकी उपजाऊ जमीनके अनुरूप मेहनत-मजदूरी करके लाखों

रुपया कमाते हैं।

नौगांव जिलेमें इन प्रवासियोंको चाहे जहाँ बसनेकी इजाजत नही है। कहीं असमियाँ लोगोंसे इनका झगड़ा न हो जाय, इसलिए इस जिलेमें सरकारने एक लकीर खींच दी है, जिसके इस पार केवल असमिया लोग ही खेती कर सकते हैं। मैमनसिंहके मुसलमानोंको यहां खेती करने नही दी जाती। दोनों समाजोंकी शक्तिका पता इम बातसे चलता है कि लकीरकी इस ओर जमीनकी कीमत फी एकड़ अगर पांच रुपया है, तो उस ओर उसी किस्मकी उतनी ही जमीनकी कीमत पचास रुपयेसे अधिक आ सकती है।

जहाँ हिन्दुस्तानकी उत्तर-पूर्व सीमा है, वहाँ आज हम एक छोटा-सा हिन्दुस्तान बसा हुआ पाते है। डिग्बोई और तिनसुखियाके आसपास तेल और कोयलोंकी खानें दिन-रात अपना काम करती है और सब प्रान्तोंको मिलाकर ३०-४० हजार लोग अपनी मेहनतसे अँगरेजी कम्पनीकी जेबमे प्रतिदिन हजारों रुपयोंका मुनाफा पहुंचाते हैं।

प्राचीन कालमे मनुष्य-जातिने गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट और हाथीसे काम लेनेकी और उनकी मेहनतसे लाभ उठानेकी विद्या हासिल की। इस युग मे पाश्चात्य पूंजीपतियोंने एशिया और अफ्रीकाके लोगोंको मेहनत-मजदूरीसे वही लाभ उठानेकी तरकीब ढूढ निकाली है। पशुसे श्रम करानेकी आदत पडते ही मनुष्य-स्वभावमे और मनुष्य-जीवनमें बड़ी ही क्रांति हो गई। गुलामी-प्रथा, गिरमिटिया-प्रथा, 'दुबला' किसानोंकी प्रथा (जो कल तक गुजरातके सूरत जिले मे थी) और कल-कारखानोंमे मजदूरोंसे काम लेनेकी प्रथासे भी मनुष्य-जीवन मे और मानव-सामाजिक आदर्शोंमें बहुत बड़ी क्रांति हो गई है। इसीके कारण वर्ग-विग्रह और समाजसत्तावादकी फिलॉसफीका अवतार हुआ है।

जब मनुष्य-जातिने पशुओंमे काम लेना प्रारम्भ किया होगा, तब शेर, भेड़िया, हिरन, जंगली सूअर आदि जानवरोंसे भी काम लेनेकी कोशिश की गई होगी। किन्तु, इन जानवरोने काम करनेसे सफलताके साथ मना किया और मनुष्य-जातिने उनका नाम ही छोड़ दिया। 'हम मरेंगे लेकिन तुम्हारे लिए मेहनत नही करेंगे', यही उनकी चुनौती थी। उसी पर वे डटे रहे। इन पशुओं का और मनुष्योका झगड़ा अनेक मोर्चों पर आज भी चल रहा है।

असम-प्रान्त मे गायें है, भैसे हैं, हाथी, हरिणादि वन्य पशु भी है और विशेष बात यह है कि वहाँ खड्ग-विषाण गैंडे भी हैं। गैंडेसे काम लेनेकी कला किसी-न-किसी समय मनुष्य हस्तगत करेगा ही, ऐसा मेरा विश्वास है। हिन्दुस्तानका प्रतीक जिस प्रकार हाथी है, बर्माका मोर, दक्षिण अफ्रीकाका शुतुरमुर्ग, उसी तरह असमका प्रतीक यह गंभीरवेदी गैंडा है।

अगर हम नई दृष्टिसे देखें, तो गायोंके साथ-साथ दूसरे भी एक प्राणीका

विचार करना चाहिए। अगर गाय पवित्र है, तो यह प्राणी भी पवित्र है। अगर गाय मनुष्योंको कीमती आहार देती है, तो यह प्राणी भी उतना ही कीमती आहार तैयार कर देता है। अगर गाय मनुष्यके सहवाससे पालतू और सौम्य बन गई है, तो यह प्राणी भी पालतू और सौम्य बन सकता है। यह प्राणी है शहदकी मक्खी। गायको प्रेमसे रखनेमे, कुदरतके कोपसे बचानेसे और उपयुक्त खुराक खिलाने से जैसे वह ज्यादा दूध देती है, उसी तरह शहदकी मक्खियां भी मनुष्यकी मदद पाकर शहद बनानेकी अपनी शक्ति अनेकगुना बढ़ा देती हैं। असम-प्रातमें जहां देखिए, पानीके पुष्कर, ताल और झील असंख्य हैं। उनके अन्दर जो भले-बुरे फूल उगते हैं, उनका अमृत चूस-चूसकर मधु बनानेवाली मक्खियां असम प्रांतमें बहुत हैं। असम-प्रांतका मधु दूर-दूर तक जाता है।

असम-प्रान्तका इतिहास महाभारत-कालसे शुरू होता है। महाभारतमें असम-प्रान्तके राजा भगदत्तका और उसके हाथियोंका जिक्र आता है। अनेक राजाओंकी कन्याओंका हरण कर अपना अन्तःपुर भर देनेवाला नरकासुर भी यहींका राजा था। श्रीकृष्णने जब असम-प्रान्त पर चढ़ाई की, तब सेनानायकत्व सत्यभामाने लिया था। इसका रहस्य क्या है? क्या श्रीकृष्णके कालसे ही इस प्रदेशमें स्त्री-राज्य था? मध्य-पाण्डव अर्जुनकी चित्रांगदा भी इसी प्रान्तकी (मणिपुर की) थी। श्रीकृष्णके लड़केने भी चाहा कि असमकी कोई कन्या मिल जाय, तो अच्छा है; किन्तु बेचारा यहीं फंस गया और अनिरुद्ध होते हुए भी उषाके प्रेममें रुद्ध हो गया।

इतिहास कहता है कि गुजरात-सौराष्ट्रके किसी राजपुत्रने लंका जाकर वहांकी राजकन्याके साथ शादी की। इस दूर-दूरके संबंधको व्यक्त करनेके लिए गुजरातीमे कहावत है कि 'लंकानी लाडी अने घोघानो वर' [लंकाकी लड़की और घोघाबन्दरगाह (सौराष्ट्र) का दूल्हा]। किन्तु इसके पहले सौराष्ट्रके अनिरुद्धने कामरूपकी उषाके साथ शादी करके हिन्दुस्तानके दो सिरोको बांध दिया था।

हमारे पौराणिक कालके सबसे बड़े घुमक्कड़ मुसाफिर तीन हैं—अमर संवाददाता नारद, शीघ्रकोपी बलराम और क्षत्रिय ब्राह्मण परशुराम। दुर्वासा, दत्तात्रेय, हनुमान् आदि लोग भी काफी घुमक्कड़ थे। किन्तु इनके तीर्थाटनका इतिहास पाया नही जाता। परशुरामने हिन्दुस्तानके पश्चिम किनारे पर बड़ा यज्ञ किया और सारी भूमि ब्राह्मणोंको दान दे दी। बादमें जब उन्होंने देखा कि अपने रहनेके लिए भी जगह नही रही, तब उन्होंने समुद्रको हटाकर अपने वास्ते छोटा-सा प्रदेश तैयार किया। उसी परशुरामका एक कुण्ड यहाँ असम-प्रान्तमें सदिया स्टेशनसे पूरबकी ओर ५० मील पर है। यह सुनकर उसे देख आनेकी प्रबल प्रवृत्ति किस आर्य-हृदयमें नही उठेगी? किन्तु, वहाँ जानेके लिए आबोहवा से अनुकूल मुहूर्त पूछ लेना पड़ता है।

स्वयं परशुराम-कुण्ड अथवा ब्रह्मकुण्ड बड़ी स्वास्थ्यकर जगह है और वहांका प्राकृतिक दृश्य भी कुदरत-प्रेमी आदमीको उन्मत्त करनेवाला और विलासी आदमी-को प्रशमकी शान्ति देनेवाला है। परशुरामके दिनोंमें इन लोगोंमें निसर्ग-प्रेम, धर्म-प्रचारकी वृत्ति और अपने सीमान्त-प्रदेशोंमें जंगी शिविर स्थापित करनेकी लश्करी दृष्टि थी। आज हम निराशावादी, संकोचप्रिय और जड़ताके उपासक बन गये हैं। हमें इस ब्रह्मकुंडका पता भी कहांसे लग सकता है? ऐसा न होता, तो पूर्व और पश्चिमके सीमान्त-प्रदेशोंमें हम लोगोंने देशके पराक्रमी, पुरुषार्थी और दीर्घदर्शी नवयुवकोंके बड़े-बड़े आश्रम हमेशाके लिए जारी रखे होते। एक चाणक्य ही शायद ऐसा था, जिसने उत्तर-पश्चिम सीमान्त-प्रदेशोंको संभालनेका महत्त्व समझा था। उसीके वंशजोने अटककी अटक पैदा करके भारतीय विकासको ही अटका दिया।

असम-प्रान्तकी सौंदर्य-समृद्धिकी और भाग्यलक्ष्मीकी बात मैने कही। उसके साथ-साथ वही पर, मानो अपना पक्षपात धो डालनेके लिए कुदरतने जो कोप इस भूमि पर किया है, उसका भी जिक्र करना न्याय-प्राप्त है ।

असम-प्रान्त भूचालोंके लिए इतिहास-प्रसिद्ध है। मानों यह भूमि न मरे हुए गयासुरके कलेवर पर ही बसी हुई है। जब भूमि मृत या सुप्त नही होती, तब समय-समय पर उसे चलन-वलन करनेकी इच्छा हो जाती है। असम-प्रान्तमें आजतक इतने भूचाल आये हैं कि उनका हाल पढकर मनमे एक प्रश्न उठता है। जहां जमीन बार-बार हिलती है और स्थान-स्थान पर उत्पात करती है वहां या तो भूचालका वैज्ञानिक कारण खोजनेकी कोशिश की जाती है और भूचाल-विज्ञानका निर्माण होता है, अथवा मनुष्य अपनी कवि-कल्पना चलाकर पौराणिक कथाएं रच डालता है। महाभारतादि प्राचीन ग्रंथोंमे भूचालके उल्लेख और कथाएं है और जापान जैसे देशोंमें सिस्मोग्राफी (भूचाल-विज्ञान)का विस्तार किया जाता है। असममें ये दोनों चीजें नहीं हैं। जहां बार-बार भूचाल आते हैं, वहां लोग या तो उस प्रदेशको छोड़ देते हैं अथवा जमीनको क्षणभंगुर देखकर मृत्युका डर छोड़कर बहादुर बन जाते है। ये दोनों रास्ते स्वाभाविक और मनुष्योचित है। किन्तु, दैव-वाद एक जहरीली चीज है कि वह मनुष्यको जड ही बनाकर रखती है। नसीबवाद समाज न तो स्थानान्तर करेगा, न प्राकृतिक शक्तियोसे लडेगा, और न मुद्दतोंसे चलती आई हुई अपनी जीवन-प्रणालीमें कुछ परिवर्तन करेगा। असममे भूचाल-विज्ञानका कहीं नामोनिशान हीं नही मिलता। नदीमे बाढ़ आती है, मनुष्य, उनके घर और पशु बह जाते हैं, लोग दुःखी होते हैं। इस प्रकारकी आपबीती पुरानी आपत्तियोंका रसपूर्ण बयान कराती है। और सब भूलकर जैसे थे, वैसे ही फिर रहने लगते हैं।

असम-प्रान्तमें ऊंची-ऊंची पहाड़ियोंको छोड़कर आबोहवा जितनी स्वास्थ्यकर

होनी चाहिए, उतनी नहीं है, इसलिए लोगोंमें जीवन-शक्ति कम पाई जाती है। अगर असम-प्रान्तके सब डॉक्टर और स्वास्थ्य-विभागके मंत्री मिलकर व्यक्तिगत स्वास्थ्यका नहीं, किन्तु सामाजिक स्वास्थ्यका अध्ययन करें और लोगोंके रहन-सहनमें, उनके आहार-विहारमें और गृह निर्माणमें क्या-क्या परिवर्तन आवश्यक है, इसका विचार करें तो सारे प्रान्तकी शक्ल बदल जायगी। पानीका प्रश्न मामूली प्रश्न नहीं है। पहाड़ी लोगोंको और किसानोंको अगर कम-से-कम खर्चमें शुद्ध जल पीनेको मिले, तो केवल असमके स्वास्थ्य पर ही नहीं, किन्तु उसके पुरुषार्थ पर भी गहरा असर पड़ेगा।

हम कुछ नहीं कर सकते, ऐसी जो फिलॉसफी लोगोंके मनमें घर कर बैठी है, उसके बदले उनकी यह धारणा हो जानी चाहिए कि 'हम मनुष्य हैं और सब कुछ कर सकते हैं।' प्रकृति पर विजय पाना यह मनुष्यका सबसे बड़ा मिशन है। मनुष्यने विज्ञान और रसायन-शास्त्रमें खोजबीन कर छोटे-बड़े यंत्र बनाये, सफरके साधन तैयार किये, आहार बढ़ानेकी कोशिश की। किंतु अभी तक नदियोंको काबूमें रखना, बड़े-बड़े जंगलोंमें परिवर्तन करना, आबोहवामें और बरसातमें नवीनता लाना, समुद्रोंके प्रवाहोंसे लाभ उठाना, सूर्यकी शक्तिसे प्राणशक्तिको बढ़ाना आदि व्यापक कामोंमें हाथ नही डाला है। ये काम मनुष्यकी शक्तिसे बाहर नहीं हैं। असम-प्रान्तकी समृद्धि इतनी है कि वहां पर सब विपत्तियोंका इलाज करनेका मसाला मिलना ही चाहिए।

असम-प्रान्तकी सरकारको मानव-विज्ञान (अंथ्रोपोलोजी) का एक बड़ा महकमा खोलकर और उसमें देशी लोगोंकी नियुक्ति करके नई-नई खोज करानी चाहिए। दक्षिणमे आर्य और द्रविड लोगोंके सान्निध्य, संघर्ष और सम्मिश्रणकी बात आती है। सिंध, पंजाब और सीमान्त-प्रदेशमें आर्य, सीथियन, पल्लव आदि जातियोंके मूल इतिहासकी खोज हम कर सकते हैं। प्राचीन इतिहासकी दृष्टिसे इस खोजका महत्त्व बहुत बड़ा है। किन्तु, भविष्यकी दृष्टिसे असम-प्रान्तमें ब्रह्मदेश, चीन, तिब्बत आदि देशोंमें जो अनेकविध जातियां हैं, उनके जीवन-सत्त्वका खूब गहरा अध्ययन होना जरूरी है। हिन्दुस्तानमे जिनको हम अब 'एबोरिजिनी' (मूल निवासी) कहने लगे हैं उन सब जातियोंका विचार श्रीकृष्णके जमानेमें और वैष्णव धर्मके प्रचार-कालमें काफी हुआ था। बौद्धकालमें उनके बीच सेवा-कार्य अवश्य हुआ होगा। किन्तु, अब हम लोगोंने अध्ययन और सेवा दोनोंका ठेका परदेशियोंको दिया है।

अब इस साल चीनी लोगोंका विश्वविद्यालय समुद्रका किनारा छोड़कर असमकी सरहदसे सौ-दो सौ मीलके फासले पर आ पहुंचा है। पहाड़ी रास्ते, मोटरें और हवाई जहाजकी मददसे चीनके साथ हमारा सम्पर्क बहुत कुछ बढ़नेवाला है। अब

कहीं ऐसा न हो कि हमारे ईशान्य सीमान्तकी पहाड़ी जातियोंका वर्णन और उनके बारेमें सूक्ष्म जानकारी हमें चीनी प्रोफेसरोंसे लेनी और सीखनी पड़े।
['सर्वोदय', अक्तूबर, १९३९ ई०]

३८. पुराने महाराष्ट्रकी खण्डहर-राजधानी

पैठण माने महाराष्ट्रकी काशी। महाराष्ट्रका एक जमानेका संस्कृत-विद्याका पीहर। स्वधर्मीय राजाका जब कृपाच्छत्र होता है, तब समाज कैसा फलता-फूलता है, इसकी मिसाल देखनी होती है, तो आज भी पुरातत्त्व-गवेषकोंकी नजर इस प्राचीन प्रतिष्ठानकी तरफ ही जाती है।

महाराष्ट्रके इतिहासका प्रारम्भ शककर्ता शालिवाहन अथवा शातवाहनसे होता है। आज जैसे हम गाधीजीके बारेमे कहते है कि उन्होने मामूली मिट्टीमेंसे आदमी बनाये और मुर्दार राष्ट्रमे जान फूक दी, उसी प्रकार शालिवाहनके विषय म भी किंवदन्ती हे कि उसके पास संजीवनी विद्या थी। मिट्टीका गारा बनाकर वह उसके घोड़े और घुड़सवार बनाता और एक जीवन-वापीमे उन्हें डुबोकर निकालता। तुरन्त वे मिट्टीके पुतले जिन्दा होकर देशके दुश्मनोसे लड़नेको तैयार हो जाते। शालिवाहन पुतले बनानेकी कुम्हारकी विद्या जानता था और उन पुतलोंको जिलाने की सजीवनी-विद्यासे भी वह अवगत था। उसने देशमे घुसकर आये हुए यूनानी यवनोंको परास्त किया और देशमें स्वतंत्रताकी पुनः स्थापना की। इस शालिवाहन-के नामसे जो शक शुरू हुआ, वह आज भी महाराष्ट्रमे चल रहा है। विक्रम-संवत् रेवाके उत्तर तीर पर और शालिवाहन शक नर्मदाके दक्षिण तीर पर, इस पुरानी व्यवस्थाका आज भी पालन किया जाता है। इसी शालिवाहनकी राजधानी प्रतिष्ठान थी। वही है आजका पैठण। देश-विदेशके अनेक लोगो द्वारा इस शहरके ऐश्वर्यका जिक्र किया व पाया जाता है।

गोदावरीका किनारा वैसे भी पवित्र और उर्वर है। फिर, पैठण तो नदीका एक सुन्दर घुमाव देखकर ऊंची जमीन पर बसाया गया है।

जो स्थान बहुत दिनों तक राजधानीके तौर पर पनपता गया, वहां बुनकर, सुनार, गवैये और पडित जमा होनेवाले ही थे। इस प्रकार, पैठण संस्कृतिका एक जबरदस्त केन्द्र बन गया, और सोपारा, भृगुकच्छ आदि पश्चिम किनारेके बन्दर-गाहोंके साथ उसका व्यापार जारी हुआ।

इसी पैठणमे संन्यासीके बालक निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव और मुक्ता-बाई अपनी शुद्धिके लिए और ज्ञानदेवादि भाई जनेऊ प्राप्त करने लिए आये थे। यहीं पर ज्ञानेश्वरने पाडेके मुंहसे वेद पढ़ाकर पाडोंके जैसे दशग्रंथी ब्राह्मणोंका

गर्वज्वर उतारा था। ब्राह्मणोंने चकित होकर लिख दिया कि आप महान् हैं, पवित्र हैं, अलौकिक हैं, लेकिन जनेऊके लिए आग्रह न करें। उसके बाद उन भाई-बहनोंने आचार और प्रचार द्वारा शुद्ध धार्मिक जीवनका उद्धार किया और विस्तार भी।

इसी पैठणमें धर्मात्मा एकनाथने अपना लीला-विस्तार चरितार्थ करके दिखाया। उनके पौत्र मुक्तेश्वर मराठीके एक असाधारण प्रख्यात कवि हो गये। मराठी-साहित्यमें सदाचारका सर्वोत्कृष्ट और सरस वर्णन पढ़ना हो, तो भागवतके एकादश स्कंधका एकनाथ महाराज द्वारा किया गया विवरण पढ़िए और अगर मराठीकी काव्य-शक्तिका उत्कर्ष देखना हो, तो मुक्तेश्वरकी कविता पढ़िए। ज्ञानेश्वरके बाद इतना बड़ा कवि महाराष्ट्रमें बिरला ही हुआ, ऐसा कहा जा सकता है।

शिवदिन केसरीकी कविता भी महाराष्ट्रकी जबान पर है। इन शिवदिन केसरी का मठ भी पैठणमें ही है। और कुछ न होता, तो भी गोदावरी-तट पर होनेके कारण पैठणकी पवित्रता है ही। परन्तु, अगर प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास खोजा जाय, तो पैठण महाराष्ट्रके दूसरे किसी भी स्थानसे महत्त्वमें कम नहीं है।

पैठण जानेके लिए हम औरंगाबादसे मोटरमें चले। दोपहारके कोई दो बजे होंगे। तीस मीलकी यात्रा हमने करीब डेढ़ घंटेमें पूरी की। स्टेशनसे निकलते ही सामने एक लम्बा-चौड़ा पहाड़ हमारे साथ बातें करने लगा। उसकी बगलसे होकर हम आगे बढ़े, तो देखा कि उसकी चौड़ाई भी लम्बाई-जैसी ही विस्तीर्ण है, याने यहां दो लम्बे पर्वतोंका समकोण बना होगा। यहांकी जमीन स्वभावतः ही सुन्दर है या मौसमके कारण सब तरफ हरियाली छाई हुई है—इसकी छानबीन हम क्यों-कर करें? जो आनन्द मिले, उसे लूटकर आगे बढ़नेमें ही बुद्धिमानी है।

पैठणके नजदीक पहुंचते ही शहरसे बाहर दाहिनी तरफ नदीके किनारे हमने एकनाथ महाराजकी समाधि देखी। एकादशीका दिन होनेके कारण अनेक तीर्थ-यात्री वारकरी[1] सम्प्रदायका गेरुआ झण्डा लेकर वहां आये थे। हम अन्दर गये। खूब भक्तिभावसे आंगनमे दाखिल हुए। हरिजनोंका दुःख देखकर पिघल जानेवाले और एक हरिजन बालकको नदीकी गरम बालूमेंसे उठाकर घर पहुंचानेवाले एकनाथकी समाधि देखकर हम कृतार्थ होंगे, इस विश्वाससे हमने समाधि-मन्दिरमे प्रवेश किया। परन्तु हमारा, कैसा दुर्दैव! हमने वहां लिखा हुआ पाया कि हरिजनों और म्लेच्छोंको इस अहातेके अन्दर आना मना है। हृदयको ऐसा जबरदस्त सदमा पहुंचा कि जी चाहने लगा कि मन्दिरमें न जा कर उल्टे कदम लौट जायें। परन्तु, मैं तो संस्कृतिका अध्ययनकर्ता ठहरा। भक्त बनकर दर्शन करने भले ही न जाऊं,

१. पंढरपुरकी बार बार और नियमित यात्रा करनेवाले या 'वारी' करनेवाले तीर्थयात्री वारकरी (वारी करनेवाले) कहलाते हैं।

लेकिन अध्ययनकर्ताके नाते तो मुझे सब जगह पहुंचना ही चाहिए। जिस उत्साहसे मैं मन्दिरके आंगनमें गया था, उसे देखकर वहांके पुजारियोंको जरूर आशा हुई होगी कि इस भोले भक्तसे थोड़ी-बहुत दक्षिणा जरूर ऐंठ लेंगे; और अगर दक्षिणा न भी दी, तो कम-से-कम, गद्‌गद होकर जमीन पर दण्डवत् प्रणाम तो करेगा ही। परन्तु, मैंने न तो माथा झुकाया और न हाथ जोड़कर नमस्कार ही किया। मैंने मन-ही-मन प्रार्थना की,—"नाथ महाराज, अस्पृश्यता-निवारण के जिस धर्मका आपने प्रवर्त्तन किया, उसीका द्रोह करके मै भीतर आया हूं, यह आप देख रहे है। जहां हरिजनको प्रवेश नही है, वहां मुझे भी नही हो सकना। इसलिए, मै धर्म-द्रोहीकी स्थितिमे पूजन करनेका अधिकारी नही हू। मै तो यहा जो इतने बहुत-से-भोले-भाले भक्त आये हैं, उन्हींके दर्शन करने आया हूं। इसके अतिरिक्त यह मन्दिर-रूपी सस्था किस प्रकार चल रही है, इसकी कुछ जानकारी पानेके लिए आया हू। जिस प्रकार कोर्टके 'बेलिफ' अथवा सरकारी पुलिसको चाहे जहां जाना पड़ता है, उसी प्रकार मैं यहां खोज करने आया हूं। मुझे क्षमा कीजिए और आशीर्वाद दीजिए।"

एकनाथ महाराजके दरवाजे परसे हरिजनोका बहिष्कार करना एकनाथ महाराजके हृदय पर प्रहार करनेके बराबर है, यह बात इन सनातनियोकी समझमे क्यों नही आती ?

हम शहरमे गये। वहा सबसे पहले गोदावरीके किनारे जाकर माताके शीतल जलमें पैर रखकर ठंडक प्राप्त की और घाट पर पलथी मारकर माताका ध्यान किया। जलदर्शनका आनन्द लेकर हम ऊपर आये। एक तरफ मिट्टीमे दबी हुई पुरानी बस्तीकी खुदाई हुई है, उसे हम देख आये। सिंधमें 'मूवन-जो-दडो' (मूवन=मृतक, जो=का, दडो=टीला) का शोध होनेके बाद और अशोकके पाटिलपुत्रके प्रासादका शोध (बिहार, पटनाके पास) होनेके बाद अथवा कश्मीरकी प्राचीन राजधानी अनन्तपुरको जमीनमेसे खोदकर निकालनेके बादसे इस प्रकारके उत्खननसे दुनियाका रस बढ़ने लगा है। खोदने पर मिली हुई चीजें पुरातत्त्व-विभाग, हैदराबाद ले गया है। इसलिए, हमें तो यहां केवल उत्खनन देखनेका ही सन्तोष मिला।

पैठणमे प्राचीनकालके भव्य मकानोके खण्डहर जहा-तहा देखनेको मिलते हैं। मकानोंकी बनावट, उनकी लकड़ी, उन परका खोद-काम, सभी आकर्षक और अध्ययनके योग्य है। ऐश्वर्य क्या चीज है और उनके विनाशका दृश्य कैसा होता है, यह जाननेके लिए एक बार पैठण जरूर जाना चाहिए। 'प्रतिष्ठान' भी अन्तमें 'अप्रतिष्ठित' हो सकता है, ऐसे दृश्य देखकर ही बुद्ध भगवान्‌ने कहा होगा —

'अनिच्चावत् संखारा उप्पादव्यय धम्मिनो।'

जहां मुसलमानोंका राज्य हुआ हो, वहां हिन्दू-मन्दिरों और प्रासादोंका नाश

[illegible] हुआ है। शालिवाहन तो ईसवी-सन्के आरम्भके व्यक्ति ठहरे। उनका [illegible] मुसलमानोंके हाथोंमें आनेके पहले ही खण्डहर हो गया हो, तो क्या आश्चर्य ? और जब कि पूनासे पचास मील पर शिवाजीके जन्मस्थानका जीर्णोद्धार करनेकी बात पूनाके पेशवाओंको नहीं सूझी, तब शालिवाहनकी स्मृतिको किसीने फिरसे ताजा नही किया, इसकी शिकायत कैसे करे ?

हम शिवदिन केसरीकी समाधि और अमृतराय कविका मठ देख आये। दोनों जगह निराशा ही हुई। शिवदिन केसरीके मठमे खासी आमदनी है, लेकिन यहा हमे शिवदिन केसरीकी कविताकी पाण्डुलिपि या छपी हुई पुस्तक नही मिली। यहा प्राचीन सस्कृत-ग्रंथोंकी पोथिया मिलनेकी सभावना है या नही, इसकी भी हमने पूछताछ की। समाचार मिला कि कोई एक पोथी किसी सज्जनने तीन हजार रुपयेमे किसी यूरोपयिनके हाथ बेची। पोथीके विषयके बारेमे हमे कोई कुछ न बतला सका। एक सज्जनने कल्पना की कि वह प्राचीन शस्त्रास्त्रोके विषयमे ही होगी। तुरन्त मेरी सनातनी आत्मा इस निश्चित निर्णय पर आ गई कि यह पोथी शालिवाहनके ही समयकी होनी चाहिए। हो न हो, कोई जर्मन तीन हजार रुपया देकर पोथी ऐंठ ले गया ! जर्मन-पंडितोंने उस पोथीका अनुवाद करके हिटलरके हवाले किया और उसमेसे मिली हुई जानकारीके बूते पर ही हिटलर अपने प्राण-घातक बम बनवाता है और पैराशूट (गुब्बारो) के जरिये अपनी सेनाको शत्रुकी भूमि पर उतारता है—'आर्योच्छिष्टं जगत् सर्वम्' ! !

जिस प्रतिष्ठानमे दस ग्रथका घोष होता था और चौदह विद्या तथा चौसठ कलाओंका अध्ययन प्रचलित था, वहा महत्त्वके ग्रन्थ मिलने ही चाहिए; लेकिन सभी ब्राह्मण तीन हजार रुपयेके लालचसे पोथिया बेचनेवाले नही होते। कुछ धर्मनिष्ठ ब्राह्मणोंने सोचा, 'कलिकाल आ गया है। ये पोथिया धर्मभ्रष्ट लोगोके हाथ लगेगी। हमारा पवित्र-से-पवित्र धार्मिक साहित्य अनधिकारी लोगोके हाथमे जाएगा।' यह संकट टालनेके लिए उन्होने अच्छी-से-अच्छी पोथिया गोदावरीमे डुबो दी और धर्मको डूबनेसे बचाया।

धर्मनिष्ठा इसीका नाम है। जब ऋषियोने ये वचन कहे—

'बिभेति अल्पश्रुतात्, वेदो, मा अय प्रहरिष्यति।'

तब यह अर्थ या अनर्थ उनके ध्यानमे नही आया होगा।

दरयाफ्त करने पर मालूम हुआ कि अब इस प्रतिष्ठानमे विद्वताके लिए प्रतिष्ठित एक भी ब्राह्मण नही रहा है। गीता समझकर पढ़ सकनेवाले एक ब्राह्मणकी तलाश करनेमे कितनी दिक्कत हुई, इसका वर्णन करके एक भाईने हमें पूरा-पूरा विश्वास दिलाया कि यहां केवल धर्मकी 'रक्षा' करनेवाले ही बचे हैं।

परन्तु, कोई ऐसा न माने कि पैठणमे सज्जनता नही रही है। मैं कई जगह घूमता-फिरता हूं और हर जगह स्थानीय लोग मेरी आवभगत करते है। परन्तु

पैठण जैसे तीर्थक्षेत्रके मन्दिरमें बैठकर जब मैंने प्रवचन दिया और अस्पृश्यता-निवारणकी चर्चा स्पष्ट भाषामें की, तब मेरा यह ख्याल था कि अगर मुझे मार न भी पड़ी, तो कम-से-कम सभामें हंगामा जरूर मचेगा। लेकिन, ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। उल्टे, लोगोंने बड़ी शांति और भलमनसाहतसे मेरी बातें सुन ली और सभा-के बाद प्रश्नोत्तरोंके सिलसिलेमें इस विषयमें विचार करने लायक दलीलें भी उपस्थित की।

शहरमे जहां एकनाथ महाराज रहते थे, वहा उनका एक मन्दिर है। मन्दिरके एक कोनेमें एक गहरा और अन्दरसे चौड़ा कुआ है। कुएंका अनुभव ऐसा बताया जाता है कि नाथ महाराजकी पुण्यतिथिके आठ-पन्द्रह दिन पहले लोग नदीमे घड़े भर-भरकर इस कुएंमे उड़ेलते है। चाहे जितना पानी डालिए, कुआं भरता ही नहीं। परन्तु, नाथषष्ठीका दिन आते ही कुआ यकायक भरकर छलकने लगता है और बादमे हजारों लोगोके पानी पीने पर भी उसका पानी कम नही होता।

इसी मन्दिरमे एकनाथके वंशके एक सज्जन मिले। शायद वे मन्दिरके स्वामी माने जाते है। उनका तगडा डील-डौल मुझे बडा अच्छा लगा। नाथकी समाधिके स्थान पर हरिजनोंको प्रवेश नही है, यह कितनी भद्दी बात है। इसके विषयमे मैने अपने दिलका दर्द उन पर प्रकट किया। बेचारेने मेरे सामने सर्वार्थ-साधक मौनकी ढाल पेशकी और पिण्ड छुड़ाया।

और, मैं भी वहासे विदा होकर पैठणकी प्रख्यात जरतारीकी कारीगरी देखने गया। आठ घटेकी मेहनतके बाद छह इच चौड़ी किनार एकाध इंच आगे बढ़ती है। चादी या सोनेके धागेसे बेलबूटी, तोता, मोर आदिकी किनार ये लोग बुन लेते है। यहां एक कहावत प्रचलित है—'बोटभर विणावे आणि पोटभर खावें' (अंगुली-भर बुनिए और पेट-भर खाइए)।

इस कारीगरीको देखकर कारीगरोके लिए अभिमान और दयाकी भावनाएं एक साथ दिलमे उठती है। ये लोग कितने धीरज और कितनी खूबीके साथ बुनते है? और जरा भी भूल किये बिना सरस आकृतियां सजीव करते चले जाते हैं। परन्तु, इतनी मेहनतके बाद इन्हें क्या फल मिलता है? बेचारे कारीगरोंको सिर्फ पैसोसे मतलब है। बादमे यह कलाकृति कुहरेके जैसी महीन और फूलके जैसी हलकी साड़ीके किनारे सी जाती है। फिर, उसे अपना निरर्थक जीवन सुख या दु:खमें व्यतीत करनेवाली कोई अन्त:पुरवासिनी राजकन्या पहनती है। रनवासमें रहनेवाली उसकी कुछ सहेलियां उस साड़ीकी प्रशंसा करती है और अगर बेचारी-की कोई सौत हो, तो वह ईर्ष्यासे जल मरती है।

आज जहां कलाकृतिका विज्ञापन अधिक होता है, वहां ऐसी चीजोंका शौक समाजमे रहा नही। लोगोंमें अगर दरअसल कलाकी कद्र होती, तो अकेले गुजरात-से हर साल हजारों रुपयोंका माल यहांसे मंगवाया जाता। यहाकी कला अप्रतिम

है, इसमें जरा भी शक नही। लेकिन, वह कालग्रस्त होती जा रही है। गुजरातके कारीगर तो यह नमूना देखते ही उसका अनुकरण कर सकते हैं, लेकिन लोगोंकी अभिरुचि ही बदल गई है, इसका क्या इलाज ?

पैठणके बारेमें छुटपनसे ही कितना काव्य पढ़ा था ! उसकी गलियोंके कितने ही दृश्य भिन्न-भिन्न समयकी कल्पनासे खीचे थे। आखिर इस उम्रमें वह पैठण देखा। मकानोंके खण्डहर और गोदावरीके प्रवाहकी ताजगी जीवन और मृत्युके विरोधके समान दिखाई देते थे।

० ० ०

पैठणमे वहांके पुराने ऐश्वर्यके बारेमें एक कहानी सुनी। एक पुरानी आख्यायिकाके तौर पर उसका लेखा करने लायक है। एक बार पेशवा पैठण आये थे और पैठणके पास उन्होंने अपनी छावनी डाली थी। पैठणके एक व्यापारीकी यह इच्छा हुई कि पेशवाकी लड़कीको अपने यहां 'हल्दी-कुकुम'के लिए बुलाये। उसने अपने छोटे लड़केको नेवता देनेके लिए पेशवाके पास भेजा। पेशवाने सोचा, 'एक व्यापारी मेरी लड़कीको अपने यहां बुलाता है और नेवता देनेके लिए खुद आनेके बदले अपने लड़केको भेजता है ! इसकी सम्पत्ति कितनी होगी ?' यह सोचकर पेशवाने जवाब दिया, "मेरे तम्बूमे लेकर अपने घर तक सारे रास्ते मे अगर रुपयोंकी थैलिया बिछवा देगे, तो उनपर होकर मेरी लड़की तुम्हारे यहा आयेगी। वह कभी भी जमीन पर पैर नही रखेगी। यह शर्त मंजूर हो, तो नेवता दो।"

लड़का पितासे पूछने आया। पिताको लड़के पर बेहद गुस्सा आया। लड़केको डाटकर उसने कहा, "इतनी-सी बात पूछने क्यो आया ? अपनी जिम्मेवारी पर हामी भर देता। फिर भी कोई हर्ज नही। अब भी हम अपनी बात रख सकते है। फिरसे जाकर कहो कि मेरे पिताजी पूछते हैं कि भिन्न-भिन्न छापके रुपयोंसे काम चल जायगा या एक ही टकसालके रुपयोंका आग्रह है ? ऐसा आग्रह हो, तो मुझे जरा थैलिया छाटनी पड़ेगी।"

पेशवा ताड़ गया कि आसामी हलका-पतला नही है। उसने नेवता कबूल कर लिया।

जो थैलियां पैरोके नीचे बिछाई गई थी, वे फिर घरमें न लाई जायें, इसलिए व्यापारीने उन पैसोसे गोदावरीका एक बड़ा घाट बनवा दिया और उस प्रसगका स्मारक प्रस्तुत किया।

['सर्वोदय'; नवम्बर, १९४१ ई०]

३९. युद्ध-विरोधी पहला सम्राट्

देहरादूनका कन्या-गुरुकुल बहुत बरसों पहले मैंने कई बार देखा था। इस-लिए, इस बार वहां जानेका कुतूहल नही था। लेकिन, मैंने जापानी लड़की कुमारी कात्सु होरिउचिको खास हिन्दी पढ़ने वहां भेजा है, इसलिए वहां जाना इष्ट लगा।

कन्या-गुरुकुलके संचालक जानते ही थे कि उनके गुरुकुलके संस्थापक आचार्य रामदेवजी राष्ट्रीय शिक्षण-प्रवृत्तिके मेरे पुराने साथी थे। उनका मेरा स्नेह भी विशेष था। इसलिए उन्होंने मुझे, आचार्य रामदेव-भवन का उद्‌घाटन करनेके लिए बुलाया। कन्या-गुरुकुलकी आचार्या श्रीमती दमयन्ती कपूर, राम-देवजीकी लड़की थी और वह कुछ समयके लिए वर्धा-महिलाश्रममें रही भी थी। इस तरह घरेलू नाता भी था।

हम और चि० सरोज तारीख २३ मईकी सुबह देहरादून कन्या गुरुकुल पहुंचे। वहां देववाणी-सम्मेलन चल रहा था और कन्याओके संस्कृत-व्याख्यान मंडपके बाहर भी सुनाई देते थे। विलायतके विश्वविद्यालयोंमे विद्यार्थियोंको लैटिन भाषा में व्याख्यान देनेका और लैटिनमें कविता बनानेका बाकायदा प्रोत्साहन दिया जाता था। हमारे यहाँ, बनारसमें, नवद्वीपमें तथा महाराष्ट्रकी वाईमे, विद्यार्थी संस्कृत मे शास्त्रार्थ भी करते हैं और विनोद भी। सुदूर दक्षिणके केरलमे लड़कियाँ भी संस्कृतमे अस्खलित व्याख्यान देती हैं।

नहा-धोकर हम मंडपमें गये। तब वहां आचार्य प्रियव्रतजी सम्मेलनका संस्कृत में समारोप कर रहे थे।

उसके बाद मेरा उद्‌घाटन-भाषण हुआ। मैने आचार्य रामदेवजीके कुछ संस्मरण कहे और उनकी भारतीय संस्कृतिकी सेवा और राष्ट्रीय वृत्तिके प्रति श्रद्धांजलि-अर्पण की और भवनका उद्‌घाटन किया। सचमुच वह मकान भव्य है। रंगभूमि (नाट्य-मंदिर) के तौर पर भी उसका उपयोग हो सकता है।

उस दिनके बचे हुए समयके लिए मेरे पास कोई खास कार्यक्रम नहीं था। इसलिए, हमने देहरादूनसे ३०—३५ मील दूर एक प्राचीन बौद्ध तीर्थस्थानको देखने जानेका सोचा। २०-२५ वर्ष पहले मै उस स्थान पर गया था, तब देहरादून के कम लोग जानते थे कि कालसीमें सम्राट् अशोकका एक विश्वविख्यात शिला-लेख है, जिसपर उस आर्य चक्रवर्तीने अपने कलिंग-विजयके लिए अपना पश्चा-त्ताप जाहिर किया है, युद्ध-प्रवृत्तिकी निन्दा की है और शान्ति और धर्मके लिए अपना जीवन अर्पण करनेका संकल्प किया है।

आज जब पुरानी और नई दुनिया महायुद्ध और विश्वयुद्धोंसे संत्रस्त हुई है और दुनियाके कूटनीतिज्ञभी शान्तिकी खोजमें अंतरराष्ट्रीय सफर करते

फिरते हैं, तब २,२०० बरस पहलेका सम्राट् अशोकका हृदयलेख दुनियाके लिए असाधारण महत्त्व रखता है।

सम्राट् अशोकने अपना राज्य हिन्दूकुश पर्वतसे मैसूर तक फैलाया था। मैसूर-के दक्षिणके राजा उसके मित्र थे। इतना ही नहीं लोक-कल्याणकी अशोककी अनेक योजनाओंका लाभ भी उन्हें मिलता था। रास्तेके किनारे कुएं खोदना, घटादार पेड़ लगाना, मनुष्य और पशुकी चिकित्साके लिए प्रबन्ध करना, देश-देशान्तरसे औषधि और वनस्पति लाकर लोगोंकी सुख-समृद्धि बढ़ाना—ऐसे लोक-कल्याणके कामोंमे अशोकका सेवाभाव अपने साम्राज्य तक ही सीमित नही था, वरन् दक्षिण-में लंका तक और पश्चिममें यवन-ग्रीक और मिसरके लोगोके राज्यमे भी अशोक की सेवाएं पहुंच गई थी।

फक्त मगधके पड़ोसके कलिंग लोग अशोकका चक्रवर्तित्व मान्य नही करते थे। पराक्रमी, महत्त्वाकांक्षी और चंडप्रकृति अशोकको कलिंगोंकी यह उद्दाम वृत्ति सहन नहीं हुई। उसने कलिंगको जीतनेका निश्चय किया।

सम्पूर्ण विजय पानेके बाद, अपने कठोर कृत्यका अशोकको पश्चात्ताप हुआ। वह लिखता है कि जो प्रजा पहले कभी विजित नही हुई है, उसको जीतने जब हम जाते हैं, तब स्वातन्त्र्यप्रिय सारी प्रजा प्राणपनसे आक्रमणकारीका विरोध करती है। कलिंगको जीतते एक लाख लोग कत्ल किये गये, डेढ़ लाख लोग कैद किये गए; और इनसे कई गुना लोग युद्धके आतंकके कारण मर गये। यह है सम्राट् अशोकके हृदयके उद्‌गार—

"सचमुच जब कोई स्वतंत्र देश जीता जाता है, तब जो हत्या होती है, लोग मरण-शरण होते हैं या कैद किये जाते है, उसका प्रियदर्शी राजाको अत्यन्त दुःख और खेद है। इससे भी राजाको अधिक खेद इस बातका है कि ऐसे मुल्कके सदा-चारी लोगोंको, युद्धके कारण ईजा होती है, वे मर जाते है और प्रियजनोंको उनका वियोग सहन करना पड़ता है। जो लोग सुखी होते है, उनको भी अपने रिश्ते-दारोंका, स्नेहियोका और साथियोका संकट देखकर अत्यंत दुःख होता है। इस तरह इतनी विशाल जनता दुःखमे डूब जाती है। इसका देवानाम् प्रिय प्रियदर्शीको बड़ा खेद है। कलिंग देशमें जो लोग मारे गये, मर गये या कैद किये गये, उनकी संख्या सौवीं या हजारवीं भी होती, तब भी देवानाम् प्रिय प्रियदर्शी राजाको आज उसका दुःख हुआ होता। देवानाम् प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि लोगोंमेसे किसीको भी नुकसान न पहुंचे। लोगोंमें संयम, समचर्या (बंधुभाव) और शांततामय जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा हो। सबसे अच्छी विजय तो धर्मविजय ही है। इस तरहसे प्राप्त की हुई विजयसे सर्वत्र प्रेमभाव बढ़ता है। इस तरहकी विजय देखनेमें छोटी रही, तो भी परलोकमें उसका फल अधिक है।"

"यह धर्मलेख मैंने किसलिए खुदवाया है? इसलिए कि मेरे पुत्र-पौत्र युद्ध

करके अधिक देश जीतनेका विचार न करें। अगर युद्ध करना अनिवार्य हुआ, तो वे संयमका पालन करें और शत्रुओंको कम-से-कम सजा करें। यह ध्यानमें रखें कि धर्मविजय ही सच्ची विजय है। धर्मविजयके द्वारा ही जगत्में प्रेमकी वद्धि होती है।"

मैं नहीं मानता कि दुनियाके समस्त साहित्यमें और राजनीतिक या धार्मिक दस्तावेजोंमें इससे बढ़कर उन्नत कोई चीज हमें मिल सके।

कालसीके नजदीक, यमुना नदीके किनारे, जहां ऊपर अमलवा नदी यमुनासे मिलती है और नीचेकी तरफ तमसा नदीका उसी यमुनासे संगम होता है, ऐसे रमणीय काव्यमय और अब पवित्र स्थान पर, एक शिला पर, अशोक राजाने अपने चौदह अनुशासन खुदवाये हैं। उनमेसे तेरहवें अनुशासनका प्रधान अंग ऊपर दिया है।

इस शिलाकी एक बाजू पर (अमलवाकी दिशामें) बुद्ध भगवान्के प्रतीक-रूप एक हाथीका रेखाचित्र खुदवाया है और उसके नीचे बुद्ध भगवानको गजतम—सर्वश्रेष्ठ हाथी—कहा है।

बुद्ध भगवान्को गजतम क्यों कहा अथवा हाथीको बुद्ध भगवान्का प्रतीक क्यों माना, यह आजके लोगोंको शायद मालूम नहीं होगा। बुद्ध भगवान्की माता मायादेवी जब गर्भवती हुई, तब उसको स्वप्न आया था कि एक सफेद हाथी आकाशमेसे आया और बिल्कुल छोटा होकर उसके पेटमें घुस गया। इसी कारण हाथीको भगवान् बुद्धका प्रतीक माना गया।

यमुना नदीके किनारे छोटे-बड़े, टेढे-मेढ़े किन्तु गोल-मटोल असंख्य पत्थर पड़े है उन्हींमेसे एक बहुत बड़ी शिला पर सम्राट् अशोकके अनुशासन खुदवाये हैं। इस पत्थरकी रक्षाके लिए उत्तरप्रदेशकी सरकारने सन् १९१२ ई०में एक छोटा-सा मकान खड़ा किया है, जिसका गुबद दूरसे ही दीख पड़ता है। यह मकान इतना छोटा है कि दस आदमी भी इस इतिहास-प्रसिद्ध धर्मशिलाके इर्द-गिर्द आसानीसे नही घूम सकते।

और, उस मकानकी हिफाजत भी संतोषकारक नही है। दरियाफ्त करन पर मालूम हुआ कि नजदीकके डाकबंगलेके चपरासीको ही इस पवित्र मकानको ताला लगाकर सुरक्षित रखनेके लिए मासिक दस रुपये दिये जाते है!

दुनियाके इतिहासकार कहते है कि विश्वके प्राचीन अर्वाचीन महान्-से-महान् सम्राटोंमें भी अशोकका स्थान अद्वितीय है। सम्राटोंके नामोंमें अशोकका ही नाम सबसे अधिक उज्ज्वल है। ऐसे पवित्र पुरुषके हृदय-लेखकी कदर स्वतंत्र भारत अच्छी तरहसे करेगा ऐसी अपेक्षा थी। छोटी पुलिस-चौकीके जैसा एक मकान और तीन बाजुओंसे प्रकाश, हवा और कचरा भी अन्दर आनेकी सहूलियत—इतना प्रबन्ध बस नहीं है। अशोकके शिलालेखकी हिफाजतके लिए

खड़े किये गये इस मकान पर, आने-जाने-वाले मुसाफिर कोयलेसे अपने नाम और चित्रकला अमर करनेकी कोशिश करें, यह जितना हास्यास्पद है, उतना ही ग्लानि-कर भी। स्वराज्य-सरकार इस शिलाके आस-पास एक अच्छा-सा मकान बांध दे और वहां पर अशोकके शिलालेखोंके चित्र और अनुवाद लोगोंके पढ़नेके लिए दीवार पर रख दे, ऐसे शिलालेख भारतमें और कहां-कहां हैं उसका मानचित्र भी दे दे और अनेक तरहसे इस स्थानको आकर्षक बोधप्रद और शिक्षाप्रद बना दे, तो भारतकी आजकी शांति-नीतिको वह कार्य शोभा और बढ़ावा देगा।

ऐसे स्थान भारतमे सौ-पचास तो हैं नहीं कि खर्चकी कंजूसी करना जरूरी हो। जिस राष्ट्रने अपने झंडे पर अशोकके धर्मचक्रको स्थान दिया है, उस राष्ट्रका कर्तव्य है कि कालसी जैसे स्थानोंका ऐतिहासिक और आध्यात्मिक महत्त्व पहचाने और जनताके हृदय पर उसे अंकित करे।

देहरादूनसे कालसी जाते, बाईं ओर प्राचीनतम शिवालिक पहाड़ियां हैं। भूस्तरविज्ञानवेत्ता मानते हैं कि वानर और मनुष्यके बीचकी जो योनि थी, उसका जन्म यही पर कहीं हुआ था। कहा जाता है कि आज भी उनके अवशेष इस प्रदेशमें पाये जाते हैं। जाते-आते इन पहाड़ियोंका और उनकी तराईके जंगलोंका हमने दर्शन किया। और, एक धर्म-पुरुषके सकल्पका समस्त राष्ट्र पर और एक वैभव-शाली संस्कृति पर कितना असर होता है इसके चिंतनमें हम डूब गये।

लिखना भूल गया कि हमारा जापानी छात्र श्री कोकीनागा हमारे साथ ही हरद्वारसे देहरादून आया था। कोकी और कात्सु दोनों बौद्ध हैं। बौद्ध सम्राट् अशोकके नामसे पुनीत कालसी जैसा स्थान उन्हें बतानेकी मेरी इच्छा थी ही।

इसके पहले जब मैं कालसी आया था, तब बम्बईके बुद्ध विहारमें रहनेवाले जापानी भिक्षु तेन्जो वातानावेको अपने साथ ले गया था। आज श्री वातानावे डॉ० आंबेडकरके अनुयायियोंको बौद्धधर्मकी दीक्षा देनेका काम बड़े उत्साहसे महाराष्ट्र-में कर रहे हैं।

बौद्ध दुनियाके यात्री बुद्धगया, सारनाथ कुशीनारा और लुम्बिनीदेवी—इन चार बौद्ध धामोंकी यात्रा करते ही हैं। अब उन्हें सांची, कालसी आदि स्थानोंकी यात्रा करनेका प्रोत्साहन देना चाहिए।[1]

१६ जून, १९५९ ई०

---

१. एक खतसे।

४०. अद्वैताचार्यकी जन्मभूमि—कालडी

श्री आद्य शंकराचार्यका जन्म-स्थान, कालटी या कालडी, केरलमें है। केरल के उत्तर भागमें अलवाय शहरके पूर्वमें, थोड़े ही मीलकी दूरी पर, पूर्णा नदीके किनारे यह स्थान बसा हुआ है। कालडी-क्षेत्र, धर्मकी दृष्टिसे जितना महत्त्वका है, उतना ही वह उपेक्षित भी है। रामकृष्ण-मिशनके स्वामी आगमानन्द, जो जन्मसे केरल समाजके ही हैं कालडी आकर बसे और उन्होंने इस स्थानकी सेवा अपने हाथ में ली, तबसे कालडीका स्वरूप बदलने लगा है।

बुद्ध और महावीरके बाद भारतमें सनातन हिन्दू-धर्मको अद्यतन रूप देनेवाले सबसे श्रेष्ठ धर्म-सुधारक श्री शंकराचार्य हुए। केरलके धर्मपरायण विद्योपासक नांबुद्री ब्राह्मण-जातिमें शंकराचार्यका जन्म हुआ। बचपनमें ही उस समयकी सब विद्याओंको ग्रहण करके उन्होंने सारे भारतका भ्रमण किया। हर जगह विद्वानोसे वाद-विवाद करके और सामान्य लोगोंके लिए मधुर स्तोत्र बनाकर उन्होंने भारत-व्यापी धर्म-प्रचार किया और प्रस्थानत्रयी पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखकर अद्वैत वेदान्तकी स्थापना मजबूत की।

अपने समयके हिन्दू-धर्मका समन्वयकारी संगठन करनेमे उन्होने अपनी सारी शक्ति लगाई। इसके लिए पश्चिममें द्वारका, उत्तरमे बद्रीनारायणका ज्योतिर्मठ, पूर्वमें जगन्नाथपुरी और दक्षिणमें शृंगेरी, ऐसे चार जगह चार मठोंकी स्थापना करके उन्होंने अपने शिष्योंके द्वारा अपने कार्यको और धार्मिक संगठनको भारतीय पैमाने पर पहली ही बार मजबूत किया।

इसका फल यह हुआ कि अपने जमानेकी रूढियां तोड़कर समाजके खिलाफ बगावत करनेवाले इस संन्यासीके सहारे सनातन धर्मने अपनी रूढ़ियां मजबूत की हैं।

शंकराचार्यके पहले सनातन धर्मके नेताओने जिस संन्यास-आश्रमको कलिवर्ज्य बनाया था, उसीको फिरसे जाग्रत करके शंकराचार्यने धर्म-प्रचार और सामाजिक धर्म-जीवनको संगठित किया।

कलिवर्ज्यका ख्याल समझने लायक है। जो रस्म ओ-रिवाज प्राचीन कालमें अच्छे गिने जाते थे, लेकिन कलियुगमें जिनका दुरुपयोग हो सकता था अथवा जो समाजको नापसन्द थे, उनको कलिकालमें अनुपयुक्त समझकर कलिवर्ज्यकी फेहरिस्तमें डाला जाता था।

अनेक देव-देवियोंकी पूजामें बुरी तरहसे बंटे हुए हिन्दू-समाजको पंचायतन पूजा-उपासना उन्होंने बताई, और इस तरह समन्वय दृष्टिकी लोगोंको दीक्षा दी। श्री आद्य शंकराचार्यका ऋण भारतीय समाज पर सबसे ज्यादा है। ऐसे शंकराचार्य के जन्मस्थानके प्रति हिन्दू-समाज बिलकुल उदासीन रहा, यह घटना जितनी

दुःखद है, उससे भी अधिक आश्चर्यकारक। केरलमें मुसलमानोंका कभी ऐसा राज्य नहीं हुआ था कि जिसका सबब आगे करके हमारे लोग कह सकें कि उन्होंने हमें कुछ करने नहीं दिया, अन्यथा हमने बहुत कुछ किया होता।

स्वामी आगमानन्द कहते हैं कि जब वे कालडी गांवमें रहने आये, तब वहां अधिकांश बस्ती ईसाइयोंकी ही थी। उनके आनेके बाद उन्होंने पाठशालाएं खोलीं। तब शिक्षाके लोभसे अनेक हिन्दू परिवार वहां आकर बसे। आज वहां हाई स्कूल, कॉलेजके अलावा संस्कृतकी पढ़ाईका भी अच्छा प्रबन्ध है और स्वामी विवेकानन्दके चलाये हुए रामकृष्ण-मिशनका अद्वैत आश्रम भी है।

जब हम शंकराचार्यका जन्म-स्थान देखने गये, तब पूर्णा नदीका दृश्य देखकर हमें अपूर्व शांति मिली। केरलकी वनश्री निसर्ग-मनोहर है ही। पूर्णाके स्वच्छ जलमें आसपासके पेड़ोंका और अनंत आकाशका प्रतिबिम्ब सुहावना लगता था। जहां शंकराचार्यका जन्मस्थान बताया जाता है, वहां आज एक रसोईघर बना हुआ है, जिसकी आकृति और शक्ल पुलिस क्वार्टर्सके जैसी लगती है। पचास बरस भी नहीं हुए होंगे, वहां एक शंकरका मंदिर खड़ा किया गया है। उसके नजदीक कृष्ण-मन्दिर भी है। कहा जाता है कि नदीका प्रवाह बदलनेसे जो कृष्ण-मन्दिर डूब जाता था, उसका स्थानांतरण करके शंकराचार्यने उसकी यहां पर स्थापना की थी।

जिस जगह एक नक्रने—मगरने—शंकराचार्यका पांव पकड़कर उनको डुबाना चाहा था और संन्यासकी दीक्षा लेने पर उन्हें छोड़ दिया था, उस गहरे दहको भी हमने देख लिया। स्वामी आगमानन्दके शिष्योंने उस स्थान पर एक घाट बनाया है। श्री शंकराचार्यकी मातृभक्ति, उनकी तरफसे बन्द किया गया नरमेध आदिके बारेमें विस्तारसे कहना चाहिए। कालडी जाकर शंकराचार्यके वायुमण्डलका अनुभव हम कर सके और वह भी ऐसे समय पर जब श्री विनोबा भावे भूदान-ग्रामदानकी प्रवृत्तिके द्वारा भारतमें नवसमन्वयकी युगांतरकारी नींव डाल रहे हैं। विनोबा कहते हैं कि श्रीशंकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज और महात्मा गांधी तीनोंका उनके जीवन पर अधिक-से-अधिक असर हुआ है। इसके मानी यह होते हैं कि ये तीनों युगपुरुष विनोबाके द्वारा भारत पर और भारतके द्वारा दुनिया पर अपना-अपना असर कर रहे हैं। शंकराचार्यका सर्वसमन्वयकारी अद्वैत सिद्धान्त वाद-विवादके द्वारा समझनेका नहीं है। जीवन-चिंतन और ब्रह्मचिंतनके द्वारा ही शांति, पुष्टि और तुष्टि देनेवाली एकताकी स्थापना होगी! अद्वैतके मानी ही है एकता।

२१-५-१९५७

४१. सांगानेरका कायाकल्प

गाधीजीने वर्धामे आकर ग्रामोद्योग-विकासके कार्यक्रमको हाथमे लिया और धानकुटाई, मधुमक्षिका-पालन, तेलघानी और ऐसे ही अन्य ग्रामोद्योगोका महत्त्व देशको समझाना शुरू किया। इतनेमे एक भाई उनसे मिलने आये, जो हाथ-कागज तैयार करनेकी कला जानते थे। बडे ही उत्साहके साथ गाधीजीने उनकी मदद ली ओर हाथ-कागजके उद्योगको अपनाया।

जब गाधीजी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके लिए इन्दौर गये, तब वहा भी उन्होने हाथ-कागजके बारेमे तलाश की थी। परिणामस्वरूप सेठ हुकुमचन्दजीने अच्छे-से-अच्छे बढिया हाथ-कागज गाधीजीको लाकर भेट किये। मैने गाधीजीसे कहा, ऐसे कागज तो महाराष्ट्रमे पूनाके उत्तरमे, शिवाजी महाराजकी जन्मभूमि जुन्नरमे अच्छे बनते है। उन्हे कहने है—मुडाचे कागद। बडे चिकने मजबूत होते है। बही-खाता लिखनेके काम आते है। पुराने कवियोके काव्यग्रन्थ ऐसे ही कागजो पर लिखे जाते थे। गाधीजीने तुरन्त जुन्नरके कागजोके बारेमे तलाश शुरू की। फिर तो तुलसी मेहरजीने रेशमके कचरेसे बने हुए नेपाली कागज ला दिये, बडे ही पतले और मजबूत। फिर तो पूछना ही क्या ? गाधीजीका कमरा मानो हाथ-कागजोका सग्रहालय ही बन गया। उसी सग्रहालयमे हमने सागानेरके हाथ-कागज भी देखे। और, सागानेरके नामने हमारे मनमे प्रथम जन्म लिया। जुन्नर तो मै देख आया था। नेपाल भी हो आया था। कश्मीरके बढिया हाथ-कागज—एक कागजके दो आनके हिसाबमे मैने खरीदे थे, खरीदनेके बाद सूझा नही कि ऐसे कीमती कागजका क्या करू ? यो ही रख दिये थे। अब सागानेर देखनेकी इच्छा हुई और पता चला कि सागानेर जयपुरके पास ही है।

एक दिन श्री हीरालालजी शास्त्री मुझे वनस्थली बुलानेके लिए आये। मैंने कहा जयपुरके पास सागानेर ले जानेका वादा करते है, तो वनस्थली आऊगा। उन्होने कहा—'वह तो वनस्थली जाते हो जायगा।'

गाधीजीका हाथ कागजका प्रेम जयपुर तक पहुच गया था और सागानेरके हाथ-कागजके नोट-पेपर बनाकर खादीवाले बेचने लगे थे। लेकिन सागानेरके कागजी लोगोका उद्धार-कार्य अभी शुरू नही हुआ था।

अच्छा ही हुआ कि मै ऐसे प्रारम्भिक कार्यमे सागानेर देखने गया। वहा जो सुना, वह तो किसी रोगीको मरण-शय्याकी बातोके जैसा था। सागानेरमे कागजी परिवार बहुत थे, लेकिन प्रोत्साहनके अभावमे धधा टूट जानेसे वे सब तितर-बितर हो गये थे। अब ५-१० मुसलमान परिवार ही रहे है, जो अपना यह धंधा छोड़कर आजीविका चला सकें, ऐसा कोई दूसरा धंधा ढूढ रहे हैं। हम लोगोंका

सांगानेर जाना उन बेचारे कागजियोंके लिए निराशाके अंधकारमें आशाकी किरण जैसा था।

इधर-उधरसे जो भी कागज मिले, इकट्ठा करके कूट-कूटकर लुगदी (Pulp) बनाते थे, घासकी चटाई पानीमें डुबोकर उसमें कागजका माद्दा ऊपर उठाते थे, दीवार पर चिपकाकर कागजको सुखाते थे और थोड़ा-सा तेल लगाकर चिकने पत्थरों द्वारा घुट-घुटकर कागजको ग्लेज (Glaze) चढ़ाते थे, जिसे वे मुहर कहते थे। नदीके पटमेंसे अच्छे चिकने पत्थर लाकर सीमेंट जैसी कोई वस्तुमें बिठाकर कागज घिसने या घोंटनेका औजार उन्होंने बनाया था। उनका सारा काम ध्यानसे देखा। वे हमारी ओर आशासे देख रहे थे और हम भी उनकी ओर आशासे ही देख रहे थे।

हम यहां पुराण-वस्तु-संशोधनके लिए नहीं आये थे। एक पुराने उपयोगी हस्त-उद्योगके पुनरुद्धारके लिए आये थे। लेकिन, मेरी आंखें देख सकीं कि ये कागजी परिवार नये कागज बनानेके लिए जो पुराने कागज इकट्ठा करते हैं, उनमें कई पुरानी पोथियोंके पन्ने भी हैं। बही-खातेके टुकड़े भी हैं, जो पुराण-वस्तु-संशोधनके लिए बहुत ही कामके हो सकते थे। जिन पूर्वजोंने प्राचीन साहित्य लिखवाकर बड़े-बड़े ज्ञान-भंडार तैयार किये थे और जिन दरबारोंने ऐतिहासिक सामग्री बड़े उत्साह और लगनके साथ सभालकर रखी थी, उन्हीके वंशजोंने यह सारी चीजें रद्दी समझकर इन कागजियोको बेच डाली और शायद आटा-नमकके लिए या तम्बाकू और चायके लिए पैसे जुटाये। पुराने काव्य, दर्शन, ज्योतिष और संगीतके ग्रंथोंके पन्ने उबालकर उसके द्वारा जो नये कागज बनाये जाते हैं, उनपर क्या लिखा जायगा, क्या छप जायगा या कौन-सी मिठाइयां अथवा पकौड़ियां लोगों के हाथोंमें दी जायेंगी, कहना मुश्किल है। यह है इतिहासकी लीला! ऐसी मुमूर्षु संस्कृतिको फिर से सजीव करने हम चले है।

फिर तो हम लोगोंने वर्धामें कागज बनानेके अनेक प्रयोग किये। बांस, लकड़ी, पत्ते, चिथड़े सब कुछ लेकर, उबालकर, कूटकर उनके कागज बनानेके प्रयोग हमने चलाये। ऐसे प्रयोगोंका उत्तम स्थान था—सोदेपुर(कलकत्ता)का खादी-प्रतिष्ठान। वहां श्री सतीशचन्द्र दास गुप्ताजी अपने विज्ञानका पूरा उपयोग करके अनेक ग्रामोद्योगोंको सजीव कर रहे थे।

सांगानेरमें हमने एक प्राचीन उद्योग देखा जिसे गुजरातमें 'छीपा-काम' कहते हैं। कपड़े पर तरह-तरहकी बेल-पत्तियां और चित्रके छापे बनाकर उनकी छापसे कपड़ोंको सुशोभित करना और रंग-रंगकी आकृतियां छापकर कला-अभिरुचिको तृप्त करना—यह है मनुष्यका सनातन व्यापार। यह काम भी सांगानेरमें देखकर बड़ी खुशी हुई। हमने उन लोगोंसे कहा कि आप लोगोंके पास जितने पुराने-से-पुराने नमूने हैं, वे दिखाइए। जब संस्कृति जीवित थी, जीवन समृद्ध था और समृद्धिके

कारण समाजमे स्वास्थ्य था, तब हृदयकी भावना व्यक्त और तृप्त करनेके लिए कलाधरोंने कैसे-कैसे उपाय ढूढ निकाले थे—वह सब मुझे देखना था और कलाकृति-के इन नमूनोके द्वारा प्राचीन भारतको कल्पनाके क्षेत्रमें जागृत करना था।

वहा पर भी लोगोकी बाते मानो मातम-सी लगती थी। हमारे पास कला है, उद्योग है, पुरानी अभिरुचि है, पर उसकी कदर कौन करता है? समाज और समाज-नेता हममे विमुख हुए है, विलायती चीजें खरीदकर घरको भर देते है और हमारी ओर उपेक्षामे और कभी-कभी तिरस्कारसे देखते है। मानो पश्चिमकी उद्योगिता और पश्चिमकी तिजारत ही इनकी बपौती है और हम कोई पराये देश-से आ पडे तुच्छ प्राणी है।

उन बेचारोका भाव मैने अपने शब्दोमे दिया है। अपना दु.ख व्यक्त करनेके लिए उनके पास न वाणी थी, न सूझ। 'जबतक जी सकते है जीयेंगे। अपने इस धंधेका मृत्यु-घंटा तो हम सुन चुके है, जबतक यह चलना है, तबतक चलायेंग।' यही भाव था उनकी आखोमे। दस दिनके बाद जिसे फासी पर चढना है, वह आदमी जिस तरह सुबह-शाम रोटी खाता है उसी तरहसे ये लोग जीते है। फांसीके उम्मीदवारोको खाना खाते जेलमे मैने देखा था। यहा इन लोगोको मुमुर्षू हालतमे अपना धन्धा चलाते देखा—दोनोमे कोई फर्क नही था। हमने इनसे बातचीत की और कहा कि, अगर आप अपनी सारी कला खादी पर प्रकट करानेका आग्रह रखेंगे, तो आपके लिए भविष्य है। सागानेरके कागजियोको जैसे हमने कहा कि पुराने कागज कूटकर नये कागज बनाना यह कोई उद्योग-हुनर नही है, चिथडोमे और वनस्पतिके रेशोसे जब कागज बनाओगे, तभी हम उसे हाथ-कागज कहेगे, वैसा ही मैने इन छीपी लोगोसे कहा कि तुम्हारी देशी कला खादीके जरिये ही जीवित रह सकेगी। परदेशी या मिलके कपडोके द्वारा इसे जिन्दा रखनेकी आशा व्यर्थ है।

एक बडी विशाल और तरुण आशा मनमे रखकर हमने सागानेरसे विदाई ली थी। उसके बाद कई बार जयपुर आया—वनस्थली भी देखी, लेकिन सागानेर नही जा सका था। इस बार जब एक वर्ष पूरा हो रहा था और दूसरा वर्ष शुरू होनेको था, तब ४ दिन जयपुर रहनेका मौका मिलते ही सागानेर फिरसे देखनेकी प्रबल इच्छा हुई। ३१ मार्चको हम सागानेर देखने गये और कितना फर्क! मधु-मक्खीके छत्तेके आसपास जैसा उनका सूक्ष्म-मधुर गुजारव सुननेको मिलता है, वैसा जीवन स्फुरता हुआ वहा हमने देखा है। अब तो पुराने कागजी सजीव हुए ही है। निराश होकर तितर-बितर हुए कागजी भी फिरसे यहा आकर बसे हैं—दिन-रात उनका काम चलता है। आज भी वे चिन्तित है, लेकिन इसलिए नही कि गुजारा कैसे होगा, वरन् इसलिए कि जोरोसे बढनेवाली कागजकी मागको हम पूरा कैसे कर सकेंगे! हरेक घरके साथ भाग्य-फलकी जैसी दीवारे हैं, जिनपर गीले कागज प्रसन्नतामे सूख रहे हैं और उद्योगी-महिलाएं एक-एक कागजको लेकर दीवारोको

सजा रही हैं। इन महिलाओंके हाथमें कागजका पानी कम करनेके लिए और कागजकी सलवटें दूर करनेके लिए झाड़के जैसे ब्रश शोभा देते थे। कितनी खूबी और नजाकतसे वे काम करती थीं ! हमें देखकर रिवाजके अनुसार उन्होंने अपना मुंह छुपाना चाहा, लेकिन घूंघट निकालकर नहीं, किन्तु तिकोना ब्रश अपने मुंहके आगे पकड़कर। मैंने महिलाओंको ताड़-पत्रका पंखा आड़में खड़ा करके विनयकी रक्षा करते देखा था, लेकिन इन उद्योगी महिलाओंको अपने फैले हुए ब्रशका ही ऐसा उपयोग करते देखकर बड़ा मजा आया। अब सांगानेरमें समृद्धि बढ़ रही है। लोग नई-नई आशाओंका सेवन करते हैं। छीपी लोग अब लकड़ीके छाप बाहरसे खरीदकर नहीं लाते। अपने यहां ही कारीगरोंको बिठाकर सागकी लकड़ीके छाप तैयार कराते हैं और अपने तरह-तरहके डिजाइनके अलबम बनाकर देश-विदेश भेजते हैं, ताकि नम्बरके अनुसार वे फरमाइशी माल तैयार कर सकें। अब इन लोगोंके मुह पर आत्मविश्वास और आत्मगौरव दीख पड़ता है : राष्ट्रीय जीवनमें हमें स्थान है, हम आवारा नहीं हैं, जीवनका बोझ उठाकर घूमनेके दिन अब नही रहे; अब तो जीवनके आनन्दका विस्तार करनेका काम हमारे हाथमे है। हम जीवनकी प्रसन्नता अनुभव करते हैं। दूसरोंको वही जीवनानन्दकी प्रसन्नता प्रदान करते रहेंगे।

इन कागजी और कापड़ी कारीगरोंके जीवनका उत्साह और उनकी महत्त्वाकाक्षा बढ़ानेके लिए एक सुन्दर साधन 'ग्रामीण बाल-संग्रहालय' के द्वारा हुआ है। मेरे पुराने मित्र अमरेली (सौराष्ट्र) के श्री प्रतापरायने यह अद्भुत वस्तु सांगानेरको भेंट की है। सौराष्ट्र-सरकारने या गायकवाड़-सरकारने इन्हे राजरत्नकी उपाधि दी होगी, लेकिन अपनी सेवाके द्वारा वे सचमुच देशरत्न बने है। जब श्री प्रतापरायजीसे मेरा प्रथम परिचय हुआ, तब इन्हें प्राचीन सिक्के इकट्ठे करनेका शौक था। तब भी अपने नामके Visiting Card ताड़-पत्रपर बनानेकी सूझ इनके पास थी। स्वदेशीका प्रेम, ज्ञान-वितरणकी लगन और नित्य-नूतन सूझ अमलमें लानेका पुरुषार्थ इनमें है। इसी समय मैंने इन्हें तरह-तरहके चार्ट्स-आलेख बनाते देखा। बच्चोंकी जिज्ञासा जागृत करके उनकी तृप्तिके साधन जुटानेका इनका शौक अद्भुत है। जब हम जापानकी राजधानी टोकियोमें मिले थे, तब भी मैंने इनकी यह लगन बढ़ती हुई देखी थी। इन्होंने मुझे जापानके बादशाहका महल और उसका चित्र-संग्रहालय देखनेकी सिफारिश खास तौरसे की थी। जापानमें सच्चे मोतीको कृत्रिम रूपसे अच्छा आकार देनेकी जो कला है, उसका *अध्ययन इन्होंने गहराईसे किया है। ऐसे मोतियोंको हम कृत्रिम मोती नहीं कह सकते। अंग्रेजीका अनुकरण करके हम इन मोतियोंको संस्कृत मोती कह सकते हैं।* इन मोतियोंकी जीवन-कथा बच्चोंके सामने प्रकट करनेके लिए इन्होंने एक संग्रहालय तैयार किया। उसी परसे दूसरे पांच संग्रहालय किये। इनकी कल्पना बड़ी।

बादमें इन्होंने सोचा कि आकाशके तारक मोती शामको कैसे उगते हैं और सुबह तक आकाशकी यात्रा कैसे करते हैं, इसका ख्याल भी बच्चोंको और बच्चोंके माता-पिताको देना चाहिए। इसका भी प्रबन्ध इन्होंने सांगानेरमें किया है अथवा करनेवाले हैं।

४२. मुरादाबाद

जब मुरादाबादकी हिन्दी-प्रचारिणी संस्थाने मुझे आमंत्रण दिया, तब मैंने मंत्रीजीको, वे धोखेमें न रहें इसीलिए, साफ समझा दिया कि "मैं राष्ट्रभाषा-प्रचार समितिसे अलग हुआ हूं। आजतक मैं राष्ट्रभाषाको हिन्दीके नामसे दुनियाके सामने रखता था। अब मैं राष्ट्रभाषाके लिए कांग्रेसी नाम हिन्दुस्तानी भी चलानेवाला हूं। इससे आपके वायुमंडलमें शायद कठिनाई पैदा होगी, इसलिए, मुझे क्षमा करें; मुझे मुरादाबाद न बुलावें।" उन्होंने मेरे दृष्टि-कोणका अभिनन्दन करते हुए मुझे मुरादाबाद आनेका फिरसे आग्रह किया और मैं भी वहां साफ दिलसे जा सका। मेरे मनमें हिन्दीका विरोध तो है नहीं, और मुरादाबादके लोग हिन्दुस्तानीके बारेमें मेरी विशिष्ट भूमिकासे घबरानेवाले नहीं दीख पड़े।

जबतक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समितिकी ओरसे मैं काम करता था, तबतक मैं जान बूझकर अहिन्दी-प्रान्तोंमे ही भ्रमण करता था। अब स्वतंत्र होकर राष्ट्रभाषाकी सेवा कर रहा हूं, इसलिए उत्तर प्रदेशमें भी हो आया, और वह भी अपनी भूमिका पहलेसे स्पष्ट करके। मुरादाबादका मुझे अच्छा ही अनुभव हुआ।

वहां जानेसे मालूम हुआ कि मुहर्रमके दिनोंमें उत्सव रखनेसे उत्सव वालोंको फिजूलका कुछ बंधन कबूल करना पड़ा था। ऐसे मौके पर अपनी तिथिको बदलना ही बेहतर होता है।

अजीब शब्द शास्त्र

मुरादाबादमें एक हिन्दी प्रेमी सिविल जज हैं। लिपि-सुधारमें दिलचस्पी रखते हैं, इसलिए उनकी ओर मैं कुछ आकृष्ट हुआ। आर्य-संस्कृतिके बड़े अभिमानी मालूम हुए। यूरोपियन लोग हमारी भाषासे कैसी चोरी कर सकते हैं, इसका ख्याल उनका एक व्याख्यान सुनकर मुझे अच्छी तरह आ गया। उन्होंने अपने एक व्याख्यानमें कहा—"अकबरके दिनोंकी बात है। किसी महलमें अच्छी सजावट की गई थी। एक हिन्दी आदमी बोल उठा—'देखो रे, शान कैसी है' ?" किसी अंग्रेजने यह सुन लिया। उसने माना कि सजावटका ही नाम है, 'देखो रे, शान।' स्पष्ट उच्चारण न कर सकनेसे वह बोलने लगा 'डेकोरेशन'! इस परसे Decoration शब्द आ गया!

अबतक हमें पता नहीं था कि आर्य भाषाने अंग्रेजीको कितना समृद्ध किया है।

कारीगरी

मुरादाबादकी कारीगरी हिन्दुस्तानमें और परदेशमें भी मशहूर है। पीतलके बरतन पर पक्की कलई करनेमें यहांके कारीगर होशियार हैं ही। इसके अलावा बरतनों पर अच्छी-अच्छी चित्रकारी कुरेदनेकी कला भी यहां बहुत ऊंचे दरजे तक पहुंची है। मुरादाबादके कारीगरोंका हाथ नाजुक और स्थिर है। अगर हमारे राष्ट्रीय चित्रकार सजावटके नये-नये प्रकार बनाकर इन कारीगरोंको दे दें, तो मुरादाबादकी कलामें एक नई ही जान आ जायगी, और राष्ट्रीय संस्कृतिको एक नया रूप मिलेगा। गुजरात, बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र और मद्रासकी ओरके चित्रकारोंका यह काम है कि वे केवल कागजों पर ही अपना कला-वैभव प्रकट न करें। धातुके ऊपर भी नया-नया रूप अंकित करके अपनी कलाको वे स्थायित्व अर्पित करें।

['सबकी बोली', मार्च, १९४१ ई०]

४३. संथाली मुरली

संथाल लोगोंकी हालत देखनेके लिए वैद्यनाथधाम (देवघर) होकर हम इर्द-गिर्दके प्रदेशमें घूमने निकले। प्रदेश सुंदर है, जहां देखो, वहां ऊंचे-ऊंचे पहाड़ डराते हैं, और न्योता भी देते हैं। यहांके ये छोटे-बड़े पहाड़, लाल मिट्टी और ऊंची-नीची जमीन देखकर मुझे मैसूर-राज्यकी याद हो आई। मैसूरमें ऐसी ही लाल मिट्टी है। शायद वहांकी मिट्टीमें चिकनापन ज्यादा है। लेकिन, वहांके और यहांके लोगोंका जीवन देखते ही आसमान-जमीनका फर्क मालूम हो जाता है। बहुत ही सुन्दर गांवोंमें बसे हुए मैसूरके किसान शरीरसे तंदुरुस्त, हंसमुख और स्वाभिमानी दिखाई देते हैं।

यहांके संथाल किसी समय जरूर तन्दुरुस्त थे। उनका शरीर देखनेसे तो ऐसा ही मालूम होता है। दो दिनके सफरमें दो ही ऐसे संथाल युवक दिखाई दिये, जिनकी छाती उभरी हुई थी। आम तौर पर तो संथाल शरीरसे सुघड़ होते हैं। हमेशा खुले बदन रहनेके कारण उनकी चमड़ी इतनी साफ और सुन्दर रहती है कि योरप, अमरीकाके गोरोंको जरूर उनकी ईर्ष्या हो। संथाल स्त्रियोंमें बुद्धिमत्ता होती है, तेज होता है, जिससे अनुमान लगा सकते हैं कि पुराने समयमें इस प्रदेश पर संथालोंका अधिकार होगा और वे अपनी संस्कृतिका अभिमान रखते होंगे।

लेकिन, सभी संथाल अब अपना मुंह खुला रखकर चलते है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन-यात्रामें उनको बार-बार असफलता मिली होगी और जीवन-संग्रामके लिए उनकी बुद्धि और अनुभव अपर्याप्त रहे होंगे। इसका एक परिणाम तो मैं स्पष्ट देख सका कि किसी भी संथालकी छाती पेटसे आगे उभरी हुई नही थी। नाकसे सांस लेने पर ही छाती उभरती थी। मुंहसे लिया हुआ श्वास छातीमे न जाकर पेटमे ही जाता था। हमने जितने संथाल देखे, उनकी नाक एक ही तरहकी थी। बालोमें भी कुछ फर्क नहीं था। पैरके अंगूठे भी एक ही तरहके थे। इसलिए इन संथालोमें सूक्ष्म हास्य और विनोद मुझे दिखाई न देते, तो मै उनको दबी हुई जाति ही मान लेता। किसी खास गुणके कारण अगर ये लोग बचे हैं तो वह उनका संगीत और नृत्यमे प्रकट होनेवाला जीवनानंद ही है। जापानी लोगोंके बारेमे कहा जाता है कि चाहे कितनी ही बडी आफत क्यों न आये, जापानी हंसता ही रहेगा। इसमे कोई कृत्रिम शिष्टाचार नही है। परिस्थिति चाहे कितनी ही मुश्किल क्यो न हो, जापानी अपने आत्म-विश्वाससे कभी टस-से-मस नहीं होगा। उसे मालूम है कि उसका व्यक्तित्व संयोगोंमे ही घटा-बढा है, और समय आने पर अपनेमें संयोगोंको परास्त करनेकी ताकत भी है। ये संथाल भी ऐसे ही आत्मविश्वासी मालूम होते है। संभव है कि यह आत्मविश्वास भी न हो, लेकिन संयोगोंका बालोचित अज्ञान हो। ईश्वर जिसे महत्त्व देनेकी इच्छा रखता है, बडा बनाना चाहता है उसे उसके प्रतिकूल संयोगों का पूरा ज्ञान होने नही देता। यह संरक्षक अज्ञान (protective ignorance) अगर न होता, तो असहाय और अनाथ बच्चे कभी बडे न हो पाते और अनंत आस मानका विस्तार देखकर ही ये आदिम-निवासी कल्पनाके बोझसे ही दब जाते।

क्या संथाल सचमुच इस देशके आदिम निवासी (aborigins) है? या कोई आर्यवंशी क्षत्रिय हैं, जो लडाईमे हारकर अपनी आजादीकी रक्षा करनेके लिए दुनियाकी सभ्यताके साथ असहयोग करके हमेशाके लिए वनचर बन गये। असहयोगका शस्त्र बहुत ही खतरनाक है। प्रतिकूल संयोगों पर विजय पानेके लिए उसका निश्चयपूर्वक उपयोग किया जाय, और जबतक असहयोग जारी रहे, तब-तक प्रतिकारका कार्यक्रम जोरोसे चालू रखा जाय, तो ठीक है; वरना अकर्मण्य असहयोग आत्मघाती ही सिद्ध होगा। संभव है कि इनलोगोने शहरो और देहातों-की संस्कृतिके साथ असहयोग करके अरण्यवास पसंद किया हो, और आहिस्ता-आहिस्ता असल वैभव और अपनी पराजय दोनों भूल गये हो।

या तो ये लोग सचमुच इस देशके आदिम निवासी है और अपनी अरण्य-संस्कृतिकी रक्षा करते हुए नागरिक और ग्राम्य-संस्कृतिके साथ असमान युद्ध लड़ते चले आये हैं।

इनकी जीवन-कला बहुत ही पुरानी क्यो न हो, लेकिन उसमें एक प्रकारकी संस्कारिता अवश्य है। उनके हरएक अंगमें एक राग है, हालाकि कपड़े, बाजार,

सिक्का संग्रह, शराफी, लेखनकला, स्थापत्य और वास्तु-निर्माण, नगर-रचना और समाज-व्यवस्था वगैरह सभ्य संस्कृतिके किसी भी अंगके साथ एकरूपता अबतक नहीं हुई। फिर भी, कलियुगके असरसे वे लोग मुक्त नही हैं। जब हिन्दू-राज था, तब ये लोग हिंदुओंके संस्कारोंमे रंग गये। आजकल आधुनिक सभ्यताका वायुमंडल जर्मन गेसकी तरह सबको अकुला रहा है। उससे भी ये लोग नही बच सकेंगे। वे खुद भी इस बातको आहिस्ता-आहिस्ता स्वीकार करने लगे हैं। और, अगर हम जीनेकी इच्छा रखते हैं, तो हमें चाहिए कि हम उनको अपने जैसे बना ले। इसके सिवाय कोई चारा ही नही।

सुबह उठकर हमने अपनी यात्रा शुरू की और पहला मुकाम परिघाडीह (परिघाकी टेकरी) हुआ। 'परिघा' संथालोकी एक जाति है। उसीसे इस गांवका नाम पड़ा है। 'डीह' मानी ऊंची जगह। जैसे 'गिरिडीह', 'हिन्दूडीह' 'मंगलडीह', वगैरह। सिंधमें ऐसी जगहको 'दड़ो' कहते हैं। 'मोहन-जो-दड़ो' अब विश्व-विख्यात हो चुका है। जंगलके बाशिन्दे अपने ठहरनेके लिए हमेशा ऊंची जगह पसंद करते हैं और सुधरे हुए लोग चारों ओरके ऊंचे-ऊंचे पहाड़ देखकर बीचकी नीची जगह पसन्द करते हैं। आजके बिहार-प्रांतमे जरासंधके पहले जो गोप लोग रहते थे, उन्होंने पहाडके मध्यमे गिरिव्रज बसाया था; लेकिन जरासंधने चारो ओरसे ऊंचा 'नगैःरक्षित' नगर बसाकर उसका नाम 'राजगृह', रख दिया। संथाल लोग अपने स्वभावके अनुसार ऊंची जगह ही पसंद करते है।

परिघाडीहमें संथाल बच्चोके लिए शाला चलती है। हम उसे देखने गये। शिक्षक भी एक संथाल ही था। हिंदी सीखकर वह अपने जाति-भाइयोको हिन्दी सिखा रहा था। उसे पता नही था कि वह हिंदू-संस्कृतिके एक मिशनरीका काम कर रहा है। बेचारे बच्चे देवनागरी-अक्षर और हिंदी-भाषा लिख रहे थे। गणितने भी उनका पीछा किया था। अदम्य जिजीविषा (जीनेकी इच्छा) उनको यह सब सिखा रही थी। सब बच्चे छोटी-सी शालामे दीवारसे लगकर और एक दूसरोसे सटकर बैठे थे, मानो शहरी संस्कृतिकी दीक्षा ले रहे हों और बाहर एक लड़का हाथमे बासके धनुष-बाण लिये खड़ा था। उस स्वछंच्द बिहारी युवकको देखकर मुझे कुदरतके इन बच्चोंके भूतकालका ख्याल आया और उनके कुदरती जीवनका चित्र मन-ही-मन खीचने लगा। हिमालयसे दक्षिणी लंकातक मेरी देखी हुई अनेक पहाड़ी जातियोका स्मरण हो आया। जिनको शहरमे आनेकी इजाजत नही है, जिनको सुधर हुए लोगोंके सामने अपना मुंह छिपानेकी सजा हमारे पूर्वजोने दी थी और आज भी जो उस सजाको रिवाज समझकर भुगत रहे हैं, उन 'नैयाड़ी' लोगोंको पालाघाटमे मैंने देखा था। उनका स्मरण तो सबसे पहले हुआ। महाराष्ट्रके 'कातोडी' और 'रामोशी', गुजरातके 'कोलचा' और 'भील', कर्णाटकके 'बड्डर' (ओडियर), सौराष्ट्रके 'ओड', कश्मीरके 'गुजर', पंजाबके 'डोम' वगैरह सभी लोग नजरके

सामने खड़े हुए। सिलोनके 'वेड्डा' लोग भी कल्पनामें दिखाई दिये और कालके बहावमे कितनी संस्कृतिया बह गई या दब गईं, इसकी मूक गवाही देने लगे।

चित्त बेचैन हुआ। अगर इन लोगोके पास वाचा होती, तो वे क्या-क्या न कहते और हम लोगोंके खिलाफ क्या-क्या शिकायत न करते! इन सबका तोहमतनामा शायद महाभारतसे भी बड़ा हो जाता।

हृदयकी वेदना या बेचैनी जब वाणीमें व्यक्त होती है, तब दुःखका आवेग कुछ कम होता है, सह्य होता है। इसकेलिए मानव शब्द खोजता रहता है, वाणीकी उपासना करता है। मैं भी शब्द ढूंढ़ने लगा।

इतनेमें याद आया कि इन लोगोंकी प्राचीन स्मृति उनके गीतोंमे जरूर संगृहीत होगी। उनसे अपनी भाषाके गीत गानेको क्यो न कहा जाय?

दुभाषियोंके जरिये मैंने अपनी बात उनके सामने रखी। 'सिरीन' (गीत) शब्द सुनते ही सब युवकोकी आंखें चमक उठी। उनको अपना वातावरण मिल गया। लेकिन, हम जैसे 'दिक्कु' (संथालेतर)के सामने वह क्यो गाने लगे? उनमें और हममे हृदयकी कौन-सी एकता है कि वे हमारे लिए और हमारे सामने गाये? उन्होने लज्जाके कवचका आसरा लिया और गानेसे इनकार कर दिया। बहुत ही आग्रह करने पर उन्होंने एक छोटा-सा गीत सुनाया: 'जंगलमे बहुत-से फूल हैं, उनमे कपासके भी फूल हैं, अपनी पसन्दके फूल चुन लो। नापसंद हो, उन्हे छोड़ दो!' ऐसा कुछ मुग्धभाव उस गीतमे था। आगे चलकर हमने ऐसे ही कई गीत सुने। एकका भाव था: 'मेरे बहुत-से भाई है, लेकिन उनमेसे एकको कोई ले गया है। बहुतसे भाइयोमेसे एक कम हुआ, तो क्या बिगडा? लेकिन, एकके चले जानेसे हम सब बेचैन हैं, हमे चैन नही पड़ता।' कैसा मधुरभाव! प्रेमका कैसा प्रभाव! अगर यह भावना सभी जगह फैल जाय, तो मानव-जातिके सब दुःख मिट जायँ।

हमने शिक्षकसे पूछा, 'क्या ये लोग मुरली बजाते है?' दो-तीन मुरलिया आ गईं। लड़के उन्हें बजानेकी कोशिश करने लगे। एक ही लड़का उसे अच्छी तरहसे बजा सकता था। सथाली गीतका राग तो कानमे गूंजता ही था, इतनेमे मुरलीकी रूहानी आवाज सुनाई दी; और जो भाव जबानी जाहिर नही होते थे, मुरलीकी आवाजसे सहसा जाहिर हुए। संथाल नवजवानोंने मुरली हाथमे ली। उनकी कमरे और गरदनें जरा झुक गईं। और उन्होंने प्राण फूकने शुरू कर दिये। तुरन्त सिंहगढ पर एक दफा मुरली सुनानेवाले उस मालीके लड़केकी मुझे याद हो आई, जिसने अपनी पीठ मेरी ओर फेरकर अजंटाकी गुफाओमे मुरली बजानेवाली परियोंकी तसवीरकी याद दिलाई थी।

मुरलीकी भाषा सीधी-सादी और हृदयको छूनेवाली होती है। मुरली बजने लगी: 'अपनी मूक शांति ही मेरे लिए अच्छी है। मुझे जबरदस्ती क्यों सताते हो? नये दिन आ पहुंचे हैं। चाहे पसंद हो या नापसंद हो, उनका स्वागत किये बगैर कोई

चारा नहीं है। हमने अपनी जिद छोड़ दी है। हमने अपनी आत्माका दम घोंट दिया है। जो होना था, सो हो गया। अब मुझे विदा होने दो, शांत होने दो। मुझे क्यों सताते हो? बोलनेको क्यों मजबूर करते हो?

"मुझसे दूसरा भाव जाहिर नही होनेवाला। आपकी नई-नई चीजें आती हैं, सो सब तो अपना ली। लेकिन उनसे मैं खुश नहीं हूं। पुराने दिन ही अच्छे थे। पुराने जमानेमें समाधान था, कृतार्थता थी। उस वक्तका जीवनानन्द कुछ और ही था, जब कि दूर-दूरकी पहाड़ियों पर मैं अपनी सखियोंसे खड़ी-खड़ी आपसमें बातें करती थी। वह आजादीमे घूमना, पशुओके साथ खेलना और पक्षियोंके साथ 'सिरीन' गाना, अब कहां? उन दिनोंको भूल जानेके लिए आज शराब पी जाती है। उन दिनों जंगलकी हवामे ही मादकना थी और झरनोंके अमृत-जलमें ही नशा था। छोटी-सी लकडी हाथमें लेकर जब हमलोग जमीन खोदते थे, कभी कच्चे, तो कभी भुने हुए शकरकंद बाहर निकालकर खाते थे। उम खुराकमें जो लज्जत थी, जो अमृत था, वह अब कहां? उस जमानेमें एक जून खाना मिल जाता था, तो हमें सिवा नृत्य और गानेके और कोई बात सूझती ही न थी। और, उस वक्तके गीत भी कैसे थे! कुदरत का अवलोकन, प्रेमी हृदयकी जांच और जगके सिरजनहारके भजन, ये हमारे गीत के विषय थे। स्त्री-पुरुषके भेद उन दिनों आजके जितने नही थे। पापने हमारे दिल में प्रवेश नही किया था। हम मस्तीमें गाने थे और गानमें मगन रहते थे। ढोलकी गूंजके माथ हमारा हृदय नाचना था। घंटों तक एक ही तालमे नाचते और बजाते रहने पर भी हम थकते नही थे। और, कभी खाना न मिला, तो हमारा गान-वादन ही हमारे भोजनका स्थान ले लेता था।

'एक दूसरेके गलेमें हाथ डालकर और एक-एक पाव ऊंचा करके हम तालसे नाचने थे। उस वक्त मोर भी पाठ सीखनेकेलिए हमारे साथ रहते थे।

'और उन दिनो हमने अपने विज्ञानका भी कैसा विकास किया था? जहर-भरे बीजोंको दस-दस दफा उबालकर हम खानेके योग्य बनाते थे, और उनसे असाधारण ताकत पाते थे। कहीमे भी काटे वगैर हम पेडोंकी छालें उधेडते थे और कूट-कूटकर उनसे कपड़े बनाते थे। वनस्पति-विद्याका तो हमने ही विकास किया है। आहार, विहार और रोग-परिहार इन तीनोके लिए हमारी वनस्पति-विद्या ही पर्याप्त थी।

'और मेहनतमें जिस बेहद खुशीका हम अनुभव करते थे, उसे व्यक्त करनेकी कला भी हमने विकसित की थी। कैसे हमारे छोटे-छोटे बरतन—मिट्टीके, लकड़ीके या चांदीके! तरह-तरहके तंतु बनाकर जो जाल हम बुनते थे, उसमे कितना आनंद आता था? हममेसे किसीने पाटी और पट्टीकी खोज की हो, तो हम उसे खुशीके साथ स्वीकार करते थे। और, मारे खुशीके खोज करनेवालेके इर्द-गिर्द किस तरह नाचते थे।

'उन दिनों हमारे पास अपनी निजी माल-मिल्कियतका नामोनिशान न था।

जो था, सो सबका था। अपनोंके लिए मुहब्बतका कायदा और दूसरोंके लिए शिकारका कायदा यह हमारी स्मृति थी। आज हम आंखोसे कुदरतका अवलोकन करते हैं। उन दिनो हमारा अवलोकन आंखोंसे तो होता ही था, पैरके तलवोंसे भी होता था। हर तरहकी घासके विभिन्न स्पर्शका आनन्द हम जान सकते थे। उन दिनों कभी-कभी अकाल पडता था। लेकिन, आज तो हमारे नसीबमें अखंड दुष्काल लिखा है।

'जब पुरानी बातें याद आती है, तब रहा नही जाता। पुराने जीवनमें कठिनाइया थी, फाके करने पड़ते थे, हर तरहका दु ख भी था। लेकिन उन दिनो 'जीवन में जीवन' था, आज वह नही रहा। अब कैसा गाना ? किसके लिए गाना ? आज तो मौन ही अच्छा है। जहा आजादी नही है, वहाका गाना भी पवित्र नही होता।

'लेकिन आस्था कहती है कि गाओ; श्रद्धा कहती है कि श्मशानका मौन धारण न करो। नये दिन आये हैं, उन्हे स्वीकार करके ही प्राचीन परिस्थितिका आनंद पा सकोगे। भूतकाल गया, सो गया। लेकिन, भूतकाल ही वर्तमानके हाथमे भविष्यरूपी बालक सुपुर्द कर गया है। उस बालकके हित गीत गाओ। अपनी प्राचीन दीक्षा उस बालकको दो, जिससे वह अपना स्वधर्म समझ सके; और संस्कृतिका निर्माण कर सके। जबतक यह सुर गूंजता रहेगा, तबतक संथालोके लिए निराशा हो ही नही सकती। सगीत ही हमारा विरसा है, बपौती है, संगीत ही हमारा प्राण है। उसकी मारफत ही हम आत्मपरिचय प्राप्त करेंगे और दुनियाको बतायेंगे कि हमारी जीवन-दृष्टि भी सारी दुनियाके लिए ग्राह्य है।"

मुरलीके सुर बद हो गये और मेरे हृदयके सुर जाग उठे। हम मोटरमे बैठकर घंटोतक दौडते रह। पहाडिया देखी, नदिया लाघी, पेडो और बादलोके दर्शन किये, सूर्यास्तको प्रणाम किया, बरसातके स्वागतको स्वीकार किया, लेकिन हृदयमे एक ही भाव भरा था। नयेको जरूर स्वीकार करेंगे लेकिन हृदय तो पीछे ही दौडता था। वही सब तरहकी कृतार्थता थी। वह आगे नही मिलनेवाली। भूत और भविष्यको एक करके जब वर्त्तमानको परास्त किया जायगा, तभी यह गीत शांत होगा। तबतक तो संथालोकी यह सनातन मुरली बजती ही रहेगी।

[सितम्बर १९५३ ई०]

४४. अजंटा

फैजपुर-काग्रेसका अधिवेशन खत्म होते ही लोग अजटाकी ओर दौड़ लगायेंगे और उस भीडमे हम कुछ नही देख सकेंगे, इस भयमे मैंने पक्का विचार करके निश्चय किया कि काग्रेसके भंगी-काममे शामिल होनेके पहले ही शांत एकांतमें अजंटाकी गुफाएं देख लेनी चाहिए। अपना संकल्प जाहिर कर देना मेरा स्वभाव

ही है। इसलिए, मैंने वह चि० अनसूयासे कहा। उसने अपने पतिदेवसे कहा और बात षट्कर्णी हो गई। हमारे पुरखे कह गये हैं: 'होंठसे बाहर सो कोटसे बाहर' यह गलत नहीं है। गीताने तो 'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्' कहकर पुराने अनुभव पर मुहर लगाई है।

आखिर पांच-सात चुनिंदे लोगोंके साथ जाना तय हुआ। लोभने मुझे समझाया कि अब प्रवासमें मुझको कोई तकलीफ नहीं होगी। साथके लोग सब संभालेंगे। हम तो बिलकुल दामादकी तरह जायेंगे। लेकिन, महिलाश्रमकी सौ० कमलाताई लेले चित्रकलाकी अध्यापिका हैं, उनको और उनकी दो प्रिय विद्यार्थिनियोंको साथ न लूं, यह कैसे हो सकता था? लोभने कहा: '१२ से २० तक संख्या होगी, तो जलगाव या भुसावलसे एक पूरा तैलवाहन (मोटर-बस) किराये पर ले सकेंगे।' मैंने कमलाताईको सम्मति दे दी। इतनेमें फैजपुरके भंगी-काममें हाथ बंटानेके लिए महिलाश्रमकी १० लड़कियां तैयार हुईं। छुट्टीके सुखकी सैरका मजा छोड़कर ये लड़कियां राष्ट्रकार्य करनेको जानेवाली हैं, इसलिए उनको कुछ नहीं तो अजंटाकी गुफाएं तो दिखानी ही चाहिए, ऐसा तय किया। लोभके साथ धर्म भी कान कुतरने लगा। भंगी-काम करनेवाली मंडली तो सहधर्मी ही न? उनको छोड़ दूं, तो इतना कैवल्यानंद पेटमें कैसे रह सकता है? 'इष्टैः सह भुज्यताम्!'

ऐसा करते-करते महिलाश्रमकी पांच-पचास काबरें[1] साथ आनेको तैयार हुईं। मानों महिलाश्रमका सारा मधुकोष ही निकल पड़ा। साठ लोगोंके लिए एक डिब्बा (कंपार्टमेंट) रिजर्व करवाया और भुसावलमें चार मोटर-बसें रोकी गईं।

हम अजंटा पहुंचे, तो मालूम हुआ कि निजामशाहीके किसी अमलदारकी सिफारिश लेकर तीन सौ लोग उसी दिन अजंटा देखनेको आनेवाले हैं! उनके मुकाबलेमें हमारी टोली बिलकुल ही घरेलू लगने लगी। कांग्रेसके बाद भी इतनी भीड़ हमारी किस्मतमें न बदी होती।

हम बड़े तड़के भुसावल पहुंचे। पहलेसे अंकित की हुई मोटरोंके जरिये हम लोगोंने जामनेर होकर अजंटाकी ओर दौड़ लगाई।

सत्रह साल पहले नागपुरकी कांग्रेसके बाद हम अजंटाकी गुफा देखनेको गये थे। उस वक्त मैंने एक विचार जुगतराम भाईको बताया था। कोई विचार लिख डाला या किसीसे कह दिया, तो वह मेरे दिमागमेंसे उड़ जाता है। इस विचारका भी वैसा ही हुआ था लेकिन, उस दिन अजंटा पहुंचते ही ठीक वही विचार उसी जगह इमली परके भूतकी तरह 'हाउ' करता हुआ सामने आकर खड़ा हो गया।

बौद्ध साधुओंको यही जगह क्यों सूझी, यही जगह क्यों पसंद आई?

१. एक चिड़िया जो इकट्ठी होने पर बहुत बोलती है। संस्कृतमें उसे 'कर्बुर' कहते हैं। महिलाएं भी इकट्ठी होती हैं तब बहुत बोलती हैं।

अजंटाका रास्ता मानों ध्यानका विशुद्धि-मार्ग। जुदा-जुदा मोड़ लेकर, बहुत गहरे अंदर उतरकर आखिर रहस्य क्या है, वह ढूंढ़ निकालनेका पुरुषार्थ। गौ-पालक गोपालोंको, भेड़-बकरियां रखनेवाले अहीरोंको, इन्द्रियोंकी रखवाली करने-वाले वानप्रस्थोंको और अखंड परिभ्रमण करनेवाले परिव्राजकोंको यह जिज्ञासा जरूर होगी कि यह जीवन-प्रवाह, यह चैतन्य-प्रवाह कहासे आता है। जिज्ञासासे कि ये संकल्प-विकल्प हृदयमे कैसे उठते और उछलते हैं, और बिलकुल सूख गये हों, फिर भी आशाकी थोड़ी-सी वृष्टि होते ही उनमे फिर कैसे बाढ़ आती है ? उनके मूलमे गये बगैर चारा ही नही है, ऐसा कहते-कहते कई एक साधक-वीर एकांत खोजने निकले। उन्होंने घर छोड़ा, बार छोडा, माया, ममता सब कुछ छोडा। धन-दौलत, नात-जात, सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरव तो छूटे ही, लेकिन उन्होंने अपने प्रिय विषय, अपने विनोद और अपनी रसिकता भी मनको मजबूत करके छोडी थी। साहित्य, संगीत और कला अब उनको खट्टे, कसैले और खारे लगते थे। मुंहमे मिट्टी या राख पडते ही जैसे हम थू-थू करके थूक देते है, वैसे ही उनको पंचेन्द्रियोंके विषयोंके संबंधमे विरक्ति होने लगी थी। उन्होने साधक-वीर बनना तय किया था। 'अरतिर्जनसंसदि' रटते-रटते 'शहर-समाज'को छोडकर वे देहातमे गये। वहा भी जब ऊब गये, तो विजनमे गये। स्वय निम्नगा नदी उनको उत्तेजना देती थी : 'और आगे चलो, और अंदर बढो, गहरे पैठो, निश्चित स्थान तक पहुंचो नही, तबतक रुकना ही नही।' और, हमारे यह नदी-शिष्य जीवनके संपूर्ण उत्साहसे गिरि गह्वरमे प्रवेश करने लगे। आखिर दोनो ओरकी टेकरियां यकायक नजदीक आ गईं और दीवारकी तरह खड़ी रही। बेचारी नदीको तकलीफ नही होनी चाहिए—यह सोचकर उन्होने बीचमे थोडी जगह रखी सही। अपनी यह भयकर ऊंचाई देखनेवाले मनुष्यके लिए खडे रहने-भरके लिए भी जो जगह न रखी जाय, तो भीडमे क्या फायदा ?

लेकिन, यह संकरी गली सीधी हो तो भी नही चलता। दृष्टिको एक तरफसे दूर तक देखनेका अवकाश मिलेगा तो भी मन कहेगा : 'इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।' मनको इतना ज्यादा आराम क्यों देना ? इसीलिए, इन चट्टानोंने भी सांप जैसा टेढा-मेढा रास्ता धारण करके इस गूढ जगहको भी और निगूढ बनाया है। और, जहा इन चट्टानोंकी घाटी पूरी होती है। वहां उनकी यह पार्वती कन्या महादेवका पाणिग्रहण करनेके लिए मानो सप्तपदीकी विधि करती हो। इस तरह ऊंचेसे सात जीनों पर सात हौज भरती हुई उतरती है।

यहां तक आ पहुंचे, अब आगे क्या ?

आगे-पीछेकी चट्टानें प्रतिध्वनि करके पूछती हैं : 'आगे क्या ?'

अब तो इन चट्टानों पर ही या तो सर टकराना—नहीं तो चल देना। इन चट्टानोंने ही यदि उस परम रहस्यको छिपा रखा हो, तो उसका भी वध करना

चाहिए, तै हुआ। साधक वीरोंने इन चट्टानोंको कुरेदनेकी शुरूआत की। बहुत जगह हुई। आश्रय, शांति और प्रकाश तीनों मिले। रोज उगनेवाला और बुद्धिको स्फूर्ति देनेवाला चैतन्य-सूर्य सुबहकी दस किरणें दिये बगैर कभी नही रहेगा। नीचे बहता जीवन, सामने चढ़ता प्रकाश, ऊपर फैला हुआ अनंत आकाश और गुफामें अखड शांति, इससे ज्यादा और क्या चाहिए? साधकोंने ध्यान किया। सब कुछ छोड़कर वे लोग यहां आये थे, लेकिन एक बात छोड़ना वे भूल गये। गफलतसे हो, आसक्ति से हो या दयासे हो, लेकिन आते समय वे चंचल, किन्तु स्नेहमय मन अपने साथ लाये थे। और, मन तो बड़ा जादूगर है! उसकी स्मरण-रूपी थैलीमे और विस्मरण-रूपी गुफामें न मालूम क्या-क्या चीजें भरी रहती है। गुफाके अंदरका आकाश और अवकाश देखते ही उसने विश्वामित्रकी तरह एक गूजती सृष्टिका बात-बातमें निर्माण करना शुरू किया। इतनेमें तो इस गुफामे जुदा-जुदा वर्णके राजपुत्र आय। उनको अस्वस्थ करनेवाली राजकन्याएं आई। हाथी, घोड़ा, दास-दासी सभी कुछ आये। और 'हम तो आपकी ही जातिके' खासे हकपूर्वक कहते-कहते पेड़ो पर रहनेवाले बंदर आये। देश-परदेशके वीर और वकील नजराना लेकर आये। चारण और दूत शुभाशुभ समाचार लेकर आये।

और 'साधनामें हम आपकी मददगार होंगी' ऐसा आश्वासन देती हुई विविध जातक कथाएं आई; और सब-की-सब चित्रबद्ध हुई।

पूर्वपरिचित मृष्टि इस तरह अकल्पित रीतिसे कल्पनाकाय धारण करके खड़ी रही, तो फिर पूर्वकी रसिकता और कलाकुशलता थोडी ही सोते हुए रहनेवाली थी?

नरम मक्खनके जैसा कीचड़ तैयार हुआ। धानके छिलकोंसे वह मजबूत और मुलायम हुआ। समुद्रकी सीपिया भर-भरके रंग आये। गिलहरियोंकी गुच्छेदार पूछोंकी बनी हुई छोटी-बड़ी कूचियां आई। आहिस्ता-आहिस्ता गुफाकी छत पर कमल खिलने लगे। उनमे कलहस विहार करने लगे। बड़े-बड़े गजराज ताड़के पत्ते तोड़कर हथिनियोको पंखा झलने लगे।

और, मूर्त्तिकारके हाथ फिर स्वस्थ कैसे बैठे? वह बोले: हम कुरेद-कुरेदकर इन चट्टानोंको मोम बना देगे। मुख पर जिस किसी भावकी जरूरत होगी, वह इन निर्जीव पत्थरोको बताना ही पड़ेगा। जड़ और चेतनका भेद ही मिथ्या है। जीवित लोग बिलकुल पत्थरोंकी तरह अचल होकर ध्यान धरनेके लिए यहां आये, और उन्होंने आखिर इस अचलेश्वरके पेटमें घुसकर ठोस पत्थरोंमेसे मानों बिलकुल जीवित मनुष्य तैयार किये। ब्रह्मदेवके बनाये हुए मनुष्योंसे भव्य और इसीलिए दिव्य।

अपर ब्रह्मा जैसे वे कलाधर कालके पेटमें गायब हो गये। और, उनकी वह कलाकृतियां कालके साथ झगड़ती एकाध हाथ, एकाध पैर आंख या ओंठका बलि-दान देकर आज भी यहां विराजमान है। कैसी यह विधिकी विचित्रता!

इन गुफाओंमे फैलाया हुआ यह कला-बिलास यहांके निर्बाणकामी साधुओं-

की साधनाको साधक बना होगा या बाधक ? कोई एक प्रणयी राजा अपनी प्रमद्वरा रानीको मदिराका प्याला लेनेको आग्रह करता है, और वह मुहसे इनकार करते हुए हाथसे प्यालेको नजदीक खीचती है। ऐसा दृश्य देखकर कौन-से समाधि-मार्गके अनुकूल वातावरण तैयार हुआ होगा ? कोई राजकन्या मौतसे लड़ रही ह और उसकी दासी खिन्न मनसे उसकी आखिरी शुश्रूषा करती है। ऐसे करुण वातावरण-के दृश्य देखकर साधकोंको वैराग्य-सिद्धि होनेवाली है ? या तो वे मृत्युजय बनेंगे ?

हम सुनते और देखते है कि किसी दु:साध्य रोगके लिए औषध न मिले, तो आजकलके धनवन्तरि उसी रोगकी पीब निकालकर उसे एमिडमे डालकर मार डालते हैं, और फिर वही मरी हुई पीब—रोग-जंतुके मुर्दों —को शरीरमे दाखिल करके उसी रोगका सौम्य स्वरूप रोगीके शरीरमे पैदा करते है। मारी हुई पीबके कारण प्राणा-तक रोग पैदा नही होता। बिलकुल सौम्यतासे शरीरमे इस तरह रोग पैदा करनेसे शरीरके अदरकी कुदरती शक्ति उसका प्रतिकार करने लगती है। और, यह असम युद्ध शरीरके अदरकी प्राणशक्तिके काबूमे होनेके कारण उसे धीमे-धीमे रोग पर विजय मिलने लगती है। दूसरे ढगस देखे, तो यह भी कह सकते है कि शरीर काफी मात्रामे जड होने लगता हे और उस पर रोगका असर नही होता। और, आखिर यह जडता इतनी बढ जाती है कि रोगके जीवित जतु हमला करने आये, तो भी शरीर पर उनका कोई खास असर नही होता।

विषय-वासना पर काबू पाना हो, तो पहले अपने-आपको विकारी परिस्थिति से दूर रखना चाहिए। लेकिन, इतना ही काफी नही ह। कई दफा प्रत्यक्ष सह-वासकी अपेक्षा विरहावस्थामे होनेवाला ध्यान ज्यादा आकर्षक, ज्यादा काव्यमय और इसीलिए ज्यादा भयावह भी होता है। अब उसे टालनेके लिए विषयोंका प्रत्यक्ष सहवास होनेके मानी है साधकका आध्यात्मिक आत्महत्या ही करना।

ऐसी स्थितिमें जिम दुनियाको छोडकर हम आये, उसका प्रतिबिब-मात्र अपने इर्द-गिर्द फैला दें, तो प्रत्यक्ष दर्शन नही होगा और विरहसे पैदा होनेवाला विकृत ध्यान भी रुकेगा। चित्रस्थ दुनिया सच्ची दुनियाका परिचय कायम रखती है फिर भी वह हमेशा बाध नही रख सकती। रोज यह सब देखते रहना, और यह सब नश्वर है, दुख:पूर्ण है,उनका उपशम ही केवल मंगलमय है, ऐसी मनकी समझ दृढ करते रहना, इस तरहकी कोई साधना तो इन भिक्षुकोने नही की होगी ? यह साधना परि-णामत: कैसी सिद्ध हुई ? काश ! वे लोग अपने पीछे उसका अनुभव छोड गये होते !

एक ही आदमी, टोली या संघने इन गुफाओंको झटपट तैयार किया, ऐसा नही है। ई० स० पूर्व २०० सालके आसपास यहांकी कई एक गुफाए तैयार की गई ! उसके पहले यहा साधुओंकी कितनी पीढ़िया हो गई, यह जाननेका कोई रास्ता नही है। हालमे ये गुफाएं जिस तरह निरुपयोगी पड़ी है, उसी तरह प्राचीन कालमें भी निरुपयोगी पड़ी हों, तो उसमे कोई आश्चर्यकी बात नही है। थोड़े समय

के बाद फिर दूसरी आबादी बसी। उस पीढ़ीने और पांच-सात गुफाएं बना डालीं। उसको भी कलामें कमी महसूस हुई। इस तरह यह ज्वार-भाटाका क्रम करीब हजार साल तक चला। विन्ध्याद्रिकी कमर पर विराजमान ऐसी ये गुफाएं आज पास-पास बैठी हुई बहनों जैसी दिखाई देती हैं। लेकिन, कालानुक्रमसे देखें, तो बीचकी गुफाएं आसपासकी गुफाओंकी दादी हैं। और, इन गुफाओंके चित्र भी चित्रकारोंकी कितनी पीढियोंके प्रतिबिंब हैं, यह कौन कह सकता है?

चित्रकलाके जो कुछ नमूने आज बचे हैं, उन्हें देखनेसे लगता है कि यहां सबमें कलम एक ही है। शैलीमें थोडा-थोड़ा फर्क मालूम होता है, लेकिन उनमें भी तीन-चार शैलियोंसे अधिक प्रकार नही दिखाई देते। वहांके शिलालेखों परसे यह तो मालूम होता है कि इन गुफाओंकी शुरूआत कब हुई, लेकिन, गुफाओके अंदरकी चित्रकलाकी शुरूआत कब हुई, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। पर, जो चित्र-शैली अजंटामें है, वही सिंदियाके राजमे आई हुई 'बाघ' नामकी गुफामें है। वही शैली लंकाद्वीपमे आई हुई सिगीरी (श्रीगिरि)में प्रकट हुई है और उसीकी एक शाखा मध्य एशियाके तिब्बती मंदिरोंमे पहुची है। दुनियामें कौशल सदा दुर्लभ ही होगा। एक जगह साधना होते ही उसकी प्रतिध्वनि दुनियाके बिलकुल दूसरे छोर तक पहुचेगी। तालाबमें एक पत्थर फेंककर देखिए, जो तरंगमाला पैदा होगी, वह वर्तुलोंको फैलाती-फैलाती ठीक तालाबके किनारे तक पहुंचेगी। बोधिवृक्षके नीचे करबैठ किया हुआ सकल्प और उससे मिला हुआ मार्ग अगर ढाई हजार साल और पचीस हजार मील तक पहुच सकता है, तो अजटा की गुफाओमें खिली हुई चित्रकला दक्षिणके द्वीप-द्वीपको लेकर सारे जंबुद्वीपमें फैल जाय, तो उसमें आश्चर्य ही क्या?

अजंटाकी चित्रकला स्थलकालका परदा चीरकर ठेठ यहा तक आ पहुंची। लेकिन, वहाकी साधनाकी चित्रकलाका क्या हुआ? वह अधिक सूक्ष्म होनेके कारण अधिक स्थायी, लगभग अमर होनी चाहिए थी। लेकिन शायद इन गुफाओंमें ऐसे साधना संग्राम और ऐसे मार-युद्ध हुए ही नही होगे। यहां उपासकोके बजाय उनका अनुकरण करनेवाले विस्तारप्रिय पुजारी ही इकट्ठा हुए होगे। मुझे लगता है कि अजंटा उपासकोंकी तपोभूमि नही होगी, और पुजारियोकी उत्सव-भूमि भी नही होगी। सर्वविद्याकलासंपन्न ऐसे कुशल विद्वान् और अध्यापन-धुरीण ऐसे योगी लोग ही यहां रहते होंगे। और अजंटा एक ऐहिक और पारलौकिक विद्याओंका विद्यापीठ ही होगा। नहीं तो अव्याहत चलनेवाली परम्पराके सिवा एक हजार वर्ष तक ये गुफाएं गूंजती कैसे रहतीं।

लेकिन, यह सब बादमें गया कहां? हजार वर्षकी यह परंपरा नामशेष हो गई, इतना भी आज नहीं कह सकते। क्योंकि, उस परंपराका आज नाम भी कहां बाकी है?

जिन्होंने ये गुफाएं कुतरवाईं, उन्होंने अपना संकल्प यहां लिखकर रखा है। ज्ञानकी उपासनाके लिए ये गुफाएं तैयार करवाईं। इस लयनदानके पुण्य प्रतापसे

दाताके मां-बापसे लेकर अखिल विश्वके अशेष सत्त्व तक सबका कल्याण हो, सबको उच्च गति प्राप्त हो।

यह संकल्प कितना उदात्त है। यहा जाति नही है, वर्ण नही है, पंथ और देश नही है, स्त्री-पुरुष जैसा भेद नही है। फिर आप-पर-भाव हो, तो कहासे हो ?

जिन्होने यह धर्मकार्य शुरू किया, वह जानते होगे कि यह सब अनन्त काल तक टिकनेवाला नही है। यहाकी वह सब साधना कहा गई ? उसका नाश कैसे हुआ ? अन्दरसे सडे बिना बाहरसे टूट जाना आसान नही होता। विजयनगरके साम्राज्य या मरहठोके स्वराजका दृष्टात ले, दोनोमेसे एक भी बिना सडे नही गिरा। कौन कह सकता है कि इस बौद्ध प्रयोगका अन्त किस तरह आया ? सब इतिहास-सशोधकोके सामने यह प्रश्न पड़ा है। किसीको भी इसका उत्तर नही मिला। अजन्टाकी इन गुफाओके बारेमे इतिहास अधिक कुछ कह नही सकता। लेकिन ये गुफाए प्राचीन कालके सामाजिक इतिहास पर यथेष्ट प्रकाश डाल मकती है। ठेठ कोनेमे—अंधेरेमे ये चित्र रहे, इसीलिए उनमे भूतकाल पर प्रकाश डालनेकी शक्ति आई।

शाकुतलका दुष्यन्त मनका समाधान करनेके लिए शकुतलाका लावण्य रेखान्वित करता था। मेघदूतमे यज्ञपत्नी भी अपने प्रवासी भर्ताका भावगम्य चित्र अकित करती थी। राजकन्या उषाके लिए उसकी सखी चित्रलेखाने बहुत-मे राजपुत्रोके चित्र खीचकर बताये; क्योकि उषाको स्वप्नमे दिखा हुआ राजपुत्र कौन था, यह तय करना था।

अनिरुद्धका चित्र देखतेही उषाको सकोच हुआ। वह शरमा गई। ऐसा वर्णन है। उत्तररामचरितमे श्रीराम सीताको वनवासके रम्य चित्र बताकर पूर्वस्मृति ताजी करते है, ऐसा वर्णन आता है, और चित्र देखकर सीताको ऐसा महसूस होता है, मानो वह फिर बनवासमे गई हो। इन सब प्रसगोको पढते समय मुझे लगता था कि यह सब अतिशयोक्ति हैं। हमारे पुरखोको कल्पनाके द्वारा इतने हू-ब-हू चित्र खीचना आता ही नही होगा। अतिशयोक्ति करना कवियोके लिए आसान है। रामविजय, पाडवप्रताप वगैरह किताबोमे छपे चित्रोंको देखकर और मन्दिरोमे दीवारो पर देवी-देवताओके चित्र देखकर मेरा ऊपरका अभिप्राय दृढ हुआ था। मूर्तियो और राजपूत-शैलीके चित्रोको देखकर भी अभिप्राय बदलनेका मन नही हुआ था। लेकिन, अजंटाके चित्र देखनेके बाद यकीन हुआ कि हमारे देशके चित्रकार चित्रमे सिर्फ प्राण पूरना ही नही जानते थे, बल्कि हू-ब-हू चेहरे, सूक्ष्म गति, सूक्ष्म भावदर्शन, तरह-तरहके लोगोके हावभाव, राजमहलके बगीचोके और जंगलके बिलकुल जीवित दृश्य खड़े करना भी जानते थे। हाथी, गाय, बछडे, पशु-पक्षी, बराबर उठाव लाकर ऐसी बहार जमा देते हैं कि तन्मय हुए मनुष्योको कहना पड़ता है कि अरे, यह तो तसवीरें हैं, इस तरह दीवाने क्यों हो जाते हो ?

खानदेशके गजेटियरमें इन सब गुफाओंके सारे चित्रोंके प्रसंगोंका और व्यक्तियोंके रूपोंका ऐसा सविस्तर वर्णन दियाहै कि पढ़ते समय अजंटाके दीवारों परका सारा महाभारत फिर नजरके सामने खड़ा होता है। शाक्यमुनि, बोधिसत्त्व, शुद्धोदन राजा, माता महामाया, मौसी महाप्रजापति, गोपा, यशोधरा, छोटा राहुल, सब यहां हैं। राजा पुलकेशीके दरबारमें इरानी वकील अपनी फौजके साथ आये हैं। छदंत हाथी अपनी सूड़के द्वारा अपने छहों दांत उखाड़कर लोभी पारधिको अर्पण करता है, और उन दांतोंको देखकर रानी—जो पूर्वजन्ममें उसकी स्त्री थी—पश्चातापमें डूब जाती है। एक जगह क्रुद्ध राजा पैर पर लता की तरह मुड़ी हुई दासीको दण्ड देते हैं, तो दूसरी ओर भिक्षुक इच्छा-भोजन मिलनेसे संतुष्ट दिखाई देते हैं। हिन्दुस्तानका प्रजाकीय इतिहास जब तैयार होगा, तब इन गुफाओंके प्रसंग उस वक्तका सामाजिक चित्र खीचनेके लिए इस्तेमाल होंगे। अजंटामें यह जुदा-जुदा प्रसंग देखते-देखते हम एक बात भूल जाते हैं कि चित्रकारोंने ये सब प्रसंग कैसी खूबीसे एक-दूसरेमें मिला दिये है! एक चित्रकी पार्श्वभूमि दूसरे चित्रकी पुरोभूमिके तौर काम आती है। आंखको कही भी असंगति नही मालूम होती! महाभारतकारको जिस तरह युद्धके वर्णन और सात्त्विक संवाद, स्त्रियोंके नाम और तीर्थोंके वर्णन, मुत्सद्दियोंकी गुफ्तगू (सलाह-मशविरा) और कमलोंकी चोरी करनेवाले ऋषिका विनोद, इन सबकी संसृष्टि करना आता है, उसी तरह इन गुफाओंके अंधकारमें तत्कालीन जीवन पर रोशनी डालनेवाले चित्रकारोंको जीवनका सफलतापूर्वक दर्शन कराना आता था। भारत-रचना, भारतीयोंकी नगर-रचना और गिरिगह्वरमें की यह बौद्धकालीन रचना एक ही संस्कृतिके मानसका विलास है।

प्राचीन संस्कृतिके ऐसे अवशेष तो मिले। अब उनका क्या करना, इसके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। कइयोंका कहना है कि पुराना जो टूट-फूट गया हो, झांखा पड़ गया हो, उसकी मरम्मत करके उसे बिलकुल पहलेके जैसा बना देना। मूर्तिका एकाध हाथ टूट गया हो, तो कोई 'सर्जन' मूर्तिकारको बुलाकर वह हाथ ठीक बनवा लेना। मालूम न हो, इस तरह सीमेंटकी मरहम-पट्टी करना और कुछ भी त्रुटि नही रहने देना।

लाहौरके एक संग्रहस्थानमे एक मूर्तिकी सर्जरी इसी तरह बहुत खूबीसे की गई है। विभिन्न समयोंमें और विभिन्न स्थानोंसे प्राप्त किसी मूर्तिके कई अवयव एक ही मूर्तिके होने चाहिए, ऐसा अनुमानसे समझकर इन सबको इकट्ठा करके छिन्न-भिन्न हुई एक अति प्राचीन सुन्दर मूर्तिको वहां पूर्ण रूप दिया गया है। उस मूर्तिने खुदको जीवनदान देनेवाले सर्जनसे आभारपूर्वक कहा ही होगा कि इस उपकारका बदला किस तरह दूं। मरकर तेरे पेटसे जन्म लेनेकी इच्छा होती है। पर, पेटसे पत्थर जन्म ले, यह उस मूर्तिकारको कितना भाया होगा, यह अलग सवाल है।

हम आबू पर गये थे। वहां हमने देखा था कि वहांके दिलवाड़ाके मंदिरमें अगर कुछ टूट-फूट होती है, तो जयपुरी अथवा जोधपुरी संगमरमरके पत्थर मंगवाकर कुशल कारीगरोंसे तुरन्त वह ठीक करवा ली जाती है। वहां खास इसी कामके लिए कारीगरोंको सदाके लिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी रखा गया है।

लेकिन, इतनी सावधानी और इतनी कुशलता सब जगह देखनेमें नहीं आती। सौराष्ट्रमें पालीताणाके पास शेत्रुंजो पर्वत पर जैन लोगोंके मंदिरोंका एक बड़ा वन है। वहां मन्दिरोंमे एकाध मूर्तिके नाक कान टूट गये, तो संगमरमरकी मूर्तिको सीमेंटके नाक-कान लगा देते है और वह भी इतने बेडौल कि अपनी लावण्यमय कृतिकी यह विडंबना देखकर मूर्तिकारको दुबारा मरना ही पड़े। नई पीढ़ीके हाथसे होते इस प्रकारके बेवकूफी-भरे सुधारोंमें कैसी आफत रही है, उसे देखकर दुनियाके अगुओंने अभी तय किया है कि प्राचीन खंडहरोंका नवीनीकरण (या अपूर्णकी पूर्ति) करनेके बदले जो है, उसीका संरक्षण करना ही योग्य है। इस न्यायके मुताबिक अजटाकी बची हुई चित्रकलाका अभी बडी कुशलतापूर्वक संरक्षण किया गया है। नये कारीगरोके पास खंडित चित्रोंको दुरुस्त करवानेको आज कोई कोशिश करे, तो उसे हजाम ठहराकर हकाल दिया जायगा।

अजटाकी गुफाओके चित्रोंका केवल संरक्षण करना ही योग्य है, लेकिन आजके चित्रकार अपनी अनुकृतिमे पूर्णता लानेका प्रयत्न करें, तो उसमे कुछ अयोग्य नही है। किन्तु गलतफहमी न हो, इसलिए उनको चाहिए कि वे वैसा स्पष्ट उल्लेख करें।

अजंटाकी चित्रकला जबतक आधुनिकोकी दृष्टिके बाहर थी, तबतक खूब सुरक्षित थी। अंदर आराम करनेवाले शेर दीवारो परके प्लास्टर पर नाखून घिसे, तो भी बिलकुल नीचेके भागमे ही खरोच सके होगे। शायद पहलेके भिखारी ही यहा आश्रयके लिए रहे होंगे। चमगादड़ोंने अपना आश्रयस्थान बनाकर और मलोत्सर्ग करके चित्र बिगाड डाले होते, तो भी युक्तिपूर्वक धोकर जैसे थे, वैसे बनाये जा सकते थे। लेकिन कोई गांजाखोर वैरागी अन्दर धूनी लगाकर बैठा और परिणामतः सब चित्र धुएंमे धूलमें मिले। बारिशकी गीली (तर) हवासे भीगे हुए चित्रोंका प्लास्टर धूनीकी गरमीसे यकायक सूख जाता है और उसके पापड-जैसे पपड़े होकर धीरे-धीरे गिरने लगते हैं। इस तरह इन गुफाओका बहुत नुकसान हुआ है। किसी जगह अर्धदग्ध योरोपियन चित्रकारोंने चित्रों पर वार्निश लगाकर उन्हें काले काजल जैसे कर डाले हैं। और, कहा जाता है कि वह योरोपियन मुसाफिर तो छुरी चलाकर जो चित्र हाथ आये, मारेके सारे उठा ले, गये। और, हमारे देशके कई असंस्कारी लोगोंने इन चित्रों पर अपने नाम कुरेदकर अमर किये हैं। या अमर चित्रकलाका ऐसा नाश करनेवाले ये नाशकर्मी दुर्जन कौन थे, यह मालूम हो और अनन्तकाल तक उन्हें लोग शाप दें; ऐसी सुविधा उन्होंने कर रखी है।

एक सवाल बार-बार मनमें उठता है। यह सब चित्र यहां रहनेवाले कलाकार बौद्ध भिक्षुओंने खुद तैयार किये या धनाढय और गुणाढ्य लोगोंने गुफाएं बनवा दीं और बादमें चित्रकार-संघने संत सेवाके तौर पर ये दीवारें चित्रित कर दीं ? अथवा ऐसा क्यों न हो कि किसी राजाने किसी चित्रकार-मंडलका अपमान किया हो, जिससे चिढ़कर उन चित्रकारोंने बौद्धधर्मकी दीक्षा लेकर बनवास स्वीकार किया हो और बादमें जिनसे बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राटोंको भी ईर्ष्या हो, एसे यह चित्र यहां तैयार किये हों।

द्रव्यकी खातिर या कीर्तिके लिए किये हुए कामोंकी अपेक्षा धर्मके लिए और शाश्वत कल्याणके लिए किये हुए काम हमेशा अप्रतिम होंगे ही।

इन गुफाओंको तैयार होनेमें हजार वर्ष लगे। और उन्हें तैयार हुए आज दो हजार वर्ष हुए। इनका इतिहास नहीं मिलता। उसका रहस्य खोजनेमें, और दो हजार साल खर्च कर डाले, तो भी क्या होगा ? 'सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः वगैरह श्लोक गाकर एक वैरागी राजाने कालको नमस्कार किया। लेकिन, कालके साम्राज्यको भुला देनेवाली कलाकी वंदना करना, यही अजंटाकी गुफाओंमें बैठे-बैठे ज्यादा स्वाभाविक और उचित लगता है।

राजपूतानामे एक कहावत है कि 'चीतडां, भीतडां और गीतडां'। (चित्र दीवार, गीत) इन तीनोंसे नाम अजरामर होता है। अजंटाकी गुफाओंमे 'भीतडां' पर 'चीतडां' हैं अब यहां आकर 'गीतडां' गानेवाले कवियोंकी ही जरूरत है।

महाराष्ट्रमें ऐसे बहुत-से कलात्मक सौंदर्य-स्थान है। लेकिन, उनके प्रशस्ति-गीत गानेवाले कवि कहां है ?[1]

अगस्त, १९५३

४५. महाराष्ट्रकी देहली

इक्कीस वर्ष पहले जब दौलताबादका किला और बेरूलकी गुफाएं देखी थी, तब दिलमें एक अतृप्त साध यह रह गई थी कि आलमगीरका औरंगाबाद यहांसे इतना नजदीक होने पर भी उसे नहीं देख पाये। मेरे मनमें कुछ ऐसी धारणा थी कि मुगल-वैभवके ह्रासके समयके इस बादशाहकी कब्र औरंगाबादमें ही है। और, इस-लिए कम-से-कम एक बार तो औरंगाबाद देखना ही चाहिए, ऐसा निश्चय मन-ही-मन कर लिया था। बादमें पता चला कि औरंगजेबकी कब्र वहां नही, खुल्दाबादमें है। औरंगाबादमें तो औरंगजेबकी बीबीका मकबरा है, जो आगरेके ताजमहलकी एक छोटी-सी प्रतिकृति है।

---

१. सन १९३७ ई०में लिखे गये मूल गुजरातीसे।

औरंगजेबके लिए मेरे मनमें विशेष आकर्षण रहा है। हम महाराष्ट्रीय औरंगजेबके खिलाफ दिलोजानसे लड़े हैं। औरंगजेबने खुद ही कबूल किया था कि जहां हिन्दुस्तानके कई बडे-बड़े राज्योको मटियामेट करनेमे वह कामयाब हुआ था, वहां इन पहाड़ी चूहोने देखते-देखते एक नये चेतनशील राज्यकी नीव रखी थी। शिवाजीके जीवन-कालमे उसका बन्दोबस्त करनेकी औरंगजेबने पूरी-पूरी कोशिश की। अपने दरबारमे सम्माननीय अतिथिके रूपमे बुलाकर जब उसे कैद कर लिया, तब औरंगजेबने मान लिया था कि शिवाजीका पूरा बन्दोबस्त हो गया। परन्तु, वहांसे सही-सलामत खिसककर और दिये हुए किले फिरसे हस्तगत करके शिवाजी ने अपना और अपने प्रान्तवासियोका खूब खासा परिचय औरगजेबको दिया था। इस अनुभवके बाद औरंगजेबने यह प्रण कर लिया था कि इस नई शक्तिको कुचलकर ही दम लूगा।

जहा तक केवल संकल्प-शक्तिका सवाल है, दुनियामे ऐसे बहुत कम सम्राट् सिंहासन पर बैठे होगे, जो औरंगजेबकी बराबरी कर सकते। औरंगजेबने अपनी जईफ जवानीमे उन्नीस बरस तक अपना सैन्य और खजाना दक्षिणमे लाकर मराठों से लडाई जारी रखी। सम्भाजीकी तो उसने बडी क्रूरतामे हत्या की थी। राजाराम दक्षिण सिरे पर चंदचेरीके किलेमे जुल्फिकर खाके घेरेके कारण कैद होकर पडा था। शिवाजीके सर्वोत्कृष्ट कार्यकर्ता, सम्भाजीके अन्धे क्रोधके शिकार होकर स्वर्गको सिधारे थे। बाकी रहे हुए अनुभवी लोग अपनी सूझबूझके अनुसार लडते रहे। इसके अलावा शिवाजीसे मिली हुई शिक्षाका अन्त हो चका था। स्वार्थ, ईर्ष्या, जागीर-निष्ठा और दगाबाजीकी पुरानी बीमारी महाराष्ट्रमे अपने पूरे जोर पर थी और तिसपर भी महाराष्ट्र उन्नीस वर्ष तक दिल्लीश्वरसे लड़ता रहा और अन्तमे आलमगीरको अपनी देह महाराष्ट्रमे ही छोडनी पड़ी। औरगजेबके अत्याचारके प्रमाण महाराष्ट्रमे चाहे जितने मिलते हो, परन्तु तो भी औरगजेबके लिए मेरे मन मे एक विशेष आकर्षण है।

महाराष्ट्रमे जन्म लेनेके कारण ही अगर कोई महाराष्ट्री माना जाता हो, तो महाराष्ट्रमे मरकर औरगजेब महाराष्ट्री हुआ, इस भावनाको मै कैसे मिटा सकता हूं। अपनी जिन्दगीके आखिरी उन्नीस साल जिसने महाराष्ट्रमे बिताये और आज भी जो महाराष्ट्रमे ही अपनी अन्तिम निद्रा ले रहा है, वह मेरे मनसे तो महाराष्ट्री ही है।

और औरंगाबाद? वह तो मेरे विचारसे महाराष्ट्रकी दिल्ली है। महमूद तुगलकने उत्तरकी दिल्ली दौलताबादके किलेके आसपास बसानेका मूढ प्रयत्न किया था। परन्तु औरगजेबने औरंगाबादमे दो दशको तक निवास किया और उसी दौलताबादके पास ही सच्ची दिल्ली बसा दी।

कहते हैं कि औरंगजेबने यहा ताजमहलकी नकलमे एक मकबरा बनवाकर

अपने गुरुसे पूछा, 'इस जगह किसे दफनाया जाय ?' गुरुने सरल भावसे कहा, 'तू है, तेरी रानी है और मैं हूं। हममेंसे जो कोई मीर होगा' उसका यह मकबरा होगा।' बादशाहकी बेगमने जल्दी करके उस मकबरेका कब्जा लिया, इसलिए वह 'बीबीका रोजा'के नामसे पहचाना जाता है।

औरंगाबाद पहुंचते ही हम यह मकबरा देखने जानेवाले थे, लेकिन वह नही हो सका। फलतः, मेरी एक काव्यमय मुराद पूरी हुई। सारे दिनका कार्यक्रम लगभग खतम करके रातको हम मकबरा देखने निकले। चांदनी अपना चादीका प्रकाश बरसा रही थी। जब हम मकबरेके पास पहुंचे, उस वक्त दरवाजे बन्द हो गये थे। अन्दर जानेकी इजाजत मिलनेकी कोई उम्मीद नहीं थी। लेकिन, प्रहरी भलामानस था। उसने नियमका पालन करते हुए हमें सहज सन्तोष देनेकी युक्ति निकाली। बड़े फाटकका छोटा किवाड़ खोलकर उसने हमें बाहरसे ही मकबरेके दर्शन करनेको सुझाया। जहां कही इस तरहका चन्द्रिका-धवल दृश्य दिखाई देता है, वहां सर वाल्टर स्टाककी नीचेकी पंक्तियां स्मरण आये बिना नही रहती और उन्हें बार-बार टांके बिना सन्तोष नही होता।

If thou wouldst view fair Melrose aright,
Go visit it by the pale moonlight

रातको सब कुछ अस्पष्ट, सुन्दर दिखाई देता था। इसलिए कल्पनाको अधिक अवसर मिलना स्वाभाविक था। बुरकेमे जैसे अवगुंठित रमणीकी कल्पना ही करनी पड़ती है उसी प्रकार इस स्थापत्य-रमणीके विषयमें केवल कल्पनाएं चलाकर हम लौटनेको राजी हुए। लेकिन, इतनेसे कहीं तसल्ली होती है ? दो दिनके बाद हम फिर एक बार वहां गये और उस सौन्दर्य मूर्तिके ठीक दोपहरमे दर्शन किये। दूरसे दर्शन किये, नजदीकसे किये और उसके माथे पर चढ़कर चारों तरफका दृश्य भी देखा। बगलकी मीनार पर चढ़कर वह सारा मकबरा नखशिखान्त देखा। तब कही चित्तको कुछ संतोष हुआ। कुछ ही दिन पहले वहां वाइसराय आये थे। इसलिए, हमारे सद्भाग्यसे ऊपरवाले गुम्बद परकी सूखी काई अधिकाश साफ कर दी गई थी, जिससे आगराके ताजमहलका स्मरण विशेष रूपसे होता था।

आगराका ताज जिसने ध्यानपूर्वक देखा है, उसे यह मकबरा कुछ बेढब-सा लगता है। ऊंचाईके अनुपातमें इसकी चौड़ाई कुछ कम है, ऐसी छाप मन पर तुरन्त पड़ी। किसी सिपाहीको 'एटेन्शन' का हुक्म देकर खड़े किये जाने पर उसके कन्धे जिस प्रकार कृत्रिम और जकड़े हुए-से लगते हैं, उसी तरह इस इमारतके खम्भे नजर आने लगे और मजा कुछ किरकिरा-सा हो गया। औरंगाबादसे लौटनेके आठ दिन बाद यह लिख रहा हूं और ताजके फोटोसे इस मकबरेके फोटोका मिलान कर रहा हूं। तब यह भी ध्यान आता है कि जहां ताजकी इमारत अष्टकोण है, वहां यह मकबरा चतुष्कोण है, इसलिए यह कुछ-कुछ ताजियेके जैसा लगता है। ताज-

में चबूतरे पर जानेका रास्ता दीवारसे ढक दिया है। यहां दोनों तरफकी सीढ़ियोंके दरम्यान पानीका सोता बहानेकी तजबीज की है। ताजकी मीनारें कुछ टेपरिंग (गायद्रुम या शुण्डाकृति हैं और यहाकी सीधी है। फलतः, ताजकी कारीगरीमें ज्यादा नजाकत मालूम होती है। ताजके कपाल और कपोलों पर कुरानकी उक्तिया लिखी हुई हैं। उनका अभाव भी यहां खटकता है।

यह अन्तर होते हुए भी औरंगाबादका यह रोजा मुगल कारीगरीकी एक लाक्षणिक और सुन्दर कृति है, इसमे शक नही। अन्दरकी जालिया, ऊपरकी गैलरी मेसे देखनेकी सुविधा, प्रकाशकी सौम्यता, सभी बाते शात गमीका भाव पैदा करती है और कलाके आनन्दके साथ विरहके विषादको मिला देती है।

मीनार परसे दूर तक देखनेके बाद नीचे उतरते हुए उसकी सीढिया गिन ली। सिर्फ एक सौ बीस थी।

औरंगाबादमे एक पुरानी मसजिद है। कहते है, यह दक्षिणके प्रख्यात राज्य-व्यवस्थापक मलिक अम्बरने बनवाई थी। यह सारा शहर पहले मलिक अम्बरने सन् १६१० ई० मे बसाया था, और इसका नाम फतहनगर रखा था। दक्षिणकी सूबेदारी हाथमे आते ही औरंगजेबने अपने रहनेके लिए यह स्थान पसन्द किया और उसे अपना नाम दिया। औरंगजेबकी मृत्युके पश्चात् आसफजहाने वहा अपना डेरा जमाया और इस प्रकार निजामकी गद्दीकी स्थापना सर्वप्रथम यही हुई। आज भी औरंगाबाद निजाम-राज्यका एक महत्त्वका शहर है।

३

बीबीका रोजा देखने जाते-आते हमने दोनो बार औरंगाबादका एक कृत्रिम प्रपात भी देखा। एक बगीचेके कोनेमे एक छोटा-सा चौकोण बुर्ज है। मानो किसी प्रहरीकी वाच-टावर (पहरेकी मीनार) हो। इस बुर्जमेंसे पानीका एक सोता अखण्ड बहता रहता है। 'इतना पानी इस बुर्जमे कहासे आता होगा', इसपर लोगोको अचम्भा होता है। इसी प्रवाहके बलसे पनचक्की चलानेकी तजबीज भी यहा की गई है। वह भी लोगोके आकर्षणका एक विषय हो उठी है। जिसने हिमालयमे गाव-गावमें ऐसी पनचक्किया देखी है, उसे इसमे कोई खास आकर्षण नही प्रतीत होता। लेकिन, यहाके लोगोको मजा आता है, इसमे शक नही। इस प्रपातके आस-पास जो हौज है जो बगीचा है और उसमे जो सुन्दर मकान है, वे औरंगाबादके आभूषण कहे जा सकते है।

इस बगीचेका इतिहास हमे नीचे लिखे अनुसार बताया गया—थोड़ी दूर वह जो पुराना वृक्ष नजर आता है, उसके नीचे पुराने जमानेमे एक सत्त्वशाली फकीर बैठा करता था और दूरसे पानी लाकर आने-जानेवाले पथिकोंको प्रेमसे पिलाता था और ऊपरसे आशीर्वाद देता था। ऐसी परोपकारी जिन्दगी जिस समय उसने समाप्त की, उस समय तक उसका शिष्य-समुदाय बहुत बड़ा हो गया था। उन लोगों

ने मिलकर विचार किया कि 'पानी बाबा'का यहां एक सुन्दर स्मारक बनवाना चाहिए। उस जमानेके स्वदेशी इंजीनियरोंने अपना दिमाग चलाया और पासके पहाड़के एक जलाशयसे पानी बांधकर ले आये। पानीकी यह बन्द नहर जमीनके अन्दर-ही-अन्दर ऊंची-नीची चढ़ती-उतरती जब शहर तक पहुंची, तब हमारे देशमें उस वक्त बननेवाली पकी हुई मिट्टीकी पाइपोंके द्वारा उस पानीको उन लोगोंने इस बगीचेमें लाकर उसे मीनार पर चढ़ाया और वहांसे नीचेके हौजमें उसका प्रपात गिराया, तबसे यह पानी बहा करता है और 'पानी बाबा' की तरह मनुष्य तथा वनस्पतिको आशीर्वाद देता रहता है। 'पानी बाबा' के लिए इससे अच्छा स्मारक भी कोई सुझा सकता था?

औरंगजेब बादशाहका जनाजा अहमदनगरसे औरंगाबाद लाये जानेके बदले खुल्दाबाद क्योंकर ले जाया गया होगा? खुल्दाबाद तो दौलताबाद और बेरूलके बीच एक नन्हा-सा गांव है। औरंगजेबने खुद ही इस तरहकी कोई सूचना दे रखी होगी? और अगर उसके गुरुका देहावसान उसके पहले खुल्दाबादमें हुआ हो, तब तो दूसरा कारण तलाश करनेकी जरूरत भी नहीं है। यहां औरंगजेबके गुरुकी कब्र अच्छी है और उसकी शान भी बादशाहके गुरुको फबती है। परन्तु औरंगजेबके गुरु-की कब्र तो मूर्तिमती सादगी है। आजकलके निजामने इस कब्रके चारों तरफ संग-मरमरकी जाली अलबत्ता लगवाई है। लेकिन, उतनेसे औरंगजेबकी कब्रकी सादगी में क्षति नहीं होती।

जो सम्राट् बाबर, हुमायूं, अकबर और जहांगीरसे भी बड़ा हुआ और जिसने कलाकोविद शाहजहांकी गद्दी हजम कर ली, उसकी कब्र तो इन तमाम बादशाहोंके रोजोंसे कई गुना वैभवशाली होनी चाहिए थी और उसमें कलाकी परिसीमा होनी चाहिए थी। लेकिन इस प्रकार केवल आकार या विस्तार बढ़ानेसे महत्ता नहीं आई। औरंगजेबने सोचा होगा, "बड़ी-से-बड़ी मसजिद बनवाकर अथवा सारी दुनिया-भरके कारीगरोंसे दस-बीस बरस बेगार करवाकर बहुत तो मैं अपने वैभवकी कल्पना अपने पीछे छोड़ जाऊंगा। लोगोंको अगर मेरी रसिकता ही देखनी हो, तो दिल्लीके किलेमें बनी हुई मेरी निजी मसजिदमें वह पूरी-पूरी व्यक्त हुई है। दक्षिण के लोगोंको अगर मेरी अभिरुचिकी कल्पना करानी हो, तो औरंगाबादमें मैंने एक मकबरा बनवाया ही है। लेकिन, मुझे अपनी कब्रमें अपना वैभव नहीं व्यक्त करना है; बल्कि अपना व्यक्तित्व ही प्रकट करना है। जहां मेरा पूर्वज 'जहांगीर' था, वहां मैं 'आलमगीर' बना हूं। इससे अधिक क्या किया जा सकता है? मैंने अपनी सारी जिन्दगीमें जिस सादगीको अपनाया था, उसी सादगीको क्यों न अपने पीछे छोड़ जाऊं? कौन-सा वैभव इस सादगीसे बढ़-चढ़ सकता है?"

इसलिए दिल्ली, आगरा अथवा औरंगाबादको छोड़कर उसने अपने अन्तिम विश्रामके लिए एक नन्हा-सा गांव ही चुना और अपनी कब्रपर संगमरमर या

रेशमका आच्छादन न चढ़वाकर केवल रैहान (सबजे) का एक पौधा रोपनेकी सूचना दी।

इसीलिए, अकबर या शाहजहाकी समाधिकी अपेक्षा औरगजेबकी यह समाधि विशेष ध्यान खींचती है और अधिक प्रबोधन करती है। एक साम्राज्यके विस्तार और रक्षाके लिए उसने आमरण मेहनत की। अपने तम्बूके सोनेके कलश निकालकर ले जानेवाले मराठोंको जेर करनेमें उसने कोई कोर-कसर नही छोड़ी। परन्तु, अंतमें जब जीवनकी डोरी खतम हो गई या टूट गई, तब इन सब बातोंको भुलाकर उसने अलिप्त भावसे एक देहातमें सादी-मे-सादी कब्र अपने लिए पसन्द की। इस महाराष्ट्री बादशाहमें कई तरहकी खूबियां थी। वह जीवनमे और मरणमे भी अद्वितीय रहना चाहता था। उसकी यह मुराद बर आई।

उसकी बगलमें उसका एक लड़का, बहू और गुरुकन्या पास-पास सो रहे हैं। इन सबका परस्पर संबंध कितना उत्कट और प्रेमल होगा, इसका आभास उन्हें साथ-साथ आराम करते और कयामतके दिनकी बाट जोहते देखकर मिलता होगा। वह वैभव गया, वह राज्य-प्रपंच शान्त हो गया, चित्तको जलानेवाले उस जमानेके अनेक कारण अब नही रहे है। केवल मनुष्य-मनुष्यके पारस्परिक हार्दिक संबधकी स्मृति ही शेष है। और वह यहांके संगमरमरकी कोमलताके द्वारा व्यक्त होती है। उनकी निद्रामें खलल न हो।

['सर्वोदय' मार्च, १९४१ ई०]

४६. घृष्णेश्वर

इलापुरे रम्यविशालकेऽस्मिन् समुल्लसन्तं च जगद्वरेण्यम्।
वन्दे महोदारतरस्वभावं घृष्णेश्वराख्यं शरण प्रपद्ये॥

जिनके स्मरण-मात्रसे सात जन्मोमे किये हुए पापोंका नाश होता है, ऐसे बारह ज्योतिर्लिंग हमारे देशमें हैं। जिस प्रकार चार धामोंकी यात्रा करना सारा देश देख लेनेके बराबर है, उसी प्रकार अबकी बार मैंने ज्योतिर्लिंग देख लिये, याने सारा शैवभारत देख लिया।

मैं मानता हूं कि केवल इन बारह ज्योतिर्लिङ्गोंका स्मरण करनेसे या जिनमें इनके नाम दिये गये हैं, ऐसे ज्योतिर्लिंग-स्तोत्रके चार श्लोक कण्ठ कर लेनेसे भूगोलका एक पाठ याद करनेका पुण्य मिलेगा। परन्तु, अगर कोई पैदल चलकर इन बारह ज्योर्लिङ्गोंका दर्शन करेगा और बादमें उस सारी यात्राके अनुभवोंका स्मरण करेगा, तो उसमे इतनी अनासक्ति, पवित्रता और सेवा-वृत्ति जाग्रत होगी कि सात ही क्या, सात सौ जन्मोंमे पाप किया हो, तो भी वह देखते-देखते गल जायगा। स्मरण स्मरणमे फर्क है। जिसका दर्शन ही न हुआ हो, उसका स्मरण

कितना गहरा रह सकता है? और जो जीवन उत्कट नहीं है, व्यापक नहीं है, वह निष्पाप कैसे बन सकता है?

ये बारह ज्योतिर्लिङ्ग निम्नलिखित हैः—

ठेठ हिमालयमें हैं केदारनाथ; वहांसे नीचे उतरकर बनारसमें काशी-विश्वेश्वर, वहांसे उज्जैन जाइए तो महाकालेश्वरके दर्शन होंगे और नर्मदाके किनारे जाने पर ओंकारनाथ अमलेश्वर मिलेंगे, उसके दक्षिणमें नासिकसे अठारह मील पर पेशवाओंने जिनका वैभव बढ़ाया है, वह त्र्यंबकेश्वर विराजमान हैं। उसके बाद भीमाके तट पर भीमाशंकरका अभिषेक किया जा सकता है। सौराष्ट्रके किनारे सोरटी सोमनाथका जो मन्दिर था, वह तो नष्ट हो गया, लेकिन उसके बदले दूसरा एक मन्दिर बिलकुल जमीनके अन्दर बनवाया गया है, उसीके दर्शनसे सन्तोष मानना पड़ता है। निजामके राज्यमें जानेसे हमें शेष तीन ज्योतिर्लिङ्गके दर्शन होते हैं। वेरूलके पास घृष्णेश्वर, शैल पर्वत पर मल्लिकार्जुन और परलीके पास श्रीबैजनाथ। दानकावनमें नागेश है। यही अगर ओंढ़या नामनाथ हो तो उसकी गिनती भी निजामके राज्यमें ही करनी चाहिए और अन्तमें जहां लंका और भारत-भूमिके बीच सेतु बनाया गया है, उसके पास रामेश्वर महादेव हैं।

१

इनके अलावा नेपालमें जो पशुपतिनाथ हैं, वे केदारनाथका ही एक अंग माने जाते हैं। कारवार जिलेमें पश्चिम समुद्रके किनारे जो गोकर्ण-महाबलेश्वरका शिवलिंग है, वह निरा ज्योतिर्लिङ्ग नहीं है, वरन् वह प्रत्यक्ष महादेवजीका हृदयलिंग है। इसीके चार टुकड़े रावणने कारवार जिलेमें इतस्ततः फेंक दिये हैं। मद्रास इलाकेमें कांची, चिदम्बरम् इत्यादि पंचतत्त्वात्मक शिवलिंग भी मशहूर हैं।

इस तरह देखनेसे बारह ज्योतिर्लिंगकी यात्रामें, एक पूर्व भारतको छोड़कर, शेष सारा हिन्दुस्तान देखा जा सकता है।

इन ज्योतिर्लिंगोंके माने क्या हैं? भारतीय विद्याके महापंडित बाबू भगवान-दासजी कहते हैं कि जब मनुष्यको कोई ऐसा पत्थर मिल जाता है, जो कि पृथ्वीका नहीं होता, वरन् आकाशसे गिरा हुआ होता है, तब वह उसे ज्योतिर्लिंग कहकर पूजता है। आकाशसे जब उल्कापात होता है, तब एक जलता हुआ पत्थर कभी-कभी पृथ्वी तक आ पहुंचता है।

२

उक्त बारह ज्योतिर्लिंगोंमें जिसका स्थान है, ऐसा एक ज्योतिर्लिंग अभी-अभी मैंने वेरूलमें देखा है। इसके नामके विषयमें कुछ भ्रम है। स्तोत्रोंमें और समाजमें वह घृष्णेश्वरके नामसे प्रसिद्ध है। परन्तु संस्कृतमें 'घृष्ण' जैसा कोई शब्द नहीं पाया जाता। 'घृष्णि' शब्द प्रकाशकी किरणके अर्थमें प्रयुक्त होता है। यदि 'घृष' याने घिसना, पालिश करना, चमकीला बनाना इस उत्पत्तिसे घृष्णेश्वर

का अर्थ लगायें, तो यह लिंग पत्थरको घिस-घिसकर चमकीला बनाया गया है, ऐसा अर्थ किया जा सकता है, हालाकि घृष्णेश्वरका आजका लिंग सादे पत्थरका और कुछ खुरदरा ही है। 'धृष्णि' के मान है प्रकाशकी किरण। इस परसे अगर धृष्णेश्वर यह नाम लिया जाय तो ज्योतिर्लिंगके साथ वह नाम ठीक बैठता है। 'घ' और 'ध' के लिखनेमे इतना थोडा फर्क हे कि वास्तविक नाम कौन-सा है, इसका निर्णय करना दरअसल मुश्किल है।

खैर, वेरूलके पासका विख्यात ज्योतिर्लिंग हम अभी-अभी देखकर आये है, फिर चाहे वह 'घृष्णेश्वर' हो या 'धृष्णेश्वर'।

बम्बई-नागपुर-रेलमार्ग पर मनमाड स्टेशनसे निजामकी रेलवे शुरू होती है। वहामे हम औरगाबाद गये। इस रेलवे-मार्ग पर निजामका 'हाली रुपिया' चलता है। मनमाडसे औरगाबादका किराया लगभग सवा रुपया था। ओरगाबादसे वेरूल लगभग ३२ मील है। वहाकी बौद्ध, शैव और जैन गुफाए विश्वविख्यात है हम उन्हे देखनेके लिए गय थ, वही एक छोटी-मी पहाडी पर घृष्णेश्वरका मन्दिर है। सत्ताईस साल पहले एक बार मैने यह मन्दिर देखा था। उस वक्त वह आजकी अपेक्षा अधिक नया-सा लगता था। लाल पत्थर, जो इस प्रदेशम नही पाया जाता, न मालूम कहामे लाकर यह सारा मन्दिर बनाया गया है। आज बरसातकी काईसे यह लाल रग कई जगह ढक गया है। अगर यह काई खुरचकर निकाली जाय तो आज भी यह पत्थर नया-का-नया ही दिखाई देगा, इसमे कोई शक नही। पहाडी पर होनेके कारण मन्दिर दूरसे दिखाई देता है और विशेप शोभा देता है। उसकी बगलमे दो पुरानी ममजिदो-जैमी इमारते दिखाई देती है। परन्तु इमलीके झाडोके झुण्डमे वे ढक गई है। ये दोनो ममजिदे हिन्दू और मुसलमानोके स्थापत्यके सुन्दर मिश्रणके सादे नमूनेके तौर पर सचमुच देखने लायक है।

मन्दिरके आसपास एक छोटी-सी दीवार है। उसके अन्दर जाने पर हम यह देख सके कि किसी वक्त इस मन्दिरके पीछे भक्तोने अपनी भक्तिकी मेहनत अच्छी तरह लगाई है। पत्थरका फर्श, मन्दिरके आसपासका चबूतरा, सब कुछ किसी जमानेमे सुन्दर रहा होगा। इम मन्दिरका शिखर असाधारण सुन्दर है और उस-पर खुदी हुई मूर्तिया मूर्तिकलाके सुन्दर नमूने मानी जा सकती है। हमारे देशमे मूर्त्तियोके नीचे या अगल-बगलमे उनके नाम लिखनेका रिवाज नही है। जिन्होने पुराण पढे हो, उन्हे किसी भी मूर्तिके पहचाननेमे या उमका प्रसग निश्चित करनेमे देर नही लगती। मूर्ति-विधानमे और मूर्त्तियोके ध्यानके नियमोमे मूर्त्तिको पहचानने की रीति बताई गई है। फिर भी, कही-कही बादमे लोग मूर्तिके आसपास एकाध नाम लिख देते है या गोल-गोल अक्षरोमे खोदते हैं। यहा गुम्बद पर जो मूर्त्तिया हैं, उन्हे खोदते समय जहा जगह मिली, वहा मूर्तिकारोने स्वय ही नाम काढ़े है। ये मूर्तिकार असाधारण शक्तिशाली थे, इसका सबूत तो ये मूर्त्तियां ही देती हैं। लेकिन

मूर्तियोंके नाम अशुद्ध लिखे गये हैं। 'मत्स्य' का 'मछ' लिखा है और 'बुद्ध' को 'बुद' लिखा है। इससे अनुमान होता है कि जब यह शिखर बना होगा, उस वक्तके कारीगर, मन्दिर बनानेवाले शिल्पकार और मन्दिरकी पूजाका ठेका लेनेवाले पुजारी सभी संस्कृतसे अनभिज्ञ होंगे। या, कम-से-कम ऐसी बातोंकी तरफसे लापरवाह तो रहे ही होंगे।

यह मन्दिर जिस गांवमें बसा हुआ है, उसका नाम वेरूल है। प्राचीन शिलालेखोंमें इसका एलापुर अथवा एलापुरी नाम पाया जाता है। श्री शिवाजी महाराज के दादा मालोजी इसी वेरूलके पटेल थे। इन्होंने यहांके पुराने मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया था। जब औरंगजेब अपने रास्तेमे मराठोंका कांटा हटानेके लिए दक्षिणमें आकर बसा, तब उसने यह मन्दिर तुड़वा डाला। कहा जाता है कि विद्यमान मन्दिर पुण्यश्लोका अहल्यादेवी होलकरने फिरसे बनवाया। परन्तु शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि अहल्यादेवीने नहीं, किन्तु मल्हारराव होलकरकी ज्येष्ठ पत्नी गौतमाबाईने इस मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया है।

मन्दिरके शिखरकी मनमोहक आकृति तो उसकी विशेषता है ही, परन्तु मन्दिरके भीतर प्रवेश करते ही खुले मण्डपमें जो खम्भे बने हैं, उनपर बने हुए चित्र देखनेके बाद कहना पड़ता है कि ये चित्र भी इस मन्दिरकी एक विशेषता मानी जानी चाहिए। जहां नजर डालिए वहां शिकार-ही-शिकारके चित्र हैं। एक जगह एक शिकारी एक लम्बे बांसके दोनों सिरोंसे जानवरोंकी लाश टांगकर उसकी बहंगी बनाकर अपने कन्धे पर ले जाता हुआ दिखाई देता है। दूसरी जगह एक शिकारी और उसके कुत्ते श्वापदोंको हैरान कर रहे हैं। फिर, एक जगह एक शिकारी हाथमें बन्दूक लिये किसी शेरको ताक रहा है, तो दूसरी एक जगह धनुषसे बाणोंकी वर्षा हो रही है।

मन्दिरमें इस प्रकारके शिकारके लौकिक चित्र देखकर कई तरहके विचार मनमें आये। पास ही जैन और बौद्ध गुफाएं हैं, जहां हजारों वर्षों तक अहिंसाकी घोषणा हुई होगी। परन्तु, तिसपर भी शिव-मन्दिर बनानेवाले राजपुरुषको पशु-हत्याका स्मारक यहां खुदवानेमें बिलकुल संकोच क्यों नहीं हुआ? या फिर यह घृष्णेश्वर किसी शिकारी जातिका ही कुलदेवता तो नहीं रहा होगा?

शिव-पार्वतीने एक बार भील और भीलनीका अवतार लिया था, ऐसी कथा पुराणोंमें है। किरातार्जुनीय काव्यमें यह प्रसंग भी गाया गया है। कहीं इस किरातका स्मरण करके ही तो यह मन्दिर नहीं बनवाया गया? परन्तु जब यह याद आता है कि एक सिपाहीके हाथमें बन्दूक दी गई है और बुद्धका नाम 'बुद' खोदा गया है, तब फिर यह विचार आता है कि शिकारके प्रसंग पौराणिक नहीं हैं, बरन् किसी मध्यकालीन शौकीन राजाके मृगयापराक्रमका यह स्मारक है।

सत्ताईस साल पहले जब इस स्थानका दर्शन किया था, तब हम देवी अहल्याबाई

का स्मरण करते हुए लौटे थे। इस बार अधिक जानकारी मिलनेके कारण वह पुण्य-संबंध रद्द करना पड़ा, इसका दुःख हुआ।

परन्तु इस मन्दिरकी बगलमे ही एक बहुत ही सुन्दर, सुडौल कुण्ड पहली ही बार देखकर हम प्रसन्न हुए। सुनते है कि कुण्ड प्राचीन है। इसकी बनावट इतनी प्रमाणशुद्ध है कि देखते ही ऐसी प्रसन्नता होती है कि मानो कोई रत्न देखा हो। कुण्डके माहात्म्यके बतौर ऐसा कहा जाता है कि पुराने जमानेमे किसी राजाका कुष्ठरोग इस तालाबमें नहानेसे दूर हो गया था। आज इस कुण्डका पानी इतना गदला है कि अगर उसमे, कोई राजा तो क्या कोई ऋषि भी नहाये, तो उसे भी कुष्ठ हो जायगा। पानी पर काई की एक सतह ऐसी मजबूत जम गई है कि आप उसे अपने हाथसे चाहे जितना इधर-उधर हटाइएगा, वह फिर पहलेकी तरह हो जायगी। जिस वक्त हम गये, उस वक्त एक सज्जन मौतके बादका नरकवास टालनेके लिए उस कुण्डमें नहानेकी तैयारी कर रहे थे और किनारे बैठकर पैरसे काई हटानेका निष्फल प्रयास कर रहे थे। हमने जब उनके इस सकल्प पर तिरस्कारयुक्त आश्चर्य प्रकट किया, तब उस बेचारेका सकल्प भी शिथिल हो गया और उसने उस काईको अभयदान देनेका पुण्य प्राप्त करके सन्तोष माना।

वह पानी जितना गदा था उसकी अपेक्षा उसपर जमा हुआ काईका स्तर असाधारण सुन्दर था, इस बातकी तरफ मेरा ध्यान विशेष रूपसे गया। यह एक किस्मका अकीक पत्थर है या जिसकी चमक निकल गई, ऐसा पन्नेका एक अति बडा चौरस टुकडा है, इसकी उधेड-बुनमे मै वहा खड़ा रहा। अकीकमे जिस प्रकार एकाध लकीर बीचमे आकर उसकी शोभाको बढाती है, उसी प्रकारकी लकीरे इस काईकी सुन्दरताको बढा रही थी। साथमे अगर सहयात्री नही होते, तो मै वही पर एक चुस्त बौद्ध बनकर पलथी लगाकर उस हरे कुण्डके किनारे ध्यान करने बैठ जाता।

लेकिन, उस वक्त तो ऐसी कोई बात करनेका अवसर नही था। इसलिए, एक कोनेमे, पारिजातका एक झुरमुट निमंत्रित कर रहा था, उसका आतिथ्य स्वीकार कर हम बाहर निकले।

मैने इस तरहके कई कुण्ड और तालाब देखे है। सिरोहीके पासका ब्रह्मकुण्ड भी देखा है और गोकर्णका कोटितीर्थ भी देखा है। बनारसके मणिकर्णिका घाट पर बना हुआ चक्रपुष्करणी तीर्थ देखा है और छुटपनमे पण्ढरपुरमे एक छोटे-से कुण्डमे एक पत्थरकी नाव तैरती हुई देखी थी, वह भी याद आता है। गोवामे तो हमारे हर एक मन्दिरके सामने एक मजेदार पुष्करणी होती ही है। वहा उसे 'तली' (तलैया) कहते हैं। 'तली'के आसपास केले और नारियलके पेड़ होनेसे उसकी शोभा हजार-गुना बढती है। परन्तु अपनी सादगी और प्रमाणबद्धताके कारण इस कुण्डने मेरे दिल पर अमिट छाप डाली है।

कश्मीरमे जहा झेलम नदीका उद्गम है, वहा जहांगीर बादशाहने जो अष्ट-

कोण तालाब बनवाया है, उसकी, इस कुण्डको देखते ही, याद आती है, इतना यह कुण्ड प्रमाण शुद्ध है। फर्क इतना ही है कि जहां उस तालाबके बीच मरकतमणि है, वहां चेरीनागके तालाबमें मानों नीलम जड़ा हुआ है।

घृष्णेश्वर महादेवका वन्दन कर हम वेरूलकी गुफाएं देखने चले। अहल्याबाईने इस घृष्णेश्वरके मन्दिरका जीर्णोद्धार भले ही न किया हो, परन्तु उस कुण्डका निर्माण तो अहल्याबाईने ही कराया है।

['सर्वोदय', दिसम्बर, १९४० ई०]

४७. मेरी सिन्ध-यात्रा

एक पुरानी कहावत है, "जो कुछ प्रहार होता है उसे शहरके 'महाद्वार'को ही सहन करना पड़ता है।" सिन्ध और पंजाब ये दोनों प्रान्त हिन्दुस्तानके महाद्वार हैं। अशोकके कालमें हमलोगोंने इस रास्तेसे बाहरके देशों पर आक्रमण किया था या नहीं, यह तो हमें मालूम नहीं; लेकिन हमारे देश पर जो भी आक्रमण हुए हैं, उनमेंसे अधिकतर सिन्ध और पंजाबके रास्तेसे ही हुए हैं। अगर ये दो प्रान्त हिन्दुस्तानके महाद्वार हैं, तो इनकी मजबूतीकी फिकर सारे देशको करनी चाहिए।

मजबूतीसे हमारा मतलब सिर्फ फौजी मजबूती नहीं है। दिल और दिमागकी मजबूती ही सबसे बड़ी मजबूती होती है। सामाजिक संगठन भी मजबूतीका एक महत्त्वका अंग है। इसी दृष्टिसे सिन्ध-प्रान्तमें राष्ट्रभाषाका प्रचार खास महत्त्व रखता है।

अगर सिन्धका इतिहास देखा जाय, तो सिन्ध प्रान्तको शांतिके दिन बहुत कम मिले हैं। हमेशा उसकी भूमि पर कोई-न-कोई झगड़ा-पचड़ा चलता ही आया है। ऐसे प्रान्तको कोई स्थिर संस्कृति प्रकट करनेका मौका ही नहीं मिलता। जैसे सिन्धु नदीकी बाढ़ अपने पात्रको हमेशा बदलती रहती है, उसी तरह मानवीय आक्रमणोंकी बाढ़ने भी सिन्धुकी संस्कृतिको अस्थिर बना दिया है। दीर्घकाल तक ऐसी हालतमें रहनेसे अस्थिरता ही सामान्य नियम हो जाता है और अस्थिरताकी ही बुनियाद पर एक विशेष ढंगकी संस्कृति भी तैयार हो जाती है।

जिसके जीवनमें कलका ठिकाना नहीं है, वह *या* तो इस लोक और परलोक दोनोंके बारेमें बेफिक्र होकर अपने अशाश्वत जीवनको मौज-शौकमें उड़ा देता है अथवा इस लोकके झंझटसे मुक्त होकर और परलोकके मजहबी इतिहास-भूगोलको भी छोड़कर सूफी फकीराना वृत्ति धारण करता है। सिन्धमें ये दोनों वृत्तियां दिखाई देती हैं। सिन्धी लोगोंके स्वभावमें किसी किस्मका आग्रह दिखाई नहीं देता। झगड़ा तो हर रोजका है। आज जिस बातकी जिद करते हैं, कल उसे छोड़ना

पड़ता है और कलसे किसी दूसरी जिदके सामने सिर झुकाना पड़ता है। जिद तो जबरदस्तोंकी टेककी निशानी है। जिन्हें जिद करनी है, करने दो। हम तो जैसा कुछ बन पड़े, जीवित रहेंगे। यही सिंधकी प्रादेशिक फिलसुफी जान पड़ती है। पंजाबकी बात शायद ऐसी नहीं है। पंजाबका स्वधर्म ही नये-नये सवाल पैदा करके अपने-आप और दूसरे सबको परेशान करनेका है।

पंजाब और सिंधमें एक विशेषता है। धर्मके नामसे जो कोई बोलने आता है, उसकी बात सुननेके लिए वहांके लोग हमेशा तैयार रहते हैं। इसलिए पंजाब और सिंध मिलकर सब-के-सब धर्मोंका एक बड़ा प्रदर्शनी-घर बन गया है। सिन्धमें आर्यसमाज भी चलता है और देव-समाज भी। वहां राधास्वामी-पंथ भी है और आगाखानी भी। वहांके हिन्दू और मुसलमान चाहें तो हमेशा लड़ते रह सकते हैं अथवा एक होकर हिन्दुस्तानको एकता, शांति और प्रगतिका रास्ता भी दिखा सकते हैं। मुसलमानोंकी संख्या ज्यादा होनेके कारण पंजाब और सिंधमें मुसलमानी सभ्यताकी कसौटी स्वाभाविकतया होती ही रहती है।

हम सिंध गये थे राष्ट्रभाषाके प्रचारके लिए और सिंधका थोड़ा-सा अध्ययन करनेके लिए। हम सिंध-हैदराबाद, कराची, सक्कर, शिकारपुर जैसे शहरोंमें भी गये और रेलवेके किनारे जो छोटे गांव हैं, उनमें भी गये, सिन्धकी राजनीतिक परिस्थिति बहुत दयनीय है। उसे समझनेकी हमने विशेष कोशिश नहीं की, क्योंकि हमारा काम केवल भाषाका सवाल हल करनेका और सिंधकी सांस्कृतिक खूबियोंका अध्ययन करनेका था।

सिन्धमें जाते ही सबसे पहले वहांकी नगर-रचना यात्रीका ध्यान खींचती है। कच्ची मिट्टीके ऊंचे-ऊंचे मकान, मकानकी खुली छतोंके ऊपरके ऊंचे-ऊंचे हवा-दान (जिन्हें यहां 'मंघ' कहते हैं) एक अद्भुत दृश्य उपस्थित करते हैं।

ट्रेनसे हैदराबाद पहुंचते ही शहरका सारा विस्तीर्ण दृश्य दीख पड़ता है। और, हम किसी नई ही जीवन-पद्धतिमें प्रवेश कर रहे हैं, ऐसी मन पर छाप पड़ती है। मंघसे मिलती मुफ्तकी और ठंडी हवा छोड़कर अब नये लोग बिजलीके पंखोंकी उपासना करने लगे हैं। लेकिन, उससे तो सिर्फ कमरेके अंदरकी ही हवा बिलोई जाती है। 'मंघ' के द्वारा सिन्धी सागरकी ठंडी-ठंडी हवा शहरके ऊपरसे आकर मकानोंके पेटमें प्रवेश करती है।

सिंधमें इतना पानी नहीं है कि शहरकी सफाईके लिए पानीका यथेष्ट उपयोग किया जा सके। इसलिए वहांके लोगोंने सूर्यके प्रकाश और गरमीसे ही सफाईका काम लेना पसन्द किया है। कहीं-कहीं घरके पाखाने भी घरके सिर पर होते हैं।

जहां नदीका प्रवाह ही अपना पात्र रोज बदलता रहता है और दोनों ओर रेगिस्तानका ही विस्तार है। वहां और प्रान्तोंमें जैसे रास्ते बन सकते हैं, वैसे

रास्ते कैसे बन सकते थे ? पुराने सिंधने अपनी एक तरकीब निकाली है। जंगलमेंसे लम्बी-लम्बी घास काटकर मिट्टीके रास्तों पर बिछा देते हैं, जिससे बैलोंको आराम रहता है और रेत भी तपती नहीं और आंखोंको सताती नहीं।

इतिहास-पूर्वकालीन 'मुवन-जो-दड़ों'में ईंटके मकान, नहानेके हौज, पानीकी मोरियां—सब कुछ सुधरे हुए ढंगके थे। पांच-सात हजार वर्ष पहले मनुष्य-जाति कितनी सुधरी हुई थी, यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है।

नहरोंका प्राचीन काम जैसे कश्मीरमें देखने लायक है, वैसे सिंधमें भी देखनेके काबिल है। कश्मीरका सवाल और सिंधका सवाल एक-दूसरेसे उलटे हैं। कश्मीर में पानीसे भरी हुई उपत्यकासे पानी कैसे उलीचा जाय और देशको बाढ़मे कैसे बचाया जाय, यह मुख्य सवाल है। सिंधमें भी बाढ़ आती है और उत्पात मचाती है। लेकिन, वहांका मुख्य सवाल यह है कि सालमें जो दो बाढ़ें आती हैं—एक चौमासे की बारिशके पानीकी और दूसरी गरमीके दिनोंमें हिमालयकी पिघली हुई बरफके पानीकी, उनका पानी आसपासके रेगिस्तानमें ले जाकर खेती किस तरह की जाय। प्राचीनकालसे कश्मीर और सिंधके लोगोंने अपने-अपने ढंगसे दिमाग चलाया है।

उसीका नया स्वरूप है 'सक्कर-बराज'। लेकिन, इसमें केवल प्रजा-हितकी दृष्टि नहीं है। रेलवे कंपनीके हितका भी ख्याल किया गया है और पूंजीपतियोंका ख्याल तो सर्वोपरि है ही। कहा जाता है कि इस 'सक्कर बराज'से सिन्धकी आबोहवा पर स्थायी असर हो गया है। और, वह अच्छा ही हुआ है, इसके बारेमें लोगोंके मनमें जबरदस्त शंका है।

इस बराजके कारण सक्कर शहरकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी है और वह संस्कारिता का भी एक अच्छा केन्द्र बन रहा है। शिकारपुर और लारकाना तो पुराने शहर हैं ही। वे बड़ी मुश्किलसे अपनी स्थितिको संभाल रहे हैं। एक पुरानी ग्रामीण कहावत थी कि 'अगर जेबमें है नागा (सिक्का) तो चलो लारकाना।' शिकारपुरकी हुंडियां तो मास्को तक चलती थीं। आज भी शिकारपुरके व्यापारी साहसके लिए दुनियांमें मशहूर हैं। उनकी पगड़ी भी हैदराबादके भाईबन्दोंकी पगड़ी और आमिलोंकी पगड़ीनुमा टोपीसे कहीं अधिक उम्दा और शानदार लगती है।

सिन्धका संगीत अपने ही ढंगका है। जहां सामनेसे प्रतिध्वनिकी गुंजाइश रहती है वैसा, पहाड़ोंका, लोक-संगीत एक ढंगका होता है और रेगिस्तानका, जहां ऊंट पर बैठकर अथवा नदीके पृष्ठ पर किश्तीमें बैठकर खुली हवामें आलाप छोड़ देनेकी बात होती है, वहांका लोक-संगीत कुछ दूसरे ही ढंगका होता है। नेपाल, गढ़वाल या कश्मीरका लोक-संगीत एक तरहका है, राजस्थान और सिंधका दूसरी ही तरहका। सिन्ध जी काफी' (जी=की) सारे हिन्दुस्तानमें अपनी भाव-वाहकता के लिए प्रसिद्ध है। हमारे संगीतके रागोंके कुछ नाम प्रान्तोंके नाम परसे ही आये हैं। उनकी खूबियों, और आबोहवाका उन पर कैसा असर हुआ है, इसका अध्ययन

किया जाय, तो वह भारतीय संस्कृतिके अध्ययनमे एक महत्त्वका अध्याय हो जायगा।

हालाकि, मिट्टी, लकडी और लाखका काम सिन्धकी खासियत बताता है, तो भी उसमे इस्लामका असर पूरा-पूरा दीख पडता है। पशु-पक्षी आदि जीवधारियो-के चित्र देहलीके मुगल-दरबारमे भले ही दीख पड़ें, मगर सिधकी कारीगरीमे उन्हे स्थान नही मिलेगा। मानो सब कारीगरोने भूमितिकी आकृतियोके बाहर न जाने-की कसम ही खा ली हो।

सिन्धमे हमने सिन्धकी चित्रकला कही नही देखी। मुवन-जो-दडोमे बेशक बहुत-कुछ देखने लायक था। लेकिन, वह आजके सिन्धकी कारीगरी नही कही जा सकती। सिन्धके सूर्योदय और सूर्यास्त, कराचीका दरिया, रेगिस्तानकी रेतके टीले, सिन्धुके स्थान-स्थानके दृश्य, मन्दिर और मस्जिद, पशु और पक्षी, मचरके कमल और हवाके बादल—सब-के-सब चित्रकारकी प्रतिभाके लिए अच्छे विषय है। पानी खीचनेवाला और माल ढोनेवाला ऊट, नदीके प्रवाह पर दौडनेवाली किश्तिया, 'सस्सी पुन्हू' अथवा मुहिणी-मेहार' की लोक-कथाए य सब चित्रकारके लिए महाकाव्य है। एक सिन्धके ही भिन्न-भिन्न स्थानो और भिन्न-भिन्न ऋतुओ-के दर्शन अगर इकट्ठे किये जाए, तो हजार कविता और हजार चित्रोकी एक मजूषा (अलबम) देखते-ही-देखते बन सकेगी।

सिन्धका जीवन है तो काव्यमय। वहाके धार्मिक और प्राकृतिक त्यौहार। और उत्सवोका अगर अध्ययन किया जाय, तो वह भी सिन्धकी सस्कार-समृद्धिका अच्छे-से-अच्छा दस्तावेज बन जायगा।

सिन्धका प्राचीन इतिहास भी आज हमारे पास नही है। 'जच्चनामा' जैसे ग्रथोके अध्ययनसे सिन्धका सच्चा ख्याल नही आ सकता। सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र और कच्छका, एकत्र इतिहास जब लिखा जायगा और उसमे बनियोके प्राचीन वशोने कैसा भाग लिया था, इसकी जब खोज होगी, तभी जाकर सिन्धका इतिहास हमे मिल सकेगा। आज भी पुरानी दन्तकथाए इकट्ठा करनेके दिन अभी गये नही है। लोककथा, लोकवार्ता, लोकगीत, त्योहार, उत्सव, कहावते, स्थानीय परम्परा आदिकी खोज करके उसमेसे सिन्धका इतिहास तैयार किया जा सकता है। सिन्ध-के पडोसी प्रदेशोमे भी सिन्धका बहुत-सा इतिहास मिल सकता है। सिन्धके ही उत्साही विद्वानोका यह काम है।

सिन्धने अपनी भाषाकी बहुत ही उपेक्षा की है। हिन्दुस्तानकी प्रान्तीय भाषाओका इतिहास ईसाकी बारहवी या चौदहवी शताब्दीसे शुरू होता है और सिन्ध पर तो सातवी-आठवी शताब्दीसे ही आक्रमण शुरू हो गये। प्राचीनकालसे साहित्य-निर्माणका भार जिस पर था, वह ब्राह्मण-वर्ग तो, सिकन्दरने जब उसका कत्ल किया, तबसे शायद अपना सिर ऊंचा नही कर सका है। जो कुछ साहित्य

आज मिलता है, वह हिन्दू और मुसलमान संतोंका और सूफियोंका लिखा हुआ है। और, बनिये तो अपने हिसाब-किताबके बाहर कुछ लिखते ही नहीं थे।

सिन्धमें अंग्रेजी शिक्षाका प्रारंभ हुआ, उसके बादसे साहित्यमें कुछ विविधता तो आई है सही, लेकिन सिन्धके विद्वानोंने प्रांतीय संस्कृतिकी सेवा करनेका कोई विशेष प्रबल प्रयत्न किया ही नहीं। 'अंग्रेजी सीखो, डॉक्टर-वकील बन जाओ, सरकारी नौकरी करो या तिजारत करो', यही उनका रवैया रहा है। अब उसमें कुछ परिवर्तन होने लगा है। सिन्धके व्यापारी दुनिया-भरमें फैले हुए हैं। वहांका धन तो वे लाते हैं, लेकिन किसी भी देशकी जानकारी इकट्ठी करके उसका साहित्य उन्होंने प्रकाशित किया हो, ऐसा आजतक एक भी उदाहरण नही है।

यह सब शुरू करनेके दिन अब आ गये हैं। सिन्धी भाषाका भविष्य भी उज्ज्वल है। वह संस्कृतकी पुत्री होनेके कारण और वैदिक परंपरा उसमें कुछ-कुछ होनेके कारण वह भारतीय सभ्यताका सारा-पूरा उत्कर्ष बता सकती है। और, अरबी-फारसीसे भी उसका संबंध सैकड़ों वर्षोंसे आनेसे इस्लामी सत्यकी खूबी भी उसमें अच्छी तरहसे घुल-मिल गई है। हिन्दी और उर्दू-साहित्यसे बहुत-कुछ लेना सिन्धीके लिए आसान है। सिन्धके विद्वान् अगर 'संस्कृत या फारसी' सीखनेकी नीतिको छोड़ दें और 'संस्कृत और फारसी' सीखनेका कष्ट करें, तो वे सिंधी भाषा की उत्कृष्ट सेवा कर सकेंगे। जिस तरह यूरोपके ईसाई लैटिन और ग्रीक-साहित्य-का अध्ययन करते हैं, उसी तरह भारतके मुसलमान भी जब संस्कृत, पाली, मागधी आदिका अध्ययन करेंगे, तभी वे हिन्दुस्तानकी और यहांकी भाषाओंकी अच्छी सेवा कर सकेंगे।

सिन्ध चाहे तो हिन्दू-मुस्लिम झगड़ेकी चिनगारी बन सकता है और चाहे तो सारे देशके लिए हिन्दू-मुस्लिम सहयोगका पथप्रदर्शक बन सकता है। सिन्धके हिन्दू-मुस्लिम नेता और लोक-सेवक विद्वान् कौन-सा रास्ता लेते हैं, यही देखना है।
['सर्वोदय', अप्रैल, १९४१ ई०]

४८. पाषाणहृदय

'बौद्ध, शैव और जैन—इन तीन पंथोंमें कोई साम्य है ?' इस प्रश्नका उत्तर हम किसी दर्शनशास्त्रीसे नही मांगते, किन्तु महाराष्ट्रके हृदय-स्थान पर बसे हुए एलापुरके पत्थरोंसे पूछते हैं, और वे जवाब देते हैं, 'साम्य ही क्यों ? ये तीनों पंथ एक ही परम्पराकी तीन पीढ़ियां हैं। इसमें शक हो, तो हमने यहां अपना हृदय खोलकर रखा है, उसका दर्शन करके जाइये।'

एलापुर, एल्लूर अथवा बेरूल, जिसे अंग्रेजीमें एलोरा कहने लगे हैं आज एक

छोटा-सा गांव है। पुराने जमानेमे यहा चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि राजवंश राज्य करते थे। एक-दूसरेसे लडनेवाले और एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करके उसका ढिढोरा पीटनेके लिए बडे-बडे विजय स्तम्भ बनवानेवाले राजा दुनिया भरमे हर कही पाये जाते है; परन्तु जान पडता है कि इस स्थान पर महाराष्ट्रके प्राचीन राजाओमे अपनी-अपनी धर्म-श्रद्धाको ही मेवा और भक्तिके रूपमे व्यक्त करनेके विषयमे स्पर्धा हुई होगी।

आज ये गुफाएं केवल दुनियाका कुतूहल तृप्त करनेके और भारतीय सम्कृति का कुछ आभास करा देनेके ही काम आती है। परन्तु, किसी समय ये गुफाए एक महान विद्यापीठको आश्रय देती थी। देश देशातरके श्रमण, जगम और साधु आकर इन गुफाओमे बसते थे और आसपासके गावोके लोग जो कुछ अन्न-आच्छादन दे दे, उसमे सतुष्ट रहकर धर्म-चिन्तन और धर्म-चर्चा करते थे तथा हिन्दुस्तानकी जनताको कल्याणका मार्ग बताते थे। जिस प्रकार किसी झीलसे बहुत-सी नहरे निकालकर लोग आसपासकी भूमि उपजाऊ बनाते है, उसी प्रकार इन गुफाओमे रहनेवाली साधु-मडली धर्ममे नये-नये शोध कर, उस धर्मामृतकी प्याऊ गाव-गाव मे खोलते थे। अथवा उसकी वहगिया भर-भरकर लोगोके घर-घर पहुचाते थे। जिस प्रकार राजा अपना वैभव इन साधु-वृन्दोके चरणोमे अर्पित करता, उसी प्रकार देशके मूर्तिकार और चित्रकार इन गुफाओको मजानेमे अपनी कलाका सार्थक्य मानते थे।

मतलब यह कि गुफाओकी यह मालिका हमारे पूर्वजोकी राजकीय और प्रजाकीय आकाक्षाकी प्रतिनिधि है। यह कोई 'ताज' नही है, जो किसी बादशाहने किसी एक समयके अपने प्रेमको कलाका रूप देनके लिए बनवाया हो। इन गुफाओ मे हिन्दुस्तानकी महाजातिके हृदयके भाव अमर बनाये गये है। जिस भक्तिसे हम वेद, उपनिषद्, रामायण और महाभारत पढते है, उसी भक्तिसे हमे इन गुफाओके दर्शन करने चाहिए।

यहा हमे लकडी, मिट्टी, मोम या धातुका काम नही दिखाई देगा। सगमर-मर-जैसे चिकने पत्थरोकी कारीगरी भी यहा नही है। यहा तो महात्माओके चरित्र जैसे कठिन पत्थर पर उन्हीके कारुण्य जैसे कोमल फूल बेलबूटी और मूर्त्तिया खुदी दिखाई देगी। वज्रसे भी कठिन पत्थर पसन्द करके उस पर कुसुमसे भी मृदु मूर्तिया व्यक्त करनेकी हिम्मत करनेवाले कारीगरोकी पूजा करके उनसे दीक्षा लेनेके लिए स्वर्गसे प्रत्यक्ष ब्रह्मदेव आये हो तो कोई आश्चर्य नही। इन कृतियोको देखकर देश-देशान्तरके कलाप्रेमी अवाक् हो जाये तो इसमे क्या ताज्जुब है! इन गुफाओ के विषयमे एक ताम्रपत्रमे लिखा है—, "देव जब अपने-अपने विमानोमे बैठकर स्वछंद बिहार करते हुए इस स्थान पर आय, तब इस स्थापत्यका सौदर्य देखकर वे ध्यानमग्न हो गये। विशेषतः कैलास-मदिरकी शोभा देखकर वे एकदम बोल उठे,

'यह मन्दिर मनुष्यकी कृति नही हो सकती। यह तो प्रत्यक्ष महादेवजीकी तरह स्वयंभू ही होगा।' ब्रह्मा और विश्वकर्माका समान-धर्मा स्थपति जो इन गुफाओं का कर्ता था, वह भी स्वयं कहने लगा, 'अद्भुत है यह कलाकृति ! मुझे खुद पता नही है कि मै इसे किस तरह बना सका। ऐसी दूसरी कृति बनानेके लिए मुझसे कहा जाय, तो मेरी हिम्मत नही होगी। यह जो कुछ बन गया सो बन गया'।"

तब ऐसी कृतिको हम अपौरुषेय कहे, कोई हर्ज है? उसे बनानेवाले स्थपति को ही जब यह पता नही है कि यह वस्तु कैसे बन आई, तब हम कैसे कह सकते है कि यह मानव-कृति है?

कालिदासने जब रघुवश रचा, तब सरस्वतीने उसे वरदान दिया था। जब उसने चौथा या पाचवा सर्ग शुरू किया, तब तो सरस्वतीने उसके हाथमेसे कलम ही छीन ली और खुद वह सर्ग लिख डाला। तात्पर्य इन सर्गोंमे सुन्दर शब्दोंकी इतनी कारीगरी और भाषाओका अद्भुत विलास है। यहा भी साक्षात् स्थापत्य-कलाने स्वय इस स्थपतिके हृदय, हाथ और उंगलियोमे अपना आसन जमाया होगा और बादमे स्थपतिने समाधि-स्थितिमे यह सब खुदाईका काम कर डाला होगा।

यह किसी एक मूर्तिकारका काम नही है, सैकडो मूर्तिकार यहा एकत्र हुए होगे। परन्तु, काम शुरू करनेके पहले उनके मुखिया स्थापत्याचार्यने अपने हर एक सहायककी छातीको स्पर्श करके सकल्प किया होगा:

'ॐ मम व्रते हृदयं ते दधामि।
मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु॥'

और बादमे सभी दिमाग, सभी हृदय और सभी उंगलियां इस तरहसे काम करने लगी होंगी कि मानो वे एक ही मनुष्यकी हो।

वेरूलकी गुफाए देखनेके लिए पहली बार हम नागपुर-काग्रेसके बाद गये थे। यह माना जाता है कि दूसरी बार देखनेसे पहली बारके सस्मरण अपने-आप मिट जाते है और नये चित्र पुराने चित्रकी जगह ले लेता है। इस बातके सच होने मे मुझे शक नही है। परन्तु, वेरूलकी गुफाओके विषयमे मेरे साथ ऐसा नही हुआ। पुराने चित्र भी मेरे पास मौजूद है, और नये भी। मै इस बातसे इनकार नही करता कि इन दोनोका असर एक-दूसरे पर हुआ है। लेकिन पुराने चित्रोका व्यक्तित्व अब तक मिटा नही है।

पहली दफाकी तरह इस मरतबा भी हमने सबसे पहले कैलासकी गुफा ही देखी। यही गुफा यहाकी चौतीस गुफाओकी रानी है। जिसके पास काफी समय न हो उसे तो सबसे पहले यही गुफा देखनी चाहिए। लेकिन, अगर कोई ऐसा माने कि कैलास देखनेसे वेरूलकी सारी गुफाओंकी कल्पना आ जाती है, तो वह गलत है। १६ नम्बरकी यह कैलासगुफा, २९ नम्बरकी 'सीतान्हाणी' गुफा, ३३ या ३४ नम्बरकी इंद्रसभा—कम-स-कम इतनी तो देखनी ही चाहिए। और बौद्ध गुफाओमे

जो बिहार तथा चैत्य है, उनमेसे एक-एक नमूना तो कम-से-कम देखना ही चाहिए। खास करके दस नम्बरकी गुफामे जो लकडीका अनुकरण किया गया है, वह देखे बिना तो कार्ला तथा अजन्ताके साथ इसकी कितनी समानता है, इसकी पूरी-पूरी कल्पना हो ही नही सकती। चौदहवी गुफा तो श्री गणेशजीकी माताओका सम्मेलन है। यह गुफा देखे बिना चल ही नही सकता। पन्द्रहवी गुफाके बारेमे, यह गुफा है, या बादकी बनावट है, यह सन्देह हुए बिना नही रहता। यदि काफी समय हो, तो इनमे एक भी गुफा छोड देने योग्य नही है। जिसे काफी फुरसत हो, उसे तो कम से-कम दो-तीन बार ये गुफाए देखने जाना ही चाहिए, अबकी बार हमने सितम्बर का महीना पसन्द किया था। यह कई तरहसे अच्छा हुआ। क्योकि चौमासेका उत्तरार्द्ध होनेके कारण सब तरफ हरियाली लहरा रही थी और आकाशके बादल भी बिलकुल विरक्त नही हुए थे।

इन गुफाओके विषयमे कैसे लिखू, यही समझमे नही आता। एक-एक गुफा लेकर उस पर एक स्वतंत्र लेख लिखने जाऊ, तो भी सन्तोष नही होगा। क्योकि हर एक गुफामे कई छोटी-बडी मूर्तिया होगी, अनेक प्रसंग खुदे होगे, अनेक पशु उनकी स्वाभाविक स्थितिमे चित्रित किये गये होगे। हर एक चीज जिस प्रकार हम एकाग्र होकर देखते थे और बाकीकी दुनिया भूल जाते थे, उसी प्रकार हरएक मूर्ति या प्रसगके विषयमे अलग लेख लिखना चाहिए, तभी सन्तोष होगा। और अगर वैसा न हो सके, तो एक-एक गुफा पर एक-एक लेख लिखनेसे क्या फायदा है?

कैलासकी गुफामे अनेक जगह रावण अपनी बीस भुजाओ पर कैलासको उठाता है और ऊपर शिव-पार्वती तथा नन्दी विराजमान है, ऐसे प्रसग खुदे हुए हैं। मुख्य शिव-मन्दिर छोटा नही है। यह सारा मन्दिर उसके आसपासके आसरे और उसके अन्दर एक तरफ खुदा हुआ दूसरा मन्दिर, यह सब देखकर शिल्पकारकी कल्पना-शक्तिके साहसमे चित्त दग रह जाता है। मन्दिरके दोनो तरफ दो हाथी और दो विजय-स्तम्भ है। हाथियोकी तो दुर्दशा ही हो गई है। आज भी मूर्तिका कोई सर्जन, अगर मेहनत करे, तो इन हाथियोके टुकडे इकट्ठे करके एक कामचलाऊ हाथी अलबत्ता बना सकता है। कहते हैं कि औरंगजेबने इन गुफाओका भी बहुत-सा नाश किया है। उसने घृष्णेश्वरका मन्दिर तुड़वाया, यह तो समझमे आनेवाली बात है। अगर वह चाहता, तो इस मन्दिरमे एक भी मूर्ति नही रहने पाती। लेकिन मूर्ति-विनाशक मूर्तियोका चूर्ण नही कर डालते। उन्हे खंडितकरके छोड़ देते हैं। किसीकी नाक काट ली, किसी का कान उडा दिया, किसीके हाथ या पैर छाट दिये। इस प्रकार, हर एक मूर्तिमे कोई न कोई ऐब पैदा कर दिया और छुट्टी पाई। अब उनकी पूजा कोई नही करेगा।

एक कट्टर मुसलमान चित्रोंका शौकीन था। उसने अपने धर्म और चित्र दोनों

के सचयका एक बीचका रास्ता ढू ढ निकाला। उसने चित्रोका एक अलबम खरीदा और काली स्याहीकी दवातमे उगली डूबोकर तमाम तसवीरोके मुह पर एक-एक धब्बा लगा दिया। इतनेसे उसे यह विश्वास हो गया कि सजीव वस्तुओकी प्रतिकृति बनानेमे ईश्वरका जो अपमान होता है वह मैने धो डाला है। अब ये तस्वीरे देखनेमे कोई हर्ज नही है। इस तरहकी सुविधाए नही होती, तो जितनी कलाकृतिया भी बच पाई है, उतनी भी नही बच सकती।

यह मन्दिर जिस वक्त खुदवाया गया होगा, उस वक्त मूल कल्पना उसपर पलस्तर लगाकर उस पलस्तर पर चित्र बनानेकी थी या नही, यह हम आज कैसे जान सकते है? मेरा अपना विचार है कि खुदवाते वक्त पत्थरमे ही सारी सुन्दरता लानेमे कोई कसर नही की गई। तो भी उसपर पतला पलस्तर लगाकर सुन्दर-से-सुन्दर रगोके चित्र लिखवानेका सकल्प शुरूसे ही रहा होगा। अजन्ताकी दीवारो परकी चित्रकारी आज तक थोडी-बहुत टिकी हुई है। इस मन्दिर पर भी कही-कही किंचित् रगका आभास दिखाई देता है। मन्दिरकी अटारी पर एक जगह छतमे ठीक अजन्ताकी ही कारीगरीके अवशेष-जैसा थोडा-सा भाग बच पाया है। इसमसे एक जगहका एक मोर उड गया है, लेकिन तसवीरकी कला नष्ट नही हुई है। एक जगह एक रमणीका सिर और उसकी कमलकी पखुडी-जैसी आखे ही बची है। इस तसवीरका रग, उसकी नजाकत और उसकी शैली अजन्तासे किसी कदर कम नही है।

सारे मन्दिरका बोझ उठानेवाले छोटे-छोटे हाथी विहार करते हुए बताये गये हैं। कोई अपनी सूडसे दूसरेका पैर पकडता है, दूसरे दो हाथी अपनी-अपनी सूड एक दूसरेकी सूडमे मिलाते है। कोई हाथी सूडमे माथे परसे मक्खिया उडाते है और कुछ तो बडी हिम्मत करके बाघके पीछे पडे है। मन्दिरके आसपास एक सुन्दर-सा आगन है, और उसके बाद तीनो तरफ नीचे ओसारे है। उनमे विशाल मूर्तिया खुदी हुई है, ये मूर्तिया शक्ति और भावभगीमा व्यक्त करनेमे भारतीय मूर्तिकलाके उत्कृष्ट नमूने हैं। एक-एक मूर्ति देखते ही उसके सामने हमारा हृदय दब जाता है और ऐसी बलवती मूर्तियोकी कल्पना करनेवाले हमारे पूर्वज कैसे सकल्पवीर रहे होगे, कैसे समर्थ कल्पनावीर रहे होगे, उसका अनुमान होते ही अपनी क्षुद्रता पर घृणा होती है।

कैलाशकी गुफा देखकर हम सीधे जैनोकी इन्द्रसभा देखने गये। यहाके आगनमे एक तरफ एक ही हाथी है और दूसरी तरफ जो एक ही विजय-स्तम्भ था, वह तीन टुकडे होकर जमीन पर पडा हुआ है। यह गुफा कैलाशका ही छोटा-सा सस्करण है। इसमे अपनी खासियत तो बहुत है, लेकिन फिरभी, कैलाश देखनेके बाद इसका महत्त्व अपने-आप कम हो जाता है। नये दर्शकोसे हमारी सिफारिश है कि वे पहले बाई ओर मुडकर आखिरी इन्द्रसभा देख ले और बादमे कैलासकी तरफ आवें।

महावीरकी इस गुफाको इन्द्रसभा क्यों कहते हैं, यह कोई नहीं जानता। लेकिन, इतनी आकर्षक गुफाका कुछ तो नाम होना ही चाहिए। फिर 'इन्द्रसभा'का नाम चलता आया है, वही रहे, तो क्या हर्ज है ?

इसके बाद हम देखते-देखते पीछेको आते हैं तो १६ नम्बरकी गुफा हमारा ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट करती है। भव्यतामें दूसरी किसी भी गुफासे यह कम नहीं है। इसे देखते ही बंबईके पासवाली धारापुरी याने 'एलिफेंटा केव्स' याद आये बिना नहीं रहती। सिंहकी मूर्तियां असाधारण ऊंची और बड़ी हैं। लेकिन एक भी मूर्ति प्रमाण-बाह्य नहीं है। इसके एक तरफसे बेलगंगाके प्रपात अथवा 'सीतान्हाणी' के लिए रास्ता है ।

कहीं ऐसा तो नहीं हुआ होगा कि साधुओंके रहनेके लिए यह गुफा खुदवाई गई हो, परन्तु वह इतनी भव्य, सुन्दर और उदात्त हुई कि उसमें ज्यादा दिन तक रहनेकी कोई हिम्मत ही नहीं करता था ? कौन अपने-आपको इतना बड़ा माने कि ऐसी गुफामें रहने पर भी बेचैन न हो ।

आखिरकी जैन गुफाएं, बीचकी शैव गुफाएं और दाहिने छोरपर बनी हुई बौद्ध गुफाएं आदि कुल मिलाकर इतना विस्तार है कि मनुष्य थक जाता है और हरएक गुफा अन्दरसे इतनी गहरी है कि बाहरसे ठीक-ठीक खयाल नहीं होता। यहां तीन-तीन मंजिलोंकी गुफाएं बनवानेका इतना ही कारण है कि यहांके पत्थर विशाल हैं और आड़े-टेढ़े, ऊंचे-नीचे, चाहे जितनी दूर तक खोदनेकी गुंजाइश है।

इन गुफाओंके चौकोन खम्भे भी यहांकी प्रचण्ड मूर्तियोंसे शोभामें किसी कदर कम नहीं हैं। थकानके मारे मैं एक गुफाके अन्दर न जानेका इरादा कर रहा था, लेकिन मनमें विचार आया कि 'इतना-सा छोड़ दिया', यह कहनेको हो जायगा। थोड़ी मेहनत होगी, लेकिन अन्दर हो आना चाहिए। अन्दर जाकर देखा, तो दो बड़े भारी खम्भोंके बीच उनको एक-दूसरेसे जोड़ने वाली गणितके 'धनुष्य कौंस' के आकारकी कमानें थीं। इन कमानोंकी मुटाई देखकर मैं तो चकरा ही गया। यह मनुष्यकी कला हरगिज नहीं हो सकती। न हम दैवी ही कह सकते हैं। इसका आकार और मिकदार तो आसुरी या राक्षसी ही कहा जाना चाहिए।

सारी गुफाएं जल्दी-जल्दीमें देख लीं। जिस प्रकार बन्दर जल्दी-जल्दी खाकर अपनी गल-थैलियां भर लेते हैं और बादमें फुरसतसे आरामसे आरोगते रहते हैं; अथवा जानवर जिस प्रकार पहले पेटूपनसे खा लेते हैं और बादमें जुगाली करते हैं, उसी प्रकार समयका खयाल रखकर जल्दी-जल्दी सब देख लिया और अब बर्षों तक उन संस्कारोंका स्मरण कर करके रोमंथ करता रहूंगा। इस लेखमालाको भी इस 'रोमन्थ-क्रिया' का ही एक प्रकार समझ लीजिए। इसमें भी पूरा मजा नहीं आता, क्योंकि यह तो जुगालीका प्रारम्भ ही है।

मेरी आंखें धन्य हैं, जिन्होंने इस धर्मालयके दर्शन किये। मेरी आंखें धन्य हैं,

जिन्हे ऐसी दिव्य खुराक दो बार मिल चुकी है और धन्य हैं मेरे स्नेही, जिन्होने मुझे प्रेमपूर्वक निमंत्रित करके इतनी बडी दावत दी! और अगर मेरे पाठकांको इन स्थानोंके देखनेकी उत्कण्ठा हुई हो, तो वे भी धन्य हैं! क्योकि, भारतवासी होकर भी ये स्थान न देखनेके जैसी जिन्दगीकी दूसरी विफलता कौन-सी हो सकती है! इन स्थानोमे भी जिन महात्माओकी जीवन-विभूति अधिक भव्य है, वे भले ही ऐसे स्थान देखने न जाये।

['सर्वोदय, जनवरी, १९४१ई०]

४९. गुरुगोविन्द सिंहका गुरुद्वारा

कितने अचरजकी बात है कि जिस वक्त औरंगजेब दक्षिणमे आकर डेरा डालकर बैठा था, उसी बीच सिक्खोंके आखिरी पादशाह गुरुगोविन्द सिंह भी महाराष्ट्रमें औरंगाबादके पास ही नादेडमे एक गुरुद्वारा बनाकर निवृत्तिमें समय बिता रहे थे। देवगिरि (दौलताबाद), प्रतिष्ठान (पैठण) और नन्दगिरि (नादेड) का प्रदेश दक्षिणकी राजधानी माना जाता था। शिवाजी महाराजके दादा इसी प्रदेशमे बसे हुए वेरूल गावके पटेल थे। उनके पुत्र शहाजी अहमदनगरके दरबार मे खानबाबा (राजपिता) के पद पर थे और बालक-बादशाहको अपनी गोदमें लेकर सिंहासन पर बैठते थे। उन्होने अपनी जागीरका इलाका तो दूर पूना और जुन्नर की तरफ रखा था और वही उनके पुत्र शिवाजीने स्वराज्यकी साधनाका श्रीगणेश किया था। वसुदेव और देवकी भले ही मथुराके दरबारमे रहें, श्रीकृष्ण तो वृंदावन में ही पलेगा और बढेगा और कंसको मारने पर भी अगर वहां कठिनाइया आती रहें, तो दूर सौराष्ट्रके सिरे पर 'गेट ऑफ् इंडिया' (द्वारका) बसाकर वही रहेगा।

मुगल-साम्राज्यके विरोधमें सिर उठानेवाली तीन शक्तिया थी—दक्षिणमे मराठे, पजाबकी तरफ सिक्ख और इन दोनोंके बीचमे राणा प्रतापको अगुआ बनाकर अपनी स्वतंत्रताके लिए जूझनेवाले राजपूतलोग।

शुरू-शुरूमे सिक्खोका सम्प्रदाय केवल एक भक्तिका सम्प्रदाय था। लेकिन, मुगल बादशाहोने इन गुरुभक्तोको मार-मारकर वीर बनाया। श्री गुरुगोविन्द सिंह ने इन भक्तोंमेसे सिरकी बाजी लगाकर संगठन करनेवाली एक खालसा फौज बनाई और निरुपद्रवी, अपढ पजाबियोको सिंह बना दिया।

और, इसमे आश्चर्य ही क्या? औरंगजेबने गुरु तेगबहादुरका शिरच्छेद किया था, गोविन्दसिंहके पुत्रोंको मरवाया था और इस तरह सिक्खोंको शस्त्रधर्मकी दीक्षा दी थी।

परन्तु आश्चर्य तो यह है कि गुरुगोविन्दसिंहके पजाबी शिष्य और समर्थ रामदासके महाराष्ट्री अनुयायी एक कैसे नही हो सके ? गोविन्दसिंहके महाराष्ट्रमे आकर बसनेका क्या कारण था ? शिवाजीने राजपूतोके साथ सगठनका यत्न किया, इसके प्रमाण मिलते है। बुन्देलखडके छत्रसाल राजाने शिवाजीसे सलाह ली थी और पेशवाओसे कुमक ली थी, इसका उल्लेख है। लेकिन, इस मददके कारण बाजीराव ने तुरन्त ही वृद्ध छत्रसालसे बाप-बेटका नाता जोडकर बुन्देलखडका तिहाई राज्य अपने काबूमे ले लिया। उस जमानेमे कोई किसीको निःस्वार्थ भावसे मदद देता ही नही था। लेनदेनका ही क्रम था। महामति रामचन्द्र पन्त अमात्य-जैसे व्यक्ति भी जागीरके लालचकी प्रेरणासे परे नही थे।

परन्तु, गुरुगोविन्द सिंह दक्षिणमे क्यो आकर बसे, मुगल-दरबारके साथ उनका कैसा सबध था और मराठोके साथ कैसा, यह जाननेका यत्न होना जरूरी है।

गुरुगोविन्द सिंहने लडाईमे किसी अफगानको मारा होगा। उस अफगानके लडकेने वैर लेनेकी, बदला लेनेकी ठानी होगी। वह लडका गुरुके पास आया और उनकी सेवा-टहल करने लगा। गुरुने सोचा होगा कि बाप युद्धमे मारा गया, इसमे कोई व्यक्तिगत दुश्मनी या द्वेष तो था ही नही। उसके लडकेको अपनानेमे क्या खराबी हो सकती है ? उन्होने उसे अपने पास रख लिया और लडकेने मौका पाते ही सोते हुए गुरुगोविन्द सिंहके पेटमे छुरी भोककर उनका काम तमाम कर दिया।

गुरुगोविन्द सिंहने क्षमाका त्याग करके युद्धधर्मको अपनाया था, इसलिए घायल होनेके बाद भी उन्होने तुरन्त उठकर उस हत्यारे अफगान लडकेको खतम किया और बादमे ही अपना शरीर छोडा।

आज हिन्दुस्तान-भरके सिक्ख नादेडकी यात्रा करते है और नादेडके गुरुद्वारेको अपनी दान-भक्तिका प्रदर्शन बनाते है।

शामकी सभाके बाद हम यह गुरुद्वारा देखने गये। कुछ देर हो जानेके कारण भीतरके दरवाजे बन्द हो गये थे। हमे भारी निराशा हुई। रातको दो बजे नादेड से रवाना होना था। 'इतनी दूर आये, पर दर्शन न हुए, चलो, तो मन्दिरकी अन्दरवाली परिक्रमा ही करके देख ले। बादमे बाहरकी प्रदक्षिणा कर लेंगे।' इतना विचारकर हम चलनेको ही थे कि इतनेमे अचानक बिजलीका प्रवाह बिगड गया और चादनी रातमे मन्दिरके भीतर अमावस हो गई। ऐसी परिस्थितिमे हमने भीतर ही प्रदक्षिणा की। थोडी देरमे अन्तिम पूजाके पट तो खुले, परन्तु अन्दर दिखाई क्या दे ? कोई चीज है और उसपर हमारी नजर पडती है, इतनेमे ही सन्तोष मानना पडा। देर हो रही थी, इसलिए हम लौट ही रहे थे कि इतनेमे बिजलीको हम पर रहम आई और वह प्रकट हुई।

अब तो दर्शन होने में कोई दिक्कत नहीं रही। गुरुद्वारेके गर्भगृहमें तो सिर्फ मुख्य पुजारी ही जा सकता है। नियमके अनुसार यह बाल-ब्रह्मचारी होता है। चौबीस घंटेमें उसे कई पूजाएं करनी पड़ती हैं। मध्यरात्रिके बाद सारा मन्दिर धोना होता है और भीतर जो पुराने शस्त्रास्त्रोंका भांडार है, उसे भी अच्छी तरह संवारना पड़ता है। दूसरे भक्त गर्भगृहके सामनेवाले मण्डपमें जा सकते हैं और हमारे जैसे 'इतर जन' उस सभा-मण्डपके किनारे खड़े होकर दर्शन कर सकते हैं।

वहांसे बिजलीके प्रतापसे भीतरका सब कुछ दिखाई देता था। समाधि पर दोनों तरफ बहुत-सी तलवारें रखी हुई हैं। नीचे, समाधिके सहारे, गुरुगोविन्द सिंहकी तसवीर रखी हुई है। उसमें गुरुगोविन्द शाही लिबासमें हाथमें तलवार लिये घोड़े पर सवार हैं।

दर्शनके समय कौन-कौन-से भाव मनमें जागृत हुए, यह कहना मुश्किल है। जब बिहार गया था, उस समय वहां गुरुगोविन्द सिंहके जन्म-स्थानका गुरुद्वारा देखा था। जब राजगृह-नालंदा गया था, उस वक्त उस तरफ भी एक इतिहास-प्रसिद्ध गुरुद्वारा देखा था। लाहौरमें पांचवें पादशाह अर्जुनदेवका गुरुद्वारा और उस गुरुद्वारेकी अंगरेजों द्वारा की गई सेवा देखनेको मिली थी। अमृतसरका प्रख्यात सुवर्ण-मन्दिर तो सिक्खोंकी काशी और मक्का है। उसके दर्शन दो बार किये। सिर्फ नांदेडका यह गुरुद्वारा देखना बाकी रह गया था। अबकी बार उसे देखकर कृतार्थ हुआ। ननकानामें जो गुरुका बाग है और जिसका नाम सत्याग्रही सिक्खों ने अजरामर कर डाला है, उसे देखना अब भी बाकी है।

नानक, अंगद, अर्जुनदेव, रामदास आदि-आदि सिक्ख गुरुओंने हिन्दुस्तानमें प्रचलित पुराने भक्ति-मार्गका संशोधन करके उसे उज्ज्वल रूप दिया और जडवत् तथा पिछड़े हुए लोगोंको उज्ज्वल धर्म-मार्गके यात्री बनाया। उनका ग्रंथसाहब हिन्दुस्तानमें निर्मित संत-साहित्य और भक्ति-सहित्यका एक विशेष छलनीमें छना हुआ संग्रह है। लोगोंको धर्म याने कर्मकाण्डके खटरागसे बचाकर उन्हें शुद्ध विचार और शुद्ध आचारकी भित्ति पर ईश्वरपरायण बनानेकी प्रवृत्ति ही सिक्ख-धर्म है।

ईश्वरपरायण लोग कहीं निकम्मे न बन जाय, इसलिए उनके आखिरी गुरुने उन्हें सिरकी बाजी लगाकर अपनी स्वतंत्रता सुरक्षित रखनेकी दीक्षा दी। उनके समयमें जो-जो मुमकिन था, वह सब गुरुगोविन्द सिंहने किया।

'गुरुओंकी परम्परा किसी एक खानदानकी गद्दी नहीं है, किन्तु एक आध्यात्मिक परम्परा है। इस परम्पराकी बदौलत मनुष्यको स्वतंत्र होना चाहिए। यह भी कहीं उसे जकड़नेवाली एक नई जंजीर न बन जाय'—यह सब विचार कर उन्होंने अपनी मृत्युके वक्त घोषित किया कि 'ग्रंथसाहब ही सिक्खोंका गुरु है। आइन्दा किसी भी व्यक्तिको गुरुस्थानमें रखनेकी मनाही है।"

मेरी यह मान्यता है कि आध्यात्मिक क्षेत्रमें गुरुगोविन्दका यह कदम अद्वितीय

और अभिनन्दनीय है। शुद्ध आध्यात्मिक वृत्तिके बिना इस तरहका कदम उठानेकी हिम्मत कोई नही कर सकता था।

['सर्वोदय'; फरवरी, १९४१ ई०]

५०. गोवाकी एक झांकी

१

पच्चीस बरसके बाद मैंने गोवाकी पुण्यभूमिके दर्शन किये। मेरे पुरखोंकी वह कर्मभूमि थी, इसलिए मेरे लिए तो वह पुण्यभूमि है ही। किन्तु, भारतीय इतिहासमे भी गोवाका महत्त्व अपूर्व है। सनातनी क्षत्रियोने और जैनोने उसकी जाहोजलाली (अभ्युदय) असाधारण बताई थी। ब्राह्मणोने यहा पर अपनी तपस्या का चमत्कार दिखाया था। परशुरामने और श्री कृष्णने गोवाके रमणीय पहाड और पवित्र नदियोके सौदर्यका पान किया ही था। किन्तु, आज गोवा ईसाइयोकी धर्मान्धताके एक अवशेषके रूपमे ही हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। गोवामे मुसलमान और ईसाई आपसमे काफी लडे। हिन्दू लोगोने अपनी धर्मरक्षाके लिए काफी बलिदान किया और जब उनकी आन्तरिक कमजोरियोके कारण ईसाई राजसत्ताको उन्हे स्वीकार करना पडा, तब परास्त प्रजा भी अपना सांकृतिक रक्षण किस तरह कर सकती है, इसका परिचय वहाकी हिन्दू-जातिने दिया।

जो लोग भिन्न जातिके, भिन्न धर्मके और भिन्न संस्कृतिके लोगोंसे पेश आने-की कला नही सीखना चाहते, उनको इतिहास-विधाता जबरदस्ती वह पाठ सिखाता है और विविधतामे एकताकी प्रस्थापना करनेका समन्वयकारी जीवन-सिद्धान्त उन्हें बता देता है। गोवामे ऐसा ही हुआ है।

दक्षिण भारतके पश्चिम किनारे पर महाराष्ट्र और कर्नाटकके बीच गोवा एक छोटा-सा प्रदेश है। सह्याद्रिके शिखर और पश्चिम समुद्रकी लहरे उस प्रदेशको निसर्गतया सीमित करती हैं। इस प्रदेश पर पुर्तगालके कैथालिक लोगोका राज्य आज करीब चार-सौ-साढे चार सौ वर्षोंसे है। विजयनगरके साम्राज्यका उदय और अस्त हुआ मराठोने हिन्दवी स्वराज्यकी स्थापना करके उसे छिन्न-भिन्न भी किया, अंग्रेजोने यहा पर अपनी तिजारती कोठियोंसे प्रारम्भ करके अपना साम्राज्य देश-भरमे फैलाया और अब उसे वे आहिस्ता-आहिस्ता खो रहे है। किन्तु गोवामे पुर्तगाली लोगोका राज्य आज तक अबाधित ही रहा है!

फ्रासीसीने इस देशमे दरबारी राजनीति चलाई। अंग्रेजोने व्यापारी राज-नीतिसे बहुत-कुछ लाभ उठाया। किन्तु, पुर्तगाली लोगोने धर्म और सस्कृतिकी दृष्टिसे यहाकी प्रजाको आत्मसात् करनेकी नीति आजतक चलाई है, वह बात

जितनी आश्चर्यकारक है, उतनी ही अध्ययन करने लायक भी। जहां तक उनका चला पुर्तगाली लोगोंने इस देशमें केवल एक ईसाई धर्म ही प्रचलित करनेकी कोशिश की। विशिष्ट भागोंमें मन्दिर या मस्जिद टिकनी ही नहीं चाहिए ऐसे भी नियम किये और उनका कठोरतासे पालन करवाया। आज भी गोवाकी प्राथमिक शालाओंमें पुर्तगाली रीडरें चलती हैं, जिनमें बच्चोंको सिखाया जाता है कि पुर्तगाल हमारा स्वदेश है। जब कोई राष्ट्रीय वृत्तिका नवयुवक अपने मास्टर महाशयसे पूछता है कि पुर्तगालसे इस गैर मुल्कमें हम कब आये ? तब वह ईसाई विद्यागुरु लाजवाब होकर नाराज हो जाते हैं। गोवामें आज आधी लोक-संख्या ईसाई है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। किन्तु आधी जनता दृढ़तापूर्वक कट्टर हिन्दू ही रही है यह बात ध्यानमें रखने लायक है। ऐसी हालतमें वहां पर हिन्दू-ईसाई तनाजा रहे, यह स्वभाविक बात थी। राज्यकर्ताओंके मनमें गैर-ईसाइयोंके लिए कोई स्थान ही नही था।

जब सन् १९१२ ई०में पुर्तगालमे राज्यक्रान्ति हुई और धर्ममात्रके प्रति उदासीन जैसा लोकसत्ताक राज्य-स्थापन हुआ, तब गोवाके हिन्दुओंके धार्मिक दमनका करीब-करीब अन्त हो गया। पुर्तगालमें प्रजासत्ताक राज्यकी स्थापना होते ही गोवाको स्वराज्य मिल गया। किन्तु गोवाकी आम जनतामें उसे हजम करनेके लायक न कोई शक्ति थी, न बुद्धि थी और न कोई जागृति ही। संगठनका नामोनिशान तक नही था। राजनीतिक कार्योंके लिए सस्थाए स्थापित करनी चाहिए और उनके लिए धन इकट्ठा करना चाहिए, भिन्न-भिन्न समाजोंके बीच हार्दिक संगठन करना चाहिए, अपने हकोंके लिए जाग्रत् रहकर प्रसंग आने पर राजसत्ताके साथ संगठित रूपसे प्रजाकीय पद्धतिसे लड़ना चाहिए आदि बाते वहांके लोग बिलकुल जानते ही नही थे।

खुद पुर्तगालमें ही रिपब्लिकका अन्त हुआ और वहां पर तानाशाहीका उदय हुआ और लोग जैसी स्थितिमें पहले थे, फिर वैसी ही स्थितिमें आ गये।

अगर पुर्तगालकी सरकार अपने हितको भी समझे, तो भी गोवाकी हालत बहुत कुछ सुधर सकती है। किन्तु वहां पर कई दृष्टिसे अंधेर नगरी ही है। गोवाकी जनता भारतवासी ही है। हम एक समाज हैं। हमारे सामाजिक, आर्थिक और व्यापार-विषयक हित-संबंध एक-से तो क्या, बल्कि एक ही हैं। ऐसा होते हुए भी वहांका राज्य अलग है। गोवाके लोग हमारे जिगरका टुकड़ा होते हुए भी एक भिन्न राष्ट्रकी प्रजा हैं। ब्रिटिश सरकार और पुर्तगालके बीच केवल मित्रताका संबंध है। जो हालत पांडिचेरी और चन्द्रनगरकी है, वही हालत गोवाकी भी है। (दीव और दमण इतने छोटे हैं कि उनका सवाल यहां छेड़नेकी जरूरत नही।)

गोवाके राजनीतिक आंदोलनमे हम कोई हिस्सा नही ले सकते। हमारी स्वराज्यकी प्रवृत्तिका प्रत्यक्ष लाभ गोवाकी जनताको नहीं मिल सकता। किन्तु,

गोवाके सुख-दुःखके बारेमे हम उदासीन भी नही रह सकते। गोवाकी परिस्थितिसे हम लोगोको कम-से-कम वाकिफ तो रहना ही चाहिए।

२

गोवाका प्राकृतिक सौन्दर्य अनुपम है। उत्तरसे कश्मीर और दक्षिणसे केरलके सौदर्यको ही मिलाकर मानो कुदरतने गोमान्तककी रचना की है। रेलसे गोवा जाते हुए तिनई घाटकी वन्य शोभा, पहाडोको छेदकर तैयार की हुई सुरगे और छहो ऋतुओमे हरे-भरे दिखाई देनेवाले पेड तो मनोहर है ही। किन्तु, वहाकी काली नदी से बननेवाला दूधसागरका प्रपात तो केवल उन्मादकारी है। गिरसप्पाका जोग-प्रपात शायद दुनियामे सबमे ऊंचा होगा। नायगराका प्रपात सबसे बड़ा और भीषण होगा। किन्तु, दूधसागर तो सबसे अधिक उन्मादक और सौदर्यकी मूर्ति है।

गोवाकी नदिया समुद्रकी खाडीमे जाकर मिलती है और नदी और खाडीमे इतना बडा चक्रव्यूह बना है कि अगर हम कहे कि गोवामे किसी भी एक गावसे दूसरे गाव तक जाना हो, तो हम ज्वार-भाटेकी अनुकूलता देखकर किश्तीमे जा सकते है, तो उसमे विशेष अतिशयोक्ति न होगी। रेलका और मोटरोका प्रवेश होने के कारण जहा-जहा लोहेके या वज्रलेप रास्ते हो गये है, वहाकी स्थिति कुछ बदल गई है सही। तो भी गोवामे जहा देखे, वहा पानीका जल-जजाल अपनी शोभामे चित्तको पुलकित कर ही देता है।

नारियल सुपारी, केले, काजू, आम, कटहल और कोकम आदिके पेडोकी शोभा तो इतनी घन गभीर है कि मनुष्य मानो पेडोकी रजामन्दीमे ही वहा पर बस सका है। और, इनके बीच जब हिन्दुओके मन्दिर या ईसाइयोके गिरजे अपना सिर ऊचा उठाते है, तब तो सौदर्यकी परिसीमा होती है और मुहसे बेअख्तियार उद्‌गार निकलता है कि सचमुच यह देवभूमि है।

लोगोमे पुरानी शिक्षा यद्यपि क्षीण हो रही है, तथापि साहित्यका शौक वहा पर कम नही है। अपने सगीतके लिए तो गोवा मशहूर है ही, नृत्यकला और कारी-गरीकी परम्परा आजतक वहा अक्षुण्ण है। जब गोवामे जागृतिके युगका प्रारम्भ होगा, तब गोवा अपनी सस्कार-समृद्धिके कारण महाराष्ट्रमे और बम्बई-प्रान्तमे अगर अग्रसर हुआ तो कोई आश्चर्य नही। किन्तु गोवाकी विशेष शक्ति तो उसकी आजतककी विपत्तिमेसे ही उसे मिलनेवाली है।

३

गोवामे अधिकाश जनता कैथॉलिक-पर्थात ईसाइयोकी है। ईसाइयोका नाम लेते ही हमारी नजरके सामने कोट-पतलून और टोप-बूट पहननेवाला आदमी खड़ा होता है। गोवामे हजारो और लाखो ऐसे ईसाई दीख पडते है, जो कमरमे एक डोरी बाधकर एक बडी रगीन पिछौरीकी लगोटीके सिवा और कुछ भी नही पहनते। समुद्र-किनारेकी नमीमे ज्यादा कुछ पहनना भी नही चाहिए। ये लोग खेती करते

हैं। नारियल सुपारी आदिके बगीचे लगाते हैं, काजूके फलसे शराब बनाते हैं और रविवारको गिरजेमें जाते हैं। ईसाई हुए सैकड़ों बरस हो गये तो भी शादीके समय अपनी जातिका खयाल रखनेवाले लोग भी इनमें पाये जाते हैं। ब्राह्मण ईसाई जहां तक हो सके, भंडारी ईसाईको अपनी लड़की नही देगा। एकादशीके दिन उपवास करनेवाले और घरमें शादी होने पर महादेवजीको नारियल चढ़ानेवाले ईसाई भी मैंने अपने बचपनमे देखे हैं।

अब तो इन ईसाइयोंमे शिक्षाका प्रचार बहुत हुआ है। गोवाके कई ईसाई पुर्तगाल और फ्रांसमें जाकर बसे हैं। पुर्तगाली अफ्रिकामें तो गोवानीज ईसाई बहुत पाये जाते है। मैंने सुना है कि अमेरिका और रूस तक इन लोगोंने अपनी प्रतिष्ठा जमाई है। पुर्तगालको स्वदेश और पुर्तगाली भाषाको स्वभाषा कहनेमे ये लोग अपना गौरव समझते थे। आज भी बहुत-से ऐसे देशी ईसाई गोवामे है, जो घरमे या तो पुर्तगाली बोलेंगे या अंग्रेजी।

कुछ दिनोंसे इनमे राष्ट्रीयताका ख्याल पैदा होने लगा है। अब वे हिन्दुस्तान को ही स्वदेश मानने है और 'कोंकणी' को स्वभाषा। ब्रिटिश हिन्दुस्तानमे लोगोंको स्वराज्यके लिए कोशिश करते देखकर गोवाके लोगोंमे भी स्वराज्यकी भूख जगी है। हिन्दू और ईसाईके एक होनेमे ही स्वराज्यकी आशा फलीभूत होगी—इतना वे जानते है। किन्तु यह एकता कैसे स्थापित की जाय, इसका निश्चय वे अभी तक नही कर पाये हैं। पादरियोने तो ईसाइयोंको हिन्दूओंसे अलग रखनेकी पूरी-पूरी कोशिश की। अब उसका असर कुछ कम होने लगा है।

गोवाके हिन्दूओंको और ईसाइयोंको एक करनेवाले तत्त्व असंख्य है। भिन्न-धर्मीय होते हुए भी इनका खून एक है। रहन-सहनमें कुछ थोड़ा-सा फर्क हुआ है, तो भी दोनोंकी संस्कृति एक ही है। सामाजिक जीवनमे अलग-अलग रहनेकी आदत होते हुए भी सार्वजनिक जीवनमें और सामान्य व्यवहारमें ये दोनों समाज पूर्णतया ओतप्रोत हैं।

और सबसे बड़ा समान बन्धन तो इनकी प्यारी मधुर बोली कोंकणी है। हिन्दुस्तानकी सब भाषाओंकी और बोलियोंकी अगर कसौटी की जाय, तो मधुरता मे कोकणी किसीसे कम नही प्रतीत होगी। कोंकणीमें संस्कारिता है। अर्थवाहित्व असाधारण हैं। उपमा, रूपक आदि स्वाभाविक अलंकारोंसे वह सम्पन्न है। कोंकणीमे कोई सिर्फ 'सवेरा हुआ' नही कहेगा। वह कहेगा कि 'प्रभात फूल गई है'।

कोंकणी और मराठी ये दो भाषाएं भिन्न होते हुए भी एक-दूसरेके इतनी नजदीक हैं कि ये दोनों एक कुटुंब की नही हैं, ऐसा कोई कहे भी, तो उसपर कोई विश्वास नही करेगा।

पाठकोंको सुनकर आश्चर्य होगा कि कोंकणीकी गोवामें वही हालत है, जो उत्तरभारतमे हिन्दीकी। गोवाके हिन्दू जब कोंकणीमें लिखते हैं, तब उसे नागरी

अक्षरोमे लिखते है। उसी भाषाको जब ईसाई लिखते है, तब रोमन-लिपिमे लिखते है। हिंदुओकी कोकणीमे मराठी और सस्कृतके शब्द अधिक होते है। इस लिए वह शुद्ध स्वदेशी जैसी लगती है। ईसाइयोकी कोकणीमे दिन-पर-दिन पुर्तगाली भाषाके शब्द बढते जाते है वह अनपढ ईसाइयोके लिए भी दुर्बोध बनती जाती है।

जो लोग गोवा छोडकर दक्षिणमे कर्नाटकमे जा बसे है, उनकी कोकणीमे कानडी शब्द आते हैं। इतना ही नही, किन्तु वे कोकणीको कानडी-लिपिमे लिखने और छापनेमे सहूलियत देखते है।

गोवाके हिन्दू लोगोमे एक छोटा-सा पक्ष है, जो मराठीको कोकणीका प्रति-स्पर्धी मानता है। मराठीके अध्ययनमे वह कोकणीका नशा देखता है। अगर कोकणी के बाद सीखने लायक कोई भाषा है, तो वह राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है, ऐसा वे कहते है। दूसरा एक पक्ष है, जो कोकणीको एक भाषाकी प्रतिष्ठा भी नही देना चाहता। उसका कहना है कि कोकणी मराठीकी एक छोटी-सी बोली है। उसमे न तो कोई साहित्य है, न व्यापक सामाजिक प्रचलन ही और जिस प्रदेशमे उसका प्रचलन है, उसमे भी कोकणीके इतने परस्पर-भिन्न भेद है कि उनका सगठन करना भी कठिन है। लोक-व्यवहारमे कोकणीका भले ही प्रचलन रहे, किन्तु हमारी स्वभाषा तो मराठी ही है। इग्लैडमे हर एक कौण्टीकी बोली अलग होती है, किन्तु सस्कारी लोग लिखने-पढनेमे और सार्वजनिक व्यवहारमे 'स्टैण्डर्ड इग्लिश' का ही प्रयोग करते है। इसी तरह हम भी गोवामे मराठीका ही प्रचार करना चाहिए।

महाराष्ट्रके मराठीवालोने आजतक कोकणी भाषा बोलनेवालोकी निन्दा नही की होती और कोकणीको गवारू भाषा न कहा होता, तो मराठी-विरोधी कट्टर कोकणी पक्ष पैदा ही नही हुआ होता। मराठीवाले अब कुछ सुधर गये है। खुले तौर पर कोकणीकी मखौल नही करते। तो भी कोकणीके प्रति उनका तुच्छ भाव अभी साफ नष्ट नही हुआ है।

इधर गोवाके हिन्दू लोग मराठीके अध्ययनको जी-जानसे बढा रहे है। सरकारसे तो पाईकी मदद नही। जहा बन सके वहा सरकार मराठीका विरोध ही करती है, महाराष्ट्रियोकी सहानुभूति केवल नाममात्र। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति होते हुए भी गोवाके हिन्दुओने स्थान-स्थान पर मराठीके स्कूल चलाये है। इन स्कूलोमे लडके आपसमे कोकणीमे बोलते है मराठीका अध्ययन करते है, राजभाषा पुर्तगाली तो उन्हे सीखनी ही पडती है, व्यवहारके लिए उन्हे इगलिश भी सीखनी पडती है, और जो उत्साही नवयुवक उच्च शिक्षा पाते है, उन्हे सब भाषाओके अलावा इटालियन या फ्रेच या स्पेनिश या जर्मन सीखनी पडती है। ऐसे लोगोके बीच हिन्दी-प्रचारकी बाते करना आसान नही था। तो भी हिन्दीके लिए वहा अच्छा वायुमंडल पैदा हो सका है। दिन-रात कोशिश करने पर भी दो-तीन दिनोमे

कितना काम हो सकता है ? तो भी जिन ईसाइयोंसे मैं मिल सका उन लोगोंने मान लिया कि कोंकणी भाषा नागरी-अक्षरोंमें लिखनेसे ही उसका प्रचार बढ़ेगा। कोंकणीमें जो पुर्तगाली शब्द रूढ हो गये हैं, उनका बहिष्कार करनेकी कोशिश न की जाय। यह बात वहांके हिन्दू मान गये और हिन्दुओंकी कोंकणीमें जो मराठी शब्द आते हैं, उन्हें सीखनेका अपना कर्तव्य ईसाई भी समझ चुके हैं।

इस तरहसे गोवामें कोंकणीको एक तरफसे मराठीके सहारे और दूसरी तरफ से पुर्तगाली भाषाके अनिवार्य अध्ययनके कारण दो-मुखी प्रगति करनी पड़ती है। गोवाके लोग मराठीको छोड़ नहीं सकते। पुर्तगाली तो उन्हें सीखनी ही पड़ती है। किन्तु अन्तर्जातीय एकताके लिए परस्पर अविश्वास, मत्सर और असूया छोड़कर दोनों समाजोंको कोंकणीका ही विकास करना चाहिए।

गोवाके ईसाई बम्बईसे मंगलूर तक फैले हुए हैं। फैले हुए हैं इतना ही नहीं, किन्तु हिन्दुस्तानका पश्चिम किनारा और अफ्रीकाका पूर्व किनारा उन्हीका है। हिन्दुस्तानके स्वराज्यका प्रश्न उनके निजी जीवनके लिए भी बहुत महत्त्वका है गोवाके हिन्दू और ईसाई जब एक होंगे, तब बहुत ही आसानीसे अपने भाग्य-सूर्यका उदय देख सकेंगे। एक-दूसरेको उपदेश करनेमें यह काम नही होगा। अपनी-अपनी ओरमें हार्दिक संगठन करनेकी कोशिश करनेसे और एक-दूसरेके लिए मनमें आदर-भाव रखनेसे ही यह काम सिद्ध होगा। अगर गोवाके ईसाई उत्तर-भारतके मुसलमानोंका अनुसरण करेंगे और गोवाके हिंदू जातीयतासे घिरे हुए हिंदुओंका अनुसरण करेंगे, तो गोवाकी राजनीतिक समस्या ब्रिटिश हिंदुस्तानकी समस्यासे हजार गुनी जटिल हो जायगी। हमारा विश्वास है कि ब्रिटिश भारतके पचास बरसके इतिहास से गोवाकी जनता सबक सीखेगी और कांग्रेसी ढंगसे काम चलाकर अपना उद्धार शीघ्रातिशीघ्र कर लेगी।

गोवामें आज तानाशाहीका राज है। अगर सरकारको खयाल हुआ कि किसी आदमीका आदोलन, वह चाहे जितना शुद्ध हो, राज्यके खिलाफ है, तो वह उसे गिरफ्तार करके अफ्रीकाके किसी उपनिवेशमें चाहे जितने दिनोंके लिए, निर्वासित कर सकती है। ऐसी बुरी दशाके कारण वहांकी जनता दिल खोलकर बोल नही सकती। इन दमनकारी कानूनोंसे राजसत्ताका और जनताका चारित्र्य तो बिगड़ ही जाता है, किन्तु स्वातंत्र्य-लालसा कभी मर नहीं पाती। जब स्वातंत्र्य-सूर्यका उदय होता है, तब फलानी रियासत पुर्तगाली है, इसलिए वहां अपनी किरणें नही ले जानी चाहिए, ऐसा स्वधर्म भगवान् सूर्यनारायणने आजतक नहीं माना है।

['सर्वोदय,' मई, १९३९ ई०]